श्रीमद्भगवद्गीता
ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

८५

गीतामृतदुहे श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-

गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

समीक्षात्मकभूमिका--प्रतिभाख्यहिन्दीभाष्यानुवाद--विमर्शाख्यव्याख्यात्मकटिप्पणी-
विविधानुक्रमणिकायुता

भाग I

हिन्दीभाष्यानुवादकारः

डॉ. मदनमोहन अग्रवाल

एम.ए.,पी-एच.डी.,डी.लिट्.

प्रोफेसर-संस्कृत-विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली

आशीर्वाक् लेखकः

प्रोफेसर रसिकविहारी जोशी

एम० ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्० (पेरिस)

मेक्सिको

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली-110007

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो. बा. नं. 2113

दिल्ली 110007

दूरभाषः 23856391

पुनर्मुद्रित संस्करण 2005 ई.

मूल्य 600.00 (1-2 भाग सम्पूर्ण-अजिल्द)

1250.00 (1-2 भाग सम्पूर्ण-सजिल्द)

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाषः 2333431, 2335263

*

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

दूरभाषः 2420404

मुद्रक :

डीलक्स ऑफसेट प्रिन्टर्स

दिल्ली--११००३५

THE
VRAJAJIVAN PRACHYA GRANTHAMALA
85

ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

with the commentary

GŪḌHĀRTHADĪPIKĀ

OF

MADHUSŪDANA SARASVATĪ

Edited with 'Pratibhā' Hindi Translation, Introduction, Preface,
Indexes and 'Vimarśa' critical Notes

VOLUME I

by

DR. MADAN MOHAN AGRAWAL
M.A. Ph.D.; D.Litt.
Professor of Sanskrit
University of Delhi
Delhi

Foreword by

Prof. Rasik Vihari Joshi
M.A., Ph.D., D.Litt. (Paris)
Mexico

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
Delhi-11007

नमः कृष्णाय पूर्णाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
गीतोपदेष्ट्रे पार्थाय नमो ज्ञानस्वरूपिणे ॥ 1 ॥

वन्देऽहं राधिकाकृष्णौ सच्चिदानन्दरूपिणौ ।
तापत्रयविनाशाय रासलीलाविहारिणौ ॥ 2 ॥

नमामि शिरसा पूर्वं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
रामप्रतापमनघं सर्वज्ञं परमं गुरुम् ॥ 3 ॥

बुद्धिं ज्ञानं यशः सौख्यं भक्तिं मुक्तिञ्च यच्छति ।
यः सदा शिष्यवर्गाय तं वन्दे रसिकं गुरुम् ॥ 4 ॥

हे देव ! हे रसिक ! हे विदुषां वरेण्य !
हे सद्गुरो ! जनहिताय जनस्त्वदीयः ।
ग्रन्थे कृपा विलसतीह पदार्थरूपा
मञ्जीवनं तव पदाब्जयुगेऽर्पयामि ॥ 5 ॥

अद्वैते भक्तिशास्त्रे च परं पारं गतं बुधम् ।
गूढार्थदीपिकाकारं वन्दे श्रीमधुसूदनम् ॥ 6 ॥

वेदान्तेऽद्वैतसिद्धौ बुधजनरुचिरं ज्ञानकाण्डं प्रशस्तं
भक्तौ यो भक्तिशास्त्रे दशमरसमपि स्थापयामास पूर्वम् ।
गीताया गूढमर्थं बुडित इव सदा प्राप्य ज्योतिस्वरूपं
प्राज्वालीद् यो विपश्चित् प्रणिहितमनसा प्राञ्जलिस्तं नमामि ॥ 7 ॥

अद्वैतसिद्धौ हरिमद्वितीयं
रसायने भक्तिरसं समुज्ज्वलम् ।
गूढार्थदीपे भगवद्रहस्यं
यो व्यावृणोत् तं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ 8 ॥

गूढार्थदीपिकां टीकां पाण्डित्यनिकषोपलाम् ।
मूढोऽपि प्रतिभाख्यायां मदनः कुरुते स्फुटाम् ॥ 9 ॥

गूढार्थदीपिकायाश्च हिन्दीभाषां करोम्यहम् ।
प्रतिभानामिकामद्य श्रीगुरोराशिषा शुभाम् ॥ 10 ॥

प्रायशश्चतुरान्मासानाधिव्याधिप्रपीडितः ।
अशक्तोऽस्मीति कृपया क्षम्यन्तां त्रुटयो बुधैः ॥ 11 ॥

मदन मोहन अग्रवाल

श्रीः

भूमिका

•

श्रीगुरुः शरणम्

मधुसूदन सरस्वती

01. जन्मस्थान एवं जीवनवृत्त – मधुसूदन सरस्वती का निश्चित और विश्वस्त जीवन-परिचय देना अतिदुष्कर है, कारण कि उन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने जन्मस्थान-परिवार आदि के विषय में कोई भी सङ्केत नहीं दिया है, यहाँ तक कि उन्होंने अपने किसी क्रिया-कलाप का भी उल्लेख नहीं किया है, हाँ-उन्होंने अपने ग्रन्थ अद्वैत- रत्नरक्षण[1] और गीता-गूढार्थदीपिका[2]-टीका में बनारस और गुजरात– दो स्थानों का उल्लेख अवश्य किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि वे उक्त दोनों स्थानों से सुपरिचित थे; इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी कोई ऐसा सुदृढ़, सुनिश्चित और सन्तोषपूर्ण प्रमाण ही उपलब्ध होता है जिससे कि उनके जीवन-वृत्त को यथाक्रम वर्णित किया जा सके। कुछ किंवदन्तियाँ और वंशावलियाँ[3] ही हैं जिनके आधार पर मधुसूदन सरस्वती का जीवन-परिचय ज्ञात किया जा सकता है।

किंवदन्ती है कि मधुसूदन सरस्वती बंगाली थे। इनके पूर्वज मूलतः कन्नौज निवासी थे। जब ईसा की बारहवीं शताब्दी अर्थात् 1194 ई० में शहाबुद्दीन गौरी ने कन्नौज के राजा जयचन्द को परास्त कर कन्नौज राज्य को अपने अधिकार में किया तो आतङ्कित अनेक परिवार कन्नौज छोड़कर समूचे भारत में भटकने लगे। बंगाल और मिथिला के राजाओं ने उन परिवारों को अपने राज्य में आश्रय दिया। उनमें मधुसूदन सरस्वती के पूर्वज पण्डित श्रीराम मिश्र 'अग्निहोत्री' भी थे। वे बंगाल के नवद्वीप में आकर बसे। इनके कुल में मधुसूदन सरस्वती के पिता प्रमोदन या पुरोदन पुरन्दराचार्य उत्पन्न हुए। वे भी अपने पिता के समान अच्छे पण्डित और धार्मिक व्यक्ति थे। इनके चार[4] अथवा पाँच[5] पुत्र थे – ऐसी प्रसिद्धि है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार थे :– श्रीनाथ चूड़ामणि, यादवानन्द न्यायाचार्य, कमलजनयन अथवा मधुसूदन सरस्वती और वागीश गोस्वामी[6]। काश्यप-वंश-भास्कर के अनुसार पुरन्दराचार्य बंगाल में फरीदपुर

---

1. "अत्रोच्यते -- यद्यपि श्रवणादेः प्रागपरोक्षमेव ज्ञानमुत्पन्नम्, तथाप्यसंभावनाविपरीतभावनाग्रस्तत्वादुन्मज्जन्निमज्जदिव न फलपर्यवसायि भवति वाराणस्यादिप्रदेशे जायमानार्द्रमरीचादिज्ञानवत्" -- अद्वैतरत्नरक्षणम्, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री, बम्बई – 1917, 1937; पुनर्मुद्रित – दिल्ली, 1988, पृष्ठ 44।
2. " 'तान्तनी'ति गुर्जरादौ प्रसिद्धो महाह्रदनिवासी जन्तुविशेषो वा" – गूढार्थदीपिका, मधुसूदन सरस्वती, हिन्दीभाष्यानुवादकार – मदन मोहन अग्रवाल, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 421।
3. द्रष्टव्य – काश्यप-वंश-भास्कर, सम्पादक – सीतानाथ सिद्धान्तवागीश, कलकत्ता।
4. न्यायामृताद्वैतसिद्धी, व्यासराजयति – मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – स्वामी योगीन्द्रानन्द, द्वितीय भाग, भूमिका – पृष्ठ 15, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1986; वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक व अनुवादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ xii, पूना, 1962।
5. श्रीभगवद्भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती, संस्कर्ता – जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, भूमिका – पृष्ठ 6, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सम्वत् 2033; श्रीमद्भगवद्गीता – 'गूढार्थदीपिका' संस्कृतटीकायुता, हिन्दीव्याख्याकार – स्वामी श्री सनातनदेवजी महाराज, भूमिका – पृष्ठ 4, वाराणसी, 1962।
6. वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – रामज्ञ शर्मा पाण्डेय, सम्पादकीय भूमिका – पृष्ठ 3, सरस्वती भवन टेक्स्ट नं० 3, 1920।

जिले के अन्तर्गत कोटालीपाड़ा तहसील के उनसिया ग्राम में बसे, अतएव कहा जा सकता है कि मधुसूदन सरस्वती का जन्म कोटालीपाड़ा तहसील के अन्तर्गत 'उनसिया' नामक ग्राम में हुआ था, जो कि अब पूर्वी-पाकिस्तान अर्थात् बाँग्लादेश में स्थित है ।

शिक्षा :– मधुसूदन सरस्वती के पिता पण्डित प्रमोदन पुरन्दराचार्य की गणना तत्कालीन प्रकाण्ड पण्डितों में की जाती थी, अतएव मधुसूदन सरस्वती ने अपने पितृचरणों में ही रहकर अपनी शिक्षा का श्रीगणेश किया, फलतः आपने अपने पिताश्री से ही व्याकरण, काव्य-साहित्य, कोष आदि का अध्ययन किया । किंवदन्ती है कि आप आठ-दस वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत-कविता करने लगे थे । अधिक शास्त्राध्ययन के लिए आप नवद्वीप गए और वहाँ आपने तत्कालीन प्रसिद्ध नैयायिक आचार्यों[7] से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया । इसके पश्चात् वेदान्तशास्त्र और मीमांसाशास्त्र के अध्ययन के लिए आप वाराणसी गए, वहाँ आपने तत्कालीन प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् श्री माधव सरस्वती से मीमांसाशास्त्र का और वेदान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् श्री रामतीर्थ से अद्वैत-वेदान्त का सम्पूर्ण अध्ययन किया । इसप्रकार आप कुछ ही समय में सम्पूर्ण शास्त्रों में निष्णात हो गये थे ।

वैराग्य :– मधुसूदन सरस्वती बाल्यकाल से ही विरक्त थे । कहते हैं कि ये जब आठ-दस वर्ष के थे तब चन्द्रद्वीप अर्थात् वर्तमान वाकला प्रान्त के राजा कन्दर्पनारायण सिंह थे, उनको इनके पिता प्रमोदन पुरन्दराचार्य वार्षिक-कर के रूप में प्रतिवर्ष नौकाओं में भरकर आम पहुँचाया करते थे । मधुसूदन सरस्वती भी अपने पिता के साथ वहाँ जाया करते थे । प्रतिवर्ष वहाँ जाने-आने में अनेक बार बाढ़ आदि के कारण कष्ट भी होता था, अतः उनके पिता इस कष्ट से मुक्ति चाहते थे । एक बार इनके पिता ने राजा के सम्मुख कष्टनिवृत्ति के लिए प्रतिवर्ष न आने-जाने का प्रस्ताव भी रखा, किन्तु राजा ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, अपितु अनुचित व्यवहार किया । पिता के साथ राजा का अनुचित व्यवहार

---

7. कुछ विद्वानों का यह कथन— 'मधुसूदन सरस्वती ने मथुरानाथ तर्कवागीश ('न्यायामृताद्वैतसिद्धी, भूमिका – पृष्ठ 15; गूढार्थदीपिका, हिन्दीव्याख्याकार स्वामी सनातनदेव, भूमिका – पृष्ठ 7) अथवा हरिराम तर्कवागीश (सिद्धान्तबिन्दु, रत्नावली और लघुव्याख्या सहित, सम्पादक – पं० त्र्यम्बक राम शास्त्री, प्रथम संस्करण 1928, द्वितीय संस्करण सं० 2046, वाराणसी, भूमिका – पृष्ठ 9; श्रीभगवद्भक्तिरसायन, भूमिका – पृष्ठ 6) से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था' – असंगत सा प्रतीत होता है, कारण कि मथुरानाथ तर्कवागीश का समय लगभग 1570 ई० है (द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 467) और हरिराम तर्कवागीश का समय लगभग 1615 ई० है (द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ 479), जबकि मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध है, इसप्रकार 30-75 वर्ष पूर्ववर्त्ती प्रकाण्ड पण्डित मधुसूदन सरस्वती का अपने पश्चात्वर्त्ती मथुरानाथ तर्कवागीश अथवा हरिराम तर्कवागीश से अध्ययन करना सम्भव नहीं है । इसीप्रकार यह कथन – 'गदाधर भट्टाचार्य मधुसूदन सरस्वती के सहपाठी (सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – पं० त्र्यम्बक राम शास्त्री, भूमिका – पृष्ठ 9; श्रीभगवद्भक्तिरसायन, भूमिका – पृष्ठ 6) अथवा समकालीन (वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ xii) थे' – तो सर्वथा असंगत ही है, क्योंकि गदाधर भट्ट का समय मधुसूदन सरस्वती के लगभग 80-85 वर्ष पश्चात् 17वी० शताब्दी का पूर्वार्द्ध अर्थात् लगभग 1620-1625 ई० है (द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ 481-482) । हाँ – गदाधर भट्ट और मधुसूदन सरस्वती की एकबार नवद्वीप में भेंट अवश्य हुई थी, उस समय मधुसूदन सरस्वती वृद्ध हो चुके थे – ऐसा कहा जाता है ।

देखकर मधुसूदन सरस्वती अत्यन्त खिन्न हुए और व्यावहारिक जीवन से एकदम विरक्त हो गये[8]। दस वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने अपने शेष जीवन को भगवदाराधना में ही व्यतीत करने का संकल्प कर लिया और चैतन्य महाप्रभु के दर्शनों की लालसा से नवद्वीप की ओर चल दिये। मार्ग में मधुमती नदी पड़ी। जिस स्थान पर ये पहुँचे वहाँ नदी पार करने का कोई साधन नहीं था, अतएव ये जाह्नवी देवी की आराधना करने लगे। कुछ दिन व्यतीत होने पर देवी की कृपा से अकस्मात् नौकासहित एक मल्लाह वहाँ आया और इनको नदी के उस पार ले गया। इसप्रकार ये नवद्वीप धाम पहुँचे, किन्तु उस समय महाप्रभु नवद्वीप में नहीं थे, अतः उस ओर से निराश होकर आप शास्त्राध्ययन में प्रवृत्त हो गये।

संन्यास-दीक्षा :– कहते हैं कि मधुसूदन सरस्वती ने एक दिन अपने वेदान्त-गुरु श्री रामतीर्थ से कहा कि "गुरुवर ! मैंने आपसे वेदान्तशास्त्र का अध्ययन अद्वैत-वेदान्त का खण्डन करने की दृष्टि से किया था, अतः मैं आपका अपराधी हूँ, आप मुझको इस अपराध का कोई प्रायश्चित्त बतलाइये"। तब श्री रामतीर्थ ने उनसे कहा कि "तुम्हारे इस अपराध का प्रायश्चित्त यही है कि अब तुम संन्यास ग्रहण कर लो "। मधुसूदन सरस्वती ने उन्हीं से संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु उन्होंने कहा कि "आजकल काशी में स्वामी रामसरस्वती के शिष्य श्री विश्वेश्वर सरस्वती विशेष सम्मानित सन्त हैं, तुम उन्हीं से संन्यास-दीक्षा ग्रहण करो"। मधुसूदन सरस्वती शीघ्र ही चौसट्ठी घाट पर स्थित गोपालमठ में श्री विश्वेश्वर सरस्वती के समीप पहुँचे और उनको सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। श्री विश्वेश्वर सरस्वती ने उनसे कहा कि "हम संन्यास-दीक्षा देने से पूर्व छात्र की योग्यता की परीक्षा लेते हैं, अतः तुम अद्वैत-वेदान्त के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य के मतानुसार श्रीमद्भगवद्गीता पर कोई व्याख्यान लिखो, तब संन्यास-दीक्षा होगी"। मधुसूदन सरस्वती ने कुछ ही समय में 'गीतानिबन्ध'[9] लिखकर उसको श्री विश्वेश्वर सरस्वती के चरणों में समर्पित किया। परीक्षानन्तर प्रसन्न हो श्री विश्वेश्वर सरस्वती ने आपको संन्यास-दीक्षा प्रदान की, तदुपरान्त आप मधुसूदन सरस्वती नाम से प्रसिद्ध हुए। संन्यास-ग्रहण के पश्चात् आपने श्रीक्षेत्र के समीप नदी तट पर किसी वन में बास कर सत्रह वर्ष तक तपस्या की। उन्हीं दिनों

---

8. ऐसा भी कहते हैं कि पुरन्दराचार्य एकबार चन्द्रद्वीप के राजा की सभा में गए थे और वहाँ मधुसूदन सरस्वती की बाल्यावस्था की सारस्वत प्रतिभा का प्रदर्शन हुआ था। बालक मधुसूदन सरस्वती की जन्मजात प्रतिभा को देखकर राजा प्रसन्न हुए थे, किन्तु राजा ने बदले में पुरन्दराचार्य द्वारा प्रार्थित भवनार्थ भूमि को प्रदान करने से मना कर दिया, इस पर बालक मधुसूदन सरस्वती अत्यन्त खिन्न हुए और संसार से एकदम विरक्त हो गये। अतएव यह भी कहते हैं कि कुछ वर्षों के पश्चात् मधुसूदन सरस्वती के पिता पुरन्दराचार्य ने फरीदपुर जिले के अन्तर्गत कोटालीपाड़ा तहसील के 'उनसिया' नामक अपने ग्राम के निकट ही 'पुरन्दरवाटिका' नामक अपना भवन बनवाया था और भवन के निकट ही श्री दक्षिणामूर्ति तथा कालिका जी का मन्दिर भी बनवाया था जो आज भी पूर्वी-बंगाल अर्थात् बाँग्लादेश में स्थित हैं। अब उक्त 'पुरन्दरवाटिका' ग्राम के नाम से जानी जाती है, क्योंकि उसके आस-पास अनेक अन्य भवन बन गये हैं (द्रष्टव्य – हिस्ट्री ऑव् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारी, पृष्ठ 658-659, दिल्ली, 1989)।

9. कोई विद्वान् उक्त 'गीतानिबन्ध' का नाम 'गूढार्थदीपिका' कहते हैं, किन्तु गीता की टीका 'गूढार्थदीपिका' में मधुसूदन सरस्वती के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' का उल्लेख है और 'अद्वैतसिद्धि' में आपने अपना परिचय 'श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन' (अद्वैतसिद्धि, मङ्गलश्लोक-4) – इस प्रकार 'मुनि' उपाधि के द्वारा दिया है, 'मुनि' शब्द का प्रयोग संन्यास-ग्रहण से पूर्व हो नहीं सकता, अतएव यही कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि 'गीतानिबन्ध' कोई लघु निबन्ध अथवा व्याख्यान ही होगा।

उस प्रान्त में जब एक बार वर्षा न होने के कारण दुर्भिक्ष की स्थिति हुई, तब उत्कलनरेश मुकुन्ददेव श्रीक्षेत्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने मधुसूदन सरस्वती का अनुनय-विनयपूर्वक सत्कार किया तथा फलस्वरूप राजा ने मुनिवर का आशीर्वाद प्राप्त किया कि तुम्हारे राज्य में अन्न की वृद्धि हो। कहते हैं कि आपका वह आशीर्वाद सफल हुआ। आपका संन्यास-जीवन वस्तुतः अद्भुत ही था।

भगवद्भक्ति :– मधुसूदन सरस्वती का जीवन अद्वैत-ज्ञान के साथ भगवद्भक्ति के संयोग से स्वर्ण में सुरभि की भाँति अतिसुरभित था। यद्यपि वे प्रकाण्ड पण्डित, प्रौढ़ दार्शनिक और तपोनिष्ठ सन्त थे, तथापि भक्तिरस के परमाचार्य थे। किंवदन्ती है कि एक परमहंस ने उनको श्रीकृष्णोपासना के लिए प्रेरित किया था, जबकि वास्तविकता यह है कि मधुसूदन सरस्वती बचपन से ही नवद्वीप में प्रादुर्भूत चैतन्य महाप्रभु के द्वारा प्रचलित श्रीकृष्णभक्ति से प्रभावित थे और पुरीक्षेत्र में प्रतिष्ठापित श्रीजगन्नाथ जी से अपने को अनुगृहीत समझते थे, उन्होंने अपने ग्रन्थ 'वेदान्तकल्पलतिका' में लिखा है:– '**भगवता नीलाचलनायकेन नारायणेनानुगृहीताः**[10]। संन्यास-ग्रहण के पश्चात् अद्वैत-वेदान्त-मत को अतिपुष्ट करनेवाले, अतिजटिल तथा विस्तृत 'अद्वैतसिद्धि' जैसे ग्रन्थ की रचना करने पर भी मधुसूदन सरस्वती की श्रीकृष्णभक्ति कम न होकर बढ़ती ही गई थी, जैसा कि उनके ग्रन्थों में लिखित अनेक लेखों से यह सिद्ध होता है। एकस्थान पर वे कहते हैं:–

> **'अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः, स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।**
> **शठेन केनापि वयं हठेन, दासीकृता गोपवधूविटेन॥'**

उनकी श्रीकृष्णभक्ति का चरमोत्कर्ष तो उनकी गीता-गूढार्थदीपिका-टीका में स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। द्वितीय षट्क की टीका आरम्भ करते हुए वे कहते हैं:–

> **'यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम्।**
> **तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम्॥**[11]'

दशम अध्याय का उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं:–

> **'कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते**
> **स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव।**
> **त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-**
> **मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन्मनो मे॥**[12]'

इसीप्रकार अन्तिम षट्क के आरम्भ में वे कहते हैं:–

> **'ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं**
> **ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।**

---

10. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, पृष्ठ 10-11।
11. श्रीमद्भगवद्गीता – गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 451।
12. उपरिवत्, पृष्ठ 587।

अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति[13]"॥

इन सबके अतिरिक्त मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिशास्त्र में 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ की ही रचना कर श्रीकृष्णभक्ति में डूबे हुए अपने भक्त-हृदय का परिचय दिया है। वे निस्सन्देह परम ज्ञानी होने के साथ-साथ परम भक्त भी थे।

भगवत्साक्षात्कारः– मधुसूदन सरस्वती श्रीकृष्णभक्ति में दीर्घकाल तक निरन्तर संलग्न रहते थे। वे श्रीकृष्णभक्ति की निरन्तरता में भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करते थे। इसमें उनके निम्न श्लोक साक्षी हैं:–

'मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवृत्तिम् ॥'

'गूढार्थदीपिका' का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा है:–

'वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने[14] ॥

निस्सन्देह मधुसूदन सरस्वती में ज्ञाननिष्ठा और भक्तिनिष्ठा का अद्भुत सामञ्जस्य था।

गुरु एवं शिष्यः– मधुसूदन सरस्वती के परमगुरु श्रीरामतीर्थ अथवा श्री रामानन्द सरस्वती, संन्यास-दीक्षा-गुरु श्री विश्वेश्वर सरस्वती तथा विद्यागुरु श्री माधव सरस्वती थे[15]। श्रीपाद सरस्वती भी आपके गुरु कहे जाते हैं[16]।

मधुसूदन सरस्वती के शिष्य यद्यपि अनेक थे, तथापि आपके प्रधान शिष्य तीन ही हैं– बलभद्र भट्टाचार्य[17], शेषगोविन्द और पुरुषोत्तम सरस्वती[18]। बलभद्र भट्टाचार्य ब्रह्मचारी थे[19]। इन्होंने 'अद्वैतसिद्धि' की 'सिद्धि'

---

13. उपरिवत्, पृष्ठ 647।
14. उपरिवत्, पृष्ठ 731, 901।
15. (अ) **श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां** प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम्।
व्याख्यानमेतद्विहितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु ॥ – गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 902।
(ब) **श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन** साक्षात्कृतमाधवानाम्।
स्पर्शेन निर्धूततमोरजोभ्यो पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्य ॥ – अद्वैतसिद्धि, मंगलश्लोक – 2।
(स) परममङ्गलरूपां परब्रह्मरूपविषयप्रयोजनोक्तिं संपाद्य **परमगुरुगुरुविद्यागुरून्प्रणमति** – श्रीरामेत्यादि। – अद्वैतसिद्धि – गौडब्रह्मानन्दी टीका, निर्णयसागर संस्करण, पृष्ठ 8।
(द) मूलकारस्य **परमगुरवः गुरवः विद्यागुरवश्च** क्रमेण **श्रीरामविश्वेश्वरमाधवा** आसन्। – अद्वैतसिद्धि – बालबोधिनी टीका, महामहोपाध्याय डॉ० योगेन्द्र नाथ बागची, सम्पादक – डॉ० शीतांशुशेखर बागची, प्रथम भाग – पृष्ठ 4, वाराणसी, 1971।
16. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ xii।
17. **बलभद्र**कृते कृतो निबन्धः – सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पूना, 1962, पृष्ठ 194।
18. "टीचर्स एण्ड प्यूपिल्स इन वेदान्त", 'द शंकर स्कूल ऑव् वेदान्त', अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, वॉल्यूम् II, पृष्ठ 55, प्रथम संस्करण 1922, भारतीय प्रथम संस्करण 1975, दिल्ली।
19. बलभद्रस्य आचार्याणां सेवक**ब्रह्मचारिणः** – सिद्धान्तबिन्दु – गौडब्रह्मानन्दी-टीका, सम्पादक – पं० त्र्यम्बक राम शास्त्री, पृष्ठ 462।

नामक व्याख्या की है। इनका समय 1610 ई० है[20]। शेषगोविन्द महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शेषपण्डित अपर नाम कृष्णपण्डित था[21]। इन्होंने शंकराचार्य-प्रणीत 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह' ग्रन्थ की टीका लिखी है जिसमें आपने अपने गुरुवर मधुसूदन सरस्वती के प्रति अत्यन्त श्रद्धा प्रकट की है। इनका समय 16वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। पुरुषोत्तम सरस्वती संन्यासी थे। इनका समय 1600 ई० है[22]। इन्होंने 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ पर 'अद्वैतसिद्धिसाधक'[23] नामक टीका तथा 'सिद्धान्तबिन्दु' ग्रन्थ पर 'सन्दीपन' नामक टीका लिखी है। 'सन्दीपन' व्याख्या प्रकाशित है[24]। इस व्याख्या के अन्त में आपने अपने विद्यागुरु मधुसूदन सरस्वती को देवगुरु वृहस्पति के समान कहा है: –

'श्रीधरं श्रीगुरुं नत्वा नौमि श्रीपादमादरात्।
वियागुरुं गुरुमिव सुराणां मधुसूदनम्॥'

महाप्रयाणः किंवदन्ती है कि मधुसूदन सरस्वती ने 107 वर्ष की आयु में विदेहकैवल्य प्राप्त किया था।

02. समयः– यतिवर मधुसूदन सरस्वती भारतीय परम्परा के अपवाद नहीं हैं, जैसा कि उन्होंने भी अपने विषय में अपने किसी भी ग्रन्थ में कोई संकेत नहीं दिया है, अतएव उनका समय निर्धारित करना अत्यन्त जटिल कार्य है, तथापि विद्वानों ने कुछ प्रयत्न किया है जिसके आधार पर उनका स्थितिकाल सिद्ध किया जा सकता है।

पण्डित राजेन्द्रनाथ घोष, संन्यास-ग्रहण के पश्चात् जो 'चिद्घनानन्दपुरी' नाम से प्रसिद्ध हुए, ने अपने द्वारा सम्पादित व प्रकाशित योगेन्द्रनाथ तर्क-सांख्य-वेदान्ततीर्थ-प्रणीत वङ्गभाषा में उपनिबद्ध तात्पर्य से उपबृंहित 'बालबोधिनी' टीका सहित मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिप्रकरणपर्यन्त 'अद्वैतसिद्धि'[25] के लिए लिखित अपनी बहुश्रमसिद्ध भूमिका में ऐतिहासिक प्रमाणों और किंवदन्तियों के आधार पर मधुसूदन सरस्वती की जन्मतिथि को 1525-1530 ई० के आस-पास सिद्ध किया है। पण्डित रामज्ञ शर्मा पाण्डेय व्याकरणोपाध्याय ने स्वसम्पादित 'वेदान्तकल्पलतिका[26]' की प्रस्तावना में यतिवर का समय 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है। प्रो० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता[27] ने भी रामज्ञ पाण्डेय के आधार पर मधुसूदन सरस्वती का

---

20. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ीज़, कॉर्ल एच० पोटर, वॉल्यूम्-I, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 389।
21. "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, 1928, पृष्ठ 178।
22. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ीज़, कॉर्ल एच० पोटर, वॉल्यूम् I, पृष्ठ 384।
23. उपरिवत्।
24. सिद्धान्तबिन्दु – सन्दीपन, पुरुषोत्तम सरस्वती, सम्पादक – एम० जी० बाकरे, बम्बई 1929; सम्पादक – पी० सी० दीवानजी, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 64, 1933।
25. अद्वैतसिद्धि (मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिप्रकरणपर्यन्त) मधुसूदन सरस्वती, पं० योगेन्द्रनाथ तर्क-सांख्य-वेदान्ततीर्थ-प्रणीत वङ्गभाषा में उपनिबद्ध तात्पर्य से उपबृंहित 'बालबोधिनी' टीका सहित, सम्पादक – पण्डित राजेन्द्रनाथ घोष, सम्पादकीय वङ्गभाषोपनिबद्ध भूमिका, कलकत्ता।
26. वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – पण्डित रामज्ञ शर्मा पाण्डेय व्याकरणोपाध्याय, सम्पादकीय भूमिका, सरस्वती भवन टेक्स्ट नं० 3, बनारस, 1920।
27. अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, वॉल्यूम् II, पृष्ठ 55, 225।

समय 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही स्वीकार किया है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने राजेन्द्र नाथ घोष और पण्डित रामज्ञ शर्मा पाण्डेय के मतों का समर्थन करते हुए आचार्यवर का समय 16वीं० शताब्दी निश्चित किया है[28]। पी० सी० दीवानजी ने स्वसम्पादित व अनूदित 'सिद्धान्तबिन्दु और सिद्धान्तबिन्दुसन्दीपन[29]' की विस्तृत भूमिका में मुनिवर मधुसूदन सरस्वती का समय अन्य विद्वानों के मतों के खण्डन-मण्डन के साथ 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अर्थात् 1540 ई० निर्धारित किया है, आपके निर्णय में विशेषता यह है कि इन्होंने उक्त तिथि का निर्णय करने के लिए अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। इसीप्रकार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर[30], क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय[31], एस० एन० तदपत्रीकर[32], चिन्ताहरण चक्रवर्ती[33], श्रीकृष्ण पन्त[34] और एम० कृष्णमाचारी[35] ने भी मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही निश्चित किया है। प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य ने विशेष ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं शताब्दी का मध्यकाल निश्चित किया है[36]। स्वामी योगीन्द्रानन्द ने उदासीन महाविद्यालय, काशी से प्रकाशित 'रसधारा' टीका सहित 'भक्तिरसायन[37]' ग्रन्थ की भूमिका में राजेन्द्रनाथ घोष के मत का समर्थन करते हुए यतिवर का जीवनकाल 1533 ई० से 1640 ई० तक स्वीकार किया है, किन्तु आपने ही स्वसम्पादित व अनूदित 'न्यायामृताद्वैतसिद्धी[38]' ग्रन्थ की भूमिका में

---

28. (अ) "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, 1928।
    (ब) ब्रह्मसूत्र, बादरायण, सम्पादक – श्रीभोलेबाबा, भूमिका – महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, अच्युत ग्रन्थमाला नं० ख 5, सम्वत् 1993, बनारस।
29. (अ) "मधुसूदन सरस्वती:हिज़ लाइफ़ एण्ड वर्क्स" पी० सी० दीवानजी, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट नं० 8-9, 1926-27, 1927-28।
    (ब) दशश्लोकी, शंकराचार्य, मधुसूदन सरस्वती कृत 'सिद्धान्तबिन्दु' और पुरुषोत्तम सरस्वती कृत 'सन्दीपन' टीका-उपटीका सहित, सम्पादक और अनुवादक - पी० सी० दीवानजी, सम्पादकीय भूमिका, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 64, 1933।
30. हरिलीलाव्याख्या = हरिलीलाविवेक, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सम्पादकीय भूमिका, कलकत्ता ओरिएण्टल सीरीज, कलकत्ता।
31. "मधुसूदन सरस्वती", क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट नं० 8-9, 1926-27, 1927-28।
32. "अ वर्क ऑन् अर्थशास्त्र बाइ मधुसूदन", एस० एन० तदपत्रीकर, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इनस्टीट्यूट नं० 8-9, 1926-27, 1927-28।
33. "मधुसूदन सरस्वती", चिन्ताहरण चक्रवर्ती, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट नं० 11, 1929-30।
34. सिद्धान्तबिन्दु, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – श्री कृष्ण पन्त, सम्पादकीय भूमिका, अच्युत ग्रन्थमाला नं० ख 3, 1932, बनारस।
35. हिस्ट्री ऑव् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारी, पृष्ठ 658-659, प्रथम संस्करण 1937, पुनर्मुद्रित 1989, दिल्ली।
36. "संस्कृत स्कॉलर्स ऑव् अकबरज़् टाइम" प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्लि, वॉल्यूम XIII, 1932।
37. भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती, 'रसधारा' टीका सहित, भूमिका -- स्वामी योगीन्द्रानन्द, उदासीन महाविद्यालय, काशी।
38. न्यायामृताद्वैतसिद्धी, भूमिका – पृष्ठ 15।

मधुसूदन सरस्वती का समय 1540 ई० से 1647 ई० तक स्वीकार किया है । आर० डी० करमरकर ने स्वसम्पादित व अनूदित 'वेदान्तकल्पलतिका'[39] की भूमिका में मुनिवर का समय 1540 ई० से 1647 ई० तक ही स्वीकार किया है । डॉ० सञ्जुक्ता गुप्ता ने उक्त मतों के आधार पर ही मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं० शताब्दी स्वीकार किया है[40] । निष्कर्ष यह है कि उक्त सभी विद्वानों ने एकमत होकर मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं० शताब्दी का पूर्वार्द्ध अथवा मध्यकाल निश्चित किया है और सभी ने अपने-अपने मत के समर्थन में कुछ-कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जो इसप्रकार हैं:–

(i) जनश्रुति है कि गोस्वामी तुलसीदास मधुसूदन सरस्वती के मित्र थे[41] । जब उनके रामचरितमानस पर रामायण का हिन्दी रूपान्तर होने के कारण संस्कृत विद्वानों ने आपत्ति उठाई थी, तब खिन्न होकर गोस्वामी तुलसीदास ने मधुसूदन सरस्वती को एक दोहा लिखकर भेजा था –

'हर-हरि-यश सुर-नर-गिरा, बरनहिं सन्त सुजान ।
हाँडी हाटक चारु रुचि, राँधे स्वाद समान ॥'

अर्थात् 'जिसप्रकार स्वर्ण अथवा मिट्टी की हाँडी में पकाए गए भात का स्वाद समान होता है उसीप्रकार हर-शिव और हरि-विष्णु=राम का यश=गुणगान सुजान सन्तजन चाहे सुर-गिरा= संस्कृत में करें, चाहे नर-गिरा=हिन्दी अथवा क्षेत्रीय भाषा में करें, उसके प्रभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता अर्थात् उसका प्रभाव समान ही होता है ।'

इसके उत्तर में मधुसूदन सरस्वती ने गोस्वामी तुलसीदास की प्रशंसा करते हुए एक श्लोक लिखकर भेजा था--

'आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥'

अर्थात् 'इस आनन्दकानन-आनन्दवन= काशी में एक चलता-फिरता तुलसी नामक वृक्ष है, जिसकी कवितारूपी मञ्जरी रामरूपी भ्रमर से सुशोभित है ।'

इस जनश्रुति के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास के समकाल में मधुसूदन सरस्वती का समय आता है। गोस्वामी जी का जीवनकाल सम्वत् 1589[42] से 1680[43] तक माना जाता है, अतएव मधुसूदन सरस्वती का जन्मकाल भी सम्वत् 1589 = 1532 ई० के लगभग ही होना चाहिए[44] ।

---

39. वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक और अनुवादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ XII ।
40. स्टडीज़ इन द फ़िलासफ़ी ऑव् मधुसूदन सरस्वती, डॉ० सञ्जुक्ता गुप्ता, भूमिका पृष्ठ V, कलकत्ता, 1966 ।
41. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सम्वत् 2019, पृष्ठ 125 ।
42. उपरिवत्, पृष्ठ 123 ।
43. गोस्वामी जी की मृत्यु के सम्बन्ध में लोग यह दोहा कहा करते हैं :–

    संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर ।
    श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥
44. अद्वैतसिद्धि, सम्पादक – पं० राजेन्द्र नाथ घोष, भूमिका – पृष्ठ 93 तथा द्रष्टव्य – वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – पं० रामज्ञ शर्मा, भूमिका ।

(ii) किंवदन्ती है कि अकबर के अर्थ-सचिव टोडरमल मधुसूदन सरस्वती का बहुत आदर करते थे, अतएव एक बार अकबरी दरबार में मधुसूदन सरस्वती को आमन्त्रित किया गया था और वहाँ आयोजित एक विशाल विद्वत्सभा के सभापति-पद पर उनको समासीन किया गया था, उस समय आपके वैदुष्य से प्रभावित होकर अकबर और समूची विद्वत्-सभा ने एकमत से यह स्वीकार किया था–

'वेत्ति पारं सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती ।
मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती ॥'

अर्थात् 'सरस्वती का पार मधुसूदन सरस्वती जानते हैं और मधुसूदन सरस्वती का पार तो देवी सरस्वती ही जानती है' ।

इससे सिद्ध होता है कि मधुसूदन सरस्वती अकबर के समसामयिक थे । अकबर का शासनकाल सन् 1556 से 1605 ई० तक इतिहास-प्रसिद्ध है, अतएव मधुसूदन सरस्वती का समय ईसा की सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध प्राप्त होता है[45] ।

(iii) आईने अकबरी[46] में अकबर के समसामयिक प्रसिद्ध विद्वानों, फकीरों, मौलवियों और साधुओं के नाम उल्लिखित हैं, उनमें मधुसूदन सरस्वती का नाम भी विद्वन्मण्डली के साथ अङ्कित है । अकबर का राज्यकाल सन् 1556 से सन् 1605 तक माना जाता है और अब्दुल फज़ल सन् 1597 में आईने अकबरी लिख चुके थे[47], इसलिए भी कहा जा सकता है कि मधुसूदन सरस्वती आईने अकबरी से पूर्व अर्थात् लगभग सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थित रहे हैं[48] ।

(iv) जनप्रवाद है कि मधुसूदन सरस्वती अपनी वृद्धावस्था में जब नवद्वीप गये थे तब वहाँ के प्रमुख पण्डित तर्कवागीश[49] और गदाधर भट्टाचार्य उनके पाण्डित्य को देखकर घबड़ा गये थे । इस विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है–

'नवद्वीपे समायाते मधुसूदनवाक्पतौ ।
चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः ॥'

गदाधर भट्टाचार्य उस समय बालक ही थे और मधुसूदन सरस्वती बहुत वृद्ध थे । गदाधर भट्टाचार्य का समय सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् लगभग 1620-1625 ई०[50] है । घटना के समय गदाधर भट्ट

---

45. सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक व अनुवादक – पी० सी० दीवानजी, भूमिका – पृष्ठ xxi ।
46. आईने अकबरी, अब्दुल फज़ल, सम्पादक व अनुवादक – एच० ब्लॉचमन, आईन 30, वॉल्यूम् II, कलकत्ता, पृष्ठ 537-47 ।
47. "संस्कृत स्कॉलर्स ऑव् अकबरज़ टाइम", प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्लि, वॉल्यूम् XIII, पृष्ठ 31 ।
48. उपरिवत्, पृष्ठ 31-32 ।
49. सम्भवतः ये तर्कवागीश हरिराम तर्कवागीश रहे होंगे, क्योंकि घटना के समय गदाधर भट्ट बालक थे और हरिराम तर्कवागीश गदाधर भट्ट के गुरु थे ।
50. द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ 481-482 ।

15-20 वर्ष की आयु के रहे होंगे और मधुसूदन सरस्वती नब्बे वर्ष की आयु से अधिक होंगे । इससे सिद्ध होता है कि यतिवर का जन्मकाल सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही है[51] ।

(v) किंवदन्ती है कि वृत्तरत्नाकर के टीकाकार नारायण भट्ट के समय में मधुसूदन सरस्वती विद्यमान थे, क्योंकि नारायण भट्ट के कथन से ही उन्होंने माधव सरस्वती से मीमांसा का अध्ययन किया था । नारायण भट्ट के पिता दकननिवासी रामेश्वर भट्ट जब द्वारिका की यात्रा पर जा रहे थे तब उन्होंने 1453 शकाब्द अर्थात् 1514 ई० में नारायण भट्ट को पुत्ररूप में प्राप्त किया था – ऐसा कहा जाता है[52] । इन रामेश्वर भट्ट का बनारसनिवासी माधव सरस्वती नामक शिष्य था । रामेश्वर भट्ट बनारस अपनी द्वारिका-यात्रा के अनेक वर्षों पश्चात् गये थे, अतएव उनके शिष्य माधव सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् सन् 1520-25 होना चाहिए[53] । सम्भवतः यही मधुसूदन सरस्वती के विद्यागुरु माधव सरस्वती हैं । इसके आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि मधुसूदन सरस्वती नारायण भट्ट अथवा अपने गुरु माधव सरस्वती से 20-25 वर्ष पश्चात् स्थित हुए होंगे अर्थात् उनका समय 1540 ई० के आस-पास हो सकता है ।

(vi) किंवदन्ती है कि जब मधुसूदन सरस्वती ने मध्व-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् व्यासतीर्थ के ग्रन्थ 'न्यायामृत' का खण्डन करते हुए 'अद्वैतसिद्धि' की रचना की, तो व्यासतीर्थ को बहुत दुःख हुआ । उस समय उनका शरीर अत्यन्त वार्धक्य से जर्जरित हो चुका था, अतएव उन्होंने अपने प्रधान शिष्य रामाचार्य को आदेश दिया कि वे छद्म वेश में मधुसूदन सरस्वती से ही 'अद्वैतसिद्धि' का पूर्ण अध्ययन करके 'अद्वैतसिद्धि' का खण्डन करें । रामाचार्य ने वैसा ही किया और 'न्यायामृत' की 'तरङ्गिणी' नामक टीका लिखी जिसमें 'अद्वैतसिद्धि' द्वारा किये हुए 'न्यायामृत' के खण्डन का खण्डन किया । व्यासतीर्थ का समय ईसा की सोलहवीं शती (1535[54] ई०) माना जाता है । इससे भी यह निश्चय होता है कि मधुसूदन सरस्वती सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में स्थित थे ।

(vii) नैयायिक शंकर मिश्र ने श्रीहर्ष के अद्वैतपरक 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ का खण्डन करते हुए 'भेदरत्न' नामक ग्रन्थ लिखा है । 'भेदरत्न' ग्रन्थ का खण्डन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतरत्नरक्षण' नामक ग्रन्थ की रचना की है । शंकरमिश्र का समय पन्द्रहवीं शती (1490[55] ई०) माना जाता है, अतएव उनके निकट-परवर्ती होने के कारण मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही स्थिर होता है[56] ।

---

51. अद्वैतसिद्धि, सम्पादक – पं० राजेन्द्र नाथ घोष, भूमिका – पृष्ठ 94 ।
52. इण्डियन ऐन्टिकेरी, वॉल्यूम् XLII, 1912, पृष्ठ 9 ।
53. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – पं० रामज्ञ शर्मा, भूमिका ।
54. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलासफ़ीज, कॉर्ल एच० पोटर, वॉल्यूम् I, पृष्ठ 356 ।
55. द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, सतीश चन्द्र विद्याभूषण, पृष्ठ 458-459 ।
56. "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, पृष्ठ - 178 ।

(viii) मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' में 'एकजीववाद' का वर्णन करते हुए उससे सम्बन्धित दो भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख किया है[57], जिनमें से द्वितीय सिद्धान्त प्रकाशानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है[58] । प्रकाशानन्द का समय सोलहवीं शती (1505 ई०[59]) है, अतएव उनके निकट-परवर्ती होने के कारण मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध कहा जा सकता है ।

(ix) मधुसूदन सरस्वती अद्वैतवादी होने के साथ-साथ भक्तिवादी भी हैं, उन पर श्री चैतन्य की भक्ति का प्रभाव है, उनके भक्तिसिद्धान्त में रूपगोस्वामी के भक्ति-सिद्धान्त से यत्र-तत्र समानता देखी जाती है[60], अतएव कहा जा सकता है कि रूपगोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती- दोनों समकालीन हैं और श्री चैतन्य उनके पूर्ववर्त्ती हैं ही । श्री चैतन्य का समय सन् 1486 से सन् 1533 तक कहा जाता है[61] तथा रूपगोस्वामी का समय 1533 ई० माना जाता है[62], इसलिए भी मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् 1533-1540 ई० के आस-पास माना जा सकता है ।

(x) मधुसूदन सरस्वती के तीन प्रधान शिष्यों में से एक **शेषगोविन्द** शिष्य हुए हैं, इनके पिता का नाम शेषपण्डित था, जिनका दूसरा नाम कृष्णपण्डित भी था[63], जो प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित के गुरु थे । भट्टोजी दीक्षित, रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ और बादशाह जहाँगीर समकालीन हैं । जहाँगीर का शासनकाल सन् 1605 से सन् 1627 तक रहा है, अतएव भट्टोजी दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ और जहाँगीर का जन्मकाल लगभग सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध हुआ और भट्टोजी दीक्षित के गुरु कृष्णपण्डित का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् 1550 ई० अथवा 1560 ई० होना चाहिए, इसीलिए कृष्णपण्डित के पुत्र शेषगोविन्द के गुरु मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही स्थिर होता है[64] ।

उपर्युक्त सभी युक्तियों से यही सिद्ध होता है कि मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध है ।

---

57. 'अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः । अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वा अज्ञानानुपहितं शुद्धं चैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः' – सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पृष्ठ 48-49 ।
58. तुलना करें – **सिद्धान्तबिन्दु,** सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पृष्ठ 49 तथा **वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली,** प्रकाशानन्द, सम्पादक – अर्थर वेनिस, बनारस, संशोधित संस्करण – 1975, पृष्ठ 16 ।
59. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ीज, कार्ल एच० पोटर, वॉल्यूम् I, पृष्ठ 341 ।
60. तुलना करें :– '**भक्तिरसामृतसिन्धु**', रूपगोस्वामी, सम्पादक व अनुवादक – आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, दिल्ली, 1963, पश्चिम विभाग, द्वितीय लहरी से पंचम लहरी तक, पृष्ठ 328-429 तथा '**भक्तिरसायन**' मधुसूदन सरस्वती, संस्कर्ता – जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, द्वितीय उल्लास, कारिका 66-79 तथा तृतीय उल्लास इत्यादि ।
61. "लाइफ एण्ड पर्सनल्टी ऑव् चैतन्य", द अर्लि हिस्ट्री ऑव् द वैष्णव फ़ेथ एण्ड मूव्रमेण्ट इन बंगाल, सुशील कुमार डे, कलकत्ता, 1961, पृष्ठ 67/102 ।
62. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलासफ़ीज, कार्ल एच० पोटर, वॉल्यूम् I, पृष्ठ 355 ।
63. "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, पृष्ठ 178-179 ।
64. उपरिवत् ।

प्रो० एम० हिरियाना ने मधुसूदन सरस्वती का जन्मकाल 1500 ई० सिद्ध किया है[65] । रायबहादुर अमरनाथ रे ने भी यतिवर का समय 1500 ई० स्वीकार किया है[66] । सदाशिव एल० कत्रे ने मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत 'महिम्नस्तोत्रटीका' की पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि के समय 1593 ई० के आधार पर यतिवर के अन्य दो ग्रन्थ– 'वेदान्तकल्पलतिका और सिद्धान्तबिन्दु' के प्रणयन का समय लगभग 1500 ई० सिद्ध किया है[67], इससे प्रो० कत्रे के अनुसार भी मधुसूदन सरस्वती का समय 1500 ई० का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है । किन्तु मधुसूदन सरस्वती का समय पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध निश्चित करना उचित नहीं लगता है, कारण कि उनके प्रधान शिष्यों का समय सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध और सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध है । यदि यतिवर का जन्मकाल पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध स्वीकार करते हैं तो उनके शिष्यों के समय के आधार पर उनकी आयु की सीमा लगभग 125-150 वर्ष की होनी चाहिए, जबकि किंवदन्ती के आधार पर उनकी आयु की सीमा 107 वर्ष तक की ही प्राय: स्वीकार की गई है । अतएव उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर उनका समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही कहा जा सकता है ।

श्री आर० कृष्णास्वामी शास्त्री मधुसूदन सरस्वती का जन्मकाल सत्रहवीं शती स्वीकार करते हैं[68] । पं० त्र्यम्बकराम शास्त्री यतिवर का समय सत्रहवीं शती मानते हैं[69] । के० टी० तैलङ्ग ने भी आचार्यवर का समय सत्रहवीं शती निश्चित किया है[70] । प्रो० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री भी यतिवर का समय सत्रहवीं शती मानते हैं[71] । अनन्तशास्त्री फड़के ने भी आचार्य का समय षोडश शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सप्तदश शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है [72] । ए० सुलोचना नाचने ने आनन्दाश्रम पुस्तकालय में सुरक्षित

---

65. इष्टसिद्धि, विमुक्तात्मा, सम्पादक – प्रो० एम० हिरियाना, सम्पादकीय भूमिका, पृष्ठ i, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 65, 1933 ।

66. "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", रायबहादुर अमरनाथ रे, इण्डियन कल्चर, व़ॉल्यूम् - 5, 1938-39, पृष्ठ 326-328 ।

67. (अ) "टर्मिनस अद क्यूयेम फॉर द डेटस् ऑव् मधुसूदन सरस्वतीज़ थ्री वर्क्स" (1. वेदान्तकल्पलतिका, 2. सिद्धान्तबिन्दु एण्ड 3. महिम्नस्तोत्रटीका) – सम्वत् 1650 = 1593 ए० सी०", सदाशिव एल० कत्रे, जर्नल ऑव् गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, व़ॉल्यूम् 7, 1949-50, पृष्ठ 181-186 ।

    (ब) "डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वतीज़ वेदान्तकल्पलतिका – बिफ़ोर सम्वत् 1650 ऑर 1593 ए० सी० ", सदाशिव एल० कत्रे, पूना ओरिएण्टललिस्ट, व़ॉल्यूम् XIII, नं० 3-4, 1948-51, पृष्ठ 15-17 ।

68. "एज ऑव श्रीमधुसूदन सरस्वती", आर० कृष्णास्वामी शास्त्री, जर्नल ऑव् ओरिएण्टल रिसर्च, मद्रास, व़ॉल्यूम् 2, 1929, पृष्ठ 97-104 ।

69. सिद्धान्तबिन्दु, रत्नावली और लघुव्याख्या सहित, सम्पादक – पं० त्र्यम्बकराम शास्त्री, सम्पादकीय भूमिका – पृष्ठ 10-11 ।

70. "नोट ऑन् द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", के० टी० तैलङ्ग, जर्नल ऑव् द एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल (बोम्बे ब्रान्च), व़ॉल्यूम XXX, पृष्ठ 368 ।

71. ब्रह्मसिद्धि, मण्डनमिश्र, सम्पादक -- प्रो० एस० कुप्पुस्वामी, सम्पादकीय भूमिका, पृष्ठ i, मद्रास गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सीरीज नं० 4, 1937 ।

72. श्रीभगवद्भक्तिरसायन, संस्कर्ता – जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, भूमिका – पृष्ठ 10 ।

'वेदान्तकल्पलतिका' की पाण्डुलिपि में उल्लिखित श्लोक[73] के आधार पर मधुसूदन सरस्वती का समय लगभग 1670 ई० सिद्ध किया है[74], जिसका खण्डन सदाशिव एल० कत्रे ने अपने एक लेख में किया है[75] । वस्तुत: उपर्युक्त सभी प्रमाणों के आधार पर भी उक्त मत खण्डित हो जाता है ।

इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती को उपर्युक्त अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर निस्सन्देह रूप से सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध अर्थात् 1532-1540 ई० का ही आचार्य कहा जा सकता है ।

03. रचनाएँ:– जर्मन विद्वान् आफ्रेख्त थियोडार ने कैटालॉगूस कैटालॉग्रुम[76] में मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत बाईस ग्रन्थों की सूची दी है, जो इसप्रकार है:-

(1) अद्वैतसिद्धि (2) अद्वैतरत्नरक्षण (93) आत्मबोधटीका (4) आनन्दमन्दाकिनी (5) ऋग्वेदजटाद्यष्टविकृतिविवरण (6) कृष्णकुतूहलनाटक (7) प्रस्थानभेद (8) भक्तिसामान्यनिरूपण (9) भगवद्गीतागूढार्थदीपिका (10) भगवद्भक्तिरसायन (11) भागवतपुराण-प्रथमश्लोकव्याख्या (12) महिम्नस्तोत्रटीका (13) राज्ञाम्प्रतिबोध (14) वेदस्तुतिटीका (15) वेदान्तकल्पलतिका (16) शाण्डिल्यसूत्रटीका (17) शास्त्रसिद्धान्तलेशटीका (18) संक्षेपशारीरकसारसंग्रह (19) सर्वविद्यासिद्धान्तवर्णन (?) (20) सिद्धान्ततत्त्वबिन्दु (21) हरिलीलाव्याख्या तथा (22) भागवतपुराणाद्यश्लोकत्रयव्याख्या ।

उक्त सूची के अन्तर्गत उल्लिखित ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थ तो अन्त:साक्ष्य के आधार पर मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत ही हैं, किन्तु कुछ ग्रन्थों को उनकी रचना स्वीकार करना सन्देहास्पद है । उनकी सुनिश्चित और सन्देहास्पद रचनाओं का संक्षिप्त विवरण कालक्रमानुसार इस प्रकार है:–

(1) वेदान्तकल्पलतिका:– यह ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत है, कारण कि इस ग्रन्थ के मंगलश्लोक में आपने अपने दीक्षागुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती का नामोल्लेख किया है[77] और ग्रन्थ के अन्त में इसप्रकार पुष्पिका भी दी है-- **'इति श्रीवेदान्तकल्पलतिकायां परमहंसपरिव्राजकमधुसूदनसरस्वतीकृतायां ससाधनापवर्गनिरूपणं नाम स्तबक:[78]'** । इसमें 'सिद्धान्तबिन्दु' का उल्लेख प्राप्त है[79] । यह ग्रन्थ सिद्धान्तबिन्दु, महिम्नस्तोत्रटीका, अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण में उद्धृत है । इसमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक,

---

73. अद्रीन्द्वद्रीन्दुसंख्येऽब्दे राक्षसे चैव (चैत्र) मेचके ।
द्वितीयेऽन्दौ पञ्चवट्यां कृत्वार्पितमिदं गुरो: ।।

74. "डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", ए० सुलोचना नाचने, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट नं० 30, 1949, पृष्ठ 326-331; समरीज़ ऑव् पेपर्स, ऑल् इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेन्स, फ़िफ्टीन्थ बोम्बे सेशन्, 1949, पृष्ठ 221 ।

75. द्रष्टव्य – "डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वतीज़ वेदान्तकल्पलतिका -- बिफ़ोर सम्वत् 1650 और 1593 ए० सी०", सदाशिव एल० कत्रे, पूना ओरिएण्टलिस्ट, व़ॉल्यूम् XIII, नं० 3-4, 1948-51, पृष्ठ 15-17 ।

76. कैटालॉगूस कैटालॉग्रुम, पार्ट I, पृष्ठ 427 ।

77. तथापि श्रीविश्वेश्वरचरणपङ्केरुहसुधा -
सुधाराभि: सिक्तो न कथमपि रिक्तोऽस्मि भविता ।। – वेदान्तकल्पलतिका, मङ्गलश्लोक 2 ।

78. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, पृष्ठ 176 ।

79. विस्तरेण, एतत् प्रपञ्चितमस्माभि: **सिद्धान्तबिन्दौ**— वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक- आर० डी० करमरकर, पृष्ठ 164 ।

सांख्य, भास्कर, पाशुपतादि बीस मतों का निराकरण कर औपनिषद मतानुसार मोक्ष-तत्त्व का निरूपण किया गया है[80] ।

(2) सिद्धान्तबिन्दुः— शङ्कराचार्यप्रणीत 'दशश्लोकी' की व्याख्या 'सिद्धान्तबिन्दु' है, यह 'सिद्धान्ततत्त्वबिन्दु' नाम से भी जानी जाती है । इसके मङ्गलश्लोक में प्रणेता ने अपने गुरु श्रीविश्वेश्वर को प्रणाम किया है[81] और ग्रन्थ के अन्त में अपने को श्रीविश्वेश्वर भगवत्पाद का शिष्य कहा है[82], अतएव इस ग्रन्थ के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती हैं । इसमें 'वेदान्तकल्पलतिका' उद्धृत है[83] । वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतसिद्धि और भगवद्गीतागूढार्थदीपिका में इसका उल्लेख किया गया है । यह पठन-पाठन-परम्परा में लघुसिद्धि = लघु अद्वैतसिद्धि के नाम से प्रसिद्ध है ।

(3) महिम्नस्तोत्रटीकाः— 'महिम्नस्तोत्र' 'शिवमहिम्नस्तोत्र' है, इसके रचयिता पुष्पदन्त हैं, इसमें भगवान् शिव की पौराणिक कथानकों के आधार पर सुन्दर स्तुति प्रस्तुत की गई है । इस स्तोत्र की व्याख्या ही 'महिम्नस्तोत्रटीका' है । टीका के प्रारम्भ में ही टीकाकार ने अपने गुरु श्रीविश्वेश्वर को नमन किया है[84] और टीका के अन्त में अपने को श्रीविश्वेश्वर सरस्वती के चरणाविन्द का मधुकर कहा है[85], इसलिए टीकाकार मधुसूदन सरस्वती हैं । इस टीका की विशेषता यह है कि महिम्नस्तोत्र को शिव और विष्णु-दोनों की स्तुति में विनियुक्त किया गया है[86] । इसमें 'वेदान्तकल्पलतिका' का उल्लेख किया गया है[87] ।

सम्भवतः वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु और महिम्नस्तोत्रटीका— ये तीनों ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती की सर्वप्रथम और समकालीन रचनाएँ हैं[88], जिनमें से वेदान्तकल्पलतिका और सिद्धान्तबिन्दु में मधुसूदन सरस्वती के अद्वैत-वेदान्त सम्बन्धी विचार निष्कर्ष रूप से कहे गये हैं तथा महिम्नस्तोत्रटीका में उनके

---

80. मुमुक्षूणामनुष्ठेयविक्षेपविनिवृत्तये ।
मोक्षं ससाधनं वच्मि परपक्षनिरासतः ।। – वेदान्तकल्पलतिका, मंगलश्लोक 5 ।

81. श्रीशंकराचार्यनवावतारं विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य ।
वेदान्दशास्त्रश्रवणालसानां बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम् ।। – सिद्धान्तबिन्दु, मंगलश्लोक 1 ।

82. इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरभगवत्पादशिष्यश्रीमन्मधुसूदनमुनिविरचितः सिद्धान्ततत्त्वबिन्दुः समाप्तः ।। – सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पृष्ठ 154 ।

83. (अ) विस्तरस्तु **वेदान्तकल्पलतिकायामनुसंधेयः**— सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक-वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पृष्ठ 133 ।
(ब) विस्तरेणैतत्प्रपञ्चितमस्माभि**र्वेदान्तकल्पलतिकाया**मित्युपरम्यते-सिद्धान्तबिन्दु, पृष्ठ 141 ।

84. विश्वेश्वरं गुरुं नत्वा महिम्नाख्यस्तुतेरयम् ।
पूर्वाचार्यकृतव्याख्यासंग्रहः क्रियते मया ।। – महिम्नस्तोत्रटीका, कलकत्ता संस्करण, पृष्ठ 20 ।

85. इति परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्विश्वेश्वरसरस्वतीचरणारविन्दमधुकरेण श्रीमधुसूदनसरस्वतीसंमाख्याधरेण केनचिद्विरचिता महिम्नाख्यस्तुतिव्याख्या परिपूर्णा – महिम्नस्तोत्रटीका, पृष्ठ 81 ।

86. हरिशंकरयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात् ।
उभयार्थतया मयेदमुक्तं सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु ।। -- महिम्नस्तोत्रटीका, पृष्ठ 81 ।

87. (अ) चेति प्रमाणत्रयमुक्तम् । विस्तरेण चात्र युक्तयो **वेदान्तकल्पलतिकायाम**नुसंधेयाः । तस्मात् 'न विद्मः' इत्यादिना साध्वेवोक्तमद्वितीयत्वम् ।
(ब) यथा च शब्दादप्यपरोक्षनिर्विकल्पकबोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभि**र्वेदान्तकल्पलतिकाया**मित्युपरम्यते । – महिम्नस्तोत्रटीका, पृष्ठ 76 ।

88. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक -- आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ XIV ।

भक्ति-सिद्धान्तों को कहा गया है। आपके अन्य परवर्ती ग्रन्थ तो उक्तत्रय ग्रन्थों की विस्तृत व्याख्याएँ ही हैं।

प्रस्थानभेद[89] मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह अक्षरशः महिम्नस्तोत्र के सातवें श्लोक की 'महिम्नस्तोत्रटीका' ही है।

(4) **अद्वैतसिद्धिः**-- 'अद्वैतसिद्धि' ब्रह्मसिद्धि, नैष्कर्म्यसिद्धि और इष्टसिद्धि की पंक्ति में सुशोभित होनेवाला ग्रन्थरत्न है। मधुसूदन सरस्वती की समस्त रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसी ग्रन्थ से मधुसूदन सरस्वती अमर हैं। यही ग्रन्थ है जिसके कारण मधुसूदन सरस्वती का शाङ्करवेदान्त के श्रेष्ठ आचार्यों में सर्वोच्च स्थान है। इस ग्रन्थ से आपके विषय में अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जैसे कि ये संन्यासी थे[90]; इनके परमगुरु श्रीराम सरस्वती, दीक्षागुरु श्री विश्वेश्वर सरस्वती और विद्यागुरु श्री माधव सरस्वती थे[91]। अतएव आप ही परम्परानुसार 'अद्वैतसिद्धि' के प्रणेता हैं। इसमें वेदान्तकल्पलतिका और सिद्धान्तबिन्दु का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ अद्वैतरत्नरक्षण और भगवद्गीतागूढार्थदीपिका में उद्धृत है। 'अद्वैतसिद्धि' कोई स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ नहीं है, अपितु मध्वसम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान् व्यासतीर्थ प्रणीत 'न्यायामृत' ग्रन्थ का आमूलचूल आनुपूर्वी खण्डन ग्रन्थ है, किन्तु इसकी प्रतिपादन- शैली ऐसी सुसज्जित और सुदृढ़ है कि जिस व्यक्ति का द्वैताद्वैत-सम्प्रदाय से सम्पर्क नहीं है और जो 'न्यायामृत' ग्रन्थ को भी नहीं देख पाया है, वह व्यक्ति कदापि यह नहीं कह सकता है कि 'अद्वैतसिद्धि' एक स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ नहीं है। इसकी प्रतिपादन-शैली नितान्त विमल और प्राञ्जल है। इसमें द्वैताद्वैत-सिद्धान्त का खण्डन करके अद्वैत-सिद्धान्त की सिद्धि की गई है।

(5) **अद्वैतरत्नरक्षणः**-- यह प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें अद्वैतसिद्धि का अनेक बार उल्लेख किया गया है[92] और एक बार वेदान्तकल्पलतिका का उल्लेख हुआ[93] है, अतएव सिद्ध है कि इसके प्रणेता मधुसूदन सरस्वती हैं। इसमें नैयायिक शंकरमिश्र कृत 'भेदरत्न' ग्रन्थ का खण्डन किया गया है।

(6) **भक्तिरसायनः** -- यह ग्रन्थ भक्ति-दर्शन की व्याख्या है। इसमें भक्ति के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। ब्रह्मविद्या से परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के समान केवल भक्ति से भी परमेश्वर के परम प्रेम की प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है-- यह इसमें स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है। इसमें श्रवण-कीर्तनादि साधन, भक्ति द्वारा परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान और आनन्दरूप परमेश्वर का ज्ञान, तथा अन्त में परमेश्वर सायुज्य की प्राप्ति-- यह क्रम विवक्षित है। यह पद्यात्मक ग्रन्थ है, इसमें तीन उल्लास हैं-- प्रथम में भक्तिसामान्यनिरूपण, द्वितीय में भक्तिविशेषनिरूपण और तृतीय में भक्तिरसनिरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम उल्लास मात्र पर ग्रन्थकार की स्वोपज्ञटीका भी है। इस ग्रन्थ में

---

89. प्रस्थानभेद, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – पण्डित जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1893।

90. 'श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन - - -' – अद्वैतसिद्धि, सम्पादक -- एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1937, पृष्ठ 8।

91. श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम्।
स्पर्शेन निर्धूततमोरजोभ्यः पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्यः ॥ -- अद्वैतसिद्धि, बम्बई संस्करण, पृष्ठ 8।

92. अद्वैतरत्नरक्षण, सम्पादक – एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री, पृष्ठ 9, 24, 26, 28, 37 और 44।

93. उपरिवत्, पृष्ठ 44।

वेदान्तकल्पलतिका[94] और सिद्धान्तबिन्दु[95] का उल्लेख है तथा यह ग्रन्थ भगवद्गीतागूढार्थदीपिका में अनेक बार उद्‌धृत हुआ है[96], अतएव यह मधुसूदन सरस्वती की ही कृति है। इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण नाम 'भगवद्भक्तिरसायन'[97] है, 'भक्तिरसायन'[98] तो इसका संक्षिप्त नाम है।

भक्तिसामान्यनिरूपण मधुसूदन सरस्वती प्रणीत कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह भक्तिरसायन के प्रथम उल्लास का ही नाम है[99]।

(7) भगवद्गीतागूढार्थदीपिका:-- भगवद्गीता पर 'गूढार्थदीपिका'--टीका मधुसूदन सरस्वती की सर्वोत्कृष्ट कृति है। इसमें प्रत्येक पद, यहाँ तक कि एकवर्ण पद = 'च', 'वा' आदि अव्यय-निपात-पदों की भी व्याख्या की गई है[100]। यह अतिविस्तृत टीका है, इसमें मधुसूदन सरस्वती ने अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। इसके प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो पुष्पिकाएँ दी गई हैं, वे सब प्रायः अद्वैतरत्नरक्षण और संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह की पुष्पिकाओं से मिलती-जुलती हैं[101]। इसके अतिरिक्त, गूढार्थदीपिका-टीका के अन्त में जो अन्तिम श्लोक की प्रथम पंक्ति है, वह अद्वैतसिद्धि के द्वितीय मङ्गलश्लोक की प्रथम पंक्ति से पूर्णतः मिलती है[102]। इस टीका में सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैतसिद्धि और भक्तिरसायन का उल्लेख किया गया है। इसप्रकार गूढार्थदीपिका-टीका मधुसूदनी टीका के नाम से जानी जाती है।

भगवद्गीता का स्थान वेदान्त की प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत है, अतएव वेदान्त के अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत मत के प्रायः सभी आचार्यों ने गीता पर अपने-अपने भाष्य लिखे हैं और एकमत होकर इसको युगधर्मप्रवर्तक, अपरिवर्तनीय सनातन शास्त्र स्वीकार किया है। इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय किसी-न-किसी रूप में सभी आचार्य मानते हैं। सभी भाष्यों में से शाङ्करभाष्य पर टीका-उपटीकाओं का जितना प्रणयन हुआ है उतना अन्य भाष्यों पर नहीं हुआ है। शाङ्करभाष्य पर प्रणीत टीकाओं में से मधुसूदन सरस्वती प्रणीत 'गूढार्थदीपिका'--टीका का स्थान यदि सर्वोच्च कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। गीता पर मधुसूदनी-टीका सर्वाधिक लोकप्रिय है। मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका' में गूढ़ अर्थों को प्रकाशित किया है, इसीलिए टीका का नामकरण 'गूढार्थदीपिका' किया है। यतिवर ने उक्त टीका में यथास्थान

---

94. विस्तरस्त्वस्मदीय**वेदान्तकल्पलतायामनु**सन्धेयः -- भक्तिरसायन, संस्कर्ता -- जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, पृष्ठ 54।

95. सर्वा चेयं प्रक्रियाऽस्माभिर्विस्तरेण **सिद्धान्तबिन्दौ** प्रतिपादिता -- भक्तिरसायन, संस्कर्ता -- जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, पृष्ठ 57।

96. भगवद्गीतागूढार्थदीपिका, सम्पादक व हिन्दीभाष्यानुवादकार -- मदन मोहन अग्रवाल, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 473, 891।

97. **भगवद्भक्तिरसायने**ऽस्माभिः सविशेषं प्रपञ्चिताः -- भगवद्गीतागूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 473।

98. निपीयतां **भक्तिरसायनं** बुधाः -- भक्तिरसायन, मङ्गलश्लोक -- 2।

99. इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य-विश्वविश्रुत-सर्वतन्त्रस्वतन्त्रताक-श्रीमधुसूदनसरस्वती-यतिवर-विरचिते श्रीभगवद्-भक्तिरसायने **भक्तिसामान्यनिरूपणं** नाम प्रथम उल्लासः -- भक्तिरसायन, संस्कर्ता -- जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, पृष्ठ 128।

100. प्रायः प्रतिपदं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् -- गूढार्थदीपिका, उपोद्घात -- श्लोक प्रथम।

101. द्रष्टव्य -- गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 42, 193, 247, 307 इत्यादि तथा अद्वैतरत्नरक्षण, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 46 और संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह, काशी संस्कृत सीरीज, वॉल्यूम् 18, पृष्ठ 398, 144, 352, 392.

102. द्रष्टव्य -- गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 902 तथा अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 8।

ज्ञान, योग, भक्ति, न्याय, मीमांसा, व्याकरण, साहित्यशास्त्र-- सभी का पूर्णतया आदर किया है, उससे भगवद्गीता की सर्वमान्यता तो सुरक्षित रहती ही है, मुनिवर की बहुमुखी प्रतिभा का भी परिचय प्राप्त होता है। यद्यपि आचार्यवर कट्टर अद्वैतवादी थे अतएव उन्होंने गूढार्थदीपिका में अद्वैतमत का ही संपोषण किया है, तथापि अनेक भक्तिप्रसङ्गों में इनका दृष्टिकोण अद्वैतवादी आचार्यों से विलक्षण प्रतीत होता है, यहाँ तक कि उन्होंने भक्तिपक्ष का समर्थन और प्रतिपादन करने में शंकराचार्य से भी अपना मतभेद प्रकट करने में संकोच नहीं किया है[103]। इससे उनकी विचारस्वतन्त्रता और सत्यनिष्ठा का आभास प्राप्त होता है, यह नहीं कि अहंकार-प्रदर्शन के कारण भाष्यकार के प्रति उनकी कोई अवहेलना रही है, वे जहाँ-जहाँ अपना मतभेद प्रकट करते हैं वहाँ-वहाँ भगवत्पादचरणों के प्रति अत्यन्त विनय और शालीनता व्यक्त करते हैं। वस्तुतः मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका' में अद्वैतज्ञान के साथ भक्ति-दर्शन का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है, कहीं-कहीं तो श्रीकृष्ण-भक्ति में विभोर होकर अद्वैत-ज्ञान के समान श्रीकृष्ण को ही परम तत्त्व स्वीकार किया है[104]। यही गूढार्थदीपिका की विशेषता है।

मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका' में सहेतुक संसार से आत्यन्तिक निवृत्तिरूप परम निःश्रेयस=मोक्ष को ही गीताशास्त्र का प्रयोजन कहा है[105]। उनके अनुसार मोक्ष का मूल निष्काम कर्मों का अनुष्ठान है और उसकी प्रतिबन्धक शोकादि पापमय आसुरी सम्पद् है जिससे कि स्वधर्म से पतन, प्रतिषिद्ध वस्तुओं का सेवन तथा फल की कामना से अथवा अहंकार से कर्म में प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार सदैव आसुरी पापों से ग्रस्त पुरुष पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए अयोग्य हो जाता है और अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त करता है। इस लोक में सभी प्राणी स्वभावतः दुःखों से द्वेष करते हैं, अतएव दुःखप्राप्ति के साधनभूत शोक, मोह आदि का सर्वदा त्याग करना चाहिए। 'अनादिजन्मपरम्परागत संस्कारों से सुदृढ़, समस्त दुःखों के कारण और अत्यन्त दुस्त्यज शोक-मोहादि किस उपाय से नष्ट हों'-- ऐसी आकांक्षा रखनेवाले, पुरुषार्थ की ओर उन्मुख पुरुष को बोध कराने के इच्छुक भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठ गीताशास्त्र का उपदेश किया है[106]। यतिवर की मान्यता है कि गीताशास्त्र में भगवान् ने " 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं'[107] इत्यादि वाक्य के द्वारा शोक-मोहादि-- सभी आसुरी पापों की निवृत्ति के उपायों का उपदेश करके अपने-अपने वर्णाश्रम-- धर्मों का अनुष्ठान करते हुए परम पुरुषार्थ को प्राप्त करो" -- ऐसा सर्वसाधारण के लिए उपदेश किया है। उपनिषदों में वर्णित जनक-याज्ञवल्क्य-संवादादि के समान भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन की संवादरूपा गीता ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए है[108]।

मुनिवर ने कहा है कि सच्चिदानन्दस्वरूप और पूर्ण विष्णु के परम पद की प्राप्ति के लिए तीन काण्डोंवाले वेदों का समारम्भ हुआ है, वेदों के क्रमशः कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड-- ये तीन काण्ड हैं, वेदार्थस्वरूप होने के कारण ही अठारह अध्यायों वाली गीता भी तीन काण्डों वाली है। इसके एक-एक

---

103. द्रष्टव्य -- 'यद्भक्तिं न विना मुक्तिः - - - ', गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 451।
104. द्रष्टव्य -- 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने', गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 731, 901।
105. सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमात्मकम्।
परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम्॥ गूढार्थदीपिका, उपोद्घात -- श्लोक 2।
106. गूढार्थदीपिका, उपोद्घात -- श्लोक 41-45।
107. अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे -- गीता, 2.11।
108. गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 9।

षट्क=छः-छः अध्यायों से वेदों के एक-एक काण्ड उपलक्षित हैं। उसके प्रथम छः अध्यायों में 'कर्मनिष्ठा' और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञाननिष्ठा वर्णित है, क्योंकि कर्म और ज्ञान– दोनों का परस्पर अत्यन्त विरोध होने के कारण समुच्चय नहीं हो सकता है-- ऐसी उनकी मान्यता है। अतएव मध्यम छः अध्यायों में भगवद्भक्तिनिष्ठा वर्णित है[109]। यह भगवद्भक्तिनिष्ठा कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा– दोनों में अनुगत, सभी विघ्नों को नष्ट करनेवाली है अतएव कर्ममिश्रा, शुद्धा और ज्ञानमिश्रा भेद से तीन प्रकार की है। पुनः उनके अनुसार गीता के प्रथम काण्ड में कर्म और कर्मत्याग के द्वारा युक्तिपूर्वक 'त्वम्' पद के अर्थभूत विशुद्ध 'आत्मा' का निरूपण किया गया है, द्वितीय काण्ड में भगवद्भक्तिनिष्ठा के वर्णन द्वारा 'तत्' पद के अर्थभूत परमानन्दस्वरूप 'भगवान्' का निर्धारण किया गया है तथा तृतीय काण्ड में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की अर्थभूता 'तत्' पदार्थ और 'त्वम्' पदार्थ– उन दोनों की 'एकता' स्पष्टरूप से बतलाई गई है[110]।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार अद्वैतज्ञान और भक्तिदर्शन=द्विक साधन ही परमानन्द की प्राप्ति और ब्रह्मप्राप्ति–भगवत्प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधन है। यतिवर ने 'गूढार्थदीपिका' के प्रारम्भिक श्लोकों में मुक्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार भक्त को अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए निष्काम भाव से कर्मानुष्ठान करना चाहिए, उसी समय जप-स्तुति आदि भी करनी चाहिए, जिससे कि भक्त के अन्तःकरण में भगवद्भक्ति का अङ्कुर अङ्कुरित हो। इसप्रकार पापों का क्षय हो जाने पर जब भक्त-चित्त में विवेक करने की योग्यता आ जाती है तो उसमें दृढ़तापूर्वक नित्यानित्यवस्तुविवेक उदित होने लगता है। तदुपरान्त क्रमशः लौकिक और अलौकिक विषयों के प्रति वैराग्य हो जाता है। वैराग्य होने पर शमदमादि छः प्रकार की साधन सम्पत्ति से सम्पन्न होने के कारण उसकी संन्यास में निष्ठा होती है। ततः उसमें तीव्र मुमुक्षा उत्पन्न होती है, तब वह सद्गुरु की शरण में जाता है और उनसे उपदेश ग्रहण करता है। फिर सन्देह की निवृत्ति के लिए वह मुमुक्षु वेदान्त का श्रवण और मनन करता है। उससे सांसारिक जीवन की व्यर्थता को समझता है और अविद्या को सूक्ष्म-दृष्टि से जानता है। तदुपरान्त ब्रह्मजिज्ञासा होती है। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से ब्रह्म और जीव के स्वरूप को जानता है। जब मुमुक्षु भक्त जीव और ब्रह्म के अद्वैत-तत्त्व को जान लेता है तब भक्त के अन्तःकरण में आनन्दानुभूति होती है[111]। उक्त सभी क्रम भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था का विधान करते हैं। भक्ति की चरम अवस्था तो भक्त में सच्चिदानन्दस्वरूप के प्रति निस्सीम गाढानुराग की प्राप्ति के लिए प्रेम की भावना भावित होना है। भक्ति में अद्वैतज्ञान अथवा अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है। भगवान् के प्रति प्रेम विशुद्धज्ञान की परिधि का भी अतिक्रमण करता है, क्योंकि विशुद्धज्ञान सच्चिदानन्द में विश्रान्ति ही प्राप्त करता है, जबकि भगवान् के प्रति विशुद्ध प्रेम सच्चिदानन्दानुभूति कराता है[112]। इसीलिए मधुसूदन सरस्वती जैसे अद्वैतवेदान्ती ने कहा है–

---

109. गूढार्थदीपिका, उपोद्घात – श्लोक 3-6।

110. गूढार्थदीपिका, उपोद्घात – श्लोक 7-10।

111. द्रष्टव्य – गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 4-8।

112. श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः।
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमं
द्वैतं स्वप्नसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चाऽऽनन्दताम्॥
– गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 556।

> 'कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते
> स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव ।
> त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-
> मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन्मनो मे[113] ॥'

'कोई भाग्यशाली तो क्वचित् अनन्त-तत्त्व में अपने अन्तःकरण को स्थिर करके अन्य विषयों की शान्ति करते हैं, किन्तु हे मधुसूदन ! मेरा मन-मलिन्द तो आपके पादारविन्द से गिरते हुए मकरन्द के बिन्दुओं का आस्वादन करके बार-बार मत्त हो जाता है ।'

(8) संक्षेपशारीरक-सारसंग्रहः— यह ग्रन्थ सर्वज्ञात्ममुनि द्वारा प्रणीत पद्यात्मक 'संक्षेपशारीरक' ग्रन्थ की सुगम व्याख्या है । यद्यपि इस ग्रन्थ में मधुसूदन सरस्वती-विरचित उपर्युक्त ग्रन्थों में से किसी एक को भी उद्धृत नहीं किया गया है और न उपर्युक्त ग्रन्थों में इसका ही उल्लेख प्राप्त है, तथापि टीकाकार ने टीका के द्वितीय मंगल श्लोक में जिसप्रकार अपने गुरुजनों का नामोल्लेख किया है उसीप्रकार 'अद्वैतसिद्धि' के द्वितीय मंगल श्लोक में प्राप्त है[114], इसके अतिरिक्त टीका के प्रथम अध्याय के अन्त में जो पुष्पिका दी हुई है वह पूर्णतया 'अद्वैतरत्नरक्षण' की पुष्पिका के समान है[115] तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायों के अन्त में जो पुष्पिकाएँ हैं उनमें 'श्रीविश्वेश्वरसरस्वती' के पश्चात् 'पूज्यपादशिष्य' के स्थान पर 'श्रीपादशिष्य' दिया हुआ है[116]— यह अन्तर है, अन्यथा पूर्ववत् ही हैं, अतएव स्पष्ट है कि उक्त टीका के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती हैं । कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि सम्भवतः यह कृति मधुसूदन सरस्वती की प्रथम रचना है, किन्तु यह कथन असंगत है, कारण कि इस टीका की पुष्पिकाएँ आचार्य के अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण नामक परवर्ती ग्रन्थों से मिलती-जुलती हैं ।

अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्नरक्षण, भक्तिरसायन, भगवद्गीतागूढार्थदीपिका और संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह— ये पाँच ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती की एक समयविशेष की रचनाएँ प्रतीत होते हैं ।

(9) भागवतपुराणाद्यश्लोकत्रयव्याख्याः— श्रीमद्भागवतपुराण के आरम्भिक तीन श्लोकों की यह सुन्दर व्याख्या है । इसको 'परमहंसप्रिया' नाम से भी जानते है[117] । 'हरिलीलाव्याख्या' में इसको उद्धृत किया गया है । इसमें 'भक्तिरसायन' का उल्लेख भी प्राप्त होता है[118], निस्सन्देह यह मधुसूदन सरस्वतीकृत व्याख्या है । सम्भवतः इसको 'पद्यत्रयीव्याख्या' भी कहते हैं जिसकी पाण्डुलिपि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में सुरक्षित है[119] ।

---

113. गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 587 ।
114. द्रष्टव्य – '**श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां** - - - ', संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह, अध्याय प्रथम, पृष्ठ 1 तथा **श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन** - - -', अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 8 ।
115. द्रष्टव्य – संक्षेपशारीरक – सारसंग्रह, अध्याय प्रथम, पृष्ठ 398 तथा अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ 46 ।
116. द्रष्टव्य – संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह, अध्याय द्वितीय, पृष्ठ 144, अध्याय तृतीय, पृष्ठ 352 और अध्याय चतुर्थ, पृष्ठ 392 तथा अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ 46 ।
117. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ XIV तथा न्यायामृताद्वैतसिद्धी, सम्पादक स्वामी योगीन्द्रानन्द, भूमिका – पृष्ठ 18 ।
118. भागवतपुराणप्रथमश्लोकव्याख्या, सम्पादक – नित्यस्वरूप, वॉल्यूम I, पृष्ठ 31 ।
119. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फिलॉसफीज़, कार्ल एच० पोटर, वॉल्यूम I, पृष्ठ 370 ।

भगवत्पुराणप्रथमश्लोकव्याख्या कोई पृथक् व्याख्या नहीं है, अपितु यह 'आद्यत्रयश्लोकव्याख्या' में से प्रथमश्लोक मात्र की व्याख्या है ।

(10) **हरिलीला-व्याख्याः**– यह बोपदेव-द्वारा प्रणीत 'हरिलीलामृत' की व्याख्या है । 'हरिलीलामृत' श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणी है । 'हरिलीला-व्याख्या' 'हरिलीला-विवेक' नाम से भी जानी जाती है । इसमें 'परमहंसप्रिया' का उल्लेख हुआ है । इसके प्रत्येक अध्याय की पुष्पिकाओं और सबसे अन्तिम श्लोक में इसको मधुसूदन सरस्वती-विरचित कहा है, इसलिए यह मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत है । ऐसा ही इसके सम्पादक[120] और प्रो० पी० एम० मोदी[121] स्वीकार करते हैं ।

'परमहंसप्रिया' और 'हरिलीलाव्याख्या'– ये दोनों व्याख्याएँ यतिवर की एक समय की रचनाएँ लगती हैं ।

(11) **आनन्दमन्दाकिनी[122]:**– यह ग्रन्थ भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुतिपरक है[123] । यह पद्यात्मक है । इसके अन्तिम पद्य और पुष्पिका में प्रणेता का नामोल्लेख मधुसूदन सरस्वती किया गया है[124] । अतएव इसको यतिवर की रचना कहा जा सकता है ।

(12) **वेदस्तुतिटीकाः** – यह श्रीमद्भागवतमहापुराण के अन्तर्गत वेदस्तुति की महत्त्वपूर्ण टीका है । इसको मधुसूदन सरस्वती के द्वारा प्रणीत कहा जा सकता है, कारण कि आपके भक्तिदर्शन में प्रायः भागवतपुराण का प्रभाव देखा जाता है ।

(13) **आत्मबोधटीकाः**– यह शंकराचार्य-द्वारा प्रणीत 'आत्मबोध' की टीका है । मधुसूदन सरस्वती ने सम्भवतः इसको लिखा हो, क्योंकि ये शाङ्कर-वेदान्त के आचार्य हैं ।

(14) **शाण्डिल्यसूत्रटीकाः**– 'शाण्डिल्यसूत्र' भक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है । मधुसूदन सरस्वती ने भी भक्ति-सिद्धान्तों की व्याख्या की है, अत: सम्भावना की जा सकती है कि उन्होंने 'शाण्डिल्यसूत्रटीका' का प्रणयन किया हो ।

राज्ञाम्प्रतिबोधः– श्री एस० एन० तदपत्रीकार ने इस ग्रन्थ को अपने एक लेख[125] में मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत स्वीकार किया है । उनके अनुसार इस ग्रन्थ के दो भाग हैं– प्रथम भाग में तान्त्रिक पञ्च-मकार की व्याख्या है और द्वितीय भाग में राजनीतिशास्त्र का वर्णन है । ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को देखकर यह स्पष्ट होता है कि यह रचना मधुसूदन सरस्वती की नहीं हो सकती है, कारण कि आप जैसे वैष्णवभक्त और संन्यासी की तन्त्रशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में कोई रुचि रही हो– इसमें सन्देह है । इसके अतिरिक्त, लेखक ने अपने गुरु का नाम अखण्डानन्द बतलाया है[126], जबकि मधुसूदन सरस्वती के गुरु श्रीराम

---

120. हरिलीलाविवेक, सम्पादक – ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भूमिका – पृष्ठ 1, 7 ।
121. सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक व अनुवादक – प्रो० पी० एम० मोदी, बडोदा, 1929, भूमिका – पृष्ठ 27 ।
122. काव्यमाला संस्कृत सिरीज, पार्ट II, बम्बई ।
123. द्रष्टव्य – "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", म० म० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, पृष्ठ 177 ।
124. आनन्दमन्दाकिनी, पृष्ठ 154 ।
125. "अ वर्क ऑन् अर्थशास्त्र बाई मधुसूदन", एस० एन० तदपत्रीकर, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इनस्टीट्यूट नं० 8-9, पृष्ठ 33 ।
126. उपरिवत् ।

सरस्वती, श्रीविश्वेश्वरसरस्वती और श्रीमाधव सरस्वती थे, अतएव यह रचना मधुसूदन सरस्वती की नहीं है ।

ऋग्वेदजटाद्यष्टविकृतिविवरणः– यह ग्रन्थ वेद के मन्त्रों से सम्बन्धित आठ प्रकार के विकृति-पाठों का विवरण प्रस्तुत करता है, अतएव यह शास्त्रीय ग्रन्थ है । इसके प्रथम श्लोक के अनुसार इसके प्रणेता श्रीकृष्ण द्वैपायन के शिष्य मधुसूदन मस्करी हैं । मधुसूदन सरस्वती प्रायः अपने ग्रन्थों में अपने को मधुसूदन मुनि[127] तो अवश्य कहते हैं, किन्तु उन्होंने अपने को मधुसूदन मस्करी कभी नहीं कहा है । यद्यपि 'मस्करी' का अर्थ भी संन्यासी है, किन्तु 'मुनि' का अर्थ संन्यासी तो है ही, उसके साथ 'विचारक' भी अर्थ है । अतएव मधुसूदन मस्करी भिन्न ग्रन्थकार हैं । इसके अतिरिक्त मधुसूदन मस्करी के गुरु श्रीकृष्ण द्वैपायन हैं, जबकि मधुसूदन सरस्वती के गुरु श्री विश्वेश्वर सरस्वती है । अतः सिद्ध है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती नहीं हैं ।

कृष्णकुतूहलनाटकः– यह भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं पर आधृत नाट्य-रचना है । नाटककार के अनुसार लेखक के माता-पिता का नाम अरुन्धती और नारायण है, उसका शाण्डिल्य गोत्र है तथा उसके गुरु का नाम मुकुन्द है[128], जबकि यतिवर के माता-पिता, गुरु और गोत्र के नाम सर्वथा भिन्न हैं । अतएव यह मधुसूदन सरस्वती की रचना नहीं है ।

शास्त्रसिद्धान्तलेशटीकाः– यह अप्पय दीक्षित-द्वारा प्रणीत सिद्धान्तलेशसंग्रह की व्याख्या है । यह व्याख्या मधुसूदन सरस्वती के द्वारा प्रणीत नहीं हो सकती है, कारण कि अप्पयदीक्षित और मधुसूदन सरस्वती– दोनों ही समकालीन और प्रकाण्ड विद्वान् हैं ।

सर्वविद्यासिद्धान्तवर्णनः– इसके विषय में कुछ भी कहना असम्भव है, क्योंकि ग्रन्थ-सूचीकार आफ्रेख्त महोदय ने स्वयं ही ग्रन्थ के नाम पर प्रश्न चिह्न लगा रखा है ।

उपर्युक्त सूची से अतिरिक्त एक अन्य ग्रन्थ को भी कुछ विद्वानों ने मधुसूदन सरस्वती के द्वारा प्रणीत बतलाया है, वह ग्रन्थ है–

ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश[129]:– यह वेदान्त-सम्मत 'ईश्वर' तत्त्व का प्रतिपादक ग्रन्थ है । प्रो० पी० एम० मोदी[130] और श्री पी० सी० दीवानजी[131] के अनुसार यह ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती के द्वारा प्रणीत है । वे कहते हैं कि इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय मधुसूदन सरस्वती के अन्य ग्रन्थों के विषय से मिलता हुआ है । प्रो० मोदी तो कहते हैं कि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप, जीव की त्रिविध अवस्थाएँ और प्रणवरहस्य जैसे विषय सिद्धान्तबिन्दु आदि ग्रन्थों में भी समानरूप से उपलब्ध हैं, अतएव यह ग्रन्थ

---

127. अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 8 ।
128. द्रष्टव्य – नोटिस ऑव् संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स, आर० एल० मित्रा, 1875 ।
129. ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – म० म० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज संख्या 83, 1921 ।
130. सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक व अनुवादक – प्रो० पी० एम० मोदी, अनुवाद - पृष्ठ सं० 46 ।
131. सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – पी० सी० दीवानजी, भूमिका – पृष्ठ XII ।

मधुसूदन सरस्वती-द्वारा प्रणीत है । उक्त विद्वानों का यह कथन अयुक्त-सा लगता है, क्योंकि प्रतिपाद्य विषय तो समानता रखते हुए भी भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में सम्भव हो सकता है । इसके अतिरिक्त, मधुसूदन सरस्वती ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विशेष विषयों के प्रति कोई निष्कर्ष भी नहीं प्रस्तुत किये हैं तथा इस ग्रन्थ की रचना शैली भी अद्वैतसिद्धि जैसे ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न है । और फिर उक्त ग्रन्थ के सम्पादक श्री टी० गणपति शास्त्री ने भी स्वयं इस ग्रन्थ के प्रणेता के विषय में कुछ नहीं कहा है । अतएव इस ग्रन्थ के रचयिता मधुसूदन सरस्वती हैं या नहीं, इस विषय में निश्चित कुछ भी कहना कठिन ही है ।

इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती-द्वारा प्रणीत सुनिश्चित रचनाएँ तेरह हैं, जो कालक्रमानुसार इसप्रकार हैं :– (1) वेदान्तकल्पलतिका (2) सिद्धान्तबिन्दु (3) महिम्नस्तोत्रटीका (4) प्रस्थानभेद (5) अद्वैतसिद्धि (6) अद्वैतरत्नरक्षण (7) भक्तिरसायन (8) भक्तिसामान्यनिरूपण (9) भगवद्गीतागूढार्थदीपिका (10) संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह (11) भागवतपुराणाद्यश्लोकत्रयव्याख्या (12) भागवतपुराणप्रथमश्लोकव्याख्या और (13) हरिलीला-व्याख्या ।

उनके नाम से उक्त चार रचनाएँ ऐसी हैं, जिनको उनकी रचनाएँ कहा जा सकता है, वे हैं:– (1) आनन्दमन्दाकिनी (2) वेदस्तुतिटीका (3) आत्मबोधटीका, और (4) शाण्डिल्यसूत्रटीका ।

'ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश' एक वह रचना है जिसके लिए यह कहना कठिन है कि वह यतिवर-द्वारा प्रणीत है अथवा नहीं ।

शेष सूची में उक्त पाँच रचनाएँ निस्सन्देहरूप से मधुसूदन सरस्वती-द्वारा प्रणीत नहीं हैं, जो हैं– (1) राज्ञाम्प्रतिबोध (2) ऋग्वेदजटाद्यष्टविकृतिविवरण (3) कृष्णकुतूहलनाटक (4) शास्त्रसिद्धान्तलेशटीका, और (5) सर्वविद्यासिद्धान्तवर्णन ।

04. व्यक्तित्वः– मधुसूदन सरस्वती की रचनाओं का सिंहावलोकन करने पर उनके व्यक्तित्व का एक अपूर्व प्रतिरूप दृष्टिमार्ग के सामने सजीव हो उठता है । पूर्वप्रचलित ग्रहणीय सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लेने तथा अपने मौलिक विचारों से उनको अनुप्राणित कर देने की अपूर्व क्षमता के दर्शन उनके व्यक्तित्व में किये जा सकते हैं । उनका व्यक्तित्व ऐसा पारदर्शी भी था जिसका सहज प्रतिबिम्ब उनकी परवर्ती प्रतिभाओं को अक्षुण्णरूप से आवेष्टित एवं प्रतिभासित कर सका । और फिर क्यों नहीं करता ? वे अद्भुत प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति, सत्यप्रतिज्ञ टीकाकार और अनायत्त व्याख्याकार थे । उनमें वक्तव्य की अद्भुत गरिमा, सुस्पष्टता, विषयावगाहिता, गम्भीरता, प्रवाहात्मकता, समन्वयात्मकता, सूक्ष्मरूपात्मकता, उपलब्धियों की प्रचुरता, दार्शनिकशालीनता, गौरवान्वित प्रगल्भता, सर्वांगीणता, परिनिष्ठता एवं मौलिकता आदि विशेषताएँ थीं । उनके पारदर्शी व्यक्तित्व में से उनके विविध रूपों के दर्शन किये जाते हैं, यथा– उनका प्रगल्भ आचार्यत्व, उनका सरस भक्त–हृदय तथा उनका अद्भुत दार्शनिकरूप आदि ।

मधुसूदन सरस्वती ने अपनी परिनिष्ठित भाषा-शैली में एक गम्भीर वातावरण की सर्जना की है । उनकी शिक्षा का श्रीगणेश नव्यन्याय की शैली में जो हुआ था । उनकी सूक्ष्म शैली, विषय की स्पष्टता और

तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे प्राचीन और नव्य न्याय के सिद्धहस्त विद्वान् थे। वे अपने ग्रन्थों में अनेकत्र न्यायकुसुमाञ्जलि[132] को उद्धृत करते हैं और कहीं-कहीं तत्त्वचिन्तामणि[133] का भी उल्लेख करते हैं[134]। उनकी नव्य-न्याय की सूक्ष्म तार्किक शैली 'अद्वैतसिद्धि' और 'अद्वैतरत्नरक्षण' में बहुशः देखी जा सकती है। सम्भवत: नव्यन्याय के अध्ययन ने ही उनको रूढ़ि से हटकर स्वतन्त्र विचारक बनाया था। जिसके कारण वे अद्वैतसिद्धि और गूढार्थदीपिका में अनेकत्र भाष्यकार से अपना मतभेद प्रस्तुत करते हैं और ब्रह्मसूत्र की पुनर्व्याख्या करते है[135]। कहीं-कहीं तो वे गीता की भी नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं[136]। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अद्वैत-वेदान्त के विचारों से हट गये हैं, अपितु यह भी देखने में आता है कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति श्रद्धावनत हैं और उनके सिद्धान्तों का पूर्णतः उन्होंने पालन किया है। महान् से महान् आचार्यों की मान्यताओं का समावेश उन्होंने अपने ग्रन्थों में सहज ही कर लिया है। इससे उनके अपने व्यक्तित्व पर कोई आघात नहीं हुआ है, अपितु इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमें किसी एक मत के प्रति पक्षपात लेशमात्र भी नहीं था। जहाँ जिसकी जो बात रुचे, उसको अपने ढंग से कह देना आपत्तिजनक नहीं होता, और फिर उसको व्यवस्थित रूप देते हुए अपने मौलिक निर्णयों का प्रतिपादन करना तो और भी सुन्दर होता है। ऐसी ही अपूर्वता के दर्शन इनकी रचनाओं में किये जाते हैं जिससे मधुसूदन सरस्वती 'आचार्यत्व' की प्रतिष्ठित पदवी पर सुशोभित हो उठते हैं।

मधुसूदन सरस्वती ने मण्डनमिश्र, सुरेश्वराचार्य, प्रकाशात्मयति, वाचस्पतिमिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-वेदान्त के सिद्धान्तों का श्रद्धापूर्वक अनुसरण किया है। उक्त आचार्यों में से उनके अभीष्टतम आचार्य सुरेश्वराचार्य, प्रकाशात्मयति और सर्वज्ञात्ममुनि हैं। उन्होंने सुरेश्वराचार्य के वार्तिक को बहुधा उद्धृत किया है, कहीं-कहीं तो वे वार्तिक की व्याख्या ही करने लगे है[137]। इसीप्रकार विवरण को भी उन्होंने पुनः पुनः उद्धृत किया है, विवरण से तो उन्होंने प्रकाशात्मयति के बिम्बप्रतिबिम्बवाद, अज्ञानसम्बन्धी मत आदि विचारों को भी ग्रहण कर लिया है। वे विवरणमतानुसार यह स्वीकार करते हैं कि अज्ञान यद्यपि एक है, किन्तु प्रधान अज्ञान की अवस्थाभेद से वह अनेक प्रकार का होता है[138]। यतिवर ने 'संक्षेपशारीरकसारसंग्रह' का प्रणयन ही नहीं किया है, अपितु स्थान-स्थान पर उन्होंने वार्तिक

---

132. अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 16, 405, 639 तथा अद्वैतरत्नरक्षण, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 9, 26।

133. अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ 18, 26, 27।

134. इनके अतिरिक्त मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण में अपने मत के समर्थन के लिए न्यायसूत्र को भी उद्धृत किया है, किन्तु प्रायः उन्होंने न्यायमत का खण्डन ही किया है।

135. द्रष्टव्य–अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 435-436।

136. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 451 तथा अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 846।

137. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 27, 107, 229, 267, 297, 401 इत्यादि तथा अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 467, सिद्धान्तबिन्दु, पूना संस्करण, पृष्ठ 43, 45, 53, 86, 90, 137, 139 इत्यादि।

138. द्रष्टव्य–अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 486-487।

और विवरण की भाँति 'संक्षेपशारीरक' को उद्धृत भी किया है[139], औचित्य समझने पर सर्वज्ञात्ममुनि द्वारा प्रतिपादित अनेक सिद्धान्तों को भी ग्रहण कर लिया है। सर्वज्ञात्ममुनि के समान उन्होंने यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय और विषय– दोनों है[140]। अखण्डार्थ की प्राप्ति के लिए महावाक्यों की संरचना की व्याख्या में उन्होंने सर्वज्ञात्ममुनि की शैली को ही अपनाया है[141]। एकजीववाद के निरूपण में ये सर्वज्ञात्ममुनि से ही प्रभावित है[142]। मधुसूदन सरस्वती उक्त तीन आचार्यों के अतिरिक्त अद्वैत-वेदान्त के श्रीहर्ष, आनन्दबोध और चित्सुख–इन तीन आचार्यों से भी प्रभावित हुए हैं। उन्होंने अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण में श्रीहर्ष-द्वारा प्रणीत 'खण्डनखण्डखाद्य' जैसी वादप्रक्रिया को अपनाया है[143], अनेकत्र 'खण्डनखण्डखाद्य' को उद्धृत भी किया है[144]। यतिवर को आनन्दबोध और चित्सुख अत्यन्त अभीष्ट रहे हैं[145]। अतएव उनकी 'अद्वैतसिद्धि' की संरचना आनन्दबोधकृत 'न्यायदीपावली' का अनुसरण करती है। वे अपने सिद्धान्तों की स्थापना अथवा व्याख्या करने में 'न्यायदीपावली' से उद्धृत भी करते हैं, इसीप्रकार 'चित्सुखी' से भी उद्धृत करते हैं। इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती पूर्व-परम्परा के आचार्यों को प्रस्तुत करने के लिए सदैव सजग रहे हैं, इससे उनके व्यक्तित्व की भव्यता और गौरव का अनुमान लगाना दुःसाध्य नहीं है।

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत-वेदान्त के विभिन्न मतों का समन्वय प्रस्तुत किया है, द्वैतवादी नैयायिकों और माध्व वैष्णवों का खण्डन कर अपना एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया है। यही नहीं, उन्होंने अद्वैत-वेदान्त को भक्तिदर्शन की पृष्ठभूमि पर रखकर अपनी सजग और मौलिक दृष्टि से परखा है, इसीलिए उनके माध्यम से एक भक्तिरसविद्-ज्ञानी-दार्शनिक-व्यक्तित्व के दर्शन सहज ही में किये जा सकते हैं।

05. भारतीय दर्शन में मधुसूदन सरस्वती का योगदानः– मधुसूदन सरस्वती जिस समय अवतरित हुए थे उस समय तक अद्वैतवेदान्त के भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत प्रचलित थे, इसके अतिरिक्त नैयायिक और वैष्णव आचार्य अद्वैत मत का खण्डन कर रहे थे। इस काल में अद्वैतमतावलम्बी मधुसूदन सरस्वती का विशेष योगदान यह रहा कि उन्होंने अद्वैतवेदान्त के भिन्न-भिन्न मतों में समन्वय किया और नैयायिक व वैष्णव आचार्यों द्वारा किये गये अद्वैतमत के खण्डन का खण्डन कर अद्वैतमत का रक्षण,पोषण व समर्थन किया।

---

139. गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 464, 789।
140. तुलना करें:–
    (अ) आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
    पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥ संक्षेपशारीरक, अध्याय 2, श्लोक 319
    (ब) अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 577।
141. द्रष्टव्य–सिद्धान्तबिन्दु, पूना संस्करण, पृष्ठ 3-11।
142. द्रष्टव्य–सिद्धान्तबिन्दु, पूना संस्करण, पृष्ठ 49।
143. द्रष्टव्य–अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ 1।
144. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 21, 364, 464।
145. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 183, 195, 316, 322।

अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ईश्वर, जीव और जगत् के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य का आभासवाद, पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्मयति का प्रतिबिम्बवाद तथा वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद— ये सिद्धान्त प्रचलित थे, मधुसूदन सरस्वती ने उक्त सभी सिद्धान्तों का उपयोग कर सुरेश्वराचार्य, प्रकाशात्मयति तथा वाचस्पति मिश्र के प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त की है[146] । इसीप्रकार उन्होंने सर्वज्ञात्ममुनि के अधिष्ठानवाद का समर्थन किया है[147] और प्रकाशात्मयति द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म एवं अविद्या के बीच आश्रयाश्रयिभाव तथा विषय-विषयिभाव सम्बन्ध को स्वीकार किया है[148] । इसीतरह दृष्टि-सृष्टिवाद व सृष्टिदृष्टिवाद, जगत् के मिथ्यात्व व अनिर्वचनीयत्व, एकजीववाद व अनेकजीववाद के बीच विद्यमान भेद को समाप्त कर यतिवर ने उनमें समन्वय की स्थापना की है[149] । ऐसे ही सुषुप्तिकाल में होनेवाले अनुभव के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मतों की प्रतिष्ठा की है, सुरेश्वराचार्य सुषुप्ति के उत्तरवर्ती ज्ञान को 'विकल्प' कहते हैं, इसके विपरीत विवरणकार उक्त अनुभव को परामर्श-स्मृति कहते हैं, इस सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती ने मध्यम मार्ग अपनाकर एक नवीन मत की उद्भावना की है:-- उनका मन्तव्य है कि 'सुषुप्ति में तामसीवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है । जाग्रत् अवस्था में विशेषणांश तामसीवृत्ति की निवृत्ति होने पर तामसीवृत्तिविशिष्ट अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है । अतएव जहाँ तक सुषुप्तिकालिक तामसीवृत्तिविशिष्ट अज्ञान का सम्बन्ध है, परामर्श को 'स्मृति' कहा जा सकता है । इसके विपरीत सुषुप्ति अवस्था को यदि मात्र अज्ञानानुभव स्वीकार करेंगे तो परामर्श को 'स्मृति' नहीं कह सकते, कारण कि जाग्रत् अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती । अज्ञान की निवृत्ति न होने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस भूतकालिक अनुभव का स्मरण नहीं हो सकता ।' वृत्ति के विषय में भी आचार्य ने सविस्तार विवेचन किया है[150]– इत्यादि । निष्कर्ष यह है कि मधुसूदन सरस्वती ने इसप्रकार अद्वैत-वेदान्त के भिन्न-भिन्न मतों का समन्वय कर वेदान्तदर्शन को अपना विशेष योगदान दिया है ।

जैसा कि पूर्व-पृष्ठों में संकेत किया गया है कि अद्वैतमत के विरोध में नैयायिक शंकरमिश्र ने 'भेदरत्न' ग्रन्थ की रचना की थी और मध्व सम्प्रदाय के विद्वान् व्यासतीर्थ ने 'न्यायामृत' ग्रन्थ की रचना की थी, तब मधुसूदन सरस्वती ने 'भेदरत्न' का खण्डन कर 'अद्वैतरत्नरक्षण' और 'न्यायामृत' का खण्डन कर 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ की रचना की— यह अद्वैतवेदान्त के लिए मधुसूदन सरस्वती का सदा स्मरणीय योगदान ही है ।

इसके अतिरिक्त, मधुसूदन सरस्वती का भारतीय दर्शन को अपूर्व व अद्वितीय योगदान यह है कि उन्होंने अद्वैतदर्शन और भक्तिदर्शन का समन्वय किया है । स्वर्ण में सुगन्ध जैसा यह समन्वय आपकी अमरकृति श्रीमद्भगवद्गीता– 'गूढार्थदीपिका' में स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है[151] । उन्होंने 'गूढार्थदीपिका' के

146. द्रष्टव्य– गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 104, 105, 467, 801, 834, 840 इत्यादि ।
147. गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 524, 525, 629, 666, 811, 813 ।
148. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 577 ।
149. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 71-74 ।
150. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 487 ।
151. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 6, 8, 18, 629-645, 634, 706, 709 इत्यादि ।

प्रारम्भिक श्लोकों में कहा है कि तत्त्वज्ञान की उपलब्धि में सभी अवस्थाओं में शरीर, मन और वाणी से भगवद्भक्ति ही उपयोगी होती है, क्योंकि पूर्वभूमिका में की गयी भक्ति उत्तरभूमिका को लाती है[152]। बिम्बप्रतिबिम्बवाद में भक्ति का संयोग कर यतिवर ने अपने भक्तिसिद्धान्त की व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म और भगवान्– श्रीकृष्ण एक ही हैं। जब ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप से अनुभूत होता है तब वह भगवान् ही होता है[153]-। भगवान् और भक्ति एक है[154]। जब भक्तिरस परिणत होता है तब भगवान् और भक्ति में भेद नहीं रहता[155]। सच्चिदानन्द– परमानन्द स्वरूप परमात्मा– भगवान्-श्रीकृष्ण के प्रति रति– प्रेम-गाढानुराग ही परिपूर्ण रस है[156], रस ही भगवान्–श्रीकृष्ण हैं[157]। ऐसी अवस्था में अद्वैत-ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु भक्त रस के रूप में आनन्दानुभूति करता है, भगवान् के प्रति निस्सीम गाढानुराग का आनन्द लेता है[158]। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मधुसूदन सरस्वती ने अपने उक्त भक्तिसिद्धान्त की स्थापना के लिए श्रीमद्भागवतपुराण से ही उद्धरण उद्धृत किये है[159]। भक्ति की एकादश भूमिकाओं का उल्लेख उन्होंने श्रीमद्भागवत से ही किया है[160], इन भूमिकाओं को योगवाशिष्ठ में उक्त योगभूमिकाओं के तुल्य कहा है[161]। इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतज्ञान और योग को भक्ति की पृष्ठभूमि पर अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित कर अपनी सजग और मौलिक दृष्टि का परिचय देकर भारतीय दर्शन को एक अद्भुत व असाधारण योगदान दिया है।

मदन मोहन अग्रवाल

---

152. सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते ॥
पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत्। – गूढार्थदीपिका, उपोद्धात श्लोक 31-32।

153. द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्तिरूपा भक्तिः– इत्यादि, भक्तिरसायन, पृष्ठ 24।

154. भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते– भक्तिरसायन, पृष्ठ 19।

155. द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥ भक्तिरसायन, उल्लास-प्रथम, कारिका-2।

156. परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥ भक्तिरसायन, 2.77

157. रसो वै सः – तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.6.।

158. द्रष्टव्य– गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 556 तथा–

> स्थायिभावगिराऽतोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते।
> व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुनः ॥
> भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि,
> मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम् ॥' भक्तिरसायन, 1.9-10।

159. भक्तिरसायन, प्रथम उल्लास–स्वोपज्ञटीकासहित, पृष्ठ 1-25।

160. उपायाः प्रथमस्कन्धे नारदेनोपवर्णिताः।
सङ्क्षेपात्तानहं वक्ष्ये भूमिभेदविभागतः ॥ भक्तिरसायन, 1.33।

161. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 218-220, 408, 413, 415-419, 425, 426, 442-444।

श्रीमद्भगवद्गीतामङ्गलाचरणम्

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ 1 ॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ 2 ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ 3 ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ 4 ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् । देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ 5 ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोपला शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ 6 ॥

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ 7 ॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् । यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ 8 ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ 9 ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतामङ्गलध्यानादि ॥

श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्
श्रीकृष्णाय गीतामृतदुहे नमः

धरा— भगवन्परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी । प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥ 1 ॥

विष्णुः—प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा । स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ 2 ॥

महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् । क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ॥ 3 ॥

गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते । तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥ 4 ॥

सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये । गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः ॥

सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ 5 ॥

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् । तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ॥ 6 ॥

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् । गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम् ॥ 7 ॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः । अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका ॥ 8 ॥

चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् । वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥ 9 ॥

योऽष्टादशजपी नित्यं नरो निश्चलमानसः । ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥ 10 ॥

पाठेऽसमर्थः संपूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत् । तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ 11 ॥

त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् । षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ 12 ॥

एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः । रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ 13 ॥

अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः । स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुंधरे ॥ 14 ॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् । द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ॥ 15 ॥

चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् । गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥ 16 ॥

गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् । गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥ 17 ॥

गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा । वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ 18 ॥

गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः । जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम् ॥ 19 ॥

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः । निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥ 20 ॥

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् । वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ 21 ॥

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः । स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥ 22 ॥

सूतः— माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् । गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ 23 ॥

इति श्रीवाराहपुराणे धराविष्णुप्रोक्तं श्रीगीतामाहात्म्यं संपूर्णम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-

गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

[मूल, गूढार्थदीपिकानुवाद और विमर्श]

आशीर्वाक्

॥ क्लीं ॥

क्लीं पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब ! त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते ! भवद्वेषिणीम् ॥ क्लीं

(गीताध्यानम्, 1)

भगवद्गीता महाभारत के भीष्मपर्व में 23 से 40 अध्यायों में उपलब्ध है । जिस प्रकार योगवाशिष्ठ के लेखक वशिष्ठ हैं, भक्तिसूत्र के लेखक नारद हैं, उसी प्रकार भगवद्गीता के लेखक कृष्णद्वैपायन व्यास हैं । भगवद्गीता में व्यास का नाम निम्नलिखित तीन स्थानों में प्राप्त है । इन तीनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि व्यास ही इसके लेखक हैं । व्यास ही इस अद्भुत ग्रन्थ के प्रचारक मुनि हैं । तृतीय उद्धरण में व्यास के हस्ताक्षर हैं ।

1. समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, व्यास तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं । श्रीकृष्ण ही शाश्वत पुरुष हैं । श्रीकृष्ण ही आदिदेव, अज तथा विभु हैं । (गीता, X, 13)
2. भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ । पाण्डवों में धनञ्जय हूँ । मुनियों में व्यास हूँ और कवियों में उशना कवि हूँ । (गीता, X.37)
3. सञ्जय कहते हैं 'व्यास की कृपा से मैंने यह परम गुह्ययोग सुना है । जिसको स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा है' । (गीता, XVIII, 25)

भारतवर्ष के कोने कोने में, प्रत्येक भारतीय के हृदय में, प्रत्येक सम्प्रदाय के आंचल में, प्रत्येक आचार्य के चिन्तन में भगवद्गीता का ज्ञानबिन्दु प्रकाशित है । सैकड़ों वर्षों से भगवद्गीता ने भारतीय विचारधारा तथा आध्यात्मिक जीवन को चिरन्तन सार्वभौम सिद्धान्तों से अनुप्राणित किया है । यही कारण है कि प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के साथ भगवद्गीता की गणना है । प्रत्येक आचार्यपुरुष को अपना सिद्धान्त प्रतिष्ठित करने के लिए प्रस्थानत्रयी के तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखना आवश्यक था । स्वमत स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी की स्वमतानुसारिणी व्याख्या आवश्यक मानी जाती थी । इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्य ने अथवा उनके किसी आचार्यशिष्य ने भगवद्गीता पर संस्कृत भाष्य लिखा है ।

अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर (788-820 A.D.), विशिष्टाद्वैत मत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज (1017-1137 A.D.), द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक निम्बार्काचार्य (760 A.D.) की परम्परा में केशवकाश्मीरी भट्ट, द्वैत मत के प्रतिष्ठापक मध्वाचार्य (1199-1276 A.D.), शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य (1479 A.D.), काश्मीर शैव सिद्धान्त के आचार्य अभिनवगुप्त (1100 A.D.), अचिन्त्यभेदाभेद के संस्थापक चैतन्य महाप्रभु (1600 A.D.) की परम्परा के आचार्य, अद्वैतवेदान्ती श्रीधरस्वामी (1400

A.D.), आनन्दगिरि (1300 A.D.) तथा मधुसूदन सरस्वती (1600 A.D.) आदि आचार्यों के संस्कृत भाष्य उनकी विचारशक्ति तथा पाण्डित्य की कसौटी के प्रमाण हैं ।

मधुसूदन सरस्वती अलौकिक प्रतिभा के धनी थे । उन्होंने एक तरफ 'अद्वैतसिद्धि' जैसे कठिन ग्रन्थ की रचना की, तो दूसरी तरफ 'भक्तिरसायन' की रचना की । 'अद्वैतसिद्धि' अद्वैतसिद्धान्त की मञ्जूषिका है तो भक्तिरसायन भक्ति की अमन्दप्रवाहिणी गङ्गा है । परमार्थपक्ष में वेदान्त और व्यवहारपक्ष में भक्ति-यही वैष्णव परम्परा का वैष्णव-वेदान्त माना जाता है । भगवद्गीता पर इनकी 'गूढार्थदीपिका' एक अनोखी टीका है । लगभग पचास वर्ष पहले (1947 में) जब मैं काशी में गुरुदेव महामहोपाध्याय श्री हरिहरकृपालु जी महाराज के श्रीचरणों में अद्वैतसिद्धि का पाठ सुनता था तब उनका भगवद्गीता की 'गूढार्थदीपिका' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ था । यह अनुवाद विद्वज्जनों के हृदय का हार बन गया था ।

भगवद्गीता के सैकड़ो संस्करण भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में प्रकाशित हैं । अंग्रेजी, फ्रेन्च, जर्मन, स्पेनिश, इटेलियन, पुर्तुगीज, डच, पोलिश, स्वीडिश, चेक, रशियन, हंगेरियन आदि भाषाओं में अनूदित संस्करण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । भारतीय भाषाओं में संत ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' तथा बाल गंगाधर तिलक का 'गीता-रहस्य' उल्लेखनीय है ।

शङ्कराचार्य अद्वैतमतानुयायी ज्ञानमार्गी थे । इसीलिए उन्होंने भगवद्गीता के भाष्य में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन किया ज्ञान तथा कर्म को समान महत्त्व देने का पूर्ण विरोध किया । उन्होंने भगवद्गीता को धर्मशास्त्र अथवा स्मृति के रूप से स्वीकार किया । वास्तव में जो ग्रन्थ स्वयं को ब्रह्मविद्या कहता है वह स्मृति कैसे हो सकता है । भगवद्गीता किसी भी एक सम्प्रदाय विशेष का ग्रन्थ नहीं है । इसमें तो वे चिरन्तन सार्वभौम सत्य के सिद्धान्त छिपे हैं जिनको प्रत्येक सम्प्रदाय अपने अपने मत के ढाँचे में ढालना चाहता है । इसीलिए भारत में प्रत्येक गुरु तथा प्रत्येक आचार्य के लिए गीता के सिद्धान्तों की व्याख्या में पारंगत होना आवश्यक माना जाता है ।

भगवद्गीता को ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र कहा गया है । यह उपनिषद् है । योग तथा वेदान्त का अनुपम समन्वय है । ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग तथा कर्ममार्ग-- तीनों का विलक्षण खजाना है । गीता में यह स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं । श्रीकृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म हैं । श्रीकृष्ण ही परगुरु हैं । परब्रह्म ही श्रीकृष्ण के रूप में गुरु पद पर प्रतिष्ठित है । गुरु श्रीकृष्ण तथा परब्रह्म-- दोनों अभिन्न हैं । गुरुतत्त्व तथा सर्वव्यापक ब्रह्म में अभेद स्थापना द्वारा गीता ने वेदान्तमार्ग में कोई नया मार्ग प्रवर्तित नहीं किया । गुरु के प्रति भक्ति औपनिषदिक उपदेश का ही अंग है । वास्तव में भगवद्गीता तो एक सार्वकालीन सर्वजनोपयोगी 'गुरुशिष्यसंवाद' है । ज्ञान का हेतु जिज्ञासा अथवा संप्रश्न है । शिष्य जब गुरु से संप्रश्न करता है तो यह पूर्वपक्ष कहा जाता है और जब यथार्थ-ज्ञाता त्रिकालज्ञ गुरु समझाता है तो यह सिद्धान्त पक्ष होता है । प्रस्तुत प्रसंग में अर्जुन विनीत श्रद्धावान् शिष्य है । भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वज्ञ गुरु हैं । भारत के इतिहास की परम्परा में ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं । बौद्ध-परम्परा में 'मिलिन्दपन्ह' में जब राजा मिलिन्द संप्रश्नकर्ता शिष्य है तो नागसेन समाधान कर्ता गुरु है । योगवाशिष्ठ में जब वेदान्त के जिज्ञासु श्रीराम संप्रश्न कर्त्ता शिष्य हैं तो वशिष्ठ

समाधानकर्ता गुरु हैं। कठोपनिषद् में जब आत्म-तत्त्व का जिज्ञासु नचिकेता संप्रश्नकर्ता शिष्य हैं तो धर्मराज समाधानकर्ता गुरु हैं। गीता का 'कृष्णार्जुनसंवाद' उपनिषदों के ज्ञान का रहस्यनिष्यन्द है। संजय ने यह स्पष्ट कहा है कि 'वासुदेव श्रीकृष्ण तथा महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत संवाद को मैंने साक्षात् सुना है। इसको सुनकर मेरा रोम-रोम पुलकित तथा हर्षित हो गया है' (गीता, XVIII. 74)। यह 'कृष्णार्जुनसंवाद' केवल अर्जुन के लिए नहीं है बल्कि उन समस्त मनुष्यों के लिए है जो शुद्ध भाव से शिष्य बनकर भगवान् श्रीकृष्ण को परगुरु मानकर उनके श्रीचरणों की शरण ग्रहण करते हैं। अर्जुन कहते हैं "हे श्रीकृष्ण! मैं तो तुम्हारा ही शिष्य हूँ। कृपणता अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ बुद्धि द्वारा मेरा स्वभाव आवृत हो गया है। क्या धर्म है ? क्या अधर्म है ? इस विषय में मेरी बुद्धि विमूढ है। इसलिए मेरे लिए जो निश्चित कल्याणकारी हो, वह तुम समझा दो" (गीता, II.7)। श्रीकृष्ण के समान न कोई कभी हुआ है और न कोई कभी होगा। श्रीकृष्ण ही समस्त चराचर लोकों के अधिपति पिता हैं। श्रीकृष्ण ही परमपूज्य गरीयान् गुरु हैं। तीनों लोकों में श्रीकृष्ण का प्रभाव अप्रतिम है" (गीता, XI.43)। अर्जुन की यह याचना श्रीकृष्ण को साधारण मानव गुरु अथवा सखा के रूप में नहीं स्वीकार कर रही है बल्कि अर्जुन श्रीकृष्ण को परब्रह्म से अभिन्न गुरु के रूप में मान रहा है। श्रीकृष्ण ही योगेश्वर हैं। श्रीकृष्ण गीता में स्वयं यह घोषणा करते हैं कि मैं स्वयं ही परब्रह्म हूँ। ब्रह्म की प्रतिष्ठा मुझसे ही है। समस्त जीवलोक मेरा ही अंश है। मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सब कुछ मुझमें उसी प्रकार पिरोया हुआ है जैसे एक सूत्र में मणियाँ पिरोई जाती हैं।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ (गीता, XV.7)
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गीता, VII.7)
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च । (गीता, XIV. 27)
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । (गीता, X.8)
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । (गीता, X.20)" ।

भगवद्गीता का यही प्रमुख सन्देश है कि प्रत्येक मानव सब प्रकार का अहंकार त्याग कर विनीत भाव से तथा शिष्यवृत्ति से भगवान् श्रीकृष्ण को परगुरु स्वीकार करके उनकी शरण में चला जावे और अंश तथा अंशी के रूप को भलीभाँति समझकर मिथ्या तथा सत्य में विवेक उत्पन्न कर ले तो भवसागर के बन्धन से मुक्त हो जावेगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है "सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा"।

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता, XVIII. 66)" ।

गीता में प्रतिपादित वेदान्त ही उपनिषदों के मूलवेदान्त के निकट है। उत्तरकाल में गौडपाद तथा शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्त उपनिषदों के वेदान्त से कुछ भिन्न है। गीता का वेदान्त उत्त

उपनिषद् के वेदान्त से मेल खाता है। जो जीवन से समस्त अंगों को अपने में समाए रखता है। श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति यही उपदेश गीता का हृदय है।

श्री मधुसूदन सरस्वती द्वारा विरचित श्रीमद्भगवद्गीता की 'गूढार्थदीपिका' नामक संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद मेरे प्रिय शिष्य श्री मदन मोहन अग्रवाल ने प्रस्तुत किया है। मैंने इस हिन्दी अनुवाद को यत्र-तत्र अच्छी तरह देखा है। मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता है कि यह हिन्दी अनुवाद बहुत ही प्रामाणिक बना है। मुझे पूर्ण विश्वास है इस अनुवाद से गीता के यथार्थ तत्त्व को समझने में खूब सहायता मिलेगी। अनुवाद की भाषा भी प्रायः सरल है। इसलिए जनसाधारण भी इससे लाभ उठा सकेगा। इस अनुवाद के प्रकाशन से मदन मोहन को आचार्यपुरुषों का आशीर्वाद तथा भगवान् की कृपा प्राप्त होगी। यदि इसका एक और संस्करण अंग्रेजी भाषा का निकले तो सारे संसार में इस टीका के गूढार्थ तथा इसकी उपादेयता का प्रचार होगा। यह मेरी मान्यता है। मेरा आशीर्वाद है कि मदन मोहन के शुद्ध चित्त में भगवान् की कृपा का प्रतिबिम्ब प्रकाशित हो।

"कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्"

5.6.1995

मेक्सिको

रसिक विहारी जोशी

॥ **क्लीं** ॥

आमुख

ये भुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं
वन्दे सन्ततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में भगवद्गीता की लोकप्रियता अद्वितीय है । इसकी इस अद्वितीय स्थिति के अनेक कारण हैं । यह महाभारत जैसे महाकाव्य का भाग है जिसके अध्ययन से नर-नारी अनेक पीढ़ियों से आनन्द-लाभ करते रहे हैं । इसके भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन-दो पात्र अत्यधिक मोहक व्यक्तित्ववाले हैं । इसका उपदेश एक ऐसे सुकोमल अवसर पर किया गया था जबकि न केवल देश का अपितु स्वयं धर्म का ही अस्तित्व संकटग्रस्त हो गया था । यह संवादात्मक शैली में ग्रथित है जिससे इसमें नाटकीय रोचकता प्राप्त है । किन्तु इसकी महान् आकर्षकता के लिए ये बाह्यगुण अकेले पर्याप्त नहीं हैं, इसका एक सार्वकालीन सार्वजनीन विशिष्ट सन्देश है । गीता के आदेशानुसार स्वधर्मनिष्ठा से परमेश्वर की आराधना द्वारा प्राणी भगवत्-अनुकम्पा का पात्र होकर भगवत्स्वरूप साक्षात्कार परा भक्ति को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है । गीता आद्योपान्त सहिष्णुता की भावना से अनुप्राणित है जो भारतीय विचारधारा का एक प्रमुख लक्षण है । इसको युगधर्मप्रवर्तक, अपरिवर्तनीय सनातन शास्त्र स्वीकार किया गया है । इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान का अद्‍भुत समन्वय है ।

गीता को समझना सरल नहीं है । स्थिति इससे भिन्न है । यह सबसे दुर्बोध ग्रन्थों में से एक है । यही कारण है कि इस पर वेदान्त के अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत मत के प्रायः सभी आचार्यों ने अपने-अपने भाष्य लिखें हैं, जिनमें से प्रत्येक अन्यों से एक या दूसरी महत्त्व की बात में भिन्न है । सभी भाष्यों में से शङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत अद्वैतपरक गीताभाष्य पर टीका-उपटीकाओं का जितना प्रणयन हुआ है उतना अन्य भाष्यों पर नहीं हुआ है । शाङ्कर-गीताभाष्य पर प्रणीत टीकाओं में से मधुसूदन सरस्वती प्रणीत 'गूढार्थदीपिका' नामक टीका का स्थान सर्वोच्च है । मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका' में गूढ़ अर्थों को प्रकाशित किया है । मधुसूदन सरस्वती अद्वैतवादी महातत्त्वविद् होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक और भक्त थे । वे भगवद्-भजन = भगवद्-भक्ति को ज्ञानी का स्वभाव कहते हैं । 'स्वभावो भजनं हरेः', 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने', इत्यादि इनकी सूक्तियाँ प्रसिद्ध ही हैं । इसी कारण उन्होंने 'गूढार्थदीपिका' में अद्वैतज्ञान के साथ भक्ति-दर्शन का स्वर्ण में सुगन्ध की भाँति सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है । अतएव गीता पर 'गूढार्थदीपिका'-टीका = 'मधुसूदनी'-टीका सर्वाधिक लोकप्रिय है ।

लगभग पाँच वर्ष पहले 'मधुसूदनी' पर कार्य करने का सुझाव और प्रेरणा मुझे पूज्यपाद गुरुवर प्रो० रसिक विहारी जी जोशी से प्राप्त हुई थी । जैसे-जैसे मैं इस ग्रन्थ को पठने लगा, अनेक समस्याएँ सामने आने लगीं । समस्याएँ सामने क्यों नहीं आतीं ? मेरे-जैसे सामान्य विद्याबुद्धिसम्पन्न व्यक्ति ने

विषयानुक्रमणी

सच्चिदानन्दरूपं तत्पूर्णं विष्णोः परं पदम् ।
यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः ॥
कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् ।
तद्रूपाष्टादशाध्याय्या गीता काण्डत्रयात्मिका ॥

1

कर्मकाण्डम्

तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्मतत्त्यागवर्त्मना ।
त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते ॥

प्रथम अध्याय

अर्जुनविषादयोग

द्वितीय अध्याय

सांख्ययोग

अत्यन्त बहुमुखी और पण्डित्यपूर्ण 'गूढार्थदीपिका' का भाषानुवाद करने का दु:साहस जो किया था। परन्तु गुरुकृपा हुई, अतएव मैंने टीका के अनेक दुरूह स्थलों को गुरुचरणों में बैठकर कई बार दीर्घकाल तक समझा और उनसे विचार-विमर्श करके संदिग्ध स्थलों का समाधान तथा प्रेरणा प्राप्त की। मुझे यह लिखने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि प्रस्तुत गीता-संस्करण संस्कृत--जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा संस्कृत-दर्शनशास्त्र के पारंगत पण्डित प्रो० रसिक विहारी जी जोशी की सहायता तथा स्नेह का ही परिणाम है। मेक्सिको में शोधकार्यहेतु अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने मेरी प्रार्थना पर 'आशीर्वाक्' लिखने का अनुग्रह किया है। एतदर्थ उनके लिए कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं और कृतज्ञता-ज्ञापन करके उनके प्रति मैं अपने हृदयस्थ आभार के भाव को कम करना नहीं चाहता हूँ, मैं तो उनके श्रीचरणों में सविनय, सादर बार-बार प्रणाम ही करता हूँ। इस अवसर पर मेरी प्रिय पत्नी श्रीमती उषा अग्रवाल, एम० ए०, को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने इस ग्रन्थ की प्रेस कापी तैयार करने में तथा प्रूफ-रीडिंग में मेरी सहायता की है।

यद्यपि गीता-मधुसूदनी के महामहोपाध्याय पण्डित श्री हरिहरकृपालु जी द्विवेदी कृत तथा स्वामी श्री सनातनदेव जी महाराज कृत दो प्रामाणिक और लोकप्रिय हिन्दीभाषानुवाद उपलब्ध थे, तथापि मैंने 'गूढार्थदीपिका' का प्रतिभासंज्ञक हिन्दीभाष्यानुवाद तैयार किया है। इसके दो कारण हैं -- प्रथम, मैंने सम्पूर्ण 'गूढार्थदीपिका' पर यत्र-तत्र आवश्यक 'विमर्शाख्य व्याख्यात्मक टिप्पणी दी हैं; द्वितीय, भाषानुवाद के अन्त में एक दीर्घ 'अनुबन्धावली' दी है जिसमें क्रमशः गीताश्लोकानुक्रमणी, गूढार्थदीपिकोद्धृत-वाक्यानुक्रमणिका, विमर्शोद्धृतवाक्यानुक्रमणिका, विशिष्टनामानुक्रमणिका, विशिष्टपदानुक्रमणी तथा सहायकग्रन्थसूची आदि दी हैं। इसके अतिरिक्त मैंने मधुसूदन सरस्वती के समय और उनकी रचनाओं का निर्धारण करते हुए ग्रन्थ में समीक्षात्मक भूमिका प्रस्तुत की है। यह सब होते हुए भी मैंने पूर्वोक्त दोनों भाषानुवादों से पर्याप्त सहायता ली है, एतदर्थ मैं महामहोपाध्याय श्री हरिहरकृपालु जी द्विवेदी तथा स्वामी सनातनदेव जी महाराज के चरणों में सादर, साभार प्रणाम करता हूँ।

इस संस्करण को प्रकाशित करने के लिए चौखम्बा संस्कृत-प्रतिष्ठान, दिल्ली ने अन्तरंग और बहिरंग सभी उपकरण प्रदान कर इसके प्रकाशन को सुलभ किया है। इस संस्थान के व्यवस्थापक सेठ वल्लभदास जी गुप्त की 'गीता' जैसे सद्ग्रन्थों के प्रकाशन में अत्यन्त निष्ठा है अतएव उनकी उदारता से ही प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत कम समय में अच्छी साजसज्जा के साथ प्रकाशित हुआ है। इसका श्रेय उनको अत्यधिक है। इसके लिए ऐसे परोपकारी एवं धार्मिक पुरुष को जितना भी धन्यवाद दिया जाय उतना कम ही है। मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हुआ इस सत्कार्य के लिए उनको अनेकशः शुभकामनाओं के साथ भूरि-भूरि धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

ग्रन्थ की शुद्ध लेज़र कम्पोजिंग में सुपर्णा एण्टरप्राइज़ेज, दिल्ली की व्यवस्थापिका श्रीमती सन्तोष गर्ग से मुझे हमेशा पूर्ण सहयोग मिला है। मैं श्रीमती सन्तोष गर्ग को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। ग्रन्थ के मुद्रण, साजसज्जा आदि में डीलक्स ऑफसेट प्रिन्टर्स के व्यवस्थापक श्री अनिल जी ने खूब [illegible]गता की है, इसके लिए मैं अनिल जी को धन्यवाद देता हूँ।

यदि इस ग्रन्थ में कुछ भी गुण का अंश है तो वह पूज्यपाद गुरुदेव के श्रीचरणों में सुनी हुई ज्ञानराशि का लेशमात्र है और जो कुछ दोष तथा स्खलन हैं वे मेरी अपनी मन्दमति के कारण हैं। जैसा मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' के अन्त में लिखा है--

"यदत्र सौष्ठवं किंचित्तद् गुरोरेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किंचित्तन्ममैव गुरोर्नहि॥"

गुरुपूर्णिमा, सम्वत् 2052
12.7.1995
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली -- 110007

मदन मोहन अग्रवाल

तृतीय अध्याय

कर्मयोग

चतुर्थ अध्याय

ब्रह्मार्पणयोग

पञ्चम अध्याय

कर्मसंन्यासयोग

षष्ठ अध्याय

आत्मसंयमयोग

2

उपासनाकाण्डम्

द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना ।
भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते ॥

सप्तम अध्याय

ज्ञानविज्ञानयोग

अष्टम अध्याय

अक्षरपरब्रह्मयोग

नवम अध्याय

राजविद्याराजगुह्ययोग

दशम अध्याय

विभूतियोग

एकादश अध्याय

विश्वरूपदर्शन

द्वादश अध्याय

भक्तियोग

3

ज्ञानकाण्डम्

तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम् ।
एवमप्यत्र काण्डानां सम्बन्धोऽस्ति परस्परम् ॥

त्रयोदश अध्याय

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

चतुर्दश अध्याय

गुणत्रयविभागयोग

पञ्चदश अध्याय

पुरुषोत्तमयोग

षोडश अध्याय

दैवासुरसंपद्विभागयोग

सप्तदश अध्याय

श्रद्धात्रयविभागयोग

अष्टादश अध्याय

मोक्षसंन्यासयोग

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-

गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

अथ प्रथमोऽध्यायः

गूढार्थदीपिका

ॐ नमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसनिवासाय श्रीमद्रामचन्द्राय ।

1 **भगवत्पादभाष्यार्थमालोच्यातिप्रयत्नतः ।**
प्रायः प्रतिपदं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् ॥ 1 ॥

गूढार्थदीपिकानुवाद

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

मङ्गलं रुक्मिणीकान्तो मङ्गलं गोपिकाप्रियः ।
मङ्गलं भूपतिः कृष्णो वात्सल्यादिगुणार्णवः ॥

1 भगवत्पाद[1] शङ्कराचार्य-प्रणीत भाष्य के अर्थ का अतिप्रयत्नपूर्वक विचार करके श्रीमद्भगवद्गीता के प्रायः[2] प्रत्येक पद[3] की मैं यह 'गूढार्थदीपिका'[4] नाम की व्याख्या करता हूँ ॥ 1 ॥

विमर्श

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

मङ्गलं श्रीगुरोर्ध्यानं मङ्गलं तत्पदाम्बुजम् ।
मङ्गलं तज्जपो नित्यं मङ्गलं गुणकीर्त्तनम् ॥

1. 'भगवत्पाद' शब्द से आरम्भ में अतिश्रद्धापूर्वक मानसिक नमन के साथ आचार्य शङ्कर को स्मरण करना अभीष्ट है । अतएव –

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादशङ्करं लोकशङ्करम् ॥

2. 'प्रायः' पद से यह सूचित किया गया है कि गूढार्थक पदों की व्याख्या अवश्य की गई है, कारण कि अन्य व्याख्याओं में गूढार्थक पदों की उपेक्षा की गई है ।

3. 'प्रतिपदम्' पाठ के स्थान पर 'प्रत्यक्षरम्' पाठान्तर भी उपलब्ध होता है, किन्तु 'प्रत्यक्षरम्' पाठ शिथिल है, 'प्रतिपदम्' पाठ ही यहाँ अधिक उपयुक्त है, कारण कि 'पद' सर्वथा सार्थक ही होता है और वह एक वर्ण भी होता है, जैसा कि विश्वनाथ कविराज ने कहा है– "वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः' = अर्थबोधका इति कचटतपेत्यादीनां व्यवच्छेदः, वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितं तेनैकस्य वर्णस्य द्वयोरपि च परिग्रहः" (साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद), तथा निरुक्तकार यास्क ने भी कहा ही है– 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' (निरुक्त,

सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमात्मकम् ।
परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ 2 ॥
सच्चिदानन्दरूपं तत्पूर्णं विष्णोः परं पदम् ।
यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः ॥ 3 ॥

सहेतुक संसार[5.i] का अत्यन्त उपरमरूप = आत्यन्तिक निवृत्तिरूप[ii] परम निःश्रेयस = मोक्ष[iii] ही गीताशास्त्र[iv] का प्रयोजन[v] कहा गया है ॥ 2 ॥

विष्णु[6.i] का वह परम पद[ii] सच्चिदानन्दस्वरूप[iii] और पूर्ण[v] है, जिसकी प्राप्ति के लिए तीन काण्डोंवाले वेदों का समारम्भ[v] हुआ है ॥ 3 ॥

प्रथम अध्याय, प्रथम पाद) = 'पद के चार भेद हैं – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात' ; अतएव मधुसूदन सरस्वती ने अपने उक्त व्याख्यान में तु, च, वा आदि पदों की भी व्याख्या की है, जबकि अन्य व्याख्याकारों ने इनकी पादपूरणार्थक के भ्रम से उपेक्षा की है ।

4. गूढ अर्थों की प्रकाशिका होने के कारण ही इस व्याख्या का नाम 'गूढार्थदीपिका' है ।

5.(i) 'संसार' संसरण अर्थात् जन्म-मरण के प्रवाह को कहते हैं । संसार का मूल अविद्या होती है । अतएव अविद्या ही संसार का हेतु – कारण है और संसार अविद्या का कार्य है, इसीलिए प्रकृत में 'सहेतुक संसार' उक्त है ।

(ii) 'निवृत्ति' दो प्रकार की होती है – आत्यन्तिक और अनात्यन्तिक । जिसकी निवृत्ति हुई हो उसकी पुन: देशान्तर, कालान्तर अथवा अवस्थान्तर में उत्पत्ति न हो वह 'आत्यन्तिक निवृत्ति' है (निवृत्तस्य पुनरनुत्पाद:) । जिसकी निवृत्ति हुई हो उसकी पुन: कालान्तर में उत्पत्ति हो वह ' अनात्यन्तिक निवृत्ति' है ।

(iii) 'निश्चितं श्रेय: नि:श्रेयसम्' = 'जिसमें जीव का कल्याण निश्चित है अर्थात् जिसमें जीव के कल्याण का किञ्चित् मात्र भी सन्देह नहीं है उसको 'नि:श्रेयस' कहते हैं ।' मोक्ष प्राप्त होने से ही मनुष्य का निश्चित कल्याण होता है, इसलिए 'नि:श्रेयस' को 'मोक्ष' भी कहते हैं । सहेतुक संसार = हेतुभूत अविद्या और उसके कार्यभूत संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति ही 'मोक्ष' है ।

(iv) 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥' (श्लोकवार्तिक, शब्दपरिच्छेद, श्लोक 4)

'जिससे मनुष्य को नित्यकर्म में प्रवृत्ति और कृतककर्म से निवृत्ति का उपदेश किया जाय उसको 'शास्त्र' कहते हैं ।' गीता में भगवान् ने अर्जुन को स्वधर्म में प्रवृत्ति और परधर्म से निवृत्ति का ही उपदेश किया है अतएव यह 'गीताशास्त्र' है ।

(v) श्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट का कथन है कि जबतक सम्पूर्ण शास्त्र का ही अथवा किसी कर्म का भी प्रयोजन नहीं कहा जाता है तबतक उसको कौन ग्रहण करता है ?

'सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ॥' (श्लोकवार्तिक, प्रतिज्ञासूत्र, श्लोक 12)

इसके अतिरिक्त यह भी तो न्याय है कि बिना किसी प्रयोजन के कोई मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है– 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते', अतएव इस श्लोक में सहेतुक संसार के अत्यन्त उपरमरूप नि:श्रेयस-मोक्ष को गीताशास्त्र का प्रयोजन कहा गया है ।

6.(i) यहाँ 'विष्णु' शब्द सर्वव्यापक ब्रह्म का वाचक है (बृहत्वात् विष्णुरुच्यते – महाभारत, 5.70.3; विशति सर्वभूतानि विशन्ति सर्वभूतानि अत्रेति वा) ।

(ii) यहाँ 'पद' शब्द स्वरूप का वाचक है । सालोक्य मुक्ति के अभिप्राय से स्थान का वाचक भी है ।

(iii) 'सत्' वह है जो भूत, वर्तमान और भविष्य -- इन तीनों कालों में बाधित नहीं हो, 'चित्' ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश है और 'आनन्द' परमानन्द अर्थात् निरतिशय सुख है ।

(iv) 'पूर्ण' शब्द का अर्थ निरतिशय है । इसप्रकार विष्णु का परम पद = ब्रह्म का उत्कृष्ट स्वरूप सच्चिदानन्दरूप और पूर्ण = निरतिशय है । अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार सहेतुक संसार की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक सच्चिदानन्दरूप और पूर्ण ब्रह्म के उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है । सहेतुक संसार की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप 'मोक्ष' का उल्लेख पूर्व श्लोक में करके सच्चिदानन्दरूप और निरतिशय ब्रह्म के उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्ति रूप 'मोक्ष' का उल्लेख

2

कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् ।
तद्रूपाष्टादशाध्यायी गीता काण्डत्रयात्मिका ॥ 4 ॥
एकमेकेन षट्केन काण्डमत्रोपलक्षयेत् ।
कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः ॥ 5 ॥
यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधतः ।
भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता ॥ 6 ॥
उभयानुगता सा हि सर्वविघ्नापनोदिनी ।
कर्ममिश्रा च शुद्धा च ज्ञानमिश्रा च सा त्रिधा ॥ 7 ॥

3

तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्मतत्त्यागवर्त्मना ।
त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते ॥ 8 ॥
द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना ।
भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते ॥ 9 ॥
तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम् ।
एवमप्यत्र काण्डानां संबन्धोऽस्ति परस्परम् ॥ 10 ॥

2 वेदों के क्रमशः तीन काण्ड हैं -- कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । वेदार्थस्वरूप होने के कारण ही यह अठारह अध्यायोंवाली गीता भी तीन काण्डोंवाली है ॥ 4 ॥

इसके एक-एक षट्क = छः-- छः अध्यायों से वेदों के एक-एक काण्ड उपलक्षित हैं । उसके प्रथम षट्क में कर्मनिष्ठा और अन्तिम = तृतीय षट्क में ज्ञाननिष्ठा वर्णित है, क्योंकि कर्म और ज्ञान -- दोनों का परस्पर अत्यन्त विरोध होने के कारण समुच्चय नहीं हो सकता; तथा मध्यम षट्क में भगवद्-भक्तिनिष्ठा वर्णित है ॥ 5-6 ॥

यह भगवद्-भक्तिनिष्ठा कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा -- दोनों में अनुगत, सभी विघ्नों को नष्ट करनेवाली है अतएव यह कर्ममिश्रा, शुद्धा और ज्ञानमिश्रा भेद से तीन प्रकार की है ॥ 7 ॥

3 वहाँ गीता के प्रथम काण्ड में कर्म और कर्मत्याग के द्वारा युक्तिपूर्वक 'त्वम्' पद के अर्थभूत विशुद्ध 'आत्मा' का निरूपण किया गया है, द्वितीय काण्ड में भगवद्-भक्तिनिष्ठा के वर्णन द्वारा 'तत्' पद के अर्थभूत परमानन्दस्वरूप 'भगवान्' का निर्धारण किया गया है[7] तथा तृतीय काण्ड में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की अर्थभूता 'तत्' पदार्थ और 'त्वम्' पदार्थ -- उन दोनों की 'एकता' स्पष्टरूप से बतलाई गई है -- इसप्रकार से भी यहाँ तीन काण्डों का परस्पर सम्बन्ध है ॥ 8-9-10 ॥

प्रकृत श्लोक में प्रस्तुत किया गया है, अतएव द्वितीय और तृतीय – इन दो श्लोकों से अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार मोक्ष के पूर्ण स्वरूप का उल्लेख किया गया है -- यह कहा जा सकता है । यहाँ यह भी कहा जा सकता कि सहेतुक संसार की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक सच्चिदानन्दरूप और निरतिशय ब्रह्म के उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्तिरूप 'मोक्ष' ही गीताशास्त्र का प्रयोजन है ।

(v) यद्यपि मीमांसकों के मत में वेदों का आरम्भ नहीं होता, क्योंकि उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं; तथापि अद्वैतसिद्धान्त की मान्यता है कि वेद सादि हैं, जैसा कि ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के शास्त्रयोनित्वाधिकरण में वेदों के सादित्व का प्रतिपादन किया गया है; अतएव 'वेदों का समारम्भ' कहना अनुचित नहीं है ।

7. यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि मधुसूदन सरस्वती ने जो यह कहा है कि गीता के प्रथम काण्ड में 'त्वम्'

4

प्रत्यध्यायं विशेषस्तु तत्र तत्रैव वक्ष्यते ।
मुक्तिसाधनपर्वेदं शास्त्रार्थत्वेन कथ्यते ॥ 11 ॥
निष्कामकर्मानुष्ठानं त्यागात्काम्यनिषिद्धयोः ।
तत्रापि परमो धर्मो जपस्तुत्यादिकं हरेः ॥ 12 ॥
क्षीणपापस्य चित्तस्य विवेके योग्यता यदा ।
नित्यानित्यविवेकस्तु जायते सुदृढस्तदा ॥ 13 ॥
इहामुत्रार्थवैराग्यं वशीकाराभिधं क्रमात् ।
ततः शमादिसंपत्त्या संन्यासे निष्ठितो भवेत् ॥ 14 ॥
एवं सर्वपरित्यागान्मुमुक्षा जायते दृढा ।
ततो गुरूपसदनमुपदेशग्रहस्ततः ॥ 15 ॥
ततः संदेहहानाय वेदान्तश्रवणादिकम् ।
सर्वमुत्तरमीमांसाशास्त्रमत्रोपयुज्यते ॥ 16 ॥

4 प्रत्येक अध्याय की विशेषता तो उस उस अध्याय में ही बतलायी जायेगी । यहाँ गीताशास्त्र के अर्थरूप से मुक्ति के साधनों का यह पर्व = क्रम कहा जाता है ॥11॥ काम्य और निषिद्धकर्मों के त्याग द्वारा निष्काम कर्मों का अनुष्ठान सर्वप्रथम कर्तव्य है । उसमें भी श्रीहरि के मन्त्र का जप और उनकी स्तुति आदि परम धर्म हैं ॥12॥ इसप्रकार पापों का क्षय हो जाने पर जब चित्त में विवेक करने की योग्यता आ जाती है तब नित्यानित्यवस्तुविवेक तो सुदृढ़ हो जाता है ॥13॥ फिर क्रमशः लौकिक तथा पारलौकिक विषयों में वशीकार[8] संज्ञक वैराग्य उत्पन्न होता है । इसके पश्चात् शमदमादि षट्क साधन-सम्पत्ति के द्वारा अधिकारी की संन्यास में निष्ठा होती है ॥14॥ इसप्रकार सब कुछ त्याग देने से उसमें मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है । तब वह गुरु की शरण में जाता है और उनसे उपदेश ग्रहण करता है ॥15॥ पुनः संदेह की निवृत्ति के लिए वह वेदान्त का श्रवण और मनन करता है। सम्पूर्ण उत्तरमीमांसाशास्त्र का उपयोग इस सन्देह की निवृत्ति के लिए ही होता है ॥ 16 ॥ हृदय में वेदान्त के अर्थों के सुदृढ़ हो जाने पर मुमुक्षु की निदिध्यासन में निष्ठा होती है ।

पदार्थ का निरूपण है और द्वितीय काण्ड में 'तत्' पदार्थ का निरूपण है, वहाँ 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अनुसार पहले 'तत्' पदार्थ का निरूपण होना चाहिए और उसके पश्चात् 'त्वम्' पदार्थ का निरूपण होना चाहिए, अतएव उनके कथन में श्रुतिपदपाठ-क्रमविपर्यय सा प्रतीत होता है; तो इसका समाधान यह है कि वेदान्तग्रन्थों में 'तत्' और 'त्वम्' -- दोनों पदार्थों के शोधन के क्रम दोनों ही देखे जाते हैं :-- 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7) -- इस महावाक्य में पहले 'तत्' पदार्थ निर्दिष्ट है और बाद में 'त्वम्' पदार्थ निर्दिष्ट है, जबकि 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्योपनिषद् 2), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) -- इत्यादि महावाक्यों में पहले 'त्वम्' पदार्थ निर्दिष्ट है और उसके पश्चात् 'तत्' पदार्थ निर्दिष्ट है, अतएव मधुसूदन सरस्वती द्वारा उक्त क्रम में कोई पदपाठ-क्रम-विपर्यय नहीं है, अपितु वह क्रम भी औपनिषद ही है ।

८. योगभाष्यतत्त्ववैशारदी में वैराग्य की चार संज्ञाएं कही गयी हैं -- यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार । चित्त में स्थित चित्त के मूलरूप राग-द्वेष आदि दोष ही इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में प्रवर्त्तक हैं । उन राग-द्वेष आदि दोषों का बार-बार चिन्तनरूप प्रयत्न जिससे इन्द्रियों को उन विषयों में प्रवृत्त न कर सकें, 'यतमान' संज्ञक वैराग्य है।

ततस्तत्परिपाकेण निदिध्यासननिष्ठता ।
योगशास्त्रं तु संपूर्णमुपक्षीणं भवेदिह ॥17॥
क्षीणदोषे ततश्चित्तं वाक्यात्तत्त्वमतिर्भवेत् ।
साक्षात्कारो निर्विकल्पः शब्दादेवोपजायते ॥18॥
अविद्याविनिवृत्तिस्तु तत्त्वज्ञानोदये भवेत् ।
तत आवरणे क्षीणे क्षीयेते भ्रमसंशयौ ॥19॥
अनारब्धानि कर्माणि नश्यन्त्येव समन्ततः ।
न चाऽऽगामीनि जायन्ते तत्त्वज्ञानप्रभावतः ॥20 ॥
प्रारब्धकर्मविक्षेपाद्वासना तु न नश्यति ।
सा सर्वतो बलवता संयमेनोपशाम्यति ॥ 21 ॥
5 **संयमो धारणा ध्यानं समाधिरिति यत्त्रिकम् ।**
यमादिपञ्चकं पूर्वं तदर्थमुपयुज्यते ॥ 22 ॥

इसी में सम्पूर्ण योगशास्त्र की परिसमाप्ति होती है ॥ 17 ॥ पुनः चित्त के सभी दोष क्षीण हो जाने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों से तत्त्वज्ञान होता है । ब्रह्मतत्त्व का निर्विकल्पक साक्षात्कार शब्द से ही होता है और तत्त्वज्ञान का उदय होने पर ही अविद्या की निवृत्ति होती है । इसके पश्चात् आवरण का क्षय हो जाने पर इसके सम्पूर्ण भ्रम और संशय नष्ट हो जाते हैं ॥ 18-19 ॥ (तत्त्वज्ञान होने से) अनारब्ध कर्मों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है और तत्त्वज्ञान के प्रभाव से ही आगामी कर्मों का भी संश्लेष नहीं होता ॥ 20 ॥ किन्तु प्रारब्ध कर्मरूप विक्षेप के कारण वासना का विनाश नहीं होता है, उसका विनाश तो कठोर संयम के द्वारा ही होता है[9] ॥ 21 ॥
5. धारणा, ध्यान और समाधि– इन तीनों का एक विषय में होना संयम[10] कहलाता है । संयम की प्राप्ति के लिए पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार– इन योग के पाँच अङ्गों का

चित्त में जितने दोष पहले थे उनमें से इतने नष्ट हो गये हैं और इतने शेष हैं– इस प्रकार का विवेचन 'व्यतिरेक' –संज्ञक वैराग्य है । विषरूप विषय में दुःखज्ञान द्वारा इन्द्रियों की अप्रवृत्ति होने पर भी अन्तःकरण में जो विषयतृष्णा की स्थिति की अवस्था है उसे 'एकेन्द्रिय' - संज्ञक वैराग्य कहते हैं । और अन्त में अन्तःकरण से भी विषयतृष्णा का नाश होने से चित्त की जो अवस्था होती है उसे ही 'वशीकार'–संज्ञक वैराग्य कहते हैं ।

9. यहाँ यह कहा जा सकता है कि मधुसूदन सरस्वती ने गीता के अठारह अध्याय होने से ही गीताशास्त्र के यत्र-तत्र विकीर्ण अठारह ही प्रतिपाद्य तत्त्वों (अर्थों) का एक ही स्थान पर प्रतिपादन करके उन्हें मुक्ति के प्रधान अठारह अंगों (पर्वों) के रूप में प्रस्तुत किया है । ये मुक्ति के साधनभूत अठारह पर्व निम्न प्रकार हैं– (i) काम्य एवं निषिद्ध कर्मों के त्यागपुरस्सर निष्कामकर्मों का अनुष्ठान (ii) नित्यानित्यवस्तुविवेक (iii) इहामुत्रार्थफलभोगविराग (iv) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि और श्रद्धा-षट्क साधनसम्पत्ति (v) मोक्षेच्छा (vi) आचार्योपसत्ति (vii) वेदान्तशास्त्र का श्रवण (viii) मनन (ix) निदिध्यासन (x) तत्त्वज्ञान (xi) प्रारब्धेतर कर्मविनाश (xii) धारणा (xiii) ध्यान (xiv) सविकल्पक समाधि (xv) निर्विकल्पक समाधि की प्रथम भूमि, (xvi) निर्विकल्पक समाधि की द्वितीय भूमि । (xvii) निर्विकल्पकसमाधि की तृतीय भूमि, और (xviii) वासना का विनाश ।

10. योगभाष्य के अनुसार समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग हैं । धारणा और ध्यान समाधि की प्रथम अवस्था है । विभूति आदि में इन तीनों की ही अवश्यकता होती है । इसीलिए योगशास्त्र की परिभाषा में इन तीनों के समुदाय को 'संयम' कहा जाता है ।

ईश्वरप्रणिधानात्तु समाधिः सिध्यति द्रुतम् ।
ततो भवेन्मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥ 23 ॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय इत्यपि ।
युगपत्त्रितयाभ्यासाज्जीवन्मुक्तिर्दृढा भवेत् ॥ 24 ॥
विद्वत्संन्यासकथनमेतदर्थं श्रुतौ कृतम् ।
प्रागसिद्धो य एवांशो यत्नः स्यात्तस्य साधने ॥ 25 ।
6 **निरुद्धे चेतसि पुरा सविकल्पसमाधिना ।**
निर्विकल्पसमाधिस्तु भवेदत्र त्रिभूमिकः ॥ 26 ॥
व्युत्तिष्ठते स्वतस्त्वाद्ये द्वितीये परबोधितः ।
अन्त्ये व्युत्तिष्ठते नैव सदा भवति तन्मयः ॥ 27 ॥
एवंभूतो ब्राह्मणः स्याद्वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ।
गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ॥ 28 ॥
अतिवर्णाश्रमी जीवन्मुक्त आत्मरतिस्तथा ।
एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते ॥ 29 ॥

उपयोग होता है ॥22॥ ईश्वरप्रणिधान[11] से तो समाधि अतिशीघ्र सिद्ध होती है और उससे मनोनाश तथा वासना का क्षय भी होता है ॥ 23 ॥ इस प्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय-- इन तीनों का समकाल में अभ्यास करने से जीवन्मुक्ति[12] पुष्ट होती है ॥ 24 ॥ इसी के लिए श्रुतियों में विद्वत्-संन्यास[13] का निरूपण किया गया है । इनमें से जिस अंश की पहले सिद्धि नहीं होती उसी को सिद्ध करने के लिए प्रयत्न किया जाता है ॥ 25 ॥

6 जिसका चित्त पहले सविकल्पक समाधि से निरुद्ध हो जाता है उसे ही निर्विकल्पक समाधि होती है । उसकी तीन भूमिकाएँ होती हैं ॥ 26 ॥ प्रथम भूमिका में तो योगी स्वतः व्युत्थित हो जाता है, द्वितीय भूमिका में दूसरे के प्रयत्न से व्युत्थित होता है, और तृतीय भूमिका में वह व्युत्थित ही नहीं होता, सदा तन्मय ही रहता है ॥ 27 ॥ इस प्रकार का ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) समस्त ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ होता है । वही गुणातीत, स्थितप्रज्ञ और विष्णुभक्त कहा जाता है ॥ 28 ॥ वह वर्णाश्रम से अतीत, जीवन्मुक्त तथा आत्मा में ही रमण करने वाला होता है । वह कृतकृत्य होता है, अतएव शास्त्र भी उससे निवृत्त हो जाता है ॥ 29॥

---

11. ईश्वरप्रणिधान का सामान्य अर्थ ईश्वर की भक्तिविशेष और सम्पूर्ण बाह्य तथा आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर को समर्पण कर देना है, किन्तु विशेष रूप से ईश्वर-प्रणिधान से सूत्रकार का अभिप्राय है– ईश्वर के वाचक प्रणव 'ओउम्' का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का ध्यान करना या उसका पुनः पुनः चिन्तन करना ।
12. जब जीव को शरीर रहते हुए ही ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है तो उस स्थिति को जीवन्मुक्ति की स्थिति कहते हैं । प्रारब्ध कर्मों का नाश न होने के कारण तत्त्वज्ञानी भी जीवन्मुक्तावस्था में शरीर धारण करता है । "तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्या जीवन्मुक्तिरस्तु"— विवरणप्रमेयसंग्रह ॥ 1.1 ॥
13. उपनिषदों में ज्ञानवान् का संन्यासग्रहण अनेकत्र वर्णित है । ज्ञानवान् का संन्यासग्रहण ज्ञान के कारण नहीं होता क्योंकि उसे ज्ञान तो पहले से ही हो जा चुका होता है । वह ज्ञानवान् संन्यासग्रहण इसलिए करता है कि उसे प्रारब्धकर्मरूप विक्षेप के कारण जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं होता, एतदर्थ ही वह ज्ञानवान् संन्यास ग्रहण करता है ।

7 **यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।**
तस्यैतेऽकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ 30 ॥
इत्यादिश्रुतिमानेन कायेन मनसा गिरा ।
सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते ॥ 31 ॥
पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत् ।
अन्यथा विघ्नबाहुल्यात्फलसिद्धिः सुदुर्लभा ॥ 32 ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
अनेकजन्मसंसिद्ध इत्यादि च वचो हरे : ॥ 33 ॥
8 **यदि प्राग्भवसंस्कारस्याचिन्त्यत्वात्तु कश्चन ।**
प्रागेव कृतकृत्यः स्यादाकाशफलपातवत् ॥ 34 ॥
न तं प्रति कृतार्थत्वाच्छास्त्रमारब्धुमिष्यते ।
प्राक्सिद्धसाधनाभ्यासाद् दुर्ज्ञेया भगवत्कृपा ॥ 35 ॥
एवं प्राग्भूमिसिद्धावप्युत्तरोत्तरभूमये ।
विधेया भगवद्भक्तिस्तां विना सा न सिध्यति ॥ 36 ॥

---

7 श्रुति कहती है कि जिसकी परम देव में पराभक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा को ये अर्थ बिना उपदेश के ही प्रकाशित होते[14] हैं ॥ 30 ॥ इस श्रुतिप्रमाण के अनुसार तत्त्वज्ञान की उपलब्धि में सभी अवस्थाओं में शरीर, मन और वाणी से भगवद्भक्ति ही अधिक उपयोगी है ॥ 31 ॥ पूर्व भूमिका में की गयी भक्ति ही उत्तरभूमिका को लाती है, अन्यथा अनेक प्रकार के विध्न होने के कारण फल की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है ॥ 32 ॥ भगवान् के भी वचन हैं कि "वह योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी अपने उस पूर्वजन्म के अभ्यास से ही भोगवासनाओं से निकालकर मोक्ष के साधनों में लगा दिया जाता है[15]" " इस प्रकार अनेक जन्मों में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करके फिर वह तत्काल ही परम गति को प्राप्त हो जाता है[16]" ॥ 33 ॥

8 यदि पूर्व जन्म के संस्कारों के अचिन्त्य होने के कारण कोई पुरुष काकतालीय न्याय से आकाश से फल गिरने के समान पहले से ही कृतकृत्य हो तो उस पर भी किसी प्रकार का प्रशासन करना शास्त्र को अभीष्ट नहीं है क्योंकि वह अपने पूर्व सिद्ध साधनों के अभ्यास के कारण कृतार्थ हो चुका है । भगवत्कृपा के रहस्य को जानना अत्यन्त ही कठिन है ॥ 34-35 ॥ इस प्रकार जो पुरुष पूर्व-- भूमिका को सिद्ध कर चुके हैं उन्हे भी उत्तर-भूमिका की सिद्धि के लिए भगवान् की भक्ति

---

14. यह श्वेताश्वतरोपनिषद् के छठे अध्याय का तेईसवां मन्त्र है । 'भक्ति' को यहाँ परमदेव परमेश्वर को साक्षात्कार करने का साधन बताया गया है । जब साधक अपनी सभी क्रियाओं को मनसा, वाचा तथा कर्मणा परमेश्वर को समर्पित कर देता है तब ही उसको वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि होती है । और जब साधक की भक्ति परमदेव के समान गुरु में भी हो जाती है तब उसके लिए उपनिषदीय रहस्यमय ज्ञान स्वयमेव उद्घाटित हो जाता है । यहाँ जिस प्रकार की भक्ति का निर्देश किया गया है वह प्रारम्भिक अवस्था वाली भक्ति प्रतीत होती है । भक्ति का जैसा निरूपण भक्तिसूत्रों में किया गया है यह भक्ति उससे नितरां भिन्न है ।

15. गीता, 6.44

16. अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"— गीता, 6.45

जीवन्मुक्तिदशायां तु न भक्तेः फलकल्पना ।
अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः ॥ 37 ॥
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ 38 ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
इत्यादिवचनात्प्रेमभक्तोऽयं मुख्य उच्यते ॥ 39 ॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् ।
अतो व्याख्यातुमेतन्मे मन उत्सहते भृशम् ॥ 40 ॥
निष्कामकर्मानुष्ठानं मूलं मोक्षस्य कीर्तितम् ।
शोकादिरासुरः पाप्मा तस्य च प्रतिबन्धकः ॥ 41 ॥
यतः स्वधर्मविभ्रंशः प्रतिषिद्धस्य सेवनम् ।
फलाभिसंधिपूर्वा वा साहंकारा क्रिया भवेत् ॥ 42 ॥
आविष्टः पुरुषो नित्यमेवमासुरपाप्मभिः।
पुमर्थलाभायोग्यः सँल्लभते दुःखसंततिम् ॥ 43 ॥
दुःखं स्वभावतो द्वेष्यं सर्वेषां प्राणिनामिह ।
अतस्तत्साधनं त्याज्यं शोकमोहादिकं सदा ॥ 44 ॥
अनादिभवसंताननिरूढं दुःखकारणम् ।
दुस्त्यजं शोकमोहादि केनोपायेन हीयताम् ॥ 45 ॥

करनी चाहिए, क्योंकि भगवद्भक्ति के बिना वह उत्तर-भूमिका सिद्ध नहीं हो सकती ।। 36 ।। किन्तु जीवन्मुक्ति की अवस्था में भक्ति से किसी फल की कल्पना नहीं की जाती, क्योंकि अद्वेष्टृत्व आदि गुणों के समान हरि-भजन उन जीवन्मुक्तों का स्वभाव ही होता है ।। 37 ।। और जो मुनि केवल आत्मा में ही रमण करते हैं तथा जिनकी अविद्यारूपा ग्रन्थि कट गई है वे भी भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि श्रीहरि के इस प्रकार के गुण ही हैं ।। 38 ।। "अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी-- इन चार प्रकार के भक्तों में से नित्ययुक्त और एकभक्ति करने वाला ज्ञानी ही श्रेष्ठ है" -- इत्यादि वचनों से भी यह प्रेमा-भक्ति वाला जीवन्मुक्त ही मुख्य भक्त कहा गया है ।। 39 ।। यह सब रहस्य भगवान् ने गीताशास्त्र में प्रकाशित किया है । इसीलिए इस गीताशास्त्र की व्याख्या करने के लिए मेरा मन अत्यन्त उत्साहित हो रहा है ।। 40 ।।

मोक्ष का मूल निष्काम कर्मों का अनुष्ठान कहा गया है और उसकी प्रतिबन्धक शोकादि पापमय आसुरी सम्पद् है, जिससे कि स्वधर्म से पतन, प्रतिषिद्ध वस्तुओं का सेवन और फल की कामना से अथवा अहंकारपूर्वक कर्म में प्रवृत्ति होती हैं ।। 41-42 ।। इस प्रकार सदैव आसुरी पापों से ग्रस्त पुरुष पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए अयोग्य हो जाता है तथा अनेक प्रकार के दु:खों को प्राप्त करता है ।। 43 ।। इस लोक में सभी प्राणी स्वभावत: दु:खों से द्वेष करते हैं, अतएव दु:ख प्राप्ति के साधनभूत शोक, मोह आदि का सर्वदा त्याग करना चाहिए ।। 44 ।। "अनादिजन्मपरम्परागत संस्कारों से सुदृढ़, समस्त दु:खों के कारण और अत्यन्त दुस्त्यज शोक-मोहादि किस उपाय से नष्ट हों" -- ऐसी आकांक्षा रखने वाले, पुरुषार्थ की ओर उन्मुख पुरुष को बोध कराने के इच्छुक भगवान् ने इस श्रेष्ठ गीताशास्त्र का उपदेश किया है ।। 45-46 ।।

एवमाकाङ्क्षयाऽऽविष्टं पुरुषार्थोन्मुखं नरम् ।
बुबोधयिषुराहेदं भगवाञ्शास्त्रमुत्तमम् ॥ 46 ॥

10 तत्राशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना शोकमोहादिसर्वासुरपाप्मनिवृत्त्युपायोपदेशेन स्वधर्मानुष्ठानात्पुरुषार्थः प्राप्यतामिति भगवदुपदेशः सर्वसाधारणः । भगवदर्जुनसंवादरूपा चाऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था जनकयाज्ञवल्क्यसंवादादिवदुपनिषत्सु । कथं ? प्रसिद्धमहानुभावोऽप्यर्जुनो राज्यगुरुपुत्रमित्रादिष्वहमेषां ममैत इत्येवंप्रत्ययनिमित्तस्नेहनिमित्ताभ्यां शोकमोहाभ्यामभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्माद्युद्धादुपरराम परधर्मं च भिक्षाजीवनादि क्षत्रियं प्रति प्रतिषिद्धं कर्तुं प्रववृते । तथा च महत्यनर्थे मग्नोऽभूत् । भगवदुपदेशाच्चेमां विद्यां लब्ध्वा शोकमोहावपनीय पुनः स्वधर्मे प्रवृत्तः कृतकृत्यो बभूवेति प्रशस्ततरेयं महाप्रयोजना विद्येति स्तूयते ।

11 अर्जुनोपदेशेन चोपदेशाधिकारी दर्शितः । तथा च व्याख्यास्यते । स्वधर्मप्रवृत्तौ जातायामपि तत्प्रच्युतिहेतुभूतौ शोकमोहौ 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिनाऽर्जुने दर्शितौ । अर्जुनस्य युद्धाख्ये

---

10 इस गीता-शास्त्र में भगवान् ने "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं"[17] इत्यादि वाक्य के द्वारा शोक-मोहादि-- सभी आसुरी पापों की निवृत्ति के उपायों का उपदेश करके अपने-अपने वर्णाश्रम- धर्मों का अनुष्ठान करते हुए परम पुरुषार्थ को प्राप्त करो"-- ऐसा सर्वसाधारण के लिए उपदेश किया है । उपनिषदों में वर्णित जनक-याज्ञवल्क्य-संवादादि[18] के समान भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन की संवादरूपा आख्यायिका ब्रह्म-विद्या की स्तुति के लिए है । कैसे ? अर्जुन यद्यपि प्रसिद्ध महान् पराक्रमी था, फिर भी उसका विवेक-ज्ञान राज्य, गुरु, पुत्र तथा मित्र आदि में "मैं इनका हूँ" यें मेरे हैं" -- इस प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न हुए स्नेह के कारणभूत शोक और मोह से अभिभूत हो गया । वह क्षत्रियों के धर्मभूत युद्ध में प्रवृत्त होने पर भी स्वत: ही उस युद्ध से उपराम हो गया और क्षत्रियों के लिए प्रतिषिद्ध परधर्मभूत भिक्षाटनादि कर्मों को करने के लिए प्रवृत्त हो गया । इस प्रकार वह महान् अनर्थ में डूब गया । फिर भी वह भगवान् के उपदेश से इस आत्म-विद्या को प्राप्त करके अपने शोक और मोह को त्याग कर पुन: अपने धर्म में प्रवृत्त और कृतकृत्य हो गया-- यह सब कहकर इस विद्या की "यह अत्यन्त प्रशंसनीय और महान् प्रयोजन वाली है"-- ऐसी स्तुति ही की जाती है ।

11 अर्जुन को उपदेश करने के व्याज से उपदेश का 'अधिकारी' दिखाया गया है । इसी प्रकार आगे (अठारहवें अध्याय में) अधिकारी की व्याख्या भी की जायेगी । स्वधर्म में प्रवृत्ति हो जाने पर भी,

---

17. "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे"-- गीता, 2.11 ।

18. उपनिषदों में संवाद-पद्धति का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है-- जैसे--जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद, बालाकि--अजातशत्रु-संवाद, नचिकेता-यमराज-संवाद आदि । संवादपद्धति उपनिषदीय मीमांसाओं की सबसे अधिक प्रचलित पद्धति है । उपनिषदीय दर्शन के विकास पथ पर पदे-पदे इसका प्रयोग मिलता है । इन संवादों में सबसे आकर्षक वस्तु जो सभी को आकृष्ट करती है, वह है-- इतने गम्भीर, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयों में उन प्राचीन ऋषियों की पर्युत्सुक अन्वेषण-वृत्ति, जो सदैव वस्तु के बहिरंग तक सीमित न रहकर वस्तु के अन्तस्तत्त्व तक पहुँचने के लिए कुतूहलता से भरी होती है । उपनिषदीय इस संवाद-पद्धति के इस विशेष आकर्षण के कारण ही गीताशास्त्र में भी संवाद-पद्धति को उपनिषदीय रूप में ही अपनाया गया है । इसमें मूलत: उपनिषदीय दार्शनिक सिद्धान्तों की ही व्याख्या प्रस्तुत की गई है । अत: यह उपनिषदों का सार है । इसी विचार की अभिव्यक्ति के लिए ही मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ उपनिषदीय संवादपद्धति की गीताशास्त्र की संवादपद्धति से समानता दर्शायी है ।

स्वधर्मे विनाऽपि विवेकं किंनिमित्ता प्रवृत्तिरिति दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकमित्यादिना परसैन्यचेष्टितं तन्निमित्तमुक्तम् । तदुपोद्घाततत्वेन धृतराष्ट्रप्रश्नः संजयं प्रति धर्मक्षेत्र इत्यादिना श्लोकेन ।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ 1 ॥

12 तत्र धृतराष्ट्र उवाचेति वैशम्पायनवाक्यं जनमेजयं प्रति । पाण्डवानां जयकारणं बहुविधं पूर्वमाकर्ण्य स्वपुत्रराज्यभ्रंशाद्भीतो धृतराष्ट्रः पप्रच्छ स्वपुत्रजयकारणमाशंसन्– युयुत्सवो योद्धुमिच्छवोऽपि सन्तः कुरुक्षेत्रे समवेताः संगता मामका मदीया दुर्योधनादयः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किमकुर्वत किं कृतवन्तः ? किं पूर्वोद्भूतयुयुत्सानुसारेण युद्धमेव कृतवन्त उत केनचिन्निमित्तेन युयुत्सानिवृत्याऽन्यदेव किंचित्कृतवन्तः ?

13 भीष्मार्जुनादिवीरपुरुषनिमित्तं दृष्टभयं युयुत्सानिवृत्तिकारणं प्रसिद्धमेव । अदृष्टभयमपि दर्शयितुमाह– धर्मक्षेत्र इति । धर्मस्य पूर्वमविद्यमानस्योत्पत्तेर्विद्यमानस्य च वृद्धेर्निमित्तं सस्यस्येव

उससे प्रच्युति के हेतुभूत शोक और मोह अर्जुन में 'कथं भीष्ममहं संख्ये'[19] इत्यादिवाक्य से दिखाये गये हैं । विवेक के अभाव में भी अर्जुन की युद्ध नामक स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) में प्रवृत्ति क्यों हुई ? इसका कारण 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्'[20] इत्यादि श्लोक से शत्रु की सेना की चेष्टा ही कही गयी है । उसके उपोद्धात रूप से 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इत्यादि श्लोक से धृतराष्ट्र सञ्जय से प्रश्न करता है --

[धृतराष्ट्र ने कहा-- संजय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से एकत्रित मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? ॥ 1 ॥]

12 यहाँ 'धृतराष्ट्र उवाच' में जनमेजय के प्रति वैशम्पायन का वाक्य है । पहले पाण्डवों की विजय के अनेक प्रकार के कारणों को सुनकर अपने पुत्रों के राज्यच्युत होने से डरकर धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों की विजय के किसी कारण को सुनने की आशा से पूछा, – पहले से युयुत्सु = युद्ध करने के इच्छुक होने पर भी कुरुक्षेत्र में समवेत = एकत्रित हुए मेरे पुत्र दुर्योधनादि तथा पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर आदि ने क्या किया ? अर्थात् कौन सा कार्य किया ? क्या उन्होंने पहले से ही उत्पन्न हुई अपनी युद्ध करने की इच्छा के अनुसार युद्ध ही किया ? अथवा किसी कारणवश युद्ध करने की इच्छा से निवृत्त होकर कोई दूसरा ही कार्य किया ?

13 भीष्म, अर्जुन आदि वीर पुरुषों के कारण जो दोनों पक्षों के लिए दृष्टभय है वह तो युद्धेच्छा की निवृत्ति का कारण प्रसिद्ध ही है । इसके अतिरिक्त जो अदृष्टभय है उसे भी दिखाने के लिए धृतराष्ट्र कहता है -- 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादि । जैसे अन्न की उत्पत्ति और वृद्धि का कारण क्षेत्र होता है वैसे ही कुरुक्षेत्र पहले से अविद्यमान धर्म की उत्पत्ति का तथा विद्यमान धर्म की वृद्धि का कारण है -- यह

---

19. कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
    इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ गीता, 2.4 ॥

20. गीता, 1.2

क्षेत्रं यत्कुरुक्षेत्रं सर्वश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं 'यदनुकुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' इति जाबालश्रुतेः, 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्' इति शतपथश्रुतेश्च । तस्मिन्गताः पाण्डवाः पूर्वमेव धार्मिका यदि पक्षद्वयहिंसानिमित्तादधर्माद्भीता निवर्तेरंस्ततः प्राप्तराज्या एव मत्पुत्राः । अथवा धर्मक्षेत्रमाहात्म्येन पापानामपि मत्पुत्राणां कदाचिच्चित्तप्रसादः स्यात्तदा च तेऽनुतप्ताः कपटोपात्तं राज्यं पाण्डवेभ्यो यदि दद्युस्तर्हि विनाऽपि युद्धं हता एवेति स्वपुत्रराज्यलाभे पाण्डवराज्यालाभे च दृढतरमुपायमपश्यतो महानुद्वेग एव प्रश्नबीजम् ।संजयेति च संबोधनं रागद्वेषादिदोषान्सम्यग्जितवानसीति कृत्वा निर्व्याजमेव कथनीयं त्वयेति सूचनार्थम् । मामकाः किमकुर्वतेत्येतावतैव प्रश्ननिर्वाहे पाण्डवाश्चेति पृथङ्निर्दिश्य पाण्डवेषु ममकाराभावप्रदर्शनेन तद्द्रोहमभिव्यनक्ति ॥ 1 ॥

14 **एवं कृपालोकव्यवहारनेत्राभ्यामपि हीनतया महतोऽन्धस्य पुत्रस्नेहमात्राभिनिविष्टस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्ने विदिताभिप्रायस्य सञ्जयस्यातिधार्मिकस्य प्रतिवचनमवतारयति वैशम्पायनः--**

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ 2 ॥

सब श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध है । जाबालश्रुति में बृहस्पति याज्ञवल्क्य से कहते हैं-- "यह जो कुरुक्षेत्र है वह देवताओं की यज्ञभूमि है तथा सभी जीवों को ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला स्थान है ।" शतपथ श्रुति में भी कहा गया है-- 'कुरुक्षेत्र देवों के यज्ञ करने की भूमि है ।' उस (कुरुक्षेत्र) में गये हुए पहले से ही धार्मिक पाण्डव यदि दोनों पक्षों में होने वाली हिंसा के कारण होने वाले अधर्म से डरकर युद्ध करना छोड़ दें तो फिर मेरे पुत्रों को राज्य प्राप्त ही हो गया । अथवा धर्मक्षेत्र की महिमा के कारण पापी भी मेरे पुत्रों का कदाचित् चित्त निर्मल हो जाय और वे पश्चात्तापपूर्वक कपट से प्राप्त राज्य को यदि पाण्डवों को दे दें, तो फिर वे युद्ध किए बिना भी विनष्ट ही हो गए । इस प्रकार अपने पुत्रों के राज्यलाभ के विषय में तथा पाण्डवों के राज्य लाभ न होने के विषय में किसी ठोस उपाय को न देखकर उससे होने वाला महान् उद्वेग ही इस प्रश्न का बीज है । 'संजय' -- यह संबोधन यह सूचित करने के लिए है कि तुमने राग-द्वेष आदि दोषों को अच्छी तरह से जीत लिया है, अतएव तुम्हें बिना किसी कपट के ही उत्तर देना चाहिए । "मेरे पुत्रों ने क्या किया " इतने मात्र से ही प्रश्न का निर्वाह संभव होने पर भी, 'पाण्डवाश्च' (और पाण्डु के पुत्रों ने) ऐसा पृथक् निर्देश करके पाण्डवों के प्रति ममत्व के अभाव के प्रदर्शन से धृतराष्ट्र का पाण्डवों के प्रति द्रोह अभिव्यक्त होता है ।। 1 ।।

14 इस प्रकार कृपा और लोकव्यवहार-- इन दोनों ही प्रकार के नेत्रों से हीन होने के कारण पूर्णरूप से अन्धे और पुत्रस्नेह मात्र से आसक्त उस धृतराष्ट्र के प्रश्न से उसका अभिप्राय जानकर अतिधार्मिक सञ्जय के उत्तर को वैशम्पायन इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं---

[संजय ने कहा -- उस समय व्यूहरचना से युक्त पाण्डवों की सेना को देखकर तो राजा दुर्योधन ने आचार्य द्रोण के समीप जाकर यह वचन कहा ।।2।।]

15 तत्र पाण्डवानां दृष्टभयसंभावनाऽपि नास्ति अदृष्टभयं तु भ्रान्त्याऽर्जुनस्योत्पन्नं भगवतोपशमितमिति पाण्डवानामुत्कर्षस्तुशब्देन द्योत्यते । स्वपुत्रकृतराज्यप्रत्यर्पणशङ्कया तु मा ग्लासीरिति राजानं तोषयितुं दुर्योधनदौष्ट्यमेव प्रथमतो वर्णयति-- दृष्ट्वेति ।

16 पाण्डुसुतानामनीकं सैन्यं व्यूढं व्यूहरचनया धृष्टद्युम्नादिभिः स्थापितं दृष्ट्वा चाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य तदा सङ्ग्रामोद्यमकाल आचार्यं द्रोणनामानं धनुर्विद्यासंप्रदायप्रवर्तयितारमुपसंगम्य स्वयमेव तत्समीपं गत्वा न तु स्वसमीपे तमाहूय । एतेन पाण्डवसैन्यदर्शनजनितं भयं सूच्यते । भयेन स्वरक्षार्थं तत्समीपगमनेऽपि आचार्यगौरवव्याजेन भयसंगोपनं राजनीतिकुशलत्वादित्याह-- राजेति । आचार्यं दुर्योधनोऽब्रवीदित्येतावतैव निर्वाहे वचनपदं संक्षिप्तबह्वर्थत्वादिबहुगुणविशिष्टे वाक्यविशेषे संक्रमितुं, वचनमात्रमेवाब्रवीन्न तु कंचिदर्थमिति वा ॥ 2 ॥

17 तदेव वाक्यविशेषरूपं वचनमुदाहरति-- पश्यैतामित्यादिना तस्य संजनयन्हर्षमित्यतः प्राक्तनेन । पाण्डवेषु प्रियशिष्येष्वतिस्निग्धहृदयत्वादाचार्यो युद्धं न करिष्यतीति संभाव्य तस्मिन्परेषामवज्ञां विज्ञापयंस्तस्य क्रोधातिशयमुत्पादयितुमाह--

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ 3 ॥

---

15 इस युद्ध में पाण्डवों को दृष्टभय की संभावना भी नहीं है, अदृष्टभय तो अर्जुन को भ्रान्तिवश उत्पन्न हुआ था जिसे भगवान् ने शान्त कर दिया – इस प्रकार 'तु' शब्द से पाण्डवों का उत्कर्ष सूचित किया गया हैं । "आप अपने पुत्रों द्वारा पाण्डवों को राज्य लौटा देने की शङ्का से भी दुखी न हों,"-- इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र को सन्तोष दिलाने के लिए सञ्जय 'दृष्ट्वा' इत्यादि श्लोक से पहले दुर्योधन की दुष्टता का ही वर्णन करता है ।

16 पाण्डु-पुत्रों की अनीक = सेना को व्यूढ = धृष्टद्युम्नादि द्वारा व्यूह रचना से स्थापित देखकर अर्थात् चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञान का विषय बनाकर उस समय अर्थात् संग्राम की तैयारी करते समय दुर्योधन ने आचार्य = धनुर्विद्या सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक 'द्रोण' नामक अपने गुरु के समीप जाकर अर्थात् स्वयं ही उनके समीप जाकर न कि उन्हें अपने समीप बुलाकर यह वचन कहा । इससे दुर्योधन में पाण्डवों की सेना को देखने से उत्पन्न भय को सूचित किया गया है । भय से अपनी रक्षा के लिए उनके समीप जाने पर भी उसने राजनीति में कुशल होने के कारण आचार्य का गौरव रखने के व्याज से अपने भय को छिपा लिया । इसीलिए उसे 'राजा' कहा गया है । यहाँ 'दुर्योधन ने आचार्य से कहा' इतना कहने मात्र से ही निर्वाह संभव होने पर भी 'वचन' पद उसके वाक्य को संक्षिप्तत्व, अनेकार्थत्व आदि गुणों से युक्त बताने के लिए रखा गया है । अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि उसने-वचनमात्र ही कहा, किन्तु अर्थ कुछ भी नहीं कहा ॥ 2 ॥

17 'पश्यैताम्'[21] इत्यादि श्लोक से लेकर 'तस्य संजनयन् हर्षम्'[22] इत्यादि श्लोक से पहले तक के श्लोकों द्वारा दुर्योधन का वह वाक्यविशेषरूप वचन ही कहा जा रहा है । अपने प्रिय शिष्य पाण्डवों के प्रति अत्यन्त स्निग्ध हृदयवान् होने के कारण आचार्य युद्ध नहीं करेंगे-- ऐसी संभावना से 'आचार्य

---

21. गीता, 1.3
22. गीता, 1.12 ।

18 **एतामत्यासन्नत्वेन भवद्विधानपि महानुभावानवगणय्य भयशून्यत्वेन स्थितां पाण्डुपुत्राणां चमूं महतीमनेकाक्षौहिणीसहितत्वेन दुर्निवारां पश्यापरोक्षीकुरु प्रार्थनायां लोट् । अहं शिष्यत्वात्त्वामाचार्यं प्रार्थय इत्याह– आचार्येति । दृष्ट्वा च तत्कृतामवज्ञां स्वयमेव ज्ञास्यसीति भावः ।**

19 **ननु तदीयावज्ञा सोढव्यैवास्माभिः प्रतिकर्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्य तन्निरसनं तव सुकरमेवेत्याह– व्यूढां तव शिष्येणेति । शिष्यापेक्षया गुरोराधिक्यं सर्वसिद्धमेव । व्यूढां तु धृष्टद्युम्नेनेत्यनुक्त्वा द्रुपदपुत्रेणेतिकथनं द्रुपदपूर्ववैरसूचनेन क्रोधोद्दीपनार्थम् । धीमतेति पदमनुपेक्षणीयत्वसूचनार्थम् । व्यासङ्गान्तरनिराकरणेन त्वरातिशयार्थं पश्येति प्रार्थनम्।**

20 **अन्यच्च हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य न तु मम तेषु स्नेहातिशयात् । द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येणेति त्वद्वधार्थमुत्पन्नोऽपि त्वयाऽध्यापित इति तव मौढ्यमेव ममानर्थकारणमिति सूचयति । शत्रोस्तव सकाशात्त्वद्वधोपायभूता विद्या गृहीतेति तस्य धीमत्त्वम् । अत एव तच्चमूदर्शनेनाऽऽनन्दस्तवैव**

के प्रति शत्रुओं (पाण्डवों) की बड़ी अवज्ञा है' -- इस प्रकार सूचित करते हुए उनका अत्यन्त क्रोध उत्पन्न करने के लिए दुर्योधन कहता है--

[आचार्य ! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा व्यूह रचना से स्थापित पाण्डुपुत्रों की इस विशाल सेना को देखिए ।। 3 ।।]

18 आप जैसे महानुभावों की भी अवहेलना करके निर्भीक रूप से खड़ी हुई पाण्डुपुत्रों की इस अत्यन्त समीपवर्तिनी चमू = सेना को, जो महती = अनेक अक्षौहिणी सहित होने के कारण बड़ी कठिनाई से रोकी जा सकती है, आप देखिए = प्रत्यक्ष अवलोकन कीजिए । यहाँ पर प्रार्थना के अर्थ में 'लोट् लकार' का प्रयोग हुआ है । मैं आपका शिष्य होने के कारण आप आचार्य से प्रार्थना करता हूँ-- यह सूचित करने के लिए 'आचार्य' सम्बोधन पद का प्रयोग किया गया है । यहाँ दुर्योधन का अभिप्राय यह है कि इसे देखकर आप स्वयं ही अपने प्रति उन लोगों के द्वारा की गयी अवज्ञा को जान लेंगे ।

19 पुनः आचार्य की ओर से ऐसी आशंका करके कि-- 'हमें उनके द्वारा की गयी अवज्ञा को सहन कर लेना चाहिए क्योंकि हम उनका प्रतिकार करने में असमर्थ हैं'-- दुर्योधन यह सूचित करने के लिए कि उन्हें रोकना आपके लिए सरल ही है,-- कहता है कि -- 'व्यूढां तव शिष्येण'-- 'इसकी व्यूह रचना आपके शिष्य ने की है ।' शिष्य की अपेक्षा गुरु की उत्कृष्टता सर्वसिद्ध ही है । यहाँ ' व्यूहरचना धृष्टद्युम्न ने की है' -- ऐसा न कहकर 'द्रुपदपुत्र ने की है' -- ऐसा कहा गया है । वह द्रुपद से आचार्य के पूर्व वैर को सूचित करके द्रोणाचार्य के क्रोध को उद्दीपित करने के लिए ही कहा गया है । श्लोक के 'धीमता' पद से यह सूचित किया गया है कि धृष्टद्युम्न उपेक्षा करने योग्य नहीं है । 'पश्य' = 'देखिए'-- इस प्रकार की प्रार्थना करने का प्रयोजन यह है कि आप अन्य कार्यों से चित्त हटाकर इस ओर अतिशीघ्र ध्यान दीजिए ।

20 इसके अतिरिक्त यदि 'पाण्डुपुत्राणाम्' पद का 'चमूम्' पद के साथ अन्वय न करके उसका 'आचार्य' पद के साथ अन्वय किया जाय तो इसका यह अर्थ होगा, -- 'हे पाण्डुपुत्रों के आचार्य ! -- मेरे नहीं क्योंकि उन्हीं में आपका अति स्नेह है' । 'आपके शिष्य द्रुपदपुत्र के द्वारा' -- इससे यह अभिव्यञ्जित होता है कि यद्यपि धृष्टद्युम्न आपके वध के लिए ही उत्पन्न हुआ है, फिर भी आपने उसे शस्त्रविद्या

भविष्यति भ्रान्तत्वात्, नान्यस्य कस्यचिदपि यं प्रतीयं प्रदर्शनीयेति त्वमेवैतां पश्येत्याचार्यं प्रति तत्सैन्यं प्रदर्शयन्निगूढं द्वेषं द्योतयति । एवं च यस्य धर्मक्षेत्रं प्राप्याऽऽचार्येऽपीदृशी दुष्टबुद्धिस्तस्य काऽनुतापशङ्का सर्वाभिशङ्कित्वेनातिदुष्टाशयत्वादिति भावः ॥3 ॥

21 **नन्वेकेन द्रुपदपुत्रेणाप्रसिद्धेनाधिष्ठितां चमूमेतामस्मदीयो यः कश्चिदपि जेष्यति किमिति त्वमुत्ताम्यसीत्यत आह– अत्र शूरा इत्यादिभिस्त्रिभिः ।**

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥4॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥5॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥6॥

22 **न केवलमत्र धृष्टद्युम्न एव शूरो येनोपेक्षणीयता स्यात्किं तु अस्यां चम्वामन्येऽपि बहवः शूराः सन्तीत्यवश्यमेव तज्जये यतनीयमित्यभिप्रायः । शूरानेव विशिनष्टि– महेष्वासा इति । महान्तोऽन्यैरप्रधृष्या इष्वासा धनूंषि येषां ते तथा दूरत एव परसैन्यविद्रावणकुशला इति भावः।**

की शिक्षा दी-- यह आपकी मूर्खता ही आज मेरे अनर्थ का कारण हुई है । और आपके शत्रु धृष्टद्युम्न ने आपके समीप रहकर आपसे ही आपके वध की उपायभूता विद्या को ग्रहण किया -- यह उसकी बुद्धिमत्ता है । अतएव भ्रान्त होने के कारण आपको ही उसकी सेना देखकर आनन्द होगा, किसी दूसरे को नहीं, जिसे हम दिखाएँ, अतएव आप ही इसे देखिए-- इस प्रकार आचार्य को पाण्डुपुत्रों की सेना दिखाते हुए दुर्योधन अपना छिपा हुआ द्वेष प्रकट कर रहा है । कहने का अभिप्राय है कि धर्मक्षेत्र में भी आकर जिसकी आचार्य के प्रति भी इस प्रकार की दुष्टतापूर्ण बुद्धि बनी हुई है, उसे अपने अन्याय के लिए पश्चात्ताप होने की क्या आशंका हो सकती है ? क्योंकि सभी की ओर से शंकित होने के कारण उसका हृदय तो अत्यन्त दूषित है ।। 3 ।।

21 यदि आचार्य द्रोण कहें कि द्रुपदपुत्र तो कोई प्रसिद्ध वीर नहीं है, केवल उसी के द्वारा अधिष्ठित इस सेना को तो हमारा कोई भी वीर जीत लेगा, उसके लिए तुम क्यों घबड़ाते हो ? तो इसका उत्तर दुर्योधन 'अत्र शूराः'[23] इत्यादि तीन श्लोकों से देता है –

[इस सेना में युद्धभूमि में महान् धनुष धारण करने वाले भीम तथा अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं, जैसे-- सात्यकि, विराट और महारथी द्रुपद; महान् पराक्रमी धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज; नरश्रेष्ठ पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैव्य ; विक्रमसम्पन्न युधामन्यु तथा वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र-- ये सभी महारथी हैं ।। 4-5-6 ।।]

22 इस सेना में केवल धृष्टद्युम्न ही वीर नहीं है जिससे इसकी उपेक्षा कर दी जाय, अपितु इस सेना में दूसरे भी बहुत से वीर हैं, अतएव इसको पराजित करने का अवश्य ही प्रयास करना चाहिए-- ऐसा दुर्योधन का अभिप्राय है । 'महेष्वासाः' पद से वह वीरों की ही विशेषता बतलाता है-- महान् = दूसरों के द्वारा

23. गीता, 1.4-6

महाधनुरादिमत्त्वेऽपि युद्धकौशलाभावमाशङ्कयाऽऽह— युधि युद्धे भीमार्जुनाभ्यां सर्वसंप्रतिपन्नपराक्रमाभ्यां समास्तुल्याः । तानेवाऽऽह— युयुधान इत्यादिना महारथा इत्यन्तेन । युयुधानः सात्यकिः । द्रुपदश्च महारथ इत्येकः । अथवा युयुधानविराटद्रुपदानां विशेषणं महारथ इति । धृष्टकेतुचेकितानकाशिराजानां विशेषणं वीर्यवानिति । पुरुजित्कुन्तिभोजशैव्यानां विशेषणं नरपुङ्गव इति । विक्रान्तो युधामन्युर्वीर्यवांश्चोत्तमौजा इति द्वौ । अथवा सर्वाणि विशेषणानि समुच्चित्य सर्वत्र योजनीयानि । सौभद्रोऽभिमन्युः । द्रौपदेयाश्च द्रौपदीपुत्राः प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च । चकारादन्येऽपि पाण्ड्यराजघटोत्कचप्रभृतयः । पञ्च पाण्डवास्त्वतिप्रसिद्धा एवेति न गणिताः ।

ये गणिताः सप्तदशान्येऽपि तदीयाः सर्व एव महारथाः सर्वेऽपि महारथा एव नैकोऽपि रथोऽर्धरथो वा । महारथा इत्यतिरथत्वस्याप्युपलक्षणम् । तल्लक्षणं च—

'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः ।
रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ॥4-5-6॥

नियन्त्रण में न आने वाले हैं इष्वास = धनुष जिनके वे योद्धा अर्थात् जो दूर से ही शत्रु की सेना को तितर-बितर कर देने में कुशल हैं-- यह अभिप्राय है । यदि यह शंका करें कि महान् धनुष आदि युद्ध-साम्रगी के रहने पर भी वे युद्ध-कला में कुशल नहीं है; तो इसका उत्तर दुर्योधन देता है कि वे युद्ध में सर्वसम्मत पराक्रम वाले भीम तथा अर्जुन के समान = तुल्य हैं । आगे-- 'युयुधानः' से लेकर 'महारथाः' पर्यन्त ग्रन्थ से उन्हीं वीरों का वर्णन करता है । युयुधान सात्यकि को कहा गया है । 'द्रुपदश्च महारथः' इन दोनो पदों से एक ही वीर को बतलाया गया है । अथवा ' महारथ' पद युयुधान, विराट तथा द्रुपद-- इन तीनों का विशेषण है । धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज-- इन तीनों का विशेषण 'वीर्यवान्' है । पुरुजित्, कुन्तिभोज[24] तथा शैव्य-- इन तीनों का विशेषण 'नरपुंगव' है । किञ्च विक्रान्त युधामन्यु तथा वीर्यवान् उत्तमौजा-- ये दो वीर हैं । अथवा इन सभी विशेषणों को एकसाथ सभी योद्धाओं के साथ लगाना चाहिए । यहाँ 'सौभद्र' पद से अभिमन्यु को कहा गया है । 'द्रौपदेयाः' पद से द्रौपदी के प्रतिबिन्ध्य, श्रुतसेन, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतकर्मा-- पाँच पुत्र कहे गए हैं । ''द्रौपदेयाश्च'' पद के 'चकार' से पाण्ड्यराज, घटोत्कच आदि अन्य वीर कहे गए हैं । पाँच पाण्डव तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही हैं, अतएव उनकी गणना यहाँ नहीं की गयी है ।

यहाँ जो सत्रह वीर गिनाए गये हैं तथा उनके साथ अन्य भी बहुत से वीर हैं वे सभी महारथी हैं, अर्थात् सबके सब महारथी ही हैं, उनमें से कोई भी रथी अथवा अर्धरथी नहीं हैं । 'महारथाः' पद अतिरथी का भी उपलक्षण है । इनके लक्षण इस प्रकार हैं-- 'जो अकेला ही दस हजार धनुर्धारियों से युद्ध करे

---

24. 'पुरुजित्कुन्तिभोज'-- पद से दो पुरुषों के नामों की अभिव्यक्ति नहीं होती, यह एक ही पुरुष का नाम प्रतीत होता है, क्योंकि जिस कुन्तिभोज राजा को कुन्ती गोद दी गई थी, पुरुजित् उसका औरस पुत्र था और कुन्तिभोज उसके कुल का नाम है, इसीलिए उसे 'पुरुजित्कुन्तिभोज' कहा जाता था । महाभारत के उद्योगपर्व के एक सौ उनहत्तरवें अध्याय के दूसरे श्लोक से लेकर पाचवें श्लोक तक युद्ध के ही सन्दर्भ में 'पुरुजित्-कुन्तिभोज' नाम का उल्लेख एक वचन में ही हुआ है । वहाँ यह भी वर्णन है कि वह युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन का मामा था ।

23 यद्येवं परबलमतिप्रभूतं दृष्ट्वा भीतोऽसि हन्त तर्हि संधिरेव परैरिष्यतां किं विग्रहाग्रहेणेत्याचार्याभिप्रायमाशङ्क्याऽऽह–

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ! ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥7॥

24 तुशब्देनान्तरुत्पन्नमपि भयं तिरोदधानो धृष्टतामात्मनो द्योतयति । अस्माकं सर्वेषां मध्ये ये विशिष्टाः सर्वेभ्यः समुत्कर्षजुषस्तान्मयोच्यमानान्निबोध निश्चयेन मद्वचनादवधारयेति भौवादिकस्य परस्मैपदिनो बुधे रूपम् ।
ये च मम सैन्यस्य नायका मुख्या नेतारस्तान्संज्ञार्थमसंख्येषु तेषु मध्ये कतिचिन्नामभिर्गृहीत्वा परिशिष्टानुपलक्षयितुं ते तुभ्यं ब्रवीमि न त्वज्ञातं किंचिदपि तव ज्ञापयामीति द्विजोत्तमेति विशेषणेनाऽऽचार्यं स्तुवन्स्वकार्ये तदाभिमुख्यं संपादयति । दौष्ट्यपक्षे द्विजोत्तमेति ब्राह्मणत्वात्तावद्युद्धाकुशलस्त्वं तेन त्वयि विमुखेऽपि भीष्मप्रभृतीनां क्षत्रियप्रवराणां सत्त्वान्नास्माकं महती क्षतिरित्यर्थः ।
संज्ञार्थमिति प्रियशिष्याणां पाण्डवानां चमूं दृष्ट्वा हर्षेण व्याकुलमनसस्तव स्वीयवीरविस्मृतिर्मा भूदिति ममेयमुक्तिरिति भावः ॥7॥

तथा शस्त्रविद्या में कुशल हो, वह 'महारथी' कहलाता है और जो अगणित योद्धाओं से युद्ध करे उसे 'अतिरथी' कहते हैं । जो केवल एक सहस्र योद्धाओं से युद्ध करे उसे 'रथी कहते हैं और जो इससे कम योद्धाओं से युद्ध करने वाला है वह अर्द्धरथी कहलाता है' ॥ 4-5-6 ॥

23 'यदि ऐसा है कि तुम शत्रु की अत्यधिक सेना को देखकर डर गए हो तो फिर उनसे सन्धि ही कर लो, युद्ध के लिए हठ करने से क्या लाभ है,' -- इस प्रकार से आचार्य द्रोण के अभिप्राय की आशंका करके दुर्योधन कहता है –
[हे द्विजोत्तम ! हमारे तो जो भी विशिष्ट योद्धा हैं, उन्हें भी आप समझ लीजिए । और आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो-जो नायक हैं, उन्हें भी आपको बतलाता हूँ ॥7॥]

24 यहाँ 'तु' शब्द से दुर्योधन अपने भीतर उत्पन्न हुए भय को छिपाकर अपनी धृष्टता ही व्यक्त करता है । हम सभी के बीच में जो विशिष्ट = सभी की अपेक्षा में उत्कृष्ट योद्धा हैं, उन सभी को मैं कह रहा हूँ । मेरे कहने से आप उन्हें निश्चय ही वैसा ही समझें । 'निबोध' पद 'नि' उपसर्ग पूर्वक भ्वादिगण की परस्मैपदी 'बुध्' धातु का रूप है ।
और मेरी सेना के जो-जो नायक = मुख्य नेता हैं उन असंख्यों में से कुछ वीरों का नाम लेकर संज्ञार्थ = शेष सभी को उपलक्षित कराने के लिए मैं आपको बतलाता हूँ । मैं आपको कोई ऐसा योद्धा नहीं बता रहा हूँ जिसे आप जानते नहीं हैं । 'द्विजोत्तम' इस विशेषण से आचार्य की प्रशंसा करके वह उन्हें अपने कार्य के प्रति अभिमुख करना चाहता है । यदि उसकी दुष्टता का पक्ष ग्रहण करें तो 'द्विजोत्तम' विशेषण से यह भी अर्थ होगा कि आप ब्राह्मण होने से युद्ध में कुशल नहीं हैं, अतएव आप यदि युद्ध से विमुख भी हो जायँ तो भी भीष्म आदि क्षत्रियश्रेष्ठों के रहते हुए हमारी कोई बड़ी क्षति नहीं होगी ।
'संज्ञार्थम्' पद का यह भी अभिप्राय है कि अपने प्रिय शिष्य पाण्डवों की सेना को देखकर आप हर्षातिरेक के कारण बेसुध होकर अपने पक्ष के वीरों को न भूल जायँ-- इसीलिए मैं यह कह रहा हूँ ॥7॥

25 तत्र विशिष्टान्गणयति–

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥8 ॥

26 **भवान्द्रोणो भीष्मः कर्णः कृपश्च । समितिं सङ्ग्रामं जयतीति समितिंजय इति कृपविशेषणं कर्णादनन्तरं गण्यमानत्वेन तस्य कोपमाशङ्क्य तन्निरासार्थम् । एते चत्वारः सर्वतो विशिष्टाः । नायकान्गणयति– अश्वत्थामा द्रोणपुत्रः । भीष्मापेक्षयाऽऽचार्यस्य प्रथमगणनवद्विकर्णाद्यपेक्षया तत्पुत्रस्य प्रथमगणनमाचार्यपरितोषार्थम् । विकर्णः स्वभ्राता कनीयान् । सौमदत्तिः सोमदत्तस्य पुत्रः श्रेष्ठत्वाद्भूरिश्रवाः । जयद्रथः सिन्धुराजस्तथैव चेति क्वचित्पाठः ॥8॥**

27 **किमेतावन्त एव नायका नेत्याह—**

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥9॥

28 **अन्ये च शल्यकृतवर्मप्रभृतयो मदर्थे मत्प्रयोजनाय जीवितमपि त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थेन त्यक्तजीविता इत्यनेन स्वस्मिन्ननुरागातिशयस्तेषां कथ्यते । एवं स्वसैन्यबाहुल्यं तस्य स्वस्मिन्भक्तिः शौर्यं युद्धोद्योगो युद्धकौशलं च दर्शितं शूरा इत्यादिविशेषणैः ॥9॥**

---

25 दुर्योधन अपने पक्ष के विशिष्ट योद्धाओं को गिनाता है :–
[आप, भीष्म, कर्ण, संग्रामजयी कृपाचार्य-- ये विशिष्ट योद्धा हैं । तथा अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्ति और जयद्रथ-- ये मुख्य सेनानायक हैं ॥8॥]

26 आप द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण तथा कृप । समिति अर्थात् संग्राम को जो जीते वह 'समितिंजय' । 'समितिंजय' कृपाचार्य का विशेषण है । कर्ण के पश्चात् गिने जाने के कारण कृपाचार्य के क्रोध की आशंका करके उनके क्रोध के निरासार्थ कृपाचार्य को 'समितिंजय' विशेषण दिया गया है । ये चारों सर्वतः विशिष्ट वीर हैं ।
इसके पश्चात् वह सेना–नायकों की गणना करता है । अश्वत्थामा = द्रोण का पुत्र । जैसे भीष्म की अपेक्षा आचार्य को पहले गिना था वैसे ही विकर्ण की अपेक्षा उनके पुत्र को आचार्य की प्रसन्नता के लिए पहले गिना है । विकर्ण मेरा छोटा भाई है । सौमदत्ति = सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा है । अपने पिता के ही समान श्रेष्ठ होने के कारण उसे 'सौमदत्ति' कहा गया है । तथा सिन्धुराज जयद्रथ । कहीं कहीं पर 'जयद्रथ' के स्थान पर 'तथैव च' – यह पाठ मिलता है ॥8॥

27 क्या इतने ही नायक हैं ? -- ऐसी आशंका होने पर कहता है – नहीं ।
[इनके अतिरिक्त दूसरे भी बहुत से वीर हैं, जो मेरे लिए प्राण त्याग देने को तैयार हैं । अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित वे सभी युद्धकला में बड़े प्रवीण हैं ॥9॥]

28 शल्य, कृतवर्मा आदि दूसरे भी अनेक वीर मेरे लिए = मेरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने प्राणों को भी त्याग देने का निश्चय किए हुए हैं । इस प्रकार 'त्यक्तजीविताः' -- इस पद से दुर्योधन उनका अपने में अनुरागातिशय बतला रहा है । इसी प्रकार 'शूराः' इत्यादि विशेषणों से उसने

29 राजा पुनरपि सैन्यद्वयसाम्यमाशङ्क्य स्वसैन्याधिक्यमावेदयति–

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥10॥

30 अपर्याप्तमनन्तमेकादशाक्षौहिणीपरिमितं भीष्मेण च प्रथितमहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिनाऽभितः सर्वतो रक्षितं तत्तादृशगुणवत्पुरुषाधिष्ठितमस्माकं बलम् । एतेषां पाण्डवानां बलं तु पर्याप्तं परिमितं सप्ताक्षौहिणीमात्रात्मकत्वान्न्यूनं भीमेन चातिचपलबुद्धिना रक्षितं तस्मादस्माकमेव विजयो भविष्यतीत्यभिप्रायः ।

31 अथवा तत्पाण्डवानां बलमपर्याप्तं नालमस्माकमस्मभ्यम् । कीदृशं तद्भीष्मोऽभिरक्षितोऽस्माभिर्यस्मै यन्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः । तत्पाण्डवबलं भीष्माभिरक्षितम् । इदं पुनरस्मदीयं बलमेतेषां पाण्डवानां पर्याप्तं परिभवे समर्थम् । भीमोऽतिदुर्बलहृदयोऽभिरक्षितो यस्मै तदस्माकं बलं भीमाभिरक्षितम् । यस्माद्भीमोऽत्ययोग्य एवैतन्निवृत्त्यर्थं तै रक्षितस्तस्मादस्माकं न किंचिदपि भयकारणमस्तीत्यभिप्रायः ॥10 ॥

32 एवं चेन्निर्भयोऽसि तर्हि किमिति बहु जल्पसीत्यत आह–

अपनी सेना की बहुलता, अपने प्रति उसकी भक्ति, शूरता, युद्ध के लिए उद्योग तथा युद्ध की कुशलता को सूचित किया है ।।9।।

29 राजा दुर्योधन फिर भी यह आशङ्का करके कि आचार्य कहीं दोनों सेनाओं को एक समान ही न समझ लें अपनी सेना की अधिकता को सूचित करता है–
[हमारी सेना असीमिति है और सब ओर से भीष्म द्वारा सुरक्षित है तथा इन पाण्डवों की सेना तो सीमित और भीम द्वारा सुरक्षित है ।।10।।]

30 हमारी यह सेना अपर्याप्त = अनन्त अर्थात् ग्यारह अक्षौहिणी से परिमित तथा प्रख्यात प्रभाव वाले सूक्ष्मबुद्धि भीष्म द्वारा अभितः = सब ओर से सुरक्षित है । अर्थात् हमारी सेना इस प्रकार के गुणवान् पुरुष द्वारा अधिष्ठित है । इन पाण्डवों की सेना तो पर्याप्त अर्थात् परिमित है । संख्या में मात्र सात अक्षौहिणी वाली होने के कारण छोटी है । किञ्च वह अत्यन्त चंचल बुद्धिवाले भीम द्वारा सुरक्षित है । अतएव अभिप्राय यह है कि हमारी ही विजय होगी ।

31 अथवा यह पाण्डवों की सेना हमारे पराभव के लिए अपर्याप्त = असमर्थ है । कैसी है यह ? जिसके लिए = जिसकी निवृत्ति के लिए हमने भीष्म को सुरक्षित रखा है । अतः यह पाण्डवों की सेना भीष्माभिरक्षित है । और हमारी जो यह सेना हैं वह इन पाण्डवों के लिए पर्याप्त है अर्थात् इन पाण्डवों का पराभव करने में समर्थ है; क्योंकि इसके लिए उन्होंने अत्यन्त दुर्बल हृदय वाले भीम को सुरक्षित रखा है, अतएव हमारी यह सेना भीमाभिरक्षित है । क्योंकि उन्होंने इसकी निवृत्ति के लिए अत्यन्त अयोग्य भीम को सुरक्षित रखा है, अतएव हमारे लिए भय का कोई भी कारण नहीं है – यह दुर्योधन के कहने का अभिप्राय है ।।10।।

32 "यदि तुम इस प्रकार से निर्भय हो तो फिर इतनी अधिक बातें क्यों करते हो ?" – ऐसा यदि आचार्य कहें तो दुर्योधन कहता है –

अयनेषु तु सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ॥
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥11 ॥

33 **कर्तव्यविशेषद्योती तुशब्दः । समरसमारम्भसमये योधानां यथाप्रधानं युद्धभूमौ पूर्वापरादिदिग्विभागेनावस्थितिस्थानानि यानि नियम्यन्ते तान्यत्रायनान्युच्यन्ते । सेनापतिश्च सर्वसैन्यमधिष्ठाय मध्ये तिष्ठति । तत्रैवं सति यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्यावस्थिताः सन्तो भवन्तः सर्वेपि युद्धाभिनिवेशात्पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्चानिरीक्षमाणं भीष्मं सेनापतिमेव रक्षन्तु । भीष्मे हि सेनापतौ रक्षिते तत्प्रसादादेव सर्वं सुरक्षितं भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥11॥**

34 **स्तौतु वा निन्दतु वा, एतदर्थे देहः पतिष्यत्येवेत्याशयेन तं हर्षयन्नेव सिंहनादं [विनद्य] शङ्खवाद्यं च कारि (वादि) तवानित्याह—**

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥12॥

35 **एवं पाण्डवसैन्यदर्शनादतिभीतस्य भयनिवृत्त्यर्थमाचार्यं कपटेन शरणं गतस्येदानीमप्ययं मां प्रतारयतीत्यसंतोषवशादाचार्येण वाङ्मात्रेणाप्यनादृतस्याऽऽचार्योपेक्षां बुद्ध्वाऽयनेष्वित्यादिना भीष्ममेव स्तुवतस्तस्य राज्ञो भयनिवर्तकं हर्षं बुद्धिगतमुल्लासविशेषं स्वविजयसूचकं जनयन्नुच्चैर्महान्तं सिंहनादं विनद्य कृत्वा, यद्वा सिंहनादमिति णमुलन्तम् । अतो रैपोषं पुष्णातीतिवत्तस्यैव धातोः पुनः प्रयोगः । शङ्खं दध्मौ वादितवान् ।**

[तो आप सभी लोग सभी मोर्चों पर अपने-अपने विभाग के अनुसार स्थित रहते हुए सब ओर से भीष्म की ही रक्षा करें ॥11॥]

33 श्लोक का 'तु' शब्द कर्तव्यविशेष का द्योतक है । युद्ध प्रारम्भ होने के समय योद्धाओं की प्रधानता के अनुसार युद्ध-भूमि में पूर्व-पश्चिमादि दिशाओं के विभाग से स्थित रहने के जो स्थान निश्चित किए जाते हैं उन्हें यहाँ 'अयन' कहा गया है । सेनापति सम्पूर्ण सेना पर अधिष्ठित होकर बीच में रहता है । इस प्रकार युद्ध-भूमि में अपने-अपने विभाग के अनुसार विभक्त अपने-अपने रणक्षेत्र का त्याग किए बिना वहीं स्थित होकर आप सभी लोग युद्ध में एकनिष्ठ हो जाने के कारण आगे, पीछे और अगल-बगल न देखने वाले सेनापति भीष्म की ही रक्षा करें । अभिप्राय यह है कि सेनापति भीष्म के सुरक्षित रहने पर उनकी कृपा से ही सब कुछ सुरक्षित रहेगा ॥ 11॥

34 'यह मेरी स्तुति करे अथवा निन्दा, इस दुर्योधन के लिए मेरा देहपात होगा ही', – इस आशय से उस दुर्योधन को हर्षित करते हुए ही सिंह के समान गर्जना करके भीष्म ने शंखनाद किया – इसी अर्थ को कहते हैं –

[कौरवों में वृद्ध, प्रतापी, पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह के समान गर्जना करके शंख बजाया ॥12॥]

35 इस प्रकार पाण्डवों की सेना को देखने से अत्यन्त भयभीत; भय की निवृति के लिए कपट से आचार्य की शरण में गए हुए; 'इस समय भी यह मुझे प्रवंचित कर रहा है'– इस प्रकार के

कुरुवृद्धत्वादाचार्यदुर्योधनयोरभिप्रायपरिज्ञानं, पितामहत्वादनुपेक्षणं न त्वाचार्यवदुपेक्षणं, प्रतापवत्त्वादुच्चैः सिंहनादपूर्वकशङ्खवादनं परेषां भयोत्पादनाय।
अत्र सिंहनादशङ्खवाद्ययोर्हर्षजनकत्वेन पूर्वापरकालत्वेऽप्यभिचरन्यजेतेतिवज्जनयन्निति शताऽवश्यंभावित्वरूपवर्तमानत्वे व्याख्यातव्यः ॥12॥

असंतोष के कारण आचार्य की वाणी मात्र से भी अनादृत; आचार्य के द्वारा की जाने वाली अपनी उपेक्षा को जानकर, 'अयनेषु' इत्यादि वाक्य के द्वारा भीष्म की ही प्रशंसा करने वाले उस राजा दुर्योधन के भय को निवृत्त करने वाले हर्ष को अर्थात् बुद्धिगत उल्लास विशेष को, जो उसके विजय का सूचक था, उत्पन्न करते हुए, उच्चस्वर से सिंह के समान गर्जना करके पितामह ने शंख बजाया। अथवा 'सिंहनादम्'[25] – यह 'णमुल्' प्रत्ययान्त शब्द है। अतः 'रैपोषं पुष्णाति' वाक्य में जिस प्रकार 'पुष्' धातु से 'णमुल्' प्रत्ययान्त 'पोषम्' शब्द के पश्चात् उस 'पुष्' धातु का पुनः प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार 'सिंहनादं विनद्य' में भी 'सिंहनादं विनदति' इस अर्थ में 'णमुल्' प्रत्ययान्त 'नादम्' शब्द के पश्चात् पुनः 'नद्' धातु का प्रयोग हुआ है।

कौरवों में वृद्ध होने के कारण भीष्मपितामह को आचार्य और दुर्योधन के अभिप्राय का पूर्णरूप से ज्ञान था; पितामह होने के कारण उनमें दुर्योधन के प्रति अनुपेक्षा थी, न कि आचार्य के समान उपेक्षा, तथा प्रतापी होने के कारण उन्होंने शत्रुओं में भय उत्पन्न करने के लिए उच्चस्वर से सिंहनाद-पूर्वक शंख बजाया।

यहाँ सिंहनाद तथा शंखवाद्य के हर्षोत्पादक होने के कारण पहले सिंहनाद तथा शंखनाद होना चाहिए, उसके पश्चात् हर्ष को उत्पन्न होना चाहिए, फिर भी 'अभिचरन् यजेत्' अर्थात् अभिचार करते हुए अर्थात् अभिचार करने के लिए यजन करे,-- यह जैसे प्रयोग होता है, वैसे ही हर्षरूप फल की अवश्यंभाविता को सूचित करने के लिए वर्तमान के रूप में 'संजनयन्'[26] 'शतृ' प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग हुआ है ॥12॥

25. श्लोक के 'सिंहनादं विनद्य' पदों में से 'सिंहनादम्' 'णमुल्' प्रत्ययान्त पद है। 'कषायादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (पाणिनिसूत्र 3.4.46) सूत्र के अनुसार जिस धातु से 'णमुल्' किया जाता है, उसी 'धातु' का पुनः प्रयोग किया जाता है, अतएव यहाँ भी 'सिंहनादम्' णमुलन्त पद में नद्' धातु के प्रयोग के अनन्तर 'विनद्य' पद में 'नद्' धातु का पुनः प्रयोग किया गया है। और 'सिंहनादम्' पद में 'उपमाने कर्मणि च' (पाणिनिसूत्र 3.4.45) सूत्र से 'नद्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय किया गया है, क्योंकि 'सिंहनादम्' में 'सिंह' उपमान है, अतएव 'सिंहनादं विनद्य' का अर्थ होगा – 'सिंह इव विनद्य' अर्थात् 'सिंह के समान गर्जना करके'। किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने 'सिंहनादं विनद्य' पदों में से 'सिंहनादम्' पद में 'णमुल्' प्रत्यय का प्रयोग 'रैपोषं पुष्णाति' वाक्य में प्रयुक्त 'णमुलन्त' पद 'रैपोषम्' के समान कहा है। जो कि उचित नहीं है, क्योंकि 'रैपोषं पुष्णाति' में 'स्वे पुषः' (पाणिनि सूत्र 3.4.40) सूत्र से 'रैपोषम्' पद में 'णमुल्' प्रत्यय होता है। 'स्वे पुषः' – सूत्र का अर्थ है – 'स्व' – अर्थवाचक शब्दों के साथ 'पुष्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है। 'स्व' के पर्याय हैं – 'रै' 'धन' इत्यादि। अतः 'णमुलन्त' पद हुए – 'रैपोषं' और 'धनपोषं'। 'कषायादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' सूत्र से जिस धातु से 'णमुल्' किया जाता है, उसी धातु का पुनः प्रयोग करने पर वाक्य प्रयोग होंगे – 'रैपोषं पुष्णाति' और 'धनपोषं पुष्णाति' जिनका अर्थ होगा – 'राया पुष्णाति' और 'धनेन पुष्णाति' अर्थात् धन से पोषण करता है। इन प्रयोगों में 'उपमाने कर्मणि च' सूत्र से 'पुष्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय करने पर यदि 'रैपोषं पुष्णाति'= 'रा इव पुष्णाति' और 'धनपोषं पुष्णति' = 'धनमिव पुष्णाति' वाक्य प्रयोग किये जाते हैं तो 'स्वे पुषः' पाणिनिसूत्र की निरर्थकता सिद्ध होगी। अतः 'गूढार्थदीपिका' में 'रैपोषं पुष्णातीतिवत्' के स्थान पर होना चाहिए था – 'घृतनिधायं निहितं जलमितिवत्', 'अजकनाशं नष्ट इतिवत्' इत्यादि।

26. श्लोक के 'संजनयन्हर्षम्' पदों में से 'संजनयन्' शतृ-प्रत्ययान्त शब्द है। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पाणिनि सूत्र 3.2.126) के अनुसार क्रिया की किसी विशेषता का बोध कराने के लिए और किसी क्रिया के हेतु = फल और कारण बतलाने के लिए शतृ और शानच् वर्तमानकालिक प्रत्ययों का प्रयोग होता है। यहाँ 'संजनयन्' पद में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'जन्' धातु से 'हर्ष' रूप फल की अवश्यंभाविता को सूचित करने के लिए ही 'शतृ' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। इसी सूत्रार्थ की पुष्टि करने वाला 'गूढार्थदीपिका' में 'अभिचरन् यजेत' उदाहरण दिया गया है जिसका भी अर्थ होता है कि 'अभिचार' रूप फल के लिए यजन करे।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥13॥

36 **ततो भीष्मस्य सेनापतेः प्रवृत्त्यनन्तरं पणवा आनका गोमुखाश्च वाद्यविशेषाः सहसा तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त वादिताः । कर्मकर्तरि प्रयोगः । स शब्दस्तुमुलो महानासीत्तथाऽपि न पाण्डवानां क्षोभो जात इत्यभिप्रायः ॥13 ॥**

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥14॥

37 **अन्येषामपि रथस्थत्वे स्थित एवासाधारण्येन रथोत्कर्षकथनार्थं ततः श्वेतैर्हयैर्युक्त इत्यादिना रथस्थत्वकथनं, तेनाग्निदत्ते दुष्प्रधृष्ये रथे स्थितौ सर्वथा जेतुमशक्यावित्यर्थः ॥14॥**

[इसके पश्चात् सहसा ही शंख, भेरी, पणव, आनक तथा गोमुख बज उठे । उनका वह शब्द भीषण हुआ ॥13॥]

36 इसके पश्चात् अर्थात् सेनापति भीष्म की प्रवृत्ति = सिंहनादपूर्वक शंखध्वनि करने के पश्चात् सहसा = तत्क्षण ही पणव, आनक, तथा गोमुख नामक वाद्यविशेष बज उठे = बजाये गए । यहाँ 'अभ्यहन्यन्त'[27] = 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु का प्रयोग कर्मकर्ता में हुआ है । वह शब्द भीषण (तुमुल) = महान् था, फिर भी पाण्डवों के मन में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ -- यह श्लोक का अभिप्राय है ॥13॥

[इसके पश्चात् सफेद घोड़ों वाले महान् रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ने अपने-अपने दिव्य शंखों को बजाया ॥14॥]

37 अन्य योद्धाओं के रथ में बैठे रहने पर भी अर्जुन के रथ का असाधारणरूप से उत्कर्ष बतलाने के लिए 'ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते' इत्यादि श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण तथा अर्जुन की रथस्थता बतलायी गयी है । अतएव अग्नि द्वारा प्रदत्त, कठिनाई से नियन्त्रण में आने वाले रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पूर्णरूप से अजेय हैं, -- यही श्लोक का अभिप्राय है ॥14॥

---

27. श्लोक में 'अभ्यहन्यन्त' पद कर्मकर्तृप्रक्रिया का प्रयोग है । जब कर्म को ही कर्त्ता कहना अभीष्ट हो अर्थात् सौकर्यातिशय बतलाने के लिए प्रसिद्ध कर्त्ता के व्यापार की अविवक्षा करके कर्म को ही अपने व्यापार में स्वतंत्र मानकर कर्त्ता बना दिया जाय तब सकर्मक धातुओं के भी अकर्मक हो जाने से सामान्य नियम 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (पाणिनि सूत्र 3.4.69) से लकार कर्त्ता या भाव में होते हैं और जो क्रिया कर्म अवस्था में होती है वही कर्तृ अवस्था में भी होती है, इसलिए कर्त्ता कर्मस्थ क्रिया से तुल्यक्रियावाला होता है, वहाँ कर्मवद्भाव होता है, तथा कर्मवद्भाव होने से 'सार्वधातुके यक्' (पाणिनि सूत्र 3.1.6) और 'भावकर्मणोः' (पाणिनि सूत्र 1.3.13) सूत्रों से धातु से 'यक्' और आत्मनेपद के प्रत्यय होते हैं –यही कर्मकर्तृप्रक्रिया है । यहाँ भी 'शंङ्खाश्च.... अभ्यहन्यन्त' वाक्य में 'शंङ्ख'आदि पहले 'कर्म थे – " सैनिकाः शंङ्खादीन् अभ्यघ्नन्" । सौकर्यातिशय बतलाने के लिए कर्म शङ्खादि को कर्त्ता बनाकर उसमें लकार होकर 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (पाणिनि सूत्र 3.1.87) के अनुसार कर्मवद्भाव हुआ है और कर्मवद्भाव होने से 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु से 'यक्' प्रत्यय और आत्मनेपद होने पर 'अभ्यहन्यन्त' लङ्लकार के प्रथम पुरुष बहुवचन का कर्मकर्तृप्रक्रिया रूप प्रयुक्त हुआ है ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥15॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥16॥

38 **पाञ्चजन्यो देवदत्तः पौण्ड्रोऽनन्तविजयः सुघोषो मणिपुष्पकश्चेति शङ्खनामकथनं परसैन्ये स्वस्वनामभिः प्रसिद्धा एतावन्तः शङ्खा भवत्सैन्ये तु नैकोऽपि स्वनामप्रसिद्धः शङ्खोऽस्तीति परेषामुत्कर्षातिशयकथनार्थम् ।**

39 **सर्वेन्द्रियप्रेरकत्वेन सर्वान्तर्यामी सहायः पाण्डवानामिति कथयितुं हृषीकेशपदम् । दिग्विजये सर्वान् राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति सर्वथैवायमजेय इति कथयितुं धनञ्जयपदम् । भीमं हिडिम्बवधादिरूपं कर्म यस्य तादृशो वृकोदरत्वेन बह्वन्नपाकादतिबलिष्ठो भीमसेन इति कथितम् । कुन्तीपुत्र इति कुन्त्या महता तपसा धर्ममाराध्य लब्धः । स्वयं च राजसूययाजित्वेन मुख्यो राजा । युधि चायमेव जयभागित्वेन स्थिरो न त्वेतद्विपक्षाः स्थिरा भविष्यन्तीति युधिष्ठिरपदेन सूचितम् । नकुलः सुघोषं सहदेवो मणिपुष्पकं दध्मावित्यनुषज्यते ॥15-16॥**

[श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख को बजाया । कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख को तथा नकुल एवं सहदेव ने क्रमशः सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शखों को बजाया ॥15-16॥]

38 पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष एवं मणिपुष्पक -- ये शंखों के नाम कहें गए हैं । 'शत्रुओं की सेना में, अपने-अपने नाम से प्रसिद्ध इतने शंख हैं, किन्तु आपकी सेना में तो अपने नाम से प्रसिद्ध एक भी शंख नहीं हैं,' इस प्रकार शत्रुओं (पाण्डवों) के उत्कर्षातिशय कथन के लिए, उनके शंखों के अलग-अलग नाम कहे गए हैं ।

39 समस्त इन्द्रियों के प्रेरक होने के कारण सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के सहायक हैं -- इस अर्थ को बतलाने के लिए श्रीकृष्ण के लिए 'हृषीकेश' पद का प्रयोग किया गया है । अर्जुन दिग्विजय में सभी राजाओं को जीतकर धन लाया था, अतएव वह सर्वथैव अजेय है – इस अर्थ को बतलाने के लिए 'धनञ्जय' पद का प्रयोग हुआ है । भीम = भयंकर = हिडिम्बासुर के वध आदि रूप कर्म हैं जिसके ऐसा भीमकर्मा भीमसेन वृकोदरता[28] के कारण बहुत-सा अन्न पचा सकने से अत्यन्त बलिष्ठ कहा गया है । 'कुन्तीपुत्र' विशेषण से यह तात्पर्य है कि कुन्ती ने महती तपस्या से धर्म की आराधना करके युधिष्ठिर को पुत्ररूप में प्राप्त किया था । स्वयं भी राजसूय यज्ञ करने के कारण ये मुख्य राजा हैं । तथा युद्ध में ये ही जय के भागी होने के कारण स्थिर होंगे, न कि

28. 'वृकोदर' पद भीमसेन का पर्याय है । जिसकी व्युत्पत्ति है – 'वृकः वृकनामकोऽग्निरुदरे यस्य' अर्थात् वृक = वृक नामक अग्नि है उदर में जिसके, वह 'वृकोदर' है । 'वृक' नामक उदराग्नि बहुत से भुक्त अन्न को पचा देती है । बहुत-सा अन्न पचा सकने का सामर्थ्य भीमसेन में था, अतएव उसे 'वृकोदर' कहा जाता है । मत्स्य-पुराण में कहा है –

"यस्य तीक्ष्णो वृको नाम जठरे हव्यवाहनः ।
मया दत्तः स धर्मात्मा तेन चासौ वृकोदर ॥(69.14)

(भगवान् ने कहा – मेरी दी हुई 'वृक' नामक तीक्ष्ण अग्नि इसके उदर में है, अतः इस धर्मात्मा को 'वृकोदर' कहते हैं ।)

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥17॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥18॥

40 परमेष्वासः काश्यो महाधनुर्धरः काशिराजः । न पराजितः पारिजातहरणबाणयुद्धा - दिमहासङ्ग्रामेषु एतादृशः सात्यकिः । हे पृथिवीपते धृतराष्ट्र स्थिरो भूत्वा शृण्वित्यभिप्रायः । सुगममन्यत् ॥ 17-18 ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥19॥

41 धार्तराष्ट्राणां सैन्ये शङ्खादिध्वनिरतितुमुलोऽपि न पाण्डवानां क्षोभकोऽभूत् । पाण्डवानां सैन्ये जातस्तु स शङ्खघोषो धार्तराष्ट्राणां धृतराष्ट्रस्य तव संबन्धिनां सर्वेषां भीष्मद्रोणादीनामपि हृदयानि व्यदारयत्, हृदयविदारणतुल्यां व्यथां जनितवानित्यर्थः । यतस्तुमुलोऽतितीव्रो नभश्च पृथिवीं च प्रतिध्वनिभिरापूरयन् ॥ 19 ॥

42 धार्तराष्ट्राणां भयप्राप्तिं प्रदर्श्य पाण्डवानां तद्वैपरीत्यमुदाहरति–

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥20 ॥

इनके विपक्षी स्थिर होंगे, यही 'युधिष्ठिर' पद से सूचित किया गया है । नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंखों को बजाया; –इस प्रकार इनका सम्बन्ध लगाना चाहिए ॥15-16॥

[महान् धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अपराजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, और महाबाहु अभिमन्यु -- इन सभी ने, हे पृथ्वीपति ! अलग-अलग शंख बजाए ॥17-18॥

40 'परमेष्वासः काश्यः' का अर्थ है -- महान् धनुर्धर काशिराज । पारिजातहरण, बाणासुर-संग्राम आदि महान् संग्रामों में भी जो पराजित नहीं हुआ वह सात्यकि । हे पृथिवीपते = हे धृतराष्ट्र ! आप स्थिर होकर सुनें, -- यह सञ्जय के कहने का अभिप्राय है । शेष सब सुगम है ॥17-18॥

[आकाश तथा पृथिवी को अत्यधिक निनादित करते हुए उस शब्द ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को फाड़ दिया ॥19॥]

41 धार्तराष्ट्रों की सेना में हुई शंख आदि की ध्वनि भी अत्यधिक भीषण थी फिर भी उससे पाण्डवों को क्षोभ नहीं हुआ । किन्तु पाण्डवों की सेना में जो शंख की ध्वनि हुई, उसने धार्तराष्ट्रों के अर्थात् धृतराष्ट्र से संबन्ध रखने वाले आप, भीष्म, द्रोण आदि सभी के हृदयों को फाड़ दिया । अर्थात् उसने उनमें हृदय फटने के समान व्यथा उत्पन्न कर दी, क्योंकि वह तुमुल = अतितीव्र ध्वनि थी । अतएव उसने अपनी प्रतिध्वनि से आकाश और पृथिवी को भर दिया ॥19॥

42 धृतराष्ट्र पक्ष के वीरों की भयप्राप्ति दिखाकर अब 'अथ'--इत्यादि श्लोकों से पाण्डवों की इससे विपरीत स्थिति दिखाते हैं ---

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥21॥

43 **भीतिप्रत्युपस्थितेरनन्तरं पलायने प्राप्तेऽपि तद्विरुद्धतया युद्धोद्योगेनावस्थितानेव परान्प्रत्यक्षेणोपलभ्य तदा शस्त्रसंपाते प्रवर्तमाने सति, वर्तमाने क्तः, कपिध्वजः पाण्डवो हनूमता महावीरेण ध्वजरूपतयाऽनुगृहीतोऽर्जुनः सर्वथा भयशून्यत्वेन युद्धाय गाण्डीवं धनुरुद्यम्य हृषीकेशमिन्द्रियप्रवर्तकत्वेन सर्वान्तःकरणवृत्तिज्ञं श्रीकृष्णमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाहोक्तवान्न त्वविमृश्यकारितया स्वयमेव यत्किंचित्कृतवानिति परेषां विमृश्यकारित्वेन नीतिधर्मयोः कौशलं वदन्नविमृश्यकारितया परेषां राज्यं गृहीतवानसीति नीतिधर्मयोरभावात्तव जयो नास्तीति महीपत इति संबोधनेन सूचयति ।**

तदेवार्जुनवाक्यमवतारयति-- सेनयोरुभयोः स्वपक्षप्रतिपक्षभूतयोः संनिहितयोर्मध्ये मम रथं स्थापय स्थिरीकुर्विति सर्वेश्वरो नियुज्यतेऽर्जुनेन । अनेन किं हि भक्तानामशक्यं यद्भगवानपि तन्नियोगमनुतिष्ठतीति ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति सूचयति ।

[राजन्! इसके पश्चात् कौरव पक्ष के वीरों को युद्ध के लिए सुसज्जित देखकर जब शस्त्र चलाने का समय आया ही था कि पाण्डुपुत्र कपिध्वज अर्जुन ने अपना धनुष उठाकर श्रीकृष्ण से यह वाक्य कहा । अर्जुन ने कहा -- हे अच्युत ! आप दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को खड़ा कर दीजिए ॥20-21॥]

43 यद्यपि भय उत्पन्न होने के पश्चात् पलायन करना चाहिए, फिर भी उसके विरुद्ध युद्ध के लिए तत्पर शत्रुओं को साक्षात् खड़े हुए देख तब शस्त्र-सञ्चालन का समय आने पर--'प्रवृत्ते'[29] पद में वर्तमान अर्थ में 'क्त' प्रत्यय हुआ है -- कपिध्वज पाण्डव ने अर्थात् महावीर हनुमान् द्वारा ध्वजारूप से अनुगृहीत अर्जुन ने पूर्णरूप से भयरहित होने के कारण युद्ध के लिए गाण्डीव नामक धनुष को उठाकर हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के प्रवर्तक होने के कारण सभी के अन्तःकरण की वृत्तियों को जानने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को यह आगे कहे जाने वाला वाक्य कहा । अर्जुन बिना विचार किए हुए कार्य करने वाला नहीं था, अतः उसने स्वयं ही जो कुछ नहीं किया । इस प्रकार विपक्षी पाण्डवों के विचारपूर्वक कार्य करने से उनके नीति और धर्म में कौशल को बतलाकर 'महीपते' सम्बोधन पद से सञ्जय यह सूचित करता है कि आपने बिना विचारपूर्वक उन शत्रुओं का राज्य ले लिया है, अतः नीति और धर्म के अभाव के कारण आपकी विजय नहीं हो सकती ।
अब अर्जुन के उसी वाक्य को प्रस्तुत करता है -- दोनों सेनाओं के बीच में अर्थात् स्वपक्ष--प्रतिपक्ष रूप से आमने-सामने खड़ी हुई दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को आप खड़ा कर दीजिए--इस प्रकार अर्जुन सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को आज्ञा दे रहा है । इससे यह सूचित होता है कि पाण्डवों की विजय निश्चित है, क्योंकि जब भगवान् भी भक्तों की आज्ञा का पालन करते हैं, तो उन भक्तों के लिए क्या अशक्य होता है ? अर्थात् कुछ भी अशक्य नहीं होता ।

29. 'प्रवृत्ते' पद 'क्त' प्रत्ययान्त है । यहाँ 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (पाणिनि सूत्र, 3.2.188) सूत्र से 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'वृत्' धातु से वर्तमानकाल के अर्थ में 'क्त' प्रत्यय हुआ है ।

नन्वेवं रथं स्थापयन्तं मामेते शत्रवो रथाच्यावयिष्यन्तीति भगवदाशङ्कामाशङ्क्याऽऽह– अच्युतेति। देशकालवस्तुष्वच्युतं त्वां को वा च्यावयितुमर्हतीति भावः। एतेन सर्वदा निर्विकारत्वेन नियोगनिमित्तः कोपोऽपि परिहृतः ॥20-21॥

44 मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमाह—

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥22॥

45 योद्धुकामान्न त्वस्माभिः सह सन्धिकामानवस्थितान्न तु भयात्प्रचलितान्, एतान्भीष्मद्रोणादीन्यावद्गत्वाऽहं निरीक्षितुं क्षमः स्यां तावत्प्रदेशे रथं स्थापयेत्यर्थः। यावदिति कालपरं वा।

ननु त्वं योद्धा न तु युद्धप्रेक्षकः, अतस्तव किमेषां दर्शनेनेत्यत्राऽऽह— कैरिति। अस्मिन्रणसमुद्यमे बन्धूनामेव परस्परं युद्धोद्योगे मया कैः सह योद्धव्यं मत्कर्तृकयुद्धप्रतियोगिनः के कैर्मया सह योद्धव्यं किंकर्तृकयुद्धप्रतियोग्यहमिति च महदिदं कौतुकमेतज्ज्ञानमेव मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमित्यर्थः ॥22॥

46 ननु बन्धव एते परस्परं सन्धिं कारयिष्यन्तीति कुतो युद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—

यदि भगवान् यह आशङ्का करें कि 'इस प्रकार रथ को खड़ा करने से ये शत्रु मुझे रथ से गिरा देंगे,' तो अर्जुन उन्हें सम्बोधित करते हुए कहता है -- हे अच्युत ! अर्थात् आप तो किसी भी देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद में न गिरने वाले हैं, अतः आप को कौन गिरा सकता है। ऐसा कहकर अर्जुन ने सर्वदा निर्विकार रहने वाले भगवान् के आज्ञा देने के कारण होने वाले क्रोध को भी दूर कर दिया ॥20-21॥

44 दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा करने का प्रयोजन बतलाते हुए अर्जुन कहता है --
[जब तक मैं युद्ध करने की इच्छा से खड़े हुए इन योद्धाओं को देख लूँ और यह निश्चय कर लूँ कि इस युद्ध के समारंभ में मुझे किनके साथ युद्ध करना है ॥22॥]

45 युद्ध की कामना वाले, न कि हमारे साथ सन्धि की कामना वाले तथा युद्धभूमि में अवस्थित, न कि भय के कारण पलायन करने वाले, इन भीष्म-द्रोण आदि को जब तक मैं देख सकूँ तब तक उस स्थान पर रथ को खड़ा कर दीजिए। अथवा 'यावत्' पद का अर्थ 'जब तक' - ऐसा कालपरक करना चाहिए।

यदि भगवान् कहें कि 'तुम तो योद्धा हो, न कि युद्धप्रेक्षक; अतएव इन सभी को देखने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ?' तो अर्जुन उत्तर देता है-- 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' इत्यादि। इस युद्ध के समारम्भ में = बन्धुओं के ही इस पारस्परिक युद्धोद्योग में मुझे किनके साथ युद्ध करना होगा ? अर्थात् मेरे द्वारा किए हुए युद्ध के प्रतियोगी कौन होंगे ? और किन्हें मेरे साथ युद्ध करना होगा ? अर्थात् किनके द्वारा किए हुए युद्ध का मैं प्रतियोगी होऊंगा ? यह महान् कौतुक है। इसका ज्ञान ही दोनों सेनाओं के बीच में रथ स्थापित करने का प्रयोजन है। यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है ॥ 22॥

46 यदि भगवान् आशङ्का करें कि 'ये तो भाई-भाई हैं, आपस में सन्धि कर लेंगे तो फिर युद्ध कहाँ' ? तो अर्जुन कहता है --

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥23॥

47 **य एते भीष्मद्रोणादयो धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य दुर्बुद्धेः स्वरक्षणोपायमजानतः प्रियचिकीर्षवो युद्धे न तु दुर्बुद्ध्यपनयनादौ तान्योत्स्यमानानहमवेक्ष उपलभे न तु सन्धिकामान् । अतो युद्धाय तत्प्रतियोग्यवलोकनमुचितमेवेति भावः ॥23॥**

48 **एवमर्जुनेन प्रेरितो भगवानहिंसारूपं धर्ममाश्रित्य प्रायशो युद्धात्तं व्यावर्तयिष्यतीति धृतराष्ट्राभिप्रायमाशङ्क्य तं निराचिकीर्षुः संजयो धृतराष्ट्रं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः —**

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥24॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥25॥

49 **हे भारत ! धृतराष्ट्र ! भरतवंशमर्यादामनुसंधायापि द्रोहं परित्यज ज्ञातीनामिति संबोधनाभिप्रायः । गुडाकाया निद्राया ईशेन जितनिद्रतया सर्वत्र सावधानेनार्जुनेनैवमुक्तो भगवानयं मद्भृत्योऽपि सारथ्ये**

[यहाँ युद्ध में जो दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय करने की इच्छा से एकत्रित हुए हैं उन युद्ध के लिए उद्यत वीरों को मैं देखूँगा ॥23॥

47 जो ये भीष्म-द्रोण आदि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन, जो दुर्बुद्धि है अर्थात् अपनी रक्षा के उपाय को नहीं जानता है, का युद्ध में प्रिय करने की इच्छा वाले हैं, न कि उसकी दुर्बुद्धि को दूर करने में उसका प्रिय करने वाले हैं, उन युद्ध करने की इच्छा वालों को ही मैं देखूँगा; न कि सन्धि की कामना वालों को । अतएव युद्ध के लिए अपने प्रतियोगियों (प्रतिभटों) को देखना उचित ही है, -- यह अर्जुन का भाव है ॥23॥

48 'इस प्रकार अर्जुन से प्रेरित होने पर भगवान् प्रायः अहिंसारूपी धर्म को अपनाकर उसे युद्ध करने से रोकेंगे,' ऐसे धृतराष्ट्र के अभिप्राय की आशङ्का करके उसका निराकरण करने की इच्छा से संजय ने धृतराष्ट्र से कहा -- यह बात वैशम्पायन कहते हैं --
[संजय ने कहा -- हे भारत ! अर्जुन के ऐसा कहने पर भगवान् कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म, द्रोण तथा सभी राजाओं के सम्मुख उस श्रेष्ठ रथ को खड़ा करके कहा, -- हे पार्थ ! युद्ध के लिए एकत्रित इन कौरवों को देखो ॥24-25॥]

49 हे भारत = धृतराष्ट्र ! यहाँ 'भारत' सम्बोधन पद से अभिप्राय यह है कि आप अपने भरतवंश की मर्यादा का अनुसंधान (विचार) करके भी अपने बान्धवों के प्रति द्रोह का परित्याग कर दें । गुडाका अर्थात् निद्रा के ईश अर्थात् जिसने निद्रा को जीत लिया है ऐसे सर्वत्र सावधान अर्जुन के द्वारा इस प्रकार से कहे जाने पर भी भगवान् ने उसका यह दोष समझकर कि मेरा सेवक होने पर भी यह मुझे सारथी के कार्य में नियुक्त किए हुए है, न तो उस पर क्रोध किया और न उन्होंने उसे युद्ध करने से रोका । किन्तु दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म और द्रोण के प्रमुख = सम्मुख तथा सभी राजाओं के

मां नियोजयतीति दोषमासज्य नाकुप्यत्, न वा तं युद्धान्न्यवर्तयत्किंतु सेनयोरुभयोर्मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतस्तयोः प्रमुखे संमुखे सर्वेषां महीक्षितां च संमुखे, आद्यादित्वात्सार्वविभक्तिकस्तसिः । चकारेण समासनिविष्टोऽपि प्रमुखतः शब्द आकृष्यते । भीष्मद्रोणयोः पृथक्कीर्तनमतिप्राधान्यसूचनाय । रथोत्तममग्निना दत्तं दिव्यं रथं भगवता स्वयमेव सारथ्येनाधिष्ठिततया च सर्वोत्तमं स्थापयित्वा हृषीकेशः सर्वेषां निगूढाभिप्रायज्ञो भगवानर्जुनस्य शोकमोहावुपस्थिताविति विज्ञाय सोपहासमर्जुनमुवाच ।

50 **हे पार्थ पृथायाः स्त्रीस्वभावेन शोकमोहग्रस्ततया तत्संबन्धिनस्तवापि तद्वत्ता समुपस्थितेति सूचयन्हृषीकेशत्वमात्मनो दर्शयति । पृथा मम पितुः स्वसा तस्याः पुत्रोऽसीति संबन्धोल्लेखेन चाऽऽश्वासयति । मम सारथ्ये निश्चितो भूत्वा सर्वानपि समवेतान्कुरून्युयुत्सून्पश्य निःशङ्कतयेति दर्शनविध्यभिप्रायः । अहं सारथ्येऽतिसावधानस्त्वं तु सांप्रतमेव रथित्वं त्यक्ष्यसीति किं तव परसेनादर्शनेनेत्यर्जुनस्य धैर्यमापादयितुं पश्येत्येतावत्पर्यन्तं, भगवतो वाक्यम् । अन्यथा रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयामासेत्येतावन्मात्रं ब्रूयात् ॥24-25॥**

सम्मुख उस श्रेष्ठ रथ को, जो अग्नि द्वारा प्रदत्त दिव्यरथ था तथा जो सारथी रूप से स्वयं भगवान् द्वारा अधिष्ठित होने के कारण सर्वोत्तम रथ था, खड़ा करके हृषीकेश ने अर्थात् सभी के हृदयस्थ निगूढ (गुप्त) अभिप्राय को जानने वाले भगवान् ने यह जानकर कि अर्जुन के शोक और मोह उपस्थित हो गए हैं, उपहासपूर्वक अर्जुन से कहा । 'प्रमुख' शब्द आद्यादिगण का होने के कारण उसमें सार्वविभक्तिक 'तसिः' प्रत्यय होने पर 'प्रमुखतः'[30] शब्द निष्पन्न हुआ है । यद्यपि 'प्रमुखतः' शब्द 'भीष्म-द्रोण' के साथ समस्त है, फिर भी 'सर्वेषां च महीक्षिताम्' इस पदसमूह में जो 'च'कार है उसके कारण इसे वहाँ से खींच लिया जाता है । भीष्म और द्रोण का अन्य सभी राजाओं से पृथक् उल्लेख उनकी अत्यन्त प्रधानता सूचित करने के लिए है ।

50 'हेपार्थ !' इस सम्बोधन से यह सूचित करके कि 'स्त्री-स्वभाव होने के कारण जैसे पृथा शोक-मोह से ग्रस्त है उसी प्रकार उससे सम्बन्ध रखने वाले तुझ में भी तद्वत्ता अर्थात् शोक-मोहग्रस्तता उपस्थित हो गई है -- भगवान् अपने हृषीकेशत्व[31] = 'हृषीक' -- इन्द्रियों के 'ईशत्व' -- स्वामित्व को दिखलाते हैं । और 'पृथा मेरे पिता की बहन है, तुम उसके पुत्र हो' -- इस संबन्ध के उल्लेख से उसे आश्वासन भी देते हैं । भगवान् की इस दर्शनविधि का अभिप्राय यह है कि मेरे सारथ्य में निश्चित होकर तू युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए इन सभी कौरवों को निःशङ्क होकर देख । मैं तो सारथी का कार्य करने में अत्यन्त सावधान हूँ , किन्तु तू अभी रथी का धर्म त्याग देगा । अतः तुझे इस शत्रु की सेना को देखने से क्या लाभ होगा ? इस अभिप्राय से अर्जुन को धैर्य बँधाने के लिए ही 'पश्य' यहाँ तक भगवान् का वाक्य है । अन्यथा 'दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा कर दिया' इतना मात्र ही कहा जाता ।।24-25।।

---

30. 'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वार्तिक 3339) वार्तिक के अनुसार आद्यादिगण (आकृतिगण) के शब्दों के उत्तरवर्ती सार्वविभक्तिक 'तसिः' = 'तस्' प्रत्यय होता है , जैसे – आदितः = आदि + तसिः = तस् = आदौ = आदि में । इसी प्रकार 'प्रमुखतः' पद 'प्रमुख' शब्द के आद्यादिगण का होने के कारण उसमें सार्वविभक्तिक 'तसिः' प्रत्यय होने पर निष्पन्न हुआ है । जिसका अर्थ है – प्रमुखतः = प्रमुखे = सम्मुखे ।

31. वाराह–पुराण में कहा है –

हृषीकाणि नियम्याहं यतः प्रत्यक्षतां गतः ।
हृषीकेश इति ख्यातो नाम्ना तत्रैव संस्थितः ।। (146-64)

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥26॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

51 तत्र समरसमारम्भार्थं सैन्यदर्शने भगवताऽभ्यनुज्ञाते सति सेनयोरुभयोरपि स्थितान्पार्थोऽपश्यदित्यन्वयः । अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः । परसेनायां पितॄन्पितृव्यान्भूरिश्रवःप्रभृतीन्पितामहान्भीष्मसोमदत्तप्रभृतीनाचार्यान्द्रोणकृपप्रभृतीन्मातुलाञ्शल्यशकुनिप्रभृतीन्भ्रातॄन् दुर्योधनप्रभृतीन्पुत्राल्लँक्ष्मणप्रभृतीन्पौत्राल्लँक्ष्मणादिपुत्रान्सखीनश्वत्थामजयद्रथप्रभृतीन्वयस्यान्, श्वशुरान्भार्याणां जनयितॄन्, सुहृदो मित्राणि कृतवर्मभगदत्तप्रभृतीन् । सुहृद इत्यनेन यावन्तः कृतोपकारा मातामहादयश्च ते द्रष्टव्याः । एवं स्वसेनायामप्युपलक्षणीयम् ॥ 26-27अ ॥

52 एवं स्थिते 'महानधर्मो हिंसे'ति विपरीतबुद्ध्या मोहाख्यया शास्त्रविहितत्वेन धर्मत्वमितिज्ञानप्रतिबन्धकेन च ममकारनिबन्धनेन चित्तवैक्लव्येन शोकाख्येनाभिभूतविवेकस्यार्जुनस्य पूर्वमारब्धाद्युद्धाख्यात्स्वधर्मादुपरिरंसा महानर्थपर्यवसायिनी वृत्तेति दर्शयति–

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥27॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

[तब अर्जुन ने वहाँ उन दोनों ही सेनाओं में स्थित अपने पिता (चाचा-ताऊ), पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर तथा सुहृदों को देखा ।।26-27अ ।।]

51 तब युद्ध आरम्भ करने की दृष्टि से भगवान् की सेना को देखने के लिए आज्ञा हो जाने पर 'अर्जुन ने दोनों ही सेनाओं में स्थित योद्धाओं को देखा' -- इस प्रकार श्लोक का अन्वय करना चाहिए । श्लोक में 'अथ' शब्द 'तथा' शब्द का पर्याय है । उसने शत्रुओं की सेना में पिताओं अर्थात् भूरिश्रवा आदि चाचाओं; भीष्म, सोमदत्त आदि पितामहों; द्रोण, कृप आदि आचार्यों; शल्य, शकुनि आदि मामाओं, दुर्योधन आदि भाइयों; लक्ष्मण (दुर्योधन के पुत्र) आदि पुत्रों, पौत्रों अर्थात् लक्ष्मण आदि के पुत्रों; सखाओं अर्थात् अश्वत्थामा, जयद्रथ आदि समवयस्कों; श्वसुरों अर्थात् पत्नियों के पिताओं तथा सुहृदों अर्थात् कृतवर्मा, भगदत्त आदि मित्रों को देखा । 'सुहृद्' -- शब्द से जितने भी उपकार करने वाले हैं, उन सभी मातामह आदि को समझना चाहिए । इसी प्रकार अपनी सेना में भी समझना चाहिए ।।26-27 अ ।।

52 ऐसा होने पर 'हिंसा महान् अधर्म है' ऐसी 'मोह' नामक विपरीत बुद्धि से तथा 'शास्त्र--विहित होना ही धर्म है' -- इस ज्ञान की प्रतिबन्धक ममता से उत्पन्न होने वाली 'शोक' नामक चित्त की विकलता से अर्जुन की विवेक -- शक्ति अभिभूत हो गई और उसमें पहले से ही प्रारम्भ किए हुए युद्ध नामक स्वधर्म से उपराम होने की महान् अनर्थकारिणी इच्छा उत्पन्न हो गई --यही आगे दिखलाते हैं --

---

"वराह भगवान् ने कहा – इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके प्रत्यक्षता प्राप्त कर लेने के कारण मुझे 'हृषीकेश' नाम से पुकारते है" ।

नारदपंचरात्र (5.8.17) में भी 'हृषीकेश' की यह व्युत्पत्ति दी है –हृषीकाणाम् = इन्द्रियों का, ईशः = स्वामी ।

53 **कौन्तेय इति स्त्रीप्रभवत्वकीर्तनं पार्थवत्तात्त्विकमूढतामपेक्ष्य कृपया कर्त्र्या स्वव्यापारेणैवाऽऽविष्टो व्याप्तो न तु कृपां केनचिद्व्यापारेणाऽऽविष्ट इति स्वतः सिद्धैवास्य कृपेति सूच्यते । एतत्प्रकटीकरणाय परयेति विशेषणम् । अपरयेति वा छेदः । स्वसैन्ये पुराऽपि कृपाऽभूदेव तस्मिन्समये तु कौरवसैन्येऽप्यपरा कृपाऽभूदित्यर्थः । विषीदन्विषादमुपतापं प्राप्नुवन्नब्रवीदित्युक्तिविषादयोः समकालतां वदन्सगद्गदकण्ठताश्रुपातादि विषादकार्यमुक्तिकाले द्योतयति ॥ 27 ब - 28 अ ॥**

54 **तदेव भगवन्तं प्रत्यर्जुनवाक्यमवतारयति संजयोऽर्जुन उवाचेत्यादिना, 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । तत्र स्वधर्मप्रवृत्तिकारणीभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकः स्वपरदेह आत्मात्मीयाभिमानवतोऽनात्मविदोऽर्जुनस्य युद्धेन स्वपरदेहविनाशप्रसङ्गदर्शिनः शोको महानासीदिति तल्लिङ्गकथनेन दर्शयति त्रिभिः श्लोकैः--**

[अर्जुन उन सभी बन्धुओं को युद्ध के लिए खड़ा देखकर अत्यन्त करुणा से युक्त होकर विषाद करते हुए यह बोला ।।27ब -- 28 अ ।।]

53 यहाँ 'कौन्तेय' (कुन्त्याः अपत्यं पुमान्) शब्द से अर्जुन का स्त्री से उत्पन्न होने का उल्लेख पच्चीसवें श्लोक के 'पार्थ' शब्द के समान उसकी तात्त्विकी मूढता को दिखलाने के लिए है । 'कृपयाऽऽविष्टः' पदसमूह से तात्पर्य हैं -- कृपारूप कर्त्री के अपने व्यापार से ही आविष्ट अर्थात् व्याप्त होकर, न कि अपने किसी व्यापार से कृपा को व्याप्त कर । इससे यह सूचित होता है कि अर्जुन की कृपा स्वतःसिद्धा[32] थी । इसी अर्थ को प्रकट करने के लिए कृपा का विशेषण 'परया' दिया गया है । अथवा 'कृपयापरया' का पदच्छेद 'कृपया + अपरया'--यह करना चाहिए । इसका अभिप्राय यह होगा कि अपनी सेना पर तो उसकी पहले से ही कृपा थी उस समय दूसरी कृपा कौरवों की सेना पर भी हुई । 'विषीदन्' का अर्थ है -- विषाद करते हुए अर्थात् विषाद = संताप को प्राप्त करते हुए बोला -- इस प्रकार अर्जुन के कथन और विषाद की समकालता को बतलाते हुए सञ्जय कथन के समय कण्ठ की गद्गदता और अश्रुपात आदि विषाद के कार्यों को भी सूचित करता है ।।27ब - 28अ।।

54 अब संजय 'अर्जुन उवाच' -- यहाँ से लेकर 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये' इत्यादि श्लोक से पूर्वतक के ग्रन्थ से भगवान् के प्रति अर्जुन के उस वाक्य का ही उल्लेख करता है । इसमें तीन श्लोकों से शोक के

---

32 यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने श्लोक के 'आविष्टः' 'क्त' प्रत्ययान्त पद के प्रयोग से कृपा को कर्त्ता और कर्म के रूप में प्रस्तुत करके 'कृपा के आवेश' से सम्बंधित दो प्रकार की सम्भावनाएँ व्यक्त की हैं -- (1) क्या अर्जुन को कृपारूप कर्त्री ने अपने व्यापार से व्याप्त किया (कृपया आविष्टः) ? अथवा (2) क्या अर्जुन ने कृपा को अपने किसी व्यापार से व्याप्त किया (कृपामाविष्टः) ? जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अर्जुन को ही कृपा-रूप कर्त्री ने अपने व्यापार से व्याप्त किया, क्योंकि अर्जुन के हृदय में वह कृपा स्वतःसिद्ध या स्वाभाविक या अनादि थी, न कि आगन्तुक । आगन्तुक कृपा तो किन्हीं दुःखी व्यक्तियों को देखकर उनके दुःखनिवारण के लिए उत्पन्न होती है, जबकि स्वतःसिद्ध या स्वाभाविक या अनादि कृपा ममतारूप अनादि भाव से ही उत्पन्न होती है । यहाँ अर्जुन के हृदय में युद्धेच्छु अपने बन्धुवर्ग को देखकर ममता जागी है और उसके फलस्वरूप उस ममता ने ही उसके हृदय में कृपाभाव = स्नेहभाव = प्रेमभाव को जन्म दिया है -- अतः यही भाव प्रासङ्गिक है और उचिततर है । हाँ, यदि युद्धेच्छु दुःखी होते तो अर्जुन के हृदय में आगन्तुक कृपा जन्म लेती और अर्थ होता कि 'अर्जुन ने कृपा को अपने व्यापार से व्याप्त किया' । किन्तु युद्धेच्छु तो युद्ध-समारम्भ में भावी विजय-कल्पना से प्रफुल्लित थे । अतः अर्जुन के हृदय में आगन्तुक कृपा नहीं थी, अपितु स्वतःसिद्ध या स्वाभाविक या अनादि कृपा ही थी । यही भाव मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ अभिव्यक्त किया है ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥28॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥29॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥30 ॥

55 **इमं स्वजनमात्मीयं बन्धुवर्गं युद्धेच्छुं युद्धभूमौ चोपस्थितं दृष्ट्वा स्थितस्य मम पश्यतो ममेत्यर्थः । अङ्गानि व्यथन्ते । मुखं च परिशुष्यतीति श्रमादिनिमित्तशोषापेक्षयाऽतिशयकथनाय सर्वतोभाववाचिपरिशब्दप्रयोगः ।**

वेपथुः = कम्पः । रोमहर्षः = पुलकितत्वम् । गाण्डीवभ्रंशेनाधैर्यलक्षणं दौर्बल्यं त्वक्परिदाहेन चान्तःसंतापो दर्शितः । अवस्थातुं शरीरं धारयितुं च न शक्नोमीत्यनेन मूर्च्छा सूच्यते । तत्र हेतुः-- मम मनो भ्रमतीवेति । भ्रमणकर्तृसादृश्यं नाम मनसः कश्चिद्विकारविशेषो मूर्च्छायाः पूर्वावस्था । चो हेतौ । यत एवमतो नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः ॥ 28ब-30॥

चिह्नों का वर्णन करते हुए यह दिखाता है कि अपने शरीर में आत्मत्व तथा दूसरों के शरीरों में आत्मीयत्व का अभिमान रखने वाले अनात्मज्ञ अर्जुन को युद्ध से अपने तथा दूसरों के शरीरों के नाश का प्रसंग देखकर स्वधर्म में प्रवृति होने के कारणभूत तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्धक महान् शोक हुआ ।

[अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण ! युद्ध के इच्छुक अपने इस स्वजन समुदाय को यहाँ उपस्थित देखकर मेरे अङ्गो में पीड़ा हो रही है और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प और रोमाञ्च हो रहा है । हाथ से गाण्डीव छूटा जा रहा है, और त्वचा में सर्वत्र दाह हो रहा है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिए मैं खड़ा नहीं रह सकता ।।28ब-29-30।।]

55 इस स्वजन समुदाय को = अपने बन्धुवर्ग को युद्ध के लिए इच्छुक तथा युद्धभूमि में उपस्थित देखकर यहाँ स्थित मेरे अर्थात् इन सभी देखने वाले मेरे अङ्गों में पीड़ा हो रही है । और मुख सूखा जा रहा है – इस प्रकार यहाँ श्रम आदि के कारण होने वाले शोक की अपेक्षा अधिक शोक बतलाने के लिए 'परिशुष्यति परिदह्यते' – इन क्रिया पदों में शोषण और दाह की सब ओर सत्ता सूचित करने के लिए 'परि' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

वेपथु का अर्थ कम्प है । रोमहर्ष का अर्थ रोमाञ्च है । गाण्डीव के छूटने से अधैर्य को सूचित करने वाली दुर्बलता तथा त्वचा के परिदाह से आन्तरिक सन्ताप दिखाए गए हैं । मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ अर्थात् मैं अपने शरीर को स्थिर नहीं रख सकता हूँ -- इस कथन मे मूर्च्छा सूचित होती है । उस मूर्च्छा का कारण है – मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है । 'किसी घूमने वाली वस्तु के समान होना' मन का कोई विकार विशेष है, जो मूर्च्छा की पूर्वावस्था है । 'भ्रमतीव च' पदसमुदाय में 'चकार' हेत्वर्थक है । क्योंकि मेरा मन ऐसा हो रहा है, अतः मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ -- यह अर्जुन के कहने का अभिप्राय है ।।28ब-29-30।।

56 पुनरप्यवस्थानासामर्थ्ये कारणमाह—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनु पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥31॥

57 **निमित्तानि च सूचकतयाऽऽसन्नदुःखस्य विपरीतानि वामनेत्रस्फुरणादीनि पश्यामि अनुभवामि । अतोऽपि नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः । अहमनात्मवित्त्वेन दुःखित्वाच्छोकनिबन्धनं क्लेशमनुभवामि त्वं तु सदानन्दरूपत्वाच्छोकासंसर्गीति कृष्णपदेन सूचितम् । अतः स्वजनदर्शने तुल्येऽपि शोकासंसर्गित्वलक्षणाद्विशेषात्त्वं मामशोकं कुर्विति भावः ।**
केशवपदेन च तत्करणसामर्थ्यं को ब्रह्मा सृष्टिकर्ता, ईशो रुद्रः संहर्ता तौ वात्यनुकम्प्यतया गच्छतीति तद्व्युत्पत्तेः । भक्तदुःखकर्षित्वं वा कृष्णपदेनोक्तं केशवपदेन च केश्यादिदुष्टदैत्यनिबर्हणेन सर्वदा भक्तान्पालयसीत्यतो मामपि शोकनिवारणेन पालयिष्यसीति सूचितम् ।

---

56 शरीर को स्थिर रखने में अपने असामर्थ्य के कारण को अर्जुन पुनः कहता है --
[हे केशव ! मैं विपरीत फल के सूचक अपशकुनों को भी देख रहा हूँ, तथा युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर भी मुझे कोई कल्याण नहीं दिखाई देता ॥31 ॥]

57 मैं समीपवर्ती दुःख के सूचक वाएँ नेत्र के स्फुरण आदि विपरीत निमित्त-अपशकुनों को भी देख रहा हूँ अर्थात् उनका अनुभव कर रहा हूँ । इसलिए भी मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ । अट्ठाइसवें (ब) श्लोक में उक्त 'कृष्ण'[33] सम्बोधन पद से यह सूचित किया गया है कि मैं तो अनात्मज्ञ होने के कारण दुःखी होने से शोकजनित क्लेश का अनुभव कर रहा हूँ, किन्तु आप तो सदानन्द स्वरूप हैं, इसलिए आपका शोक से संसर्ग ही नहीं हो सकता । अतः तात्पर्य यह है कि हम दोनों को स्वजनदर्शन समान रूप से होने पर भी आपमें जो शोक से संसर्ग न होने रूप विशेषता है उससे आप मुझे भी शोकरहित कर दीजिए ।
'केशव' पद से भगवान् में ऐसा करने का सामर्थ्य सूचित किया गया है । क्योंकि 'केशव'[34] इस पद की व्युत्पत्ति है-- 'क' अर्थात् सष्टिकर्ता ब्रह्मा, और 'ईश' अर्थात् संहारकर्ता रुद्र-इन दोनों के प्रति जो 'वाति' अर्थात् अनुकम्पा होने के कारण जाता है, उसे 'केशव' कहते हैं । अथवा 'कृष्ण'[35] पद से भक्तों के दुःखों को खींचने का स्वभाव बतलाया गया है तथा 'केशव'[36] पद से यह सूचित किया गया है कि आप केशी आदि दुष्ट दैत्यों का विनाश करके सर्वदा भक्तों की रक्षा करते हैं । अतएव शोक दूर करके मेरी भी रक्षा करेंगे ।

---

33. श्रीधर स्वामी ने 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति की है–
"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥"
अर्थात् 'कृष्ण' शब्द में 'कृष्' सत्ता का वाचक है और 'ण' आनन्द का वाचक है । सत्ता और आनन्द -- उन दोनों का एकतारूप परब्रह्म 'कृष्ण' कहा जाता है। इस प्रमाण के अनुसार भी कृष्ण सदानन्दस्वरूप हैं ।
34. 'केशव' पद की व्युत्पत्ति है -- 'कः ब्रह्मा, ईशः रुद्रः तौ आत्मनि स्वरूपे वयति, प्रलये उपाधिरूपमूर्तित्रयं मुक्त्वा एकमात्रपरमात्मस्वरूपेणावतिष्ठते इति केशवः'-- अर्थात् जो क = ब्रह्मा तथा ईश = रुद्र– दोनों को आत्म-स्वरूप में धारण करता है और प्रलय में उपाधिरूप मूर्तित्रय का त्याग करके एकमात्र परमात्म-स्वरूप में अवस्थित रहता

एवं लिङ्गद्वारेण समीचीनप्रवृत्तिहेतुभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकीभूतं शोकमुक्त्वा संप्रति तत्कारितां विपरीतप्रवृत्तिहेतुभूतां विपरीतबुद्धिं दर्शयति– श्रेयः पुरुषार्थं दृष्टमदृष्टं वा बहुविचारणादनु पश्चादपि न पश्यामि अस्वजनमपि युद्धे हत्वा श्रेयो न पश्यामि ।

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः' ॥

इत्यादिना हतस्यैव श्रेयोविशेषाभिधानात् । हन्तुस्तु न किंचित्सुकृतम् । एवमस्वजनवधेऽपि श्रेयसोऽभावे स्वजनवधे सुतरां तदभाव इति ज्ञापयितुं स्वजनमित्युक्तम् । एवमनाहववधे श्रेयो नास्तीतिसिद्धसाधनवारणायाऽऽहव इत्युक्तम् ॥31॥

58 ननु मा भूददृष्टं प्रयोजनं दृष्टप्रयोजनानि तु विजयो राज्यं सुखानि च निर्विवादानीत्यत आह —

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥32॥

इस प्रकार संकेत द्वारा समीचीन प्रवृत्ति के कारणभूत तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक शोक को बतलाकर अब उससे की हुई विपरीत प्रवृत्ति की हेतुभूत विपरीत बुद्धि को दिखाता है,– मैं बहुत विचारने के अनु = बाद भी कोई श्रेय अर्थात् दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी भी प्रकार का पुरुषार्थ नहीं देखता हूँ। स्वजनों मे भिन्न जनों को भी युद्ध में मारकर मैं किसी प्रकार का श्रेय नहीं देखता हूँ। क्योंकि 'इस लोक में दो प्रकार के ही पुरुष सूर्यमण्डल का भेदन करते हैं, (1) योगयुक्त परिव्राजक (संन्यासी) और (2) जो युद्ध में सम्मुख लड़ते हुए मारा जाय' -- इत्यादि प्रमाण से भी युद्ध में मरने वाले के लिए ही श्रेयविशेष का कथन किया गया है, मारने वाले के लिए तो कोई भी पुण्य नहीं बताया। इस प्रकार अस्वजनों को मारने पर भी श्रेय का अभाव है तो स्वजनों को मारने पर तो निश्चित रूप से श्रेय का अभाव होगा, -- इस अर्थ को सूचित करने के लिए 'स्वजनों को' -- यह कहा गया है। इसी प्रकार युद्ध के बिना मारने में श्रेय नहीं है -- इस प्रकार के सिद्ध साधन की निवृत्ति के लिए 'आहवे' (युद्ध में) ऐसा कहा गया है ॥31॥

58 यदि कहें कि न हो कोई अदृष्ट प्रयोजन, विजय, राज्य और सुख--दृष्ट प्रयोजन तो निर्विवाद सिद्ध है; तो इसके उत्तर में अर्जुन कहता है --

[हे कृष्ण ! मैं न विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखों को ही। हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है ? अथवा भोगों तथा जीवन से भी क्या लाभ है ? ॥ 32 ॥]

है, वह 'केशव' है। 'त्रयः केशिनः' – इस श्रुति-वाक्य के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव – इन तीनों शक्तियों को 'केश' कहते हैं, और केशवान् को 'केशव' कहते हैं। हरिवंश-पुराण में भी कहा है –

'को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ।
आवां तवांशसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान् ॥'

35. 'कर्षति पापानि शरणागतानाम् = कृष्णः' – अर्थात् जो शरणागत भक्तों के पापों-दुःखों को खींचता हैं, वह 'कृष्ण' है। कहा भी है–

'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र ! महापातककोटयः ॥'

36. 'केशं केशिनं वाति हन्ति = केशवः' – अर्थात् जिसने केशी नामक दैत्य को मारा था, उसे 'केशव' कहते हैं। हरिवंश-पुराण में कहा है –

59 फलाकाङ्क्षा ह्युपायप्रवृत्तौ कारणम् । अतस्तदाकाङ्क्षाया अभावात्तदुपाये युद्धे भोजनेच्छाविरहिण इव पाकादौ मम प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्यर्थः ।
कुतः पुनरितरपुरुषैरिष्यमाणेषु तेषु तवानिच्छेत्यत आह— किं न इति । भोगैः सुखैर्जीवितेन जीवितसाधनेन विजयेनेत्यर्थः । विना राज्यं भोगान्कौरवविजयं च वने निवसतामस्माकं तेनैव जगति श्लाघनीयजीवितानां किमेभिराकाङ्क्षितैरिति भावः । गोशब्दवाच्यानीन्द्रियाण्यधिष्ठानतया नित्यं प्राप्तस्त्वमेव ममैहिकफलविरागं जानासीति सूचयन्संबोधयति— गोविन्देति ॥32॥

60 राज्यादीनामाक्षेपे हेतुमाह—

> येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
> त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥33॥

61 एतेन स्वस्य वैराग्येऽपि स्वीयानामर्थे यतनीयमित्यपास्तम् । एकाकिनो हि राज्याद्यनपेक्षितमेव । येषां तु बन्धूनामर्थे तदपेक्षितं त एत प्राणान्प्राणाशां धनानि धनाशां च त्यक्त्वा युद्धेऽवस्थिता इति न स्वार्थः स्वीयार्थो वाऽयं प्रयत्न इति भावः । भोगशब्दः पूर्वत्र सुखपरतया निर्दिष्टोऽप्यत्र पृथक्सुखग्रहणात्सुखसाधनविषयपरः । प्राणधनशब्दौ तु तदाशालक्षकौ । स्वप्राणत्यागेऽपि स्वबन्धूनामुपभोगाय धनाशा संभवेदिति तद्वारणाय पृथग्धनग्रहणम् ॥33॥

---

59 फल की कामना ही किसी उपाय में प्रवृत्ति होने का कारण होती है । अतः जिसप्रकार भोजन की इच्छा से रहित व्यक्ति की पाकादि में प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार विजयादि फल की इच्छा न होने से मेरी भी उसके उपायभूत युद्ध में प्रवृत्ति होना संभव नहीं है – ऐसा इसका अभिप्राय है । यदि कृष्ण प्रश्न करें कि 'दूसरे लोग तो राज्य, सुखादि में अपनी इच्छा रखते हैं, फिर तुम्हारी उन वस्तुओं में अनिच्छा क्यों है ? तो अर्जुन 'किं नो' इत्यादि से इसका उत्तर देता है । भोगों से = सुखों से और जीवन से = जीवन के साधन विजय से हमें क्या प्रयोजन है ? भाव यह है कि बिना राज्य, भोग और कौरवों पर विजय प्राप्त किए वन में निवास करने से हमारा जीवन श्लाघनीय था, तो फिर इनकी इच्छा करने से क्या प्रयोजन है ? 'आप ही अधिष्ठानरूप से 'गो' शब्दवाच्य इन्द्रियों को प्राप्त हैं, अतः मेरे लौकिक फलसम्बन्धी वैराग्य को जानते ही हैं' – ऐसा सूचित करने के लिए ही अर्जुन उन्हें 'गोविन्द'[37] शब्द से सम्बन्धित करता है ।। 32 ।।

60 राज्यादि की अपेक्षा न होने में कारण कहता है –
[जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुख अभीष्ट हैं, वे हमारे ये बन्धुजन तो अपने प्राण और धन का मोह त्याग कर युद्ध में खड़े हुए हैं ।। 33 ।।]

61 इस श्लोक से -- 'स्वयं को वैराग्य होने पर भी अपने बन्धुजनों के लिए तो प्रयत्न करना ही चाहिए'-- इस कथन का भी खण्डन हो गया । अकेले व्यक्ति के लिए तो राज्य आदि अनपेक्षित ही होते हैं । जिन बन्धु–बान्धवों के लिए राज्यादि अपेक्षित होते हैं वे हमारे ये बन्धुजन तो प्राणों अर्थात् प्राणों की आशा और धनों अर्थात् धन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हुए हैं । अतः

'यस्मात्त्वया हतः केशो तस्मान्मच्छ्रशनं शृणु ।
केशवो नाम नाम्ना त्वं ख्यातो लोके भविष्यति ।।67.58।।

37. 'गाः मनप्रधानानीन्द्रियाणि तेषां विन्दः प्रवर्तयिता चेतयिता वा = गोविन्दः । अन्तर्यामी आत्मेत्यर्थः,– अर्थात् 'गो' शब्दवाच्य मनप्रधान इन्द्रियों के प्रवर्तयिता को 'गोविन्द' कहते है । 'गोविन्द' का अर्थ अन्तर्यामी आत्मा है ।

62 येषामर्थे राज्याद्यपेक्षितं तेऽत्र नाऽऽगता इत्याशङ्क्य तान्विशिनष्टि—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥34॥

63 स्पष्टम् ॥34॥

64 ननु यदि कृपया त्वमेतान्न हंसि तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यन्त्येवातस्त्वमेवैतान् हत्वा राज्यं भुङ्क्ष्वेत्यत आह—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥35॥

65 त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तत्प्राप्त्यर्थमपि अस्मान्घ्नतोऽप्येतान्न हन्तुमिच्छामीच्छामपि न कुर्यामहं किं पुनर्हन्यां, महीमात्रप्राप्तये तु न हन्यामिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । मधुसूदनेति संबोधयन्वैदिकमार्गप्रवर्तकत्वं भगवतः सूचयति ॥35॥

भाव यह है कि राज्यादि की प्राप्ति हेतु किए जाने वाले प्रयत्न का न तो अपने लिए और न अपने जनों के लिए ही कोई प्रयोजन है । पहले= बत्तीसवें श्लोक में 'भोग' शब्द को सुखपरक कहा है, यहाँ 'सुख' शब्द को पृथक् ग्रहण किया है, अतः इस 'सुख' शब्द को यहाँ सुख के साधनभूत विषयों का वाचक समझना चाहिए । 'प्राण' और 'धन' शब्द तो उनकी आशा को लक्षित करते हैं । अपने प्राण त्यागने पर भी अपने बन्धुजनों के उपभोग के लिए धनाशा तो रह ही सकती है, अतः उस धनाशा का भी निषेध करने के लिए 'धन' शब्द को पृथक् ग्रहण किया है ॥ 33॥

62 'जिन के लिए राज्य आदि अपेक्षित हैं वे जन तो यहाँ नहीं आए हैं '-- ऐसी कृष्ण की ओर से आशंका करके अर्जुन उन जनों का विशेष रूप से उल्लेख करता है –
[आचार्य, पिता, पुत्र और पितामह, तथा मामा, श्वसुर, पौत्र, साले तथा अन्यसंबन्धी -- ये सभी जन इस युद्ध में प्राण त्यागने के लिए उपस्थित तो हैं ॥ 34 ॥]

63 इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ॥ 34 ॥

64 यदि कृष्ण कहें कि 'यदि कृपावश तुम इन्हें नहीं मारोगे, तो भी राज्य के लोभ से ये तो तुम्हें मार ही देंगे, अतः तुम ही इन्हें मारकर राज्य का भोग करो', तो अर्जुन कहता है –
[हे मधुसूदन ! ये मुझे मारें तो भी मैं, पृथिवी के लिए तो क्या, तीनों लोकों के राज्य के लिए भी इन्हें मारना नहीं चाहता हूँ ॥ 35 ॥]

65 तीनों लोकों के राज्य के लिए भी अर्थात् उनकी प्राप्ति के लिए भी मैं, इनके मारने पर भी, इन्हें मारना नहीं चाहता अर्थात् मारने की इच्छा भी नहीं करता, मारने की तो बात ही क्या है ! ऐसी अवस्था में मात्र पृथिवी की प्राप्ति के लिए तो नहीं मारूंगा, इसमें तो कहना ही क्या है -- ऐसा इसका अर्थ है । 'मधुसूदन'[38] – ऐसा सम्बोधन करके भगवान् के वैदिकमार्गप्रवर्तकत्व को सूचित करता है ॥ 35 ॥

---

38. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड में 'मधुसूदन' शब्द की व्युत्पत्ति की है –
'सूदनं मधुदैत्यस्य यस्मात् स मधुसूदनः ।'

66 नन्वन्यान्विहाय धार्तराष्ट्रा एव हन्तव्यास्तेषामत्यन्तक्रूरतरतत्तद्दुःखदातॄणां वधे प्रीतिसंभवादित्यत आह–

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥36॥

67 धार्तराष्ट्रान्दुर्योधनादीन्भ्रातॄन्निहत्य स्थितानामस्माकं का प्रीतिः स्यात्, न काऽपीत्यर्थः । नहि मूढजनोचितक्षणमात्रवर्तिसुखाभासलोभेन चिरतरनरकयातनाहेतुर्बन्धुवधोऽस्माकं युक्त इति भावः । जनार्दनेतिसंबोधनेन यदि वध्या एते तर्हि त्वमेवैताञ्जहि प्रलये सर्वजनहिंसकत्वेऽपि सर्वपापासंसर्गित्वादिति सूचयति । ननु–

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः' ॥

इति स्मृतेरेतेषां च सर्वप्रकारैराततायित्वात्,

'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' ॥

---

66 यदि कृष्ण कहें कि 'दूसरों को छोड़कर केवल धृतराष्ट्र के पुत्रों को तो मारना ही चाहिए, क्योंकि उन्होंने तरह-तरह के अत्यन्त कठोर दुःख दिए हैं, इसलिए उन्हें मारने से तो प्रसन्नता ही होगी,' तो अर्जुन कहता है –

[हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियों की हत्या करने से तो हमें केवल पाप ही लगेगा ॥ 36 ॥]

67 धार्तराष्ट्रों को अर्थात् दुर्योधन आदि भाइयों को मारकर बचे रहने पर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी ? अर्थात् कुछ भी प्रसन्नता नहीं होगी । भाव यह है कि मूर्खजनोचित क्षणमात्रवर्ती सुखाभास के लोभ से हमें चिरकालीन नरकयातनाओं की प्राप्ति कराने वाला बन्धुजनों का वध करना उचित नहीं है । 'जनार्दन'[39] – इस सम्बोधन से अर्जुन यह सूचित करता है कि यदि ये सभी वध के योग्य हैं, तो आप ही इन्हें मारिए, क्योंकि आप प्रलयकाल में सभी जीवों का संहार कर देने पर भी सभी प्रकार के पापों के संसर्ग से दूर रहते हैं ।''आगलगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्र लेकर आक्रमण करने वाला, धन लूटने वाला तथा खेत तथा स्त्री को छीन लेने वाला – ये छह आततायी हैं (वसिष्ठ स्मृति 3.16)'-- इस स्मृतिवचन के अनुसार ये धार्तराष्ट्र तो सभी प्रकार से आततायी हैं, और 'सम्मुख आए हुए आततायी को बिना विचार किए मार ही देना चाहिए, क्योंकि आततायी को मारने से मारने वाले को कोई दोष नहीं होता (मनुस्मृति 8.350-351) '–इस वचन के अनुसार आततायी के वध में कोई दोष भी नहीं जान पड़ता, अतः ये दुर्योधन आदि आततायी तो मारने के ही योग्य हैं,' – ऐसी

अर्थात् 'मधु' नामक दैत्य का सूदन = विनाश करने के कारण कृष्ण को 'मधुसूदन' कहते हैं' । एकबार मधुदैत्य ब्रह्मा के पास से वेदों का हरण कर ले गया था । तब भगवान् ने उसे मत्स्यरूप से मारकर वेदों का उद्धार किया था । इसीलिए यहाँ 'मधुसूदन' सम्बोधन से कृष्ण का वैदिकमार्गप्रवर्तकत्व सूचित होता है ।

39. 'जनान् लोकान् अर्दति हन्ति हररूपेण संहारकत्वादिति जनार्दनः' – अर्थात् जो संहारक होने के कारण हररूपेण जनों = लोकों का अर्दन = हनन = संहार करता है, उसे 'जनार्दन' कहते हैं ।

इति वचनेन दोषाभावप्रतीतेर्हन्तव्या एव दुर्योधनादय आततायिन इत्याशङ्क्याऽऽह— पापमेवेति। एतानाततायिनोऽपि हत्वा स्थितानस्मान्पापमाश्रयेदेवेति संबन्धः । अथवा पापमेवाऽऽश्रयेन्न किंचिदन्यद्दृष्टमदृष्टं वा प्रयोजनमित्यर्थः । 'न हिंस्यात्' इति धर्मशास्त्रादाततायिनं हन्यादित्यर्थशास्त्रस्य दुर्बलत्वात् । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' इति ॥

अपरा व्याख्या— ननु धार्तराष्ट्रान्घ्नतां भवतां प्रीत्यभावेऽपि युष्मान् घ्नतां धार्तराष्ट्राणां प्रीतिरस्त्येवातस्ते युष्मान्हन्युरित्यत आह— पापमेवेति । अस्मान्हत्वा स्थितानेतानाततायिनो धार्तराष्ट्रान्पूर्वमपि पापिनः सांप्रतमपि पापमेवाऽऽश्रयेन्नान्यत्किंचित्सुखमित्यर्थः । तथा चायुध्यतोऽस्मान्हत्वैत एव पापिनो भविष्यन्ति नास्माकं काऽपि क्षतिः पापासंबन्धादित्यभिप्रायः ॥36॥

68 फलाभावादनर्थसंभवाच्च परहिंसा न कर्तव्येति 'नच श्रेयोऽनुपश्यामी'त्यारभ्योक्तं, तदुपसंहरति---

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥37॥

कृष्ण को ओर से आशंका करके अर्जुन कहता है,' – 'पापमेव०' इत्यादि । इन आततायियों को भी मारकर हमारे बचे रहने पर हमें पाप ही लगेगा -- ऐसा इसका सम्बन्ध है । अथवा इसका यह अर्थ हो सकता है कि इन्हें मारने से हमें केवल पाप ही लगेगा, कोई दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी, क्योकि 'हिंसा न करे' – इस धर्मशास्त्र की अपेक्षा 'आततायी को मार दे' -- यह अर्थशास्त्र दुर्बल है । याज्ञवल्क्य ने कहा भी है – 'दो स्मृतियों में विरोध होने पर वृद्धजनों का व्यवहार ही न्यायतः बलवान् होता है । स्थिति ऐसी है कि अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् होता है ।'

दूसरी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है– यदि ऐसी आशंका करें कि धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर आप लोगों को प्रसन्नता भले ही न हो; किन्तु तुम लोगों को मारकर उन धार्तराष्ट्रों को तो प्रसन्नता होगी ही, अतः वे तुम्हे मारेंगे, तो अर्जुन कहता है – 'पापमेव' इत्यादि । हम लोगों को मारकर बच रहे इन आततायी धृतराष्ट्र के पुत्रों को, जो पहले से भी पापी हैं, इस समय भी पाप ही लगेगा, इसके अतिरिक्त उन्हें कोई सुख नहीं मिलेगा । कहने का अभिप्राय है कि युद्ध न करने वाले हम लोगों को मारकर ये ही पाप के भागी होंगे, पाप से संबन्ध न होने के कारण हम लोगों की कोई भी क्षति नहीं होगी ॥ 36 ॥

68 कोई फल न होने से और अनर्थ की सम्भावना होने से दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिए -- ऐसा जो 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' इस श्लोक से प्रारम्भ करके कहा है उसका अब उपसंहार करता है -- [अतएव हम अपने बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए योग्य नहीं हैं, क्योकि हे माधव ! हम स्वजनों को मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ 37॥]

69 अदृष्टफलाभावोऽनर्थसंभवश्च तच्छब्देन परामृश्यते । दृष्टसुखाभावमाह— स्वजनं हीति । माधवेति लक्ष्मीपतित्वान्नालक्ष्मीके कर्मणि प्रवर्तयितुमर्हसीति भावः ।।37।।

70 कथं तर्हि परेषां कुलक्षये स्वजनहिंसायां च प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।38।।

71 लोभोपहतबुद्धित्वात्तेषां कुलक्षयादिनिमित्तदोषप्रतिसंधानाभावात्प्रवृत्तिः संभवतीत्यर्थः । अत एव भीष्मादीनां शिष्टानां बन्धुवधे प्रवृत्तत्वाच्छिष्टाचारत्वेन वेदमूलत्वादितरेषामपि तत्प्रवृत्तिरुचितेत्यपास्तं 'हेतुदर्शनाच्च' (जै०सू० 1.3.4) इतिन्यायात् । तत्र हि लोभादिहेतुदर्शने वेदमूलत्वं

---

69 'तस्मात्' पद के 'तत्' शब्द से अदृष्ट फल के अभाव तथा अनर्थ की सम्भावना का परामर्श किया गया है । दृष्ट सुख का अभाव बतलाने के लिए अर्जुन कहता हैं – 'स्वजनं हि' इत्यादि । 'माधव '[40] इस सम्बोधन का भाव यह है कि आप लक्ष्मी के पति होने के कारण मुझे अलक्ष्मी की प्राप्ति कराने वाले कर्म में प्रवृत्त नहीं कर सकते ।। 37 ।।

70 'तो फिर तुम्हारी शत्रुओं के कुल के संहार और स्वजनों की हिंसा में प्रवृत्ति क्यों है' – ऐसी आशंका करके अर्जुन कहता है --

[यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलक्षय से होने वाले दोष और मित्रद्रोहजनित पाप को नहीं देखते ।।38 ।।

71 अर्थ यह है कि लोभ से बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण इन धृतराष्ट्र-पुत्रों को कुलक्षयादि से होने वाले दोष का प्रतिसंधान नहीं है, अतएव इनकी युद्ध में प्रवृत्ति हो सकती है । इसीलिए भीष्म आदि शिष्ट पुरुषों की बन्धुवध में प्रवृत्ति होने से शिष्टाचाररूप होने के कारण यह प्रवृत्ति वेदमूलक सिद्ध होती है । अतएव दूसरों की भी ऐसी प्रवृत्ति होना उचित ही है– इस कथन का 'हेतुदर्शनाच्च' (जैमिनि सूत्र - 1.3.4) – इस न्याय[41] से निराकरण कर दिया । क्योंकि वहाँ यह निश्चित किया गया है कि लोभ आदि हेतु देखने पर वेदमूलकता नहीं स्वीकार की जा सकती । –

---

40. 'मा लक्ष्मीस्तस्याः धवः पतिः = माधव': अर्थात् 'मा' शब्द लक्ष्मी का वाचक है और 'धव' शब्द पति का वाचक है, इसलिए 'माधव' का अर्थ है लक्ष्मीपति ।

41 यहाँ 'न्याय' का अर्थ 'अधिकरण' है । किसी सन्दिग्ध अर्थवाले वेदमूलक वाक्य के निर्णायक शब्द के सन्दर्भ को 'अधिकरण' कहते हैं । अधिकरण के पांच अंग होते हैं – विषय, विशय (संशय), पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और फल (प्रयोजन) । (न्यायः पञ्चाङ्गमधिकरणम् । यथा – विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः । पक्षद्वयफलञ्चैव शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ।। – महाभारत-टीका, 2.5.3) । किसी वाक्यादि को 'विषय' बनाकर उसके सम्बन्ध में 'संशय' किया जाता है कि यह प्रमाण है ? या नहीं ? तदनन्तर 'पूर्वपक्ष' और उसके पश्चात् 'उत्तरपक्ष' प्रस्तुत किया जाता है, अन्त में 'फल' कहा जाता है । पूर्वमीमांसा के प्रथम अध्याय के तृतीयपाद के द्वितीय सूत्र में 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति'– (दीक्षा-विसर्जन के लिए किए जाने वाले होम के समय वितानित वस्त्र को अध्वर्यु ग्रहण करता है) – इस वाक्य के सम्बन्ध में संशय किया गया है कि यह प्रमाण है ? या नहीं ? पूर्वपक्षी ने कहा है कि यह वैदिक वाक्य न होने पर भी वेदमूलक स्मृति का वाक्य होने के कारण प्रमाण है । उत्तरपक्ष में कहा गया है – 'लोभदर्शनाच्च' (जैमिनि सूत्र, 1.3.4) – उक्त वाक्य के मूल में लोभ दिखाई देता है – किसी लोभी अध्वर्यु ने आत्म-लाभ की दृष्टि से इस वाक्य का गठन कर दिया है, – अतः यह वाक्य वेदमूलक नहीं, अपितु लोभमूलक है, फलतः यह प्रमाण नहीं है । जिस प्रकार लोभमूलक स्मृतिवाक्य धर्म में प्रमाण नहीं होता, उसी प्रकार लोभमूलक आचरण भी प्रमाण नहीं होता भीष्मादि का युद्धोद्यमरूप आचरण लोभमूलक है, अतः वह भी सर्वथा अप्रमाण है ।

न कल्प्यत इति स्थापितम् । यद्यप्येते न पश्यन्ति तथाऽपि कथमस्माभिर्न ज्ञेयमित्युत्तरश्लोकेन संबन्धः ॥38॥

72 ननु यद्यप्येते लोभात्प्रवृत्तास्तथाऽपि 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि' इति 'विजितं क्षत्रियस्य' इत्यादिभिः क्षत्रियस्य युद्धं धर्मो युद्धार्जितं च धर्म्यं धनमिति धर्मशास्त्रे निश्चयाद्भवतां च तैराहूतत्वाद्युद्धे प्रवृत्तिरुचितैवेति शङ्कयाऽऽह—

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥39॥

73 अस्मात्पापाद्बन्धुवधफलकयुद्धरूपात् । अयमर्थः— श्रेयःसाधनताज्ञानं हि प्रवर्तकं, श्रेयश्च तद्यदश्रेयोऽननुबन्धि, अन्यथा श्येनादीनामपि धर्मत्वापत्तेः । तथा चोक्तं—

'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते' इति ॥ (श्लो० वा० 2.268-69)

ततश्चाश्रेयोनुबन्धितया शास्त्रप्रतिपादितेऽपि श्येनादाविवास्मिन्युद्धेऽपि नास्माकं प्रवृत्तिरुचितेति ॥39॥

74 एवं च विजयादीनामश्रेयस्त्वेनानाकाङ्क्षितत्वान्न तदर्थं प्रवर्तितव्यमिति द्रढयितुमनर्थानुबन्धित्वेनाश्रेयस्त्वमेव प्रपञ्चयन्नाह—

यद्यपि ये लोग नहीं देखते, तथापि हमें क्यों नहीं जानना चाहिए ? इस प्रकार इसका आगे के श्लोक से संबन्ध है ॥ 38 ॥

72 यद्यपि ये लोग लोभ के कारण युद्ध में प्रवृत्त हैं, तथापि 'ललकारे जाने पर जूए तथा युद्ध से पीछे न हटें', 'जीता हुआ धन क्षत्रिय का होता है' इत्यादि वाक्यों के अनुसार युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है और युद्ध द्वारा प्राप्त किया हुआ धन भी धर्मानुकूल होता है, – ऐसा धर्मशास्त्र में निश्चय किये जाने के कारण शत्रुओं द्वारा युद्ध के लिए ललकारे जाने से तुम्हारी युद्ध में प्रवृत्ति उचित ही है – ऐसी आशंका करके अर्जुन कहता है –
[तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षय से होने वाले दोष को देखनेवाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए ?॥39 ॥]

73 इस पाप से अर्थात् बन्धुवध फल वाले इस युद्ध रूप पाप से । अर्थ यह है कि श्रेयःसाधनता का ज्ञान ही किसी कर्म में प्रवृत्ति का कारण होता है और श्रेय वह होता है जिसका फल अश्रेय (अकल्याण) न हो, अन्यथा श्येनयाग आदि अभिचार भी धर्मरूप कहे जायेंगे । ऐसा कहा भी है –
'जो कर्म फल की दृष्टि से भी अनर्थ से युक्त नहीं होता वही केवल प्रीति का कारण होने से 'धर्म' कहा जाता है' (श्लोकवार्तिक 2.268-69) । अतएव परिणाम में अश्रेय (अकल्याण) से युक्त होने के कारण, श्येनयागादि के समान शास्त्रविहित होने पर भी इस युद्ध में हमारी प्रवृत्ति होना उचित नहीं है ॥ 39 ॥

74 इस प्रकार विजय आदि अकल्याण रूप होने के कारण आवञ्छनीय हैं और उनके लिए प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए – इसी अर्थ की पुष्टि करने के लिए अनर्थ-परिणामी रूप से उनकी अश्रेयता (अकल्याणता) को ही स्पष्ट करता हुआ कहता है –

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ 40॥

75 **सनातनाः परम्पराप्राप्ताः कुलधर्माः कुलोचिता धर्माः कुलक्षये प्रणश्यन्ति कर्तुरभावात् । उतापि अग्निहोत्राद्यनुष्ठातृपुरुषनाशेन धर्मे नष्टे जात्यभिप्रायमेकवचनम्, अवशिष्टं बालादिरूपं कृत्स्नमपि कुलमधर्मोऽभिभवति स्वाधीनतया व्याप्नोति । उतशब्दः कृत्स्नपदेन संबध्यते ॥40॥**

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥41॥

76 **अस्मदीयैः पतिभिर्धर्ममतिक्रम्य कुलक्षयः कृतश्चेदस्माभिरपि व्यभिचारे कृते को दोषः स्यादित्येवं कुतर्कहताः कुलस्त्रियः प्रदुष्येयुरित्यर्थः । अथवा कुलक्षयकारिपतितपतिसंबन्धादेव स्त्रीणां दुष्टत्वम् । 'आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः' (याज्ञ० स्मृ० 3.77) इत्यादिस्मृतेः ॥41॥**

[कुल का विनाश होने से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने पर सम्पूर्ण कुल को अधर्म अभिभूत कर देता है ॥ 40 ॥]

75 सनातन अर्थात् वंश-परम्परा से प्राप्त कुल-धर्म अर्थात् कुलोचित धर्म कुल का नाश होने पर नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कुल का कोई कर्ता नहीं रहता ।'उत' शब्द का प्रयोग 'अपि' के अर्थ में हुआ है । आग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करने वाले पुरुषों का नाश हो जाने के कारण धर्म का नाश हो जाने पर अवशिष्ट बालक आदि रूप सम्पूर्ण कुल को ही अधर्म अभिभूत कर देता है अर्थात् स्वतंत्रता से उसमें व्याप्त हो जाता है । 'उत' शब्द का 'कृत्स्न' पद से सम्बध है । 'धर्मे' इस पद में जाति'[42] के अर्थ से एक वचन का प्रयोग हुआ है ॥ 40 ॥

[हे कृष्ण ! कुल के अधर्म से अभिभूत हो जाने के कारण कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं । हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर सन्तति वर्णसंकर हो जाती है ॥ 41 ॥]

76 अर्थात् जब हमारे पतियों ने ही धर्म का अतिक्रमण करके कुल का नाश किया है तो हमारे व्यभिचार करने में क्या दोष होगा ? – इस प्रकार के कुतर्कों से ग्रस्त कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं । अथवा, कुल का नाश करने वाले पतित पतियों के सम्बन्ध से ही स्त्रियों में दुष्टता आ जाती हैं, क्योंकि याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है --

'प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होने तक महापाप से दूषित पुरुष की प्रतीक्षा करनी चाहिए' (याज्ञवल्क्य स्मृति 3.77) (अर्थात् पतित पुरुष से शुद्ध होने तक सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए) ॥ 41 ॥

---

42. समानप्रसवाऽऽत्मिका जातिः (न्यायसूत्र 2.2.71) समानाऽऽकारबुद्धिजननयोग्यधर्मविशेषो नित्यानेकसमवेतरूपार्थ इति (न्यायमूत्रवृत्ति 2.2.71) । अर्थात् समान आकार वाली बुद्धियों अर्थात् ज्ञानों को उत्पन्न करने में योग्य धर्म-विशेषको 'जाति' कहते हैं, वह नित्य और अनेक में समवेतरूप होती है । 'जाति' का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है । उसका लक्षण 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' (प्रशस्तपादभाष्य) – अनुगत - एकाकार प्रतीति का हेतु 'सामान्य' कहलाता है; यह किया गया है । 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) – नित्य होकर अनेक पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले धर्म को 'सामान्य' (जाति) कहते हैं, यह भी सामान्य का दूसरी तरह लक्षण किया गया है ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥42॥

77 कुलस्य संकरश्च कुलघ्नानां नरकायैव भवतीत्यन्वयः । न केवलं कुलघ्नानामेव नरकपातः किं तु तत्पितॄणामपीत्याह– पतन्तीति । हिशब्दोऽप्यर्थे हेतौ वा । पुत्रादीनां कर्तॄणामभावाल्लुप्ता पिण्डस्योदकस्य च क्रिया येषां ते तथा । कुलघ्नानां पितरः पतन्ति नरकायैवेत्यनुषङ्गः ॥42॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥43॥

78 जातिधर्माः क्षत्रियत्वादिनिबन्धनाः कुलधर्मा असाधारणाश्च । एतैर्दोषैरुत्साद्यन्त उत्सन्नाः क्रियन्ते विनाश्यन्त इत्यर्थः ॥43 ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥44॥

79 ततश्च प्रेतत्वपरावृत्तिकारणाभावान्नरक एव निरन्तरं वासो भवति ध्रुवमित्यनुशुश्रुमाऽऽचार्याणां मुखाद्वयं श्रुतवन्तो न स्वाभ्यूहेन कल्पयाम इति पूर्वोक्तस्यैव दृढीकरणम् ॥44॥

80 बन्धुवधपर्यवसायी युद्धाध्यवसायोऽपि सर्वथा पापिष्ठतरः किं पुनर्युद्धमिति वक्तुं तदध्यवसायेनाऽऽत्मानं शोचन्नाह–

[वर्णसंकर कुलघातियों और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है, क्योंकि श्राद्ध और तर्पण की क्रियाओं का लोप हो जाने से इनके पितर नरक में गिरते हैं ॥ 42 ॥]

77 वर्णसंकर अपने कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है – ऐसा अन्वय करना चाहिए । केवल कुलघातियों का ही नरक में पतन नहीं होता, अपितु उनके पितरों का भी होता है -- यह 'पतन्ति' इत्यादि वाक्य से अभिव्यक्त किया है । यहाँ 'हि' शब्द 'अपि' के अर्थ में अथवा 'हेतु' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । पुत्रादि कर्त्ताओं के अभाव के कारण लुप्त हो गई हैं पिण्डदान और तर्पण की क्रियाएँ जिनकी वे उन कुलघातियों के पितर नरक में ही गिरते हैं -- इस प्रकार 'पतन्ति' क्रियापद का 'नरकायैव' पद के साथ सम्बन्ध है ॥ 42 ॥

[कुल घातियों के इन वर्णसंकर करने वाले दोषों से शाश्वत जाति-धर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ 43 ॥]

78 जातिधर्म अर्थात् क्षत्रियत्व आदि के कारण होने वाले धर्म और कुलधर्म अर्थात् कुल के असाधारण-विशेष धर्म इन दोषों से उत्सादित = उत्सन्न कर दिये जाते हैं अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं ॥ 43 ॥

[हे जनार्दन ! जिन मनुष्यों के कुलधर्म उच्छिन्न हो जाते हैं, उनका तो निश्चय ही नरक में वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ 44 ॥]

79 फिर तो प्रेतत्व से विमुक्ति का कोई भी कारण न रहने से उनका निश्चय ही नरक में ही निरन्तर वास होता है, ऐसा हम आचार्यों के मुख से सुनते आये हैं न कि हम अपनी तर्कशक्ति से कल्पना कर रहे हैं -- यह पूर्वोक्त अर्थ को ही सुदृढ़ करने के लिये कहा गया है ॥ 44 ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥45॥

81 यदीदृशी ते बुद्धिः कुतस्तर्हि युद्धाभिनिवेशेनाऽऽगतोऽसीति न वक्तव्यमविमृश्यकारितया मयौद्धत्यस्य कृतत्वादिति भावः ॥45॥

82 ननु तव वैराग्येऽपि भीमसेनादीनां युद्धोत्सुकत्वाद्बन्धुवधो भविष्यत्येव त्वया पुनः किं विधेयमित्यत आह–

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्राः रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥46॥

83 प्राणादपि प्रकृष्टो धर्मः प्राणभृतामहिंसा, पापानिष्पत्तेः । तस्माज्जीवनापेक्षया मरणमेव मम क्षेमतरमत्यन्तं हितं भवेत् । प्रियतरमिति पाठेऽपि स एवार्थः । अप्रतीकारं स्वप्राणत्राणाय व्यापारमकुर्वाणं बन्धुवधाध्यवसायमात्रेणापि प्रायश्चित्तान्तररहितं वा । तथाच प्राणान्तप्रायश्चित्तेनैव शुद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥46॥

84 ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—

---

80 जिसका पर्यवसान (अन्त) बन्धुओं के वध में होने वाला है उस युद्ध का तो विचार करना भी सर्वथा महान् पापकारक है, फिर युद्ध करने की तो बात ही क्या है ? -- ऐसा कहने के लिए युद्ध का विचार करने के कारण अपने विषय में शोक करता हुआ अर्जुन कहता है --
[ओह ! बड़े दुःख की बात है कि हम लोग बहुत बड़ा पाप करने के लिए तैयार हो गये हैं -- जो कि राज्य तथा सुख की प्राप्ति के लोभ से स्वजनों को मारने के लिए उद्यत हुए हैं ॥45 ॥]

81 'यदि तेरी ऐसी ही बुद्धि थी, तो फिर तू यहाँ युद्ध के लिए तैयार होकर क्यों आया था ?' -- ऐसा आप नहीं कह सकते, क्योंकि बिना विचार किए हुए ही मैंने यह उद्दण्डता की है । यही अर्जुन का अभिप्राय है ॥45॥

82 यदि आप कहें कि तेरा युद्ध से वैराग्य हो जाने पर भी भीमसेन आदि के युद्ध के लिए उत्सुक होने से बन्धुवध तो होगा ही, ऐसी स्थिति में तू क्या करेगा ? तो अर्जुन कहता हैं --
[यदि प्रतीकार न करने वाले मुझ शस्त्रहीन को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मार डालें तो वह मेरे लिए अधिक -- कल्याणकारी होगा ॥46॥]

83 प्राणियों की हिंसा न करना (अहिंसा) प्राणों से भी अधिक श्रेष्ठधर्म है, क्योंकि उससे पाप नहीं होता । अतएव जीवन की अपेक्षा मरण ही मेरे लिए क्षेमतर =अत्यन्त हितकर होगा । 'क्षेमतरम्' के स्थान पर 'प्रियतरम्' पाठ होने पर भी यही अर्थ होगा । प्रतीकार न करने वाले को अर्थात् अपने प्राणों की रक्षा के लिए कोई भी चेष्टा न करने वाले को अथवा बन्धुओं के वध का विचार करने मात्र से भी उत्पन्न पाप का कोई दूसरा प्रयश्चित्त न करने वाले को । भाव यह है कि इस प्रकार प्राणान्त-रूप प्रायश्चित्त से ही मेरी शुद्धि होगी ॥46॥

84 -- इसके पश्चात् क्या हुआ -- यह जानने की इच्छा होने पर :---

संजय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥47॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥1॥

---

85 **संख्ये सङ्ग्रामे रथोपस्थे रथस्योपर्युपविवेश । पूर्वं युद्धार्थमवलोकनार्थं चोत्थितः सञ्शोकेन संविग्नं पीडितं मानसं यस्य सः ॥47॥**

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥1॥

[संजय ने कहा --- युद्ध-भूमि में ऐसा कहकर अर्जुन शोक से व्याकुल – चित्त हो अपने धनुष बाण छोड़कर रथ के ऊपर बैठ गया ।।47।।]

85 पहले जो युद्ध करने और सेना देखने के लिए खड़ा हुआ था, किन्तु अब जिसका चित्त शोक से संविग्न अर्थात् पीडित हो रहा है वह अर्जुन संख्य-भूमि में = संग्राम– भूमि में रथोपस्थ पर = रथके ऊपर बैठ गया ।।47।।

इस प्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन-
सरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का
अर्जुनविषादयोग नामक प्रथम अध्याय समाप्त होता है ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

1 **अहिंसा परमो धर्मो भिक्षाशनं चेत्येवंलक्षणया बुद्ध्या युद्धवैमुख्यमर्जुनस्य श्रुत्वा स्वपुत्राणां राज्यमप्रचलितमवधार्य स्वस्थहृदयस्य धृतराष्ट्रस्य हर्षनिमित्तां ततः किं वृत्तमित्याकाङ्क्षामपनिनीषुः संजयस्तं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः--**

संजय उवाच

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ 1 ॥

2 **कृपा ममैत इतिव्यामोहनिमित्तः स्नेहविशेषः । तयाऽऽविष्टं स्वभावसिद्धया व्याप्तम् । अर्जुनस्य कर्मत्वं कृपायाश्च कर्तृत्वं वदता तस्या आगन्तुकत्वं व्युदस्तम् । अत एव विषीदन्तं स्नेहविषयीभूतस्वजनविच्छेदाशङ्कानिमित्तः शोकापरपर्यायश्चित्तव्याकुलीभावो विषादस्तं प्राप्नुवन्तम् । अत्र विषादस्य कर्मत्वेनार्जुनस्य कर्तृत्वेन च तस्याऽऽगन्तुकत्वं सूचितम् ।**

1 'अहिंसा और भिक्षा मांगकर खाना परम धर्म है',-- इस प्रकार की बुद्धि के कारण अर्जुन की युद्ध से विमुखता को सुनकर तथा अपने पुत्रों के राज्य को अविचल समझकर स्वस्थ चित्त हुए धृतराष्ट्र की -- 'इसके पश्चात् क्या हुआ ?' -- ऐसी हर्षजनित आकांक्षा को निवृत्त करने की इच्छा से संजय ने उन्हें उत्तर दिया-- ऐसा वैशम्पायन कहते हैं -

[संजय ने कहा-- इस प्रकार करुणा से व्याप्त और आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले विषाद करते हुए उस अर्जुन से मधुसूदन ने यह वाक्य कहा ॥ 1 ॥]

2 'ये मेरे हैं'-- इस प्रकार के व्यामोह[1] से उत्पन्न स्नेहविशेष कृपा[2] है । उस स्वाभावसिद्ध कृपा से आविष्ट अर्थात् व्याप्त । यहाँ अर्जुन का कर्मत्व और कृपा का कर्तृत्व बतलाकर कृपा के आगन्तुकत्व का निराकरण किया है । इसीलिए विषाद[3] करते हुए = स्नेह के विषयभूत स्वजनों से विच्छेद की आशङ्का से शोक का पर्याय चित्त की व्याकुलता रूप जो विषाद है उसे प्राप्त होते हुए । यहाँ विषाद के कर्मत्व और अर्जुन के कर्तृत्व से विषाद की आगन्तुकता सूचित की है ।

---

1. पद्मपुराण के 'क्रियायोगसार' अध्याय में कहा है--

'मम माता मम पिता ममेयं गृहिणी गृहम् ।
एतदन्यं ममत्वं यत् स मोह इति कीर्त्तितः'' ॥

'यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, यह मेरी गृहिणी है, यह मेरा गृह है'-- ऐसा जो ममत्व है उसे मोह या व्यामोह कहते हैं ।

2.'कृपा' का संकेतितार्थ 'करुणा' है और करुणा आत्म-दुःख-प्रहाण की इच्छा के समान परदुःखप्रहाण की इच्छा को कहते हैं, अथवा दूसरों के दुःखों के प्रहाण (दूर करने) की निरुपाधिकी इच्छा को 'करुणा' कहते हैं (कृपा = करुणा, आत्मनीव परस्मिन् दुःखप्रहाणेच्छा, निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा वा करुणा-- योगवार्तिक 1.33) । प्रकृत में परदुःखप्रहाणेच्छारूप 'करुणा' की सङ्गति नहीं होती, क्योंकि युद्धेच्छु युद्ध-समारम्भ में भावी विजय-कल्पना से प्रफुल्लित हो शंख-ध्वनि कर रहे हैं, न कि किसी भी प्रकार का दुःख प्रकट कर रहे हैं जिससे ऐसी करुणा जागृत हो । अतएव मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ 'कृपा' का अर्थ 'स्नेह-विशेष' किया है जो कि प्रकृतोपयोगी और उचित है, क्योंकि प्रकृत में अर्जुन के हृदय में ममतारूप अनादि भाव से उत्पन्न कृपा= स्नेह विशेष ही जागृत हुआ है । यही भाव पहले गीता के प्रथम अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक में अभिव्यक्त हुआ है ।

अत एव कृपाविषादवशादश्रुभिः पूर्णे आकुले दर्शनाक्षमे चेक्षणे यस्य तम् । एवमश्रुपातव्याकुलीभावाख्यकार्यद्वयजनकतया परिपोषं गताभ्यां कृपाविषादाभ्यामुद्विग्नं तमर्जुनमिदं सोपपत्तिकं वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच न तूपेक्षितवान् । मधुसूदन इति । स्वयं दुष्टनिग्रहकर्ताऽर्जुनं प्रत्यपि तथैव वक्ष्यतीति भावः ॥ 1 ॥

3 **तदेव भगवतो वाक्यमवतारयति—**

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ 2 ॥

4 **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।**
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना' ॥ (वि० पु० 6.74)

अतएव कृपा और विषाद के कारण आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल अर्थात् देखने में असमर्थ हैं नेत्र जिसके उस अर्जुन से । इस प्रकार अश्रुपात और व्याकुलतारूप दो कार्यों को उत्पन्न करने वाले होने से परिपुष्ट हुए कृपा और विषाद से उद्विग्न उस अर्जुन से मधुसूदन ने यह युक्तियुक्त आगे कहे जाने वाला वाक्य कहा, न कि उसकी उपेक्षा की । यहाँ 'मधुसूदन'[4] पद का अभिप्राय है कि स्वयं दुष्टों का निग्रह करने वाले होने से वे अर्जुन से भी वैसी ही बात कहेंगे ॥ 1 ॥

3 भगवान् के उसी वाक्य को अवतरित करते हैं---
[श्री भगवान् ने कहा-- हे अर्जुन[5] ! ऐसी विषम स्थिति में तुझे यह मोह कहां से प्राप्त हुआ ? क्योंकि यह न तो शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग प्रदान करने वाला है और न कीर्तिकर ही है ॥ 2 ॥]

4 समस्त ऐश्वर्य, समस्त धर्म, समस्त यश, समस्त श्री (शोभा), समस्त वैराग्य और समस्त मोक्ष— इन छः की संज्ञा 'भग' है (विष्णु पुराण, 6.74) । 'समग्र'[6] पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है । 'मोक्षस्य' = मोक्ष की अर्थात् मोक्ष के साधन ज्ञान की । 'इङ्गना' संज्ञा को कहते हैं । इस प्रकार के समस्त ऐश्वर्य आदि जिसमें नित्य अबाधरूप से रहते हैं वह 'भगवान्' कहलाता है। 'भगवान्'

3. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने 'विषीदन्तम्' पद की व्याख्या पहले की है और 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' पद की व्याख्या बाद में की है, जबकि श्लोक में 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' पद पहले और 'विषीदन्तम्' पद बाद में प्रयुक्त हुआ है, तो प्रश्न है कि उन्होंने श्लोकान्वय में ऐसा व्यतिक्रम क्यों किया ? उत्तर है कि मधुसूदन सरस्वती ने शलोकान्वय में कोई व्यतिक्रम नहीं किया है, अपितु उन्होंने ऐसा सप्रयोजन किया है । उनके अनुसार अर्जुन के नेत्रों में आँसू आ जाने के दो कारण थे – कृपा और विषाद, जैसा कि उन्होंने 'कृपाविषादवशादश्रुभिः' शब्दों में स्वयं स्पष्ट किया है । अतएव 'विषीदन्तम्' पद की व्याख्या 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' पद से पहले ही अपेक्षित थी । यदि वे ऐसा न करते तो उनकी इष्टसिद्धि नहीं होती और आँसू आ जाने का केवल कृपारूप एक ही कारण का लाभ होता, एक न्यूनता सी रह जाती, उसे 'विषीदन्तम्' पद की पहले व्याख्या करके उन्होंने दूर कर दिया है । ऐसा ही समाधान श्री धर्मदत्त शर्मा और स्वामी योगीन्द्रानन्द ने किया है ।

4. 'मधुसूदन' शब्द के प्रयोग से यह ध्वनित किया गया है कि देवताओं पर अत्याचार करनेवाले मधु-दैत्य के संहारक भगवान् वासुदेव पृथ्वी के भारभूत आततायी दुष्टों का भी विनाश अवश्य करेंगे ।

5. 'अर्जुन' शब्द का अर्थ शुभ्र, उज्ज्वल है, अतः यहाँ 'अर्जुन' सम्बोधन पद से भगवान् ने अर्जुन को यह संकेत किया है कि तू तो शुभ्र-उज्ज्वल वस्त्र के समान अपने कार्यों में पवित्र और विशुद्ध है, फिर तुझमें यह कश्मल (कलंक) कहाँ से आ गया ? यह तेरे स्वभाव के विपरीत है, अतः तुझमें अनुचित है । तू तो अपने स्वभावानुकूल कार्य कर ।

समग्रस्येति प्रत्येकं संबन्धः । मोक्षस्येति तत्साधनस्य ज्ञानस्य । इङ्गना संज्ञा । एतादृशं समग्रमैश्वर्यादिकं नित्यमप्रतिबन्धेन यत्र वर्तते स भगवान् । नित्ययोगे मतुप् ।
तथा

'उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति' ॥ (वि० पु० 6.78)

अत्र भूतानामिति प्रत्येकं संबध्यते । उत्पत्तिविनाशशब्दौ तत्कारणस्याप्युपलक्षकौ । आगतिगती आगामिन्यौ संपदापदौ । एतादृशो भगवच्छब्दार्थः श्रीवासुदेव एव पर्यवसित इति तथोच्यत, इदं

पद में नित्य योग के अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है । इसी प्रकार 'जो प्राणियों की उत्पत्ति, विनाश, उनकी आगति-गति और विद्या-अविद्या को जानता है वह 'भगवान्' कहा जाता है (विष्णु पुराण 6.78) । यहाँ 'भूतानाम्' पद का प्रत्येक के साथ संबन्ध है । 'उत्पत्ति और विनाश' शब्द उत्पत्ति और विनाश के कारण को भी उपलक्षित कराते हैं । 'आगति और गति' शब्द आगामी सम्पत्ति और विपत्ति को कहते हैं । ऐसा 'भगवान्' शब्द का अर्थ श्री वासुदेव[7]=वसुदेवपुत्र में ही पर्यवसित होता है-- ऐसा कहा जाता है[8] ।

यह कृपा, व्यामोह, अश्रुपातादिपूर्वक अपने धर्म से पराङ्मुखरूप कश्मल (कुविचार) = शिष्टपुरुषों द्वारा निन्दित होने के कारण मलिन (विचार) ऐसी विषम परिस्थिति में अर्थात् इस भयावहस्थान में सम्पूर्ण क्षत्रियों में श्रेष्ठ तुझको कहाँ से = किस कारण से उपस्थित हुआ =प्राप्त हुआ । क्या मोक्ष की इच्छा से हुआ अथवा स्वर्ग की इच्छा से ? या कीर्ति की इच्छा से ?-- इस प्रकार 'किम्' शब्द से इन तीन विकल्पों का आक्षेप होता है । भगवान् इन तीनों हेतुओं का भी श्लोक के उत्तरार्ध में

---

6. विष्णु-पुराण से उद्धृत श्लोक (6.74) में 'समग्र' पद का सम्बंध 'मोक्ष' के साथ नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'समग्र' विशेषण अनेकविध पदार्थों के संग्रहार्थ प्रयुक्त किया जाता है,जबकि अद्वैत-वेदान्त में 'मोक्ष' नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूप अद्वैत (एकविध) ही है । इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने उक्त श्लोकार्थ में 'मोक्ष' का अर्थ 'ज्ञान' किया है । उपचार से 'आयुर्घृतम्' के समान साधन में साध्यर्थक पद की प्रवृत्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'समग्र' पद का सम्बंध 'धर्म' के साथ भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर में तत्वज्ञान नित्य रहनें से 'समग्रधर्म = 'पुण्य-पाप' नहीं रह सकता । इसीलिए श्री धर्मदत्त शर्मा ने यहाँ 'धर्म'शब्द का अर्थ पहले 'पापनिवृत्ति' और बाद में अन्वयार्थ 'पुण्य-जनकक्रिया' किया है,क्योंकि ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में समग्र पुण्यप्रद क्रियाओं का अनुष्ठान करके सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन किया करता है । इसी अर्थ का समर्थन स्वामी योगीद्रानन्द ने भी किया है ।

7. विष्णुपुराण में कहा है -

'एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ।। (6.76)

'हे मैत्रेय ! 'भगवान्' - यह महान् शब्द परब्रह्मस्वरूप वासुदेव को छोड़कर अन्य किसी में भी पर्यवसित नहीं होता' ।'वासुदेव' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ भी ऐसा ही है -

भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् ।
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ।। विष्णु पुराण 6.5.82 ।

तथा च -

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वात् देवयोनितः ।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृंहत्वात् विष्णुरुच्यते ।। (महाभारत 5.70.3)

8. 'पर्यवसित इति तथोच्यते ।'- पूर्णविराम के साथ यह वाक्यपूर्ति सर्वतोभावेन उचित है । हाँ, इसके पश्चात् यदि भगवत्पदार्थता का पोषक किसी ग्रन्थ का वाक्य भी उद्धृत किया गया होता, तो अधिक अच्छा होता । हो सकता है कि प्रकरणवंशात् विष्णुपुराण का ही ''एवमेष महाञ्छब्दो---' (6.76) - यह श्लोक उद्धृत किया भी गया हो और लेखक-प्रमाद से छूट गया हो, जैसा कि स्वामी योगीन्द्रान्द स्वीकार करते हैं ।

स्वधर्मात्पराङ्मुखत्वं कृपाव्यामोहाश्रुपातादिपुरःसरं कश्मलं शिष्टगर्हितत्वेन मलिनं विषमे सभये स्थाने त्वा त्वां सर्वक्षत्रियप्रवरं कुतो हेतोः समुपस्थितं प्राप्तम् ? किं मोक्षेच्छातः ? किं वा स्वर्गेच्छातः ? अथवा कीर्तीच्छातः ? इति किंशब्देनाऽऽक्षिप्यते । हेतुत्रयमपि निषेधति त्रिभिर्विशेषणैरुत्तरार्धेन । आर्यैर्मुमुक्षुभिर्न जुष्टमसेवितम् । स्वधर्मैराशयशुद्धिद्वारा मोक्षमिच्छद्भिरपक्वकषायैर्मुमुक्षुभिः कथं स्वधर्मस्त्याज्य इत्यर्थः । संन्यासाधिकारी तु पक्वकषायोऽग्रे वक्ष्यते । अस्वर्ग्यं स्वर्गहेतुधर्मविरोधित्वान्न स्वर्गेच्छया सेव्यम् । अकीर्तिकरं कीर्त्यभावकरमपकीर्तिकरं वा न कीर्तीच्छया सेव्यम् । तथा च मोक्षकामैः स्वर्गकामैः कीर्तिकामैश्च वर्जनीयं, तत्काम एव त्वं सेवस इत्यहो अनुचितं चेष्टितं तवेति भावः ॥ 2 ॥

5 **ननु बन्धुसेनावेक्षणजातेनाधैर्येण धनुरपि धारयितुमशक्नुवता मया किं कर्तुंशक्यमित्यत आह--**

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ 3 ॥

कथित तीन विशेषणों से निषेध करते हैं । अनार्यजुष्ट[9] जो आर्य अर्थात् मुमुक्षुओं द्वारा जुष्ट नहींहै= सेवित नहीं है । अर्थ यह है कि स्वधर्म से हुई चित्त-शुद्धि द्वारा मोक्ष में इच्छा करनेवाले और रागादिजन्य कषाय[10] को क्षीण न कर देने वाले मुमुक्षुओं के द्वारा स्वधर्म कैसे त्याज्य हो सकता है ? क्षीण कषाय वाले संन्यास के अधिकारी का तो वर्णन आगे किया जायेगा । 'अस्वर्ग्य' का अर्थ है कि स्वर्ग के हेतुभूत धर्म का विरोधी होने से यह स्वर्ग की इच्छा से सेवनीय नहीं है । अकीर्तिकर का अर्थ है - कीर्ति का अभाव करने वाला अथवा अपकीर्ति करने वाला, अतएव कीर्ति की इच्छा से भी यह सेव्य नहीं है । इस प्रकार यह मोक्ष, स्वर्ग और कीर्ति-- इन तीनों ही की इच्छा करने वालों के लिए त्याज्य है । ओह ! बड़े दु:ख की बात है कि इन्हीं की कामनावाला होकर भी तू इस कुविचार का सेवन करता है । तेरी यह चेष्टा अनुचित है - ऐसा इसका भाव है ॥2॥

5 यदि अर्जुन कहे कि अपने बन्धुओं की सेना को देखने से उत्पन्न अधैर्य से धनुष को भी धारण करने में असमर्थ मैं क्या कर सकता हूँ, तो भगवान् कहते हैं :--

[हे अर्जुन ! तू नपुंसकता को प्राप्त मत हो, तुझमें यह उचित नहीं है । हे परंतप ! तू हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा ॥ 3॥]

---

9. गीता की विभिन्न टीकाओं में 'अनार्यजुष्टम्' समस्त पद का विग्रह दो प्रकार से किया गया है - (1) 'अनार्यैर्जुष्टम्' अर्थात् 'अनार्यों से सेवित' और (2) 'आर्यैरजुष्टम्' अर्थात् 'आर्यों से असेवित' । नीलकण्ठ ने द्वितीय विग्रह में पदव्युत्क्रम दोष बताकर प्रथम विग्रह ही स्वीकार किया है । किन्तु श्रीधरस्वामी ने 'आर्यैरसेवितम्' अर्थ किया है । मधुसूदनसरस्वती भी 'आर्यैर्न जुष्टम्' अर्थ करते हैं । वस्तुत: श्लोक के 'अस्वर्ग्यम्' और 'अकीर्तिकरम्'पदों के साहचर्य से 'अनार्यजुष्टम्' पद भी निषेधार्थक ही प्रतीत होता है, अत: आर्यों से असेवित मार्ग की ओर ही भगवान् का संकेत परिलक्षित होने से ' अनार्यजुष्टम्' का अर्थ 'आर्यों से असेवित' ही प्रकृतोपयोगी और उचिततर प्रतीत होता है ।

10. 'लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषाय:' (वेदान्तसार) - अर्थात् लय और विक्षेप का अभाव होने पर भी जब चित्तवृत्ति रागादि वासनाओं के कारण जडीभूत हो जाती है, फलत: अखण्ड ब्रह्म का अवलम्बन नहीं करती तो चित्तवृत्ति की उस अवस्था को निर्विकल्पक - समाधि का 'कषाय' नामक विघ्न कहते हैं ।

6 क्लैब्यं क्लीबभावमधैर्यमोजस्तेजआदिभङ्गरूपं मा स्म गमो मा गा हे पार्थ ! पृथा तनय ! पृथया देवप्रसादलब्धे तत्तनयमात्रे वीर्यातिशयस्य प्रसिद्धत्वात्पृथातनयत्वेन त्वं क्लैब्यायोग्य इत्यर्थः । अर्जुनत्वेनापि तदयोग्यत्वमाह— नैतदिति । त्वयि अर्जुने साक्षान्महेश्वरेणापि सह कृताहवे प्रख्यातमहाप्रभावे नोपपद्यते न युज्यत एतत्क्लैब्यमित्यसाधारण्येन तदयोग्यत्वनिर्देशः ।

ननु 'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः' इति पूर्वमेव मयोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— क्षुद्रमिति । हृदयदौर्बल्यं मनसो भ्रमणादिरूपमधैर्यं क्षुद्रत्वकारणत्वात्क्षुद्रं सुनिरसनं वा त्यक्त्वा विवेकेनापनीयोत्तिष्ठ युद्धाय सज्जो भव हे परंतप ! परं शत्रुं तापयतीति तथा संबोध्यते हेतुगर्भम् ॥ 3 ॥

7 ननु नायं स्वधर्मस्य त्यागः शोकमोहादिवशात्किंतु धर्मत्वाभावादधर्मत्वाच्चास्य युद्धस्य त्यागो मया क्रियत इति भगवदभिप्रायमप्रतिपद्यमानस्यार्जुनस्याभिप्रायमवतारयति—

---

6 क्लैब्य[11] अर्थात् क्लीबभाव अर्थात् ओज, तेज आदि के भङ्गरूप अधैर्य को मत प्राप्त हो । हे पार्थ = पृथा के पुत्र ! अर्थ यह है कि देवताओं की कृपा से प्राप्त होने के कारण कुन्ती के प्रत्येक पुत्र में वीर्यातिशय प्रसिद्ध ही है, अतः पृथा का पुत्र होने के कारण तू ऐसी नपुंसकता के योग्य नहीं है । 'नैतत्त्वय्युपपद्यते'-- वाक्य से 'अर्जुन होने के कारण भी तुझमें यह उचित नहीं है ' - ऐसा कहा गया है । साक्षात् महेश्वर से भी युद्ध करने के कारण प्रसिद्ध महाप्रभाव वाले तुझ अर्जुन में यह नपुंसकता उपपन्न नहीं है = उचित नहीं है । इस प्रकार अर्जुन की असाधारणता के कारण भी उसमें इसकी अयोग्यता का निर्देश किया है ।

अर्जुन की ओर से आशंका करके कि 'मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मैं खड़ा नहीं रह सकता । मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है'भगवान् कहते हैं 'क्षुद्रम्' इत्यादि । हृदयदौर्बल्य अर्थात् मन के भ्रमण आदि रूप अधैर्य को, जो क्षुद्रता = लघुता का कारण होने से क्षुद्र है अथवा जो सुगमता से दूर किया जा सकता है, त्यागकर = विवेक से दूर करके खड़ा हो जा = युद्ध के लिए तैयार हो जा । हे परंतप ! = पर अर्थात् शत्रुओं को जो तपाता है - ऐसा अर्जुन को सम्बोधन किया जाता है । यह सम्बोधन हेतु गर्भित है ॥ 3 ॥

7 भगवान् के अभिप्राय को न समझने वाले अर्जुन की ओर से आशङ्का करके कि 'मेरा यह स्वधर्मत्याग शोक, मोह आदि के कारण नहीं है, किन्तु धर्मत्व का अभाव और अधर्मरूप होने के कारण ही

---

11. अर्जुन युद्ध-कला के विशेष अध्ययन के लिए इन्द्र के पास अमरावती में पांच वर्ष तक रहा था, तब वहाँ की अप्सरा 'उर्वशी' उस पर आसक्त हो गई थी । कामपीडित होकर वह जब रात्रि के समय अर्जुन के भवन में उपस्थित हुई तब अर्जुन सशंक हृदय से उसके सम्मुख आया और उर्वशी को बताया कि वह उसको अपनी माता के समान मानता है । इस पर क्रुद्ध होकर उर्वशी ने अर्जुन को शाप दिया कि 'वह 'क्लीबत्व' को प्राप्त होकर एक नर्तकी के रूप में स्त्रियों के बीच में अपना समय व्यतीत करेगा' । इन्द्र ने अर्जुन से कहा कि वनवास के तेरहवें वर्ष में उर्वशी का शाप सत्य होगा, जिसके बाद वह अपना 'क्लीबत्व' त्यागकर पुनः पुरुषत्व को प्राप्त कर लेगा (महाभारत, 3.44; 3.45.13; 3.46,17.20.36.37.50-52) । फलतः अर्जुन अज्ञातवास के दिनों में विराट के यहाँ बृहन्नला के रूप में 'क्लीब' (नपुंसक) बनकर रहा (महाभारत, 4.2.30) । इस पूर्व प्रसङ्ग की ओर संकेत करते हुए ही कृष्ण का अर्जुन से कहना है कि तुझमें पूर्व क्लैब्य उपपन्न था, क्योंकि वह तेरे धर्म का रक्षक था, किन्तु 'किसी पुरुष के लिए किसी कार्य को करने में अपने को असमर्थ समझनारूप जो 'क्लैब्य' (कायरता) है'- वह क्लैब्य (कायरता) तुझमें उचित नहीं है (एतत् त्वयि नोपपद्यते), क्योंकि तुझे वीरप्रसू पृथा का पुत्र होने के कारण इन्द्र का पराक्रम प्राप्त है, तू साक्षात् महादेव से युद्ध करने के कारण महान् प्रभावशाली है, तू परंतप है अर्थात् तू भयङ्कर से भयङ्कर शत्रुओं को भी तपा देने वाला है ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ 4॥

8 **भीष्मं पितामहं द्रोणं चाऽऽचार्यं संख्ये रण इषुभिः सायकैः प्रतियोत्स्यामि प्रहरिष्यामि कथं ? न कथंचिदपीत्यर्थः । यतस्तौ पूजार्हौ कुसुमादिभिरर्चनयोग्यौ । पूजार्हाभ्यां सह क्रीडास्थानेऽपि वाचाऽपि हर्षफलकमपि लीलायुद्धमनुचितं किं पुनर्युद्धभूमौ शरैः प्राणत्यागफलकं प्रहरणमित्यर्थः । मधुसूदनारिसूदनेति संबोधनद्वयं शोकव्याकुलत्वेन पूर्वापरपरामर्शवैकल्यात् । अतो न मधुसूदनारिसूदनेत्यस्यार्थस्य पुनरुक्तत्वं दोषः । युद्धमात्रमपि यत्र नोचितं दूरे तत्र वध इति प्रतियोत्स्यामीत्यनेन सूचितम् ।**

9 **अथवा पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि । पूजार्हयोरेव विवरणं भीष्मं द्रोणं चेति । द्वौ ब्राह्मणौ भोजय देवदत्तं यज्ञदत्तं चेतिवत्संबन्धः । अयं भावः -- दुर्योधनादयो नापुरस्कृत्य भीष्मद्रोणौ युद्धाय सज्जीभवन्ति । तत्र ताभ्यां सह युद्धं न तावद्धर्मः पूजादिवदविहितत्वात् । न चायमनिषिद्ध-**

इस युद्ध का मैं त्याग कर रहा हूँ'---- संजय अर्जुन के अभिप्राय को अवतरित करता है ---

[अर्जुन ने कहा ---- हे मधुसूदन ! हे अरिसूदन ! मैं युद्ध में पूजा के योग्य भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के साथ बाणों से किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा ? ॥ 4 ॥]

8 मैं पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के साथ युद्ध में=रण में बाणों से किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा अर्थात् उन पर बाणों से किस प्रकार प्रहार करूँगा ? अर्थात् किसी भी प्रकार प्रहार नहीं कर सकता, क्योंकि वे दोनों पूजा के योग्य हैं, पुष्पादि के द्वारा अर्चना के योग्य हैं। तात्पर्य यह है कि उन पूजनीयों के साथ तो क्रीड़ास्थल में भी वाणी से भी हर्ष उत्पन्न करने वाला भी लीलायुद्ध तक करना अनुचित है, फिर युद्धभूमि में बाणों से उन पर प्राण--त्याग करा देने वाला प्रहार करने की तो बात ही क्या है ? 'मधुसूदन' और 'अरिसूदन' --- ये दो सम्बोधन शोकाकुलता के कारण पूर्वापर का विवेचन न रहने से अर्जुन के द्वारा प्रयुक्त किए गए हैं। अतः 'मधुसूदन' और 'अरिसूदन'---- इनके अर्थ में पुनरुक्ति का होना दोष नहीं है। 'प्रतियोत्स्यामि'--- इस क्रियापद से यह सूचित किया गया है कि जिनके साथ युद्धमात्र भी उचित नहीं है उनका वध करने की बात तो दूर ही है।

9 अथवा पूजनीयों के साथ मैं किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा। भीष्म और द्रोण --- ये दोनों पूजनीयों के ही विवरण रूप हैं। इनका सम्बन्ध 'देवदत्त और यज्ञदत्त दो ब्राह्मणों को भोजन कराओ[12],--- इस वाक्य के समान समझना चाहिए। भाव यह है कि दुर्योधन आदि भीष्म और द्रोण को आगे किए

---

12. इस वाक्य का स्वरूप इस प्रकार है - "द्वौ ब्राह्मणौ भोजय । कौ द्वौ ? देवदत्तं यज्ञदत्तं च " अर्थात् पहले किसी ने कहा - 'दो ब्राह्मणों को भोजन कराइए', तदुपरान्त जिज्ञासा हुई - 'किन दो को ?' तो जिज्ञासा शान्त करने के लिए कहा गया - 'देवदत्त और यज्ञदत्त को' । यहाँ वाक्य में देवदत्त और यज्ञदत्त को ब्राह्मण नहीं कहा गया है, किन्तु उपक्रम वाक्य के बल पर यह समझ लिया जाता है कि वे दोनों ब्राह्मण हैं । ठीक इसी प्रकार प्रकृत श्लोक में पहले कहा गया - ' पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि'- अर्थात् 'दो पूजा के योग्य व्यक्तियों के साथ किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा'?, जिज्ञासा हुई - 'किन दो व्यक्तियों के साथ '?, तो जिज्ञासा शान्त करने के लिए कह दिया गया - 'भीष्मं द्रोणं च '। यहाँ भीष्म और द्रोण में पूजार्हत्व का ग्रहण उपक्रम वाक्य के बल पर हो जाता है ।

त्वादधर्मोऽपि न भवतीति वाच्यम्; 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य' इत्यादिना शब्दमात्रेणापि गुरुद्रोहो यदाऽनिष्टफलत्वप्रदर्शनेन निषिद्धस्तदा किं वाच्यं ताभ्यां सह सङ्ग्रामस्याधर्मत्वे निषिद्धत्वे चेति ॥ 4 ।

10 **ननु भीष्मद्रोणयोः पूजार्हत्वं गुरुत्वेनैव, एवमन्येषामपि कृपादीनां, न च तेषां गुरुत्वेन स्वीकारः सांप्रतमुचितः—**

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥'

इति स्मृतेः, तस्मादेषां युद्धगर्वेणावलिप्तानामन्यायराज्यग्रहणेन शिष्यद्रोहेण च कार्याकार्यविवेकशून्यानामुत्पथनिष्ठानां वध एव श्रेयानित्याशङ्क्याऽऽह—

बिना तो युद्ध के लिए तैयार हैं नहीं और उनके साथ युद्ध करना धर्म नहीं है, क्योंकि पूजादि के समान उसका विधान नहीं किया गया है । और यह भी नहीं कहना चाहिए कि शास्त्र में यह निषिद्ध न होने के कारण अधर्म भी नहीं है, क्योंकि 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य'[13]— इत्यादि स्मृति-वाक्य से जब शब्दमात्र से भी गुरुद्रोह अनिष्टफलदायक होने के कारण निषिद्ध कहा गया है तो उनके साथ संग्राम करना अधर्म और निषिद्ध है — इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ 4॥

10 'गुरु होने के कारण ही तो भीष्म और द्रोण की पूजनीयता है, इसी प्रकार कृप आदि अन्य गुरुजनों की भी पूजनीयता है, किन्तु इस समय इन्हें गुरुरूप से स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि स्मृति में कहा गया है --- 'जो अवलिप्त अर्थात् गर्वित हो, कार्याकार्य को न जानता हो तथा उत्पथगामी हो, उस गुरु को भी त्याग देने का विधान है[14]'। अतः युद्ध के गर्व से गर्वित, अन्यायपूर्वक राज्य को

---

13. धर्म शास्त्र में कहा गया है -

'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः ॥'

अर्थात् जो व्यक्ति अपने गुरु का हुंकार या तुंकार शब्दों से निरादर करता है अथवा ब्राह्मण को विवाद में जीतता है, तो वह मृत्यु के पश्चात् श्मशान-भूमि में वृक्ष के रूप में जन्म ग्रहण करता है जिस पर गीध और कौवे निवास करते हैं । इसी प्रकार एक और शास्त्र-वचन है -

'गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
अरण्ये निर्जले स्थाने स भवेद् ब्रह्मराक्षसः ॥

अर्थात् जो गुरु से हुंकार या तुंकार पूर्वक भाषण करता है और ब्राह्मण को विवाद से जीतता है, वह जलशून्य जंगल में ब्रह्मराक्षस होता है ।

इसी आशय का एक श्लोक याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी आया है -

'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
बद्ध्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद् दिनम् ॥ (3.6.91)

अर्थात् जो व्यक्ति अपने गुरु का हुंकार, तूकार आदि शब्दों से निरादर कर बैठे, या ब्राह्मण को विवाद में जीत ले या वस्त्र से बांध डाले, तो उस व्यक्ति को शीघ्र ही उन्हें प्रसन्न करके एक दिन का उपवास करना चाहिए ।

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मधुसूदन सरस्वती को पूर्वोद्धृत श्लोक ही अभिप्रेत है, क्योंकि उनके द्वारा उद्धृत स्मृति-वाक्य में उन्हें अनिष्टफल का प्रदर्शन भी अभीष्ट है जो कि पूर्वोद्धृत स्मृति-वाक्यों में प्राप्त है किन्तु याज्ञवल्क्य-स्मृति-वाक्य में वह प्राप्त नहीं है वहाँ प्रायश्चित-विधान ही किया गया है ।

14. (अ) महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय सत्तावन, श्लोक सात ।

(ब) रामायण, अयोध्या काण्ड, अध्याय इक्कीस, श्लोक तेरह ।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ 5॥

11 **गुरूनहत्वा परलोकस्तावदस्त्येव । अस्मिंस्तु लोके तैर्हृतराज्यानां नो नृपादीनां निषिद्धं भैक्षमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्यतरमुचितं न तु तद्वधेन राज्यमपि श्रेय इति धर्मेऽपि युद्धे वृत्तिमात्रफलत्वं गृहीत्वा पापमारोप्य ब्रूते ।**
नन्ववलिप्तत्वादिना तेषां गुरुत्वाभाव उक्त इत्याशङ्क्याऽऽह— महानुभावानिति । महाननुभावः श्रुताध्ययनतपआचारादिनिबन्धनः प्रभावो येषां तान् । तथा च कालकामादयोऽपि यैर्वशीकृतास्तेषां पुण्यातिशयशालिनां नावलिप्तत्वादिक्षुद्रपाप्मसंश्लेष इत्यर्थः । हिमहानुभावानित्येकं वा पदं, हिमं जाड्यमपहन्तीति हिमहा आदित्योऽग्निर्वा तस्येवानुभावः सामर्थ्यं येषां तान् । तथा चातितेजस्वित्वात्तेषामवलिप्तत्वादिदोषो नास्त्येव ।

ग्रहण करने और शिष्यों से द्रोह करने के कारण कार्याकार्य के विवेक से शून्य और उत्पथनिष्ठ अर्थात् कुमार्ग में प्रवृत्त इन गुरुजनों का वध करना ही अच्छा है '— ऐसी आशङ्का करके अर्जुन कहता है —

[इस लोक में इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर तो भिक्षा का अन्न भी खाना अच्छा है । इन अर्थलोलुप गुरुजनों को मारकर तो मैं केवल इस लोक में ही रुधिर से सने हुए भोगों को भोग सकूँगा ॥ 5 ॥]

11 गुरुजनों को न मारकर परलोक तो है ही, इस लोक में भी उनके द्वारा राज्य हर लिए जाने पर हम नृपादि के लिए निषिद्ध भैक्ष[15]= भिक्षा का अन्न भी खाना श्रेयस्कर = प्रशस्यतर अर्थात् उचित है, न कि उनका वध करके राज्य भोगना भी अच्छा है । इस प्रकार स्वधर्म होने पर भी युद्ध में केवल आजीविकामात्र ही फल है[16]— ऐसा स्वीकार कर उसमें पाप का आरोप करके कहता है ।

(स) उद्धृत स्मृति-वाक्य में उत्पथगामी गुरु के त्याग का विधान कहा गया है, वध का नहीं, अत: इस स्मृति-वाक्य के अनुसार 'वध एव श्रेयान्' - यह आशङ्का नहीं की जा सकती, किन्तु द्रोणादि में उक्त स्मृति-वाक्य के अनुसार गुरुभाव का परित्याग हो जाने से फलस्वरूप सामान्य आततायी होने के कारण ही उनमें वध्यता प्राप्त हो जाती है ।

15. भैक्षम् = भिक्षाणां समूह: (भिक्षा का समूह) = 'भैक्षम्' पद समूह अर्थ में'भिक्षा' शब्द से ' भिक्षादिभ्योऽण्' (पाणिनिसूत्र, 4.2.38) सूत्र द्वारा'अण्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है । यहाँ ' भिक्षा' का अर्थ 'अन्न' और 'भैक्ष' का अर्थ अन्न का समूह या विविध अन्न है । तथा 'भिक्षा' माँगने का भी नाम है (अर्थात् 'भिक्षा' शब्द माँगने के अर्थ में 'भिक्ष्' धातु ('भिक्ष् याञ्चायाम्' भ्वादिगण, आत्मनेपद, सेट्) से 'गुरोश्च हल:' (पाणिनि सूत्र, 3.3.103) सूत्र द्वारा स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है) और मांगने से मिले अन्न आदि को भी भिक्षा कहा जाता है, फलत: 'भैक्ष' का अर्थ भिक्षा में प्राप्त अन्न = पदार्थ-समूह होता है, जैसा कि अमरकोशकार ने कहा है -'भैक्षं भिक्षाकदम्बकम्' । प्रकृत प्रसंग में अर्जुन राजकुमार होते हुए भी गुरुजनों का वध करने से प्राप्त होने वाले राज्यभोग की अपेक्षा 'भैक्ष' = भिक्षा में प्राप्त हुए अन्न के भोग को श्रेयस्कर समझता है ।

16. युद्ध दो प्रकार का होता है – वृत्तिफलक और धर्मफलक । 'वृत्तिफलक' युद्ध वह होता है जो मात्र जीविका के लिए राज्यलाभ के उद्देश्य से किया जाता है, वह धर्मयुद्ध नहीं होता । ' धर्मफलक' युद्ध वह होता है जो अन्याय का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से दुष्टदमन करने के लिए किया जाता है, वह वृत्तिफलक नहीं होता । इसमें प्रधानतः धर्म ही फल होता है, राज्यादि का लाभ तो उसमें आनुषंगिक फल है । ऐसे युद्ध में यदि गुरुजन भी

'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥'

12 **ननु यदाऽर्थलुब्धाः सन्तो युद्धे प्रवृत्तास्तदैषां विक्रीतात्मनां कुतस्त्यं पूर्वोक्तं माहात्म्यं, तथा चोक्तं भीष्मेण युधिष्ठिरं प्रति**

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः' ॥

पुनः भगवान् की ओर से यह आशङ्का करके कि 'गर्वत्व आदि के कारण इनमें गुरुत्व का अभाव कहा गया है' --- अर्जुन कहता है --- 'महानुभावों को' अर्थात् शास्त्रश्रवण, अध्ययन, तप और आचार आदि के कारण जिनका महान् अनुभाव अर्थात् प्रभाव है ऐसे इन गुरुजनों को । तात्पर्य यह है कि जिन्होंने काल, कामादि को भी अपने वश में कर लिया है ऐसे इन अतिशय पुण्यशालियों को गर्वत्वादि क्षुद्र पापों का संसर्ग नहीं हो सकता । अथवा 'हिमहानुभावान्' --- यह एक पद है । जो हिम = जडता (जाडे) का हनन करता है उसे हिमहा अर्थात् सूर्य या अग्नि कहते हैं । उस हिमहा = सूर्य या अग्नि के सदृश है अनुभाव = सामर्थ्य जिनका उन गुरुजनों को । इस प्रकार अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण उनमें गर्वत्वादि दोष नहीं हैं, जैसा कि कहा भी गया है ---- 'समर्थ पुरुषों में कभी कभी धर्मव्यतिक्रम और साहस देखा गया है । वह उन तेजस्वियों के लिए दोष का कारण नहीं होता, जैसे सर्वभुक् अग्नि को दुष्ट पदार्थ भी ग्रहण करने से कोई दोष नहीं लगता'[17] ।

12 पुनरपि भगवान् की ओर से ऐसी आशङ्का करके कि 'जब ये अर्थलोलुप होकर ही युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं, तो अपने आत्मा को बेच देने वाले इन भीष्मादि का पूर्वोक्त माहात्म्य तो कैसे हुआ ? और फिर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा भी है ---- 'पुरुष ही अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है । महाराज । यह सत्य है, इसीलिए मुझे कौरवों ने अर्थ से बांध रखा है'[18] ---- अर्जुन कहता है ---- 'हत्वा' --- इत्यादि । 'अर्थलोलुप होने पर भी वे मेरी अपेक्षा गुरु तो हैं ही' --- ऐसा श्लोक के उत्तरार्ध में पुनः 'गुरु' शब्द के ग्रहण करने से कहा गया है । यहाँ 'तु' शब्द 'अपि'(भी) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ऐसे गुरुजनों को मारकर भी मैं केवल भोगों को ही प्राप्त कर सकता हूँ, मोक्ष तो प्राप्त नहीं कर सकूँगा । जिनका भोग किया जाता है वे भोग = विषय कहलाते हैं ।

प्रतिपक्ष के रूप में सम्मुख स्थित हों तब उनका वध-करना कोई पाप नहीं है । किन्तु अर्जुन यहाँ यह सोचता है कि हमलोग तो इस युद्धभूमि में मात्र आजीविका के उद्देश्य से राज्यलाभ के लिए ही वृत्तिफलक युद्ध करने में उद्यत हुए हैं, अतः भ्रान्त धारणावश इस प्रकार के युद्ध को धर्म मानने पर भी वह प्रकृत अधर्म ही है । ऐसे घोर अधर्म का आश्रय लेकर गुरुजनों का वध करने से प्राप्त होने वाले राज्य-भोग की अपेक्षा भिक्षा में प्राप्त अन्न का भोग श्रेयस्कर है ।

17. (अ) भागवत --पुराण, स्कन्ध दश, अध्याय चौंतीस, श्लोक तीस ।
(ब) सोमेश्वर भट्ट के अनुसार लोभ आदि के वशीभूत हो सन्निहित अनर्थ को न देखकर अधर्म का आचरण करना 'धर्म व्यतिक्रम' है, जैसे — प्रजापति का अपनी दुहिता और इन्द्र का अहल्या के साथ अगम्यगमन करना धर्म व्यतिक्रम है । तथा बल के दर्प में आकर उपस्थित अनर्थ की उपेक्षा करके अधर्म का आचरण करना 'साहस' है, जैसे -- विश्वामित्र द्वारा ब्राह्मण-शाप से चाण्डाल बने त्रिशङ्कु को याग कराना, भीष्म का अनाश्रमी रहना और बिना पत्नी के श्रौत याग करना इत्यादि साहस के दृष्टन्त हैं । "लोभाद्यभिभवाद् सन्निहितानर्थादर्शनेनेनाधर्माचरणं धर्मव्यतिक्रमः । दृष्टस्याप्यनर्थस्य बलदर्पेणानादरादधर्माचरणं साहसम्"— सोमेश्वर भट्ट !

18. महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय तैंतालीस, श्लोक छप्पन ।

इत्याशङ्क्याऽऽह— हत्वेति । अर्थलुब्धा अपि ते मदपेक्षया गुरवो भवन्त्येवेति पुनर्गुरुग्रहणेनोक्तम् । तुशब्दोऽप्यर्थे ईदृशानपि गुरून्हत्वा भोगानेव भुञ्जीय नतु मोक्षं लभेय । भुज्यन्त इति भोगा विषयाः कर्मणि घञ् । ते च भोगा इहैव न परलोके । इहापि च रुधिरप्रदिग्धा इवापयशोव्याप्तत्वेनात्यन्तजुगुप्सिता इत्यर्थः । यदेहाप्येवं तदा परलोकदुःखं कियद्वर्णनीयमिति भावः ।

13 अथवा गुरून्हत्वाऽर्थकामात्मकान्भोगानेव भुञ्जीय नतु धर्ममोक्षावित्यर्थकामपदस्य भोगविशेषणतया व्याख्यानान्तरं द्रष्टव्यम् ॥ 5 ॥

14 ननु भिक्षाशनस्य क्षत्रियं प्रति निषिद्धत्वाद्युद्धस्य च विहितत्वात्स्वधर्मत्वेन युद्धमेव तव श्रेयस्करमित्याशङ्क्याऽऽह —

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम–
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ 6 ॥

यहाँ 'भोग'[19] शब्द 'भुज्' धातु से कर्म में 'घञ्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । वे भोग भी इस लोक में ही प्राप्त होंगे परलोक में नहीं । और यहाँ भी वे मानो रुधिर से सने हुए होंगे अर्थात् अपयश से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त जुगुप्सित = घृणित होंगे । भाव यह है कि जब यहाँ भी ऐसा है तो परलोक के दुःख का तो कहाँ तक वर्णन किया जाय ।

13 अथवा, गुरुजनों को मारकर तो अर्थात्मक और कामात्मक भोगों को ही भोगूँ, धर्म और मोक्ष को तो प्राप्त नहीं कर सकूंगा — इस प्रकार 'अर्थकाम' पद को 'भोग' शब्द का विशेषण मानने से यह दूसरी व्याख्या की जा सकती है [20] । (अर्थात् श्लोक के उत्तरार्ध का अन्वय -- 'गुरून् हत्वा तु इह रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् एव भुञ्जीय' --- इस प्रकार करने से उक्त दूसरी व्याख्या की जा सकती है ।) ॥ 5 ॥

14 भगवान् की ओर से पुनः यह आशङ्का करके कि 'क्षत्रिय के लिए भिक्षा मांगकर खाना तो निषिद्ध है और युद्ध विहित है, अतः स्वधर्म होने के कारण तेरे लिए युद्ध ही श्रेयस्कर है',-- अर्जुन कहता है-- [हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और भिक्षा मांगना ---- इन दोनों में से कौन सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि इस युद्ध में हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे । और जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे धार्तराष्ट्र = धृतराष्ट्र के सम्बन्धी भीष्म-द्रोणादि ही हमारे सम्मुख अवस्थित हैं ॥ 6 ॥]

---

19. 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पाणिनिसूत्र, 3.3.19) सूत्र के अनुसार कर्ता से भिन्न कारक अर्थ में संज्ञा में धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है । 'भोग' शब्द 'भुज्' धातु से 'भुज्यन्त इति' अर्थात् जिनका भोग किया जाता है — इस प्रकार कर्म अर्थ में 'अकर्तरि; इत्यादि सूत्र द्वारा 'घञ्~' प्रत्यय होने पर जकार को 'चजोः कु: घिण्ण्यतोः' सूत्र से गकार होकर निष्पन्न हुआ है ।

20. इस श्लोक के द्वारा श्री भगवान् ने इसी अध्याय के द्वितीय और तृतीय श्लोकों में 'अनार्यजुष्टम्' इत्यादि शब्दों के द्वारा अर्जुन को युद्ध से विरत देखकर जो तिरस्कार किया उसका प्रतिवाद कर अर्जुन प्रत्युत्तर में कह रहा है कि युद्ध करने से ही 'अनार्यजुष्ट' आदि दोषों से युक्त होना पडेगा, युद्ध न करने से नहीं । (क) महान् प्रभावशाली भीष्म, द्रोणादि के साथ युद्ध करने से ही ' अनार्यजुष्ट' होना पडेगा, क्योंकि कोई भी नीति-शास्त्र ऐसे गुरुजनों के साथ युद्ध की अनुमति नहीं देता । (ख) गुरुजनों का वध करने से प्राप्त राज्य-भोग जागतिक वस्तु

15 **एतदपि न जानीमो भैक्षयुद्धयोर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयः = श्रेष्ठं, किं भैक्षं हिंसाशून्यत्वादुत युद्धं स्वधर्मत्वादिति । इदं च न विद्म आरब्धेऽपि युद्धे यद्वा वयं जयेमातिशयीमहि यदि वा नोऽस्माञ्जयेयुर्धार्तराष्ट्राः । उभयोः साम्यपक्षोऽप्यर्थाद्बोद्धव्यः ।**

16 **किं च जातोऽपि जयो नः फलतः पराजय एव । यतो यान्बन्धून्हत्वा जीवितुमपि वयं नेच्छामः किं पुनर्विषयानुपभोक्तुं ? त एवावस्थिताः संमुखे धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसंबन्धिनो भीष्मद्रोणादयः सर्वेऽपि । तस्माद्भैक्षाद्युद्धस्य श्रेष्ठत्वं न सिद्धमित्यर्थः ।**

17 **तदेवं प्राक्तनेन ग्रन्थेन संसारदोषनिरूपणादधिकारिविशेषणान्युक्तानि । तत्र 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्यत्र रणे हतस्य परिव्राट्समानयोगक्षेमत्वोक्तेः 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' कठो० (2.1) इत्यादिश्रुतिसिद्धं श्रेयो मोक्षाख्यमुपन्यस्तम् । अर्थाच्च तदितरदश्रेय इति नित्यानित्य-**

---

15 हम यह भी नहीं जानते कि भैक्ष और युद्ध-- इन दोनों में से हमारे लिए क्या गरीय = श्रेष्ठ है ? हिंसा से शून्य होने के कारण क्या भैक्ष श्रेष्ठ है या स्वधर्म होने के कारण युद्ध ? हम यह भी नहीं जानते कि युद्ध प्रारम्भ होने पर भी हम जीतेंगे अर्थात् हम प्रमुख रहेंगे या वे धार्तराष्ट्र = धृतराष्ट्र के पुत्र = धृतराष्ट्र के सम्बन्धी भीष्म--द्रोणादि हमें जीतेंगे । इससे अर्थतः दोनों ओर की समानता का पक्ष भी समझ लेना चाहिए ।

16 इसके अतिरिक्त यदि विजय हो भी गई तो वह फलतः हमारी पराजय ही होगी, क्योंकि जिन बन्धुओं को मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, विषयों को भोगने की तो बात ही क्या, वे धार्तराष्ट्र अर्थात् धृतराष्ट्र के सम्बन्धी सभी भीष्म-द्रोण आदि हमारे सम्मुख अवस्थित हैं । अतः तात्पर्य यह है कि भैक्ष से युद्ध की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती ।

17 इस प्रकार पूर्व ग्रन्थ से संसार के दोषों का निरूपण किए जाने के कारण अधिकारी[21] के विशेषण कहे गये हैं । इसमें 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' (गीता, 1.31ब) – इस श्लोक से रण में मारे हुए व्यक्ति का संन्यासी के समान योग--क्षेम कहकर 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' (कठोपनिषद् 2.1)-- अर्थात् 'श्रेय अन्य है और प्रेय अन्य है ' -- इत्यादि श्रुति से सिद्ध मोक्ष नामक श्रेय का उल्लेख किया है । अर्थात् 'मोक्ष से भिन्न अन्य सब कुछ अश्रेय है ' -- इस प्रकार के ज्ञान से नित्यानित्यवस्तुविवेक[22] दिखाया है । 'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण' -- इस वाक्य से ऐहिक फल से वैराग्य तथा 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य

होने के कारण इस लोक में ही भोगने होंगे, परलोक में नहीं, अतः यह युद्ध 'अस्वर्ग्य' होगा । (ग) गुरुजनों के रुधिर से सने हुए भोगों को भोगने से इस लोक में भी अपयश का भागी होना होगा, अतः यह युद्ध 'अकीर्तिकर' होगा । फलतः युद्ध न कर भिक्षावृत्ति का भी अवलम्बन करने से इन सभी दोषों की कोई सम्भावना नहीं है । निष्कर्षतः मेरा युद्ध न करना ही उचित है, यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है ।

21.ब्रह्मविद्या का अधिकारी वह जिज्ञासु है जिसने इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में वेद-वेदाङ्गों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समस्त वेदान्त के अर्थ को समझ लिया है तथा जिसका अन्तःकरण काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्यागपूर्वक नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासना कर्मों का अनुष्ठान करने से समस्त पापों के दूर हो जाने के कारण अत्यन्त निर्मल हो गया है और जो नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादिषट्कसम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व -- साधनचतुष्टय से सम्पन्न है । ('अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधनचतुष्टयसम्पनः प्रमाता'— वेदान्तसार) । यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने अर्जुन को संसार के दोषों का पूर्णतः ज्ञान हो जाने के कारण नित्यानित्यवस्तुविवेकादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न होने से ब्रह्मविद्या का अधिकारी कहा है ।

वस्तुविवेको दर्शितः, न काङ्क्षे विजयं कृष्णेत्यत्रैहिकफलविरागः, अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोरित्यत्र पारलौकिकफलविरागः, नरके नियतं वास इत्यत्र स्थूलदेहातिरिक्त आत्मा, किं नो राज्येनेति व्याख्यातवर्त्मना शमः, किं भोगैरिति दमः, यद्यप्येते न पश्यन्तीत्यत्र निर्लोभता, तन्मे क्षेमतरं भवेदित्यत्र तितिक्षा, इति प्रथमाध्यायार्थः संन्याससाधनसूचनम्। अस्मिंस्त्वध्याये श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीत्यत्र भिक्षाचर्योपलक्षितः संन्यासः प्रतिपादितः ॥ 6 ॥

18 **गुरूपसदनमिदानीं प्रतिपाद्यते समधिगतसंसारदोषजातस्यातितरां निर्विण्णस्य विधिवद्गुरुमुपसन्नस्यैव विद्याग्रहणेऽधिकारात्। तदेवं भीष्मादिसंकटवशात् 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह० 3.5.1) इति श्रुतिसिद्धभिक्षाचर्येऽर्जुनस्याभिलाषं प्रदर्श्य विधिवद्गुरूपसत्तिमपि तत्संकटव्याजेनैव दर्शयति—**

हेतोः '-- इस वाक्य से पारलौकिक फल से वैराग्य[23] दिखाया है। 'नरके नियतं वासः' — यहाँ आत्मा को स्थूलशरीर से भिन्न कहा है। 'किं नो राज्येन'-- इस व्याख्यान शैली से शम[24], 'किं भोगैः' -- इससे दम[25], 'यद्यप्येते च पश्यन्ति' -- इससे निर्लोभता, और 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' -- इससे तितिक्षा[26] प्रदर्शित की है। इस प्रकार प्रथम अध्याय का अर्थ संन्याससहित जिज्ञासु के साधनों को ही सूचित करना है। इस अध्याय में तो 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि' – इस वाक्य से भिक्षाचर्या द्वारा उपलक्षित संन्यास का प्रतिपादन किया है ॥ 6 ॥

18 अब गुरूपसत्ति[27] का प्रतिपादन किया जा रहा है, क्योंकि जो संसार के दोषों को जानकर अत्यन्त विरक्त हो जाता है और विधिवत् गुरु की शरण ग्रहण कर लेता है उसे ही ब्रह्मविद्या के ग्रहण का अधिकार है। इस प्रकार भीष्मादिरूप संकट के कारण 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह० 3.5.1), अर्थात् 'पुत्रैषणादि से विमुख होकर भिक्षाचर्या करते हैं' – इस श्रुति से सिद्ध भिक्षाचर्या में अर्जुन की अभिलाषा (प्रवृत्ति) दिखाकर उस संकट के व्याज से ही उसकी विधिवत् गुरूपसत्ति भी दिखाते हैं --

22.'नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्'— (वेदान्तसार) — अर्थात् नित्यानित्यवस्तुविवेक वह है जिसके अन्तर्गत 'ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ अनित्य है' — यह विवेचन होता है।

23. इहामुत्रार्थफलभोगविराग वह है जिसके अनुसार कर्मजन्य होने के कारण अनित्य — माल्य, चन्दन और स्त्री आदि ऐहिक विषय भोगों के समान पारलौकिक अमृतादि विषयों के भोगों के भी अनित्य होने के कारण उनसे नितान्त विरक्ति होती है। ('ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादि विषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः'— (वेदान्तसार)।

24.'शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः' —(वेदान्तसार), अर्थात् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से अतिरिक्त विषयों से मन को हटाना 'शम' कहलाता है।

25. 'दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्त्तनम्' —(वेदान्तसार), अर्थात् श्रवण–मननादि से अतिरिक्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों को हटाना 'दम' कहलाता है।

26.'तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता'—(वेदान्तसार), अर्थात् शीत-उष्ण, जय-पराजय, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करना 'तितिक्षा' कहलाता है।

27. (अ) जो व्यक्ति संसार के दोषों को जानकर अत्यन्त वैराग्यवान् होकर साधनचतुष्टय से सम्पन्न होता है वही तत्त्वज्ञान का अधिकारी होता है और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए वह गुरु की शरण ग्रहण करता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है —'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' — अर्थात् उस आत्मतत्त्व को जानने के लिए अर्थात् मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए वह गुरु के समीप जाय'। यहाँ भी श्रेय की प्राप्ति के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण का शिष्यत्व वरण कर श्रीकृष्ण (गुरु) की शरण ग्रहण की है, क्योंकि वह मुमुक्षु ब्रह्मविद्या (तत्त्वज्ञान) का अधिकारी है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वा धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ 7 ॥

19 **यः स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपण इति लोके प्रसिद्धः । तद्विधत्वादखिलो ऽनात्मविदप्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति । 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' (बृह० 3.8.10) इति श्रुतेः । तस्य भावः कार्पण्यमनात्माध्यासवत्त्वं तन्निमित्तोऽस्मिञ्जन्मन्येत एव मदीयास्तेषु हतेषु किं जीवितेनेत्यभिनिवेशरूपो ममतालक्षणो**

[कृपणतारूप दोष के कारण उपहत हुए स्वभाववाला और धर्म के विषय में विमूढ चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित श्रेय हो वह मुझे बताइए । मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, आप मुझे उपदेश कीजिए ।।7 ।।]

19 जो स्वल्प भी आर्थिक क्षति को सहन नहीं कर सकता वह 'कृपण' कहा जाता है –यह लोक में प्रसिद्ध है । ऐसे ही होने के कारण समस्त अनात्मविद् परमपुरुषार्थ को प्राप्त न करने से 'कृपण '[28] ही होते हैं । जैसा कि श्रुति में कहा गया है – 'हे गार्गि ! जो व्यक्ति इस अक्षर पुरुष को (सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म को) न जानकर इस लोक से चला जाता है वह 'कृपण' कहा जाता है' (बृह० 3.8.10) ।

(ब) मधुसूदन सरस्वती ने अपने गतश्लोक (2. 6) के व्याख्यान में अधिकारी मुमुक्षु (अर्जुन) के नित्यानित्यवस्तुविवेकादि साधनचतुष्टय का निरूपण करके यहाँ उस अधिकारी के लिए परम अपेक्षित साधन 'गुरूपसत्ति' का उल्लेख किया है, जो कि प्रासङ्गिक और उचित ही है, क्योंकि बिना गुरूपदेश के तत्त्वज्ञान नहीं होता और उस तत्त्वज्ञान का उपदेश श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन (मुमुक्षु) को 'अशोच्यान्' इत्यादि ग्रन्थ से आगे किया ही जा रहा है ।शंकराचार्य ने भी अपने गीताभाष्य (2. 11) में कहा है कि 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' (गीता, 1. 2) से लेकर 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' (गीता, 2.9) तक के ग्रन्थ से अर्जुन के संसार के बीजभूत शोक और मोह प्रदर्शित किए गए हैं और उनकी निवृत्ति सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञान से ही हो सकती है । अतः भगवान् वासुदेव सर्वलोकानुग्रहार्थ अर्जुन को निमित्त बनाकर 'अशोच्यान्' इत्यादि से उस आत्मज्ञान का उपदेश कर रहे हैं । फलतः स्पष्ट है कि मधुसूदन सरस्वती ने शंकराचार्य का ही अनुमोदन किया है, इसीलिए उन्होंने गत श्लोक (2.6) के व्याख्यान में तत्त्वज्ञानार्थ अर्जुन की साधनचतुष्टय से सम्पन्नता दिखा कर इस श्लोक में 'गुरूपसत्ति' साधनविशेष का उल्लेख किया है । किन्तु आनन्दगिरि ने शांकर-गीता-भाष्य के — 'तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थमर्जुनं निमित्तीकृत्याह' — वाक्य की व्याख्या में कहा है — 'नहि तस्यामवस्थायामर्जुनस्य भगवता यथोक्तज्ञानमुपदेष्टुमिष्टं किन्तु स्वधर्मानुष्ठानात् बुद्धिशुद्ध्युत्तरकालम्'— अर्थात् भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को शोक और मोह की अवस्था में यथोक्तज्ञान का उपदेश नहीं किया है, अभी उन्होंने अर्जुन को स्वधर्म का उपदेश किया है, इसके अनुष्ठान से जब अर्जुन (साधक) का अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा, तब तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे । इसलिए यहाँ तत्त्वज्ञान के उपदेश के अभाव में तत्त्वज्ञान के साधन-चतुष्टयादि का निरूपण अप्रासङ्गिक है । आनन्दगिरि ने यहाँ साधन-चतुष्टयादि के निरूपण की अप्रासङ्गिकता तो बताई है, किन्तु यह कुछ नहीं कहा है कि यह साधन-निरूपण अन्यत्र कहाँ प्रासङ्गिक रूप से निरूपित है या निरूपित होगा । अतः स्पष्ट है कि आनन्दगिरि का कथन अपूर्ण होने से स्वीकार्य नहीं है । फलतः मधुसूदन सरस्वती का विचार स्वीकार्य है । वह सर्वथा प्रासङ्गिक और उचित है ।

28. जो व्यक्ति अति अल्प अर्थ का क्षय सहन नहीं कर सकता है, वह अर्थव्यय से जो सांसारिक सुख प्राप्त हो सकता है उससे भी वंचित रहता है, लोकसमाज उसे 'कृपण' कहता है । ऐसे ही जो लोग अज्ञानी हैं वे भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए अत्यन्त तुच्छ सांसारिक भोग का त्याग नहीं कर सकते हैं, और फलतः वे लोग परमपुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकते हैं अर्थात् परमानन्दस्वरूप चरमभोग से वंचित रहते हैं । अतः वे भी आध्यात्मिक दृष्टि से 'कृपण' ही होते हैं ।

दोषस्तेनोपहतस्तिरस्कृतः स्वभावः क्षात्रो युद्धोद्योगलक्षणो यस्य स तथा । धर्मे विषये निर्णायकप्रमाणादर्शनात्संमूढं किमेतेषां वधो धर्मः किमेतत्परिपालनं धर्मः । तथा किं पृथ्वीपरिपालनं धर्मः किं वा यथावस्थितोऽरण्यनिवास एव धर्म इत्यादिसंशयैर्व्याप्तं चेतो यस्य स तथा । 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इत्यत्र व्याख्यातमेतत् । एवंविधः सन्नहं त्वा त्वामिदानीं पृच्छामि श्रेय इत्यनुषङ्गः ।

20 **अतो यन्निश्चितमैकान्तिकमात्यन्तिकं च श्रेयः परमपुमर्थभूतं फलं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि । साधनानन्तरमवश्यंभावित्वमैकान्तिकत्वं, जातस्याविनाश आत्यन्तिकत्वम् । यथा ह्यौषधे कृते कदाचिद्रोगनिवृत्तिर्न भवेदपि जाताऽपि च रोगनिवृत्तिः पुनरपि रोगोत्पत्त्या विनाश्यते, एवं कृतेऽपि यागे प्रतिबन्धवशात्स्वर्गो न भवेदपि जातोऽपि स्वर्गो दुःखाक्रान्तो नश्यति चेति नैकान्तिकत्वमात्यन्तिकत्वं वा तयोः । तदुक्तम्–**

कृपण का भाव ही 'कार्पण्य'[29] है, जो अनात्माध्यास से युक्त होता है । अनात्माध्यास के ही कारण 'इस जन्म में ये मेरे हैं, इनके मारे जाने पर जीवन का क्या प्रयोजन है ? – इस प्रकार का अभिनिवेश रूप ममता-दोष हुआ है । ममता-दोष से जिसका स्वभाव अर्थात् युद्धोद्योगरूप क्षत्रियत्व उपहत = तिरस्कृत हो गया है वैसा मैं । तथा धर्म के विषय में निर्णायक प्रमाण न देखने से जिसका चित्त मूढ हो रहा है अर्थात् जिसका चित्त 'इनका वध करना धर्म है या इनका पालन करना धर्म है ? अथवा पृथ्वी का पालन धर्म है या जैसे वन में थे वैसे ही वन में रहना ही धर्म है '? — इत्यादि संशयों से व्याप्त है वैसा मैं । अर्थात् ऐसा होने के कारण मैं इस समय आपसे श्रेय के विषय में पूछता हैं — इस प्रकार सम्बन्ध है । इस स्थिति की 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इस वाक्य में व्याख्या की गई है ।

20 अतः जो निश्चित अर्थात् ऐकान्तिक और आत्यन्तिक श्रेय अर्थात् परमपुरुषार्थरूप फल हो वह मुझे बताइए । साधन के अनन्तर फल का अवश्य होना ऐकान्तिकता है और उत्पन्न हुए फल का विनाश न होना 'आत्यन्तिकता' है । जैसे ओषधि करने पर कदाचित् रोगनिवृत्ति न भी हो और उत्पन्न रोगनिवृत्ति पुनः रोगोत्पत्ति से विनष्ट हो जाय, इसी प्रकार यज्ञ करने पर भी प्रतिबन्ध के कारण स्वर्ग न भी मिले और स्वर्ग मिलने पर भी वह दुःखाक्रान्त रहे तथा नष्ट हो जाय -- तो इन दोनों – ओषधि- प्रयोग और यज्ञानुष्ठान -- की ऐकान्तिकता और आत्यन्तिकता नहीं होगी । कहा भी गया है –

---

29. कार्पण्यम् = कृपणस्य भावः कर्म वा (कृपण का भाव या कर्म) । 'कार्पण्य' शब्द 'कृपण' शब्द से भाव अर्थ में 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ' (पाणिनिसूत्र 5.1.124) सूत्र द्वारा 'ष्यञ्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है ।

30. 'आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्, तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसं च'— आत्मा अर्थात् शरीर या मन से उत्पन्न दुःख को 'आध्यात्मिक दुःख' कहते हैं । यह दो प्रकार का होता है — शारीरिक और मानसिक । वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को ' शारीरिक' कहते हैं (शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्) । शारीरिक दुःख भी दो प्रकार का होता है – एक स्वाभाविक जैसे –भूख-प्यासादि से उत्पन्न ; दूसरा त्रिदोष-जन्य जैसे ज्वर-अतिसार आदि । काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा सुन्दर शब्द, स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख को 'मानसिक' कहते हैं (मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम्) । वस्तुतः ये सभी दुःख आन्तरिक उपायों से साध्य या निवर्तनीय होने के कारण 'आध्यात्मिक' कहलाते हैं । जैसे -- अन्न से भूख, जल से प्यास, ओषधि से ज्वरादि रोग, इन्द्रिय-निग्रह से काम, दया से क्रोध, दान से लोभ, विवेचन से मोह, तत्त्वज्ञान से भय, उदारता से ईर्ष्या तथा असंग से विषाद की निवृत्ति होती है । ये सभी साधन या उपाय शरीर या मन के अन्दर प्रयुक्त होने से आन्तरिक हुए, अतएव इनके द्वारा साध्य या निवर्तनीय दुःख आन्तरिक या आध्यात्मिक कहलाते हैं ।

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्' ॥ (सां० का० 1) इति
'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' ॥ (सां० का० 2) इति च

21 ननु त्वं मम सखा न तु शिष्योऽत आह— शिष्यस्तेऽहमिति । त्वदनुशासनयोग्यत्वादहं तव शिष्य एव भवामि न सखा न्यूनज्ञानत्वात् । अतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं मां शाधि शिक्षय करुणया

"आध्यात्मिक[30], आधिभौतिक[31] और आधिदैविक[32] – इस त्रिविध दुःख के प्रहार से उसको दूर करने वाले शास्त्रीय साधन या उपाय के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है । यदि कोई यह कहे कि दुःख-विनाश का लौकिक उपाय विद्यमान होने के कारण वह शास्त्र-जिज्ञासा व्यर्थ है, तो उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उस लौकिक उपाय से दुःखत्रय की ऐकान्तिक[33] (अनिवार्यतः) और आत्यन्तिक[34] (सार्वकालिक) निवृत्ति नहीं होती" – (सांख्य–कारिका, 1) ।

"आनुश्रविक[35] (वैदिक) कर्मकलापरूप उपाय भी लौकिक उपायों के सदृश ही दुःखत्रय की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ है, क्योंकि वह अशुद्धि[36] (मल), क्षय[37] (विनाश) और अतिशयता[38] (न्यूनाधिक्य--विषमता) दोष से युक्त है । व्यक्त (कार्य), अव्यक्त (कारणरूप प्रकृति) और चिद्रूप पुरुष के विवेक-ज्ञान से उत्पन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूप सांख्यशास्त्रोक्त उपाय उससे भिन्न होने के कारण श्रेयस्कर है"— (सांख्यकारिका 2) ।

21 यदि भगवान् कहें कि 'तू तो मेरा सखा है, शिष्य नहीं'—तो अर्जुन कहता है — 'मैं आपका शिष्य हूँ'— इत्यादि । आपके अनुशासन के योग्य होने के कारण मैं आपका शिष्य ही हूँ, सखा

---

31. 'आधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्' — मनुष्य, पशु पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख 'आधिभौतिक' कहा जाता है ।

32. 'आधिदैविकं यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्' – यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख 'आधिदैविक' कहलाता है । आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख बाह्य उपायों से साध्य होते हैं । यद्यपि सभी दुःख मन के धर्म होने के कारण मानसिक ही होते हैं, अतएव आध्यात्मिकादि रूप से उनका विभाजन सम्भव नहीं है, तथापि ऐसा इस दृष्टि से किया गया है कि जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह तो मानसिक और जिसमें उसके अतिरिक्त बाह्य निमित्तों की भी अपेक्षा हो, वह उससे भिन्न शारीरिक, आधिभौतिक या आधिदैविक है ।

33. दुःख की नियत रूप से– अनिवार्य रूप से– अवश्यमेव निवृत्ति होना 'ऐकान्तिकता' है (एकान्तो — दुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः)।

34. निवृत्त दुःख का फिर उत्पन्न नहीं होना 'आत्यन्तिकता' है (अत्यन्तो — निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः) ।

35. 'गुरुपाठादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः, तत्र भवः आनुश्रविकः' — गुरूपदेश के अनन्तर सुने जाने के कारण वेद को 'अनुश्रव' कहते हैं । तात्पर्य यह है कि वेद सुना ही जाता है, रामायणादि अन्य सुने जाने वाले ग्रन्थों की भांति किसी के द्वारा प्रणीत नहीं है अर्थात् वेद अपौरुषेय है । अनुश्रव (वेद) में प्रतिपादित याग आदि कर्मकलाप को यहां 'आनुश्रविक' कहा गया है ।

36. सोमादि यज्ञों का पशु-हिंसा तथा बीजनाश इत्यादि साधनों से सम्पादित होना ही वैदिक-कर्मकाण्ड की 'अशुद्धि' या मलिनता है । जैसा कि भगवान् पञ्चशिखाचार्य ने कहा है — 'स्वल्पः सपरिहारः सङ्करः सप्रत्यवमर्षः' ।

37. स्वर्गादि 'भाव' पदार्थ होते हुए दूसरे के कार्य (फल) हैं, इसी से उनका 'क्षयित्व' या अनित्यत्व सिद्ध है । (एकाहादीनां सत्राणां दिनपरिमाणवतां कारणानां परिमाणवदेव स्वर्गादिकार्यं दृष्टं, कारणानुगमत्वात् कार्यस्य । परिमाणवन्मृत्पिण्डात् परिमाणवानेव घटः स्यात् । एवमानुश्रविकाणां फलपरिमाणत्वात् पुनः क्षयः) ।

38. ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ केवल स्वर्ग के साधन हैं, परन्तु वाजपेय आदि स्वाराज्य अर्थात् स्वर्गाधिपति 'इन्द्र' होने के साधन हैं । यही एक की अपेक्षा दूसरे की 'अतिशयता' है ।

न त्वशिष्यत्वशङ्कयोपेक्षणीयोऽहमित्यर्थः । एतेन 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड० 1.2.12) 'भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० 3.1) इत्यादिगुरूपसत्तिप्रतिपादकः श्रुत्यर्थो दर्शितः ॥ 7 ॥

22 **ननु स्वयमेव त्वं श्रेयो विचारय श्रुतसंपन्नोऽसि किं परशिष्यत्वेनेत्यत आह--**

> **न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-**
> **द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।**
> **अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं**
> **राज्यं सुराणामपि चाऽऽधिपत्यम् ॥8॥**

23 **यच्छ्रेयः प्राप्तं सत्कर्तृ मम शोकमपनुद्यादपनुदेन्निवारयेतन्न पश्यामि हि यस्मात्तस्मान्मां शाधीति 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' (छां० 7.1.3) इति श्रुत्यर्थो दर्शितः । शोकानपनोदे को दोष इत्याशङ्क्य तद्विशेषणमाह-- इन्द्रियाणामुच्छोषणमिति । सर्वदा संतापकरमित्यर्थः ।**

नहीं, क्योंकि मैं आपसे ज्ञान में न्यून हूँ । अतः मैं आपकी शरण में आया हूँ, आप कृपा करके मुझे उपदेश कीजिए । तात्पर्य यह है कि मुझे अशिष्य समझकर आप मेरी उपेक्षा न करें । इससे 'उस आत्मतत्त्व का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय[39] और ब्रह्मनिष्ठ[40] गुरु की ही शरण में जाना चाहिए'-- (मुण्डकोपनिषद्, 1.2.12), तथा 'वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और बोला -- भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए' -- (तै० 3.1), इत्यादि - गुरूपसत्ति के प्रतिपादक श्रुतियों के अर्थ को दिखाया गया है ॥7 ॥

22 यदि भगवान् कहें कि 'तुम तो श्रुतसम्पन्न (वेदज्ञ) हो, इसलिए स्वयं ही श्रेय का विचार करो, किसी दूसरे के शिष्यत्व को ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है', तो अर्जुन कहता है ---
[पृथ्वी का शत्रुहीन-निष्कण्टक समृद्ध राज्य और देवताओं का आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर भी मुझे वह श्रेय दिखाई नहीं देता जो कि मेरी इन्द्रियों के शोषणकारी शोक को दूर कर सके ॥8 ॥]

23 'अपनुद्यात्' ---इस क्रिया का कर्त्ता रूप जो श्रेयं प्राप्त होने पर मेरे शोक का अपनोदन = निवारण कर दे वह मुझे दिखाई नहीं देता[41] ।हि = यस्मात् = क्योंकि ऐसा है, अतएव आप मुझे उपदेश कीजिए । इस प्रकार यहाँ यह श्रुत्यर्थ दिखाया है --''एक दिन सर्वशास्त्रविद् नारद ने ऋषि सनत्कुमार

39. वेद-वेदाङ्ग के पारङ्गत या वेदान्तार्थ के पारङ्गत को 'श्रोत्रिय' कहते हैं (श्रोत्रियत्वं वेदवेदाङ्गपारगत्वं वेदान्तार्थपारगत्वं वा प्रकृतोपयोगात्) । पाणिनि के 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' (पाणिनिसूत्र, 5. 2. 84) सूत्र के अनुसार वेदों का अध्येता 'श्रोत्रिय' कहलाता है । बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार श्रोत्रिय को पाप और कामना से रहित होना चाहिए (यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः (बृह० 4. 3. 33) ।

40. एकमात्र ब्रह्म में निष्ठा-आस्था (निश्चयेन स्थितिः) रखने वाले पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है । सदानन्द ने वेदान्तसार में ब्रह्मनिष्ठ को ही 'जीवन्मुक्त' संज्ञा दी है ।

41. यहाँ अर्जुन के कहने का तात्पर्य यह है कि शोक की उत्पत्ति अज्ञान से होती है । जब तक अज्ञान रहता है तब तक द्वैत-बुद्धि भी रहती है । जब तक ब्रह्मज्ञान या सर्वत्र आत्मा का एकत्व दर्शन न हो तब तक किसी का भी शोक या भय निवृत्त होना असम्भव है । मेरा भी शोक अज्ञानजन्य है, वह किसी भी राज्यलाभादि और इन्द्रत्वप्राप्ति आदि से निवृत्त नहीं हो सकता, मेरी शोकनिवृत्ति का मात्र उपाय आत्मज्ञान का उपदेश ही है, अतएव आप मुझे उपदेश कीजिए ।

24 ननु युद्धे प्रयतमानस्य तव शोकनिवृत्तिर्भविष्यति जेष्यसि चेत्तदा राज्यप्राप्त्या 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके' इत्यादिधर्मशास्त्रादित्याशङ्क्याऽऽह-- अवाप्येत्यादिना । शत्रुवर्जितं सस्यादिसंपन्नं च राज्यं तथा सुराणामाधिपत्यं हिरण्यगर्भत्वपर्यन्तमैश्वर्यमवाप्य स्थितस्यापि मम यच्छोकमपनुद्यात्तन्न पश्यामीत्यन्वयः । 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छां० 8.1.6) इति श्रुतेः । यत्कृतकं तदनित्यमित्यनुमानात्प्रत्यक्षेणाप्यैहिकानां विनाशदर्शनाच्च नैहिक आमुत्रिको वा भोगः शोकनिवर्तकः किंतु स्वसत्ताकालेऽपि भोग-पारतन्त्र्यादिना विनाशकालेऽपि विच्छेदाच्छोकजनक एवेति न युद्धं शोकनिवृत्तयेऽनुष्ठेयमित्यर्थः । एतेनेहामुत्र-भोगविरागोऽधिकारिविशेषणत्वेन दर्शितः ॥ 8 ॥

से कहा -- 'हे भगवन् ! मैं अज्ञान से अभिभूत होकर अपने को अकृतार्थ मानकर सर्वदा शोक कर रहा हूँ, आप अनुग्रह कर आत्मज्ञानरूप नौका द्वारा मुझे शोकसागर से पार कर दीजिए", (छान्दोग्योपनिषद् 7.1.3) । 'यदि शोकनिवृत्ति न हो तो क्या दोष होगा' -- ऐसी आशंका करके उस शोक का विशेषण कहता है -- इन्द्रियों का शोषणकारी अर्थात् सर्वदा सन्तापकारी है वह शोक ।

24 भगवान् की ओर से यह आशङ्का करके कि 'युद्ध के लिए प्रयत्न करने पर तेरे शोक की निवृत्ति हो जायेगी, यदि जीतता है तो राज्य-प्राप्ति से, नहीं तो स्वर्गप्राप्ति से, क्योंकि धर्मशास्त्र में कहा है -- "इस लोक में दो पुरुष सूर्यमण्डल का भेदन करने वाले हैं ---योगयुक्त परिव्राजक (संन्यासी) और जो युद्ध में सम्मुख लड़ता हुआ मारा जाय"[42] --इत्यादि', अर्जुन कहता है ---'अवाप्य इत्यादि । शत्रुवर्जित और सस्यादिसम्पन्न राज्य तथा देवताओं का आधिपत्य अर्थात् हिरण्यगर्भत्वपर्यन्त ऐश्वर्य प्राप्त कर स्थित रहने पर भी जो मेरे शोक को निवृत्त कर दे वह श्रेय मुझे दिखाई नहीं देता --ऐसा श्लोक का अन्वय करना चाहिए । श्रुति में भी ऐसा ही कहा गया है--'जिस प्रकार इस लोक में कर्मानुष्ठान से प्राप्तहोने वाला लोक नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार परलोक में पुण्य से प्राप्त होनेवाला लोक भी क्षीण हो जाता है' (छा० 8. 1. 6) । तथा 'जो कृतक (जन्य) होता है, वह अनित्य होता है'[43] --इस अनुमान से भी ऐसा ही सिद्ध होता है । प्रत्यक्ष प्रमाण से भी ऐहिक पदार्थों का विनाश देखा जाता है । अतएव ऐहिक अथवा आमुष्मिक ---कोई भी भोग शोकनिवर्तक नहीं है, किन्तु अपनी सत्ता के समय भोगों की परतन्त्रता आदि से और विनाश के समय भी विच्छेद होने से शोक ही उत्पन्न होता है । तात्पर्य यह है कि शोकनिवृत्ति के लिए युद्ध करना उचित नहीं है । इससे अधिकारी के विशेषणरूप से अर्जुन का इहामुत्रार्थफलभोगविराग दिखाया गया है ।।8 ।।

42. "द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ।।"

43. 'यत्कृतकं तदनित्यम्' (जो कृतक (जन्य) होता है वह अनित्य होता है) — इस व्याप्ति का ध्वंस में व्यभिचार प्राप्त होता है, क्योंकि नैयायिकों का मत है कि प्रध्वंसाभाव सादि (उत्पत्तिमान्) होता हुआ अनन्त (नाश-रहित) होता है (सादिरनन्तः प्रध्वंसः) । किन्तु वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार ध्वंस नश्वर ही है । उसके अनुसार प्रध्वंसाभाव विनाशरहित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रध्वंसाभाव को अविनाशी (नित्य) स्वीकार करने पर प्रध्वंसाभाव और ब्रह्म – ये दो पदार्थ अविनाशी (नित्य) सिद्ध होंगे उससे द्वैतापत्ति होगी । इसलिए प्रध्वंसाभाव का जिस – मृत्तिकादि अधिकरण में 'ध्वस्तः' इत्याकारक प्रत्यय होता है, उस मृत्तिकादि उपादान कारण का नाश होने पर उसमें स्थित घटध्वंस का भी ध्वंस (नाश) स्वीकार करना होगा । क्योंकि ध्वंस के अधिकरण का ही नाश होने पर निराधार ध्वंस की स्थिति संभव नहीं है । एवं कपालों का भी नाश होने पर वहाँ 'घटो ध्वस्तः' की प्रतीति भी नहीं होती । इस कारण ध्वंस के आधारभूत कपालों का नाश होने पर उस पर स्थित प्रध्वंस का भी ध्वंस स्वीकार करना युक्त है । यदि शंका करें कि ध्वंस का भी ध्वंस स्वीकार करने पर पुनः घटोत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि घटध्वंस (घटाभाव) का ध्वंस (अभाव) अर्थात् घटाभाव का अभाव घटस्वरूप ही होगा, तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि घटध्वंस का जो ध्वंस होता है उसका प्रतियोगी घट-

25 तदनन्तरमर्जुनः किं कृतवानिति धृतराष्ट्राकाङ्क्षायाम्--

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ 9 ॥

26 गुडाकेशो जितालस्यः परंतपः शत्रुतापनोऽर्जुनो हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वेनान्तर्यामिणं गोविन्दं गां वेदलक्षणां वाणीं विन्दतीति व्युत्पत्त्या सर्ववेदोपादानत्वेन सर्वज्ञमादावेवं कथं भीष्ममहं संख्य इत्यादिना युद्धस्वरूपायोग्यतामुक्त्वा तदनन्तरं न योत्स्य इति युद्धफलाभावं चोक्त्वा तूष्णीं बभूव बाह्येन्द्रियव्यापारस्य युद्धार्थं पूर्वं कृतस्य निवृत्त्या निर्व्यापारो जात इत्यर्थः । स्वभावतो जितालस्ये सर्वशत्रुतापने च तस्मिन्नागन्तुकमालस्यमतापकत्वं च नाऽऽस्पदमाधास्यतीति द्योतयितुं हशब्दः ।

25 'इसके पश्चात् अर्जुन ने क्या किया ?' –ऐसी धृतराष्ट्र की आकांक्षा होने पर सञ्जय ने कहा – [सञ्जय ने कहा —वह गुडाकेश, परंतप अर्जुन भगवान् हृषीकेश से ऐसा कहकर, पुन: गोविन्द से 'मैं युद्ध नहीं करुँगा' —यह कहकर चुप हो गया ॥9 ॥]

26 गुडाकेश = आलस्यजयी और परंतप = शत्रुसंतापी अर्जुन हृषीकेश = समस्त इन्द्रियों के प्रवर्तक होने कारण अन्तर्यामी, गोविन्द[44] = गो अर्थात् वेदरूप वाणी को जो जानता है —इस व्युत्पत्ति से समस्त वेदों का उपादान होने के कारण सर्वज्ञ श्रीकृष्ण से पहले ऐसा अर्थात् 'मैं युद्ध में भीष्मपितामह के साथ किसप्रकार प्रतियुद्ध करुँगा' इत्यादि वाक्य से अपनी युद्धस्वरूप अयोग्यता कहकर, तदनन्तर 'मैं युद्ध नहीं करुँगा' —इसप्रकार युद्धरूप फल का अभाव कहकर चुप हो गया[45] अर्थात् पहले

ध्वंस नहीं होता, किन्तु घट ही होता है । अर्थात् घटाभावरूप ध्वंस का जैसे घट प्रतियोगी होता है वैसे ही घटध्वंस के ध्वंस (अभाव) का भी वह घट प्रतियोगी होता है । इस कारण दूसरा अभाव, प्रथम अभाव का प्रतियोगी स्वरूप होता है — इस नियम के होने पर भी प्रकृत में अनुभवानुसार घटध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट को ही स्वीकार करने पर यह आपत्ति नहीं आती । क्योंकि कार्य तो प्रागभावध्वंसरूप होता है अर्थात् घट प्रागभाव–ध्वंस ही घट है, यह नैयायिक स्वीकार करते ही हैं । तब घट-प्रागभावध्वंसरूप घट पदार्थ का ध्वंस होने पर पुनः घट का प्रागभाव उत्पन्न होता है — ऐसा क्यों नहीं स्वीकार करते ? ऐसा स्वीकार करने पर घट के नष्ट होते ही इन कपालों का घट होगा — ऐसी प्रागभाव की प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु अनुभव में ऐसा होता नहीं है । इसलिए मूलध्वंस का जो प्रतियोगी होता है वही उस ध्वंस के ध्वंस का भी प्रतियोगी होता है — यह अनुभवानुसार स्वीकार करना ही चाहिए । फलत: ऐसा स्वीकार करने से ध्वंस का ध्वंस स्वीकार करने पर पुनः घटोत्पत्ति का प्रसंग नहीं होगा । निष्कर्षत: वेदान्त के अनुसार ध्वंस नश्वर ही है । अत: 'यत्कृतकं तदनित्यम्' —इस व्याप्ति का ध्वंस में व्यभिचार प्राप्त नहीं होता है । मधुसूदन सरस्वती ने गतश्लोक (2. 8) की व्याख्या में भी 'जाताऽपि रोगनिवृत्तिः पुनरपि रोगोत्पत्त्या विनाश्यते' —इस वाक्य से निवृत्ति = ध्वंस को नश्वर कहा है । अत: 'यत्कृतकं तदनित्यम्' —यह व्याप्ति सर्वथा निर्दुष्ट और वेदान्त-सिद्धान्तानुकूल है, क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म से भिन्न समस्त प्रपञ्च नश्वर होता है ।

44. 'गोविन्द' पद से भगवान् का 'सर्वज्ञत्व' सिद्ध है, क्योंकि वे 'गो' अर्थात् वेदरूप वाणी को जानते हैं । इसीलिए वे वेदों के उपादान कारण हैं, वे 'शास्त्रयोनि' हैं अर्थात् 'शास्त्रस्य योनिः कारणं यः सः' अर्थात् वे 'शास्त्र' = वेदादि के योनि = कारण हैं, इसीलिए वे ही जगत् के जन्मादि के कारण कहे जातें हैं । तात्पर्य यह है कि यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने 'गोविन्द' पद से भगवान् को सर्वज्ञ सिद्ध कर, वेदों का उपादान कारण कहकर उन्हें जगत् का कारण भी बतलाने की ओर संकेत किया है । जैसाकि बादरायण ने अपने वेदान्तसूत्र में 'जन्माद्यस्य यत: (1. 1. 2)' और 'शास्त्रयोनित्वात् (1. 1. 3)' —सूत्रों से ब्रह्म के शास्त्रयोनित्व और जगत्-कारणत्व को सिद्ध किया है ।

45. किसी भी कार्य की कारणता दो प्रकार की होती है — फलोपधायकतारूपकारणता और स्वरूपयोग्यतारूपकारणता । अर्जुन में युद्धरूप कार्य की स्वरूपयोग्यतारूपकारणता और फलोपधायकतारूपकारणता — दोनों ही विद्यमान हैं, क्योंकि

गोविन्दहृषीकेशपदाभ्यां सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसूचकाभ्यां भगवतस्तन्मोहापनोदनमनायाससाध्यमिति सूचितम् ॥ 9 ॥

27 **एवं युद्धमुपेक्षितवत्यप्यर्जुने भगवान्नोपेक्षितवानिति धृतराष्ट्रदुराशानिरासायाऽऽह—**

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ 10 ॥

28 **सेनयोरुभयोर्मध्ये युद्धोद्यमेनाऽऽगत्य तद्विरोधिनं विषादं मोहं प्राप्नुवन्तं तमर्जुनं प्रहसन्निवानुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जाम्बुधौ मज्जयन्निव हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी भगवानिदं वक्ष्यमाणमशोच्यानित्यादि वचः परमगम्भीरार्थमनुचिताचरणप्रकाशकमुक्तवान्न तूपेक्षितवानित्यर्थः ।**

29 **अनुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जोत्पादनं प्रहासः । लज्जा च दुःखात्मिकेति द्वेषविषय एव स मुख्यः । अर्जुनस्य तु भगवत्कृपाविषयत्वादनुचिताचरणप्रकाशनस्य च विवेकोत्पत्तिहेतुत्वादेकदलाभावेन गौण एवायं प्रहास इति कथयितुमिवशब्दः । लज्जामुत्पादयितुमिव विवेकमुत्पादयितुमर्जुनस्यानुचिताचरणं भगवता प्रकाश्यते । लज्जोत्पत्तिस्तु नान्तरीयकतयाऽस्तु माऽस्तु वेति न विवक्षितेति भावः ।**

जो युद्ध के लिए बाह्य इन्द्रियों का व्यापार किया था उस व्यापार की निवृत्ति हो जाने से वह निर्व्यापार (निश्चेष्ट) हो गया[46] । स्वभावतः आलस्यजयी और सर्वशत्रुसंतापी उस अर्जुन में आगन्तुक आलस्य और अतापकत्व नहीं रह सकेंगे ----यह द्योतित करने के लिए 'ह' शब्द का प्रयोग किया है । सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व के सूचक गोविन्द और हृषीकेश ---इन दो पदों से यह सूचित किया है कि भगवान् के लिए उसके मोह को दूर करना अनायास ही सम्भव है ॥ 9 ॥

27 इसप्रकार अर्जुन के द्वारा युद्ध की उपेक्षा किए जाने पर भी भगवान् ने उसकी उपेक्षा नहीं की ---यह धृतराष्ट्र की दुराशा को दूर करने कि लिए सञ्जय कहता है ----
[हे भारत[47] ! = हे धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओं के बीच में विषाद को प्राप्त हुए उस अर्जुन से भगवान् हृषीकेश हँसते हुए – से यह वचन बोले ॥ 10 ॥]

28 युद्ध के उद्यम से दोनों सेनाओं के बीच में आकर उसके विरोधी विषाद = मोह को प्राप्त हुए उस अर्जुन से हँसते हुए -- से अर्थात् उसके अनुचित आचरण के प्रकाशन से उसे लज्जा के सागर में डुबाते हुए -- से हृषीकेश = सर्वान्तर्यामी भगवान् यह अनुचित आचरण के प्रकाशक परम गम्भीर अर्थ से युक्त 'अशोच्यान्' इत्यादि वक्ष्यमाण वचन बोले अर्थात् उन्होंने उसकी उपेक्षा नहीं की ।

29 अनुचित आचरण के प्रकाशन से लज्जा उत्पन्न करना 'प्रहास' कहलाता है और लज्जा दुःखरूप होती है, इसलिए वह मुख्यतः द्वेष का विषय ही है । किन्तु अर्जुन तो भगवत्कृपा का पात्र है, इसलिए

वह आलस्यजयी और सर्वशत्रुसंतापी है । किन्तु वह यहाँ शोक और मोह से अभिभूत होने के कारण 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि वाक्य से अपनी युद्धस्वरूप अयोग्यता कहकर और 'न योत्स्ये' इत्यादि वाक्य से युद्धरूप फल के अभाव को बतलाकर अपने को युद्धरूप कार्य की कारणताद्वय से रहित कह रहा है ।

46. अभिप्राय यह है कि अर्जुन आलस्यजयी और शत्रुसंतापी है, अत: वह आलस्य के कारण अथवा असामर्थ्य के कारण युद्ध से विरत हुआ है, यह बात नहीं है किन्तु वह युद्ध में स्वजन-समुदाय के वध की आशंका कर उनके निमित्त शोक और मोह से अभिभूत होकर युद्ध से विरत या निश्चेष्ट हुआ है ।

47. यहाँ 'भारत' – सम्बोधन पद से अभिप्राय यह है कि हे धृतराष्ट्र ! तुम इतने बडे महावीर भरत के कुल में उत्पन्न हुए हो, तुमको पुत्रस्नेह के वश हो अर्जुन के युद्ध से विरत होने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिए ।

30 यदि हि युद्धारम्भात्प्रागेव गृहे स्थितो युद्धमुपेक्षेत तदा नानुचितं कुर्यात् । महता संरम्भेण तु युद्धभूमावागत्य तदुपेक्षणमतीवानुचितमिति कथयितुं सेनयोरित्यादिविशेषणम् । एतच्चाशोच्यानित्यादौ स्पष्टं भविष्यति ॥ 10 ॥

31 तत्रार्जुनस्य युद्धाख्ये स्वधर्मे स्वतो जाताऽपि प्रवृत्तिर्द्विविधेन मोहेन तन्निमित्तेन च शोकेन प्रतिबद्धेति द्विविधो मोहस्तस्य निराकरणीयः । तत्राऽऽत्मनि स्वप्रकाशपरमानन्दरूपे सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणि स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूप एकः सर्वप्राणिसाधारणः । अपरस्तु युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूपोऽर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनोऽसाधारणः । एवमुपाधित्रयविवेकेन शुद्धात्मस्वरूपबोधः प्रथमस्य निवर्तकः सर्वसाधारणः । द्वितीयस्य तु हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभावबोधोऽसाधारणः । शोकस्य तु कारणनिवृत्त्यैव निवृत्तेर्न पृथक्साधनान्तरापेक्षेत्यभिप्रेत्य क्रमेण भ्रमद्वयमनुवदन्--

उसके अनुचित आचरण के प्रकाशन का हेतु तो विवेक की उत्पत्ति ही है, अतः उसमें लज्जारूप एक अंश (दल) का अभाव होने के कारण भगवान् का यह प्रहास गौण ही है —यह कहने के लिए ही 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान् लज्जा उत्पन्न करने के लिए किए जानेवाले प्रहास के समान ही विवेक उत्पन्न करने के लिए अर्जुन के अनुचित आचरण को प्रकाशित करते हैं। अतः भाव यह है प्रहास के साथ अनिवार्य रूप से जुडी हुई लज्जा उत्पन्न हो या न हो —वह भगवान् को विवक्षित नहीं है[48] ।

30 यदि युद्ध आरम्भ होने से पहले ही घर में रहते हुए ही युद्ध की उपेक्षा कर देता तो कोई अनुचित नहीं था, किन्तु अब महान् संरम्भ(विक्षोभ) से युद्धभूमि में आकर उसकी उपेक्षा करना तो अतीव अनुचित है --यह कहने के लिए ही 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' --यह विशेषण दिया है। यह 'अशोच्यान्' --इत्यादि श्लोक में स्पष्ट होगा ॥10 ॥

31 यहाँ अर्जुन की युद्ध नामक स्वधर्म में स्वतः उत्पन्न हुई भी प्रवृत्ति द्विविध मोह और उसके कारण उत्पन्न हुए शोक से प्रतिबद्ध हो गई है, इसलिए उसका द्विविध मोह निराकरणीय है। उसमें, स्वयंप्रकाश, परमानन्दस्वरूप और संसार के सभी धर्मों से असंग-आत्मा में स्थूल-सूक्ष्म-- दो प्रकार के शरीर और उनकी कारणभूता अविद्या [49] -इन तीन उपाधियों[50] के अविवेक के कारण मिथ्याभूत

48. यहाँ भगवान् पर यह आक्षेप हो सकता है कि अर्जुन को निमित्त बनाकर सभी सेनाओं को नाश करने में प्रवृत्त और अर्जुन को स्वधर्म में प्रवृत्त करने में उद्यत, उसके गुरु और उपदेष्टा बनकर, उनको अर्जुन का उपहास करना उचित नहीं है। तो इसका उत्तर यह भी है कि अर्जुन की विद्या-बुद्धि की कुशलता के अहंकार को दूर कर उसे तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनाने के लिए भगवान् ने उपहास के सदृश कहा। अत: भगवान् का यह उपहास गौण ही है।

49. अविद्या का अर्थ अज्ञान है। अविद्या जीवाश्रया है। अविद्या के कारण ही जीव परमार्थ सत् स्वरूप ब्रह्मतत्त्व का बोध करने में असमर्थ होता है और मिथ्या जगत् को सत्य समझ लेता है। इस प्रकार प्रपञ्च की जननी 'अविद्या' ही है। ('अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः' — ब्रह्मसूत्र– शाङ्करभाष्य, 1.4. 3)।

50. 'उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधातीत्युपाधि':, —अर्थात् जो अपने समीपवर्ती में अपने धर्मों का आरोप कर देती है वह 'उपाधि' है। अज्ञान उपाधि है। अज्ञान अपने समीपवर्त्ती अर्थात् अधिष्ठानरूप ब्रह्म में भी अपने धर्मों का आरोप कर देता है। इस आरोप का यह परिणाम होता है कि अज्ञानी जीव अधिष्ठान-रूप ब्रह्म का बोध न करके ब्रह्म में जगत् के धर्मों का आरोप करके जगत् का ही बोध करता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार दृष्टा भ्रम के कारण रज्जु में सर्प का आरोप कर लेता है।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ 11 ॥

32 **अशोच्याञ्शोचितुमयोग्यानेव भीष्मद्रोणादीनात्मसहितांस्त्वं पण्डितोऽपि सन्नन्वशोचोऽनुशोचितवानसि ते म्रियन्ते मन्निमित्तमहं तैर्विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिनेत्येवमर्थकेन दृष्ट्वेमं स्वजनमित्यादिना । तथा चाशोच्ये शोच्यभ्रमः पश्वादिसाधारणस्तवात्यन्तपण्डितस्यानुचित इत्यर्थः । तथा कुतस्त्वा कश्मलमित्यादिना मद्वचनेनानुचितमिदमाचरितं मयेति विमर्शे प्राप्तेऽपि त्वं स्वयं प्रज्ञोऽपि सन्प्रज्ञानामवादान्प्रज्ञैर्वक्तुमनुचिताञ्शब्दांश्च कथं भीष्ममहं संख्य इत्यादीन्भाषसे वदसि, न तु लज्जया तूष्णीं भवसि ।**

भी संसार की सत्यता और आत्मधर्मता आदि का प्रतिभास[51] रूप सभी प्राणियों के लिए साधारण होने से 'साधारण' नामक प्रथम मोह है । तथा युद्ध नामक स्वधर्म में हिंसादि की बहुलता के कारण अधर्मत्व का प्रतिभासरूप अर्जुन के ही करुणादि दोषों के कारण होने से 'असाधारण' नामक द्वितीय मोह है । इसप्रकार तीनों उपाधियों के विवेक से शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध प्रथम मोह का निवर्तक है, जो सर्वसाधारण है । तथा, हिंसादि से युक्त होने पर भी स्वधर्म होने के कारण युद्ध में अधर्मत्व का अभाव-बोध द्वितीय मोह का निवर्तक है, जो विशेषरूप से अर्जुन से ही सम्बद्ध है, अत: असाधारण है । शोक के तो अपने कारणों की निवृत्ति से ही निवृत्त हो जाने से उसके लिए पृथक्-रूप से किन्हीं दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं है ---इस अभिप्राय से भगवान् क्रमशः उन दोनों भ्रमों का अनुवाद करते हुए कहते हैं ----

[श्रीभगवान् ने कहा ----हे अर्जुन ! तू न शोक करने योग्य जनों के लिए शोक करता है और प्रज्ञावानों की --सी बात करता है । किन्तु पण्डितजन तो जिनके प्राण चले गए हैं उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गए हैं उनके लिए भी शोक नहीं करते ।।11 ।।]

32 'मेरे निमित्त ये मर जाएंगे, उनके बिना मैं राज्यसुखादि से क्या करुँगा' ---ऐसे अर्थ वाले 'दृष्ट्वेमं स्वजनं[52]--' इत्यादि वाक्यों से तुम पण्डित[53] होकर भी अशोच्य अर्थात् शोक करने के अयोग्य अपने सहित भीष्म-द्रोणादि के लिए शोक कर रहे हो । तात्पर्य यह है कि अशोच्य में शोच्य का भ्रम पशु आदि में साधारण होने के कारण तुम जैसे महान् पण्डित के लिए अनुचित ही है । तथा 'कुतस्त्वा कश्मलम्[54]----' इत्यादि मेरे वचनों से 'मैंने यह अनुचित आचरण किया है'--

---

51. 'प्रतिभास' अध्यासरूप है । जो वस्तु जिसमें नहीं है उसको उस वस्तु में देखना 'अध्यास' है । अध्यास अविद्यारूप है । शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प का भ्रम अध्यासरूप ही है । ('अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यासः' – ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, 1.1.1)

52. गीता, 1. 28-46 ।

53. जो गुरुमुख से वेदान्तादि के श्रवण, मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि से आत्मसाक्षात्कार कर अविद्या-ग्रन्थि का छेदन कर लेते हैं तथा समस्त जगत् के दृश्य पदार्थ को कल्पित जानकर उसमें लिप्त नहीं होते हैं वे 'पण्डित' कहे जाते हैं ।

54. गीता, 2. 2 ।

55. असत् (अनात्म) वस्तु से सत् (आत्मस्वरूप) का विवेक कर जो प्रकृष्ट रूप से आत्मस्वरूप को जानते हैं उन्हें 'प्रज्ञ' अर्थात् बुद्धिमान या पण्डित कहते हैं । उनकी जो वाणी शास्त्र में व्याप्त है उसे 'प्रज्ञावाद' कहते हैं ।

56. गीता, 2. 4 ।

33 अतः परं किमनुचितमस्तीति सूचयितुं चकारः । तथाचाधर्मे धर्मत्वभ्रान्तिर्धर्मे चाधर्मत्वभ्रान्तिरसाधारणी तवातिपण्डितस्य नोचितेति भावः । प्रज्ञावतां पण्डितानां वादान्भाषसे परं न तु बुध्यस इति वा भाषणापेक्षयाऽनुशोचनस्य प्राक्कालत्वादतीतत्वनिर्देशः । भाषणस्य तु तदुत्तरकालत्वेनाव्यवहितत्वाद्वर्तमानत्वनिर्देशः । छान्दसेन तिङ्व्यत्ययेनानुशोचसीति वर्तमानत्वं वा व्याख्येयम् ।

34 ननु बन्धुविच्छेदे शोको नानुचितो वसिष्ठादिभिर्महाभागैरपि कृतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह– गतासूनिति । ये पण्डिता विचारजन्यात्मतत्त्वज्ञानवन्तस्ते गतप्राणानगतप्राणांश्च बन्धुत्वेन कल्पितान् देहान्नानुशोचन्ति । एते मृताः सर्वोपकरणपरित्यागेन गताः किं कुर्वन्ति क्व तिष्ठन्ति एते

--ऐसा विचार प्राप्त होने पर भी और तुम स्वयं बुद्धिमान् (प्रज्ञ)[55] होकर भी 'कथं भीष्ममहं संख्ये—--[56]' इत्यादि बुद्धिमानों के अवाद अर्थात् बुद्धिमानों के बोलने के लिए अनुचित शब्दों को बोल रहे हो, लज्जा से चुप भी तो नहीं रहते ।

33 इससे आगे क्या करना अनुचित है -- यह सूचित करने के लिए पूर्वार्ध में चकार का प्रयोग हुआ है । इस प्रकार इसका भाव यह है कि तुम जैसे महान् पण्डित के लिए अधर्म में धर्मत्व की और धर्म में अधर्मत्व की असाधारण भ्रान्ति होना उचित नहीं है । तुम प्रज्ञावानों = पण्डितों की सी बातें तो करते हो परन्तु समझते कुछ नहीं हो । अथवा भाषण की अपेक्षा अनुशोचन पहले होने से 'अन्वशोचः' धातु पद से शोक में अतीतत्व (भूतकालिकत्व) का निर्देश है । और अनुशोचन के बाद अव्यवहित भाषण होने से 'भाषसे[57]' धातुपद से भाषण में वर्तमानत्व (वर्तमान कालिकत्व) का निर्देश है । अथवा 'तिङ्' विभक्ति के व्यत्यय (परिवर्तन) को छान्दस मानकर 'अन्वशोचः' के स्थान पर 'अनुशोचसि' पाठ कर वर्तमानकालिक व्याख्या कर लेनी चाहिए ।

34 'बन्धुओं से विच्छेद होने पर शोक करना अनुचित नहीं है, क्योंकि वसिष्ठादि[58] महाभागों ने भी ऐसा किया था' -- ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं -- 'गतासून्' इत्यादि । जो पण्डित[59] अर्थात् विचारजन्य आत्मतत्त्वज्ञान से युक्त हैं वे बन्धुरूप से कल्पित मृत और जीवित शरीरों के लिए शोक नहीं करते हैं । 'ये मृतजन अपनी समस्त सामग्री यहीं छोडकर गए हैं, ये क्या करेंगे और कहाँ रहेंगे ? तथा ये जीवित शेष जन अपने बन्धुओं से विच्छेद होने के कारण कैसे जीयेंगे ?' –

57.'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा' — (पाणिनिसूत्र 3. 3. 131) अर्थात् वर्तमान के समीपवर्ती में भी वर्तमानकाल बोधक लकार का ही प्रयोग होता है । इस नियम के अनुसार यहाँ 'भाषसे' पद में वर्तमानकाल-वोधक लकार का प्रयोग हुआ है, क्योंकि अर्जुन का 'भाषण' (बातें करना) श्रीकृष्ण के उत्तर (बोलने) केअव्यवहित पूर्वकालवर्ती ही है अर्थात् अर्जुन के चुप होने के तुरन्त बाद ही श्रीकृष्ण बोल रहे हैं । दोनों के वार्तालाप में अत्यन्त सामीप्य है ।

58. अयोध्या के राजा कल्माषपाद = सौदास ने वसिष्ठ के ज्येष्ठ पुत्र 'शक्ति' के शाप से राक्षस बनकर वसिष्ठ के सौ पुत्रों का भक्षण कर लिया था । वंश-विनाश के कारण महान् शोक से व्याकुल होकर महर्षि वसिष्ठ आत्म-हत्या करने के लिए अपने शरीर को रस्सी से बांधकर नदी में कूद पड़े । नदी में कूदने पर उन के बन्धन (पाश) खुल गए और वे डूबे नहीं, फलतः उस नदी का नाम 'विपाशा' = आधुनिक 'व्यासा' हो गया । तदनन्तर वे हैमवती नदी में कूद पड़े । उनके कूदते ही नदी शतधा धाराओं में विभक्त हो गई, जिससे वे पुनः बच गए । तभी से उस नदी का नाम शतद्रु =,आधुनिक सतलज हो गया ।

59. मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं — मूढ़, शास्त्रज्ञ और पण्डित (तत्त्वज्ञ) । 'मूढ़' वे होते हैं जो पुत्रादि के लिए 'मेरा यह पुत्र मर गया है' ऐसा शोक करते हैं और जीवित पुत्रादि के लिए शोक नहीं करते हैं । 'शास्त्रज्ञ' वे हैं जो 'मेरे सभी पुत्र मूढ़, दुर्भागी, दुराचारी हैं', – ऐसा सोचकर जीवित पुत्रों के लिए शोक करते हैं , मृत पुत्रों के लिए शोक नहीं करते हैं । तथा 'पण्डित' तत्त्वज्ञ या आत्मज्ञ होते हैं । आत्मविषयिणी बुद्धि को 'पण्डा' कहते हैं, जिनकी ऐसी बुद्धि (पण्डा) हो

च जीवन्तो बन्धुविच्छेदेन कथं जीविष्यन्तीति न व्यामुह्यन्ति, समाधिसमये तत्प्रतिभासाभावात्, व्युत्थानसमये तत्प्रतिभासेऽपि मृषात्वेन निश्चयात् । न हि रज्जुतत्त्वसाक्षात्कारेण सर्पभ्रमेऽपनीते तन्निमित्तभयकम्पादि सम्भवति, न वा पित्तोपहतेन्द्रियस्य कदाचिद्गुडे तिक्तताप्रतिभासेऽपि तिक्तार्थितया तत्र प्रवृत्तिः सम्भवति मधुरत्वनिश्चयस्य बलवत्त्वात् । एवमात्मस्वरूपाज्ञाननिबन्धनत्वाच्छोच्यभ्रमस्य तत्स्वरूपज्ञानेन तदज्ञानेऽपनीते तत्कार्यभूतः शोच्यभ्रमः कथमवतिष्ठेतेति भावः । वसिष्ठादीनां तु प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तथा तथाऽनुकरणं न शिष्टाचारतयाऽन्येषामनुष्ठेयतामापादयति, शिष्टैर्धर्मबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्यालौकिकव्यवहारस्यैव तदाचारत्वात्, अन्यथा निष्ठीवनादेरप्यनुष्ठानप्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम् । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि पण्डितो भूत्वा शोकं मा कार्षीरित्यभिप्रायः ॥ 11 ॥

35 **न त्वेवेत्याद्येकोनविंशतिश्लोकैरशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्येतस्य विवरणं क्रियते । स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्याद्यष्टभिः श्लोकैः प्रज्ञावादांश्च भाषस इत्यस्य मोहद्वयस्य पृथक्प्रयत्ननिराकर्तव्यत्वात् । तत्र स्थूलशरीरादात्मानं विवेक्तुं नित्यत्वं साधयति—**

इस प्रकार के मोह से भी वे ग्रस्त नहीं होते हैं, क्योंकि समाधि के समय इन सभी का प्रतिभास ही नहीं होता है और व्युत्थान के समय उन सभी का प्रतिभास होने पर भी उनका मिथ्यारूप से निश्चय रहता है । रज्जुतत्त्व के साक्षात्कार से सर्प-भ्रम के निवृत्त होने पर उसके निमित्त भयकम्पादि सम्भव नहीं होते हैं । अथवा पित्तदोष से उपहत रसनेन्द्रिय की कदाचित् गुड़ में तिक्तता का प्रतिभास होने पर भी तिक्त-स्वाद की इच्छा से उसमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती है, क्योंकि उसमें मधुरता होने का निश्चय ही अधिक बलवान् होता है । भाव यह है कि इस प्रकार शोच्य--भ्रम आत्मस्वरूप के अज्ञान के ही कारण होता है, आत्मस्वरूप के ज्ञान से तत्सम्बन्धी अज्ञान के निवृत्त होने पर अज्ञान का कार्यभूत शोच्यभ्रम कैसे ठहर सकता है ? वसिष्ठादि ने तो प्रारब्धकर्म की प्रबलता के कारण उस-उस प्रकार का अनुकरण किया था, अत: वह दूसरों के लिए शिष्टाचार के रूप में कर्तव्य नहीं हो सकता है । उनका आचरण तो शिष्टपुरुषों द्वारा धर्मबुद्धि से किया हुआ अलौकिक व्यवहार ही हो सकता है, अन्यथा उनके समान थूकने आदि की भी क्रियाएँ करने का प्रसङ्ग होगा -- यह समझ लेना चाहिए । अभिप्राय यह है कि जब ऐसा है तो तुम भी पण्डित होकर शोक मत करो ॥ 11 ॥

35 'न त्वेवाहम्[60]' इत्यादि उन्नीस श्लोकों से 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' --- इस वाक्य का विवरण किया गया है । और 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य[61]' इत्यादि आठ श्लोकों से 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इस वाक्य की विवृति की गई है, क्योंकि मोहद्वय का पृथक्-पृथक् प्रयत्न से निराकरण करना है । उनमें प्रथम स्थूल शरीर से आत्मा का विवेक करने के लिए सर्वप्रथम आत्मा की नित्यता सिद्ध करते हैं : —

जाती है वे 'पण्डित' कहलाते है ।' 'पाण्डित्यं निर्विद्य' अर्थात् 'पाण्डित्य = आत्मज्ञान को निश्चित रूप से प्राप्तकर' —इस श्रुतिवाक्य से सिद्ध होता है कि जिनको पण्डा = आत्मतत्त्वज्ञान होता है वे ' पण्डित' होते हैं । पण्डित जीवित या मृत किसी के लिए भी शोक नहीं करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि जीवन और मृत्यु — दोनों ही अविद्या के कार्य हैं, अत: स्वप्न के पदार्थों की भांति मिथ्या हैं । उन्हें सृष्टि में सर्वावस्था में जन्म-मृत्यु के अधिष्ठान ब्रह्म का ही दर्शन होता है । वे सदा सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं ।

60. गीता, 2. 12-- 30 ।

61. गीता, 2. 31-- 38 ।

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ 12 ॥

36 **तुशब्दो देहादिभ्यो व्यतिरेकं सूचयति- यथाऽहमितः पूर्वं जातु कदाचिदपि नाऽऽसमिति नैवापि तु आसमेव तथा त्वमप्यासीः। इमे जनाधिपाश्चाऽऽसन्नेव। एतेन प्रागभावाप्रतियोगित्वं दर्शितम्। तथा**

[न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, या तू नहीं था, अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सभी नहीं होंगे ॥ 12 ॥]

36 'तु' शब्द देहादि से आत्मा की भिन्नता सूचित करता है। जैसे –मैं इससे पूर्व कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, अपितु था ही, वैसे ही तू भी था, और ये राजालोग थे ही। इससे आत्मा में प्रागभाव[62] की

62. कारण में कार्य की उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव रहता है उसे 'प्रागभाव' कहते हैं (कारणे कार्यस्योत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः — वेदान्तपरिभाषा)। जैसे –घटरूप कार्य उत्पन्न होने से पूर्व जो घटाभाव है वह घट-प्रागभाव है। प्रागभाव, कार्य के उपादान कारण में रहता है। घटरूप कार्य का अभाव मृत्पिण्डरूप कारण में होता है। क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति 'भविष्यति' = 'यहाँ कार्य होगा' —इसप्रकार से मृत्पिण्ड में ही होती है (स एव भविष्यतीति प्रतीतिविषयः —वेदान्त-परिभाषा)। उस प्रतीति की उपपत्ति के लिए ही प्रागभाव को स्वीकार करना पडता है। मृत्पिण्ड के अतिरिक्त तन्तु आदि कारणों में 'यहाँ घट होगा' –ऐसी प्रतीति नहीं होती, इसलिए घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड में ही रहता है — यह स्वीकार करना होगा। इसप्रकार कार्य उत्पन्न होने से अव्यवहित पूर्वक्षण तक कार्य का कारण में जो अभाव प्रतीत होता है, वह 'प्रागभाव' है। किन्तु न्याय-मत में अनादि और सान्त अभाव को 'प्रागभाव' कहा जाता है। प्रागभाव अपने प्रतियोगी के उपादान-कारण में रहता है। जैसे – घट के प्रागभाव का प्रतियोगी जो घट है, उसके उपादान-कारण कपाल में घट का प्रागभाव रहता है और कपाल की उत्पत्ति से पूर्व घट का प्रागभाव कपाल के उपादान-कारण में भी रहता है। इसी प्रकार सृष्टि से पूर्व घटारम्भक परमाणुसमुदाय में भी घट– प्रागभाव रहता है तथा परमाणु व घट के मध्य में द्व्यणुकादि से लेकर कपाल पर्यन्त जितने भी अवयवी हैं उन सभी के प्रागभाव सृष्टि से पूर्व परमाणु में रहते हैं। इसप्रकार प्रागभाव अनादि और सान्त है। न्यायमत के अनुसार कपाल में घट के प्रागभाव को जो अनादि कहा गया है वह प्रमाणविरुद्ध है, इसलिए वह वेदान्त-विरुद्ध है। क्योंकि घट-प्रागभाव का अनुयोगी = अधिकरण सादि है और प्रतियोगी घट भी सादि है, तो फिर प्रागभाव में ही अनादिता किसप्रकार हो सकती है ? यदि माया में समस्त कार्यों के प्रागभाव को अनादि कहा जाय तो किसी प्रकार सम्भव हो भी सकता है, क्योंकि माया अनादि है। किन्तु माया में समस्त कार्यों का प्रागभाव मानना व्यर्थ है और सिद्धान्त में इष्ट नहीं है, क्योंकि घट की उत्पत्ति केवल कपाल में ही होती है, अन्य किसी में नहीं और पट की उत्पत्ति केवल तन्तु में ही होती है, अन्य में नहीं। इसप्रकार प्रागभाव को अनादि नहीं कहा जा सकता है। फलतः यहाँ वेदान्तविरुद्ध अंश को छोड़कर ही प्रागभाव का लक्षण स्वीकार्य है।

63. 'प्रतियोगिता' शब्द का अधिकतर व्यवहार अभाव और सम्बन्ध के सन्दर्भ में होता है। 'अभाव'के अर्थ में प्रतियोगिता शब्द का अर्थ 'विरोधिता' है। इस अर्थ के अनुसार अभाव के विरोधी को अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है, जैसे – घट घटाभाव का विरोधी है। घटाभाव के अधिकरण में घट नहीं रहता और घट के अधिकरण में घटाभाव नहीं रहता। इस प्रकार इन दोनों में असामानाधिकरण्य अर्थात् एकाधिकरण में अवृत्तित्व रूप विरोध है। इस विरोध के कारण ही घट घटाभाव का विरोधी कहा जाता है। इसप्रकार घट घटाभाव का प्रतियोगी है, इसका अर्थ होता है कि घट घटाभाव का विरोधी है। फलतः प्रतियोगिता अभाव के साथ भाव का एक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध विरोधिता-रूप है। तथा जहाँ प्रतियोगिता नहीं है वह अप्रतियोगिता है।

64. कार्यनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता है वह 'प्रध्वंसाभाव' है। प्रागभाव के समान ही प्रध्वंसाभाव का भी अधिकरण, कार्य का उपादान कारण ही होता है। जैसे – मिट्टी के घट पर एक मुद्गर मारने पर वह फूट जाता है अर्थात् उस मृत्तिका को जो घट का आकार प्राप्त हुआ था वह नष्ट होता है। घटादिकों के इस ध्वंस को ही प्रध्वंसाभाव कहते हैं। उसका आधार घट के उपादान कारण कपाल ही हैं। क्योंकि कपाल की ओर देखकर ही 'ध्वस्तः घटः' = 'यह घट नष्ट हुआ' – यह प्रतीति होती है। इसलिए प्रध्वंसाभाव का अधिकरण

सर्वे वयमहं त्वमिमे जनाधिपाश्चात: परं न भविष्याम इति न, अपि तु भविष्याम एवेति ध्वंसाप्रतियोगित्वमुक्तम् । अत: कालत्रयेऽपि सत्तायोगित्वादात्मनो नित्यत्वेनानित्याद्देहाद्वैलक्षण्यं सिद्धमित्यर्थ: ॥ 12 ॥

37 **ननु देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति लोकायतिका: । तथा च स्थूलोऽहं गौरोऽहं गच्छामि चेत्यादिप्रत्यक्षप्रतीतीनां प्रामाण्यमनपोहितं भविष्यति । अत: कथं देहादात्मनो व्यतिरेको व्यतिरेकेऽपि कथं वा जन्मविनाशशून्यत्वं जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इति प्रतीतेर्देहजन्मनाशाभ्यां सहाऽऽत्मनोऽपि जन्मविनाशोपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह–**

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ 13 ॥

38 **देहा: सर्वे भूतभविष्यद्वर्तमाना जगन्मण्डलवर्तिनोऽस्य सन्तीति देही । एकस्यैव विभुत्वेन सर्वदेहयोगित्वात्सर्वत्र चेष्टोपपत्तेर्न प्रतिदेहमात्मभेदे प्रमाणमस्तीति सूचयितुमेकवचनम् । सर्वे वयमिति बहुवचनं तु पूर्वत्र देहभेदानुवृत्त्या न त्वात्मभेदाभिप्रायेणेति न दोष: ।**

अप्रतियोगिता[63] दिखाई है । इसीप्रकार हम सभी अर्थात् मैं, तू, और ये राजालोग इससे आगे नहीं होंगे, यह नहीं है, अपितु होंगे ही, ---इससे आत्मा में प्रध्वंसाभाव[64] की अप्रतियोगिता कही है । अतः तात्पर्य यह है कि तीनों कालों में भी सत्ता से सम्बन्ध रखने वाला होने से आत्मा नित्य है, अतएव अनित्य देहादि से उसकी विलक्षणता सिद्ध होती है ॥ 12॥

37 अर्जुन की ओर से यह आशङ्का करके कि " 'चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है' -- यह लोकायतिकों[65] का मत है । ऐसा स्वीकार करने पर ही 'मैं स्थूल हूँ, गोरा हूँ, जाता हूँ' -- इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतियों की प्रामाणिकता अखण्डित होगी । अत: देह से अतिरिक्त आत्मा कैसे हो सकता है ? कदाचित् भेद होने पर भी उसकी जन्मविनाशशून्यता कैसे सिद्ध हो सकती है ? क्योंकि ' देवदत्त उत्पन्न हुआ', 'देवदत्त मर गया' -- ऐसी प्रतीतियों से देह के जन्म और नाश के साथ आत्मा के भी जन्म और विनाश की उपपत्ति होती है", भगवान् कहते हैं :--

[देही (आत्मा) की इस देह में जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही उसे देहान्तर की प्राप्ति भी होती है, उस विषय में धीरपुरुष मोह नहीं करते ॥ 13 ॥]

38 जगन्मण्डलवर्ती सभी भूत, भविष्यत् और वर्तमान देह इस आत्मा के ही हैं, अतः यह देही है ।

भी घट का उपादान कारण मृत्तिका ही है । 'घटो ध्वस्त:' – ही प्रध्वंसाभाव की प्रतीति होती है । न्याय-मत में प्रध्वंसाभाव का कभी नाश नहीं होता, वह नित्य है, जो कि वेदान्त-विरुद्ध है । वेदान्तमत में ध्वंस नश्वर ही है (विशेष द्रष्टव्य -- टिप्पणी, 2. 43) ।

65. वाल्मीकि रामायण में लोकायतिकों का उल्लेख प्राप्त होता है जो मिथ्या बातों का प्रचार करते थे और अपने आपको ज्ञानी समझते थे (अयोध्याकाण्ड, अध्याय 2, श्लोक 38-39) । अथवा, लोके आयतं = विस्तीर्णं = प्रसिद्धं यत् प्रत्यक्षप्रमाणं तल्लोकायतम्, तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लोकायतम् । 'तदधीते तद्वेद' — (पाणिनिसूत्र, 4. 2. 59) इस सूत्र के अधिकार में ' ऋतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' (पाणिनिसूत्र, 4.2.60) – इस सूत्र से उक्थादि गण के अन्तर्गत 'लोकायत' पद से 'ठक्' प्रत्यय किया गया है अर्थात् लोकायतमधीते वेद वेति लोकायतिक: = लोक में व्याप्त 'लोकायत' शास्त्र के अध्येता को 'लोकायतिक' कहते हैं । लोकायतिक-मत चार्वाकों का कोई सम्प्रदाय है । यह मत भूतचतुष्टयवादी चार्वाक का है । इसके अनुसार पृथिव्यादि भूतों से 'चैतन्य' की उत्पत्ति वैसे ही होती है जैसे किण्वादि से मदशक्ति उत्पन्न होती है । और 'स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम्' — इत्यादि प्रयोगों से देह में ही 'अहम्' की प्रतीति होने के कारण चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है ।

39 **तस्य देहिन एकस्यैव सतोऽस्मिन्वर्तमाने देहे यथा कौमारं यौवनं जरेत्यवस्थात्रयं परस्परविरुद्धं भवति न तु तद्भेदेनाऽऽत्मभेद:, य एवाहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एवाहं वार्धके प्रणप्तॄननुभवामीति दृढतरप्रत्यभिज्ञानादन्यनिष्ठसंस्कारस्य चान्यत्रानुसन्धानाजनकत्वात्, तथा तेनैव प्रकारेणाविकृतस्यैव सत आत्मनो देहान्तरप्राप्तिरेतस्माद्देहादत्यन्तविलक्षणदेहप्राप्ति: स्वप्ने योगैश्वर्ये च तद्देहभेदानुसन्धानेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानात् । तथा च यदि देह एवाऽऽत्मा भवेत्तदा**

एक ही आत्मा से विभु होने के कारण सभी देहों से सम्बन्ध होने से सभी की चेष्टा हो सकती है, अत: प्रत्येक देह में आत्मा की भिन्नता स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है -- यह सूचित करने के लिए ही 'देहिन:' पद में एकवचन प्रयुक्त हुआ है । 'सर्वे वयम्' -- यहाँ जो बहुवचन का प्रयोग हुआ है वह तो पूर्वत्र देहभेद की अनुवृत्ति से हुआ है, न कि आत्म-भेद के अभिप्राय से हुआ है, इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है ।

39 उस देही (आत्मा) की, एक ही होने पर भी, इस वर्तमान देह में जैसे-बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था -- ये तीन परस्पर विरुद्ध अवस्थाएँ होती हैं, न कि इनके भेद से आत्मभेद होता है, क्योंकि 'जिस मैंने बाल्यावस्था में माता-पिता का अनुभव किया था वही मैं वृद्धावस्था में परपोतों का अनुभव करता हूँ' -- ऐसी सुदृढ़ प्रत्यभिज्ञा[66] होती है और एक व्यक्ति में रहने वाले संस्कार[67] किसी दूसरे व्यक्ति में अपनी स्मृति पैदा नहीं करते हैं ; वैसे ही अविकृत आत्मा को देहान्तर की प्राप्ति अर्थात् इस देह से अत्यन्त विलक्षण देह की प्राप्ति होती है, क्योंकि स्वप्न और योग-सिद्धि के समय उनसे प्राप्त होने वाले देहभेद का ज्ञान (स्मृति) रहने पर भी 'स एवाहम्' = 'मैं वही हूँ' - ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । इसप्रकार यदि देह ही आत्मा होता तो युवावस्था आदि भेद से देह में भी भेद हो जाने के कारण ऐसा अनुभव नहीं होता । यदि कोई यह कहे कि 'जब तक प्रत्यभिज्ञा होती है, तब तक एक वस्तु की ही

---

66. 'प्रत्यभिज्ञा' ऐक्य-विषयक ज्ञान है । प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है -- 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीति: प्रत्यभिज्ञा' --अर्थात् 'तत्ता' और 'इदन्ता' --दोनों को अवगाहन करने वाली प्रतीति को ' प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं । 'तत्ता' का अर्थ तद्देश और तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध है । और 'इदन्ता' का अर्थ एतद्देश और एतत्काल सम्बन्ध है । जिसमें पूर्वदेश पूर्वकाल और वर्तमानदेश वर्तमानकाल दोनों की प्रतीति हो उस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते है । जैसे :-- 'सोऽयं देवदत्त:' - यह प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण है ।

67. सन्तानात्मवादी बौद्धों के अनुसार आत्मा और जगत् अनित्य हैं । इनका कालिक सम्बन्ध दो क्षण तक भी नहीं रहता । वे प्रतिक्षण परिणाम प्राप्त करते रहते हैं, अत: वे दोनों परिणामशाली हैं । चित्तसन्तति के अतिरिक्त आत्मा कोई वस्तु नहीं है । जैसे दीपक की शिखा एक स्थिर प्रतीत होती है, किन्तु वह अनेक प्रकाशों की सन्तति या धारा है, वैसे ही शरीर में जो एक आत्मा अनुभूत होता है, वह भी एक नहीं है अपितु अनेक चित्तक्षणों की अविरल सन्तति है । प्रत्येक चित्तक्षण विनष्ट होता हुआ अपने समान दूसरे चित्तक्षण को उत्पन्न करता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को । यह धारा केवल एक ही शरीर में प्रवाहित नहीं रहती, अपितु अनन्त शरीरों में निरन्तर प्रवाहित रहती है । जब एक शरीर का चित्तक्षण शान्त होता हुआ दूसरे शरीर में चित्तक्षण को जन्म देता है, तब वहाँ मृत्यु-जन्म का व्यवहार होता है । जैसे दूध अपने समानरूप दधि को जन्म देता है वैसे ही चित्तक्षण भी अपने समान संस्कारों वाले दूसरे चित्तक्षण को जन्म देता है, इसीलिए उसमें स्थिरत्व और एकत्व की अनुभूति होती है । फलत: चित्तसन्तति से भिन्न आत्मा कोई वस्तु नहीं है। इसी बौद्ध-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए ही मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि एकव्यक्ति में रहनेवाले चित्तक्षण के संस्कारों से किसी दूसरे व्यक्ति के चित्तक्षण में स्मृतिज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । देवदत्त के संस्कारों से यज्ञदत्त में स्मृति नहीं होती । अतएव चित्तक्षणों की सन्तति से भिन्न एक स्थिर आत्मा है, जो अनेक शरीरों में अपनी एकता का निर्बाध अनुभव करता है । उसे ही इस शरीर की बाल्यादि अवस्थाओं के भेद से शरीरभेद में ; स्वप्न में प्राप्त शरीर-भेद में ; और योग-सिद्धि से प्राप्त विभिन्न शरीरों में एकता का प्रत्यभिज्ञान होता है ।

कौमारादिभेदेन देहे भिद्यमाने प्रतिसन्धानं न स्यात् । अथ तु कौमाराद्यवस्थानामत्यन्तवैलक्षण्येऽप्यवस्थावतो देहस्य यावत्प्रत्यभिज्ञं वस्तुस्थितिरिति न्यायेनैक्यं ब्रूयात्तदाऽपि स्वप्नयोगैश्वर्ययोर्देहधर्मिभेदे प्रतिसन्धानं न स्यादित्युभयोदाहरणम् । अतो मरुमरीचिकादावुदकादिबुद्धेरिव स्थूलोऽहमित्यादिबुद्धेरपि भ्रमत्वमवश्यमभ्युपेयं बाधस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । एतच्च न जायत इत्यादौ प्रपञ्चयिष्यते । एतेन देहाद्व्यतिरिक्तो देहेन सहोत्पद्यते विनश्यति चेति पक्षोऽपि प्रत्युक्तः । तत्रावस्थाभेदे प्रत्यभिज्ञोपपत्तावपि धर्मिणो देहस्य भेदे प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः ।

40 **अथवा यथा कौमाराद्यवस्थाप्राप्तिरविकृतस्याऽऽत्मन एकस्यैव तथा देहान्तरप्राप्तिरे-तस्माद्देहादुत्क्रान्तौ । तत्र स एवाहमितिप्रत्यभिज्ञानाभावेऽपि जातमात्रस्य हर्षशोकभयादिसम्प्रतिपत्तेः पूर्वसंस्कारजन्याया दर्शनात् । अन्यथा स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्तस्या इष्टसाधनतादिज्ञानजन्यत्वस्यादृष्टमात्रजन्यत्वस्य चाभ्युपगमात् । तथा च पूर्वापरदेहयोरात्मैक्यसिद्धिः, अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गादित्यन्यत्र विस्तरः । कृतयोः पुण्यपापयोर्भोगमन्तरेण नाशः कृतनाशः । अकृतयोः पुण्यपापयो-रकस्मात्फलदातृत्वमकृताभ्यागमः ।**

स्थिति रहती है' – इस न्याय से युवावस्था आदि अवस्थाओं में अत्यन्त विलक्षणता रहने पर भी अवस्थावान् देह की एकता ही रहती है, तो भी स्वप्न और योग-सिद्धि से प्राप्त होने वाले देहधर्मियों में भेद रहने पर तो ऐसा अनुभव (प्रत्यभिज्ञा) नहीं होगा, इसी से ये दो उदाहरण दिए हैं । अतः मरुमरीचिकादि में जलादि बुद्धि के समान 'स्थूलोऽहम्' = 'मैं स्थूल हूँ' --- इत्यादि बुद्धि को भी भ्रमरूप अवश्य स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि भ्रमत्वसाधक बाध दोनों में समान है । यह 'न जायते[68]' इत्यादि के व्याख्यान में विस्तार से कहेंगे । इससे 'आत्मा देह से भिन्न है, किन्तु वह देह के साथ ही उत्पन्न और विनष्ट होता है' --- यह पक्ष भी खण्डित हो गया, क्योंकि इस पक्ष में युवावस्था आदि अवस्थाओं का भेद होने पर प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति होने पर भी धर्मी(आत्मा) की देह का भेद होने पर प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी ।

40 अथवा, जैसे अविकृत एक ही आत्मा में कौमारादि अवस्थाओं की प्राप्ति होती है, वैसे ही इस देह से उत्क्रमण करने पर उसे देहान्तर की प्राप्ति होती है । वहाँ 'स एवाऽहम्' --- ऐसी प्रत्यभिज्ञा न होने पर भी उत्पन्न होते ही बालक में पूर्वसंस्कारजनित हर्ष, शोक, भयादि की प्राप्ति देखी जाती है, अन्यथा उसकी स्तनपानादि में प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि उस प्रवृत्ति को इष्टसाधनतादि ज्ञान से और अदृष्ट मात्र से ही उत्पन्न होना स्वीकार किया गया है[69] । इस प्रकार भी पूर्वापर देह के आत्मा

---

68. गीता, 2.20 ।

69. नवजात शिशु की प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति का होना उपपन्न होता है । इससे स्पष्ट होता है कि जिस आत्मा ने पूर्वजन्म में माता के स्तनपान का जो अनुभव 'स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्' — किया था, उसी से उत्पन्न संस्कार से वह दूसरे जन्म में पैदा होने पर प्रथम स्तन्यपान-प्रवृत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में 'स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्' — इसप्रकार की स्तन्यपाननिष्ठ अपनी इष्टसाधनता का स्मरण करता है, उस स्मरण से उसे इच्छा होती है, तभी बालक की प्रवृत्ति होती है । इसप्रकार 'स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्' — इत्याकारक इष्टसाधनतास्मारक संस्कार के प्रति जीवनादृष्ट को ही अनायत्या उद्बोधक स्वीकार करना पड़ता है । अन्यथा बालक का जीवन ही असंभव हो जायेगा । इससे पूर्वापर देह के आत्मा की एकता ही सिद्ध होती है ।

41 अथवा देहिन एकस्यैव तव यथा क्रमेण देहावस्थोत्पत्तिविनाशयोर्न भेदो नित्यत्वात्तथा युगपत्सर्वदेहान्तरप्राप्तिरपि तवैकस्यैव विभुत्वात्, मध्यमपरिमाणत्वे सावयवत्वेन नित्यत्वायोगात्, अणुत्वे सकलदेहव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्, विभुत्वे निश्चिते सर्वत्र दृष्टकार्यत्वात्सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा त्वमिति निश्चितोऽर्थः ।

की एकता सिद्ध होती है, अन्यथा कृतनाश और अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग होगा । इसका अन्यत्र विस्तृत वर्णन किया गया है । किये गए पुण्य और पाप का भोग के बिना जो नाश है वह 'कृतनाश' है । जन्मकाल में ही नहीं किये गए पुण्य और पाप का अकस्मात् फल दे देना 'अकृताभ्यापगम' कहलाता है ।

41 अथवा, जैसे तुम्हारी एक ही देही (आत्मा) में यथाक्रम देह की बाल्यादि अवस्थाओं के उत्पाद और विनाश से कोई भेद नहीं होता, क्योंकि आत्मा नित्य है ; वैसे ही तुम्हारी एक ही देही (आत्मा) को एक साथ समस्त देहान्तरों की भी प्राप्ति होती है, क्योंकि आत्मा विभु है [70] । यदि आत्मा को मध्यमपरिमाणरूप[71] स्वीकार करें तो उसके सावयव होने से उसमें नित्यता नहीं रह सकती और यदि उसे अणुरूप[72] स्वीकार करें तो फिर सकल देह में व्याप्त सुखादि की उपलब्धि न होने का प्रसंग उपस्थित होगा । अत: आत्मा का विभुत्व निश्चित होने पर सर्वत्र आत्मकार्यदर्शन से सभी शरीरों में एक ही आत्मा 'तू' है, यही त्वमर्थ निश्चित है ।

70. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने नित्य-विभु-अनेकात्मवादी वैशेषिकादि मतों के निरासनार्थ उक्त ग्रन्थ की योजना की है ।

71. जैन दर्शन जीव को मध्यम-परिमाणविशिष्ट स्वीकार करता है । जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है । जैसे दीपक जिस जिस प्रकार के छोटे या बडे आकारवाले कक्ष में रहने पर पूर्णप्रकाश करता है, वैसे ही जीव भी जिस प्रकार के छोटे या बडे आकारवाले शरीर में प्रवेश करता है, उसी के रूप में वह भासित होता है । वह हाथी के शरीर में प्रविष्ट होने पर हाथी के आकार का और चींटी के शरीर में प्रवेश करने पर चींटी के आकार का हो जाता है । यही मध्यमपरिमाणवाद कहलाता है । इसी का खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने किया है ।

72. रामानुज, निम्बार्क आदि सभी वैष्णव आचार्य जीव को अणुरूप स्वीकार करते हैं । इनके अनुसार हृदयदेश में निवास करने के कारण जीव अणु है । जीव के अणुत्व की सिद्धि के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है :—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते ।।' (श्वेता० 5.9)

अर्थात् बाल जितना मोटा होता है उतना ही लम्बा काटकर एक गोल टुकड़ा कर लें, फिर उस टुकड़े के सौ भाग करें । उसमें से एक भाग के पुनः सौ भाग करें, उसमें से एक भाग के समान जीव 'अणु' है ।
तब संशय उत्पन्न होता है कि वह जीव अणु होने पर शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव किस प्रकार करता है ? इसका समाधान यह है कि जीव ज्ञानस्वरूप है, इसी गुण की सहायता से वह सकल शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव सदा किया करता है । उदाहरण के लिए ललाट पर लगी हुई चन्दन की एक बिन्दु जैसे सकल शरीर को अपने गन्ध से आह्लादित करती है वैसे ही जीवात्मा एक स्थान पर स्थित रहकर सारे शरीर को प्रकाशित करता है और सुख-दुःखादि का अनुभव कराता है । दीपक गृह के एक कोने में रखा जाता है, परन्तु वहीं से समस्त गृह को प्रकाशित करता है । अणु जीव की भी ठीक यही स्थिति है ।

शंका होती है कि चन्दन के बिन्दु की तो एक ही स्थान पर अवस्थिति है, परन्तु जीवात्मा तो चैतन्य है अतएव सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता होगा, इसीलिए चन्दन का दृष्टान्त उचित नहीं । ऐसी शंका व्यर्थ है क्योंकि जीवात्मा भी चन्दन के ही समान हृदय में एक ही स्थान पर स्थित रहता है । इसप्रकार सिद्ध है कि जीव परिमाण में अणु है । यही अणुपरिमाणवाद का सिद्धान्त है । इसी का निराकरण मधुसूदन सरस्वती ने किया है ।

42 तत्रैवं सति वध्यघातकभेदकल्पनया त्वमधीरत्वान्मुह्यसि धीरस्तु विद्वान्न मुह्यति अहमेषां हन्तैते मम वध्या इति भेददर्शनाभावात् । तथा च विवादगोचरापन्नाः सर्वे देहा एकभोक्तृकादेहत्वात्त्वद्देहवदिति । श्रुतिरपि– 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वेता० 6.11) इत्यादि । एतेन यदाहुर्देहमात्रमात्मेति चार्वाकाः, इन्द्रियाणि

42 आत्मा सभी शरीरों में एक है, ऐसी स्थिति में हिंस्य-हिंसक-भेद की कल्पना से तू ही अधीर होने के कारण मोह कर रहा है, धीर विद्वान् तो मोह नहीं करता, क्योंकि उसे 'मैं इनका हन्ता हूँ, ये मेरे वध्य हैं' -- ऐसी भेददृष्टि नहीं होती । अनुमान इसप्रकार होगा --'विवाद के विषयभूत सभी देह एक ही भोक्तावाले हैं, देह होने के कारण, तेरे देह के समान'[73] । श्रुति भी कहती है -- 'एक ही देव समस्त भूतों में गूढ है, वह सर्वव्यापी है और समस्त भूतों का अन्तरात्मा है' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.11) इत्यादि । इससे चार्वाकों[74] ने जो कहा है कि 'देह ही आत्मा है' ; चार्वाकों में ही एकदेशी जो कहते हैं कि 'इन्द्रिय, मन और प्राण आत्मा है' ; सौगतों[75] का जो मत है कि 'क्षणिकविज्ञान आत्मा है' :

73. यहाँ सभी शरीरों में व्याप्त आत्मा के एकत्व की सिद्धि के लिए अनुमान-वाक्य का प्रयोग किया गया है –– 'सर्वे देहा एकभोक्तृका, देहत्वात्, त्वद्देहवत्' । तो प्रश्न है कि जब वध्य-घातक भाव भेद के बिना नहीं हो सकता और क्रिया कर्तृकर्मभाव भेद में ही होता है तब इस व्याप्ति में क्या प्रमाण है ? भिन्न आत्मा स्वीकार करने पर भी देह हो सकती है । वही व्याप्ति प्रामाणिक कही जाती है, जिसमें अनुकूल तर्क हो । अन्यथा 'सर्वे देहा भिन्नभोक्तृकाः, देहत्वात्, त्वद्देहवत्' — इसप्रकार अनुमान से आत्मभेद ही स्वीकार करना चाहिए । अतएव उत्तर-व्याप्ति के खण्डनार्थ ही मधुसूदन सरस्वती ने पूर्व उक्त व्याप्ति में श्रुति का प्रमाण दिया है — 'एको देवः सर्वभूतेषु' इत्यादि । फलतः आत्मा का एकत्व ही श्रुतिप्रमाणित है ।

74. 'चार्वाक' शब्द की व्युत्पत्ति 'चर्व अदने' धातु से मानी जाती है जिसका अर्थ 'चबाना' या 'भोजन करना' होता है । इस सम्प्रदाय में खाने-पीने और भोग-विलास पर ही अधिक जोर दिया गया है, अतः इसे चार्वाकदर्शन कहते हैं और इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्यों को भी चार्वाक कहते हैं । कुछ विचारक 'चार्वाक' शब्द की व्युत्पत्ति 'चारु + वाक्' (मधुरवचन) से करते हैं । कुछ विद्वान् ' चार्वी' शब्द से चार्वाक शब्द को निष्पन्न मानते हैं जैसा कि काशिकावृत्ति के उद्धरण से ज्ञात होता है कि 'चार्वी बुद्धि को कहते हैं और बुद्धि से सम्बन्ध होने के कारण आचार्य को भी 'चार्वी' कहा जाता था' । चार्वाक दर्शन के प्रमुख आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं, जिन्होंने कोई सूत्रग्रन्थ लिखा था, जो कि उपलब्ध नहीं है, उसके सूत्र यत्र-तत्र प्रकीर्ण-रूप में मिलते हैं । इन चार्वाकों में अनेक मत प्रचलित रहें हैं । इनके मतों की विभिन्नता बतलाने के लिए कहीं 'अपरश्चार्वाकः' और कहीं 'तदेकदेशिनः' शब्दों का प्रयोग किया गया है । प्रथम मत में 'स्थूल शरीर आत्मा है' ; द्वितीय के अनुसार 'पुत्र आत्मा है' ; तृतीय में 'इन्द्रिय आत्मा है' ; चतुर्थ में 'प्राण आत्मा है', और पंचम के अनुसार 'मन ही आत्मा है' (विशेष द्रष्टव्य–वेदान्तसार) ।

75. दुःख और दुःख के कारणों की कक्षा से निर्गत हो जाने को 'सुगतत्व' कहते हैं । अर्थात् 'सुगत' बुद्ध की संज्ञा है । जैसा कि धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक में कहा है—

'हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वमनिःश्रयात् ।
दुःखस्य शस्त्रं नैरात्म्यदृष्टेः तद्युक्तितोऽपि वा ।। (प्रमाणवार्तिक, 2. 140)

उन सुगतों के अनुयायियों को 'सौगत' कहते हैं, उनमें क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के अनुसार क्षणिक-विज्ञान अर्थात् प्रवृत्ति, आलय रूप उभयविध विज्ञान आत्मा है, क्योंकि वह विज्ञान भी स्वप्रकाशरूप होने से चेतन है । ज्ञान, सुख आदि उस विज्ञान के ही आकार विशेष हैं । वह विज्ञान भी भावरूप होने से क्षणिक है । पूर्व-पूर्व-विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में कारण होता है, अतः सुषुप्ति अवस्था में भी आलयविज्ञान की धारा निर्बाध बनी रहती है । जैसे कस्तूरी की गन्ध शतपट में प्रथम पट से लेकर अन्तिम पट तक क्रमशः सङ्क्रान्त होती जाती है, वैसे ही पूर्व-पूर्व-विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में स्वानुभवजन्य संस्कारों को उत्पन्न करता रहता है । इस कारण स्मरणानुपपत्तिरूप दोष भी यहाँ नहीं रहता । इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब विज्ञान-स्वरूप ही हैं । विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं है । अतः क्षणिक-विज्ञान ही आत्मा है ।

मनः प्राणश्चेति तदेकदेशिनः, क्षणिकं विज्ञानमिति सौगताः, देहातिरिक्तः स्थिरो देहपरिमाण इति दिगम्बराः, मध्यमपरिमाणस्य नित्यत्वानुपपत्तेर्नित्योऽणुरित्येकदेशिनः, तत्सर्वमपाकृतं भवति नित्यत्वविभुत्वस्थापनात् ॥ 13 ॥

43 - नन्वात्मनो नित्यत्वे विभुत्वे च न विवदामः प्रतिदेहमेकत्वं तु न सहामहे, तथाहि— बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यनवविशेषगुणवन्तः प्रतिदेहं भिन्ना एव नित्या विभवश्चाऽऽत्मान इति वैशेषिका मन्यन्ते। इममेव च पक्षं तार्किकमीमांसकादयोऽपि प्रतिपन्नाः। सांख्यास्तु विप्रतिपद्यमाना अप्यात्मनो गुणवत्त्वे प्रतिदेहं भेदे न विप्रतिपद्यन्तेऽन्यथा सुखदुःखादिसंकरप्रसङ्गात् । तथा च भीष्मादिभिन्नस्य मम नित्यत्वे विभुत्वेऽपि

दिगम्बरों[76] का जो मत है कि 'देह से भिन्न, स्थिर और देहपरिमाणवाला आत्मा है' ; तथा उन्हीं के एकदेशी जो कहते हैं कि 'मध्यमपरिमाण वाला आत्मा नित्य नहीं हो सकता, इसलिए नित्य, अणु आत्मा है' -- ये सभी मत निराकृत हो गए, क्योंकि आत्मा का नित्यत्व और विभुत्व सिद्ध ही है ॥ 13 ॥

43 'आत्मा के नित्यत्व और विभुत्व के विषय में हम विवाद नहीं करते हैं, किन्तु 'प्रतिदेह में एक ही आत्मा है' --- यह हमें सहन नहीं होता । क्योंकि वैशेषिक[77] आत्मा को बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना-संज्ञक नौ विशेष गुणवाला, नित्य और विभु मानते हैं । इसी पक्ष को तार्किक मीमांसक आदि भी मानते हैं । सांख्य[78] लोगों की आत्मा के गुणवान् होने में इनसे विप्रतिपत्ति होने पर भी प्रतिदेह में आत्म-भेद स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, अन्यथा समस्त आत्माओं में सुख-दुःखादि के परस्पर सांकर्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । इस प्रकार भीष्मादि से भिन्न मेरे नित्यत्व और विभुत्व होने पर भी सुख-दुःखादि से सम्बन्ध वाला होने के

76. जिसने रागद्वेषादि मनोविकारों का दमन कर विजय प्राप्त करली है वही 'जिन' है और जो उन केवली 'जिनों' के उपासक हैं वे 'जैन' कहलाते हैं । जैनों के दो सम्प्रदाय हैं —दिगम्बर और श्वेताम्बर । दिगम्बरों के अनुसार जीव ज्ञानरूप है (बोधात्मको जीवः), वह स्थिर और स्वदेह परिमाण वाला = मध्यपरिमाण वाला है (विशेष द्रष्टव्य – टिप्पणी 2.71) । श्वेताम्बरों के मत में आत्मा नित्य है और अणुपरिमाणवाला है । इनके अनुसार आत्मा मध्यमपरिमाणरूप नहीं हो सकता क्योंकि स्वदेहपरिमाण होने से वह अनित्य हो जायेगा । मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ जो 'एकदेशी-मत' प्रस्तुत किया है वह श्वेताम्बरों का मत ही है ।

77. न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान के अधिकरण को 'आत्मा' कहते हैं । आत्मा का विशेष गुण 'चैतन्य' है । प्राण, अपान, निमिष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तविकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आत्मा के सूचक चिह्न हैं (वैशेषिक सूत्र, 3.2.4) । बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना — ये आत्मा के नौ विशेष गुण हैं । संख्या, परिणाम, संयोग, विभाग,, पृथकृत्व -- ये पांच आत्मा के सामान्य गुण हैं । बुद्धि आदि गुणों का आधार होने से आत्मा 'द्रव्य' है और निरवयव होने से वह नित्य है । जीवात्मा अनेक हैं । प्रत्येक शरीर में रहने वाला आत्मा नित्य और विभु है । आत्मा के दो रूप हैं --- परमात्मा और जीवात्मा । मीमांसकों के अनुसार भी आत्मा नित्य, विभु, चैतन्य और अनेक है । वह ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, एवं ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, धर्म और अधर्म का आश्रय भी है (श्लोकवार्तिक, – आत्मवाद) ।

78. सांख्यकारिका में कहा है –—

'जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ (सांख्यकारिका, 18)

अर्थात् सांख्य के अनुसार जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था, एकसाथ प्रवृत्ति के अभाव तथा गुणों के भेद के कारण पुरुष ('आत्मा) की अनेकता सिद्ध होती है ।

सुखदुःखादियोगित्वाद्भीष्मादिबन्धुदेहविच्छेदे सुखवियोगो दुःखसंयोगश्च स्यादिति शोकमोहौ नानुचिताविति अर्जुनाभिप्रायमाशङ्क्य लिङ्गशरीरविवेकायाऽऽह–

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ 14 ॥

44 मीयन्त आभिर्विषया इति मात्रा इन्द्रियाणि तासां स्पर्शा विषयैः संबन्धास्तत्तद्विषयाकारान्तःकरणपरिणामा वा । त आगमापायिन उत्पत्तिविनाशवतोऽन्तःकरणस्यैव शीतोष्णादिद्वारा सुखदुःखदा, नतु नित्यस्य विभोरात्मनः; तस्य निर्गुणत्वान्निर्विकारत्वाच्च । न हि नित्यस्यानित्यधर्माश्रयत्वं संभवति धर्मधर्मिणोरभेदात्संबन्धान्तरानुपपत्तेः साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्वानुपपत्तेश्च । तदुक्तम्–

कारण भीष्मादि बन्धुओं के देह का विच्छेद होने पर मुझे सुख से वियोग और दुःख से संयोग होगा ही । अतः मेरे शोक और मोह अनुचित नहीं हैं' -- ऐसे अर्जुन के अभिप्राय की आशङ्का करके लिङ्गशरीर के विवेक (ज्ञान) के लिए भगवान् कहते हैं --

[हे कौन्तेय ! सर्दी, गर्मी, सुख और दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति--विनाशशील और अनित्य हैं, अतएव हे भारत ! उनको तू सहन कर ॥ 14 ॥]

44 इनसे विषयों का मान (ज्ञान) होता है, इसलिए इन्द्रियाँ 'मात्रा' कहलाती हैं । उनके स्पर्श = विषयों से सम्बन्ध अथवा तद्-तद् विषयों के आकार वाले अन्तःकरण के परिणाम -- ये आगमापायी अर्थात् उत्पत्ति और विनाश वाले हैं और सर्दी-गर्मी आदि द्वारा अन्तःकरण को ही सुख-दुःख देने वाले हैं, नित्य और विभु आत्मा को नहीं, क्योंकि आत्मा तो निर्गुण और निराकार है ।[79] नित्यवस्तु को अनित्य धर्मों की आश्रयता होना संभव नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मी का अभेद होने के

79. सांख्य, योग और वेदान्त -- तीनों दर्शनों ने अन्तःकरण को 'वस्तुप्राप्यप्रकाशकारी' माना है । सांख्यदर्शन 'बुद्धि' को 'महत्तत्त्व' 'अन्तःकरण', 'सत्त्व', 'चित्त' आदि शब्दों से भी व्यवहृत करता है । इनके मत के अनुसार 'अन्तःकरण' एक तैजस द्रव्य के समान है । इनके मत में जब बुद्धि का बाह्य घट–पटादि वस्तुओं के साथ इन्द्रियरूप प्रणालिका के द्वारा सम्बन्ध होता है, तो सम्बन्ध के पश्चात् वह बुद्धि (अन्तःकरण) उस घटादि पदार्थों के आकार में परिणत हो जाती है । 'बुद्धि' की इस अर्थाकार परिणति को ही 'बुद्धिवृत्ति' = चित्तवृत्ति = अन्तःकरणवृत्ति कहते हैं । उसके इस अर्थाकार परिणाम को ही 'ज्ञान' भी कहते हैं । 'परिणाम' हमेशा परिणामी वस्तु में ही रहता है । इसलिए यह 'अर्थाकार परिणामात्मक ज्ञान' परिणामिनी बुद्धि = अन्तःकरण के ही आश्रित रहता है । अतः 'ज्ञान' आत्मा का धर्म नहीं है, अपितु बुद्धि (अन्तःकरण) का ही धर्म है । फलतः तद्-तद् विषयों के आकार वाले अन्तःकरण के परिणाम अन्तःकरण को ही सुख-दुःख प्रदान करते हैं, नित्य और विभु आत्मा को नहीं ।

80. अद्वैत–सिद्धान्त के अनुसार धर्म–धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध है, सम्बन्धान्तर नहीं । किन्तु नैयायिक धर्म-धर्मी में 'समवाय' सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । जैसे, आत्मा (धर्मी) में 'ज्ञान' (धर्म) समवाय सम्बन्ध से रहता है । इसकी अनुमान से उपपत्ति होती है — 'गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वाद्, दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्' — इस अनुमान से वह विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध समवाय के अतिरिक्त दूसरा और कोई संयोगादि सम्भव नहीं हो सकता । यहाँ पर जैसे 'दण्डीपुरुष' – विशिष्टज्ञान विशेषण-विशेष्य के संयोग सम्बन्ध को विषय बनाता है, वैसे ही अवयववान् अवयवी, गुणवान् गुणी, क्रियावत् द्रव्यम्, जातिमती व्यक्तिः, विशेषवत् नित्यद्रव्यम् -- आदि विशिष्टज्ञानों का विशेष भी विशेषण-विशेष्य दोनों का सम्बन्ध ही होगा । वह सम्बन्ध 'समवाय' के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता, क्योंकि अवयव, जाति, गुण, क्रिया, विशेष आदि का अपने अपने द्रव्य के साथ 'संयोग' सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता । क्योंकि संयोग सम्बन्ध तो द्रव्य-द्रव्य का ही होता है । अतः 'समवाय' की सिद्धि हो जाती

'नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः' इति ॥
(बृह० वा० 1.4.561)

45 तथा च सुखदुःखाद्याश्रयीभूतान्तःकरणभेदादेव सर्वव्यवस्थोपपत्तेर्न निर्विकारस्य सर्वभासकस्याऽऽत्मनो भेदे मानमस्ति, सद्रूपेण च सर्वत्रानुगमात् । अन्तःकरणस्य तावत्सुखदुःखादौ जनकत्वमुभयवादिसिद्धम् । तत्र समवायिकारणत्वस्यैवाभ्यर्हितत्वात्तदेव कल्प-

कारण उनका और कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता [80] तथा साक्ष्य साक्षी का धर्म भी नहीं हो सकता । ऐसा कहा भी है -- 'विकार के बिना आत्मा दुःखी नहीं हो सकता और यदि उसे विकारी मानें तो उसमें साक्षिता कैसे हो सकती है ? विकारी साक्ष्यकोटि में संभव है, साक्षिकोटि में नहीं । 'अहं' आत्मा बुद्धि के सहस्रों विकारों का साक्षी है, अत: अविकारी है' –(बृह० वा० 1. 4. 561) ।

45 इसप्रकार सुख, दुःखादि के आश्रयीभूत अन्तःकरण के भेद से ही सभी प्रकार की व्यवस्था की उपपत्ति हो जाने के कारण निर्विकार सर्वजगत्भासक आत्मा के भेद में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो सद्रूप और चिद्रूप से सर्वत्र अनुगत है । अन्तःकरण का सुख-दुःखादि की उत्पत्ति में कारण होना दोनों ही वादियों के मत में सिद्ध है । उसमें समवायिकारणता के ही अभ्यर्हित होने के कारण सुख-दुःखादि के प्रति समवायिकारणता की ही कल्पना करना उचित है, कोई अन्य समवायिकारण न होने पर उसे निमित्तमात्र मानना उचित नहीं है[81] । इसी प्रकार 'काम: संकल्प:[82]' इत्यादि श्रुति

है । परन्तु नैयायिकों का 'समवाय' सम्बन्ध–उपपादन उचित नहीं है, क्योंकि प्रश्न है कि 'समवाय' किस सम्बन्ध से धर्मी में रहता है ? गुण के समान समवाय सम्बन्ध भी सम्बन्धी से भिन्न है, अत: किसी सम्बन्ध से रह कर ही सम्बन्धिता का नियामक होगा, अन्यथा हिमवान् और विन्ध्य पर्वत की भी सम्बन्धिता हो जायेगी । यदि इसका भी कोई सम्बन्ध होगा, तो उसका भी सम्बन्धान्तर पुन: उसका सम्बन्धान्तर — इस प्रकार सम्बन्धान्तर की कल्पना करते रहने से अनवस्था होगी । यदि अन्त्य सम्बन्ध का कोई सम्बन्ध नहीं होगा, तो आमूल सम्बन्ध असिद्ध हो जायेगा । इस दोष का वारण करने के लिए यदि समवाय को स्वरूपसम्बन्ध कहेंगे, तो गुण-गुणी का ही स्वरूप सम्बन्ध मान लेने से समवाय सम्बन्ध की सिद्धि का उपपादन नहीं हो सकता । गुण-गुणी का जो स्वरूप सम्बन्ध होगा वह 'तादात्म्य' सम्बन्ध में ही पर्यवसित होगा । अत: धर्म-धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध ही है, सम्बन्धान्तर नहीं ।

81. यहाँ यह शंका होती है कि 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यादि प्रतीति से सुखादि आत्मनिष्ठ प्रतीत होते हैं, तो फिर उनको मनोवृत्ति क्यों मानते हैं ? समाधान यह है कि एकजीववादी (अद्वैत) और अनेकजीववादी (न्याय-वैशेषिकादि) — दोनों ही वादियों के मत में अन्तःकरण का सुख-दुःखादि की उत्पत्ति में कारण होना स्वीकार है । भेद इतना ही है कि नैयायिक अन्तःकरण को सुखादि का निमित्तकारण मानते हैं, समवायिकारण नहीं और अद्वैतवादी अन्तःकरण को सुखादि का समवायिकारण मानते हैं, निमित्तकारण नहीं । जिसमें समवायसम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो, वह समवायिकारण है और समवायिकारण में रहकर ही कारण हो, वह असमवायिकारण है । इन दोनों ही कारणों से भिन्न निमित्तकारण कहलाता है, यह नैयायिकों की कारणभेदप्रक्रिया है । इसमें विचारणीय यह है कि अन्तःकरण = मन सुखादि का समवायिकारण है या निमित्तकारण ? एतदर्थ इन तीनों कारणों में मुख्य कारण कौन है ? यह पूर्वमेव विचारणीय है । समवायिकारण के बिना असमवायिकारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि समवायिकारणघटित असमवायिकारण का लक्षण है, अत: समवायिकारण के अधीन असमवायिकारण के होने से समवायिकारण प्रधान है । निमित्तकारण तो दोनों के अधीन होने से दोनों कारणों से अप्रधान है । यदि मन सुखादि का प्रधान = समवायिकारण हो सकता है, तो उसे अप्रधान कारण = निमित्तकारण क्यों माना जाय ? इसीलिए समवायिकारणता को अभ्यर्हित कहा है । और फिर समवायिकारणान्तर के निश्चित होने से ही मन को निमित्तकारण कह सकते हैं, किन्तु निश्चित यदि दूसरा समवायिकारण नहीं हैं, तो मन को ही समवायिकारण मानना उचित है ।

यितुमुचितं न तु समवायिकारणान्तरानुपस्थितौ निमित्तत्वमात्रम् । तथा च 'कामः संकल्प' इत्यादिश्रुतिरेतत्सर्वं मन एवेति कामादिसर्वविकारोपादानत्वमभेदनिर्देशान्मनस आह । आत्मनश्च स्वप्रकाशज्ञानानन्दरूपत्वस्य श्रुतिभिर्बोधनान्न कामाद्याश्रयत्वम् । अतो वैशेषिकादयो भ्रान्त्यैवाऽऽत्मनो विकारित्वं भेदं चाङ्गीकृतवन्त इत्यर्थः ।

46 **अन्तःकरणस्याऽऽगमापायित्वाद् दृश्यत्वाच्च नित्यदृग्रूपात्त्वत्तो भिन्नस्य सुखादिजनका ये मात्रास्पर्शास्तेऽप्यनित्या अनियतरूपा, एकदा सुखजनकस्यैव शीतोष्णादेरन्यदा दुःखजनकत्वदर्शनात्, एवं कदाचिद्दुःखजनकस्याप्यन्यदा सुखजनकत्वदर्शनात् । शीतोष्णग्रहणमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकसुखदुःखोपलक्षणार्थम् । शीतमुष्णं च कदाचित्सुखं कदाचिद्दुःखं सुखदुःखे तु न कदाऽपि विपर्ययेते इति पृथङ्निर्देशः ।**

47 **तथा चात्यन्तास्थिरांस्त्वद्भिन्नस्य विकारिणः सुखदुःखादिप्रदान्भीष्मादिसंयोगवियोगरूपा - न्मात्रास्पर्शांस्त्वं तितिक्षस्व=नैते मम किंचित्करा इति विवेकेनोपेक्षस्व, दुःखितादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मानं दुःखिनं मा ज्ञासीरित्यर्थः । कौन्तेय भारतेति संबोधनद्वयेनोभयकुलविशुद्धस्य तवाज्ञानमनुचितमिति सूचयति ॥ 14 ॥**

'एतत्सर्वं मन एव' ऐसा कहकर मन के साथ कामादि सभी विकारों का अभेद बनाकर मन को ही कामादि सभी विकारों का उपादान बतलाती है । श्रुतियों ने तो आत्मा की स्वप्रकाशज्ञानानन्दस्वरूपता का उपदेश किया है, इसलिए उसमें कामादि की आश्रयता नहीं हो सकती । अतः वैशेषिकादि ने भ्रान्ति से ही आत्मा में विकारित्व और भेद स्वीकार किया है -- यह तात्पर्य है ।

46 अन्तःकरण आगमापायी (उत्पत्ति-विनाशशाली) और दृश्य होने के कारण नित्य, दृग् (साक्षी), चैतन्यरूप त्वंपदार्थ से भिन्न है, अतः उसके जो सुखादिजनक मात्रास्पर्श हैं वे भी अनित्य -- अनियतरूप हैं, क्योंकि जो शीतोष्णादि एक समय सुखजनक होते हैं वे ही दूसरे समय दुःखजनक देखे जाते हैं । इसीप्रकार कदाचित् दुःखजनक होने पर भी वे दूसरे समय सुखजनक देखे जाते हैं । शीतोष्ण का ग्रहण आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक--- तीनों प्रकार के सुख-दुःखों का उपलक्षण कराने के लिए है । शीत और उष्ण तो कभी सुख और कभी दुःख हो जाते हैं, किन्तु सुख[83]-दुःख[84] में ऐसा विपर्यय कभी नहीं होता, इसीलिए उनका पृथक् निर्देश किया है ।

47 इसप्रकार जो अत्यन्त अस्थिर, त्वद्भिन्न विकारी चित्त को सुख-दुःखादि देने वाले हैं, उन भीष्मादि के संयोग-वियोगरूप मात्रास्पर्शों को तू सहन कर अर्थात् 'ये मेरा कुछ भी नहीं कर सकते' -- इस प्रकार के विवेक से उनकी उपेक्षा कर अर्थात् दुःखी चित्त के साथ आत्मा के अभेद का अध्यास करके अपने को दुःखी मत समझ । 'कौन्तेय' और 'भारत' -- इन दो सम्बोधन पदों से यह सूचित करते हैं कि जिसके मातृकुल और पितृकुल -- दोनों ही कुल शुद्ध हैं ऐसे तुझको अज्ञान होना अत्यन्त अनुचित है ॥ 14 ॥

82. 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' — अर्थात् काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय — ये सभी मन ही हैं ।

83. जो इष्ट, मित्र, शत्रु आदि सभी को अनुकूल जान पड़े वह 'सुख' है (सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम् = इष्टसाधनताज्ञानानधीनेच्छाविषयत्वं सुखस्य लक्षणम् -- (तर्कसंग्रह) ।

84. जो इष्ट, मित्र, शत्रु, आदि सभी को प्रतिकूल जान पड़े वह दुःख है (प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् = इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयताशालित्वं दुःखस्य लक्षणम् —- तर्कसंग्रह) ।

48 नन्वन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वे तस्यैव कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च चेतनत्वमभ्युपेयं, तथा च तद्व्यतिरिक्ते तद्भासके भोक्तरि मानाभावान्नाममात्रे विवादः स्यात्, तदभ्युपगमे च बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः, अन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वेन बद्धत्वात्, आत्मनश्च तद्व्यतिरिक्तस्य मुक्तत्वादित्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह भगवान्–

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। 15 ।।

49 यं स्वप्रकाशत्वेन स्वत एव प्रसिद्धम् 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृह० 4.3.19) इति श्रुतेः पुरुषं पूर्णत्वेन पुरि शयानं 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैतेन किंचनानावृतं नैतेन किंचनासंवृतम्' (बृह० 2.5.18) इति श्रुतेः, समदुःखसुखं= समे दुःखसुखे अनात्मधर्मतया भास्यतया च यस्य निर्विकारस्य स्वयंज्योतिषस्तं, समदुःखग्रहणमशेषान्तः-करणपरिणामोपलक्षणार्थम्, 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (बृह० 4.4.23) इतिश्रुत्या वृद्धिकनीयस्तारूपयोः सुखदुःखयोः प्रतिषेधात्, धीरं धियमीरयति

48 'सुख, दुःख आदि का आश्रय होने से अन्तःकरण कर्त्ता और भोक्ता है, इसीलिए उसी को ही चेतन भी स्वीकार करना चाहिए । इसप्रकार इसके अतिरिक्त अन्तःकरणादिभासक भोक्ता में कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए उसके नाममात्र में विवाद होगा । यदि उसे माना भी जाय तो बन्ध-मोक्ष के विभिन्न अधिकरणों में होने की आपत्ति होगी, क्योंकि सुख, दुःख आदि का आश्रय होने से अन्तःकरण तो बद्ध है और सुखादि से रहित होने कारण आत्मा मुक्त है[85]' ---ऐसी अर्जुन की आशङ्का के निवारण के लिए भगवान् कहते हैं :--

[हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख और दुःख में समान रहने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध व्याकुल नहीं करते, वही मोक्ष प्राप्त करने के योग्य होता है ।। 15 ।।]

49 'यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति अर्थात् स्वप्रकाश होता है'(बृह० 4.3.19) --- इस श्रुति के अनुसार स्वप्रकाश होने के कारण स्वतः ही प्रसिद्ध जिस पुरुष को, -- जो 'वह यह पुरुष समस्त देहरूप पुरियों में हृदय के भीतर रहने वाला है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इससे आच्छादित न हो और ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है जो इससे ढकी न हो' (बृह० 2.5.18) --- इस श्रुति के अनुसार पूर्ण होने से देहरूप पुरी में शयन = व्याप्त रहने के कारण 'पुरुष' कहलाता है तथा जो समदु:ख--सुख है अर्थात जिस निर्विकार स्वयंज्योतिस्वरूप के लिए अनात्मधर्म और भास्य होने के कारण दु:खसुख

85.यहाँ अर्जुन की ओर से वैशेषिकमतानुसार आशङ्का की गई है । वैशेषिकों के अनुसार सुख, दुःखादि का आश्रय आत्मा है, वही कर्त्ता और भोक्ता है तथा चेतन है । अद्वैत-सिद्धान्त में सुख, दुःखादि का आश्रय अन्तःकरण है, वही कर्त्ता और भोक्ता है, किन्तु वह अचेतन है । उनके अनुसार आत्मा ही चेतन है जो कि अन्तःकरण से सर्वथा भिन्न है । इसप्रकार सुखादि के आश्रय होने के कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्व के लिए वैशेषिक जिसे 'आत्मा' कहते हैं, उसे ही अद्वैतवादी 'अन्तःकरण' कहते हैं, केवल नाम में भेद हैं । अत: वैशेषिक यहाँ पुन: यह कहते हैं कि अन्तःकरण का कर्तृत्व और भोकृत्व आत्मा में आरोपित होने के कारण अन्तःकरण से अतिरिक्त उसका प्रकाशक स्वतंत्र आत्मा के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं होने से आत्मा को अन्तःकरण से पृथक् नहीं मानना चाहिए, अन्यथा बन्धन और मुक्ति एक अधिकरण में नहीं रह सकेंगे, फलत: युक्तिविरुद्ध सिद्धान्त होगा, क्योंकि सुखादि का आश्रय होने के कारण अन्तःकरण बद्ध हो जायेगा और आत्मा अन्तःकरण से भिन्न होने के कारण मुक्त रहेगा । निष्कर्षत: आत्मा (अन्तःकरण) को ही सुखादि का आश्रय होने के कारण कर्त्ता, भोक्ता और चेतन स्वीकार करना चाहिए ।

प्रेरयतीति व्युत्पत्त्या चिदाभासद्वारा धीतादात्म्याध्यासेन धीप्रेरकं धीसाक्षिणमित्यर्थः । 'स धीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृह० 4.3.7) इति श्रुतेः । एतेन बन्धप्रसक्तिर्दर्शिता । तदुक्तम्—

'यतो मानानि सिध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा ।
भावाभावविभागश्च स ब्रह्मास्मीति बोध्यते'
(बृह० वा० सं० 1082) इति

एते सुखदुःखदा मात्रास्पर्शा हि यस्मान्न व्यथयन्ति परमार्थतो न विकुर्वन्ति सर्वविकारभासकत्वेन विकारायोग्यत्वात् ।

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः'
(कठ० 5.11) इति श्रुतेः ।

समान हैं उस पुरुष को, --। यहाँ सुख-दु:ख का ग्रहण अन्त:करण के समस्त परिणामों को उपलक्षित कराने के लिए है, क्योंकि 'ब्रह्मवित् पुरुष की यह नित्य महिमा है कि वह शुभकर्म से न बढ़ता है और न पापकर्म से घटता है' (बृह० 4.4.23) --- इस श्रुति से ब्रह्मवित् पुरुष के वृद्धि और ह्रासरूप सुख-दु:ख का निषेध किया गया है ।, --- और जो धीर है अर्थात् 'धियम् ईरयति प्रेरयति' = जो बुद्धि को प्रेरित करता है, इस व्युत्पत्ति से चिदाभास द्वारा अर्थात् चित्प्रतिबिम्बविशिष्ट अन्त:करण (बुद्धि) के साथ तादात्म्य (अभेद) का अध्यास होने से बुद्धि के प्रेरक अर्थात् बुद्धि के साक्षी आत्मा (पुरुष) को, -- यह भाव है । इसमें 'वह पुरुष बुद्धि के साथ स्वप्नरूप होकर इस लोक से परे चला जाता है' (बृह० 4.3.7), -- यह श्रुति प्रमाण है । इससे आत्मा में बन्धन की प्रसक्ति दिखलाई गई है । [86] कहा भी है ----

''जिससे सभी प्रमाण, जाग्रदादि तीनों अवस्थाएँ तथा भाव, अभाव और उनका विभाग अर्थात् सद्-असद् का विवेक -- ये सिद्ध होते हैं वह ब्रह्म मैं हूँ' ---- यह बोध कराया जाता है'' (बृह० वा० सं० 1082) ।

ये सुख-दु:ख देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध उस पुरुष (आत्मा) को व्यथित नहीं करते अर्थात् वस्तुत: विकृत नहीं करते क्योंकि आत्मा सभी विकारों का भासक होने के कारण स्वयं विकारयोग्य नहीं होता है । जैसा कि श्रुति कहती है ----

'जैसे समस्त लोकों का नेत्र सूर्य नेत्रेन्द्रियसम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है, वैसे ही समस्त भूतों का एक ही अन्तरात्मा, जो उनसे बाहर भी व्याप्त है, लोक के दु:ख से लिप्त नहीं होता है' (कठ० 5.11) ।

---

86. अर्जुन की ओर से की गई आशङ्का के रूप में वैशेषिकों ने यह आपत्ति की थी कि आत्मा को अन्त:करण से पृथक् स्वीकार करने से मुक्त आत्मा और बद्ध अन्त:करण के अधिकरण भिन्न होने के कारण बन्धन और मुक्ति एक अधिकरण में नहीं रह सकेंगे । यहाँ अद्वैत-सिद्धान्त से वैशेषिकों की इस आपत्ति का निवारण किया गया है । अद्वैत-वेदान्त के अनुसार बन्धन अन्त:करण (बुद्धि) का धर्म होने पर भी अज्ञानवश चित्प्रतिबिम्बविशिष्ट अन्त:करण (बुद्धि) के साथ तादात्म्यापन्न (अभेदापन्न) चिदाभास के साथ आत्मा का तादात्म्याध्यास होने के कारण सदा मुक्त आत्मा में ही बन्धन का प्रसङ्ग होता है और जब वह आत्मा (पुरुष) बुद्धि के साथ तादात्म्याभिमान का परित्याग कर अपने स्वरूप का अभिमान करता है अर्थात् 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ' — ऐसा अभिमान करता है, तब उसे बन्धन से निवृत्ति या मुक्ति प्राप्त होती है । इस प्रकार आत्मा (पुरुष) को ही अध्यास के ही कारण सदा मुक्त होते हुए भी बन्धन और मुक्ति प्राप्त होती है । फलत: बन्धन और मुक्ति एक ही अधिकरण आत्मा में ही अध्यास के कारण निष्पन्न होते हैं । इससे वैशेषिक-मत खण्डित हो जाता है ।

अतः स पुरुषः स्वस्वरूपभूतब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन सर्वदुःखोपादानतदज्ञाननिवृत्त्युपलक्षिताय निखिलद्वैतानुपरक्तस्वप्रकाशपरमानन्दरूपायामृतत्वाय मोक्षाय कल्पते योग्यो भवतीत्यर्थः ।

50 **यदि ह्यात्मा स्वाभाविकबन्धाश्रयः स्यात्तदा स्वाभाविकधर्माणां धर्मिनिवृत्तिमन्तरेणानिवृत्तेर्न कदाऽपि मुच्येत । तथाचोक्तम्–**

'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः' इति ॥

प्रागभावासहवृत्तेर्युगपत्सर्वविशेषगुणनिवृत्तेर्धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयकत्वदर्शनात् । अथाऽऽत्मनि बन्धो न स्वाभाविकः किंतु बुद्ध्याद्युपाधिकृतः, आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ 5.4) इति श्रुतेः । तथा च धर्मिसद्भावेऽपि तन्निवृत्त्या मुक्त्युपपत्तिरिति चेत्, हन्त ! तर्हि यः स्वधर्ममन्य–

अतः वह पुरुष स्वस्वरूपभूत ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से अमृतत्व अर्थात् मोक्ष के लिए योग्य होता है, जो मोक्ष समस्त दुःखों के उपादान-ब्रह्मात्मैक्य के अज्ञान की निवृत्ति से उपलक्षित है और निखिल द्वैत के संसर्ग से रहित, स्वप्रकाश, परमानन्दस्वरूप है,-- यह तात्पर्य है ।

50 यदि आत्मा स्वाभाविक बन्ध का आश्रय होगा, तो उसकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि स्वाभाविक धर्मों की निवृत्ति धर्मी की निवृत्ति के बिना नहीं होती । ऐसा कहा भी है ---

'यदि आत्मा कर्त्तादिरूप हो, तो उसकी मुक्ति की इच्छा मत करो, क्योंकि सूर्य की उष्णता के समान भावपदार्थों का स्वभाव कदापि निवृत्त नहीं होता ।'

क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जिनकी स्थिति प्रागभाव को सहन नहीं करती [87] अर्थात् जिनकी स्थिति अनादि होती है उन एक साथ रहनेवाले सभी विशेष गुणों [88] की निवृत्ति धर्मी की निवृत्ति

---

87. वैशेषिक-मत के अनुसार बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना -- ये नौ विशेष-गुण बद्ध आत्मा के धर्म कहे जाते हैं । ऐसा होने से ही आत्मा में उन विशेष-गुणों का प्रागभाव रहता है अर्थात् जिस समय आत्मा में एक सुख या दुःख या अन्य विशेष-गुण रहता है उस समय असंख्य सुख-दुखादि का प्रागभाव भी रहता है । अतः प्रत्येक विशेषगुण की निवृत्ति ही प्रागभावसहवृत्ति है अर्थात् आत्मा में किसी विशेषगुण की निवृत्ति के साथ साथ उस विशेषगुण का प्रागभाव भी रहता है । फलतः संसार अवस्था में आत्मा के विशेषगुणों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती है । इसीलिए वैशेषिक कहते हैं कि आत्मा के सभी विशेषगुणों की एक साथ निवृत्ति और उनके प्रागभाव की असहवृत्ति ही 'अपवर्ग' (मोक्ष) है ('प्रागभावासहवृत्तिः युगपदुत्पन्ना सर्वविशेषगुणनिवृत्तिरपवर्गः' –वैशेषिकसूत्रोपस्कार) । जैसे ईधन के जलजाने पर अग्नि एकरूप में स्थिर हो जाती है, वैसे ही समस्त विशेषगुणों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसी स्थिति का नाम 'मोक्ष' है ('दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः' — प्रशस्तपादभाष्य) । यहाँ मधुसूदन सरस्वती इस वैशेषिक-मोक्षमत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वैशेषिक-मत में आत्मा में विशेष-गुण स्वाभाविक हैं या औपाधिक ? यदि स्वाभाविक हैं तो उन गुणों की तब तक आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी, जबतक कि उन गुणों का आश्रय (धर्मी = आत्मा) नष्ट न हो जाय । आश्रय का विनाश स्वीकार करने पर आत्मा ही नहीं रहेगी, तो मुक्ति किसकी होगी ? स्वाभाविक धर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति धर्मी की निवृत्ति के बिना हो नहीं सकती । अतः आत्मा के गुणों को स्वाभाविक कहना उचित नहीं है । यदि आत्मा में उन धर्मों को औपाधिक स्वीकार करें, तो वैशेषिकों का सिद्धान्त नहीं है ; वेदान्त-सिद्धान्त में तो आत्मा में धर्मों की औपाधिकता ही स्वीकार है ।

८८. 'द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्ति-गुणवृत्ति-जातिमत्त्वम् विशेषगुणत्वम्' –(तर्कदीपिका) –अर्थात् द्रव्यविभाजक उपाधिद्वय = धर्मद्वय के साथ रहने वाले गुण में अवृत्ति जातिमान् गुण 'विशेषगुण' कहलाते हैं । जैसे -- द्रव्यविभाजक धर्म हैं पृथ्वीत्व, जलत्व आदि , उपाधिद्वय समानाधिकरण गुण हैं संयोग, विभाग आदि ; उनमें अवृत्ति जाति होती है रूपत्व, रसत्व आदि ; तादृश जातिमत्ता आती है रूप, रस आदि विशेषगुणों में, अतः लक्षणसमन्वय

निष्ठतया भासयति स उपाधिरित्यभ्युपगमाद् बुद्ध्यादिरुपाधि: स्वधर्ममात्मनिष्ठतया भासयतीत्यायातम् । तथा चाऽऽयातं मार्गे बन्धस्यासत्यत्वाभ्युपगमात् । न हि स्फटिकमणौ जपाकुसुमोपधाननिमित्तो लोहितिमा सत्यः । अतः सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणोऽप्यात्मन उपाधिवशात्तत्संसर्गित्वप्रतिभासो बन्धः, स्वस्वरूपज्ञानेन तु स्वरूपाज्ञानतत्कार्य-बुद्ध्याद्युपाधिनिवृत्त्या तन्निमित्तनिखिलभ्रमनिवृत्तौ निर्मृष्टनिखिलभास्योपरागतया शुद्धस्य स्वप्रकाशपरमानन्दतया पूर्णस्याऽऽत्मनः स्वत एव कैवल्यं मोक्ष इति न बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः । अत एव नाममात्रे विवाद इत्यपास्तं, भास्यभास-कयोरेकत्वानुपपत्तेः । दुःखी स्वव्यतिरिक्तभास्यो भास्यत्वाद्घटवदित्यनुमानाद्भास्यस्य भासकत्वादर्शनात् । एकस्यैव भास्यत्वे भासकत्वे च कर्तृकर्मविरोधात् ।

के बिना नहीं होती । आत्मा में बन्ध स्वाभाविक नहीं है, किन्तु बुद्धि आदि उपाधि के कारण है, जैसा कि श्रुति कहती है --- 'इन्द्रिय और मन के सहित आत्मा भोक्ता है --- ऐसा मनीषी लोग कहते हैं' (कठ, 5.4) । यदि यह कहें कि ऐसी स्थिति में तो धर्मी (आत्मा) के रहते हुए भी औपाधिक बन्ध की निवृत्ति होने से उसकी मुक्ति उपपन्न हो सकती है, तो यह आश्चर्य है कि 'जो स्वधर्म को अन्यनिष्ठ होकर भासित कराती है वह 'उपाधि है' – ऐसा स्वीकार करने से यही निश्चय हुआ कि बुद्धि आदि उपाधि स्वधर्म बन्ध का आत्मनिष्ठ होकर भान कराती है । इस प्रकार आत्मा के बन्ध को असत्य स्वीकार करने से तो तुम भी हमारे ही मार्ग में आ गए । स्फटिकमणि में जपाकुसुम की सन्निधि के कारण जो अरुणिमा होती है वह सत्य नहीं होती । अत: समस्त संसारधर्मों से असंग होने पर भी आत्मा में उपाधिवश ही सांसारिक धर्मों से संसर्ग का प्रतिभास ही उसका बन्ध है । आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से तो स्वरूपाज्ञान और अज्ञान की कार्यभूता बुद्धि आदि उपाधि की निवृत्ति होने से उसके कारण होने वाले सम्पूर्ण भ्रम की निवृत्ति से भास्यजनित समस्त अध्यास के निरस्त हो जाने के कारण पूर्ण आत्मा के शुद्ध और स्वप्रकाशपरमानन्दरूप होने से स्वत: ही उसका कैवल्यरूप 'मोक्ष' सिद्ध हो जाता है --- इस प्रकार बन्ध और मोक्ष के विभिन्न अधिकरणों में होने की आपत्ति नहीं होती । 'अतएव नाममात्र में ही विवाद होगा' --- यह पूर्वोक्त विवाद भी निरस्त हुआ, क्योंकि भास्य और भासक की एकता नहीं हो सकती । 'दु:खी अपने से भिन्न भासक के द्वारा भास्य होता है, भास्य होने के कारण, घट के समान' --- इस अनुमान से भी जो भास्य है उसकी भासकता कभी नहीं देखी जाती । यदि एक ही वस्तु में भास्यता और भासकता रहेंगी, तो एक वस्तु में कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों भावों के रहने पर विरोध उपस्थित होगा ।

होता है । किन्तु विशेषगुण का ऐसा लक्षण स्वीकार करने पर एकत्व संख्या और परिमाण स्वरूप सामान्यगुण में अतिव्याप्ति आपन्न हो सकती है, अतः 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-स्नेह-सांसिद्धिकद्रवत्वादृष्ट-भावना-शब्दान्यतमत्वं विशेषगुणत्वम्' (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-प्रभा) — यह विशेषगुण का निर्वचन ज्ञातव्य है । उक्त अन्यतमत्व प्रत्येक विशेषगुण में रहेगा, सामान्यगुण में नहीं । 'विशेषगुण' है वही जो एक समय में मात्र एक द्रव्य में रहता है, दो या दो से अधिक द्रव्यों में नहीं रहता । सामान्यगुण एक साथ दो या दो से अधिक द्रव्यों में रहता है । विशेषगुण सोलह होते हैं –

'बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ता: स्नेह: सांसिद्धिको द्रव: ।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणा: ।। (भाषापरिच्छेद)

51 आत्मनः कथमिति चेत्, न, तस्य भासकत्वमात्राभ्युपगमात्, अहं दुःखीत्यादि-वृत्तिसहिताहंकारभासकत्वेन तस्य कदाऽपि भास्यकोटावप्रवेशात् । अत एव दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्षो भासकत्वाद्दीपवदित्यनुमानमपि न, भास्यत्वेन स्वातिरिक्तभासकत्वसाधकेन प्रतिरोधात् । भासकत्वं च भानकरणत्वं स्वप्रकाशभानरूपत्वं वा । आद्ये दीपस्येव करणान्तरानपेक्षत्वेऽपि स्वातिरिक्तभानसापेक्षत्वं दुःखिनो न व्याहन्यतेऽन्यथा दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यापत्तेः । द्वितीये त्वसिद्धो हेतुरित्यधिकबलतया भास्यत्वहेतुरेव विजयते ।

51 यदि यह कहें कि आत्मा भास्य और भासक दोनों क्यों नहीं है, तो इसका यही समाधान है कि आत्मा की तो मात्र भासकता ही स्वीकार की गई है, भास्यता नहीं । 'मैं दुःखी हूँ' – इत्यादि वृत्तिसहित अहंकार के भासक होने पर उसका भास्यकोटि में प्रवेश कदापि नहीं हो सकता । अतएव ऐसा अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि 'दुःखी अपने से भिन्न किसी अन्य भासक की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वह भासक है, दीपक के समान' । क्योंकि अपने से भिन्न भासक के सिद्ध करनेवाले भास्यत्व हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष[89] हो जाता है । भासकत्व का अर्थ भानकरणत्व [90] या स्वप्रकाशभानरूपत्व है । प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर दीपक के समान यद्यपि दुःखी को अपने भान में अपने से भिन्न करण की अपेक्षा नहीं है, तथापि उसकी अपने से भिन्न अपने भान की अपेक्षा का तो व्याघात नहीं होता, अन्यथा दृष्टान्त में साध्यवैकल्य की आपत्ति होगी[91] । द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर तो हेतु असिद्ध[92] हो जाता है । अत: अधिक बलवान् होने के कारण 'भास्यत्व' हेतु [93] की ही विजय होती है ।

89. तुल्यबल हेतुस्थल में 'सत्प्रतिपक्ष' होता है (तुल्यबलयोरेव सत्प्रतिपक्षत्वम् नातुल्यबलयोरिति नियम:) । 'दुःखी न स्वव्यतिरिक्तभास्य:, भास्यत्वात्, धटवत्' यह वेदान्तियों का अनुमान है । 'दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्ष:, भासकत्वात्, प्रदीपवत्' — यह नैयायिकों का अनुमान है । इन दोनों अनुमान-वाक्यों में तुल्यबल हेतु प्रतीत होने से 'सत्प्रतिपक्ष' प्रतीत होता है । वस्तुत: इन दोनों हेतुओं में 'सत्प्रतिपक्ष' हो नहीं सकता, क्योंकि नैयायिकों का हेतु दुष्ट होने से न्यूनबल वाला है । अत: दोनों हेतुओं में से नैयायिकों का हेतु न्यूनबल वाला है तो वेदान्तिओं का हेतु अधिक बलवाला हुआ, इस प्रकार दुर्बल का प्रबल हेतु के द्वारा बाध हो गया, फिर तो हेतु बाधित हुआ, सत्प्रतिपक्ष नहीं ।

90. व्यापार से युक्त असाधारण कारण को 'करण' कहते हैं ('व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्' (न्यायबोधिनी) । इस लक्षण के अनुसार निर्व्यापार आत्मा में 'करणत्व' नहीं रह सकता । इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने भासकत्व के अर्थ भानकरणत्व के साथ विकल्प में भासकत्व का दूसरा अर्थ स्वप्रकाशभानरूपत्व किया है ।

91. यहाँ यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि भासकत्व का अर्थ भानकरणत्व उचित नहीं है । क्योंकि दीपक के समान दुःखी में अपने से भिन्न भासक की अपेक्षा का अभाव रहता है, तो मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि दुःखी को दीपक के समान अपने से भिन्न भासक की अपेक्षा नहीं रहती किन्तु दीपक और दुःखी – इन दोनों में अपने से भिन्न अपने भान की अपेक्षा तो रहती है । यदि पक्ष में यह स्वीकार नहीं किया गया तो दृष्टान्त में भानकरणार्थक भासकत्वरूप हेतु से साध्य (दु:खी) की सिद्धि नहीं होगी अर्थात् साध्य की सिद्धि न होने से 'साध्यवैकल्यदोष' होगा ।

92. लिङ्ग (ज्ञापक) के रूप में निश्चित न होनेवाला हेतु 'असिद्ध' कहलाता है ('लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्ध:' – तर्कभाषा) । दुःखी भानस्वरूप है – यह नैयायिकों को इष्ट नहीं है । नैयायिक आत्मा को भानाश्रय स्वीकार करते हैं, भानस्वरूप नहीं । वेदान्त-मत में यद्यपि आत्मा भानस्वरूप है, किन्तु दुःखाश्रय नहीं है । अत: दुःखी में भानत्व हेतु उभयमत से 'असिद्ध' हो जाता है ।

93. पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व -- इन पांच रूपों से उपपन्न हेतु ही अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होने के कारण सद्हेतु होता है ('पञ्चरूपोपपन्न एव हेतु: स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते' – तर्कभाषा) । यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तियों के अनुभान वाक्य में प्रयुक्त हेतु –'भास्यत्वात्' – को पञ्चरूपोपपन्न होने से ही अधिक बलवान् स्वीकार किया है ।

52 **बुद्धिवृत्त्यतिरिक्तभानानभ्युपगमाद् बुद्धिरेव भानरूपेति चेत्,न, भानस्य सर्वदेशकालानुस्यूततया भेदकधर्मशून्यतया च विभोर्नित्यस्यैकस्य चानित्यपरिच्छिन्नानेकरूपबुद्धिपरिणामात्मकत्वानुपपत्तेः उत्पत्तिविनाशादिप्रतीतेश्चावश्यकल्प्यविषयतयाऽप्युपपत्तेः। अन्यथा तत्तज्ज्ञानोत्पत्तिविनाश - भेदादिकल्पनायामतिगौरवापत्तेरित्याद्यन्यत्र विस्तरः । तथा च श्रुतिः—'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृह० 4.3.23), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (छा० 3.14.3), 'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृह० 2.4.12), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरम-वाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० 2.5.19) इत्याद्या विभुनित्यस्वप्रकाशज्ञानरूपतामात्मनो दर्शयति । एतेनाविद्यालक्षणादप्युपाधेर्व्यतिरेकः सिद्धः । अतोऽसत्योपाधिनिबन्धनबन्धभ्रमस्य सत्यात्मज्ञानान्निवृत्तौ मुक्तिरिति सर्वमवदातम् ।**

53 **पुरुषर्षभेति संबोधयन्स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन पुरुषत्वं परमानन्दरूपत्वेन चाऽऽत्मन ऋषभत्वं सर्वद्वैतापेक्षया श्रेष्ठत्वमजानन्नेव शोचसि, अतः स्वस्वरूपज्ञानादेव तव शोकनिवृत्तिः सुकरा 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) इति श्रुतेरिति सूचयति । अत्र पुरुषमित्येकवचनेन सांख्यपक्षो निराकृतस्तैः पुरुषबहुत्वाभ्युपगमात् ॥ 15 ॥**

---

52 यदि यह कहें कि बुद्धिवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भान स्वीकार न करने के कारण बुद्धि ही भानरूप है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त देश और काल में अनुस्यूत और भेदकधर्मशून्य होने से विभु, नित्य, एक ही है, वह भान अनित्य, परिच्छिन्न, अनेकरूप बुद्धि--परिणामरूप नहीं हो सकता । तथा उसकी उत्पत्ति और विनाशादि की जो प्रतीति होती है वह तो अवश्य कल्पनीय विषयों की विषयता से भी हो सकती है । अन्यथा तद्-तद् ज्ञान के उत्पत्ति और विनाशरूप भेदादि की कल्पना में अतिगौरव की आपत्ति होगी, --- इत्यादि अन्यत्र विस्तार से कहा गया है । इसी प्रकार 'दृष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है' (बृह० 4.3.32) ; 'आत्मा आकाश के समान सर्वगत और नित्य है' (छा० 3.14.3) ; 'वह महद्भूत (सद् ब्रह्म) अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है' (बृह० 2.4.12) ; 'वह यह ब्रह्म अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य अर्थात् कारण-कार्यरहित और अन्तर-बाह्य-भावशून्य है, यह आत्मा सभी का अनुभविता (साक्षी) ब्रह्म है' (बृह० 2.5.19), --- इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्मा की विभुता, नित्यता, स्वप्रकाशज्ञानरूपता दिखाती हैं । इससे अविद्यारूप उपाधि से भी आत्मा की भिन्नता सिद्ध हो जाती है । अत: सत्य आत्मज्ञान से असत्य उपाधि के कारण प्रतीत होनेवाले बन्धरूप भ्रम की निवृत्ति हो जाने पर मुक्ति हो जाती है --- इस प्रकार सब स्पष्ट हो गया ।

53 'पुरुषर्षभ' --- इस प्रकार सम्बोधन करते हुए भगवान् अर्जुन से यह कहते हैं कि तुम स्वप्रकाश चैतन्यरूप से अपने 'पुरुषत्व' और परमानन्दरूप से आत्मा का 'ऋषभत्व' अर्थात् सम्पूर्ण द्वैत की अपेक्षा 'श्रेष्ठत्व' को न जानते हुए ही शोक कर रहे हो । अत: आत्मस्वरूप के ज्ञान से ही तुम्हारे शोक की निवृत्ति सुकर है । जैसा कि 'आत्मविद् शोक को तर जाता है' --- (छा० 7.1.3), -- यह श्रुति सूचित करती है । यहाँ 'पुरुषम्' इस एकवचन से सांख्य-पक्ष का निराकरण किया गया है, क्योंकि वे पुरुषबहुत्व को स्वीकार करते हैं ।। 15 ।।

54 ननु भवतु पुरुषैकत्वं तथाऽपि तस्य सत्यस्य जडद्रष्टृत्वरूपः सत्य एव संसारः । तथाच शीतोष्णादिसुखदुःखकारणे सति तद्भोगस्याऽऽवश्यकत्वात्सत्यस्य च ज्ञानाद्विनाशानुपपत्तेः कथं तितिक्षा कथं वा सोऽमृतत्वाय कल्पत इति चेत् , न, कृत्स्नस्यापि द्वैतप्रपञ्चस्याऽऽत्मनि कल्पितत्वेन तज्ज्ञानाद्विनाशोपपत्तेः शुक्तौ कल्पितस्य रजतस्य शुक्तिज्ञानेन विनाशवत् ।

55 कथं पुनरात्मानात्मनोः प्रतीत्यविशेष आत्मवदनात्माऽपि सत्यो न भवेदनात्मवदात्माऽपि मिथ्या न भवेदुभयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वादित्याशङ्क्य विशेषमाह भगवान्–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ 16 ॥

56 यत्कालतो देशतो वस्तुतो वा परिच्छिन्नं तदसत् । यथा घटादि जन्मविनाशशीलं प्राक्कालेन परकालेन च परिच्छिद्यते ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वात् । कादाचित्कं कालपरिच्छिन्नमित्युच्यते । एवं देशपरिच्छिन्नमपि तदेव मूर्तत्वेन सर्वदेशावृत्तित्वात् । कालपरिच्छिन्नस्य देशपरिच्छेदनियमेऽपि देशपरिच्छिन्नत्वेनाभ्युपगतस्य परमाण्वादेस्तार्किकैः कालपरिच्छेदानभ्युपगमाद्देशपरिच्छेदोऽपि पृथगुक्तः स च किञ्चिद्देशवृत्तिरत्यन्ताभावः । एवं सजातीयभेदो विजातीयभेदः स्वगतभेदश्चेति

---

54 शंका - अच्छा, स्वीकार कर लेता हूँ कि पुरुष एक ही है, तथापि उस सत्य पुरुष का जडद्रष्टत्वरूप संसार तो सत्य ही है । इस प्रकार शीतोष्णादि सुख-दु:ख के कारणों के रहने पर उनका भोग आवश्यक होने के कारण और सत्य संसार का ज्ञान से विनाश हो सकने के कारण तितिक्षा कैसे होगी ? अथवा वह साधक = धीर पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के योग्य कैसे होगा ? समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि समस्त द्वैतप्रपञ्च (विश्व) आत्मा में कल्पित ही है, अत: आत्मज्ञान से उसका विनाश होना संभव ही है, जैसे कि शुक्ति (सीपी) में कल्पित रजत (चाँदी) का शुक्तिज्ञान से विनाश हो जाता है ।

55 'अच्छा, आत्मा और अनात्मा की प्रतीति जब समान है, तो फिर आत्मा के समान अनात्मा सत्य क्यों नहीं है, अथवा अनात्मा के समान आत्मा मिथ्या क्यों नहीं है ? क्योंकि दोनों का योग-क्षेम तो समान ही है' - ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् दोनों के विशेष (भेद) को कहते हैं -

[असत् वस्तु की कभी सत्ता नहीं होती और सत् का कभी अभाव नहीं होता । तत्त्वज्ञानियों द्वारा इन दोनों की ऐसी ही नियतरूपता निश्चित की गई है ॥16॥]

56 जो काल, देश अथवा वस्तु से परिच्छिन्न होता है वह 'असत्' कहलाता है । जैसे घटादि जन्म और विनाशशील पदार्थ पूर्वकाल और परकाल से परिच्छिन्न हैं, क्योंकि वे ध्वंसाभाव और प्रागभाव के प्रतियोगी हैं । कादाचित्क अर्थात् जो कभी होते हैं = जो किसी समय-विशेष में होते हैं, वे 'कालपरिच्छिन्न' कहे जाते हैं । इसीप्रकार मूर्तरूप होने से समस्त देश में न रह सकने के कारण अर्थात् किसी देशविशेष में रह सकने के कारण वे ही देशपरिच्छिन्न भी कहलाते हैं । यद्यपि यह नियम है कि जो कालपरिच्छिन्न होता है वह देशपरिच्छिन्न भी होता है, तथापि नैयायिकों ने परमाणु आदि की देशपरिच्छिन्नता स्वीकार करने पर भी कालपरिच्छिन्नता स्वीकार नहीं की है, इसीलिए देशपरिच्छेद का पृथक् निर्देश किया है और वह 'देशपरिच्छेद' किञ्चिद्-देशवृत्ति अर्थात् थोड़े से

त्रिविधो भेदो वस्तुपरिच्छेदः । यथा वृक्षस्य वृक्षान्तराच्छिलादेः पत्रपुष्पादेश्च भेदः । अथवा जीवेश्वरभेदो जीवजगद्भेदो जीवपरस्परभेद ईश्वरजगद्भेदो जगत्परस्परभेद इति पञ्चविधो

देश में रहने वाला अत्यन्ताभाव[94] है । इसीप्रकार सजातीयभेद [95], विजातीयभेद[96] और स्वगतभेद[97] - यह तीन प्रकार का भेद 'वस्तुपरिच्छेद' है । जैसे - वृक्ष का वृक्षान्तर से, शिला आदि से और अपने पत्र पुष्पादि से भेद होता है । अथवा जीव से ईश्वर का भेद, जीव से जगत् का भेद,

94. (अ) जहाँ पर जिस वस्तु की तीनों काल में प्रतीति न होती हो, वहाँ उस वस्तु का 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है । जैसे - वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है (यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः, सोऽत्यन्ताभावः, यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः - वेदान्तपरिभाषा)।'यहाँ अमुक नहीं है' - इस आकार में ही अत्यन्ताभाव की प्रतीति होती है । तार्किक अत्यन्ताभाव को नित्य स्वीकार करते हैं, किन्तु वेदान्ती उसका निरसन करने के लिए कहते हैं कि घटादि पदार्थ जैसे ध्वंस के प्रतियोगी होते हैं, वैसे ही अत्यन्ताभाव भी ध्वंसप्रतियोगी ही है । उसका भी प्रलयकाल में ध्वंस (नाश) होता ही है । अतः ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व अत्यन्ताभाव में नहीं होता । जिसप्रकार आकाशादि पदार्थ यावत् प्रपञ्चभावी हैं, किन्तु प्रलयकाल में नष्ट होते हैं, उसी प्रकार यह अत्यन्ताभाव भी जब तक जगत् है तब तक ही रहता है, और प्रलयावस्था में समस्त पदार्थों का ध्वंस होने पर उन पर अवलम्बित होकर रहने वाले अत्यन्ताभाव का नाश होता ही है । प्रलयकाल में ब्रह्मातिरिक्त सत्ता ही नहीं होती ।

(ब) यहाँ मधुसूदन सरस्वती के देशपरिच्छेद को 'अत्यन्ताभाव' कहने का तात्पर्य यह भी है कि जिस प्रकार अत्यन्ताभाव जब तक जगत् है तब तक ही रहता है, प्रलयावस्था में अत्यन्ताभाव का नाश होता ही है, उसी प्रकार परमाणु देशपरिच्छिन्न होने पर भी अत्यन्ताभावरूप होने से प्रलयावस्था में नष्ट होते ही हैं, परमाणु नित्य नहीं हैं । वैसे भी अद्वैत-वेदान्त के अनुसार परमाणु अनित्य हैं । (विशेष द्रष्टव्य - ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, 2.2.15) । फलतः परमाणु अनित्य हैं, तो कालपरिच्छिन्न भी हैं, और जो कालपरिच्छिन्न होता है वह देशपरिच्छन्न भी होता है - यह नियम भी उचित ठहरता है । 'देशपरिच्छेद' का पृथक् निर्देश तो मात्र नैयायिकों के मत का निराकरण करने के लिए ही किया गया है । नैयायिकों के अनुसार परमाणु नित्य होने के कारण कालपरिच्छिन्न नहीं है, किन्तु प्रदेशमात्र होने के कारण देश–परिच्छिन्न हैं ।

95. 'लक्ष्यतावच्छेदकसाक्षाद्व्यापकजात्यवच्छिन्नम् सजातीयम्' - (प्रमाण-चन्द्रिका) - अर्थात् लक्ष्यतावच्छेदक की साक्षात् - व्यापक जाति से अवच्छिन्न को 'सजातीय' कहा जाता है । जैसे - गो और अश्व सजातीय हैं । 'गो' का लक्षण है 'सास्नादिमत्व' । उसमें रहने वाली जाति 'गोत्व' सजातीयव्यावृत्ति की प्रयोजक होने के कारण लक्षणलक्ष्यतावच्छेदक है । और उसकी साक्षात्-व्यापक-जाति है - 'पशुत्व' । 'पशुत्व' से अवच्छिन्न 'अश्व' होता है । अतः गो और अश्व सजातीय हैं ।

96. 'लक्ष्यतावच्छेदकसाक्षाद्व्यापकजात्यनवच्छिन्नम् विजातीयम्' - (प्रमाणचन्द्रिका) -अर्थात् लक्ष्यतावच्छेदक की साक्षात्-व्यापक-जाति से अनवच्छिन्न को 'विजातीय' कहते हैं । जैसे- गो और घट विजातीय हैं । 'गो' में रहने वाली जाति 'गोत्व' विजातीयव्यावृत्ति की प्रयोजक होने के कारण लक्षणलक्ष्यतावच्छेदक है । और उसकी साक्षात्-व्यापक-जाति है– 'पशुत्व' । 'पशुत्व' से अनवच्छिन्न 'घट' होता है । अतः गो और घट विजातीय हैं ।

97. (अ) जो अपने में ही विद्यमान रहता है वह 'स्वगत' है (स्वस्मिन्विद्यमानम्) । जैसे - 'गो' में विद्यमान सींग, पूँछ आदि स्वगत हैं ।

(ब) सजातीय भेद, विजातीयभेद और स्वगतभेद - इन तीनों पदों में पञ्चमी तत्पुरुषसमास रहने के कारण समास-विग्रह होगा - 'सजातीयाद्भेदः', 'विजातीयाद्भेदः' और 'स्वगताद्भेदः' । जैसे - वृक्ष का वृक्षान्तर से भेद, वृक्ष का शिलादि से भेद और वृक्ष का पत्रपुष्पादि से भेद । ऐसा ही मधुसूदन सरस्वती ने कहा है - 'यथा वृक्षस्य वृक्षान्तराच्छिलादेः पत्रपुष्पादेश्च भेदः' । न्याय-वैशेषिक में भी सजातीय और विजातीय और स्वगत-भेद पर विचार किया गया है । यहाँ वेदान्त और न्याय-वैशेषिक सजातीय और विजातीय के लक्षण-दृष्टान्त के प्रयोग में समान हैं, किन्तु 'स्वगतभेद' के विषय में दोनों में मतैक्य नहीं है । न्याय-वैशेषिक के अनुसार अवयव में अवयवी अर्थात् शाखादि में वृक्ष समवाय सम्बन्ध से रहता है, न कि अवयवी में अवयव अर्थात् वृक्ष में शाखादि रहते हैं । ऐसी स्थिति में न्याय-वैशेषिक-मत में स्वगत का अर्थ स्व = वृक्ष में गत = विद्यमान पत्रपुष्पादि न होकर स्वगत = स्व = शाखादि में गत = विद्यमान वृक्ष होगा । न्याय-वैशेषिक के इस सिद्धान्त का खण्डन चार्वाक और बौद्ध

वस्तुपरिच्छेदः । कालदेशापरिच्छिन्नस्याप्याकाशादेस्तार्किकैर्वस्तुपरिच्छेदाभ्युपगमात्पृथङ्निर्देशः । एवं सांख्यमतेऽपि योजनीयम् ।

57 **एतादृशस्यासतः शीतोष्णादेः कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य भावः सत्ता पारमार्थिकत्वं स्वान्यूनसत्ताकतादृशपरिच्छेदशून्यत्वं न विद्यते न संभवति घटत्वाघटत्वयोरिव परिच्छिन्नत्वा-**

जीवों का परस्परभेद, ईश्वर से जगत् का भेद तथा जगत् का परस्पर भेद - यह पाँच प्रकार का भेद ही वस्तुपरिच्छेद है। नैयायिक काल और देश से अपरिच्छिन्न होने पर भी आकाशादि का वस्तुपरिच्छेद स्वीकार करते हैं, इसीलिए वस्तुपरिच्छेद का पृथक् निर्देश किया है[98] । इसी प्रकार सांख्यमत[99] में परिच्छेद की योजना करनी चाहिए ।

57 ऐसे असत् शीतोष्णादि समस्त प्रपञ्च का भाव = सत्ता = पारमार्थिकता अर्थात् स्वान्यूनसत्ताक[100] = अपने से अन्यूनसत्ताक परिच्छेदशून्यता नहीं होती है = नहीं हो सकती है, क्योंकि घटत्व और अघटत्व

दार्शनिकों ने अनेकत्र किया है - उनके अनुसार वृक्ष में शाखा, पर्वत में शिला आदि ही प्रयोग लोक में देखे जाते है, अतः न्याय-वैशेषिकों का सिद्धान्त लोकविपरीत है, सर्वथा अयुक्त है । वेदान्त ने भी न्याय-वैशोषिक का इसी प्रकार खण्डन किया है । इसीलिए यहाँ भी मधुसूदन सरस्वती ने अपना मत प्रस्तुत कर न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त का भी खण्डन किया है ।

98. नैयायिकों के अनुसार आकाश नित्य है, अतः वह कालपरिच्छिन्न नहीं है और वह सर्वव्यापी होने के कारण देशपरिच्छिन्न भी नहीं है, किन्तु सर्वात्मक नहीं होने के कारण मात्र वस्तुपरिच्छिन्न है । इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने 'वस्तुपरिच्छेद' का पृथक् निर्देश किया है । किन्तु उन्होंने आकाश को वस्तुपरिच्छिन्न कहकर उसकी अनित्यता सिद्ध की है, क्योंकि वस्तुपरिच्छिन्नता 'असत्' का लक्षण ही है । यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त में आकाश की अनित्यता 'तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' - इत्यादि श्रुति से पूर्वसिद्ध है, तथापि मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ आकाश को वस्तुपरिच्छिन कहकर उसकी अनित्यता नैयायिकों के खण्डन के साथ सिद्ध की है । यही विशेषता है ।

99. (अ) सांख्य के अनुसार पुरुष का बहुत्व स्वीकृत होने से एक पुरुष से दूसरा पुरुष भिन्न है, एवं प्रकृति भी पुरुष से भिन्न है । पुरुष में सजातीय और विजातीय - दोनों भेद रहते है, प्रकृति में विजातीय भेद रहता है । प्रकृति और पुरुष विभु हैं । अतः प्रकृति और पुरुष देशपरिच्छिन्न नहीं हैं । प्रकृति के महदादि कार्य विभु नहीं हैं, अपितु परिमित हैं, जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने कहा है 'भेदानां परिमाणात् ——' (सांख्यकारिका, 15), अतः वे देशपरिच्छिन्न हो सकते हैं । महदादि कार्य काल-परिच्छिन्न नहीं है, क्योंकि सांख्य-मत में कार्य सदैव अपने कारण में विद्यमान रहता है, उसका समय-समय पर आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है । प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं, अतः प्रकृति और पुरुष कालपरिच्छिन्न नहीं है । निष्कर्षतः प्रकृति और पुरुष विभु और नित्य होने के कारण देशपरिच्छिन्न और कालपरिच्छिन्न नहीं है, अपितु वस्तुपरिच्छिन्न हैं । इसलिए यहाँ 'वस्तुपरिच्छेद' का पृथक् निर्देश किया गया है ।

(ब) निष्कर्ष यह है कि मधुसूदन सरस्वती के अनुसार जो देश, काल और वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण व्यभिचारी होता है अर्थात् किसी स्थान में किसी समय में रहता है और दूसरे स्थान में या दूसरे समय में नहीं रहता है वह 'असत्' है । जगत्-प्रपञ्च की प्रत्येक वस्तु ही सर्वदा ही अपने समान या अपने से अधिक सत्तावाले देश, काल और वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होती है, इसलिए प्रत्येक जागतिक वस्तु ही 'असत्' है । और जो देश, काल और वस्तु किसी से भी परिच्छिन्न नहीं है अर्थात् जो सर्वकाल में एवं सर्वत्र अनुगत (व्याप्त) है वह 'सत्' है । ब्रह्म सर्वकाल में सर्वत्र व्याप्त है, वही सत् है, उसी की ही मात्र सत्ता है ।

100. प्रातिभासिकी, व्यावहारिकी और पारमार्थिकी सत्ताओं में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अन्यूनसत्ता है । घटादि तद्गत सजातीय, विजातीय और स्वगत - त्रिविध भेद न्यायमत में पारमार्थिकसत्ताक हैं, किन्तु वेदान्तमत में ये व्यावहारिकसत्ताक हैं । त्रिविधिभेदवाले घटादि में न्यूनसत्ताक भेदशून्यत्व रह सकता है, किन्तु अन्यूनसत्ताक भेद-शून्यत्व नहीं रह सकता । अन्यूनसत्ताक भाव और अभाव में विरोध है । 'स्व' पद से उक्त त्रिविधभेद ग्रहण करना चाहिए, उन त्रिविध भेद के अन्यूनसत्ताक तादृश भेदाभाव इनमें नहीं है । जैसा - घटत्व और अघटत्व समसत्ताक एक ही घट में नहीं रहते । इसी प्रकार एक ही घट में समानसत्ताक परिच्छेद और परिच्छेद-शून्यत्व नहीं रह सकते,

परिच्छिन्नत्वयोरेकत्र विरोधात् । न हि दृश्यं किंचित्कचित्काले देशे वस्तुनि वा न निषिध्यते सर्वत्राननुगमात् । न वा सद्वस्तु कचिद्देशे काले वस्तुनि वा निषिध्यते सर्वत्रानुगमात् । तथा च सर्वत्रानुगते सद्वस्तुनि अननुगतं व्यभिचारि वस्तु कल्पितं रज्जुखण्ड इवानुगते व्यभिचारि सर्पधारादिकमिति भावः ।

58 **ननु व्यभिचारिणः कल्पितत्वे सद्वस्त्वपि कल्पितं स्यात्तस्यापि तुच्छव्यावृत्तत्वेन व्यभिचारित्वादित्यत आह– नाभावो विद्यते सत इति । सदधिकरणकभेदप्रतियोगित्वं हि वस्तुपरिच्छिन्नत्वं तच्च न तुच्छव्यावृत्तत्वेन, तुच्छे शशविषाणादौ सत्त्वायोगात् । 'सद्भ्यामभावो**

के समान परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व का एक वस्तु में होना परस्पर विरोध है । कोई भी दृश्य ऐसा नहीं है जिसका किसी भी काल, देश अथवा वस्तु में निषेध न होता हो, क्योंकि वह सर्वदेशकालवर्त्ती नहीं होता, किन्तु सद्वस्तु का किसी भी काल, देश अथवा वस्तु में निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वत्र अनुगत होती है । अत: भाव यह है कि सर्वत्रानुगत सद्वस्तु में अननुगत व्यभिचारी वस्तु कल्पित ही होती है, ठीक वैसे ही जैसे कि रज्जुखण्ड में अनुगत व्यभिचारी सर्पधारा आदि कल्पित होती हैं ।

58 'यदि व्यभिचारी होने से ही वस्तु कल्पित होती है, तो सद्वस्तु भी कल्पित होगी, क्योंकि वह भी तुच्छव्यावृत्त = असत्व्यावृत्त होने से व्यभिचारी है'- ऐसी आशङ्का करके भगवान् कहते हैं - 'नाभावो विद्यते सत:' अर्थात् 'सद्वस्तु का कभी अभाव नहीं होता' । सत् जिसका अधिकरण[101] है उस भेद का प्रतियोगी होना ही वस्तुपरिच्छेद[102] है । तुच्छ से व्यावृत्त होने के कारण कोई वस्तु असत् नहीं होती क्योंकि तुच्छ शशविषाण आदि में सत्ता नहीं होती । और नियम है कि 'सत् और असत् से अभाव का निरूपण होता है[103]' । एक ही स्वप्रकाश, नित्य, विभु, सत्, सर्वानुस्यूत = सर्वत्रानुगत = सर्वव्याप्त है, इसलिए सत् और व्यक्ति का भेद नहीं माना जाता, क्योंकि 'घट: सन्' इत्यादि प्रतीति सर्वलोकानुभवसिद्ध है । अतः घटादि में रहने वाले भेद की प्रतियोगिता सत् में नहीं रह सकती । इस-

---

क्योंकि परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व में एकत्र परस्पर विरोध है । आत्मा ही सद्वस्तु है, परमार्थ वस्तु है । वह अपरिच्छिन्न है । अत: जिसकी सत्ता उससे न्यून है वह पदार्थ परिच्छिन्न है । उस परिच्छिन्नता का अभाव ही यहाँ 'भाव' शब्द का तात्पर्य है । शीतोष्ण आदि निखिल प्रपञ्च परिच्छिन्न है, असत् है, अत: उसकी सत्ता = भाव पारमार्थिक नहीं है । आत्मा अपरिच्छिन्न है, सत् है, अत: उसकी सत्ता =भाव पारमार्थिक है ।

101. सत् पदार्थ जिसका अधिकरण होता है उस अभाव को 'सदधिकरण-अभाव' कहा जाता है, उस अभाव की प्रतियोगिता को ही 'वस्तुपरिच्छिन्नता' कहा जाता है । (सदधिकरणकभेदप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छिन्नत्वम्) । यहाँ यद्यपि ब्रह्म तुच्छव्यावृत्त = असद्व्यावृत्त अर्थात् तुच्छाधिकरणक-अभाव का प्रतियोगी है, तथापि तुच्छ सत् नहीं हैं, अत: तुच्छाधिकरणक-अभाव को सदधिकरणक-अभाव नहीं कह सकते, फलत: उसकी प्रतियोगिता को भी वस्तु-परिच्छिन्न नहीं कह सकते, निष्कर्षत: ब्रह्म वस्तुपरिच्छिन्न नहीं है, अत: वह कल्पित नहीं है इसीलिए ब्रह्म के वस्तुपरिच्छिन्न न होने से उस पर कल्पितत्व और मिथ्यात्व का भी आरोपण नहीं किया जा सकता । वस्तुपरिच्छिन्नता के कारण ही कोई पदार्थ कल्पित और मिथ्या होता है ।

102. घट-पट आदि समस्त वस्तुओं का अधिकरण सत् ही होता है, क्योंकि घटादि की प्रतीति सद्-रूप से ही होती है । अत: सद्-अधिकरणवाले घट में रहने वाला जो पट का भेद है उस भेद का प्रतियोगी पट है । यही घट और पट की वस्तुपरिच्छिन्नता है ।

103. जो वस्तु न सत् है और न असत् है वह अभाव की प्रतियोगी नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव तो भाव पदार्थ का ही होता है वह भाव पदार्थ घटादि के समान सद्-रूप हो सकता है, अथवा शुक्तिरजतादि के समान असद्-रूप भी हो सकता है । इसीलिए कहा है कि सत् और असत् से अभाव का निरूपण होता है ।

निरूप्यते' इति न्यायात् । एकस्यैव स्वप्रकाशस्य नित्यस्य विभोः सतः सर्वानुस्यूतत्वेन सद्व्यक्तिभेदानभ्युपगमात् । घटः सन्नित्यादिप्रतीतेः सार्वलौकिकत्वेन सतो घटाद्यधिकरणकभेदप्रतियोगित्वायोगात् । अभावः परिच्छिन्नत्वं देशतः कालतो वस्तुतो वा सतः सर्वानुस्यूतसन्मात्रस्य न विद्यते न संभवति पूर्ववद्विरोधादित्यर्थः ।

59 **ननु सन्नाम किमपि वस्तु नास्त्येव यस्य देशकालवस्तुपरिच्छेदः प्रतिषिध्यते, किं तर्हि सत्त्वं नाम परं सामान्यं तदाश्रयत्वेन द्रव्यगुणकर्मसु सद्व्यवहारः, तदेकाश्रयत्वसंबन्धेन सामान्यविशेषसमवायेषु । तथा चासतः प्रागभावप्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वं**

लिए भाव यह है कि सत् अर्थात् सर्वानुस्यूत सन्मात्र का अभाव = देश, काल अथवा वस्तु से परिच्छेद नहीं होता = नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्ववत् यहाँ भी विरोध आता है ।

59 'सत् नामक कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके देश, काल और वस्तु से परिच्छेद का प्रतिषेध किया जाय । तो क्या है ? सत्ता नाम तो पर सामान्य[104] का ही है, जिसके आश्रय से द्रव्य, गुण और कर्म में सद्-व्यवहार होता है । सामानाधिकरण्यसम्बन्ध[105] से सामान्य, विशेष,[106] और समवाय[107] में सद्-व्यवहार होता है । इसीप्रकार असत्, प्रागभाव के प्रतियोगी घटादि की कारणव्यापार से सत्ता होती है, और कारण के नाश से उस सत् का भी अभाव होता ही है[108], फिर यह कैसे कहा कि

104. वैशेषिक-मत के अनुसार सात पदार्थ हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय-- ये छः भाव पदार्थ हैं, तथा एक अभाव है । भाव 'सत्' को कहते हैं और अभाव 'असत्' को कहते हैं । 'सत्' में 'सत्ता' जाति रहती है । सामान्य जातिपदार्थ है । नित्य होकर अनेक पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले धर्म को 'सामान्य' (जाति) कहते हैं (नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्) । सामान्य दो प्रकार का है– पर और अपर । अधिकदेशवृत्ति 'पर' है और न्यूनदेशवृत्ति 'अपर' है । सत्ता इतरजातियों से अधिकदेशवृत्ति होने से 'पर' कहलाती है । त्रिक अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म– इन्हीं तीन पदार्थों में सत्ता की वृत्ति होती है अर्थात् 'द्रव्यं सत्' 'गुणःसत्,' 'कर्म सत्'— इस प्रकार की जो अनुगत प्रतीति होती है वही 'सत्ता' की साधक है । 'द्रव्यत्व', 'गुणत्व' और 'कर्मत्व' आदि जाति सत्ता की अपेक्षा न्यूनदेशवृत्ति होने से 'अपर' कहलाती हैं ।

105. तात्पर्य यह है कि जिस आश्रय में अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म में 'सत्ता' रहती है उस आश्रय में सामान्य, विशेष और समवाय भी रहता है । अतः सत्ता के साथ सामान्य, विशेष और समवाय का 'तदेकाश्रयत्वसम्बन्ध' अर्थात् 'सामानाधिकरण्यसम्बन्ध' है । इसीलिए सामान्य, विशेष और समवाय में भी सद्-व्यवहार होता है ।

106. जो पदार्थ चरम व्यावर्तक के रूप में हो और नित्यद्रव्य - परमाणु, आकाश आदि में रहे उसे 'विशेष' कहते हैं (अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः) ।

107. नित्यसम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं (समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम्) । जैसे - अवयव (तन्तु आदि) और अवयवी (पटादि द्रव्य), जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी (द्रव्य), क्रिया (कर्म) और क्रियावान् (द्रव्य), विशेष और नित्यद्रव्य (परमाणु आदि)- इनका परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे 'समवाय' कहते है । 'समवाय' शब्द 'समुदाय' अर्थ का वाचक है । समवाय (सम्+अव+अय् = समवाय्यते इति समवायः) शब्द और समुदाय (सम्+उद्+अय् = समुदायते इति समुदायः) शब्द पर्यायवाचक हैं । प्राचीन पदार्थशास्त्रियों के अनुसार समवाय एक है, किन्तु नवीन पदार्थशास्त्रियों ने इसे अनेक कहा है । कुछ विद्वान् अनुमान प्रमाण मात्र से इसकी सिद्धि स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य कुछ विद्वानों का कथन है कि अनुमान से ही केवल इस समवाय की सिद्धि नहीं होती, प्रत्यक्षप्रमाण से भी समवाय सिद्ध होता है ।

108. तात्पर्य यह है कि घट की उत्पत्ति के पूर्व घट असत् था, घट की उत्पत्ति के समय उस असत् से सत् का आविर्भाव हुआ अर्थात् असत् का अभाव हुआ । और घट के ध्वंस के बाद सत् भाव का अभाव हुआ । अतः असत्, प्रागभाव के प्रतियोगी घट की कारणव्यापार से सत्ता हुई और कारण के नाश से उस सत् का अभाव भी हुआ ।

कारणव्यापारात्सतोऽपि तस्याभावः कारणनाशाद्भवत्येवेति कथमुक्तं नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत इति । एवं प्राप्ते परिहरति– उभयोरपीत्यर्धेन ।

60 उभयोरपि सदसतोः सतश्चासतश्चान्तो मर्यादा नियतरूपत्वं यत्सत्तत्सदेव यदसत्तदसदेवेति दृष्टो निश्चितः श्रुतिस्मृतियुक्तिभिर्विचारपूर्वकम् । कैः ? तत्त्वदर्शिभिर्वस्तुयाथात्म्यदर्शनशीलैर्ब्रह्मविद्भिर्न तु कुतार्किकैः । अतः कुतार्किकाणां न विपर्ययानुपपत्तिः । तु शब्दोऽवधारण एकान्तरूपो नियम एव दृष्टो न त्वनेकान्तरूपोऽन्यथाभाव इति, तत्त्वदर्शिभिरेव दृष्टो नातत्त्वदर्शिभिरिति वा । तथा च श्रुतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० 3.2.1) इत्युपसंहरन्ती सदेकं सजातीयविजातीय–

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:' - अर्थात् 'असत् वस्तु की कभी सत्ता नहीं होती और सत् का कभी अभाव नहीं होता'? - ऐसी आशङ्का होने पर भगवान् 'उभयोरपि....' इत्यादि आधे श्लोक से इसका परिहार करते हैं ।

60 उभय अर्थात् सत् और असत् का = सत् का और असत् का अन्त अर्थात् मर्यादा = नियतरूपता -'जो सत् है वह सत् ही है, और जो असत् है वह असत् ही है'- श्रुति, स्मृति और युक्तियों से विचारपूर्वक देखी गई है = निश्चित की गई है । किनके द्वारा ? तत्त्वदर्शियों के द्वारा = वस्तु [109] के यथार्थ स्वरूप को देखने वाले ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा, न कि कुतार्किकों [110]के द्वारा । अत: कुतार्किकों का विपर्यय[111] अनुपपन्न नहीं है । यहाँ 'तु' शब्द यह निश्चय करने के लिए है कि एकान्तरूप नियम ही देखा गया, न कि अनेकान्तरूप[112] अन्यथाभाव । अथवा, तत्त्वदर्शियों के द्वारा ही देखा गया, न कि अतत्त्वदर्शियों के द्वारा । इसीप्रकार श्रुति भी 'हे सोम्य ! आरम्भ में एक अद्वितीय सत् ही था' - यहाँ से प्रारम्भ करके 'यह सब इस सत् से अभिन्न ही है, वह सत्य है और वही आत्मा है; हे श्वेतकेतो ! तू वही है' (छा० 3.2.1) - इसप्रकार उपसंहार करती हुई यही दिखलाती है किं सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद से शून्य एक सत् ही सत्य है । 'विकार वाणी का आरम्भण और नाममात्र है, मृत्तिका

109. सच्चिदानन्दस्वरूप, अनंत (असीम), अद्वैत ब्रह्म 'वस्तु' है (वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म - वेदान्तसार) । अज्ञान से लेकर समस्त जड़ प्रपञ्च तो अवस्तु है (अज्ञानादि सकलजडसमूहोऽवस्तु - वेदान्तसार) ।

110. अद्वैत-वेदान्त के अनुसार श्रुति से अनुगृहीत श्रुति के अनुकूल ही तर्क का अनुभव के अङ्गरूप से आश्रयण किया जाता है ('श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, 2.1.6) । विद्यारण्यमुनि ने कहा है - स्वानुभूति के अनुसार तर्क करना चाहिए, कुतर्क नहीं करना चाहिए ('स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यताम् मा कुतर्क्यताम्' - पञ्चदशी, 6.30) । जो श्रुति के अनुकूल ही तर्क का अवलम्बन करते हैं, स्वानुभूति के अनुसार तर्क प्रस्तुत करते हैं वे ही तार्किक होते हैं । इसके विपरीत तो कुतार्किक ही कहे जाते हैं ।

111. अज्ञान अर्थात् अविद्या को 'विपर्यय' कहते है । 'विपर्यय' मिथ्याज्ञान है, जो वस्तु के यथार्थरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता (विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् - पातञ्जलयोगसूत्र, 1.8) । जैसे - शुक्ति में रजतज्ञान । विपर्ययज्ञान पांच प्रकार का होता है - अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

112. अनेकान्त का अर्थ है कि जिसमें किसी एक के अन्त का आग्रह न हो, किसी एक पक्षविशेष या धर्मविशेष का आग्रह न हो । अनेकान्त भी एक विचार है, एक दृष्टिकोण है, और वस्तु को समझने का एक मार्ग है । प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखना या विचार करना 'अनेकान्तवाद' कहलाता है । प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणों, अनन्त विशेषताओं का समूह होता है, वस्तु की प्रत्येक अवस्थाओं का विचार करना अनेकान्तवाद है । यह अनेकान्तवाद जैनदर्शन की आधारशिला है । अनेकान्तवाद वेदान्त-सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल और विरोधी है । अद्वैत-वेदान्त में एक, अद्वैतस्वरूप ब्रह्म में समस्त वस्तुओं का अन्त है, अतः उनका सिद्धान्त एकान्तरूप है (विशेषद्रष्टव्य - ब्रह्मसूत्रशाङ्कर भाष्य, 2.2.33) ।

स्वगतभेदशून्यं सत्यं दर्शयति । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० 6.1.4) इत्यादिश्रुतिस्तु विकारमात्रस्य व्यभिचारिणो वाचारम्भणत्वेनानृतत्वं दर्शयति । 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा :' (बृ० 6.8.4) इति श्रुतिः सर्वेषामपि विकाराणां सति कल्पितत्वं दर्शयति ।

61 सत्त्वं च न सामान्यं तत्र मानाभावात् । पदार्थमात्रसाधारण्यात्सत्सदिति प्रतीत्या द्रव्यगुणकर्ममात्रवृत्तिसत्त्वस्य स्वानुपपादकस्याकल्पनात् । वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् । एकरूपप्रतीतेरेकरूपविषयनिर्वाह्यत्वेन संबन्धभेदस्य स्वरूपभेदस्य च कल्पयितुमनुचितत्वात्। विषयस्याननुगमेऽपि प्रतीत्यनुगमे जातिमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । तस्मादेकमेव सद्वस्तु स्वतः स्फुरणरूपं ज्ञाताज्ञातावस्थाभासकं स्वतादात्म्याध्यासेन सर्वत्र सद्व्यवहारोपपादकम् । सन्घट इति प्रतीत्या तावत्सद्व्यक्तिमात्राभिन्नत्वं घटे विषयीकृतं न तु सत्तासमवायित्वमभेदप्रतीते-र्भेदघटितसंबन्धानिर्वाह्यत्वात् । एवं द्रव्यं सद् गुणः सन्नित्यादिप्रतीत्या सर्वाभिन्नत्वं सतः सिद्धम् । द्रव्यगुणादिभेदासिद्ध्या च न तेषु धर्मिषु सत्त्वं नाम धर्मः कल्प्यते किं तु सति धर्मिणि द्रव्याद्यभिन्नत्वं लाघवात् । तच्च वास्तवं न संभवतीत्याध्यासिकमित्यन्यत् । तदुक्तं वार्तिककारैः--

ही सत्य है' (छा० 6.1.4) - इत्यादि श्रुति तो व्यभिचारी विकारमात्र को वाचाम्भणरूप से मिथ्या ही कहती है । 'हे सोम्य ! अन्नरूप शुङ्ग (अङ्कुर) कार्य से उनके मूलकारण जल की शोध कर, हे सोम्य ! जलरूप अङ्कुर से उसके मूल तेज की शोध कर और हे सोम्य ! तेज रूप अङ्कुर से उसके मूल सत् की शोध कर, सोम्य ! इस सारी प्रजा का मूल सत् है, सत् ही उसका आयतन है, सत् ही उसकी प्रतिष्ठा (आधार) है' (बृह० 6.8.4) - यह श्रुति समस्त विकारों का 'सत्' में कल्पित होना ही प्रदर्शित करती है ।

61 सत्ता नाम सामान्य का नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । पदार्थमात्र में साधारण (सामान्य) भाव से रहने वाली 'सत्-सत्' ऐसी प्रतीति से द्रव्य, गुण और कर्म मात्र में ही रहनेवाली सत्ता (सामान्य) नहीं स्वीकार की जा सकती, क्योंकि उसके द्वारा 'सत्' की सिद्धि नहीं हो सकती[113]। इसके विपरीत, पदार्थमात्र में अनुस्यूत (व्याप्त) सत् ही सामान्य है - यह सरलता से कहा जा सकता है । एकरूप प्रतीति का एकरूप विषय से ही निर्वाह हो सकने से सम्बन्धभेद और स्वरूपभेद की कल्पना करना अनुचित ही है[114] विषय की एकरूपता के बिना भी प्रतीति की एकरूपता

113. पदार्थमात्र में 'सत्, सत्' - इसप्रकार की प्रतीति को ग्रहण किया जाता है, इस प्रतीति की निर्वाहक द्रव्यादि त्रिक में रहने वाली 'सत्ता' नहीं हो सकती, क्योंकि 'सामान्यं सत्', 'विशेषः सत् ', 'अभावः सत्' - इस प्रकार सामान्य, विशेष और अभाव में भी 'सत्' की प्रतीति होती है, किन्तु सामान्य, विशेष और अभाव में सत्ता (जाति) नहीं स्वीकार की जाती । जैसा कि उदयनाचार्य ने कहा है -

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ।। (किरणावली)

अतः यह सत्ता (जाति) सत्-प्रतीति की उपपादक नहीं है, अनुपपादक है । इसके विपरीत पदार्थमात्र में व्याप्त 'सत्' ही सामान्य है ।

'सत्तातोऽपि न भेदः स्याद् द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः ।
एकाकारा हि संवित्तिः सद्द्रव्यं सन्गुणस्तथा' ॥
(बृह० वा० सं० 968) इत्यादि ।

सत्ताऽपि नासतो भेदिका तस्याप्रसिद्धेः । द्रव्यत्वादिकं तु सद्धर्मत्वान्न सतो भेदकमित्यर्थः । अत एव घटाद्भिन्नः पट इत्यादि प्रतीतिरपि न भेदसाधिका घटपटतद्भेदानां सदभेदेनैक्यात् । एवं यत्रैव न भेदग्रहस्तत्रैव लब्धपदा सती सदभेदप्रतीतिर्विजयते । तार्किकैः कालपदार्थस्य सर्वात्मकस्याभ्युपगमात्तेनैव सर्वव्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपदार्थकल्पने मानाभावात्तस्यैव सर्वानुस्यू-

---

स्वीकार करने पर तो जातिमात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । अतः ज्ञात और अज्ञात - दोनों अवस्थाओं का भासक, स्वतः स्फुरणरूप एक ही सद्वस्तु अपने तादात्म्याध्यास से सर्वत्र सद्-व्यवहार की उपपादक है । 'सन् घटः' (घट सत् है) - इस प्रतीति से घट में सत् और घटव्यक्ति की अभिन्नता ही विषय होती है, न कि घटादि व्यक्तियों के साथ सत्ता सामान्य की समवायिता, क्योंकि अभेदप्रतीति का भेदघटित सम्बन्ध से निर्वाह नहीं होता, किन्तु अभेदाख्य तादात्म्य सम्बन्ध से होता है । इसी प्रकार 'द्रव्यं सत्' 'गुणः सत्' = 'द्रव्य सत् है', 'गुण सत् है'इत्यादि प्रतीति से भी सत् का सर्वाभिन्नत्व सिद्ध होता है । 'द्रव्यं सत्', 'गुणः सत्' - इत्यादि प्रतीति से द्रव्य, गुण आदि का भेद ही सिद्ध नहीं होता, तो उन धर्मियों में सत्त्व = सत्ता नामक धर्म की ही कल्पना कैसे की जा सकती है । किन्तु लाघव की दृष्टि से धर्मीरूप 'सत्' में द्रव्यादि की अभिन्नता है । यह दूसरी बात है कि वह जड़-चेतन की अभिन्नता वास्तविक नहीं हो सकती, आध्यासिक है । यही वार्तिककार ने भी कहा है - 'द्रव्यत्व आदि का तो सत्ता से भी भेद नहीं है, फिर किसी अन्य से तो हो ही कैसे सकता है ? क्योंकि 'द्रव्यं सत्', 'गुणः सत्' - यह संवित्ति (ज्ञान) एकाकार ही है' (बृह० वा०, 968) इत्यादि ।

सत्ता तो असत् की भी भेदिका नहीं है, क्योंकि असत् की तो सिद्धि ही नहीं होती[115] । अतः तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्व आदि 'सत्' के ही धर्म होने के कारण 'सत्' के ही भेदक नहीं हो सकते । अतएव 'घटाद्भिन्नः पटः' = 'घट से पट भिन्न है' - इत्यादि प्रतीति भी भेद की साधिका नहीं है, क्योंकि 'घटः सन्', 'पटः सन्', 'तद्गतभेदःसन्' - इत्यादि प्रतीति से घट, पट, तद्गतभेद 'सत्' से अभिन्न होने के कारण एक ही हैं[116] । इसप्रकार जहाँ भी भेद का ग्रहण नहीं होता, वहीं

---

114. तात्पर्य यह है कि एक प्रतीति का एक ही विषय से निर्वाह होना चाहिए, विषयभेद से नहीं, अन्यथा प्रतीतिवैलक्षण्य होगा । 'द्रव्यं सत्' - इस प्रतीति में सत्त्व का सम्बन्ध समवाय है और 'सामान्यं सत्'– इस प्रतीति में सत्त्व का स्वाश्रयवृत्तित्व सम्बन्ध है । इस प्रकार सम्बधभेद से स्वरूपभेद होने के कारण दोनों स्थलों में 'सत्-सत्' इसप्रकार समानाकार प्रतीति नहीं हो सकती, यहाँ प्रतीतिवैलक्षण्य ही है । अतः सम्बन्धभेद और स्वरूपभेद की कल्पना करना अनुचित है । एकरूप प्रतीति का एकरूप विषय से ही निर्वाह होना चाहिए, अन्यथा जातिमात्र का ही उच्छेद हो जायेगा, गोत्वादि जाति भी सिद्ध नहीं होगी । अतः एक ही सद्-वस्तु ब्रह्म सर्वत्र सद्-व्यवहार की उपपादक है ।

115. प्रश्न है कि नैयायिक सत्ता जाति तो मानते ही हैं, लेकिन वह किसकी विशेषक है ? असत् की या सत् की ? 'असत्' की विशेषक तो कह नहीं सकते, क्योंकि जो है ही नहीं, उसका विशेषक कौन होगा ? यदि 'सत्' की विशेषक कहें तो सत् एक ही है, उसमें भेद की क्या आवश्यकता है ? द्रव्यत्व, गुणत्व आदि सत्-स्वरूप है, अतः जब स्वतः भिन्न नहीं है, तो अपने आश्रय को कैसे भिन्न कर सकेंगे ? इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि 'सत्ता तो असत् की भी भेदिका नहीं है, क्योंकि असत् की तो सिद्धि ही नहीं होती । अतः द्रव्यत्व आदि सत् के ही धर्म होने के कारण 'सत्' के ही भेदक नहीं हो सकते' ।

तस्य सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वतादात्म्येन प्रतीत्युपपत्तेः । स्फुरणस्यापि सर्वानुस्यूतत्वेनैकत्वान्नित्यत्वं विस्तरेणाग्रिमश्लोके वक्ष्यते ।

62 तथाच यथा कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽघटस्य पटादेर्न देशान्तरे कालान्तरे वा घटत्वम् । एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा घटस्यान्यत्राघटत्वं शक्रेणापि न शक्यते संपादयितुं पदार्थस्वभावभङ्गायोगात् । एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽसतो देशान्तरे कालान्तरे वा सत्त्वं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा सतोऽन्यत्रासत्त्वं न शक्यते संपादयितुं युक्तिसाम्यात् । अत उभयोर्नियतरूपत्वमेव द्रष्टव्यमित्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः । अतः सदेव वस्तु मायाकल्पितासन्निवृत्त्याऽमृतत्वाय कल्पते सन्मात्रदृष्ट्या च तितिक्षाऽप्युपपद्यत इति भावः ॥16॥

स्थित होकर सत् की अभिन्नता की प्रतीति विजयिनी होती है । नैयायिक 'काल'[117] पदार्थ की सर्वात्मकता स्वीकार करते हैं । उससे ही समस्त व्यवहार उपपन्न हो सकता है । अत: उससे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है । उस सर्वानुस्यूत काल की ही सर्वतादात्म्यभाव से सद्-रूप और स्फुरण से ही प्रतीति उपपन्न हो सकती है । स्फुरण भी सर्वानुस्यूत होने के कारण एक रूप ही है, अत: नित्य है । इसकी नित्यता को विस्तार से अगले श्लोक में कहेंगे ।

62 इस प्रकार जैसे - किसी भी देश में या काल में जो घट नहीं हैं अर्थात् अघट - घटभिन्न पटादि हैं, उन पटादि में किसी दूसरे देश में या काल में घटत्व नहीं हो सकता, वैसे ही किसी भी देश में या काल में जो घट है उसका अन्यत्र अघटत्व सम्पादन करना इन्द्र के लिए भी संभव नहीं है, क्योंकि पदार्थ के स्वभाव का भङ्ग होना असंभव है । इसीप्रकार समानयुक्ति होने के कारण किसी भी देश में या काल में जो 'असत्' है उसका किसी दूसरे देश में या काल में सत्त्व सम्पादन करना संभव नहीं है और किसी भी देश में या काल में जो 'सत्' है उसका अन्यत्र असत्त्व सम्पादन करना संभव नहीं है । अत: सत् और असत् - दोनों की नियतरूपता ही देखनी चाहिए - इसका विस्तार 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थ में किया गया है । अत: मायाकल्पित 'असत्' की निवृत्ति हो जाने से सद्-वस्तु ही अमृतत्व = मोक्षप्राप्ति के योग्य होती है और 'सत्' मात्र पर ही दृष्टि रहने से तितिक्षा होना भी सम्भव है - यही इसका भाव है ॥ 16 ॥

---

116. तात्पर्य यह है कि जब घट दिखाई देता है तब घट का ही बोध होता है और जब पट दिखाई देता है तब पट का ही बोध होता है किन्तु घट तथा पट की जो भिन्नता या भेद है वह किसी भी इन्द्रिय के द्वारा दिखाई नहीं देता है । यदि कहें कि भेद के अनुभव को एक पृथक् अनुभव स्वीकार करना होगा तो यह कहा जायेगा कि इस भेद का अनुभव दूसरे अनुभव से भिन्न है, यह भी अनुभव करना होगा । किन्तु इस भेद को किस इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जायेगा ? अत: अनवस्था-दोष उपस्थित होगा । फलत: भेद असिद्ध है । इसीलिए कहा गया है कि 'घट से पट भिन्न है' – इत्यादि प्रतीति भेद की साधिका नहीं है, अपितु घट, पट, तद्गतभेद 'सत्' के अभिन्न होने के कारण एक ही हैं, क्योंकि भेद असिद्ध है और अभेद ही सिद्ध है ।

117. उत्पन्न पदार्थों का उत्पादक (निमित्तकारण) 'काल' कहलाता है । यह 'काल' समस्त जन्य पदार्थो की उत्पत्ति के प्रति निमित्त कारण है, इस कारण यह काल 'कालिक' संज्ञक सम्बन्ध से उस उत्पत्ति का अधिकरण है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का आधार है, सर्वात्मक है, सर्वानुस्यूत है । 'यह घट पट है' और 'यह घट अपट है' इसप्रकार की बुद्धि का 'हेतु' - असाधारण निमित्त कारण 'काल' ही है । कहा भी है -

'जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ॥ - भाषापरिच्छेद, 45-46 ।

63 **नन्वेतादृशस्य सतो ज्ञानाद्भेदे परिच्छिन्नत्वापत्तेर्ज्ञानात्मकत्वमभ्युपेयम् । तच्चानाध्यासिकमन्यथा जडत्वापत्तेः । तथा चानाध्यासिकज्ञानरूपस्य सतो धात्वर्थत्वादुत्पत्तिविनाशवत्त्वं घटज्ञानमुत्पन्नं घटज्ञानं नष्टमिति प्रतीतेश्च । एवं चाहं घटं जानामीति प्रतीतेस्तस्य साश्रयत्वं सविषयत्वं चेति देशकालवस्तुपरिच्छिन्नत्वात्स्फुरणस्य कथं तद्रूपस्य सतो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमित्या शङ्क्याऽऽह —**

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ 17 ॥

64 **विनाशो देशतः कालतो वस्तुतो वा परिच्छेदः सोऽस्यास्तीति विनाशि परिच्छिन्नं तद्विलक्षणमविनाशि सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यं तु एव तत्सद्रूपं स्फुरणं त्वं विद्धि जानीहि । किं तत् ? येन सद्रूपेण स्फुरणेनैकेन नित्येन विभुना सर्वमिदं दृश्यजातं स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्यं ततं व्याप्तं स्वसत्तास्फूर्त्यध्यासेन रज्जुशकलेनेव सर्पधारादि स्वस्मिन्समावेशितं तदविनाश्येव विद्धीत्यर्थः ।**

---

63 'ऐसे (उक्त) सत् का ज्ञान से भेद होने पर तो परिच्छिन्नत्व की प्राप्ति होगी, इसलिए उसे ज्ञानस्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए और वह ज्ञानस्वरूप भी अनाध्यासिक होनी चाहिए, अन्यथा उसमें जडत्व की प्राप्ति होगी[118] । इसप्रकार अनाध्यासिक ज्ञानस्वरूप सत् धात्वर्थ[119] होने के कारण तथा 'घटज्ञान उत्पन्न हुआ, घटज्ञान नष्ट हुआ'- ऐसी प्रतीति होने के कारण उत्पत्ति-विनाशवान् ही है । इसीप्रकार 'मैं घट को जानता हूँ'-- ऐसी प्रतीति होने के कारण ज्ञान की साश्रयता और सविषयता भी सिद्ध होती है । ऐसी स्थिति में स्फुरण की देश-काल-वस्तुपरिच्छिन्नता होने पर स्फुरणरूप सत् की देशकालवस्तुपरिच्छेद- शून्यता कैसे हो सकती है' ?- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं :-

[जिससे यह समस्त दृश्य-समूह व्याप्त है उस सद्-रूप स्फुरण को तो तुम अविनाशी ही समझो । इस अव्यय सत् का विनाश कोई भी नहीं कर सकता ॥ 17 ॥]

64 विनाश अर्थात् देश, काल या वस्तु से जो परिच्छेद है वह जिसमें रहे वह विनाशी है, परिच्छन्न है, उससे विलक्षण अविनाशी है । उस सद्-रूप स्फुरण को तो तुम अविनाशी अर्थात् सभी प्रकार के परिच्छेद से शून्य समझो । वह सत् क्या है ? जिस सद्-रूप नित्य, विभु एक स्फुरण से यह समस्त दृश्यसमूह, जो स्वतः सत्तास्फुरणशून्य है, व्याप्त है । तात्पर्य यह है कि जो रज्जुखण्ड में सर्पधारादि के समान अपने में अपनी सत्ता और स्फूर्ति के अध्यास से समस्त दृश्यसमूह को समावेशित[120] किए हुए है उस सत् को तुम अविनाशी ही समझो ।

---

118. ज्ञान दो प्रकार का होता है - आध्यासिक और अनाध्यासिक । आध्यासिक ज्ञान होने से बुद्धि जड़ ही कहलाती है । यद्यपि चैतन्यतादात्म्याध्यास से वह प्रकाशक होती है, किन्तु स्वरूप से वह जड़ ही है । अतः सत् को आध्यासिक ज्ञान स्वीकार करने पर तो उसमें जड़त्व की प्राप्ति होगी । फलतः उसे अनाध्यासिक ज्ञानस्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए ।

119. 'शब्दयोनिः धातुः' - (अमरकोश, 3.3.65) व्याकरण शास्त्र के अनुसार जिससे 'शब्द' की उत्पत्ति हो उसे 'धातु' कहते हैं । 'धात्वर्थ' क्रियारूप ही होता है (धात्वर्थः क्रिया ज्ञेया) । 'क्रिया' सदैव उत्पत्ति और विनाश वाली होती है । यहाँ 'सत्' ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान 'ज्ञा' धातु का अर्थ (धात्वर्थ) होने से क्रियारूप है, अतः 'सत्' = ज्ञान = धात्वर्थ = क्रियारूप होने के कारण उत्पत्ति-विनाशवान् ही है ।

120. 'समावेशित' शब्द का तात्पर्य यह है कि अध्यस्त वस्तु के अधिष्ठान से पृथक् सत्ता या स्फुरण नहीं रहता है । जगत् ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण अधिष्ठान की सत्ता में ही सत्तावान् हुआ करता है और इस अधिष्ठान के प्रकाश के द्वारा ही प्रकाशित होता है । ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानने के कारण ही भ्रान्तिवश जगत् ब्रह्म में आरोपित होता है । अतः

65 कस्मात् ? यस्माद्विनाशं परिच्छेदमव्ययस्यापरिच्छिन्नस्यापरोक्षस्य सर्वानुस्यूतस्य स्फुरणरूपस्य सतः कश्चित्कोऽपि आश्रयो वा विषयो वेन्द्रियसंनिकर्षादिरूपो हेतुर्वा न कर्तुमर्हति समर्थो न भवति, कल्पितस्याकल्पितपरिच्छेदकत्वायोगात् । आरोपमात्रे चेष्टापत्तेः । अहं घटं जानामीत्यत्र हि अहंकार आश्रयतया भासते घटस्तु विषयतया । उत्पत्तिविनाशवती काचिदहंकारवृत्तिस्तु सर्वतो विप्रसृतस्य सतः स्फुरणस्य व्यञ्जकतया, आत्ममनोयोगस्य परैरपि ज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमात् । तदुत्पत्तिविनाशेनैव च तदुपहिते स्फुरणरूपे सत्युत्पत्तिविनाशप्रतीत्युपपत्तेर्नैकस्य स्फुरणस्य स्वत उत्पत्तिविनाशकल्पनाप्रसङ्गः, ध्वन्यवच्छेदेन शब्दवद्घटाद्यवच्छेदेनाऽऽकाशवच्च । अंहकारस्तु

65 क्यों ? क्योंकि इस अव्यय का अर्थात् अपरिच्छिन्न, अपरोक्ष, सर्वानुस्यूत, स्फुरणरूप सत् का कोई भी आश्रय, विषय, या इन्द्रियसन्निकर्षादिरूप हेतु विनाश अर्थात् परिच्छेद नहीं कर सकता अर्थात् ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित वस्तु अकल्पित वस्तु का परिच्छेद ही नहीं हो सकती, अकल्पित वस्तु में कल्पित वस्तु का आरोप तो अभीष्ट ही है । 'अहं घटं जानामि'---'मैं घट को जानता हूँ'--- इस वाक्य में अहंकार ज्ञान की आश्रयता से और घट विषयता से भासित है । उत्पत्तिविनाशवती कोई अहंकार वृत्ति[121] अर्थात् 'अहम्' (मैं) इत्याकारक अन्तःकरण की उत्पत्ति-विनाशवती वृत्तिविशेष तो सर्वत्र फैले हुए सद्-रूप स्फुरण की व्यञ्जकता से भासित रहती है, क्योंकि पर = नैयायिक भी आत्मा और मन के संयोग को ज्ञान का हेतु मानते ही हैं[122] । उस अन्तःकरणवृत्ति के उत्पत्ति और विनाश से ही उससे उपहित स्फुरणरूप सत् में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति उपपन्न होती है, अतः उस एकमात्र स्फुरण में स्वतः उत्पत्ति और विनाश की कल्पना का प्रसङ्ग नहीं हो सकता, जैसे ध्वनि के अवच्छेद से शब्द और घटादि के अवच्छेद से आकाश के उत्पत्ति और विनाश की कल्पना नहीं हो सकती[123] । अहंकार तो 'सत्' में अध्यस्त होने पर

असत् जगत्रूप दृश्यसमूह सत् ब्रह्म में ही समावेशित = आरोपित रहता है, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से जगत् ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

121. अन्तःकरण के चक्षु आदि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिवर्तित होने को 'वृत्ति कहते हैं । जैसे तालाब का जल छेद से निकलकर नाली के रास्ते से होता हुआ क्षेत्रों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का चतुष्कोण आदि आकारवाला हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण भी चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत हो जाता है, उस परिणाम को ही 'वृत्ति' कहते हैं (वेदान्तपरिभाषा) ।

122. न्याय-मत में मन के साथ आत्मा का विलक्षण संयोग तथा उस इन्द्रियविशेष के साथ मन का संयोग और उस ग्राह्य विषय के साथ उस इन्द्रिय का संयोग आदि ज्ञान के कारण कहे गये हैं । (आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति-वात्स्यायन-भाष्य, 1.1.4) ।

123. मीमांसकों के अनुसार 'शब्द' नित्य है । वे 'उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार :'— इत्यादि प्रतीति से होने वाले शब्द के उत्पत्ति और विनाश को आरोपित मानते हैं । वे कहते हैं कि वायवीय संयोग-विभाग = ध्वनि या नाद शब्द के अभिव्यञ्जक होते हैं, शब्द में उत्पत्ति और विनाश का व्यवहार तो वैसे ही हो जाता है जैसे कि कूपखनन पर कूपाकाश की उत्पत्ति और कूपपूरण पर कूपाकाश के विनाश का व्यवहार होता है । व्यञ्जक उपाधि (ध्वनि) के सन्निधान से नित्यभूत व्यङ्ग्य (शब्द) की अभिव्यक्ति और व्यञ्जक (ध्वनि) का असन्निधान होने से व्यङ्ग्य (शब्द) की अनभिव्यक्ति से ही उसमें (शब्द में) उत्पत्ति-विनाश का व्यवहार होता है । 'शब्दो नित्यः ; भावत्वे सति अकारणत्वाद् ; व्योमवत्'— इस अनुमान के द्वारा शब्द में नित्यता ही सिद्ध होती है । इसी प्रकार घटाद्याकार अन्तःकरणवृत्ति ज्ञानरूप सत्-तत्त्व की व्यञ्जक होती है, उस अन्तःकरणवृत्ति के उत्पत्ति और विनाश से ही उससे उपहित स्फुरण रूप सत् में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति उपपन्न होती है, वस्तुतः उस एकमात्र स्फुरण में स्वतः उत्पत्ति और विनाश की कल्पना का भी प्रसङ्ग नहीं होता ।

तस्मिन्नध्यस्तोऽपि तदाश्रयतया भासते तद्वृत्तितादात्म्याध्यासात् । सुषुप्तावहंकाराभावेऽपि तद्वासनावासिताज्ञानभासकस्य चैतन्यस्य स्वतः स्फुरणात् । अन्यथैतावन्तं कालमहं किमपि नाज्ञासिषमिति सुषुप्तोत्थितस्य स्मरणं न स्यात् । न चोत्थितस्य ज्ञानाभावानुमितिरियमिति वाच्यं, सुषुप्तिकालरूपपक्षाज्ञानाल्लिङ्गासंभवाच्च । अस्मरणादेर्व्यभिचारित्वात्स्मरणाजनक निर्विकल्पकाद्यभावासाधकत्वाच्च । ज्ञानसामग्र्य भावस्य चान्योन्याश्रयग्रस्तत्वात् । तथा च श्रुतिः 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तद्द्रष्टव्यं न पश्यति हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृह० 4.3.23) इत्यादिः सुषुप्तौ स्वप्रकाशस्फुरणसद्भावं तन्नित्यतया दर्शयति ।

66 **एवं घटादिर्विषयोऽपि तदज्ञातावस्थाभासके स्फुरणे कल्पितः, य एव प्रागज्ञातः स एवेदानीं मया ज्ञात इति प्रत्यभिज्ञानात् । अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यं सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । यथार्थानुभवः**

भी उस 'सत्' की आश्रयता से ही भासित होता है, क्योंकि उसकी वृत्ति का 'सत्' के साथ तादात्म्याध्यास होता है । सुषुप्ति-अवस्था[124] में अहंकार का अभाव रहने पर भी उसकी वासना से वासित (युक्त) अज्ञान का भासक चैतन्य स्वत: स्फुरित होता रहता है । अन्यथा सुषुप्ति से उठे हुए पुरुष को 'इतने समय तक मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा' --- ऐसा स्मरण नहीं होगा । 'सुषुप्ति से उठे हुए पुरुष का ज्ञानाभाव अनुमिति [125] ही है'--- यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय सुषुप्तिकालरूपपक्ष का अज्ञान रहता है, उसका साधक कोई लिङ्ग (हेतु) भी नहीं रहता, क्योंकि अस्मरणादि उसका हेतु भी व्यभिचारी है और यह अस्मरणादि स्मरण की उत्पत्ति न करने वाले निर्विकल्पक ज्ञान आदि के अभाव को भी सिद्ध नहीं कर सकता । इसके अतिरिक्त ज्ञान की सामग्री का अभावरूप हेतु भी अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है । इसीप्रकार 'जो यह है वह इसे नहीं देखता, देखते हुए भी वह द्रष्टव्य वस्तु को नहीं देखता, दृष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है' (बृह० 4.3.23) इत्यादि श्रुति भी सुषुप्ति में स्वप्रकाश स्फुरण की सत्ता को उसकी नित्यता के कारण दिखाती है ।

66 इसीप्रकार घटादि विषय भी घटाद्यज्ञानावस्थाभासक = घटादि के अज्ञान की अवस्था के आभासक स्फुरण में कल्पित हैं, क्योंकि 'जो घटादि पूर्व में अज्ञात था, वही अब मुझे ज्ञात हुआ है'--- ऐसी

124. अद्वैत-वेदान्त में 'सुषुप्तिर्नामाविद्यागोचराऽविद्यावृत्त्यवस्था' (वेदान्तपरिभाषा)— अविद्याविषयक अविद्या की वृत्ति को 'सुषुप्ति-अवस्था' कहते हैं । सुषुप्ति में अन्त:करणवृत्ति का अभाव रहता है, उसमें मात्र अविद्यावृत्ति रहती है । जाग्रदवस्था और स्वप्नावस्था में अविद्याकारवृत्ति अन्त:करण की वृत्ति होती है । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब अन्त:करण की वृत्ति ही चैतन्य ज्ञान की व्यञ्जक होती है और वह अन्त:करणवृत्ति सुषुप्ति-अवस्था में रहती नहीं है तो सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होगा जबकि सुषुप्ति में ज्ञान न होने में कोई प्रमाण नहीं है– इस शंका के समाधान में ही यहाँ यह कहा गया कि सुषुप्ति-अवस्था में अन्त:करणवृत्ति का अभाव रहने पर भी उसकी वासना से युक्त अज्ञान का भासक चैतन्य स्वत: स्फुरित होता रहता है, अत: वहाँ ज्ञान का सद्भाव मानना ही होगा ।

125. यह कथन नैयायिकों का है । नैयायिक वेदान्त-मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सुषुप्ति से उठा हुआ पुरुष जो यह कहता है कि 'इतने समय तक मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा' वह अनुमानमात्र है, स्मरण नहीं । स्मरण संस्कार से होता है, संस्कार अनुभव से होता है, सुषुप्ति में यदि अनुभव ही नहीं है तो संस्कार भी नहीं होगा, जब संस्कार नहीं होगा, तो उक्त स्मरण भी नहीं होगा । अनुमानात्मक ज्ञान है । अनुमान-वाक्य-प्रयोग इस प्रकार होगा— "अहं तदा ज्ञानसामान्याभाववान्; ज्ञानसामान्यप्रयोजकसामग्रीशून्यत्वात्; यदा नैवं तदा नैवम्, यथा जागरित:" । न्याय-मत में सुषुप्ति में ज्ञान-सामान्य का अभाव रहता है, क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति के साधारण कारण आत्मा-मन:-संयोग का अभाव रहता है, कारण कि न्यायमतानुसार सुषुप्ति-अवस्था में मन पुरीतति नाडी में प्रवेश करता है । कारणाभाव से कार्याभाव का अनुमान सर्वसंमत है । अत: उक्त ज्ञान अनुमिति मात्र है, स्मरणस्वरूप नहीं है ।

प्रमेति वदद्भिस्तार्किकैरपि ज्ञातज्ञापिकायाः स्मृतेर्व्यावर्तकमनुभवपदं प्रयुञ्जानैरेतदभ्युगमात् । अज्ञातत्वं च घटादेर्न चक्षुरादिना परिच्छिद्यते तत्रासामर्थ्यात्तज्ज्ञानोत्तरकालमज्ञानस्यानुवृत्तिप्रसङ्गाच्च । नाप्यनुमानेन लिङ्गाभावात् । नहीदानीं ज्ञातत्वेन प्रागज्ञातत्वमनुमातुं शक्यं धारावाहिकानेकज्ञानविषये व्यभिचारात् । इदानीमेव ज्ञातत्वं तु प्रागज्ञातत्वे सतीदानीं ज्ञातत्वरूपं साध्याविशिष्टत्वादसिद्धम् । नचाज्ञातावस्थाज्ञानमन्तरेण ज्ञानं प्रति घटादेर्हेतुता ग्रहीतुं शक्यते पूर्ववर्तित्वाग्रहात् । घटं न जानामीति सार्वलौकिकानुभवविरोधश्च । तस्मादज्ञातं स्फुरणं भासमानं

प्रत्यभिज्ञा होती है । 'अज्ञात वस्तु का ज्ञापक होना--- यही प्रामाण्य है', यह सभी शास्त्रकारों का सिद्धान्त है[126] । 'यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहते हैं'--- ऐसा 'प्रमा' का लक्षण करनेवाले नैयायिकों ने भी लक्षण में प्रयुक्त 'अनुभव' पद से ज्ञात वस्तु की ज्ञापिका स्मृति की व्यावृति करके 'अज्ञातज्ञापकत्व स्मृतिव्यावृत ज्ञान में प्रामाण्य है'--- ऐसा ही स्वीकार किया है[127] । घटादि का अज्ञातत्व चक्षु आदि से परिच्छिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें उनका सामर्थ्य नहीं है[128] और यदि उसमें उनका सामर्थ्य मान भी लिया जाय, तो घटादि का ज्ञान होने के उत्तरक्षण में उनके अज्ञान की अनुवृत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । इसीप्रकार अनुमान से भी घटादि का अज्ञातत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उस अनुमान का साधक कोई लिङ्ग (हेतु) नहीं है । वर्तमान (इदानीम्) ज्ञातत्वरूप हेतु से प्रागज्ञातत्व (साध्य) का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि धारावाहिक रूप से अनेक ज्ञान के विषय में इस हेतु का 'व्यभिचार' दिखाई देता है[129] । यदि कहें कि 'इदानीमेव

126. प्रायः सभी दार्शनिक 'अज्ञातज्ञापकत्व' को 'प्रामाण्य' मानते हैं । अद्वैत-वेदान्त में कहा है— अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान 'प्रमा' है (अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम् (वेदान्तपरिभाषा) । मीमांसकों के अनुसार अज्ञात अर्थ के ज्ञापक को 'प्रमाण' कहते हैं (अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् (तर्कभाषा); सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यम् (श्लोकवार्तिक); कारणदोषबाधज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् (शास्त्रदीपिका) इत्यादि) । आचार्य धर्मोत्तर ने भी ऐसा ही निर्णय दिया है — 'अनधिगतविषयं प्रमाणम् । येनैव ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः, तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः, तत्रैव चार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम् ? अतोऽधिगतविषयमप्रमाणम् '– (धर्मोत्तरप्रदीप) । इत्यादि ।

127. यद्यपि नैयायिकों ने अपने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतत्व' = 'अज्ञातत्व' का कोई उल्लेख नहीं किया है, तथापि 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा और 'यथार्थ स्मृति' को प्रमाभिन्न कहकर यही सूचित किया है कि 'अनधिगत अर्थ' को ग्रहण करनेवाला ज्ञान 'प्रमा' और 'अधिगत अर्थमात्र' को ही ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाभिन्न है । अन्यथा 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा और 'यथार्थ स्मृति' को प्रमाभिन्न करने का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता । दोनों में मात्र इतना ही भेद है कि 'अनुभव' पूर्व से अज्ञात रहनेवाले अर्थ को ग्रहण करता है और 'स्मृति' सदैव पूर्व से ज्ञात रहने वाले अर्थ को ही ग्रहण करती है (ज्ञातविषयकं ज्ञानं स्मृतिः) । अतः नैयायिकों ने अपने 'यथार्थानुभवः प्रमा' -- इस प्रमा के लक्षण में 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' = 'अज्ञातज्ञापकत्व' का यद्यपि शब्दतः सन्निवेश नहीं किया है, तथापि तात्पर्यतः उसे स्वीकार कर लिया है । अपने प्रमालक्षणगत 'अनुभव' शब्द से स्मृति की व्यावृति करके उसकी सूचना दे दी है ।

128. जैसे सूर्य अन्धकार को प्रकाशित नहीं कर सकता अर्थात् जहाँ सूर्य है वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ विषय को ज्ञात करने में ही समर्थ हैं, किन्तु विषय के अज्ञातत्व को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं ।

129. यदि घटादि का अज्ञातत्व अनुमान से सिद्ध करें– 'इदं पूर्वमज्ञातम्, इदानीं ज्ञातत्वात् ; यन्नैवं तन्नैवम् ; यथा ज्ञानम्' – तो वह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि 'इदानीं ज्ञातत्वात्' – यह हेतु 'इदं पूर्वमज्ञातम्'— इस प्रागज्ञातत्व साध्य का साध्याभाव के अधिकरण में रहने से 'व्यभिचारी' है ('साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः'— तर्कसंग्रह) अर्थात् इस अनुमान-वाक्य में साधारण व्यभिचारी (अनैकान्तिक) हेत्वाभास है । 'इदानीं ज्ञातत्वात्' — इस हेतु के साध्याभाव के अधिकरण में रहने से तात्पर्य यह है कि यह हेतु 'धारावाहिक ज्ञान' अर्थात् ज्ञातज्ञा पकत्व

स्वाध्यस्तं घटादिकं भासयति घटादीनामज्ञाते स्फुरणे कल्पितत्वसिद्धिः, अन्यथा घटादेर्जडत्वेनाज्ञातत्वतद्भानयोरनुपपत्तेः । स्फुरणं चाज्ञातं स्वाध्यस्तेनैवाज्ञानेनेति स्वयमेव भगवान्वक्ष्यति– 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव :' (गी० 5.14) इत्यत्र । एतेन विभुत्वं सिद्धम् । तथाच श्रुतिः 'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृह० 2.4.12) इति

ज्ञातत्वम्' = वर्तमान ज्ञातत्वरूप हेतु तो प्रागज्ञातत्व होने पर ही है अर्थात् पूर्व में अज्ञात होने पर ही है, तो इदानीं ज्ञातत्वरूप हेतु साध्य = प्रागज्ञातत्व के समान होने के कारण असिद्ध हेतु ही है [130] । इसके अतिरिक्त घटादि की अज्ञातावस्था के ज्ञान के बिना घटादि के ज्ञान के प्रति घटादि की हेतुता (कारणता) भी ग्रहण नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसकी पूर्व विद्यमानता का भी ग्रहण नहीं होगा, और 'मैं घट को नहीं जानता' --- इस सार्वलौकिक अनुभव से भी विरोध होगा । अतः अज्ञात भासमान स्फुरण अर्थात् स्वयंप्रकाश स्फुरण ही अपने में अध्यस्त घटादि को प्रकाशित करता है, इस प्रकार घटादि के अज्ञात स्फुरण में घटादि के कल्पित होने की भी सिद्धि हो जाती है । अन्यथा जड़ होने के कारण घटादि के अज्ञातत्व और भान दोनों की ही सिद्धि नहीं हो सकती[131]। स्फुरण तो अपने में अध्यस्त अज्ञान के कारण ही अज्ञात है--- यह भगवान् श्रीकृष्ण 'अज्ञान से ज्ञान आवृत है, उसी से जीव मोह को प्राप्त होते हैं' (गीता 5.14) में स्वयं ही कहेंगे । इससे स्फुरण की विभुता भी सिद्ध होती है । इसीप्रकार 'ब्रह्म महद्भूत, अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है' (बृह० 2.4.12) ; ब्रह्म सत्य ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' (तै० 2.1)-- इत्यादि श्रुतियाँ भी ज्ञान के महत्त्व और अनन्तत्व को दिखाती

के अधिकरण में रहता है, जबकि उक्त अनुमानवाक्य में साध्य 'अज्ञातत्व' है, अतः वह हेतु साध्याभाव = 'अज्ञातत्व' साध्य के अभाव = ज्ञातज्ञापकत्व के अधिकरण = धारावाहिक ज्ञान में रहने से व्यभिचारी' है । एक ही घट में निरन्तर कई क्षण तक 'घटोऽयं घटोऽयम्' — इस प्रकार का ज्ञान होता रहे अर्थात् दो चार मिनट तक घटज्ञान ही निरन्तर होता रहे, मध्य में ज्ञानान्तर यदि न हो, तो उसे 'धारावाहिक ज्ञान' कहते हैं । इसमें प्रथम ज्ञान का विषय ही उत्तरोत्तर ज्ञान का विषय होता है, अतः उत्तरोत्तर ज्ञान में पूर्वपूर्वज्ञान ज्ञातज्ञापकत्व ही है, अज्ञातज्ञापकत्व नहीं — ऐसा मधुसूदन सरस्वती, मीमांसक प्रभाकर, उनके शिष्य शालिकनाथ आदि और नैयायिकों के समान स्वीकार करते हैं ।

130. 'इदानीमेव ज्ञातत्वम्'— इस हेतु को प्रागज्ञातत्व से युक्त स्वीकार करने पर यहाँ 'साध्यसम' हेत्वाभास होगा । जो हेतु, स्वयं साध्य होने के कारण साध्य से विशिष्ट न हो अर्थात् साध्य के समान हो, उसे 'साध्यसम' हेत्वाभास कहा जाता है (साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः— न्यायसूत्र, 1.2.8) । उक्त अनुमान वाक्य में 'पूर्वमज्ञातम्' साध्य है, उस प्रागज्ञातत्व से युक्त ' इदानीमेव ज्ञातत्वम्'— हेतु स्वीकार करने पर हेतु के साध्य के समान होने के कारण 'साध्यसम' हेत्वाभास होगा ।

131. तात्पर्य यह है कि घटादि जड़ हैं, जड़ का कोई आवरण नहीं होता, प्रकाश ही आवरण होता है क्योंकि प्रकाशमान वस्तु को ही अप्रकाश करना ही आवरण का परिणाम है । जड़ वस्तु तो स्वयं ही प्रकाशहीन है, अतः उसे अप्रकाश करने के लिए आवरण का कोई प्रयोजन नहीं है, फलतः जड़ अज्ञान का आश्रय या विषय नहीं है । जड़ चैतन्य से प्रकाशित होता है । चैतन्य को ही अखण्ड होने पर भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने से 'साक्षी-चैतन्य' और विषय से अवच्छिन्न होने से 'विषयचैतन्य' कहा जाता है । अज्ञान से जब विषयचैतन्य आवृत रहता है तब 'घटादि विषय आवृत हैं '— ऐसी प्रतीति होती है । विषयचैतन्य का आवरक जो अज्ञान है, वह साक्षी चैतन्य के द्वारा गृहीत होता है । घटादि जब अज्ञात रहते हैं तब यह समझना होगा कि घटादि से अवच्छिन्न चैतन्य अज्ञान के द्वारा आवृत है और जब उस चैतन्य की आवरण-वृत्ति ज्ञान से नष्ट हो जाती है तब चैतन्य ही प्रकाशित होता है और यह प्रतीति होती है कि 'घट अज्ञात था, अब उसका ज्ञान हुआ है' । घटादि विषय उस चैतन्य के साथ तादात्म्य सन्बन्ध प्राप्त होकर प्रकाशित होते हैं । अत; अध्यास के बिना तादात्म्य नहीं हो सकता है, अतः घटादि विषय चैतन्य में अध्यस्त (कल्पित) हैं ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै० 2.1) इति च ज्ञानस्य महत्त्वमनन्तत्वं च दर्शयति । महत्त्वं स्वाध्यस्तसर्वसंबन्धित्वमनन्तत्वं त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वमिति विवेकः ।

67 एतेन शून्यवादोऽपि प्रत्युक्तः, निरधिष्ठानभ्रमायोगान्निरवधिबाधायोगाच्च । तथा श्रुतिः 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० 3.11) इति सर्वबाधावधिं पुरुषं परिशिनष्टि । उक्तं च भाष्यकारै :-- सर्वं विनश्यद्वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न विनश्यति' इति । एतेन क्षणिकवादोऽपि परास्तः, अबाधितप्रत्यभिज्ञानादन्यदृष्टान्यस्मरणाद्यनुपपत्तेश्च । तस्मादेकस्य सर्वानुस्यूतस्य स्वप्रकाशस्फुरणस्य सतः सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यत्वादुपपन्नं नाभावो विद्यते सत इति ॥ 17 ॥

68 ननु स्फुरणरूपस्य सतः कथमविनाशित्वं तस्य देहधर्मत्वाद् देहस्य चानुक्षणविनाशादिति भूतचैतन्यवादिनस्तान्निराकुर्वन्नासतो विद्यते भाव इत्येतद्विवृणोति –

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ 18 ॥

हैं । अपने में अध्यस्त समस्त पदार्थों से सम्बन्ध रखना ब्रह्म का 'महत्त्व' है । देश, काल और वस्तु -- इस तीनों के परिच्छेद से शून्य होना ब्रह्म का 'अनन्तत्व' है -- यह जान लेना चाहिए ।

67 इससे शून्यवाद भी निरस्त हुआ, क्योंकि अधिष्ठान के बिना कोई भ्रम नहीं हो सकता और वस्तु का निरवधि बाध होना असम्भव है । इसीप्रकार 'पुरुष के परे कुछ नहीं है, वही काष्ठा (सीमा) है और वही परा गति है' (कठ० 3.11)-- यह श्रुति भी पुरुष को सम्पूर्ण बाधाओं की अवधि घोषित करती है । 'नष्ट होने वाली सभी वस्तुएँ पुरुषपर्यन्त ही नष्ट होती हैं, पुरुष विनाश का कोई हेतु न होने के कारण नष्ट नहीं होता' -- इत्यादि वाक्य से भाष्यकार ने भी बाध को सावधि कहा है, निरवधि नहीं । इससे क्षणिकवाद भी निरस्त हुआ, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा अबाधित = प्रत्यक्ष होती है और अन्य के द्वारा इष्ट पदार्थ का किसी अन्य के द्वारा स्मरण नहीं हो सकता[132] । अतः एक सर्वानुस्यूत = सर्वत्रानुवृत स्वयंप्रकाशात्मक स्फुरणरूप सत् देश, काल और वस्तु -- सभी प्रकार के परिच्छेद से शून्य होने के कारण 'सत् का अभाव नहीं होता'-- यह कथन उपपन्न ही है ।। 17 ।।

68 'स्फुरणरूप सत् अविनाशी क्यों है ? स्फुरण देहधर्म है । देह के प्रतिक्षण परिणामी होने से तद्-धर्म स्फुरण भी प्रतिक्षण विनाशी है'-- यह भूतचैतन्यवादी चार्वाकादि कहते हैं । उनका निराकरण करने के लिए भगवान् 'नासतो विद्यते भावः' इत्यादि का विवरण करते हैं :--

[हे भारत ! नित्य, अविनाशी और अप्रमेय आत्मा के ये सभी देह विनाशशील हैं, इसलिए तुम युद्ध करो ।। 18 ।।]

132. तात्पर्य यह है कि जिस मैंने बाल्यावस्था में माता-पिता का अनुभव किया, वही मैं वृद्धावस्था में पौत्रों का अनुभव करता हूँ, यह बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में एक ही स्थिर आत्मा है, इसका साधक अबाधित प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान है । यहाँ क्षणिक आत्मा स्वीकार करने पर तो यह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो पायेगी, क्योंकि आत्मा के क्षणिक होने से अनन्त आत्माओं की कल्पना करनी होगी और जिस समय प्रत्यभिज्ञान होगा, उस समय वह पूर्व का आत्मा तो नष्ट हो जाने के कारण रहेगा नहीं और पूर्व के आत्मा के न होने से प्रत्यभिज्ञान होने की अनुपपत्ति होगी । इसके अतिरिक्त अन्यानुभूत पदार्थ का स्मरण भी अन्य को नहीं होता, यह भी एक बात है । क्षणिक आत्मा होने पर तो उक्त स्मरण नहीं हो सकेगा, इसलिए क्षणिकवाद अयुक्त है ।

69 अन्तवन्तो विनाशिन इमेऽपरोक्षा देहा उपचितापचितरूपत्वाच्छरीराणि । बहुवचनात्स्थूलसूक्ष्मकारणरूपा विराट्सूत्राव्याकृताख्याः समष्टिव्यष्ट्यात्मानः सर्वे नित्यस्याविनाशिन एव शरीरिण आध्यासिकसंबन्धेन शरीरवत एकस्याऽऽत्मनः स्वप्रकाशस्फुरणरूपस्य संबन्धिनो दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन चोक्ताः श्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च । तथाच तैत्तिरीयकेऽन्नमयाद्यानन्दमयान्तान्पञ्चकोशान्कल्पयित्वा तदधिष्ठानमकल्पितं 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० 2.5) इति दर्शितम् । तत्र पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको विराण्मूर्तराशिरन्नमयकोशः

69 ये अपरोक्ष देह[133] = शरीर[134] उपचित (वृद्धि) और अपचित (ह्रास) रूप होने के कारण अन्तवान् अर्थात् विनाशी हैं । 'देहा:'-- इस पद में बहुवचन होने के कारण स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीर हैं । इनका क्रमश: विराट्, सूत्र और अव्याकृत नाम भी है । ये समष्टि-व्यष्टि स्वरूप हैं । ये सभी नित्य, अविनाशी शरीरी[135] के ही हैं, आध्यासिक सम्बन्ध से देहधारी स्वप्रकाश स्फुरणरूप एक ही आत्मा के दृश्य और भोग्यरूप से सम्बन्धी हैं, यह श्रुति और ब्रह्मवादिओं ने कहा है । इसीप्रकार तैत्तिरीयक श्रुति में भी अन्नमय से लेकर आनन्दमयपर्यन्त = अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय-- इन पाँच कोशों की कल्पना करके उनके अधिष्ठान को 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० 2.5) इत्यादि से अकल्पित बतलाया है । उनमें पञ्चीकृत पंचमहाभूत और उनका कार्यस्वरूप विराट् मूर्तराशि जो अन्नमयकोश है वह स्थूलसमष्टि है । इसका कारणीभूत[136] अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत[137] और उनका

133. 'देह: = देग्धि प्रतिदिनम्, दिह् उपचये + अच्' अर्थात् जो प्रतिदिन उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है उसे देह कहते हैं । 'देह' शब्द उपचयार्थक 'दिह्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है । देह प्रतिक्षण आगन्तुक अवयवों से उपचित और वर्तमान अवयवों से अपचित होते रहते हैं । देह में अवयवों का संयोग और वियोग अनिवार्य है, उपचित (वृद्धिगत) वस्तु का अपचित (ह्रास) होना अनिवार्य है, अत: देह को उपचितापचित कहा गया है । 'अपचित' शब्द के योग से देह की अन्तवत्ता सर्वथा सिद्ध हो जाती है, इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने देह के लिए 'उपचित' शब्द के साथ 'अपचित' पद का प्रयोग किया है ।

134. वेदान्त में स्थूल शरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर के भेद से तीन प्रकार का शरीर माना गया है । जाग्रत्-अवस्था में 'अहं स्थूल:, अहं कृश:' – इत्यादि रूप से स्थूल शरीर का प्रत्यक्ष होता है । जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओं में 'अहं सुखी, अहं ज्ञानवान्' इत्यादि रूप से सूक्ष्मशरीर का प्रत्यक्ष होता है । और सुषुप्ति-अवस्था में 'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि रूप से कारणशरीर = अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार यह त्रिविध शरीर अपरोक्ष ही है ।

135. सभी शरीर आत्मा में अविद्या या माया से कल्पित हैं । अत: कल्पित सभी शरीरों के साथ आत्मा का कल्पित सम्बन्ध रहने के कारण उन्हें 'शरीरी' कहा जाता है ।

136. पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत से तात्पर्य है– आकाश, वायु, तेज, जल और वृथ्वी – इस पाँच महाभूतों का सम्मिश्रण होना । इस प्रक्रिया के अनुसार पाँचों भूतों के प्रत्येक के दो बराबर भाग करके उन-उन भूतों के आधे-आधे भागों में अन्य-अन्य भूतों के आठवें अंश को मिला देने से पञ्चीकृत महाभूत बनते हैं । जैसा कि कहा है –

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुन: ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ।। (पञ्चदशी, 1.27)

इसे पञ्चीकरण-प्रक्रिया भी कहते हैं । इस प्रक्रिया को निम्नप्रकार से और स्पष्ट किया जा सकता है :–

1. आकाश = आकाश 1/2 + वायु 1/8 + तेज 1/8 + जल 1/8 + पृथ्वी 1/8 =1 आकाश ।
2. वायु = वायु 1/2 + आकाश 1/8 + तेज 1/8 + जल 1/8 + पृथ्वी 1/8 = 1 वायु ।
3. तेज = तेज 1/2 + वायु 1/8 + आकाश 1/8 + जल 1/8 + पृथ्वी 1/8 = 1 तेज ।
4. जल = जल 1/2 + तेज 1/8 + वायु 1/8 + आकाश 1/8 + पृथ्वी 1/8 = 1 जल ।
5. पृथ्वी = पृथ्वी 1/2 + जल 1/8 + तेज 1/8 + वायु 1/8 + आकाश 1/8 = 1 पृथ्वी ।

स्थूलसमष्टिः । तत्कारणीभूतोऽपञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको हिरण्यगर्भः सूत्रममूर्तराशिः सूक्ष्मसमष्टिः 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (1.6.1) इति बृहदारण्यकोक्तत्र्यन्नात्मकः सर्वकर्मात्मकत्वेन क्रियाशक्तिमात्रमादाय प्राणमयकोश उक्तः । नामात्मकत्वेन ज्ञानशक्तिमात्रमादाय मनोमयकोश उक्तः । रूपात्मकत्वेन तदुभयाश्रयतया कर्तृत्वमादाय विज्ञानमयकोश उक्तः । ततः प्राणमयमनोमयविज्ञानमयात्मैक एव हिरण्यगर्भाख्यो लिङ्गशरीरकोशः । तत्कारणीभूतस्तु मायोपहितचैतन्यात्मा सर्वसंस्कारशेषोऽव्याकृताख्य आनन्दमयकोशः । ते च सर्व एकस्यैवाऽऽत्मनः शरीराणीत्युक्तम् । 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' (तै० 2.3.4) इति । तस्य प्राणमयस्यैष एव शरीरे भवः शारीर आत्मा यः सत्यज्ञानादिलक्षणो गुहानिहितत्वेनोक्तः पूर्वस्यान्नमयस्य । एवं प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेषु योज्यम् ।

70 अथवेमे सर्वे देहास्त्रैलोक्यवर्तिसर्वप्राणिसंबन्धिन एकस्यैवाऽऽत्मन उक्ता इति योजना । तथा च श्रुतिः --

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' ॥
(श्वेता० 6.11)

इति सर्वशरीरसंबन्धिनमेकमात्मानं नित्यं विभुं दर्शयति ।

कार्यात्मक हिरण्यगर्भ (सूत्र) अमूर्तराशि जो सूक्ष्मसमष्टि है वह 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' = 'यह नाम, रूप और कर्म-- ये तीन अन्न हैं' (बृह० 1.6.1)- इस बृहदारण्यक उपनिषद् की उक्ति से त्र्यन्नात्मक सम्पूर्ण कर्मस्वरूप होने से एकमात्र क्रियाशक्ति को लेकर प्राणमयकोश कहा गया है । नामात्मक होने से एकमात्र ज्ञानशक्ति को लेकर मनोमयकोश कहा गया है । रूपात्मक होने से उन दोनों के आश्रयरूप से कर्तृत्व को लेकर विज्ञानमयकोश कहा गया है । इससे प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयात्मा एक ही हिरण्यगर्भ नामक लिङ्गशरीरकोश है । उसका कारणीभूत मायोपहित चैतन्यात्मा सर्व संस्कारों का शेषरूप [138] अव्याकृत नामवाला आनन्दमयकोश है । ये सभी एक ही आत्मा के शरीर हैं -- यह कहा गया है । इसमें श्रुति भी प्रमाण है -- 'उस प्राणमय कोश का यह शारीर अर्थात् आत्मा है, जो पूर्वकोश का है' (तै० 2.3.4) । अर्थात् उस प्राणमयकोश का यही शरीर में रहनेवाला शारीर -- आत्मा है, जो सत्यज्ञानादिरूप गुहानिहित = हृदयाकाश में निहित पूर्वोक्त अन्नमयकोश का भी कहा गया है । इसीप्रकार प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों में भी योजना करनी चाहिए ।

70 अथवा, ये सभी देह, जो त्रिलोक में रहने वाले समस्त प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले हैं, एक ही आत्मा के कहे गये हैं -- यह योजना करनी चाहिए । इसी प्रकार 'एक ही देव समस्त प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का प्रवर्तक, समस्त प्राणिओं का निवासस्थान, साक्षी, चैतन्य, केवल (अद्वितीय) और निर्गुण है' (श्वेता० 6.11) -- यह श्रुति भी समस्त शरीरों से सम्बन्ध रखने वाले एक, नित्य, विभु आत्मा को प्रदर्शित करती है ।

137. अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत शब्द का अर्थ है,- आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी - इनका किसी के साथ किसी का सम्मिश्रण नहीं है, प्रत्येक अपने अपने स्वरूप में रहते हैं ।

138. प्राणमय शरीर में मायोपहित चैतन्यात्मा सर्वसंस्कारशेष होने से 'अव्याकृत' कहलाता है । समस्त प्रपञ्चसंस्काररूप से वह शक्तिरूप से रहता है, उसी से प्रपञ्च का आविर्भाव होता है । सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कार्य अपने कारण में लीन रहता है - सूक्ष्मरूप से अवस्थित रहता है, अतः वह सर्वसंस्कारशेष है ।

71 ननु नित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वं तथा चाविद्यादिवत्कालेन सह नाशेऽपि तदुपपन्नमित्यत आह– अनाशिन इति । देशतः कालतोः वस्तुतश्च परिच्छिन्नस्याविद्यादेः कल्पितत्वेनानित्यत्वेऽपि यावत्कालस्थायिस्वरूपमौपचारिकं नित्यत्वं व्यवह्रियते 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्र० सू० 2.3.7) इति न्यायात् । आत्मनस्तु परिच्छेदत्रयशून्यस्याकल्पितस्य विनाशहेत्वभावान्मुख्यमेव कूटस्थनित्यत्वं न तु परिणामिनित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वं चेत्यभिप्रायः ।

72 नन्वेतादृशे देहिनि किंचित्प्रमाणमवश्यं वाच्यमन्यथा निष्प्रमाणस्य तस्यालीकत्वापत्तेः शास्त्रारम्भवैयर्थ्यापत्तेश्च । तथा च वस्तुपरिच्छेदो दुष्परिहरः 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० 1.1.3) इति न्यायाच्च, अत आह– अप्रमेयस्येति । 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्' (बृह० 4.1.2) अप्रमयमप्रमेयम् ।

---

71 यदि कहो कि नित्यता तो यावत्काल-स्थायित्व है अर्थात् जब तक काल की स्थिति वर्तमान रहे तब तक ही नित्यता कही जाती है । इस दृष्टि से अविद्यादि के समान काल के साथ नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का नित्यत्व माना ही जा सकता है -- तो इस पर भगवान् कहते हैं -- 'अनाशिनः' इत्यादि । अविद्यादि देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्न होने के कारण कल्पित हैं, अतएव अनित्य हैं, फिर भी उनमें 'यावत्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्रह्मसूत्र 2.3.7) = 'आकाशादि[139] जितना विकार है उस सभी में व्यावहारिक भेद के समान विभाग देखा जाता है'-- इस न्याय से यावत्कालस्थायित्वस्वरूप औपचारिक नित्यत्व का व्यवहार होता है । किन्तु आत्मा देश, काल और वस्तु -- इन तीनों प्रकार के परिच्छेद से शून्य होने के कारण अकल्पित है, अतः आत्मा के विनाश का को हेतु नहीं है, इसलिए आत्मा की मुख्य कूटस्थनित्यता ही कही गई है, न कि परिणामिनित्यता या यावत्कालस्थायित्वस्वरूप नित्यता -- यही इसका अभिप्राय है ।

72 यदि कहो कि ऐसे देही आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण तो अवश्य कहना चाहिए, अन्यथा निष्प्रमाण होने से उसकी अलीकता प्राप्त होगी और ऐसी स्थिति में उसके लिए शास्त्रारम्भ[140]

---

139. आकाश नित्य है ? या अनित्य ? इस प्रकार का सन्देह होने पर नैयायिकों का कहना है कि आकाश नित्य है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है । आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, अतएव वह नित्य है । आकाश की उत्पत्ति की साधक कोई श्रुति भी नहीं है, 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' – यह जो श्रुति आकाश की उत्पत्ति बताती है, वह गौणार्थक है, क्योंकि पदार्थशास्त्रियों ने सजातीय से ही उत्पत्ति को संगत माना है, आकाश की जनक ऐसी कोई सजातीय प्रसिद्ध सामग्री नहीं है, अतः उसकी उत्पत्ति संभव ही नहीं है । 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' – यह श्रुति 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' – ऐसा चिन्तन करने का आदेश देती है, जिससे आत्मा की सर्वश्रेष्ठता पर दृढ़ विश्वास हो । आत्मा आकाश का अवयव नहीं है कि उससे उसकी उत्पत्ति होगी । फलतः आकाश की उत्पत्तिविषयक उक्त श्रुति गौणी है । इसके उत्तर में सिद्धान्ती ने कहा है 'यावत्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्रह्मसूत्र, 2.3.7) अर्थात् लोक में देखा जाता है कि जहाँ विभाग है, वहाँ विकारत्व (कार्यत्व) अवश्य है । जैसे – घट, घटिका, उदञ्चन आदि जितने भी विकार लोक में दिखाई देते हैं, उनका अपने अन्यूनसत्ताक पदार्थों से विभाग देखा जाता है । उसी प्रकार आकाश का पृथ्वी आदि से विभाग सुविदित है, अतः आकाश का विकारत्व भी सिद्ध होता है । आकाश का कार्यत्व सिद्ध होने पर उसकी अनित्यता ही सिद्ध होती है । आकाश की नित्यता जो कही जाती है, वह नित्यता औपचारिक या गौण है, क्योंकि वह नित्यता जब तक काल वर्तमान रहता है तब तक ही रहती है, महाप्रलय में काल और आकाश का भी लय होता ही है ।

140. सभी शास्त्र देही आत्मा के इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय बतलाने के लिए हैं । उन-उन उपायों के अनुष्ठान से दृष्टा दृष्ट-पुत्रादि और अदृष्ट-स्वर्गादि फल प्राप्त करे । इन कर्मों का त्याग कर शरीररोगादि और नरकादि से बचे -- इस प्रकार के उपदेशार्थ ही शास्त्र हैं । यदि आत्मा ही अप्रामाणिक होगा, तो उक्त उपायों के प्रदर्शन के लिए जो शास्त्र हैं, वे सभी व्यर्थ हो जायेंगे । अर्थात् आत्मा के निष्प्रमाण होने से शास्त्रारम्भवैयर्थ्य-दोष प्राप्त होगा ।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः (कठ० 5.15) । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुं० 2.2.10) ॥ इति च श्रुतेः स्वप्रकाशचैतन्यरूप एवाऽऽत्माऽतस्तस्य सर्वभासकस्य स्वभानार्थं न स्वभास्यापेक्षा, किंतु कल्पिताज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्यर्थं कल्पितवृत्तिविशेषापेक्षा, कल्पितस्यैव कल्पितविरोधित्वात्, 'यक्षानुरूपो बलिः' इति न्यायात् । तथा च सर्वकल्पितनिवर्तकवृत्तिविशेषोत्पत्त्यर्थं शास्त्रारम्भः,

---

ही व्यर्थ हो जायेगा और यदि 'शास्त्रयोनित्वात्'[141] (ब्रह्मसूत्र, 1.1.3) 'शास्त्र ही ब्रह्म की योनि = प्रमाण है, उससे भिन्न अन्य कोई प्रमाण नहीं है', – इस न्याय से उसे उपनिषद्-वेद्य[142] मानेंगे तो उसके वस्तुपरिच्छेद का निराकरण करना कठिन होगा, – तो इसपर भगवान् कहते हैं – 'अप्रमेयस्य' इत्यादि । "आत्मा को एक अद्वैत के रूप में ही देखना चाहिए, यह आत्मतत्त्व अप्रमय = अप्रमेय और ध्रुव है' (बृह० 4.1.2) ; 'इस आत्मा में सूर्य का प्रकाश नहीं है, न चन्द्रमा और ताराओं का प्रकाश है, विद्युत् का भी प्रकाश नहीं है, फिर यह अग्नि तो उसे प्रकाशित कर ही कैसे सकता है' (कठ० 5.15) ; ' उसके प्रकाशित होने के बाद ही सब प्रकाशित होते हैं, उसका प्रकाश ही इन सब को प्रकाशित करता है' (मुं० 2.2.10)"-- इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि स्वप्रकाश चैतन्यरूप ही आत्मा है । अत: उस सर्वप्रकाशक को अपने भान के लिए अपने किसी भासक की अपेक्षा नहीं है, किन्तु कल्पित अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति के लिए एक कल्पित वृत्तिविशेष[143] की अपेक्षा अवश्य है, क्योंकि 'जैसा यक्ष हो तदनुरूप ही बलि होनी चाहिए' – इस न्याय से कल्पित ही कल्पित का विरोधी हो सकता है । इस प्रकार सम्पूर्ण कल्पित प्रपञ्च की निवर्तक उस कल्पित वृत्तिविशेष की उत्पत्ति के लिए ही शास्त्रारम्भ हुआ है,[144] क्योंकि वह वृत्ति 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के ही अधीन है । स्वत: सर्वदा भासमान होने, समस्त कल्पनाओं का अधिष्ठान होने और दृश्यमात्र का भासक होने के कारण

---

141. भाष्यकार ने इस सूत्र के दो अर्थ किये हैं – (1) 'शास्त्रं योनि: प्रमाणं यस्मिन्' अर्थात् शास्त्र ब्रह्म के स्वरूप के यथार्थज्ञान में योनि अर्थात् प्रमाण है । (2) 'शास्त्रस्य योनि: कारणं ब्रह्म' अर्थात् शास्त्र का योनि = कारण ब्रह्म हैं ।

142. 'शास्त्रयोनित्वात्'– इस न्याय से आत्मा को उपनिषद्-वेद्य मानने पर वह वस्तु-परिच्छिन्न ही होगा । शास्त्र (उपनिषद्) रूप प्रमाण से आत्मा-प्रमेयपरिच्छिन्न होगा, क्योंकि अभेद में अर्थात् एक ही वस्तु में प्रमाण-प्रमेयभाव हो ही नहीं सकता ।

143. कल्पितवृत्तिविशेष से तात्पर्य है – ब्रह्म के अखण्ड आकार से आकारित 'अहं ब्रह्मास्मि' – चित्तवृत्ति । इस वृत्ति का विषय शुद्ध ब्रह्म नहीं है, अपितु वह अज्ञानविशिष्ट प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयिणी है । अत: यह वृत्ति चैतन्य को अवभासित नहीं करती, अपितु चैतन्य के अज्ञान को दूर करके चैतन्य की ब्रह्मस्वरूपताप्राप्ति में सहायक होती है । यही इसका प्रयोजन है (तस्याश्चैतन्यावरकाज्ञाननिवृत्तिरेव प्रयोजनम्-सुबोधिनी) । चैतन्य के अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर समस्त कार्यप्रपञ्च के बाधित होने पर अज्ञान और उसके कार्यप्रपञ्च के अन्तर्गत आनेवाली उक्त कल्पित वृत्ति का भी बाध हो जाता है । फलत: अज्ञान कल्पित है और उसकी निवर्तक वृत्ति भी कल्पित है । कल्पित के बाध के लिए कल्पित की ही अपेक्षा होती है, स्वप्न की क्षुधा स्वप्न में भुक्त पदार्थों से ही शान्त की जाती है ।

144. अखण्डाकाराकारित 'अहं ब्रह्मास्मि' चित्तवृत्ति 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रों से उत्पन्न होती है । अधिकारी जब आध्यात्मिक गुण अध्यारोप और अपवाद न्याय से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ का शोध कर लेता है, तो उसको अखण्ड अर्थ का बोध होता है और उसमें 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) – ऐसी चित्तवृत्ति का उदय होता है, अत: स्पष्ट है कि उक्तकल्पित चित्तवृत्ति विशेष की उत्पत्ति के लिए ही शास्त्रारम्भ हुआ है ।

तस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यमात्राधीनत्वात् । स्वतः सर्वदाभासमानत्वात्सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वाद्दृश्यमात्रभासकत्वाच्च न तस्य तुच्छत्वापत्तिः। तथा चैकमेवाद्वितीयं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिशास्त्रमेव स्वप्रमेयानुरोधेन स्वस्यापि कल्पितत्वमापादयति अन्यथा स्वप्रामाण्यानुपपत्तेः।

73 **कल्पितस्य चाकल्पितपरिच्छेदकत्वं नास्तीति प्राक्प्रतिपादितम् । आत्मनः स्वप्रकाशत्वं च युक्तितोऽपि भगवत्पूज्यपादैरुपपादितम् । तथाहि--यत्र जिज्ञासोः संशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमाणानामन्यतममपि नास्ति तत्र तद्विरोधि ज्ञानमिति सर्वत्र दृष्टम् । अन्यथा त्रितयान्यतमापत्तेः। आत्मनि चाहं वा नाहं वेति न कस्यचित्संशयः, नापि नाहमिति विपर्ययो व्यतिरेकः प्रमा वेति तत्स्वरूपप्रमा सर्वदाऽस्तीति वाच्यं तस्य सर्वसंशयविपर्ययधर्मित्वात्, 'धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' इति न्यायात् । अत एवोक्तम्--**

उसके तुच्छत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । तथा 'एकमेवाद्वितीयम्'[145]; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्र भी 'स्वप्रमेय के अनुरोध से स्व भी कल्पित है, ऐसा कहते हैं, अन्यथा स्वप्रामाण्य नहीं होगा ।

73 कल्पित अकल्पित का परिच्छेदक नहीं हो सकता -- यह पूर्व में ही प्रतिपादित हो चुका है । भगवान् पूज्यपाद शंकराचार्य ने आत्मा के स्वप्रकाशत्व को युक्ति द्वारा भी सिद्ध किया है । यथा -- यह सर्वत्र देखा गया है कि जहाँ जिज्ञासुको संशय, विपर्यय और व्यतिरेक -- इन तीनों प्रमाओं में से एक भी नहीं होती वहीं इनका विरोधी ज्ञान होता है, अन्यथा उक्त त्रितय में से कोई एक अवश्य होगा । आत्मा में 'मैं हूँ या नहीं हूँ' -- यह संशय किसी को नहीं होता । 'मैं नहीं हूँ' -- यह विपर्यय या व्यतिरेक प्रमा भी नहीं होती [146] । किन्तु 'मैं हूँ' -- यह आत्मस्वरूप प्रमा सर्वदा रहती है -- यह कहना चाहिए, क्योंकि सर्व संशय-विपर्यय का धर्मी वह आत्मा है । ऐसी अभियुक्तोक्ति भी है कि 'संशयादि ज्ञान धर्म्यंश = धर्मी अंश = आत्मा में अभ्रान्त अर्थात् प्रमा होता है, केवल प्रकारांश अर्थात् धर्मों में ही विपर्यय होता है' -- अतएव कहा है -- 'प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाणाभास --

---

145. 'एकमेवाद्वितीयम्' का अर्थ है – 'आत्मा एक है, अद्वितीय है' । यह शास्त्र 'आत्मा' को प्रमेय कहकर आत्मातिरिक्त सब कल्पित है, यह बोध कराता है । उक्त शास्त्र को यदि सत्य कहते हैं, तो द्वैतापत्ति होगी और शास्त्र के बाधितार्थक होने से उसमें प्रामाण्य अनुपपन्न होगा । यदि उसे असत्य कहते हैं, तो अप्रामाण्य है ही । अतः उक्त शास्त्र ही कहता है कि 'आत्मातिरिक्त सब कल्पित है', इससे वह अपने कल्पितत्व का भी प्रतिपादन कर रहा है । इस प्रकार उक्त शास्त्र प्रमाण बनता है । शास्त्र व्यावहारिक सत्य वस्तु होने पर भी पारमार्थिक सत्य वस्तु नहीं है – यह अभिप्राय है । श्रुति में भी कहा गया है कि 'अत्र वेदाः अवेदाः भवन्ति' (बृह० 4.3.22) अर्थात् तुरीयावस्था में = आत्मस्वरूप में वेद भी अवेद हो जाता है ।

146. यहाँ संशय और विपर्यय या व्यतिरेक रूप से दो ही प्रमा विवक्षित नहीं है, अपितु संशय, विपर्यय और व्यतिरेक – ये तीन प्रमाएं कही गई हैं, अन्यथा 'संशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमाणामन्यतमम्' 'त्रितयान्यतमापत्तेः' – इस प्रकार का लेख संगत नहीं होगा । जहाँ जिज्ञासु को संशय, विपर्यय और व्यतिरेक प्रमा नहीं होती वहीं संशयादि-विरोधी ज्ञान होता है । जैसे – पुरुष के विषय में ' यह पुरुष है या नहीं' – यह संशय है ; '– यह स्थाणु है' – यह विपर्यय है ; 'यह पुरुष नहीं है' – यह व्यतिरेक प्रमा है । 'यह पुरुष ही है' – ऐसा ज्ञान होने पर उक्त संशयादि नहीं होते । वैसे ही आत्मा के विषय में 'मैं हूँ या नहीं हूँ' – यह संशय है ; 'मैं मैं नहीं हूँ, दूसरा कोई हूँ' -- यह विपर्यय है ; 'मैं नही हूँ' – यह व्यतिरेक है । 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर उक्त संशयादि ज्ञान नहीं होते । अन्यथा जहाँ यथार्थ ज्ञान नहीं होगा वहाँ संशयादि में से कोई एक अवश्य होगा ।

'प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च ।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसंभावना कुतः ॥' (बृह० वा० 1.4.874)

प्रमाभासः संशयः । स्वप्रकाशे सद्रूपे धर्मिणि प्रमाणाप्रमाणयोर्विशेषो नास्तीत्यर्थः । आत्मनो भासमानत्वे च घटज्ञानं मयि जातं न वेत्यादिसंशयः स्यात् । न चाऽऽन्तरपदार्थे विषयस्यैव संशयादिप्रतिबन्धकत्वस्वभावः कल्प्यः, बाह्यपदार्थे क्लृप्तेन विरोधिज्ञानेनैव संशयादि-प्रतिबन्धसंभव आन्तरपदार्थे स्वभावभेदकल्पनाया अनौचित्यात् । अन्यथा सर्वविप्लवापत्तेः । आत्ममनोयोगमात्रं चाऽऽत्मसाक्षात्कारे हेतुः । तस्य च ज्ञानमात्रे हेतुत्वाद् घटादिभानेऽप्यात्म-भानं समूहालम्बनन्यायेन तार्किकाणां प्रवरेणापि दुर्निवारम् । न च चाक्षुषत्वमानसत्वादिसंकरः, लौकिकत्वालौकिकत्ववदंशभेदेनोपपत्तेः । संकरस्यादोषत्वाच्चाक्षुषत्वादेर्जातित्वानभ्युपगमाद्वा ।

ये सब जहाँ अपनी प्रमा उत्पन्न करते हैं उस आत्मतत्त्व के विषय में संशय कैसे हो सकता है ?' -- (बृह० वा० 1.4.874) । प्रमाणाभास संशय को कहते हैं । स्वप्रकाश सद्-रूप धर्मी में प्रमाण और अप्रमाण का कोई भेद नहीं है -- यह तात्पर्य है । आत्मा के भासमान होने पर ही 'घटज्ञान मुझे हुआ या नहीं' इत्यादि संशय होता है । किन्तु बाह्य विषय के समान आन्तर पदार्थ में संशयादि प्रतिबन्धकता के स्वभाव की कल्पना नहीं की जा सकती । बाह्य पदार्थों के विषय में निश्चित किये हुए विरोधी ज्ञान से ही संशयादि की सम्भावना होती है, आन्तर पदार्थ में स्वभावभेद की कल्पना करना तो अनुचित ही है, अन्यथा सर्वविप्लव उपस्थित होगा[147] । नैयायिकों के मत में आत्मा और मन का संयोगमात्र ही आत्मसाक्षात्कार में हेतु है, और वही आत्म-मनःसंयोग ज्ञानमात्र में हेतु है, अतः घटादि का भान होने पर भी समूहालम्बन न्याय से आत्मा का भान किसी भी तार्किकप्रवर के लिए दुर्निवार होगा [148] । घटादि के भान में चाक्षुषत्व और मानसत्व का भी सङ्कर नहीं है, क्योंकि लौकिकत्व और अलौकिकत्व के समान अंशभेद से भी ये दोनों प्रकार के ज्ञान एक साथ रह सकते हैं[149] । अथवा सङ्कर कोई दोष न होने के कारण तथा चाक्षुषत्व आदि में कोई जाति न मानने के कारण भी ये दोनों प्रकार के ज्ञान एक साथ रह सकते हैं[150] । इससे व्यवसाय मात्र में

147. तात्पर्य यह है कि बाह्य पदार्थों के स्वभाव से भिन्न आत्मा का स्वभाव स्वीकार करने पर बाह्य पदार्थों में भी स्वभाव-भेद की कल्पना करने से सभी धर्मों की सभी पदार्थों में प्राप्ति होगी । जैसे – जल में उष्णत्व है, वह्नि में शीतत्व है, परन्तु वे प्रत्यक्ष क्यों नहीं होते । स्वभावभेद से प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्व की उपपत्ति हो सकती है। जलीय उष्णत्व का स्वभाव है कि जिस सामग्री से वह्निगत उष्णत्व का प्रत्यक्ष होता है उस सामग्री से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उससे विलक्षण सामग्री से प्रत्यक्ष होता है । इसी प्रकार वह्निगत शीतत्व में भी सामग्रीभेद मानकर सब धर्मों में अनित्यत्वव्यवस्था हो जायेगी, जो सर्वथा अनुचित है ।

148. तात्पर्य यह है कि बडे बडे तार्किकों को भी यह मानना ही होगा कि सर्वत्र घटादि का ज्ञान होने पर भी आत्मा का ज्ञान होता ही है, फलतः आत्मा स्वयंप्रकाश होती है, क्योंकि वे स्वयं घटादिज्ञानोत्पत्तिक्षण में आत्मज्ञानसामग्री अर्थात् आत्मा और मन के संयोग को हेतु मानते ही हैं । और फिर यह आत्मा और मन का संयोग समस्त ज्ञानों का जनक (हेतु) होने के कारण सर्वत्र घटादि ज्ञानों के पूर्व होता ही है, अतः उस आत्मज्ञानसामग्री से घटादि विषय और आत्मा – दोनों का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि समूहालम्बन न्याय से अनेक विषयों का ज्ञान एक समय में होता ही है । तार्किकों के अनुसार घट, पट आदि अनेक पदार्थों को मुख्यतया विषय करनेवाला ज्ञान 'समूहालम्बनज्ञान' है । उनके अनुसार घट, पट आदि अनेक पदार्थों के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान हो जाता है । इसीप्रकार घटादि विषय और आत्मा– दोनों का एक समय में ज्ञान हो जायेगा, क्योंकि दोनों ज्ञान की जनक (हेतु) आत्मज्ञान-सामग्री विद्यमान है । इस प्रकार घटादि विषय के साथ-साथ आत्मा के भान का निवारण तार्किकप्रवर भी नहीं कर सकते ।

149. नैयायिकों के अनुसार घटादि विषय और चक्षु आदि इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । सन्निकर्ष दो प्रकार का होता है – लौकिक और अलौकिक । जिस इन्द्रिय का जो विषय है वही उस इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है, जैसे – चक्षु के द्वारा रूप ही गृहीत होता है, शब्दादि अन्य विषय नहीं, इसलिए चक्षु और

व्यवसायमात्र एवाऽऽत्मभानसामग्र्या विद्यमानत्वादनुव्यवसायोऽप्यपास्तः । न च व्यवसाय-भानार्थं स तस्य दीपवत्स्वव्यवहारे सजातीयानपेक्षवात् । न हि घटतज्ज्ञानयोरिव व्यवसायानु-व्यवसाययोरपि विषयत्वविषयित्वव्यवस्थापकं वैजात्यमस्ति व्यक्तिभेदातिरिक्तवैधर्म्यानभ्युपगमात् । विषयत्वावच्छेदकरूपेणैव विषयित्वाभ्युपगमे घटयोरपि तद्भावापत्तिरविशेषात् ।

ही आत्मभान की सामग्री विद्यमान रहने के कारण अनुव्यवसाय [151] का भी निराकरण हो जाता है । वह अनुव्यवसाय व्यवसाय के भान के लिए नहीं हो सकता, क्योंकि व्यवसाय के भान में प्रदीपवत्सजातीय प्रकाश की अपेक्षा नहीं है [152] । घट और घटज्ञान के समान व्यवसाय और अनुव्यवसाय में भी विषयत्व और विषयित्व की व्यवस्थापक विजातीयता नहीं है, क्योंकि इनमें व्यक्तिभेद के अतिरिक्त कोई व्यवस्थापक वैधर्म्य नहीं माना जाता तथा विषयत्व के अवच्छेदकरूप से ही विषयित्व को स्वीकार करने पर तो घटद्वय में भी वैधर्म्यरूप कोई विशेषता न होने के कारण विषयविषयिभाव की आपत्ति हो जायेगी[153] ।

रूप का सन्निकर्ष होने से रूप के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यही 'लौकिक' सन्निकर्ष है । यह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है– संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण-विशेष्यभाव । जिस इन्द्रिय का जो विषय नहीं है वह उस इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने से उसे 'अलौकिक सन्निकर्ष' कहा जाता है । अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का होता है – सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज । एक ही घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से यदि अन्य सभी घटों के साथ चक्षु का सन्निकर्ष न भी हो तो घटत्व जाति के साथ सन्निकर्ष होने के कारण जगत् के सभी घटों का ज्ञान होता है, उसे 'सामान्यलक्षण' अलौकिक सन्निकर्ष कहा जाता है । योगी लोगों का जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सम्बन्ध में प्रत्यक्षज्ञान होता है वही ज्ञान 'योगजसन्निकर्ष' कहा जाता है । जहाँ कोई दूर से चन्दन-काष्ठ ले जाता है तो दूरता-प्रयुक्त घ्राण के साथ सम्बन्ध न होने पर चक्षु से ही वहाँ 'चन्दनं सुरभिः' – 'यह चन्दन सुगन्धित है' – इस प्रकार से प्रत्यक्ष होता है, वहाँ सुगन्ध का स्मरण ही सुगन्धविशिष्ट चन्दन के प्रत्यक्ष में करण हो जाता है, उसे ही 'ज्ञानलक्षण' अलौकिक सन्निकर्ष कहते हैं । प्रकृत प्रसंग में मधुसूदन सरस्वती ने इसी 'ज्ञानलक्षण' लौकिक सान्निकर्ष की ओर ही संकेत करते हुए कहा है कि जैसे – 'चन्दनं सुरभिः' के प्रत्यक्ष में अंश-भेद से चन्दनांश में लौकिक और सौरभांश में अलौकिकत्व एक साथ रहता है वैसे ही घटादि के भान में चाक्षुषत्व और मानसत्व भी एकसाथ रह सकता है । अतः वहाँ चाक्षुषत्व और मानसत्व में संकर-दोष नहीं है ।

150. यहाँ मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि घटादि के भान में चाक्षुषत्व और मानसत्व में सङ्कर कोई दोष ही नहीं है, क्योंकि सांकर्य द्रव्यगत जाति में ही दूषक माना जाता है, कारण कि गौ और अश्व रूप एक व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं है । अन्यत्र लाघवानुरोध से उन्हें एक मानने में दोष नहीं है । अथवा सांकर्य जाति का बाधक माना गया है, उपाधि का नहीं । प्रकृत चाक्षुषत्व और मानसत्व में जाति नहीं है, किन्तु उपाधि है । अतः घटादि के भान में चाक्षुषत्व और मानसत्व एक साथ रह सकते हैं ।

151. न्याय-मत में ज्ञान के ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं । जैसे – 'अयं घटः' यह ज्ञान घट से उत्पन्न होता है । इस ज्ञान का विषय घट होता है । इस प्रथम ज्ञान को व्यवसायात्मक ज्ञान' कहते है । इसके बाद 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' – इस प्रकार का ज्ञान होता है । इस द्वितीय ज्ञान का विषय घट नहीं अपितु 'घटज्ञान' होता है । इस ज्ञान विषयक ज्ञान को ' 'अनुव्यवसाय' कहते हैं ।

152. तात्पर्य यह है कि जैसे -- प्रदीपप्रकाश के लिए विजातीय चक्षु, घट आदि की अपेक्षा होती है, सजातीय प्रदीपादि की नहीं, वैसे ही व्यवसाय के भान के लिए अनुव्यवसाय रूप सजातीय ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है ।

153. तात्पर्य यह है घट और घटज्ञान के समान व्यवसाय और अनुव्यवसाय में विषयत्व और विषयित्व रूप विजातीयता नहीं है क्योंकि व्यवसाय और अनुव्यवसाय – दोनों ही ज्ञान है । यदि दोनों को विजातीय स्वीकार करके उनमें विषयत्व और विषयित्व की स्वीकार करेगे तो व्यवसाय को विषय मानने पर व्यवसायगत ज्ञानत्व को विषयतावच्छेदक मानना होगा, और अनुव्यवसाय को विषयी मानने पर अनुव्यवसायगत ज्ञानत्व को ही विषयितावच्छेदक मानना होगा, जो कि असम्भव है, क्योंकि विषयतावच्छेदक घर्म ही यदि विषयितावच्छेदक होगा तो घटत्व को विषयितावच्छेक और जड घट को विषयी कहना होगा, जो सर्वथा अनुचित है । इसप्रकार 'अनुव्यवसाय' ही अस्वीकार्य है ।

74 ननु यथा घटव्यवहारार्थं घटज्ञानमभ्युपेयते तथा घटज्ञानव्यवहारार्थं घटज्ञानविषयं ज्ञानमभ्युपेयं व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञानसाध्यत्वादिति चेत्, काऽनुपपत्तिरुद्भाविता देवानांप्रियेण स्वप्रकाशवादिनः । न हि व्यवहर्तव्यभिन्नत्वमपि ज्ञानविशेषणं व्यवहारहेतुतावच्छेदकं गौरवात् । तथा चेश्वरज्ञानवद्योगिज्ञानवत्प्रमेयमितिज्ञानवच्च स्वेनैव स्वव्यवहारोपपत्तौ न ज्ञानान्तरकल्पनावकाशः । अनुव्यवसायस्यापि घटज्ञानव्यवहारहेतुत्वं किं घटज्ञानज्ञानत्वेन किंवा घटज्ञानत्वेनैवेति विवेचनीयम्, उभयस्यापि तत्र सत्त्वात् । तत्र घटव्यवहारे घटज्ञानत्वेनैव हेतु-

74 यदि कहो कि जैसे घट के व्यवहार के लिए घटज्ञान स्वीकार किया जाता है वैसे ही घटज्ञान के व्यवहार के लिए भी घटज्ञानविषयक ज्ञान भी स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि व्यवहार व्यवहर्तव्यज्ञान का साध्य होता है । इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ज्ञानस्वप्रकाशवादी के मत में देवानांप्रिय नैयायिक क्या अनुपपत्ति उद्भावित करते हैं ? व्यवहर्तव्यज्ञानभिन्नत्व = व्यवहर्तव्य से भिन्न होना -- यह ज्ञान का विशेषण भी व्यवहार की हेतुता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर गौरव-दोष [154] उपस्थित होगा । इसप्रकार ईश्वरज्ञान, योगिज्ञान, और 'यह प्रमेय है' इस ज्ञान के समान स्वयं अपने से ही अपना व्यवहार उपपन्न हो सकने के कारण किसी दूसरे ज्ञान की कल्पना के लिए अवकाश नहीं है [155] । अनुव्यवसाय में भी जो घटज्ञान के व्यवहार की हेतुता है उसके विषय में ही विवेचन करना चाहिए कि वह अनुव्यवसाय घटज्ञान के ज्ञानत्व का हेतु है या घटज्ञानत्व का ही हेतु है ? क्योंकि न्यायमतानुसार उसमें तो ये दोनों ही रहते हैं । घट-

154. नैयायिकों का कथन है कि व्यवहार व्यवहर्त्तव्यज्ञान का साध्य होता है अर्थात् व्यवहर्त्तव्यज्ञान व्यवहार का हेतु होता है । इस नियम के अनुसार घटज्ञान के व्यवहार के लिए व्यवहर्त्तव्य-घट-ज्ञान का ज्ञान अपेक्षणीय है, अतः घटज्ञानविषयक ज्ञानरूप अनुव्यवसाय सिद्ध होता है । किन्तु यहाँ सिद्धान्ती का कहना है कि घटज्ञान रूप व्यवसाय जहाँ व्यवहर्त्तव्य है वहाँ यही व्यवहर्त्तव्यज्ञान अपने और घटादि के व्यवहार में हेतु हो जाता है, इससे भिन्न अनुव्यवसाय को मानने का आवश्यकता नहीं है । यदि व्यवहार का जो ज्ञान हेतु है उसे व्यवहर्त्तव्य से भिन्न मानेंगे, तो कार्य-कारण-भाव में गौरव उपस्थित होगा, क्योंकि 'व्यवहार का व्यवहर्त्तव्यज्ञान हेतु है ', इसकी अपेक्षा 'व्यवहार में व्यवहर्त्तव्यज्ञान से भिन्न व्यवहर्तव्य-ज्ञान हेतु होता है' - ऐसा मानने में गौरव स्पष्ट है । जहाँ "व्यवहार का हेतु, 'व्यवहर्त्तव्यज्ञान' है" - इतना कहने से ही निर्वाह हो जाता है वहाँ 'व्यहर्तव्यज्ञान से भिन्न व्यहर्तव्यज्ञान' व्यवहार में हेतु 'व्यवहर्त्तव्यज्ञान' - ऐसा कहने पर व्यवहर्तव्यज्ञान में रहने वाली हेतुता का अवच्छेदक इसका विशेषण 'व्यवहर्तव्यभिन्नत्व' को अधिक दिया जा रहा है । अतः गौरव स्पष्ट है ।

155. यहाँ यह शंका हो सकती है कि स्व से ही स्वव्यवहार की उपपत्ति स्वीकार करने पर तो ज्ञान में स्वकर्तृ-कर्मत्व विरोध होगा, तो इसका समाधान इस प्रकार है (1) बौद्धों के अनुसार ज्ञानव्यवहारानुरोध से उक्त विरोधज्ञान में नहीं होता, ज्ञानातिरिक्त में होता है, अन्यथा अव्यवस्था उत्पन्न होगी, या ज्ञानव्यवहारानुपपत्ति होगी, जो मान्य नहीं है ।, (2) मीमांसक प्रभाकर-मिश्र के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है, अत: घटादि ज्ञान विषयत्वसम्बन्ध से घटादि का, आश्रयत्व-सम्बन्ध से आत्मा का, और असम्बन्ध से 'स्व' का भासक होता है । यद्यपि ज्ञान 'स्व' को स्वयं स्वविषय नहीं करता, फिर भी वह स्वप्रकाश होने के कारण स्वव्यवहारक्षम होता है । स्वप्रकाश स्वव्यवहारजनक होता है, प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं करता - ऐसा प्रभाकर स्वीकार करते हैं । अत: उनके मत में ज्ञान में स्वकर्तृकर्मत्व विरोध नहीं हो सकता, तथा (3) वेदान्त-मत में वृत्तिरूपज्ञान तो स्वप्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूपज्ञान मीमांसक प्रभाकर–मत के समान स्वप्रकाश है । अत: वेदान्त-मत में भी ज्ञान में उक्त विरोध की सम्भावना नहीं हो सकती । निष्कर्ष यह है कि वेदान्त-मत में आत्मा स्वप्रकाश है, ज्ञानस्वरूप है, अत: ज्ञान में स्वकर्तृकर्मत्व विरोध नहीं हो सकता । न्याय-मत में तो आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं हैं, - आत्मा ज्ञानवान् - ज्ञानधर्मी है, इसीलिए उनके अनुसार व्यवसायात्मक ज्ञान के प्रकाश के लिए अनुव्यवसायात्मक द्वितीय ज्ञान की अपेक्षा रहती है, अत: न्यायमत में ज्ञान के स्वप्रकाश न होने के कारण ही ज्ञान में स्वकर्तृकर्मत्व विरोध की सम्भावना की जाती है ।

तायाः क्लृप्तत्वात्तेनैव रूपेण घटज्ञानव्यवहारेऽपि हेतुतोपपत्तौ न घटज्ञानज्ञानत्वं हेतुतावच्छेदकं गौरवान्मानाभावाच्च । तथा च नानुव्यवसायसिद्धिरेकस्यैव व्यवसायस्य व्यवसायतरि व्यवसेये व्यवसाये च व्यवहारजनकत्वोपपत्तेरिति त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकराः ।

75 **औपनिषदास्तु मन्यन्ते स्वप्रकाशज्ञानरूप एवाऽऽत्मा न स्वप्रकाशज्ञानाश्रयः कर्तृकर्मविरोधेन तद्भानानुपपत्तेः । ज्ञानभिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वेन कल्पितत्वापत्तेश्च । स्वप्रकाशज्ञानमात्र-स्वरूपोऽप्यात्माऽविद्योपहितः सन्साक्षीत्युच्यते । वृत्तिमदन्तःकरणोपहितः प्रमातेत्युच्यते । तस्य चक्षुरादीनि करणानि । स चक्षुरादिद्वाराऽन्तःकरणपरिणामेन घटादीन्व्याप्य तदाकारो भवति । एकस्मिंश्चान्तःकरणपरिणामे घटावच्छिन्नचैतन्यमन्तःकरणवच्छिन्नचैतन्यं चैकलोलीभावापन्नं**

व्यवहार में तो घटज्ञानत्व से ही उसकी हेतुता सिद्ध हो जाती है, उसी प्रकार घटज्ञान के व्यवहार में भी उसकी हेतुता हो ही सकती है । ऐसी स्थिति में वस्तुत: घटज्ञान का ज्ञानत्व उसकी हेतुता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ गौरव-दोष है और प्रमाण का अभाव भी है । इसप्रकार अनुव्यवसाय की सिद्धि नहीं होती । एक ही व्यवसाय स्वव्यवसाता (आत्मा), व्यवसेय (घटादि विषय) और व्यवसाय (विषयज्ञान) - इन तीनों का व्यवहारजनक है - यह त्रिपुटीप्रत्यक्षवादी[156] प्रभाकर के अनुयायियों का मत है ।

75 औपनिषद = वेदान्ती तो मानते हैं कि स्वप्रकाशज्ञानरूप ही आत्मा है, वह स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रय नहीं है, क्योंकि कर्तृकर्मविरोध से स्वयं स्व का ग्रहण नहीं करता । फलत: आत्मा में ज्ञान का कर्तृत्व और ज्ञान का कर्मत्व - इसप्रकार के विरोधी धर्म रहने के कारण उसका भान ही नहीं हो सकेगा[157]। और यदि आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानते हैं, तो घटादि के समान जड़ होने के कारण वह कल्पित हो जायेगा । इस प्रकार यद्यपि आत्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप ही है, तथापि अविद्या से उपहित होने के कारण वह 'साक्षी' कहा जाता है तथा वृत्तियुक्त अन्त:करण से उपहित होने के कारण 'प्रमाता' कहलाता है । चक्षु आदि उसके करण हैं, वह चक्षु आदि के द्वारा अन्त:करण के परिणाम से घटादि को व्याप्त करके तदाकार हो जाता है, एक अन्तःकरण के परिणाम में घटावच्छिन्न चैतन्य और अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य - दोनों मिलकर एकलोलीभूत अर्थात् एकरूप हो जाते हैं । तब प्रमाता के साथ अभेद होने के कारण घटावच्छिन्न चैतन्य अपने अज्ञान का नाश करके अपरोक्ष हो जाता है और अपने अवच्छेदक घट को अपने तादात्म्याध्यास से भासित = प्रकाशित कर देता है । और अन्त:करण का जो वृत्ति-संज्ञक अत्यन्त स्वच्छ परिणाम होता है वह तो अपने से अविच्छिन्न चैतन्य द्वारा ही भासित होता है । इस प्रकार अन्तःकरण, उसकी वृत्ति और घट की अपरोक्षता है । 'अहं घटं जानामि' = 'मैं घट को जानता हूँ'-- इस ज्ञान में इन्हीं

156. 'त्रयाणां प्रमातृप्रमेयप्रमितीनां पुटानां समाहार: त्रिपुटी' - अर्थात् प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति - इन तीनों के समुदाय को 'त्रिपुटी' कहते हैं, इनका ज्ञापक ज्ञान होता है । अर्थात् प्रभाकर के मत में 'अयं घट:' - इस एक ही ज्ञान में घट (प्रमेय), घटज्ञान (प्रमिति), और आत्मा (प्रमाता) - इन तीनों का प्रत्यक्ष होता है ।

157. तात्पर्य यह है कि प्रभाकर ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं और आत्मा को स्वप्रकाशज्ञान का आश्रय, अत: उनके अनुसार वही ज्ञान स्वयं अपना भासक होता है अर्थात् भासन क्रिया का वही ज्ञान कर्त्ता भी होता है और कर्म भी होता है । यहाँ वेदान्ती कहते हैं कि प्रभाकर मत में स्वकर्तृकर्म-विरोध हैं, क्योंकि किसी भी क्रिया का कर्त्ता और कर्म एक पदार्थ में नहीं होता । अन्यथा आरोहण क्रिया का कर्त्ता सिंह यदि कर्म भी हो जाय, तो 'सिंहो गिरिमारोहति' के समान ' सिंह: स्वमारोहति' - इसप्रकार का भी प्रयोग होने लगेगा । अत: कर्तृकर्मभाव का विरोध होने के कारण प्रभाकरसम्मत आत्मा का भान नहीं हो सकता । इसलिए 'स्वप्रकाशज्ञानाश्रय' प्रभाकर-मत हेय है ।

भवति । ततो घटावच्छिन्नचैतन्यं प्रमात्रभेदात्स्वाज्ञानं नाशयदपरोक्षं भवति । घटं च स्वावच्छेदकं स्वतादात्म्याध्यासाद्भासयति । अन्तःकरणपरिणामश्च वृत्त्याख्योऽतिस्वच्छः स्वावच्छिन्नेनैव चैतन्येन भास्यत इत्यन्तःकरणतद्वृत्तिघटानामपरोक्षता । तदेतदाकारत्रयमहं जानामि घटमिति । भासकचैतन्यस्यैकरूपत्वेऽपि घटं प्रति वृत्त्यपेक्षत्वात्प्रमातृता, अन्तःकरणतद्वृत्तीः प्रति तु वृत्त्यनपेक्षत्वात्साक्षितेति विवेकः । अद्वैतसिद्धौ सिद्धान्तबिन्दौ च विस्तरः ।

76 यस्मादेवं प्रागुक्तन्यायेन नित्यो विभुरसंसारी सर्वदैकरूपश्चाऽऽत्मा तस्मात्तन्नाशशङ्कया स्वधर्मे युद्धे प्राक्प्रवृत्तस्य तव तस्मादुपरतिर्न युक्तेति युद्धाभ्यनुज्ञया भगवानाह-- तस्माद्युध्यस्व भारतेति । अर्जुनस्य स्वधर्मे युद्धे प्रवृत्तस्य तत उपरतिकारणं शोकमोहौ । तौ च विचारजनितेन विज्ञानेन बाधितावित्यपवादापवाद उत्सर्गस्य स्थितिरिति न्यायेन युध्यस्वेत्यनुवादो न विधिः । यथा

तीनों आकारों का समावेश होता है । भासक चैतन्य के एकरूप होने पर भी घट के प्रति वृत्तिसापेक्ष होने से वह 'प्रमाता' कहलाता है तथा अन्त:करण और उसकी वृत्ति के प्रति वृत्त्यनपेक्ष होने से वह 'साक्षी' है - यह दोनों में भेद है । यह सब अद्वैतसिद्धि और सिद्धान्तबिन्दु में विस्तार से कहा गया है ।

76 क्योंकि इसप्रकार पूर्वोक्त न्याय से आत्मा नित्य, विभु, असंसारी और सर्वदा एकरूप ही है, इसलिए उसके नाश की शङ्का से स्वधर्म युद्ध में पहले से प्रवृत्त हुए तुमको उससे विमुख होना उचित नहीं है, - इस प्रकार युद्ध की अनुमतिप्रदान द्वारा भगवान् कहते हैं -'तस्माद् युध्यस्व भारत' = 'इसलिए हे भारत ! तुम युद्ध करो' । स्वधर्म युद्ध में प्रवृत्त हुए अर्जुन की उससे उपरति = निवृत्ति के कारण शोक और मोह थे । वे दोनों विचारजनित विज्ञान से बाधित हो गए । इसलिए 'अपवाद का अपवाद होने पर उत्सर्ग ही स्थित रहता है' - इस न्याय[158] से 'युध्यस्व' = 'युद्ध करों' - यह अर्जुन की पूर्वप्रवृत्ति का अनुवाद ही है, विधि नहीं[159] । जैसे - 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पाणिनि सूत्र 2.3.65) (कृत्-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ कर्त्ता और कर्म में षष्ठी होती है)- यह उत्सर्ग है । इसमें 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (पाणिनि सूत्र, 2.3.66) (जहाँ पर कृदन्त शब्द के साथ कर्त्ता और कर्म

158. 'उत्सर्ग' का अर्थ है - 'सामान्यविधि' या 'साधारण नियम' । 'अपवाद' का अर्थ है - 'विशेष विधि ' या 'विशेष नियम' । इस प्रकार इस न्याय का अर्थ हुआ कि जब अपवाद का अपवाद हो अर्थात् विशेष विधि या नियम के ऊपर यदि विशेष विधि या नियम प्रयुक्त हो तो 'उत्सर्ग' की स्थिति होती है अर्थात् जो सामान्य विधि या साधारण नियम है, वही रह जाता है । जैसे- किसी बुभुक्षित व्यक्ति की भोजन के लिए सहज ही जो प्रवृत्ति होती है वह 'उत्सर्ग' है । किन्तु उसे यदि खाद्य के सम्बन्ध में यह संकेत प्राप्त हो जाय कि खाद्यान्न विषमिश्रित है या दूषित है तब उसकी भोजन से जो उपरति या निवृत्ति होगी - वह उत्सर्ग का 'अपवाद' हुआ । किन्तु पुन: विशेष परीक्षण के पश्चात् उसे यह निश्चय हो जाय कि पूर्वसंकेत भ्रम ही था तो यह उस अपवाद का अपवाद हुआ । ऐसा निश्चय होने पर उस बुभुक्षित की भोजन के लिए जो पूर्वप्रवृत्ति थी पुन: उसकी भोजन के लिए वैसे ही प्रवृत्ति हो जायेगी - यह पुन: उत्सर्ग की स्थिति हुई । इसी प्रकार यहाँ अर्जुन की स्वधर्मयुद्ध में प्रवृत्ति उत्सर्ग थी । किन्तु युद्धभूमि में स्वजनों को सम्मुख देख उसे जो शोक और मोह हुए उससे उसकी जो युद्धोपरति हुई - वह उत्सर्ग का अपवाद हुआ । किन्तु पुन: भगवान् ने आत्मोपदेश से अर्जुन के शोक और मोह को बाधित जो किया - वह पूर्व अपवाद का अपवाद हो गया । फलत: अर्जुन की पुन: स्वधर्मयुद्ध में प्रवृत्ति हो गई - वह पुन: उत्सर्ग की स्थिति हो गई । यही प्रकृत न्याय का तात्पर्य है ।

159. यहाँ 'अनुवाद' से तात्पर्य है - 'पुनरुक्ति' और विधि का अर्थ है - 'नियुक्ति' । प्रकृत प्रसङ्ग में 'युध्यस्व' पद से क्षत्रिय का जो स्वधर्म है युद्ध करना, उसी का अनुवाद = पुनरुक्ति कर भगवान् कह रहे हैं - 'हेअर्जुन!

'कर्तृकर्मणोः कृति'(पा० सू०) इत्युत्सर्गः । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू०) इत्यपवादः । 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' इति तदपवादः । तथाच मुमुक्षोर्ब्रह्मणो जिज्ञासेत्यत्रापवादापवादे पुनरुत्सर्गस्थितेः कर्तृकर्मणोः कृतीत्यनेनैव षष्ठी । तथा च कर्मणि चेति निषेधाप्रसराद् ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठीसमासः सिद्धो भवति । कश्चित्त्वेतस्मादेव विधेर्मोक्षे

दोनों होते हैं, वहाँ पर कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्त्ता में नहीं) - यह अपवाद है । इसका 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' (वार्तिक 1513) (अक और अ कृत्प्रत्ययान्त शब्द यदि स्त्रीलिङ्ग होंगे, तो उनके साथ 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' – यह नियम नहीं लगेगा) - यह अपवाद का अपवाद है । इसी से 'मुमुक्षोः ब्रह्मणो जिज्ञासा' (मुमुक्षु की ब्रह्म को जानने की इच्छा) इसमें अपवाद का अपवाद होने पर पुनः उत्सर्ग की स्थिति रहने से 'कर्तृकर्मणोः कृति' - इस प्रकार नियम से ही षष्ठी हुई है [160]। इसी प्रकार 'कर्मणि च' (पाणिनिसूत्र, 2.2.14) (जहाँ पर कृदन्त शब्द के साथ कर्ता और कर्म दोनों होते हैं और कर्म में षष्ठी होती है, उस षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता) - इस सूत्र से समास के निषेध का अवसर न होने के कारण 'ब्रह्मजिज्ञासा' - यह कर्मषष्ठीसमास सिद्ध होता है । कोई विद्वान्[161] तो 'युध्यस्व भारत' - इस विधि से मोक्ष में ज्ञान और कर्म का समुच्चय है' - ऐसा प्रलाप[162] करते हैं । यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'युध्यस्व' - इस

तुम युद्ध करो' । भगवान् अर्जुन को युद्ध करने में नियुक्त नहीं कर रहे है, अतः यहाँ 'विधि' नही है । जैसे कोई व्यक्ति यदि चल रहा है और उसे कहा जाय 'चलो' तब इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसे चलनरूप क्रिया में नियुक्त किया जा रहा है क्योंकि उसे उसकी चलन क्रिया की केवल अनुमति दी जा रही है । उसी प्रकार युद्ध में प्रवृत्त अर्जुन को 'युद्ध करो' कहकर भगवान् केवल उसे युद्ध करने की अनुमति दे रहे हैं ।

160. मधुसूदन सरस्वती ने पूर्वोद्धृत न्याय का व्याकरण के सूत्रों द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए उदाहरण दिया है - 'मुमुक्षोः ब्रह्मणो जिज्ञासा' । इस प्रयोग में 'मुमुक्षु' शब्द 'मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः' = 'मुच्' धातु से 'सन्' प्रत्यय करने के बाद 'सनाशंस०' इत्यादि से 'उ' प्रत्यय करने पर निष्पन्न है और 'जिज्ञासा' पद 'ज्ञा' धातु से भाव में 'सन्' प्रत्यय करने के बाद 'अ' प्रत्यय करने पर निष्पन्न है । यहाँ मुमुक्षु कर्त्ता और ब्रह्म कर्म है । दोनों पदों में 'कर्तृकर्मणोः कृति' - इस 'उत्सर्ग' सूत्र से षष्ठी प्राप्त होती है । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' - इस अपवादक सूत्र से केवल 'ब्रह्म' पद में षष्ठी प्राप्त होती है । 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्', 'शेषे विभाषा', 'स्त्रीप्रत्यय इत्येके' - इस वार्तिक के आधार पर उक्त अपवाद का अपवाद हो जाता है और 'कर्तृकर्मणोः कृति' - यह उत्सर्ग सूत्र प्रवृत्त होकर मुमुक्षु और ब्रह्म - दोनों में षष्ठी कर देता है - 'मुमुक्षोः ब्रह्मणो जिज्ञासा' । और ' कर्मणि च' सूत्र से समास के निषेध का अवसर न होने के कारण 'ब्रह्मजिज्ञासा' - यह कर्मषष्ठीसमास सिद्ध होता है ।

161. रामानुजाचार्य 'युध्यस्व' पद को विधिपरक कहते हैं, तदनुसार उस युद्ध का फल मोक्ष स्वीकार करते हैं - 'अमृतत्वप्राप्तये अनभिसंहितफलं युद्धाख्यं कर्माऽऽरभस्व' (गीता भाष्य) अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए फलाभिसंधिरहित युद्ध नामक कर्म को प्रारम्भ करो ।

रामानुजभाष्य की व्याख्या करते हुए वेदान्तदेशिक ने कहा है - 'युद्धस्यानिप्सित - राज्यादिक्षुद्रभोगान्तरप्रधानकत्वव्युदासाय प्रकरणारम्भोक्तमेव फलमुचितमिति 'अमृतत्वप्राप्तये' इत्युक्तम् । धात्वर्थस्य पराभिमतं करणतयार्थमपाकुर्वन् युध्यस्वे' त्यत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थौ विविच्याह युद्धाख्यं कर्मारभस्वे' ति ।' मधुसूदन सरस्वती उक्त मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि प्रथम तो 'युध्यस्व' पद विधिपरक है ही नहीं, अनुवाद मात्र है । यदि विधिपरक मान भी लें तो वह मोक्षपरक नहीं हो सकता, क्योंकि युद्ध के प्रसङ्ग में विधि का फल विजय होगी, मोक्ष नहीं । मोक्ष ज्ञान से होता है, वहाँ कर्म विधि का उपयोग नहीं हो सकता । जब एक कर्म में दूसरा कर्म उपयुक्त नहीं हो सकता तब कर्म के विरोधी ज्ञान-प्रकरण में तो कर्मविधि का उपयोग हो ही नहीं सकता अतः मोक्ष में ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता । इसीलिए शंकराचार्य ने अपने गीता-भाष्य में कहा है - 'तस्माद् गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शयितुं शक्यः' ।

162. 'प्रलापोऽनर्थकं वचः'- अर्थात् अर्थशून्य वाक्य 'प्रलाप' कहलाता है ।

ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति प्रलपति । तन्न, युध्यस्वेत्यतो मोक्षस्य ज्ञानकर्मसमुच्चय-साध्यत्वाप्रतीतेः । विस्तरेण चैतदग्रे भगवद्गीतावचनविरोधेनैव निराकरिष्यामः ॥ 18 ॥

77 **नन्वेवमशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना भीष्मादिबन्धुविच्छेदनिबन्धने शोकेऽपनीतेऽपि तद्वधकर्तृत्वनिबन्धनस्य पापस्य नास्ति प्रतीकारः । नहि यत्र शोको नास्ति तत्र पापं नास्तीति नियमः, द्वेष्यब्राह्मणवधे शोकाविषये पापाभावप्रसङ्गात् । अतोऽहं कर्ता त्वं प्रेरक इति द्वयोरपि हिंसानिमित्तपातकापत्तेरयुक्तमिदं वचनं तस्माद्युध्यस्व भारतेत्याशङ्क्य काठकपठितयर्चा परिहरति भगवान्--**

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ 19 ॥

78 **एनं प्रकृतं देहिनमदृश्यत्वादिगुणकं यो हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं वेत्ति अहमस्य हन्तेति विजानाति । यश्चान्य एनं मन्यते हतं हननक्रियायाः कर्मभूतं देहहननेन हतोऽहमिति विजानाति । तावुभौ देहाभिमानित्वादेनमविकारिणमकारकस्वभावमात्मानं न विजानीतो न विवेकेन जानीतः शास्त्रात् । कस्मात्, यस्मान्नायं हन्ति न हन्यते कर्ता कर्म च न भवतीत्यर्थः ।**

79 **अत्र य एनं वेत्ति हन्तारं हतं चेत्येतावति वक्तव्ये पदानामावृत्तिर्वाक्यालंकारार्था । अथवा य एनं**

कथन से 'मोक्ष ज्ञान और कर्म के समुच्चय से साध्य है' - ऐसा प्रतीत नहीं हो सकता । आगे भगवद्-गीता के वचनों के विरोध से ही हम इसका विस्तार के साथ निराकरण करेंगे ।। 18।।

77 इस प्रकार 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि श्लोक से भीष्मपितामह आदि बन्धुजनों के वियोग से जनित शोक की निवृत्ति हो जाने पर भी उनका वध करने से जो पापोत्पत्ति होगी उसका तो प्रतीकार नहीं है । यह तो कोई नियम है नहीं कि जहाँ शोक नहीं होता वहाँ पाप भी नहीं होता । अन्यथा, द्वेष्य ब्राह्मण का वध करने से शोक का विषय न होने पर पाप के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । जबकि द्वेष्य ब्राह्मण का वध करने पर शोक नहीं होता किन्तु ब्राह्मणवधजन्य पाप होता ही है । अत: मैं इस पाप का कर्त्ता होऊँगा और आप प्रेरक, इस कारण हम दोनों को पाप लगेगा ही । इस हिंसाजनित पाप की प्राप्ति होने के कारण 'तस्मात् युध्यस्व भारत' - यह आपका वचन उचित नहीं है' - ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् काठकोपनिषद् में पठित ऋचा से इसका परिहार करते हैं :-

[जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसको दूसरे के द्वारा मारा जाने वाला मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह तो न मारता है, न मरता है ।।19।।]

78 अदृश्यत्वादि गुणों से युक्त इस प्रकृत देही (आत्मा) को जो हन्ता अर्थात् हनन क्रिया का कर्त्ता समझता है अर्थात् 'मैं इसका हन्ता हूँ' - ऐसा जानता है । और जो अन्य इसको हत अर्थात् हनन क्रिया का कर्मभूत मानता है अर्थात् देह के हनन से 'मैं मारा गया हूँ' - ऐसा जानता है । वे दोनों ही देहाभिमानी होने से इस अविकारी, अकारक स्वभाव आत्मा को नहीं जानते अर्थात् शास्त्रानुसार विवेक से = अनात्मा से पृथक् करके नहीं जानते । क्यों ? क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा ही जाता है अर्थात् यह आत्मा न हनन का कर्त्ता है और न उसका कर्म ही है ।

79 यहाँ 'य एनं वोत्ति हन्तारं हतं च' = 'जो इस आत्मा को मारने वाला और मारा जाने वाला समझता

वेत्ति हन्तारं तार्किकादिरात्मनः कर्तृत्वाभ्युपगमात् । तथा यश्चैनं मन्यते हतं चार्वाकादिरात्मनो विनाशित्वाभ्युपगमात् । तावुभौ न विजानीत इति योज्यम् । वादिभेदख्यापनाय पृथगुपन्यासः । अतिशूरातिकातरविषयतया वा पृथगुपदेशः । 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' (कठ० 2.19) इति पूर्वार्धे श्रौतः पाठ : ॥ 19 ॥

80 कस्मादयमात्मा हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवति ? अविक्रियत्वादित्याह द्वितीयेन मन्त्रेण--

न जायते म्रियते वा कदाचि--
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥20 ॥

81 'जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावविकारा इति वार्ष्यायणिः' इति नैरुक्ताः । तत्राऽऽद्यन्तयोर्निषेधः क्रियते-- न जायते म्रियते वेति । वाशब्दः समुच्चयार्थः । न जायते न म्रियते चेत्यर्थः । कस्मादयमात्मा नोत्पद्यते ? यस्मादयमात्मा कदाचित्कस्मिन्नपि काले न भूत्वाऽभूत्वा प्राग्भूयः पुनरपि भविता न । यो ह्यभूत्वा भवति स उत्पत्तिलक्षणां विक्रियामनुभवति । अयं तु प्रागपि सत्त्वाद्यतो नोत्पद्यतेऽतोऽजः । तथाऽयमात्मा भूत्वा प्राक्

समझता है' - इतना ही कहना चाहिए था, फिर भी जो 'यः' 'एनम्' इत्यादि पदों की आवृत्ति की है वह वाक्यालङ्कार के लिए है । अथवा 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इत्यादि से तार्किक मत का निरास है, क्योंकि नैयायिक आत्मा का कर्तृत्व स्वीकार करते हैं । तथा 'यश्चैनं मन्यते हतम्' - यह चार्वाकादि का मत है, क्योंकि वे आत्मा को विनाशी मानते हैं । वे दोनों अर्थात् चार्वाक और तार्किक उसे नहीं जानते - इस प्रकार योजना करनी चाहिए । वादियों का भेद प्रकट करने के लिए ही यह पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है । अथवा 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' और 'यश्चैनं मन्यते हतम्' - ये दोनों बातें क्रमशः अतिशूर और अतिकायर की विषय हैं, अतः पृथक्-पृथक् उपदेश किया है । अथवा प्रकृत श्लोक के पूर्वार्ध में जो पाठ है उसके स्थान पर 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' (कठ० 2.19) - यह काठकश्रुति में पाठ मिलता है ।।19।।

80 'यह आत्मा हनन क्रिया का कर्ता और कर्म क्यों नहीं होता ? क्योंकि यह अविकारी है' - यही उत्तर भगवान् श्रुति के द्वितीय मन्त्र से देते हैं -
[यह आत्मा कभी जन्म नहीं लेता और न कभी मरता ही है । यह पहले कभी न होकर फिर होगा - ऐसा भी नहीं है । यह तो अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है । शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता ।।20।।]

81 'जायते (जन्म लेता है), अस्ति (होता है), वर्धते (बढ़ता है), विपरिणमते (बदलता है), अपक्षीयते (घटता है), और विनश्यति (नष्ट होता है) - ये छः भावविकार है, यह वार्ष्यायणि का मत है', - यह निरुक्तकार ने कहा है । इनमें से 'न जायते म्रियते वा' - इत्यादि से आदि (जायते) और अन्त (विनश्यति) के विकारों का निषेध करते हैं । यहाँ 'वा' शब्द समुच्चयार्थ है, अर्थात् यह आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता ही है । यह आत्मा उत्पन्न क्यों नहीं होता ? क्योंकि यह आत्मा कदाचित् अर्थात् किसी काल में भी न होकर अर्थात् पूर्वकाल में न होकर भूयः = पुनरपि

कदाचिद् भूयः पुनर्न भविता । नवाशब्दाद्वाक्यविपरिवृत्तिः । यो हि प्राग्भूत्वोत्तरकाले न भवति स मृतिलक्षणां विक्रियामनुभवति । अयं तूत्तरकालेऽपि सत्त्वाद्यतो न म्रियतेऽतो नित्यो विनाशायोग्य इत्यर्थः । अत्र न भूत्वेत्यत्र समासाभावेऽपि नानुपपत्तिर्नानुयाजेष्विितिवत्, भगवता पाणिनिना महाविभाषाधिकारे नञ्समासपाठात् । यत्तु कात्यायनेनोक्तं समासनित्यताभिप्रायेण 'वावचनानर्थक्यं तु स्वभावसिद्धत्वात्' इति, तद्भगवत्पाणिनिवचनविरोधादनादेयम् । तदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना-- 'असद्वादी हि कात्यायनः' इति ।

= फिर होगा - ऐसा भी नहीं है । जो पहले कभी न होकर होता है वही उत्पत्तिरूप विकार का अनुभव करता है । यह तो पहले भी विद्यमान रहने के कारण क्योंकि उत्पन्न नहीं होता, इसलिए अज है । तथा यह आत्मा पहले होकर कदाचित् फिर नहीं रहेगा - ऐसा भी नहीं है-- इसप्रकार 'न' और 'वा' शब्द से वाक्यपरिवर्तन हो जाता है । जो पूर्वकाल में होकर उत्तर काल में नहीं होता वही मरणलक्षण विकार का अनुभव करता है । यह तो उत्तरकाल में भी रहने के कारण क्योंकि मरता नहीं है, इसलिए नित्य अर्थात् विनाश के अयोग्य है । यहाँ 'न भूत्वा' इनमें समास न होने पर भी 'नानुयाजेषु' इत्यादि प्रयोग के समान कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि भगवान् पाणिनि ने महाविभाषाधिकार में 'नञ्' (पाणिनि सूत्र, 2.2.6) समास का पाठ किया है[163] । कात्यायन ने जो समास की नित्यता के अभिप्राय से 'वावचनानर्थक्यं तु स्वभावसिद्धत्वात्' = 'समास की नित्यता स्वभावसिद्ध होने के कारण 'नञ्' समास के विषय में पाणिनि का 'वा' - इस उक्ति से विकल्प करना व्यर्थ है' - ऐसा जो कहा है वह भगवान् पाणिनि के वचन से विरोध होने के कारण ग्रहण करने के योग्य नहीं है । इस विषय में आचार्य शबर स्वामी ने भी कहा है कि 'कात्यायन तो असद्वादी है'[164] ।

163. यहाँ प्रश्न यह है कि इस श्लोक के 'नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' - वाक्य में प्रथम नकार का अन्वय 'भूत्वा' के साथ किया जाय या 'भविता' के साथ किया जाय ? यदि 'भविता' के साथ अन्वय करते हैं, तो एक वाक्य के दो वाक्य हो जायेंगे - (i) 'भूत्वा न भविता', और (ii) 'भूयो न भविता' । किन्तु यहाँ स्वारस्येण वाक्य एक ही होना चाहिए, वह तो तब ही होगा जबकि 'न' का 'भूत्वा' के साथ समास करके पर्युदास - वृत्ति का आश्रय लिया जाय । यहीं मधुसूदन सरस्वती का कहना यह है कि 'न' का 'भूत्वा' के साथ समास न होने पर भी वाक्य-भेद की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'न' का 'भूत्वा' के साथ अन्वय बिना समास किए वैसे ही हो सकता है, जैसे कि 'नानुयाजेषु' इत्यादि प्रयोग में होता है । 'नानुयाजेषु' इत्यादि का विधायक वाक्य है - 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' अर्थात् 'यज्' धातु - गर्भित विधिवाक्यों से विहित कर्मों में 'ये यजामहे' का उच्चारण करना चाहिए, अनुयाज - कर्मों में नहीं । यहाँ यदि 'न' का अन्वय 'करोति' (तिङन्त) के साथ किया जाता है, तो विकल्प की आपत्ति होती है, एक श्रुति से विहित अर्थ का श्रुत्यन्तर से निषेध हो जाने पर 'विकल्प' माना जाता है और विकल्प के आठ दोष होते हैं । अत: 'न' का 'अनुयाजेषु' के साथ अन्वय करके बिना समास किए पर्युदास-वृत्ति का आश्रय लिया जाता है, और 'नानुयाज' का 'अनुयाज-भिन्न' अर्थ =अनुयाजभिन्नेषु यजतिषु ये यजामहं करोति' = करके विकल्प की आपत्ति से बचा जाता है । इसी प्रकार 'न' का 'भूत्वा' के साथ अन्वय करके बिना समास किए ही 'न भूत्वा = अभूत्वा भूयो न भविता' - इस प्रकार प्रयोग करके वाक्यभेद से बचा जा सकता है, क्योंकि पाणिनि ने 'नञ्' सूत्र का महाविभाषाधिकार में पाठ करके 'नञ्' के साथ समास की विकल्पता ही कही हैं, नित्यता नहीं ।

164. आचार्य शबरस्वामी का कहना है कि कात्यायन ने यह जो कहा है कि 'जैसे घटादि शब्दों की अपने कम्बुग्रीवादियुक्त अर्थ में साधुता स्वभावसिद्ध है, वहाँ किसी विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही अभूत्वा आदि शब्दों की भी अपने अभवन आदि अर्थ में साधुता स्वभावसिद्ध है, वहाँ 'नञ्' समास के विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती, अर्थात् 'नञ्' समास नित्य है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि यह वचन आचार्य पाणिनि के वचनों के विरुद्ध है । और फिर असमस्तपर्युदासार्थक 'नञ्' का प्रयोग लोक और वेद में अनेक स्थान पर देखा जाता है, इसलिए भी कात्यायनवचन अनुपादेय है - ग्राह्य नहीं है ।

82 **अत्र न जायते म्रियते वेति प्रतिज्ञा। कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय इति तदुपपादनम्। अजो नित्य इति तदुपसंहार इति विभागः। आद्यन्तयोर्विकारयोर्निषेधेन मध्यवर्तिविकाराणां तद्व्याप्यानां निषेधे जातेऽपि गमनादिविकाराणामनुक्तानामप्युपलक्षणायापक्षयश्च वृद्धिश्च स्वशब्देनैव निराक्रियेते। तत्र कूटस्थनित्यत्वादात्मनो निर्गुणत्वाच्च न स्वरूपतो गुणतो वाऽपक्षयः संभवतीत्युक्तं– शाश्वत इति। शाश्वत्सर्वदा भवति नापक्षीयते नापचीयत इत्यर्थः। यदि नापक्षीयते तर्हि वर्धतामिति नेत्याह– पुराण इति। पुराऽपि नव एकरूपो न त्वधुना नूतनां काञ्चिदवस्थामनुभवति। यो हि नूतनां काञ्चिदुपचयावस्थामनुभवति स वर्धत इत्युच्यते लोके। अयं तु सर्वदैकरूपत्वान्नापचीयते नोपचीयते चेत्यर्थः। अस्तित्वविपरिणामौ तु जन्मविनाशान्तर्भूतत्वात्पृथङ्न निषिद्धौ। यस्मादेवं सर्वविकारशून्य आत्मा तस्माच्छरीरे हन्यमाने तत्संबद्धोऽपि केनाप्युपायेन न हन्यते न हन्तुं शक्यत इत्युपसंहारः॥ 20॥**

82 यहाँ 'न जायते म्रियते वा' - यह प्रतिज्ञा है, 'कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' - यह प्रतिज्ञात अर्थ का उपपादन = युक्ति = हेतु है, तथा 'अजो नित्यः' - यह उसका उपसंहार है इस प्रकार वाक्य-विभाग है। यद्यपि षड्भावविकारों में से आदि (जायते) और अन्त (विनश्यति) के विकारों के निषेध से उनसे व्याप्य बीच के विकारों (अस्ति, वर्धते, विपरिणमते और अपक्षीयते) का भी निषेध हो जाता है, फिर भी अनुक्त गमनादि विकारों के उपलक्षणार्थ अपक्षय और वृद्धि का अपने शब्दों से ही निराकरण करते हैं। आत्मा कूटस्थ नित्य और निर्गुण है, अत: उसका स्वरूप से या गुण से अपक्षय नहीं हो सकता,[165] यह 'शाश्वतः' शब्द से कहा गया है। शाश्वत अर्थात् जो सदा रहता है अर्थात् उसका अपक्षय = अपचय नहीं होता है। यदि अपक्षय नहीं होता, तो बढ़ता ही होगा, इसलिए कहते हैं - नहीं, यह 'पुराण'[166] है। पहले भी यह नव अर्थात् एकरूप ही था और अब भी यह किसी नूतन अवस्था का अनुभव नहीं करता। जो किसी नूतन अर्थात् उपचय अवस्था का अनुभव करता है वह बढ़ता है, ऐसा लोक में कहा जाता है। यह तो सदा एकरूप है, अत: यह न बढ़ता है और न घटता है, - यह अर्थ है। अस्तित्व और विपरिणाम तो जन्म और विनाश के ही अन्तर्गत आते हैं, अत: उनका पृथक् निषेध नहीं किया है। इस प्रकार, क्योंकि आत्मा सर्वविकारशून्य है, इसलिए शरीर के मारे जाने पर भी उससे सम्बद्ध यह आत्मा किसी भी उपाय से मारा नहीं जाता = मारा नहीं जा सकता - यह उपसंहार है ॥20॥

165. अपक्षय दो प्रकार का होता है - स्वरूप का अपक्षय और गुण का अपक्षय। जैसे देह सावयव है, अत: अनित्य है, फलत: अनित्य होने से उसके स्वरूप का अपक्षय होता है। इसी प्रकार देह सगुण है, अत:: उसका अनित्य होने के कारण गुणों की दृष्टि से अपक्षय भी होता है। किन्तु देही (आत्मा) निरवयव है, अत: कूटस्थ नित्य है, फलत: उस देही के स्वरूप का अपक्षय सम्भव नहीं है। इसी प्रकार देही निर्गुण है, अत: गुणों का अपक्षय होने के कारण उसका गुणों की दृष्टि से भी अपक्षय सम्भव नहीं है।

166. 'पुराण' का अर्थ है - 'पुरा अपि अधुना च सर्वदा नवत्वात् पुराणः' अर्थात् पहले भी और अब भी अर्थात् सर्वदा जो नवीन है वह 'पुराण' है। आत्मा निरवयव होने के कारण पहले भी जिस प्रकार नया था अब भी उसी प्रकार नया है, अत: उसे 'पुराण' कहा है। साधारणतया पुराने अवयव के साथ कुछ युक्त होने से उस अवयव की वृद्धि होती है और उसे 'नवीन' कहा जाता है, किन्तु आत्मा निरवयव होने के कारण पहले भी जिसप्रकार नया था अब भी वैसा ही नया है अर्थात् आत्मा सर्वदा एकरूप होने के कारण उसमें कोई वृद्धि नहीं होती है। 'पुराण' शब्द से अपक्षय के विपरीत वृद्धिरूप विक्रिया का प्रतिषेध किया गया है।

83 नायं हन्ति न हन्यत इति प्रतिज्ञाय न हन्यत इत्युपपादितमिदानीं न हन्तीत्युपपादयन्नुपसंहरति–

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ 21 ॥

84 न विनष्टुं शीलं यस्य तमविनाशिनमन्त्यविकाररहितम् । तत्र हेतुः-- अव्ययं न विद्यते व्ययोऽवयवापचयो गुणापचयो वा यस्य तमव्ययमवयवापचयेन गुणापचयेन वा विनाशदर्शनात्तदुभयरहितस्य न विनाशः संभवतीत्यर्थः ।

85 ननु जन्यत्वेन विनाशित्वमनुमास्यामहे नेत्याह-- अजमिति । न जायत इत्यजमाद्यविकाररहितम् । तत्र हेतुः-- नित्यं सर्वदा विद्यमानं, प्रागविद्यमानस्य हि जन्म दृष्टं न तु सर्वदा सत इत्यभिप्रायः ।

86 अथवाऽविनाशिनमबाध्यं सत्यमिति यावत् । नित्यं सर्वव्यापकम् । तत्र हेतुः-- अजमव्ययं जन्मविनाशशून्यं जायमानस्य विनश्यतश्च सर्वव्यापकत्वसत्यत्वयोरयोगात् ।

87 एवं सर्वविक्रियाशून्यं प्रकृतमेनं देहिनं स्वमात्मानं यो वेद विजानाति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां साक्षात्करोति अहं सर्वविक्रियाशून्यः सर्वभासकः सर्वद्वैतरहितः परमानन्दबोधरूप इति स एवं विद्वान्पुरुषः पूर्णरूपः कं हन्ति कथं हन्ति । किंशब्द आक्षेपे । न कमपि हन्ति न कथमपि

83 'यह आत्मा न मारता है, न मारा जाता है' - ऐसी प्रतिज्ञा करके 'यह मारा नहीं जाता' - इसका उपपादन तो हो गया, अब 'यह मारता नहीं है' - इसका उपपादन करते हुए उपसंहार करते हैं :-
[हे पार्थ ! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय समझता है, वह कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ॥21॥]

84 जिसका नष्ट होने का स्वभाव नहीं है वह अविनाशी अर्थात् अन्त्यविकाररहित = नाशरूप अन्तिम विकार से रहित है, उसको = उस आत्मा को । इसमें हेतु है - 'अव्ययंम्' । जिसका व्यय अर्थात् जिसके अवयवों का अपचय = ह्रास या जिसके गुणों का अपचय = ह्रास नहीं होता है वह अव्यय है, उसको = उस आत्मा को । तात्पर्य यह है कि अवयवों के अपचय = क्षय से या गुणों के अपचय = क्षय से ही विनाश देखा जाता है, यह आत्मा इन दोनों क्षयों से रहित है, अतः इसका विनाश सम्भव नहीं है ।

85 यदि हम जन्यत्व लिङ्ग से आत्मा में विनाशित्व का अनुमान करेंगे = 'आत्मा विनाशी, जन्यत्वात्, घटादिवत्', तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि वह आत्मा 'अज' है - ऐसा भगवान् कहते हैं । वह आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता, इसलिए अज है अर्थात् जन्मरूप आद्य विकार से रहित है । इसमें हेतु है - वह नित्य है अर्थात् सर्वदा विद्यमान है । अभिप्राय यह है कि जो वस्तु पूर्व में विद्यमान नहीं रहती उसका ही जन्म होता देखा जाता है, जो सर्वदा रहती है उसका नहीं ।

86 अथवा, अविनाशी का अर्थ है - अबाध्य अर्थात् सत्य । नित्य का अर्थ है - सर्वव्यापक । इसमें हेतु है 'अजमव्ययम्' अर्थात् जन्म और विनाश से शून्य होना, क्योंकि जायमान और विनश्वर पदार्थों में सर्वव्यापकत्व और सत्यत्व सम्भव नहीं होता ।

87 इस प्रकार सम्पूर्ण विकारों से शून्य इस प्रकृत देही अर्थात् अपने आत्मा को जो जानता है अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश से 'मैं सम्पूर्ण विकारों से शून्य, सभी का भासक, और सभी प्रकार के द्वैत से रहित परमानन्द बोधरूप हूँ' - ऐसा साक्षात्कार करता है वही ऐसा विद्वान् पुरुष पूर्णरूप है । वह किसको मारता है और कैसे मारता है । यहाँ 'किम्' शब्द आक्षेपार्थ है । अर्थ

हन्तीत्यर्थः। तथा कं घातयति कथं घातयति कमपि न घातयति कथमपि न घातयतीत्यर्थः। नहि सर्वविकारशून्यस्याकर्तुर्हननक्रियायां कर्तृत्वं संभवति। तथा च श्रुतिः--

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' ॥ (बृह० 4.4.12)

इति शुद्धमात्मानं विदुषस्तदज्ञाननिबन्धनाध्यासनिवृत्तौ तन्मूलरागद्वेषाद्यभावात्कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभावं दर्शयति।

88 **अयमत्राभिप्रायो भगवतः-- वस्तुगत्या कोऽपि न करोति न कारयति च किंचित्सर्वविक्रियाशून्यस्वभावत्वात्परं तु स्वप्न इवाविद्यया कर्तृत्वादिकमात्मन्यभिमन्यते मूढः। तदुक्तम्-- 'उभौ तौ न विजानीतः' इति। श्रुतिश्च 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृह० 4.3.7) इत्यादिः। अत एव सर्वाणि शास्त्राण्यविद्वदधिकारिकाणि। विद्वांस्तु समूलाध्यासबाधान्नाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिकमभिमन्यते स्थाणुस्वरूपं विद्वानिव चोरत्वम्। अतो विक्रियारहितत्वादद्वितीयत्वाच्च विद्वान्न करोति कारयति चेत्युच्यते। तथा च श्रुतिः --'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै० 2.9.1) इति। अर्जुनो हि स्वस्मिन्कर्तृत्वं भगवति च कारयितृत्वमध्यस्य हिंसानिमित्तं दोषमुभयत्राप्याशशङ्के। भगवानपि विदिताभिप्रायो हन्ति घातयतीति तदुभयमाचिक्षेप। आत्मनि कर्तृत्वं मयि च कारयितृत्वमारोप्य प्रत्यवायशङ्कां मा कार्षीरित्यभिप्रायः।**

है कि वह किसी को नहीं मारता और किसी प्रकार भी नहीं मारता। तथा वह किसको मरवाता है और कैसे मरवाता है अर्थात् वह किसी को नहीं मरवाता और किसी प्रकार भी नहीं मरवाता। क्योंकि सम्पूर्ण विकारों से शून्य अकर्त्ता आत्मा का हनन क्रिया में कर्तृत्व सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'यदि पुरुष आत्मा को 'यह मैं हूँ' - ऐसा जाना जाय, तो क्या इच्छा करते हुए किस काम (सुख) के लिए शरीर के पीछे सन्तप्त हो' (बृह० 4.4.12) - इत्यादि श्रुति भी शुद्ध आत्मतत्त्व विद्वान् के, उसके अज्ञानजनित अध्यास की निवृत्ति हो जाने पर तन्मूलक राग - द्वेषादि का अभाव हो जाने के कारण, कर्तृत्व - भोक्तृत्वादि का अभाव दिखाती है।

88 यहाँ भगवान् का यह अभिप्राय है - वस्तुत: कोई भी नहीं करता है और न कुछ कराता ही है, क्योंकि वह सर्वविक्रियाशून्य स्वभाव है, किन्तु मूढ़ पुरुष स्वप्न के समान अविद्या से आत्मा में कर्तृत्वादि का अभिमान करता है। स्मृति ने भी ऐसा ही कहा है -'वे दोनों ही नहीं जानते' - इत्यादि। 'बुद्धि के ध्यान करने पर चिदाभास ध्यान करता सा और विषय-देश में जाने पर वहाँ जाता सा दिखाई देता है' (बृह० 4.3.7) - इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है। अतएव अविद्वान् पुरुष ही समस्त शास्त्रों का अधिकारी है। विद्वान् तो मूल (अज्ञान) सहित अध्यास का बाध हो जाने के कारण आत्मा में कर्तृत्वादि का अभिमान उसी प्रकार नहीं करता जिस प्रकार स्थाणु के स्वरूप को जानने वाला विद्वान् उसमें चोरत्व का भान नहीं करता। अत: विकाररहित और अद्वितीय होने से विद्वान् न कुछ करता है और न कराता ही है - ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार श्रुति भी कहती है - 'विद्वान् किसी से भी नहीं डरता है' (तै० 2.9.1) इत्यादि। अर्जुन ने अपने में कर्तृत्व और भगवान् में कारयितृत्व का अध्यास करके दोनों ही में हिंसाजनित दोष की आशंका की थी। भगवान् ने भी उसका अभिप्राय समझकर 'कौन मारता है, कौन मरवाता है,' - ऐसा कहकर उन दोनों का आक्षेप किया है। अभिप्राय यह है कि तुम अपने में कर्तृत्व और मेरे में कारयितृत्व का आरोप करके किसी प्रत्यवाय की शंका मत करो।

89 अविक्रियत्वप्रदर्शनेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रतिषेधात्सर्वकर्माक्षेपे भगवदभिप्रेते हन्तिरुपलक्षणार्थः पुरःस्फूर्तिकत्वात् । प्रतिषेधहेतोस्तुल्यत्वात्कर्मान्तराभ्यनुज्ञानुपपत्तेः । तथा च वक्ष्यति– तस्य कार्यं न विद्यत इति । अतोऽत्र हननमात्राक्षेपेण कर्मान्तरं भगवताऽभ्यनुज्ञायत इति मूढजनजल्पितमपास्तम् । तस्माद्युध्यस्वेत्यत्र हननस्य भगवताऽभ्यनुज्ञानाद्वास्तवकर्तृत्वाद्यभावस्य कर्ममात्रे समत्वादिति दिक् ॥ 21 ॥

90 नन्वेवमात्मनो विनाशित्वाभावेऽपि देहानां विनाशित्वाद्युद्धस्य च तन्नाशकत्वात्कथं भीष्मादिदेहानामनेकसुकृतसाधनानां मया युद्धेन विनाशः कार्य इत्याशङ्काया उत्तरम्–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ 22 ॥

89 आत्मा के अविक्रियत्व के प्रदर्शन से और उसके कर्तृत्व के प्रतिषेध से सभी कर्मों के आक्षेप में भगवान् का अभिप्राय है, इसलिए 'हन्ति' - यह हनन क्रिया उपलक्षणार्थ ही है, क्योंकि वही सामने स्फुरित हो रही है । प्रतिषेध का हेतु समान होने के कारण कर्मान्तर के लिए भगवान् की अभ्यनुज्ञा उपपन्न नहीं है । इसी प्रकार 'उसका कोई कार्य नहीं है' (गीता, 3.17) इत्यादि से भगवान् कहेंगे । अत: 'यहाँ हननमात्र के आपेक्ष से भगवान् ने कर्मान्तर की आज्ञा दी है'- यह मूढ़जनप्रलाप निराकरणीय है । 'तस्मात् युध्यस्व' इत्यादि से यहाँ भगवान् ने हनन की आज्ञा दी है । वास्तव में कर्तृत्वादि का अभाव तो कर्ममात्र में समान ही है[167] - यह दिग्दर्शनमात्र है ।।21।।

90 'इस प्रकार आत्मा के विनाशित्व का अभाव होने पर भी देह तो विनाशी ही है और उसका नाशक युद्ध है, अत: अनेक सुकृतों के साधन भीष्मादि के देहों का मुझे युद्ध के द्वारा कैसे विनाश करना चाहिए' - ऐसी अर्जुन की आशंका का भगवान् उत्तर देते है :-
[जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही यह देही = आत्मा पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीरों का परित्याग कर अन्य नवीन शरीरों को धारण करता है ।।22 ।।]

167. इस श्लोक में भगवान् ने आत्मा के अविक्रियत्व के प्रदर्शन से और उसके कर्तृत्व के प्रतिषेध से विद्वान् के लिए सभी प्रकार के कर्मों का ही आक्षेप (निषेध) किया है । 'हन्ति' - यह हनन क्रिया सभी कर्मों के उपलक्षण के अर्थ में व्यवहृत हुई है, क्योंकि युद्ध-क्षेत्र में अर्जुन की बुद्धि में उस समय हनन क्रिया ही प्रकाशमान थी । आत्मा में कर्तृत्व का अभाव रहने के कारण जिस प्रकार आत्मा हनन नहीं कर सकती उसी प्रकार दूसरे कोई कर्म भी उसके लिए सम्भव नहीं है । सामान्याभाव से विशेषाभाव गतार्थ होता है । जो मूढ़ व्यक्ति 'हन्ति' का जो यह अर्थ करते हैं कि 'यहाँ केवल हनन क्रिया का ही निषेध किया गया है किन्तु दूसरे कर्मों का भगवान् ने अनुमोदन किया है = हनन निषिद्ध है, न करे; विहित नित्य-नैमित्तिक कर्म करें' - वह ठीक नहीं है, क्योंकि अविक्रियत्वादि से यदि आत्मा में हननकर्तृत्व नहीं है, तो तुल्य न्याय से उसमें विहित कर्म-कर्तृत्व भी संभव नहीं है । अविक्रियत्व-दर्शन तो निषिद्ध और विहित - दोनों प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान में विरोधी है । और फिर भगवान् 'तस्मात् युध्यस्व' इत्यादि से तो युद्ध में हनन व.. अनुमोदन कर रहे हैं, अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् केवल हनन क्रिया का ही निषेध कर रहे हैं ? अतः वास्तव में आत्मा में कर्तृत्व का अभाव सभी कर्मों में ही समान है अर्थात् परमार्थतः किसी कर्म में भी आत्मा का कर्तृत्व नहीं है । किन्तु जब तक तत्त्वज्ञान का उदय न हो तब तक चित्तशुद्धि के लिए अपने-अपने आश्रयाधिकार के अनुसार सभी को कर्त्तव्य-कर्म तो करने चाहिए, इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को क्षत्रियधर्मानुसार 'युध्यस्व' (युद्ध करो) - ऐसा उपदेश दिया । वास्तव में तत्त्वज्ञानी के लिए किसी कर्म का विधान करना उनका अभिप्राय नहीं है । यही इस श्लोक का तात्पर्य है ।

91 जीर्णानि विहाय वस्त्राणि नवानि गृह्णाति विक्रियाशून्य एव नरो यथेत्येतावतैव निर्वाहेऽपराणीति विशेषणमुत्कर्षातिशयख्यापनार्थम् । तेन यथा निकृष्टानि वस्त्राणि विहायोत्कृष्टानि जनो गृह्णातीत्यौचित्यायातम् । तथा जीर्णानि वयसा तपसा च कृशानि भीष्मादिशरीराणि विहायान्यानि देवादिशरीराणि सर्वोत्कृष्टानि चिरोपार्जितधर्मफलभोगाय संयाति सम्यग्गर्भवासादि-क्लेशव्यतिरेकेण प्राप्नोति देही प्रकृष्टधर्मानुष्ठातृदेहवान्भीष्मादिरित्यर्थः । 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गन्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा' इत्यादिश्रुतेः ।

92 एतदुक्तं भवति— भीष्मादयो हि यावज्जीवं धर्मानुष्ठानक्लेशेनैव जर्जरशरीरा वर्तमान-शरीरपातमन्तरेण तत्फलभोगायासमर्था यदि धर्मयुद्धेन स्वर्गप्रतिबन्धकानि जर्जराणि शरीराणि पातयित्वा दिव्यदेहसंपादनेन स्वर्गभोगयोग्याः क्रियन्ते त्वया तदाऽत्यन्तमुपकृता एव ते । दुर्योधनादीनामपि स्वर्गभोगयोग्यदेहसंपादनान्महानुपकार एव । तथा चात्यन्तमुपकारके युद्धेऽपकारकत्वभ्रमं मा कार्षीरिति । अपराणि अन्यानि संयातीतिपदत्रयवशाद्भगवदभिप्राय एवमभ्यूहितः । अनेन दृष्टान्तेनाविकृतत्वप्रतिपादनमात्मनः क्रियत इति तु प्राचां व्याख्यानमतिस्पष्टम् ॥ 22 ॥

91 'जैसे विकारशून्य ही मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है' - इतना कहने मात्र से भी यहाँ निर्वाह हो सकता था, फिर भी 'अपराणि' - यह विशेषण नये वस्त्रों के अतिशय उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए है । अत: 'जैसे मनुष्य निकृष्ट वस्त्रों को त्यागकर उत्कृष्ट वस्त्रों को ग्रहण करता है' - ऐसा कहने से इस कथन में औचित्य आ जाता है । वैसे ही देही अर्थात् प्रकृष्ट धर्म के अनुष्ठाता देह से युक्त भीष्मादि आयु और तप से जीर्ण, कृश भीष्मादि शरीरों का परित्याग कर अन्य सर्वोत्कृष्ट देवादि शरीरों को अपने चिरकाल से उपार्जित धर्मफल के भोग के लिए सम्यक् रूप से प्राप्त हो जाता है अर्थात् गर्भवासादि क्लेश के बिना ही उन्हें प्राप्त कर लेता है । 'यह आत्मा पितृलोक में या गन्धर्वलोक में या देवलोक में या प्रजापति-लोक में या ब्रह्म-लोक में अन्य नवतर कल्याणतर रूप (देह) को प्राप्त कर लेता है' (बृह० उ० 4.4.4) - इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है ।

92 यहाँ यह कहा गया है कि भीष्मादि आजीवन धर्मानुष्ठान के क्लेश से ही जर्जर-शरीर हैं, वर्तमान शरीर के पात के बिना वे अपने धर्मानुष्ठान के फल को भोगने के लिए भी असमर्थ हैं, यदि तुम उन्हें धर्मयुद्ध से उनके स्वर्गभोग के प्रतिबन्धक जर्जर शरीरों को गिराकर दिव्य देह के संपादन द्वारा स्वर्गभोग के योग्य कर देते हो तो वे अत्यन्त उपकृत ही होंगे ! दुर्योधन आदि का भी स्वर्गभोग के योग्य देह के संपादन द्वारा महान् उपकार ही होगा । इस प्रकार तुम अत्यन्त उपकारक युद्ध में अपकारकत्व का भ्रम मत करो । 'अपराणि', 'अन्यानि', और 'संयाति' - इन तीनों पदों के कारण भगवान् का ऐसा ही अभिप्राय कहा गया है । इस दृष्टान्त से आत्मा के अविकृतत्व का प्रतिपादन किया गया है - यह प्राचीन आचार्यों की व्याख्या तो अत्यन्त स्पष्ट ही है[168] ॥ 22 ॥

168. आचार्य धनपति ने अपनी 'भाष्योत्कर्षदीपिका' में मधुसूदन सरस्वती कृत इस श्लोक की व्याख्या पर दोषारोपण करते हुए कहा है कि मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक का प्रकरण के विरुद्ध अर्थ किया है । प्रकृत श्लोक में न तो भीष्मादि के उपकार और अपकार की सूचना है; और न जीर्णादि विशेषणों का उत्कृष्टापकृष्टादि तात्पर्यार्थ ही है, अत: उनकी व्याख्या में प्रकरणविरोध और विशेष्याध्याहार दोष है । दूसरा उन्होंने इस श्लोक की व्याख्या में 'अनेन दृष्टान्तेनाविकृतत्वप्रतिपादनमात्मनः क्रियत इति तु प्राचां व्याख्यानमतिस्पष्टम्' - ऐसा कहकर प्राचीन आचार्यों पर कटाक्ष भी किया है । आचार्य धनपति का उक्त दोषारोपण अयुक्त है, क्योंकि मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ जीर्णादि विशेषणों को एक गम्भीर दृष्टि से देखा है, उनकी यह नवीन दृष्टि है । किसी लौकिक दृष्टान्त की व्याख्या मात्र

93 ननु देहनाशे तदभ्यन्तरवर्तिन आत्मनः कुतो न विनाशो गृहदाहे तदन्तर्वर्तिपुरुषवदित्यत आह–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ 23 ॥

94 शस्त्राण्यस्यादीनि अतितीक्ष्णान्यपि एनं प्रकृतमात्मानं न छिन्दन्ति अवयवविभागेन द्विधा कर्तुं न शक्नुवन्ति । तथा पावकोऽग्निरतिप्रज्वलितोऽपि नैनं भस्मीकर्तुं शक्नोति । न चैनमापोऽत्यन्तं वेगवत्योऽपि आर्द्रीकरणेन विश्लिष्टावयवं कर्तुं शक्नुवन्ति । मारुतो वायुरतिप्रबलोऽपि नैनं नीरसं कर्तुं शक्नोति । सर्वनाशकाक्षेपे प्रकृते युद्धसमये शस्त्रादीनां प्रकृतत्वादवयुत्या नुवादेनोपन्यासः । पृथिव्यप्तेजोवायूनामेव नाशकत्वप्रसिद्धेस्तेषामेवोपन्यासो नाऽऽकाशस्य ॥ 23 ॥

95 शस्त्रादीनां तन्नाशकत्वासामर्थ्ये तस्य तज्जनितनाशानर्हत्वे हेतुमाह–

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ 24 ॥

93 यदि कोई ऐसा कहे कि 'देह का नाश होने पर उसके भीतर रहने वाले आत्मा का विनाश क्यों नहीं होगा, घर जलने पर उसके भीतर रहने वाला पुरुष भी जल ही जाता है' - तो भगवान् कहते है :- [इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको अग्नि जला नहीं सकती, इसको जल गला नहीं सकता और वायु भी सुखा नहीं सकती ।। 23।।]

94 इस प्रकृत आत्मा को शस्त्र अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार आदि भी नहीं काटते हैं अर्थात् अवयव-विभाग से अलग-अलग नहीं कर सकते हैं । तथा पावक अर्थात् अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित होने पर भी इसको भस्म नहीं कर सकती । और इसको जल अत्यन्त वेगवान् होने पर भी आर्द्र बनाकर विश्लिष्ट-अवयव नहीं कर सकता । इसीप्रकार मारुत = वायु अत्यन्त प्रबल होने पर भी इसको नीरस नहीं कर सकता । यहाँ नाश के सभी साधनों के आक्षेप का प्रसङ्ग होने पर भी प्रकृत युद्ध-समय में शस्त्र आदि के प्रकृत होने के कारण ही शस्त्रादि का अवयुति अनुवाद से उपन्यास किया गया है । पृथ्वी, जल, तेज और वायु - ये चार भूत ही नाश करने वाले प्रसिद्ध हैं, इसीलिए उनका ही यहाँ उपन्यास किया गया है, आकाश का नहीं[169] ।।23।।

95 शस्त्रादि जो आत्मा का नाश करने में असमर्थ हैं और वह आत्मा भी जो शस्त्रादि के द्वारा नाश के अयोग्य है उसमें हेतु कहते हैं :-

लौकिक बाह्यस्तर पर ही करना औचित्य नहीं है, यदि वह व्याख्या गम्भीरता से विचार करने पर अधिक व्यापक हो जाय, तो स्तुत्य ही है । फलतः मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ एक सामान्य दृष्टान्त को एक नई दृष्टि देकर एक विशेष सन्दर्भ में घटित कर उसे अधिक स्पष्ट कर दिया है, वहाँ कोई प्रकरणविरोध जैसा दोष कदापि नहीं है । इसी प्रकार 'प्राचीन आचार्यों का व्याख्यान अतिस्पष्ट है' - ऐसा कहकर उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों पर कोई कटाक्ष नहीं किया है, अपितु उन्होंने इतना ही कहा है कि उनकी व्याख्या बहुत स्पष्ट है । अर्थात् मधुसूदन सरस्वती पूर्वाचार्यों की इस मान्यता का समर्थन ही कर रहे हैं कि 'इस दृष्टान्त से आत्मा के अविकृतत्व का प्रतिपादन किया गया है' ।

169. पृथ्वी, जल, तेज और वायु - ये चार महाभूत नाश करने वाले प्रसिद्ध हैं । इस श्लोक में जल, तेज और वायु का निर्देश तो 'पावकः', 'आपः' और 'मारुतः' - पदों से किया गया है, किन्तु पृथ्वी का निर्देश किस पद से किया गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री बच्चा शर्मा ने कहा है कि 'शस्त्र' पद से पृथ्वी का निर्देश किया गया है । तो दू.रा प्रश्न यह है कि यहाँ पृथ्वी के स्थान शस्त्र पद का प्रयोग क्यों किया गया है ? इसी के उत्तर में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि जगत् की कोई भी नाशक वस्तु आत्मा का नाश नहीं कर सकती है, यह कहने का उद्देश्य होने पर भी युद्ध के समय शस्त्रादि ही प्राप्त होते हैं, अतः प्रसङ्गवशात् शस्त्रादि का अवयुति

96 **यतोऽच्छेद्योऽयमतो नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि । अदाह्योऽयं यतोऽतो नैनं दहति पावकः । यतोऽक्लेद्योऽयमतो नैनं क्लेदयन्त्यापः । यतोऽशोष्योऽयमतो नैनं शोषयति मारुत इति क्रमेण योजनीयम् । एवकारः प्रत्येकं संबध्यमानोऽच्छेद्यत्वाद्यवधारणार्थः । चः समुच्चये हेतौ वा । छेदाद्यनर्हत्वे हेतुमाहोत्तरार्धेन—**

97 **नित्योऽयं पूर्वापरकोटिरहितोऽतोऽनुत्पाद्यः । असर्वगतत्वे ह्यनित्यत्वं स्यात्, 'यावद्विकारं तु विभागः' इति न्यायात्पराभ्युपगतपरमाण्वादीनामनभ्युपगमात् । अयं तु सर्वगतो विभुरतो नित्य एव । एतेन प्राप्यत्वं पराकृतम् । यदि चायं विकारी स्यात्तदा सर्वगतो न स्यात् । अयं तु स्थाणुरविकारी । अतः सर्वगत एव । एतेन विकार्यत्वमपाकृतम् । यदि चायं चलः क्रियावान्स्यात्तदा विकारी स्याद्घटादिवत् । अयं त्वचलोऽतो न विकारी । एतेन संस्कार्यत्वं निराकृतम् । पूर्वावस्थापरित्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्विक्रिया । अवस्थैक्येऽपि चलनमात्रं क्रियेति विशेषः । यस्मादेवं तस्मात्सनातनोऽयं सर्वदैकरूपो न कस्या अपि क्रियायाः कर्मेत्यर्थः । उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृत्यन्यतरक्रियाफलयोगे हि कर्मत्वं स्यात् । अयं तु नित्यत्वान्नोत्पाद्यः,**

[यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य ही है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु (अविकारी), अचल और सनातन (सर्वदा एकरूप) है ||24||]

96 क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है = छेदन के अयोग्य है = काटे जाने के अयोग्य है, अत: इसको शस्त्र काट नहीं सकते । क्योंकि यह अदाह्य है = जलाये जाने के अयोग्य है, अत: इसको अग्नि जला नहीं सकती । क्योंकि यह अक्लेद्य है = भिगोये जाने के अयोग्य है, अत: इसको जल भिगो नहीं सकता = गला नहीं सकता = सड़ा नहीं सकता । क्योंकि यह अशोष्य है = सुखाये जाने के अयोग्य है, अत: इसको वायु भी सुखा नहीं सकता —इस क्रम से योजना करनी चाहिए । एवकार का प्रत्येक वाक्य के साथ सम्बन्ध होने से वह आत्मा के अच्छेद्यत्वादि को निश्चित करने के लिए है अर्थात् यह आत्मा अच्छेद्य ही है, च्छेद्य नहीं है; अदाह्य ही है, दाह्य नहीं है; अक्लेद्य ही है, क्लेद्य नहीं, इत्यादि । 'च' का प्रयोग समुच्चय अथवा हेतु अर्थ में हुआ है । उत्तरार्ध श्लोक से छेदनादि की अयोग्यता में हेतु कहते हैं -

97 यह आत्मा नित्य अर्थात् पूर्वापरकोटिरहित है[170], अत: अनुत्पाद्य अर्थात् उत्पादन के अयोग्य है । यदि यह असर्वगत होता, तो अनित्य होता, क्योंकि ऐसा न्याय है कि 'जो भी पदार्थ विभक्त होता है, वह सब विकार होता है, अनित्य होता है' (ब्रह्मसूत्र 2.3.7), इसी न्याय से पर = नैयायिकों द्वारा स्वीकृत परमाणु आदि को भी आचार्यों ने नित्य स्वीकार नहीं किया है । यह आत्मा तो सर्वगत, विभु है, अत: नित्य ही है । इससे आत्मा के प्राप्यत्व का निराकरण हो जाता है । यदि यह आत्मा विकारी होता, तो सर्वगत नहीं होता । यह तो स्थाणु अर्थात् अविकारी है, अत: सर्वगत ही है । इससे आत्मा के विकार्यत्व का भी निराकरण हो जाता है । और यदि यह चल अर्थात् क्रियावान् होता, तो घटादि के समान विकारी होता । यह तो अचल है, अत: विकारी नहीं है ।

= पृथक् रूप से अनुवाद = नामोल्लेख किया गया है । इसप्रकार यहाँ 'शस्त्र' शब्द के प्रयोग से युद्ध-प्रसङ्ग का निर्वाह और पृथ्वी के आक्षेप का उल्लेख किया गया है । आकाश किसी का भी नाशक नहीं है, अत: आकाश का नामोल्लेख नहीं किया गया है ।

170. पूर्वापरकोटि से तात्पर्य है - पूर्वकोटि और अपरकोटि = उत्तरकोटि । पूर्वकोटि प्रागभाव है और उत्तरकोटि ध्वंस है । जिसकी पूर्वकोटि या उत्तरकोटि प्रसिद्ध होती है उसी वस्तु की उत्पत्ति होती है । उत्पत्ति अनित्य वस्तु की होती है । फलत: अनित्य वस्तु की ही पूर्वापरकोटि होती है, नित्य वस्तु की नहीं । निष्कर्षत: आत्मा नित्य है अर्थात् पूर्वापरकोटिरहित है । इसीलिए आत्मा अनुत्पाद्य है ।

अनित्यस्यैव घटादेरुत्पाद्यत्वात् । सर्वगतत्वान्न प्राप्यः परिच्छिन्नस्यैव पयआदेः प्राप्यत्वात् । स्थाणुत्वादविकार्यः, विक्रियावतो घृतादेरेव विकार्यत्वात् । अचलत्वादसंस्कार्यः सक्रियस्यैव दर्पणादेः संस्कार्यत्वात् । तथा च श्रुतयः—'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (छा० 3.14.3) 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः', (श्वेता० 3.9) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वेता० 6.19) इत्यादयः । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तर :' (बृह० 3.7.3) इत्याद्या च श्रुतिः सर्वगतस्य

इससे आत्मा के संस्कार्यत्व का निराकरण हो जाता है । पूर्वावस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था की उत्पत्ति को 'विक्रिया' कहा जाता है, और अवस्था एक होने पर भी चलनमात्र को 'क्रिया' कहा जाता है - यही विक्रिया और क्रिया का भेद है ।[171] क्योंकि यह आत्मा ऐसा ही है, अतः यह सनातन अर्थात् सर्वदा एकरूप है । तात्पर्य यह है कि यह किसी भी क्रिया का कर्म नहीं है । क्योंकि उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति[172] —इनमें से किसी भी क्रिया का फल होने पर ही 'कर्मत्व' होगा । यह तो नित्य होने के कारण उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि अनित्य घटादि ही उत्पाद्य होते हैं । सर्वगत होने के कारण प्राप्य नहीं है, क्योंकि परिच्छिन्न पय आदि ही प्राप्य होते हैं । स्थाणु होने के कारण अविकार्य है, क्योंकि विकारी घृत आदि ही विकार्य होते हैं । और अचल होने के कारण असंस्कार्य है, क्योंकि सक्रिय दर्पण आदि ही संस्कार्य होते हैं । इसीप्रकार 'आत्मा आकाश के समान सर्वगत और नित्य है' (छा० 3.14.3); ' यह अपने स्वप्रकाश रूप में वृक्ष के समान निष्पन्द अकेला ही स्थित है' (श्वेता० 3.9); 'वह ब्रह्म निरवयव, निष्क्रिय और शान्त है' (श्वेता० 6.19) - इत्यादि श्रुतियाँ और'जो पृथ्वी में रहकर पृथ्वी का अन्तर्यामी है, जो जल में रहकर जल का अन्तर्यामी है, जो तेज में रहकर तेज का अन्तर्यामी है, जो वायु में रहकर वायु का अन्तर्यामी हैं — (बृह०3.7.3) - इत्यादि श्रुति सर्वगत आत्मा के सर्वान्तर्यामी होने से उसमें उन - उन विकारों की अविषयता दिखाती है । जो शस्त्रादि में नहीं रहता, उसको शस्त्रादि काटते हैं । यह आत्मा तो शस्त्रादि को सत्ता और स्फूर्ति प्रदान करने वाला होने से उनका प्रेरक और अन्तर्यामी है । अतः इसको शस्त्रादि अपने व्यापार का विषय कैसे बना सकते हैं - यह अभिप्राय

171. प्रश्न है कि 'स्थाणु' का अर्थ है 'अविकारी', और 'अचल' का अर्थ है 'जो विकारी नहीं है' - इसप्रकार तो इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ हुआ, फिर 'स्थाणु' और 'अचल' - इन दोनों शब्दों को श्लोक में पृथक्-पृथक् क्यों कहा गया है ? इसके समाधानार्थ ही मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि 'स्थाणु' में 'विक्रियारहितत्व' है और 'अचल' में 'क्रियारहितत्व' है । पूर्वावस्थात्यागपूर्वक नवीनोत्तरावस्थाप्राप्ति 'विक्रिया' कहलाती है । विक्रिया = विकार से अवस्थाभेद होता है, जैसे - पक्व और अपक्व तण्डुल अवस्थाभेद से भिन्न होते हैं । अवस्था एक होने पर भी चलनमात्र को 'क्रिया' कहा जाता है, जैसे - स्थिर पक्ष में घटादि में चलन है । विक्रिया और क्रिया का यह भेद है । आत्मा में अवस्थाभेद न रहने के कारण कोई विक्रिया = विकार नहीं होता, अतः स्थाणु = अविकारी = विक्रियारहित है । आत्मा की एक ही अवस्था होने पर भी उसमें कोई क्रिया नहीं होती, अतः अचल = क्रियारहित है । इसप्रकार स्थाणु और अचल शब्द में भेद है ।

172. उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति - इन चारों क्रियाओं से 'कर्मत्व' होता है । 'अग्नीनादधीत' वाक्य से विहित आधान कर्म से श्रौताग्नि की 'उत्पत्ति' की जाती है । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वाक्य से विहित अध्ययन कर्म से स्वाध्याय की 'प्राप्ति' की जाती है । 'व्रीहीन् अवहन्ति' आदि वाक्यों से विहित अवघात आदि कर्म से व्रीहि का 'विकार' किया जाता है । और 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि वाक्यों से विहित प्रोक्षण आदि कर्म से 'संस्कार' किया जाता है । आत्मा इनमें से किसी भी क्रिया का 'कर्म' नहीं है । अतः यह न उत्पाद्य है, न प्राप्य है, न विकार्य है, और न संस्कार्य ही है ।

173. इस श्लोक के मधुसूदन सरस्वती कृत व्याख्यान पर टिप्पणी करते हुए आचार्य धनपति ने अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में तीन आपत्तियाँ की है :-

सर्वान्तर्यामितया तदविषयत्वं दर्शयति । यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति तं शस्त्रादयश्छिन्दन्ति । अयं तु शस्त्रादीनां सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तत्प्रेरकस्तदन्तर्यामी । अतः कथमेनं शस्त्रादीनि स्वव्यापारविषयी कुर्युरित्यभिप्रायः । अत्र 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० 3.12.97) इत्यादिश्रुतयोऽनुसंधेयाः । सप्तमाध्याये च प्रकटी करिष्यति श्रीभगवानिति दिक् ॥ 24 ॥

98 **छेद्यत्वादिग्राहकप्रमाणाभावादपि तदभाव इत्याह– अव्यक्तोऽयमित्यार्धेन–**

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ 25 ॥

99 **यो हीन्द्रियगोचरो भवति स प्रत्यक्षत्वाद्व्यक्त इत्युच्यते । अयं तु रूपादिहीनत्वान्न तथा । अतो न प्रत्यक्षं तत्र च्छेद्यत्वादिग्राहकमित्यर्थः ।**

है[173] । यहाँ 'जिस तेज से सूर्य तपता है' (तै० ब्रा० 3.12.97) इत्यादि श्रुतियों का अनुसंधान करना चाहिए । सप्तम अध्याय में श्री भगवान् इसे और स्पष्ट रूप से कहेंगे - यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र है ॥ 24 ॥

98 छेद्यत्वादि को ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव होने के कारण भी आत्मा में छेद्यत्वादि का अभाव है - यह 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि आधे श्लोक से कहते हैं -
[यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है । अतः इस आत्मा को इस प्रकार का जानकर तुम शोक नहीं कर सकते ॥25॥]

99 जो पदार्थ इन्द्रियगोचर होता है, वह प्रत्यक्ष होने के कारण 'व्यक्त' कहा जाता है । यह आत्मा तो रूपादिहीन होने के कारण वैसा = इन्द्रियगोचर = प्रत्यक्ष = व्यक्त है नहीं, यह तो 'अव्यक्त'है, अतः इसमें छेद्यत्वादि को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

(अ) भाष्यकार के मतानुसार इस श्लोक से पूर्व अंशों में जो कहा गया है वह उत्तरोत्तर का हेतु है किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने हेतु को विपरीत रूप से ग्रहण किया है । उससे श्लोक के तात्पर्य में कोई पार्थक्य नहीं हुआ है, अतः यहाँ कोई विरोध नहीं है ।

(ब) मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि; 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या–' इत्यादि श्रुतिप्रमाणप्रदर्शन जो किया है वह हृदयग्राही नहीं है क्योंकि गीता के प्रथम छः अध्यायों में त्वंपदार्थ का शोधन है, यह भाष्यकारों का सिद्धान्त है, तदनुसार मधुसूदन सरस्वती ने भी यही स्वीकार किया है, फिर भी उन्होंने यहाँ तत्पदार्थपरक श्रुतियों का प्रदर्शन कर अनुचित प्रयोग किया है ।

धनपति की इस आपत्ति का समाधान यह है कि इस श्लोक में जब आत्मा को नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन कहा गया है तो उसके अनुकूल श्रुतिप्रमाणप्रदर्शन कदापि अनुचित नहीं है । रही बात तत्त्वम्पदार्थशोधन के पूर्वापर की, उसमें उत्तर यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों में त्वंपदार्थशोधन पूर्व में है, किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत्पदार्थ का उल्लेख पूर्व में है, इसके अनुसार गीता के प्रथम षट्क में तत्पदार्थशोधन क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाय । इसके अतिरिक्त, वस्तुतः मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ 'स्थाणु' आदि की व्याख्या में भेदवादियों के आत्मा के 'अणुत्व' और 'नानात्त्व' के सिद्धान्त का खण्डन और शांकर मत का व्यवस्थापन करने के लिए ही अत्यन्त अनुकूल व उपयुक्त 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' श्रुति का उल्लेख किया है ।

(स) मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ यह जो कहा है कि 'यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति–' इत्यादि अर्थात् 'जो शस्त्रादि में नहीं रहता, उसको शस्त्रादि काटते हैं । यह आत्मा तो शस्त्रादि को सत्ता और स्फूर्ति प्रदान करने वाला होने से उनका प्रेरक और अन्तर्यामी है । अतः इसको शस्त्रादि अपने व्यापार का विषय कैसे बना सकते हैं ?' वह भी असंगत है, क्योंकि शस्त्रादि में स्थित लोहा आदि भी शस्त्रादि से काटा जाता है । इसका उत्तर यह है कि शस्त्रादि में स्थित लोहा आदि भी शस्त्रादि से अवश्य कट जाता है किन्तु जिस शस्त्र में लोहा स्थित है उसी शस्त्र से उसी में स्थित लोहा नहीं कटता, दूसरे शस्त्र से कट सकता है । आत्मा तो सभी शस्त्रों का प्रेरक और अन्तर्यामी है, उसी से उसे कौन काट सकता है ?

100 प्रत्यक्षाभावेऽप्यनुमानं स्यादित्यत आह– अचिन्त्योऽयं चिन्त्योऽनुमेयस्तद्विलक्षणोऽयम् । क्वचित्प्रत्यक्षो हि वह्न्यादिर्गृहीतव्याप्तिकस्य धूमादेर्दर्शनात्क्वचिदनुमेयो भवति । अप्रत्यक्षे तु व्याप्तिग्रहणासंभवान्नानुमेयत्वमिति भावः । अप्रत्यक्षस्यापीन्द्रियादेः सामान्यतोदृष्टानुमानविषयत्वं दृष्टमत आह– अविकार्योऽयं यद्विक्रियावच्चक्षुरादिकं तत्स्वकार्यान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमानमर्थापत्तेः सामान्यतोदृष्टानुमानस्य च विषयो भवति । अयं तु न विकार्यो न विक्रियावानतो नार्थापत्तेः सामान्यतोदृष्टस्य वा विषय इत्यर्थः । लौकिकशब्दस्यापि प्रत्यक्षादिपूर्वकत्वात्तन्निषेधेनैव निषेधः ।

100 यदि ऐसा कहो कि आत्मा के छेद्यत्वादि का प्रत्यक्ष न होने पर भी उनका अनुमान तो हो ही सकता है, तो भगवान् कहते हैं - 'यह आत्मा अचिन्त्य है', चिन्त्य अनुमेय कहलाता है, उससे यह विलक्षण है । कहीं = महानसादि में प्रत्यक्ष ही वह्नि आदि से गृहीत व्याप्तियुक्त धूम आदि के दर्शन से कहीं = पर्वतादि में वह्नि आदि अनुमेय होता है । अप्रत्यक्ष पदार्थ में तो व्याप्ति-ग्रहण सम्भव न होने के कारण वह अनुमेय नहीं होता - यह भाव है । अप्रत्यक्ष इन्द्रियादि में भी सामान्यतोदृष्ट[174] अनुमान की विषयता देखी जाती है, अत: कहते हैं - 'यह अविकार्य है' । जो चक्षु आदि विकारी पदार्थ हैं, वे ही स्वकार्यान्यथानुपपत्ति[175] से कल्प्यमान होकर अर्थापत्ति और सामान्यतोदृष्ट अनुमान के विषय होते हैं । यह आत्मा तो विकार्य नहीं है अर्थात् विक्रियावान् नहीं है, अत: यह न तो अर्थापत्ति का विषय है और न सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषय है - यह तात्पर्य है । लौकिक शब्द भी प्रत्यक्षादिपूर्वक[176] ही है, अत: प्रत्यक्ष का निषेध होने से ही शब्द का भी निषेध हो जाता है ।

174. महर्षि गौतम ने अपने न्यायसूत्र, 1.1.5 में अनुमान के तीन भेद कहे हैं - पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट । जहाँ प्रसिद्ध साध्य और अनुमेय, दोनों अत्यन्त भिन्न जाति के हो, वहाँ हेतु सामान्य और अनुमेय सामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान किया जाता है, उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं । जैसे - इन्द्रियविषयक अनुमान - 'रूपादिज्ञानं सकरणकं, क्रियात्वात् छिदादिवत्' । यहां ' क्रियात्व' हेतु से 'इन्द्रियत्व' साध्य को सिद्ध करना है, किन्तु 'इन्द्रियत्व' की व्याप्ति का 'क्रियात्व ' में दर्शन नहीं हुआ, अपितु 'वास्यत्व' की व्याप्ति 'छेदन' क्रिया में देखी गई है । उसके बल पर 'इन्द्रियत्व' करण का अनुमान किया जाता है । इसप्रकार इन्द्रियादि अप्रत्यक्ष पदार्थों में सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषयत्व होता है ।

175. 'स्वकार्यान्यथानुपपत्ति' पद में 'स्व' शब्द से चक्षुरादि का ग्रहण होता है, उनका कार्य होता है - रूपदर्शन आदि । रूपदर्शनादि की अन्यथा अर्थात् चक्षुरादि के बिना अनुपपत्ति अर्थात् उपपत्ति नहीं हो सकती, अत: स्वकार्यान्यथानुपपत्ति से चक्षुरादि की कल्पना की जाती है । इसी को अर्थापत्ति कहते हैं ।

176. लौकिक शब्द प्रत्यक्षादिपूर्वक ही होता है । क्योंकि गृहीतशक्तिक शब्द ही अर्थबोधक होता है, अगृहीतशक्तिक शब्द नहीं । शब्दशक्तिग्रह प्रयोज्य - प्रयोजक वृद्धव्यवहार से होता है । जैसे– प्रयोजक – उत्तमवृद्ध ने प्रयोज्यक– मध्यम वृद्ध से कहा - 'घटमानय' । प्रयोज्य - मध्यमवृद्ध 'घट' को लाने में प्रवृत्त होकर 'घट' ले आया । इन प्रयोज्य और प्रयोजक - दोनों के समीप स्थित बालक ने प्रयोज्य - प्रयोजक के प्रत्यक्ष व्यवहार से 'इयं प्रयोज्यप्रवृत्तिः घटानयनधर्मिक - इष्टसाधनताज्ञानजन्या, प्रवृत्तित्वात् मदीयस्तनपानादिप्रवृत्तिवत्' - ऐसा अनुमान करके 'घटमानय' वाक्य से 'घटानयन' अर्थ को ग्रहण किया । तदनन्तर 'घटमानय' वाक्य घटानयन-ज्ञान का ही जनक है, अर्थान्तरज्ञान का नहीं - यह नियतार्थबोधान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति से सिद्ध है । इसप्रकार ज्ञशब्दार्थ-सम्बन्धज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति - इन तीनों प्रमाणों से होता है । यहाँ प्रत्यक्ष सर्वप्रथम कारणत्वेन अपेक्षित है, और अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रत्यक्ष के अनुयायी हैं । अत: लौकिक शब्द प्रत्यक्षादिमूलक ही होता है ।

101 ननु वेदेनैव तत्र च्छेद्यत्वादि ग्रहीष्यत इत्यत आह— उच्यते = वेदेन सोपकरणेनाच्छेद्याव्यक्तादिरूप एवायमुच्यते तात्पर्येण प्रतिपाद्यते । अतो न वेदस्य तत्प्रतिपादकस्यापि च्छेद्यत्वादिप्रतिपादकत्वमित्यर्थः ।

102 अत्र 'नैनं छिन्दन्ति' (गी० 2.23) इत्यत्र शस्त्रादीनां तन्नाशकसामर्थ्याभाव उक्तः । अच्छेद्योऽयमित्यादौ तस्य च्छेदादिकर्मत्वायोग्यत्वमुक्तम् । अव्यक्तोऽयमित्यत्र तच्छेदादिग्राहकमानाभाव उक्त इत्यपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम् । वेदाविनाशिनमित्यादीनां तु श्लोकानामर्थतः शब्दतश्च पौनरुक्त्यं भाष्यकृद्भिः परिहृतम्– 'दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान्वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणां बुद्धिगोचरमापन्नं तत्त्वं संसारनिवृत्तये स्यात्' (गी० शां० भा० 2.24) इति वदद्भिः ।

103 एवं पूर्वोक्तयुक्तिभिरात्मनो नित्यत्वे निर्विकारत्वे च सिद्धे तव शोको नोपपन्न इत्युपसंहरति— तस्मादित्यर्धेन । एतादृशात्मस्वरूपवेदनस्य शोककारणनिवर्तकत्वात्तस्मिन्सति शोको नोचितः कारणभावे कार्याभावस्याऽऽवश्यकत्वात् । तेनाऽऽत्मानमविदित्वा यदन्वशोचस्तद्युक्तमेव । आत्मानं विदित्वा तु नानुशोचितुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ 25 ॥

104 एवमात्मनो निर्विकारत्वेनाशोच्यत्वमुक्तमिदानीं विकारवत्त्वमभ्युपेत्यापि श्लोकद्वयेनाशोच्यत्वं प्रतिपादयति भगवान् । तत्राऽऽत्मा ज्ञानस्वरूपः प्रतिक्षणविनाशीति सौगताः । देह एवाऽऽत्मा

101 यदि कहो कि वेद से ही आत्मा के छेद्यत्वादि का ग्रहण हो जायेगा तो भगवान् कहते हैं - 'कहा जाता है' अर्थात् निगमनिरुक्तादि उपकरण = सहायता सामग्री सहित वेद से यह आत्मा अच्छेद्य अव्यक्त आदि रूप ही कहा जाता है - तात्पर्य[177] से प्रतिपादित किया जाता है । अत: आत्मप्रतिपादक वेद में भी आत्मा के छेद्यत्वादि की प्रतिपादकता नहीं है - यह तात्पर्य है ।

102 यहाँ 'नैनं छिन्दन्ति' (गीता, 2.23) इत्यादि वचनों से शस्त्रादि में आत्मनाशक सामर्थ्य का अभाव कहा गया है । 'अच्छेद्योऽयम्' इत्यादि से आत्मा में छेदादि के कर्मत्व की अयोग्यता कही गयी है । 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि से आत्मा के छेदादि के ग्राहक प्रमाण का अभाव कहा गया है, - अत: यहाँ अपुनरुक्ति ही समझनी चाहिए । भाष्यकार ने भी 'आत्म-वस्तु दुर्बोध है, अत: भगवान् वासुदेव पुन: पुन: प्रसङ्ग लाकर शब्दान्तर से उसी वस्तु का निरूपण करते हैं, जिससे किसी भी प्रकार यह तत्त्व संसारी पुरुषों का बुद्धिगोचर होकर संसारनिवृत्ति के लिए हेतु बन सके' (गीता-शांकर-भाष्य - 2.24)- यह कहते हुए 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादि श्लोकों की अर्थत: और शब्दत: पुनरुक्ति का परिहार किया है ।

103 इसप्रकार पूर्वोक्त युक्तियों से आत्मा की नित्यता और निर्विकारिता सिद्ध होने पर तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है - ऐसा 'तस्मात्' इस अर्द्धश्लोक से भगवान् उपसंहार करते हैं । इसप्रकार का आत्मस्वरूपज्ञान शोक के कारण का निवर्तक है, अत: उस ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है, क्योंकि कारण का अभाव होने पर तो कार्य का अभाव होना आवश्यक है । अत: आत्मा को न जानकर तुमने जो शोक किया वह तो ठीक ही है । किन्तु आत्मा को जानकर तो तुम शोक नहीं कर सकते हो - यह अभिप्राय है ।।25।।

104 इसप्रकार आत्मा के निर्विकार होने से उसकी अशोच्यता कही, अब भगवान् दो श्लोकों से उसकी विकारवत्ता स्वीकार करके भी उसकी अशोच्यता का प्रतिपादन करते हैं । इस पक्ष में सौगत =

177. भाव यह है कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि वेद-वाक्य से यद्यपि विशुद्ध आत्मा शब्दगम्य नहीं है, तथापि लक्षणा = उपचार से अर्थात् तात्पर्यवृत्ति से विशुद्ध आत्मा के अर्थ में तात्पर्य है ।

स च स्थिरोऽप्यनुक्षणपरिणामी जायते नश्यति चेति प्रत्यक्षसिद्धमेवैतदिति लोकायतिकाः । देहातिरिक्तोऽपि देहेन सहैव जायते नश्यति चेत्यन्ये । सर्गाद्यकाल एवाऽऽकाशवज्जायते देहभेदेऽप्यनुवर्तमान एवाऽऽकल्पस्थायी नश्यति प्रलय इत्यपरे । नित्य एवाऽऽत्मा जायते म्रियते चेति तार्किकाः । तथाहि— प्रेत्यभावो जन्म । स चापूर्वदेहेन्द्रियादिसंबन्धः । एवं मरणमपि पूर्वदेहेन्द्रियादिविच्छेदः । इदं चोभयं धर्माधर्मनिमित्तत्वात्तदाधारस्य नित्यस्यैव मुख्यम् । अनित्यस्य तु कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गेन धर्माधर्माधारत्वानुपपत्तेर्न जन्ममरणे मुख्ये इति वदन्ति । नित्यस्याप्यात्मनः कर्णशष्कुलीजन्मनाऽऽकाशस्येव देहजन्मना जन्म तन्नाशाच्च मरणं तदुभयमौपाधिकममुख्यमेवेत्यन्ये । तत्रानित्यत्वपक्षेऽपि शोच्यत्वमात्मनो निषेधति—

बौद्ध[178] कहते हैं कि 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, प्रतिक्षण विनाशी है' । लोकायतिक[179] कहते हैं कि 'देह ही आत्मा है और वह स्थिर होने पर भी प्रतिक्षण परिणामी है, अतएव वह उत्पन्न होता है और नष्ट भी होता है - यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है' ।'देह से अतिरिक्त होने पर भी आत्मा देह के साथ ही उत्पन्न होता है और नष्ट होता है' - ऐसा अन्य[180] कहते हैं । कोई दूसरे[181] कहते हैं कि 'आत्मा सृष्टि के आरम्भकाल में ही आकाश के समान उत्पन्न होता है, देहभेद होने पर भी यह उनमें अनुवर्तमान होकर ही आकल्प स्थायी रहता है और प्रलय में नष्ट होता है' । तार्किक[182] कहते हैं कि 'नित्य ही आत्मा उत्पन्न होता है और मरता है' । क्योंकि 'प्रेत्य = मरकर भाव = पैदा होना ' जन्म' है और वह जन्म अपूर्व = नवीन देह और इन्द्रियादि का सम्बन्ध है । इसीप्रकार मरण भी पूर्व देह और इन्द्रियादि का विच्छेद है । ये जन्म और मरण - दोनों धर्म और अधर्म से जनित होने के कारण तदाधार = धर्मादि के आधार नित्य ही आत्मा के मुख्य धर्म हैं । अनित्य में तो कृतहानि और अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग होने के कारण धर्म और अधर्म की आधारता ही उपपन्न

178. विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञान का परिणाम है । वह विज्ञान भी भावरूप होने से क्षणिक है - 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' - ऐसा उनका कहना है । प्रतिक्षण विशेष ज्ञान के नाश के साथ-साथ आत्मा भी नाश को प्राप्त होता है । अत: आत्मा विज्ञान स्वरूप है किन्तु प्रतिक्षण विनाशी है ।

179. लोकायतिक = चार्वाक कहते हैं कि देह ही आत्मा है । आत्मा स्थिर = स्थायी होने पर भी क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होता है, अत: यह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है ।

180. अन्य = दूसरे चार्वाकवादी कहते हैं कि आत्मा देह से भिन्न होने पर भी देह के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है ।

181. दूसरे चार्वाक लोग कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही आकाशादि की तरह आत्मा की उत्पत्ति होती है । प्रत्येक जन्म में देह-भेद होने से वही सभी देहों में अनुवर्तमान होकर रहता है । देह के साथ उत्पन्न-नाशशील नहीं है, वह मृत्यु के बाद भी दूसरे देह का आश्रय कर विद्यमान रहता है, वह कल्प तक स्थायी रहता है । प्रलय में आकाशादि के समान नष्ट होता है ।

182. नैयायिकों के मत में आत्मा नित्य ही है, तो भी वह उत्पन्न होता है और मरता है । इनके मतानुसार प्रेत्यभाव जन्म है = 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' (न्यायसूत्र 1.1.19), अर्थात् प्रेत्य = मरकर, भाव = पुन: उत्पन्न होना 'जन्म' है । अपूर्व देह और इन्द्रियों के साथ अर्थात् जो पहले विद्यमान नहीं थे ऐसे देहेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध ही 'जन्म' है । और पूर्व = पुराने देहेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध-विच्छेद करना 'मरण' है । इस प्रकार इस नित्य आत्मा का ही पुराने देहेन्द्रिय से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर 'मरण' और नवीन देहेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर 'जन्म' होता है । यही जन्म-मरण मुख्य है । अत: नित्य आत्मा का जन्म-मरण होता है - ऐसा नैयायिक स्वीकार करते हैं । नैयायिकों के अनुसार धर्म और अधर्म रूप अदृष्ट ही जन्म-मरण का कारण है, और धर्म तथा अधर्म का आधार नित्य आत्मा ही है, अत: यह जन्म-मरण धर्माधर्म के आधार नित्य आत्मा का ही मुख्यत: = वस्तुत: हुआ करता है अर्थात् तार्किक मत में जन्म-मरण आत्मा में आरोपित नहीं है, अपितु वास्तविक हैं । जो लोग देह के जन्म-मरण का व्यवहार-मात्र आत्मा में स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार आत्मा में जन्म-मरण गौण है ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ 26 ॥

105 अथेति पक्षान्तरे । चोऽप्यर्थे । यदि दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनोऽसकृच्छ्रवणेऽप्यवधारणासामर्थ्यान्मदुक्तपक्षानङ्गीकारेण पक्षान्तरमभ्युपैषि । तत्राप्यनित्यत्वपक्षमेवाऽऽश्रित्य यद्येनमात्मानं नित्यं जातं नित्यं मृतं वा मन्यसे । वाशब्दश्चार्थे । क्षणिकत्वपक्षे नित्यं प्रतिक्षणं पक्षान्तर आवश्यकत्वान्नित्यं नियतं जातोऽयं मृतोऽयमिति लौकिकप्रत्ययवशेन यदि कल्पयसि तथाऽपि हे महाबाहो पुरुषधौरेयेति सोपहासं कुमताभ्युपगमात्, त्वय्येतादृषी कुदृष्टिर्न संभवतीति सानुकम्पं वा । एवम्– 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्' (गी० 1.45) इत्यादि

नहीं होगी, फलत: उसके जन्म और मरण भी उसके मुख्य धर्म नहीं होंगे' - ऐसा कहते हैं । अन्य[183] कहते हैं कि 'नित्य भी आत्मा का कर्णशष्कुली के जन्म से आकाश के जन्म के समान देह के जन्म से जन्म और देह के नाश से उसका मरण - ये दोनों औपाधिक, अमुख्य ही हैं' । इसप्रकार आत्मा की अनित्यता के पक्ष को स्वीकार करके भी उसकी शोच्यता का भगवान् निषेध करते हैं -

[हे महाबाहो ! यदि तुम इस आत्मा को नित्य उत्पन्न और नित्य मृत समझते हो, तो भी तुम इसप्रकार शोक नहीं कर सकते ।।26।।]

105 यहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ 'पक्षान्तर' है । 'च' शब्द 'अपि' के अर्थ में व्यवहृत किया गया है । अर्थात् 'अथ च' शब्दों का अर्थ है - पक्षान्तर से विचार करने पर भी । यदि आत्म-वस्तु की दुर्बोधता के कारण अनेक बार सुनने पर भी उसे समझने में असमर्थ होने के कारण मेरे द्वारा कहे गए पक्ष को स्वीकार न करके तुम कोई दूसरा पक्ष ही स्वीकार करते हो, और उसमें भी अनित्यता के पक्ष का ही आश्रय लेकर यदि इस आत्मा को नित्यजात और नित्यमृत मानते हो । यहाँ 'वा' शब्द 'च = और' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । क्षणिकत्व पक्ष में नित्य अर्थात् प्रतिक्षण और पक्षान्तर = नित्यत्व पक्ष में आवश्यक होने के कारण नित्य अर्थात् नियत = नियमित = नियमानुसार 'यह उत्पन्न हुआ, यह नष्ट हुआ' - इस लौकिक प्रतीति के कारण यदि तुम आत्मा के जन्म और नाश की कल्पना करते हो, तो भी 'हे महाबाहो = हे पुरुषधौरेय' - ऐसा कहकर भगवान् अर्जुन का उपहास करते हैं, क्योंकि उसने कुमत को स्वीकार किया हुआ है । अथवा 'तुझमें ऐसी कुदृष्टि संभव नहीं हैं' - ऐसा करुणापूर्वक कहते हैं । इस प्रकार तुम जो 'ओह ! हमने बहुत बड़ा पाप करने का निश्चय किया है' (गीता 1.45) - ऐसा शोक करते हो, तुम स्वयं भी वैसे ही होकर इस प्रकार का शोक करने के योग्य नहीं हो । क्षणिकत्व पक्ष में, देहात्मवाद पक्ष में और देह के साथ ही आत्मा के जन्म और विनाश को मानने वाले पक्ष में जन्मान्तर का अभाव होने के कारण पाप का भय संभव न होने पर भी तुम पाप के भय से ही शोक करते हो । पाप का भय तो इस --

183. अन्य कहते हैं कि कर्णशष्कुली = कर्णगोलक = कर्णछिद्र के जन्म लेने पर जिस प्रकार कहा जाता है कि कर्णशष्कुली से परिच्छिन्न आकाश का भी जन्म हुआ है, किन्तु वास्तविक रूप से आकाश का जन्म नहीं होता है, उसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि देह के जन्म के साथ आत्मा का जन्म होता है और देह की मृत्यु के साथ आत्मा की मृत्यु होती है तो इसका अर्थ यही है कि आत्मा का जन्म तथा मृत्यु औपाधिक हैं, अमुख्य हैं, या गौण हैं, आरोपित हैं, वस्तुत: आत्मा का जन्म तथा मृत्यु नहीं होते हैं ।

यथा शोचसि एवंप्रकारमनुशोकं कर्तुं स्वयमपि त्वं तादृश एव सन्नार्हसि योग्यो न भवसि । क्षणिकत्वपक्षे देहात्मवादपक्षे देहेन सह जन्मविनाशपक्षे च जन्मान्तराभावेन पापभयासंभवात्पापभयेनैव खलु त्वमनुशोचसि । तच्चैतादृशे दर्शने न संभवतीत्यर्थः । क्षणिकत्वपक्षे च दृष्टमपि दुःखं न संभवति बन्धुविनाशदर्शित्वाभावादित्यधिकम् । पक्षान्तरे दृष्टदुःखनिमित्तं शोकमभ्यनुज्ञातुमेवंकारः । दृष्टदुःखनिमित्तशोकसंभवेऽप्यदृष्टदुःखनिमित्तः शोकः सर्वथा नोचित इत्यर्थः प्रथमश्लोकस्य ॥ 26 ॥

106 नन्वात्मन आभूतसंप्लवस्थायित्वपक्षे नित्यत्वपक्षे च दृष्टादृष्टदुःखसंभवात्तद्भयेन शोचामीत्यत आह द्वितीयश्लोकेन—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ 27 ॥

107 हि यस्माज्जातस्य स्वकृतधर्माधर्मादिवशाल्लब्धशरीरेन्द्रियादिसंबन्धस्य स्थिरस्याऽऽत्मनो ध्रुव आवश्यको मृत्युस्तच्छरीरादिविच्छेदस्तदारम्भककर्मक्षयनिमित्तः संयोगस्य वियोगावसानत्वात् । तथा ध्रुवं जन्म मृतस्य च प्राग्देहकृतकर्मफलोपभोगार्थं सानुशयस्यैव प्रस्तुतत्वान्न जीवन्मुक्ते व्यभिचारः । तस्मादेवमपरिहार्ये परिहर्तुमशक्येऽस्मिञ्जन्ममरणलक्षणेऽर्थे विषये त्वमेवं विद्वान्न

प्रकार के दर्शनों में संभव ही नहीं है - यह तात्पर्य है । क्षणिकत्व पक्ष में दृष्ट दु:ख भी संभव नहीं है, क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार बन्धुविनाश को देखने वाले आत्मा का दूसरे ही क्षण में अभाव हो जाता है - इतना अधिक समझ लेना चाहिए । पक्षान्तर में दृष्टदु:खजनित शोक स्वीकार करने के लिए 'एवंकार' का प्रयोग हुआ है । दृष्टदु:खजनित शोक संभव होने पर भी अदृष्टदु::खजनित शोक सर्वथा अनुचित है - यह 'अव्यक्तोऽयम्' - इत्यादि प्रथम श्लोक का तात्पर्य है ।।26।।

106 यदि यह कहो कि आत्मा के भूतों के प्रलयपर्यन्त रहने तथा नित्य रहने के पक्ष में भी दृष्ट और अदृष्ट दु:खों की संभावना रहती ही है, अत: उन्हीं के भय से मैं शोक करता हूँ -- तो भगवान् द्वितीय श्लोक से कहते हैं :--

[जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर चुका है उसका जन्म निश्चित है । अत: जिसका किसी प्रकार भी परिहार नहीं किया जा सकता उस विषय में तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ।। 27 ।।]

107 हि = यस्मात् = क्योंकि उत्पन्न हुए अर्थात् स्वकृत धर्म और अधर्म आदि के कारण जिसे शरीर और इन्द्रियों आदि का सम्बन्ध प्राप्त हुआ है उस स्थिर आत्मा की मृत्यु = शरीर के आरम्भक कर्मों के क्षय से जनित उन शरीरादि का विच्छेद ध्रुव = आवश्यक है, क्योंकि संयोग का अन्त वियोग में ही होता है । तथा मृत का जन्म निश्चित है, क्योंकि पूर्वदेहकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए संस्काररूप वासनाओं के साथ जीव ही प्रस्तुत होता है, जीवन्मुक्त[184] के विषय में कोई

---

184. तात्पर्य यह है कि मृत का जन्म निश्चित है, क्योंकि पूर्वदेहकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए पुनः शरीर धारण करना आवश्यक है, अत: एतदर्थ ही जीव कर्मवासनाओं के साथ पुन: शरीर धारण करता है । यहाँ यदि यह शंका की जाय कि 'यदि मृत का जन्म निश्चित है, तो विदेहमुक्ति = विदेहकैवल्य कैसे होगा ? जिसकी प्राप्ति जीवन्मुक्त को देहपात के पश्चात् ही होती है । यदि जीवन्मुक्त का भी पुन: देह से सम्बन्ध होगा, तो उसे कैवल्य

शोचितुमर्हसि। तथा च वक्ष्यति -- 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' (गी० 11.32) इति। यदि हि त्वया युद्धेनाहन्यमाना एते जीवेयुरेव तदा युद्धाय शोकस्तवोचितः स्यात्। एते तु कर्मक्षयात्स्वयमेव म्रियन्त इति तत्परिहारासमर्थस्य तव दृष्टदुःखनिमित्तः शोको नोचित इति भावः।

108 एवमदृष्टदुःखनिमित्तेऽपि शोके 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे' इत्येवोत्तरम्। युद्धाख्यं हि कर्म क्षत्रियस्य नियतमग्निहोत्रादिवत्। तच्च 'युध संप्रहारे' इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नं शत्रुप्राणवियोगानुकूलशस्त्रप्रहाररूपं विहितत्वादग्नीषोमीयादिहिंसावन्न प्रत्यवायजनकम्। तथा च गौतमः स्मरति--'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र व्यश्वासारथ्यनायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोप--

व्यभिचार नहीं है। अतः = इस प्रकार जो अपरिहार्य है अर्थात् जिसका परिहार नहीं किया जा सकता उस जन्म-मरणरूप अर्थ = विषय में तुम्हारे जैसे विद्वान् को शोक करना उचित नहीं है। इस विषय में भगवान् आगे कहेंगे -- 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' (गीता, 11.32) -- अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी इन सभी में से कोई नहीं रहेगा' -- इत्यादि। यदि युद्ध में तुम्हारे द्वारा न मारे जाने पर ये जीवित रह सकते होते, तो युद्ध के लिए तुम्हारा शोक करना उचित होता, किन्तु ये तो कर्मों का क्षय होने से स्वयं ही मर जायेंगे, अत: उसका परिहार करने में असमर्थ तुम्हारा यह दृष्टदु:ख के लिए शोक करना उचित नहीं है -- यह भाव है।

108 इसी प्रकार अदृष्टनिमित्तक शोक में भी 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे' इत्यादि ही उत्तर है अर्थात् जो अर्थ = विषय अपरिहार्य है उस विषय में तुम्हारा अदृष्टदु:खनिमित्तक शोक करना भी उचित नहीं है[185]। युद्ध रूप कर्म तो क्षत्रिय के लिए अग्निहोत्रादि नित्यकर्म के समान नियत है और वह 'युध् संप्रहारे' = संप्रहार के अर्थ में 'युध्' धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय करने से निष्पन्न, शत्रु के प्राणवियोग के अनुकूल शस्त्रप्रहाररूप युद्ध क्षत्रिय के लिए कर्म विहित होने के कारण अग्निषोमीयादि यज्ञों में होने वाली हिंसा के समान प्रत्यवायजनक नहीं है। इसी प्रकार गौतम भी अपनी स्मृति में कहते हैं -- 'अश्वरहित, सारथिशून्य, आयुधरहित, बद्धाञ्जलि, प्रकीर्णकेश, पराङ्मुख, उपविष्ट, स्थलारूढ़, वृक्षारूढ़, दूत, अपने

प्राप्त नहीं होगा, और यदि जीवन्मुक्त का पुन: देह से सम्बन्ध नहीं होगा, तो 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' -- इस नियम का व्यभिचार होगा। इसी शंका के समाधान के लिए ही मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि 'जीवन्मुक्त के विषय में कोई व्यभिचार नहीं है', क्योंकि जीवन्मुक्त में तो कर्मवासना ही नहीं होती, अत: वह विदेह कैवल्य प्राप्त करता है और पुन: देह सम्बन्ध भी नहीं प्राप्त करता। उसके देह सम्बन्ध न प्राप्त करने से 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' -- इस नियम में व्यभिचार भी नहीं होता, क्योंकि जन्म कर्मवासनाओं से युक्त जीव ही प्राप्त करता है, जीवन्मुक्त की कर्मवासनाएँ ही नहीं होती, तो उसके जन्म का प्रश्न ही नहीं होता और इससे उक्त नियम में व्यभिचार का भी प्रश्न नहीं है।

185. यहाँ यदि अर्जुन यह कहे कि 'भगवान् के पूर्वोक्त वचनों के अनुसार यह मान भी लिया जाय कि भीष्मादि की मृत्यु से उत्पन्न दृष्टदु:ख के लिए शोक करना उचित नहीं है, किन्तु उन लोगों के साथ युद्ध कर उनके वध का निमित्त होने पर हमें पाप लगेगा, फलत: अदृष्टदु:ख = परलोक में दु:ख भोगना पडेगा, अत: अदृष्टदु:ख के लिए शोक करना तो उचित ही है', तो भगवान् कहते हैं कि अदृष्टदु:खनिमित्तक शोक करना भी तुम्हारे लिए उचित नहीं है क्योंकि तुम क्षत्रिय हो और युद्ध तुम्हारे लिए अपरिहार्य अर्थ = विषय है। अग्निहोत्रादि नित्य कर्म के समान युद्धरूप कर्म क्षत्रिय के लिए अवश्य अनुष्ठेय है। युद्ध का अर्थ है इस प्रकार से शस्त्र के द्वारा प्रहार करना जिससे वह शत्रु के प्राणवियोग के अनुकूल हो, किन्तु युद्ध क्षत्रिय के लिए विहित कर्म होने कारण अग्निषोमीयादि यज्ञ में पशुबलिरूप हिंसा से जिस प्रकार पाप नहीं है उसी प्रकार क्षत्रिय के लिए युद्ध में शत्रुवध करना भी पापजनक नहीं है। जब पाप ही नहीं होगा, तो अदृष्टदु:ख = परलोक में दु:ख का भोग भी नहीं होगा, अत: अदृष्टदु:ख के लिए तुम्हारा शोक करना भी उचित नहीं है।

विष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः' इति । ब्राह्मणग्रहणं चात्रायोद्धृब्राह्मणविषयं गवादिप्रायपाठादिति स्थितम् । एतच्च सर्वं स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्यत्र स्पष्टी करिष्यते । तथा च युद्धलक्षणेऽर्थेऽग्निहोत्रादिवद्विहितत्वादपरिहार्ये परिहर्तुमशक्ये तदकरणे प्रत्यवायप्रसङ्गात्त्वमदृष्टदुःखभयेन शोचितुं नार्हसीति पूर्ववत् ।

109 यदि तु युद्धाख्यं कर्म काम्यमेव,

'य आहवेषु युध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः ।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥' (याज्ञ० 13.324)

इति याज्ञवल्क्यवचनात्, 'हतो वा प्रापस्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' इति भगवद्वचनाच्च, तदाऽपि प्रारब्धस्य काम्यस्यापि अवश्यपरिसमापनीयत्वेन नित्यतुल्यत्वात्त्वया च युद्धस्य प्रारब्धत्वादपरिहार्यत्वं तुल्यमेव ।

110 अथवाऽऽत्मनित्यत्वपक्ष एव श्लोकद्वयमर्जुनस्य परमास्तिकस्य वेदबाह्यमताभ्युपगमासंभवात् । अक्षरयोजना तु नित्यश्चासौ देहिन्द्रियादिसंबन्धवशाज्जातश्चेति नित्यजातस्तमेनमात्मानं नित्यमपि सन्तं जातं चेन्मन्यसे तथा नित्यमपि सन्तं मृतं चेन्मन्यसे तथाऽपि त्वं नानुशोचितुमर्हसीति हेतुमाह– जातस्य हीत्यादिना । नित्यस्य जातत्वं मृतत्वं च प्राग्व्याख्यातं, स्पष्टमन्यत् । भाष्यमप्यस्मिन्पक्षे योजनीयम् ॥ 27 ॥

को गौ और ब्राह्मण कहने वाला -- इनके अतिरिक्त की युद्ध में हिंसा करने पर दोष नहीं होता' । इस स्मृतिवाक्य में जो 'ब्राह्मण' शब्द का ग्रहण किया गया है वह युद्ध न करने वाले ब्राह्मण के लिए है -- ऐसा ब्राह्मण के साथ 'गो' के पाठ से निश्चय होता है । यह सब ' स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' -- इस श्लोक में स्पष्ट करेंगे । इस प्रकार युद्धरूप विषय में, जो अग्निहोत्रादि नित्य कर्म के समान विहितकर्म होने के कारण अपरिहार्य है अर्थात् जिसका परिहार नहीं किया जा सकता, उसके न करने पर प्रत्यवाय का प्रसंग उपस्थित होगा, अत: अदृष्टदु:ख के भय से इस युद्ध के विषय में तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है -- इस प्रकार पूर्ववत् समझना चाहिए ।

109 यदि तो तुम युद्धरूप कर्म को काम्य कर्म ही मानो, क्योंकि 'जो लोग युद्ध से विमुख न होकर पृथ्वी के लिए कपटरहित होकर शस्त्रों से युद्ध करते हैं वे लोग योगियों के समान स्वर्ग में जाते हैं' (याज्ञ० 13.324) इत्यादि याज्ञवल्क्य के वचनानुसार तथा 'मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और जीत गया तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा' (गीता 2.37) इस भगवद्वचन के अनुसार युद्ध काम्य कर्म ही है, तो भी प्रारब्ध[186] काम्यकर्म भी अवश्य परिसमापनीय होने से नित्य तुल्य ही है । तुम्हारा यह युद्ध भी प्रारब्धकर्म-वश ही है, अत: इसकी अपरिहार्यता तुल्य ही है ।

110 अथवा, आत्मा की नित्यता के पक्ष में ही ये दोनों श्लोक हैं, क्योंकि परम आस्तिक अर्जुन की वेदबाह्यता (नास्तिकता = आत्मानित्यता) स्वीकार करना संभव नहीं है । इस अर्थ में उक्त श्लोकाक्षरार्थ योजना इस प्रकार होगी -- यह आत्मा नित्य है तथा देह और इन्द्रियादि के सम्बन्ध के कारण जात

---

186. तत्तत् शरीर के द्वारा भोग के जनक कर्म को ही 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं । प्रारब्ध कर्म का नाश भोग के बिना नहीं होता है । कहा भी है –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

111 तदेवं सर्वप्रकारेणाऽऽत्मनोऽशोच्यत्वमुपपादितमथेदानीमात्मनोऽशोच्यत्वेऽपि भूतसंघातात्मकानि शरीराण्युद्दिश्य शोचामीत्यर्जुनाशङ्कामपनुदति भगवान्–

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ 28 ॥

112 आदौ जन्मनः प्रागव्यक्तानि अनुपलब्धानि भूतानि पृथिव्यादिभूतमयानि शरीराणि मध्ये जन्मानन्तरं मरणात्प्राग्व्यक्तानि उपलब्धानि सन्ति । निधने पुनरव्यक्तान्येव भवन्ति । यथा स्वप्नेन्द्रजालादौ प्रतिभासमात्रजीवनानि शुक्तिरूप्यादिवन्न तु ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं वा स्थितानि दृष्टिसृष्ट्यभ्युपगमात् । तथा च 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (मा० का० 2.6) इति न्यायेन मध्येऽपि न सन्त्येवैतानि । 'नासतो विद्यते भावः' (गी० 2.16) इति प्रागुक्तेश्च ।

113 एवं सति तत्र तेषु मिथ्याभूतेष्वत्यन्ततुच्छेषु भूतेषु का परिदेवना को वा दुःखप्रलापो न कोऽप्युचित इत्यर्थः । न हि स्वप्ने विविधान्बन्धूनुपलभ्य प्रतिबुद्धस्तद्विच्छेदेन शोचति पृथग्जनोऽपि एतदेवोक्तं

भी है -- अतः यह नित्यजात है । इस प्रकार इस आत्मा को तुम यदि नित्य होते हुए भी देहेन्द्रियादि-सम्बन्ध से जात मानते हो तथा नित्य होते हुए भी इसको देहेन्द्रियादि-सम्बन्धवियोग से मृत मानते हो, तो भी तुम शोक नहीं कर सकते हो-- यह प्रतिज्ञा कर इसमें भगवान् 'जातस्य हि' -- इत्यादि से हेतु कहते हैं । नित्य के जातत्व और मृतत्व की व्याख्या पहले की जा चुकी है । अन्य सब स्पष्ट है । इस पक्ष में भाष्य की भी योजना करनी चाहिए ॥ 27 ॥

111 इस प्रकार सभी प्रकार से आत्मा की अशोच्यता का उपपादन हुआ । अब 'आत्मा अशोच्य होने पर भी मैं तो भूतसंघातरूप = पञ्चभूतात्मक शरीर के उद्देश्य से शोक करता हूँ' -- ऐसी अर्जुन की आशङ्का का भगवान् निवारण करते हैं --
[हे भारत ! ये पञ्चभूतात्मक शरीर जन्म से पूर्व अव्यक्त ही रहते हैं, मध्य -- जन्म के पश्चात् और मृत्यु से पूर्व -- में व्यक्त रहते हैं, और मृत्यु हो जाने पर वे पुनः अव्यक्त ही हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में फिर क्या शोक करना है ? ॥ 28 ॥]

112 ये भूत अर्थात् पृथ्वी आदि भूतमय शरीर आदि में अर्थात् जन्म से पूर्व अव्यक्त = अनुपलब्ध रहते हैं, मध्य में अर्थात् जन्म के पश्चात् और मरण से पूर्व व्यक्त = उपलब्ध होते हैं, तथा निधन पर पुनः अव्यक्त ही हो जाते हैं । जैसे -- स्वप्न, इन्द्रजालादि में प्रतीत वस्तुएँ शुक्ति में आरोपित रजत के समान प्रतिभासमात्रजीवन होती हैं अर्थात् जितने काल तक उनकी प्रतीति होती है उतने काल तक ही स्थित रहती हैं । ज्ञान से पूर्व या उत्तर = बाद में तो उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता है, क्योंकि दृष्टिसृष्टिवाद अर्थात् यावत् दृष्टि तावत् सृष्टि -- यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है । वैसे ही 'जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी वैसा ही है' इस न्याय से मध्य में भी वे नहीं ही हैं । 'असत् की सत्ता नहीं होती' (गीता 2.16) -- यह पूर्व में कह चुके हैं ।

113 ऐसा होने पर तो तत्र अर्थात् इन मिथ्याभूत अत्यन्त तुच्छ भूतों = शरीरों के लिए क्या परिदेवना = शोक करना अथवा क्या दुःख प्रलाप करना ? इस विषय में तुम्हारा कोई भी प्रलाप उचित नहीं है --

187. महाभारत में कहा है –
"अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना ॥"

पुराणे—'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।' भूतसंघ इति शेषः । तथा च शरीराण्युद्दिश्य शोको नोचित इति भावः ।

114 आकाशादिमहाभूताभिप्रायेण वा श्लोको योज्यः । अव्यक्तमव्याकृतमविद्योपहितचैतन्यमादिः प्रागवस्था येषां तानि तथा व्यक्तं नामरूपाभ्यामेवाऽऽविद्यकाभ्यां प्रकटीभूतं न तु स्वेन परमार्थसदात्मना मध्यं स्थित्यवस्था येषां तादृशानि भूतानि आकाशादीनि अव्यक्तनिधानान्येवाव्यक्ते स्वकारणे मृदिव घटादीनां निधनं प्रलयो येषां तेषु भूतेषु का परिदेवनेति पूर्ववत् । तथा च श्रुतिः 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृह० 1.4.7) इत्यादिरव्यक्तोपादानतां सर्वस्य प्रपञ्चस्य दर्शयति । लयस्थानत्वं तु तस्यार्थसिद्धं कारण एव

यह तात्पर्य है । स्वप्न में विविध बन्धुओं को देखकर प्रतिबुद्ध मूढ़जन भी उनके वियोग से शोक नहीं करते । यही पुराण में भी कहा है -- 'यह भूतसमुदाय अदर्शन से आया है और पुन: अदर्शन को ही प्राप्त हो जाता है'[187] । यहाँ 'भूतसंघ' यह शेष है । इस प्रकार भाव यह है कि शरीरों को भी उद्देश्य बनाकर तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है ।

114 अथवा, आकाशादि महाभूतों के अभिप्राय से इस श्लोक की योजना करनी चाहिए । अव्यक्त = अव्याकृत अर्थात् अविद्योपहित चैतन्य है आदि =प्रागवस्था = कारणावस्था जिनकी वे; तथा व्यक्त अर्थात् अविद्यक नाम और रूपों से ही, न कि स्वकीय परमार्थ सद्रूप से, प्रकट है मध्य = स्थिति की अवस्था जिनकी ऐसे वे आकाशादि भूत अव्यक्तनिधन हैं । जैसे घटादि अपने कारण मिट्टी में लीन हो जाते हैं, वैसे ही जिनका निधन = प्रलय अपने कारण अव्यक्त मे हो जाता है, ऐसे इन भूतों के विषय में क्या परिदेवना = शोक-दु:खादि करना -- ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिए । इसी प्रकार 'सृष्टि के आरम्भ में यह सत् अव्याकृत ही था, यह नाम और रूप से ही व्यक्त होता है' (बृह० 1.4.7) इत्यादि श्रुति भी सम्पूर्ण प्रपञ्च में अव्यक्तोपादानता दिखाती है । अव्यक्त की लयस्थानता तो अर्थत: सिद्ध हो जाती है । क्योंकि कारण में ही कार्य का लय होता देखा जाता है । अन्य ग्रन्थों में तो इस विषय का विस्तार किया गया है । इस प्रकार भाव यह है कि अज्ञान से कल्पित होने के कारण तुच्छ आकाशादि भूतों को भी उद्देश्य करके यदि शोक करना उचित है

अर्थात् इस संसार की उत्पत्ति अदर्शन से हुई है और पुन: यह अदर्शन को ही प्राप्त हो जाता है । अत: यह संसार तुम्हारा नहीं है, तुम भी इसके नहीं हो, तब क्यों वृथा यह परिदेवना = शोक करते हो ? अत्यन्त मूढ़ जन भी स्वप्नावस्था में अनेक बन्धुओं का साक्षात्कार करके पुन: जाग्रदवस्था में उन्हें न देखकर उनके विरह में शोक नहीं करता है, क्योंकि वह जानता है कि स्वप्न में जिन्हें वह देखरहा था, वे वास्तविक नहीं थे, केवल दर्शनमात्र थे, जब तक स्वप्न था तब तक ही थे । भीष्मादि के शरीर भी स्वाप्निक पदार्थों के समान ही हैं, प्रातिभासिक ही हैं, यावत् दृष्टि तावत् सृष्टि हैं, वे भी आदि और अन्त में न रहने वाले के समान वर्तमान में भी अव्यक्त ही हैं । तुम विद्वान् होकर भी वैसे पदार्थों को शोचते हो, यह उचित नहीं है । अत: स्वाप्निक और ऐन्द्र-जालिक पदार्थों के समान भीष्मादि के शरीर के लिए भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, यही भावार्थ है ।

188. आचार्य धनपति के अनुसार यह श्लोक शरीरपरक हैं, पञ्चमहाभूतपरक नहीं है । वे कहते हैं कि भगवत्पाद शंकराचार्य ने भी अपने भाष्य में इस श्लोक की व्याख्या पञ्चमहाभूतपरक नहीं की है, क्योंकि 'तत्र का परिदेवना' इस वाक्य से विरोध होता है । अर्जुन पञ्चमहाभूतों के विषय में शोक नहीं कर रहा था, भीष्मादि के शरीरों के विषय में ही शोक कर रहा था, क्योंकि युद्धभूमि में उन्हीं का उस समय निधन प्रसक्त था, अत: प्रतिषेध भी उसी का उचित है । किन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मधुसूदन सरस्वती की पञ्चमहाभूतपरक व्याख्या भी श्लोक की संगति ही बताती है, क्योंकि इस व्याख्या से कारणस्वभाव का कार्य में प्रदर्शन होने के कारण अपरिहार्यता ही दृढ़ होती है ।

कार्यलयस्य दर्शनात् । ग्रन्थान्तरे तु विस्तरः । तथाचाज्ञानकल्पितत्वेन तुच्छान्याकाशादिभूतान्यप्युद्दिश्य शोको नोचितश्चेत्तत्कार्याण्युद्दिश्य नोचित इति किमु वक्तव्यमिति भावः ।

115 अथवा सर्वदा तेषामव्यक्तरूपेण विद्यमानत्वाद्विच्छेदाभावेन तन्निमित्तः प्रलापो नोचित इत्यर्थः । भारतेत्यनेन सम्बोधयञ्शुद्ध वंशोद्भवत्वेन शास्त्रीयमर्थं प्रतिपत्तुमर्होऽसि किमिति न प्रतिपद्यस इति सूचयति ॥ 28 ॥

116 ननु विद्वांसोऽपि बहवः शोचन्ति तत्किं मामेव पुनरेवमुपालभसे । अन्यच्च 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते' इति न्यायात्त्वद्वचनार्थाप्रतिपत्तिरपि मम न दोषः, तत्रान्येषामपि तवेवाऽऽत्मापरिज्ञानादेव शोक आत्मप्रतिपादकशास्त्रार्थाप्रतिपत्तिश्च तवाप्यन्येषामिव स्वाशयदोषादिति नोक्तदोषद्वयमित्यभिप्रेत्याऽऽत्मनो दुर्विज्ञेयतामाह—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ॥
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ 29॥

तो इस विषय में तो कहना ही क्या है कि उनके कार्यों को उद्देश्य बनाकर शोक करना उचित नहीं है[188] ।

115 अथवा, अर्थ यह है कि ये भूत सर्वदा अव्यक्तरूप से विद्यमान रहते हैं, अतः उनका कभी विच्छेद नहीं होता, फलतः उनके लिए प्रलाप करना उचित नहीं है । 'भारत' इस शब्द से सम्बोधित करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि शुद्ध वंश में जन्म लेने के कारण तुम शास्त्रीय अर्थ समझने के योग्य हो, फिर क्यों नहीं समझते हो ? ॥ 28 ॥

116 'बहुत से विद्वान् भी शोक करते हैं, फिर मुझे ही क्यों आप बार-बार उलाहना देते हैं । और फिर 'जहाँ श्रोता नहीं समझता है वहाँ वक्ता की ही जड़ता समझी जाती है' – इस न्याय से आपके वचनों के तात्पर्य को न समझना भी मेरा दोष नहीं है ' – ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् इस अभिप्राय से कि अन्य लोगों को भी तुम्हारे ही समान आत्मा का ज्ञान न होने से ही शोक और आत्मप्रतिपादक शास्त्रों के अर्थ का अग्रहण होता है तथा तुमको भी अन्य लोगों के समान ही अपने आशय =[189] चित्त के दोष से ही यह सब हो रहा है, वस्तुतः तुममें तो पूर्वोक्त दोनों ही दोष नहीं है – आत्मा की दुर्विज्ञेयता को कहते हैं :–

[इस आत्मा को कोई आश्चर्य-सा देखता है तथा कोई अन्य इसको आश्चर्य-सा कहता है एवं कोई अन्य इस आत्मा को आश्चर्य-सा सुनता है और सुनकर भी कोई इसको नहीं ही जानता है ॥ 29 ॥

---

189. यहाँ 'आशय' का अर्थ 'वासना' है । वासनाएँ फल पकने तक चित्तभूमि में पड़ी हुई सोती हैं, इसीलिए वे 'आशय' कहलाती हैं – आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः (योगभाष्यतत्त्ववैशारदी, 1.24)' । वासनाएँ चित्त में दो प्रकार के संस्काररूप से होती हैं -- एक स्मृतिमात्र फलवाली, दूसरी जाति, आयु, भोग– फलवाली । जब कोई कर्म फल देता है तो उसके फल के अनुकूल ही सारी वासनाएँ प्रकट हो जाती हैं । योगियों के अतिरिक्त सकामी पुरुष फलों की वासना से कर्म करते हैं । वासनाएँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं, किन्तु प्रबल दोष कहलाती हैं । वासनाओं के कारण ही तो राग, द्वेष और मोह जन्म लेते हैं, अतः ये स्थूल दोष हैं । दोष प्रवर्तनारूप होते हैं -- 'प्रवर्तनालक्षणा

117 एनं प्रकृतं देहिनमाश्चर्येणाद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानमाविद्यकनानाविधविरुद्धधर्मवत्तया सन्तमप्यसन्तमिव स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपि जडमिवाऽऽनन्दघनमपि दुःखितमिव निर्विकारमपि सविकारमिव नित्यमप्यनित्यमिव प्रकाशमानमप्यप्रकाशमानमिव ब्रह्माभिन्नमपि तद्भिन्नमिव मुक्तमपि बद्धमिवाद्वितीयमपि सद्वितीयमिव सम्भावितविचित्रानेकाकारप्रतीतिविषयं पश्यति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामाविद्यकसर्वद्वैतनिषेधेन परमात्मस्वरूपमात्राकारायां वेदान्तमहावाक्य-जन्यायां सर्वसुकृतफलभूतायामन्तःकरणवृत्तौ प्रतिफलितं समाधिपरिपाकेन साक्षात्करोति कश्चिच्छमदमादिसाधनसम्पन्नचरमशरीरः कश्चिदेव न तु सर्वः । तथा कश्चिदेनं यत्पश्यति तदाश्चर्यवदिति क्रियाविशेषणम् । आत्मदर्शनमप्याश्चर्यवदेव यत्स्वरूपतो मिथ्याभूतमपि सत्यस्य

117. आश्चर्यवत्[190] = आश्चर्येणाद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानम् = आश्चर्य अर्थात् अद्भुत के समान वर्तमान = विद्यमान इस प्रकृत देही = आत्मा को जो अविद्यक = अविद्या[191] --जनित अनेक प्रकार के विरुद्ध धर्मों से युक्त होने के कारण 'होते हुए भी न होते हुए के समान है, स्वप्रकाश चैतन्यरूप होते हुए भी जड-सा है, आनन्दघन होते हुए भी दुःखित-सा है, निर्विकार होते हुए भी सविकार-सा है, नित्य होते हुए भी अनित्य-सा है, प्रकाशमान होते हुए भी अप्रकाशमान-सा है, ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी उससे भिन्न-सा है, मुक्त होते हुए भी बद्ध-सा है, अद्वितीय होते हुए भी सद्वितीय-सा है' -- इसप्रकार सम्भावित विचित्र अनेक आकारवाली प्रतीति का विषय[192] देखता है । वह कोई ही, सब नहीं = कोई शमदमादिसाधनसम्पन्न चरम शरीर ही शास्त्र और आचार्य के उपदेश से अविद्याजनित सम्पूर्ण द्वैत के निषेध द्वारा वेदान्त के महावाक्यों से जन्य और सम्पूर्ण सुकृतों की फलभूता परमात्मस्वरूपमात्र आकारवाली अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिफलित = प्रतिबिम्बित इस आत्मा का समाधि के परिपाक से साक्षात्कार करता है । इसीप्रकार, कोई इस आत्मा को जो देखता है वह आश्चर्य-सा ही है -- इसप्रकार 'आश्चर्यवत्' क्रियाविशेषण भी है । आत्मदर्शन भी आश्चर्यवत् ही है, जो स्वरूपः मिथ्याभूत होते हुए भी सत्य का व्यञ्जक है, अविद्या-जनित होते हुए भी अविद्या का विघातक है और अविद्या का नाश करते हुए उसका कार्य होने से अपना भी नाश कर देता है । तथा जो कोई इस आत्मा को देखता है वह भी आश्चर्य जैसा ही है -- इस प्रकार 'आश्चर्यवत्' कर्ता का भी विशेषण है । क्योंकि यह आत्मसाक्षात्कार करने वाला अविद्या और उसके कार्य के निवृत्त होने पर भी प्रारब्धकर्म की प्रबलता के कारण अविद्यावान् के समान ही व्यवहार करता है, सर्वदा समाधिनिष्ठ होते हुए भी व्युत्थित होता है और व्युत्थित होते हुए भी पुनः समाधि का अनुभव करता है -- इस प्रकार प्रारब्धकर्म की विचित्रिता के कारण विचित्र चरित्रवाला होता है और जिसका

दोषाः' (न्यायसूत्र, 1.1.8), अतः ये दोष इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपाय में पुरुष की प्रवृत्ति कराते हैं । निष्कर्ष यह है कि दूषित चित्तवृत्ति पुरुष ही आत्मा का ज्ञान न होने से शोकसन्तप्त होते हैं ।

190. 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (पाणिनिसूत्र, 5.1.115) अर्थात् तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है, जो तुल्य है यदि वह क्रिया हो'– इस सूत्र के अनुसार 'आश्चर्यवत्' = आश्चर्येण अद्भुतेन (विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्– अमरकोशः) तुल्यम् = 'आश्चर्य' शब्द से 'वति' प्रत्यय होकर 'आश्चर्य + वति → आश्चर्य + वत् → 'आश्चर्यवत्' निष्पन्न हुआ है ।

191. जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उसका भान होना 'अविद्या' का सामान्य लक्षण है । फलतः अविद्या अनेक प्रकार के विरुद्ध धर्मों की उत्पादिका होती है ।

192. जो जिस प्रकार की प्रतीति के योग्य न हो वह उसी प्रकार से प्रतीत होता हो, तो उसको आश्चर्यवत् प्रतीतिविषय कहते हैं ।

व्यञ्जकमाविद्यकमप्यविद्याया विघातकमविद्यामुपघ्नत्तत्कार्यतया स्वात्मानमप्युपहन्तीति । तथा यः कश्चिदेनं पश्यति स आश्चर्यवदिति कर्तृविशेषणम् । यतोऽसौ निवृत्ताविद्यातत्कार्योऽपि प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तद्वानिव व्यहरति सर्वदा समाधिनिष्ठोऽपि व्युत्तिष्ठति व्युत्थितोऽपि पुनः समाधिमनुभवतीति प्रारब्धकर्मवैचित्र्याद्विचित्रचरित्रः प्राप्तदुष्प्रापज्ञानत्वात्सकललोकस्पृहणीयोऽत आश्चर्यवदेव भवति । तदेतत्त्रयमप्याश्चर्यमात्मा तज्ज्ञानं तज्ज्ञाता चेति परमदुर्विज्ञेयमात्मानं त्वं कथमनायासेन जानीया इत्यभिप्रायः ।

118 **एवमुपदेष्टुरभावादप्यात्मा दुर्विज्ञेयः, यो ह्यात्मानं जानाति स एव तमन्यस्मै ध्रुवं ब्रूयात्, अज्ञस्योपदेष्टृत्वासम्भवात्, जानंस्तु समाहितचित्तः प्रायेण कथं ब्रवीतु । व्युत्थितचित्तोऽपि परेण ज्ञातुमशक्यः । यथा कथंचिज्ज्ञातोऽपि लाभपूजाख्यात्यादिप्रयोजनानपेक्षत्वान्न ब्रवीत्येव । कथं-चित्कारुण्यमात्रेण ब्रुवंस्तु परमेश्वरवदत्यन्तदुर्लभ एवेत्याह– आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य इति । यथा जानाति तथैव वदति । एनमित्यनुकर्षणार्थश्चकारः । स चान्यः सर्वाज्ञजनविलक्षणः । न तु**

प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है उस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के कारण सभी लोगों के लिए स्पृहणीय होता है, अतः यह आश्चर्य जैसा ही होता है । इस प्रकार आत्मा, उसका ज्ञान और उसका ज्ञाता - ये तीनों ही आश्चर्यरूप हैं । अत: इस परम दुर्विज्ञेय आत्मा को तुम अनायास ही कैसे जान सकते हो - यह अभिप्राय है[193]।

118 इसी प्रकार उपदेष्टा का अभाव होने से भी आत्मा दुर्विज्ञेय है, निश्चय ही जो आत्मा को जानता है वही उस आत्मा को दूसरे को निश्चयपूर्वक बता सकता है, क्योंकि अज्ञ तो उसका उपदेष्टा हो नहीं सकता । जो जानता है, जिसका चित्त समाहित = समाधिनिष्ठ = समाधि में स्थित है, वह तो प्राय: कहेगा कैसे ? और जो व्युत्थित चित्त है उसे दूसरा पहचान नहीं सकता । किसी प्रकार उसे पहचान भी लिया जाय तो वह लाभ, पूजा, ख्याति आदि प्रयोजनों की अपेक्षा नहीं होने के कारण बोलता ही नहीं है । किसी प्रकार करुणामात्र से वह बोलता भी है तो वह परमेश्वरवत् दुर्लभ ही होता है । यही भगवान् कहते हैं - 'कोई अन्य इस आत्मा को आश्चर्य-सा कहता है' इत्यादि । जैसा जानता है वैसा ही कहता है । 'एनम्' पद को प्रथम चरण से खींचने के लिए दूसरे चरण में 'चकार' का प्रयोग हुआ है । वह 'अन्य' समस्त अज्ञजनों से विलक्षण होता है । किन्तु जो आत्मा को देखता है उससे अन्य = भिन्न नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो व्याघातदोष[194] होगा । यहाँ भी 'आश्चर्यवत्' इस

193. इस श्लोक के 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' वाक्य के 'आश्चर्यवत्' शब्द की कर्त्ता, कर्म और क्रिया - तीनों के साथ योजना कर मधुसूदन सरस्वती ने इस वाक्य के तीन अर्थ किए हैं - 'कश्चिदाश्चर्यवत् एनं पश्यति' ऐसी वाग्योजना से दर्शन के 'कर्म' आत्मा में आश्चर्यवत्त्व अभिप्रेत है । 'कश्चिदेनं आश्चर्यवत्पश्यति' ऐसी वाग्योजना से दर्शन 'क्रिया' में आश्चर्यवत्त्व अभिप्रेत है । तथा 'आश्चर्यवत्कश्चिदेनं पश्यति'- इस वाग्योजना से दर्शन के 'कर्ता' में आश्चर्यवत्त्व इष्ट है । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र से व्युत्पन्न 'वति' प्रत्ययान्त का क्रिया के ही साथ सम्बन्ध होता है, अन्यत्र नहीं । तो फिर यहाँ कर्ता आदि अक्रिया में 'वति' प्रत्ययान्त का अन्वय कैसे किया गया है ? इसका समाधान यह है कि यहाँ भी अवस्थान आदि क्रिया का अध्याहार करके 'आश्चर्यवत् अवस्थितं आत्मानम्' = आश्चर्यवत् अवस्थित आत्मा इत्यादि यथायोग क्रियासम्बन्ध समझना चाहिए ।

194. तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को देखता है उससे अन्य = भिन्न हुआ जो आत्मा को नहीं देखता है, और यदि जिसने आत्मा को नहीं देखा है उसे ही यहाँ 'अन्य' शब्द के अर्थ में ग्रहण करते हैं तो यह अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि जिसने आत्मा को नहीं देखा है वह आत्मा के विषय में कह ही क्या सकता है, आत्मा को कह ही वह सकता है जो आत्मा को देख चुका होता है, अत: ऐसी स्थिति में स्ववदतोव्याघात दोष होगा । इसलिए यहाँ जो आत्मा को देखता है वही 'अन्य' है, उससे अन्य = भिन्न नहीं है ।

यः पश्यति ततोऽन्य इति व्याघातात् । अत्रापि कर्मणि क्रियायां कर्तरि चाऽऽश्चर्यवदिति योज्यम् । तत्र कर्मणः कर्तुश्च प्रागाश्चर्यवत्त्वं व्याख्यातं क्रियायास्तु व्याख्यायते । सर्वशब्दावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो यद्वचनं तदाश्चर्यवत् । तथा च श्रुतिः-- 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इति । केनापिशब्देनावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो विशिष्टशक्तेन पदेन जहदजहत्स्वार्थलक्षणया कल्पितसम्बन्धेन लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेणैव प्रतिपादनं तदपि निर्विकल्पसाक्षात्कार-रूपमत्याश्चर्यमित्यर्थः ।

विशेषण की कर्म, क्रिया और कर्ता -- तीनों के साथ ही योजना कर लेनी चाहिए । इनमें से कर्म और कर्ता के आश्चर्यवत्त्व की व्याख्या पूर्व में कर चुके हैं, अब क्रिया के आश्चर्यवत्त्व की व्याख्या की जाती है । सम्पूर्ण शब्दों के अवाच्य शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में कहे गए जो वचन हैं वे भी आश्चर्यवत् ही हैं । इसी प्रकार 'जहाँ से मन के सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है' - यह श्रुति भी कहती है । किसी भी शब्द से अवाच्य शुद्ध आत्मा का जहदजहत्स्वार्थलक्षणा[195] के द्वारा विशिष्ट शक्त पद = विशिष्ट वाचक शब्द के कल्पित सम्बन्ध से लक्ष्यतावच्छेदक धर्म के बिना ही प्रतिपादन किया जाता है, वह भी निर्विकल्पक साक्षात्काररूप होता है, यह अत्यन्त आश्चर्य ही है - ऐसा इसका तात्पर्य है ।

195. शब्दवृत्ति शक्ति और लक्षणा के भेद से दो प्रकार की होती है । ईश्वर की इच्छा, अथवा वाच्य-वाचक का तादात्म्य सम्बन्ध अथवा पदार्थ-बोध का हेतु = सामर्थ्य 'शक्ति' है । जिस अर्थ में पद की शक्ति हो, वह अर्थ उस पद का 'शक्य' कहलाता है । पद के शक्य से सम्बन्ध को 'लक्षणा ' कहते हैं, इसलिए पद की परम्परा-सम्बन्धरूप 'लक्षणा' होती है, क्योंकि पद का साक्षात् सम्बन्ध तो शक्य से होता है और उस शक्य का लक्ष्य से सम्बन्ध होता है, इसीलिए पद का शक्य द्वारा सम्बन्ध होने से परम्परा सम्बन्धरूप 'लक्षणा-वृत्ति' कहलाती है । केवल-लक्षणा और लक्षित लक्षणा के भेद से लक्षणा दो प्रकार की होती है । जहाँ पद का शक्य से साक्षात् सम्बन्ध हो वहाँ तो 'केवल-लक्षणा' कही जाती है, जैसे - 'गंगायां घोष:' । जहाँ पद का शक्य से परम्परा-सम्बन्ध हो वहाँ 'लक्षित-लक्षणा कही जाती है, जैसे -' द्विरेफो रौति' । यहाँ 'द्विरेफ' पद का शक्य तो 'दो रेफ'= 'दो रकार' हैं, उन दो रेफों का लक्षणा द्वारा अवयविता-सम्बन्ध 'भ्रमर' पद में है और उस 'भ्रमर' पद की शक्ति-वृत्ति अपने वाच्य 'मधुप' में है । इस प्रकार 'द्विरेफ' पद का शक्य जो दो रेफ, उस दो रेफ का लक्ष्य जो 'भ्रमर'पद उसका शक्य जो 'मधुप ' उस मधुप में द्विरेफ का लक्षणाद्वारा परम्परा-सम्बन्ध होने से यह 'लक्षित-लक्षणा' कही जाती है । पुन: यह लक्षणा जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा भेद से तीन प्रकार की होती है । जहाँ शब्द अपने शक्यार्थ के विशेष्य और विशेषण - दोनों का त्याग कर लक्ष्यार्थ के बोधक होते हैं, वहाँ 'जहत्स्वार्थलक्षणा' कही जाती है, जैसे :- 'गंगायां घोष:', 'विषं भुङ्क्ष्व' । जहाँ शब्द अपने शक्यार्थ के विशेष्य-विशेषणों का परित्याग न करके अतिरिक्तलक्ष्यार्थ को बताता है, वहाँ 'अजहत्स्वार्थलक्षणा' होती है, जैसे :- 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' । यहाँ 'काक' शब्द अपने शक्यार्थ के साथ दधिभक्षक बिडालादि-प्राणिमात्रपरक है, क्योंकि दधि-रक्षा में वक्ता का तात्पर्य है, काक से द्वेष नहीं है, अत: 'काक' शब्द की सभी दधि-उपघातकों में 'अजहत्स्वार्थलक्षणा' होती है । जहाँ शब्द = विशिष्ट वाचक शब्द अपने विशेषणांश का परित्याग कर मात्र विशेष्यांश का बोधक होता है, वहाँ 'जहदजहत्स्वार्थलक्षणा' होती है, जैसे :- 'सोऽयं देवदत्त:' । यहाँ 'स:' पदका 'तत्कालविशिष्ट' और 'अयम्' पद का 'एतत्कालविशिष्ट' अर्थ है, परन्तु 'देवदत्त' परोक्ष और अपरोक्षरूप विरुद्ध उभयकालों से विशिष्ट होकर एक ही समय में स्थित नहीं हो सकता । अत: 'स:' और 'अयम्' - दोनों पद केवल देवदत्तरूप विशेष्य अर्थ के बोधक हैं अर्थात् दोनो पद केवल विशेष्यपरक हैं, स्वार्थपरक नहीं, अत: यहाँ 'जहदजहत्स्वार्थलक्षणा' है । इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' आदि अभेदबोधक वाक्यों में 'तत्' शब्द सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य का वाचक है और 'त्वम्' शब्द किञ्चिद्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य का वाचक है । सर्वज्ञत्वादिविशिष्टच चैतन्य का किञ्चिद्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य के साथ ऐक्य = अभेद संभव नहीं हो सकता, अत: विशेषणीभूत सर्वज्ञत्वादि और किञ्चिद्ज्ञत्वादि का परित्यागकर 'तत्' और 'त्वम्' - ये दोनों पद केवल विशेष्यपरक 'चैतन्य' मात्र के जहदजहत्स्वार्थलक्षणा से बोधक होते हैं । 'सोऽयं देवदत्त:' इत्यादि वाक्यों में लाक्षणिक शब्द स्वलक्ष्यतावच्छेदक विशिष्टार्थान्तर के बोधक होते हैं, इसलिए उन शब्दों से निर्विकल्पक शाब्दबोध नहीं होता है । निर्विकल्पक शाब्दबोध से तात्पर्य है कि जो निष्प्रकारक व्यक्तिमात्रविषयक होता है । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में लाक्षणिक शब्द स्वलक्ष्यतावच्छेदक विशिष्टार्थान्तर के बोधक नहीं होते, अपितु निर्विकल्पक साक्षात्काररूप होते हैं, क्योंकि जिन शब्दों ने स्वप्रवृत्ति का त्यागमात्र किया, अर्थान्तर का ग्रहण नहीं किया, उनसे निष्प्रकारक व्यक्तिमात्रविषयक ही बोध होता है । यह अत्यन्त आश्चर्य ही है ।

119 अथवा विना शक्तिं विना लक्षणां विना सम्बन्धान्तरं सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्येन यदात्मतत्त्वप्रतिपादनं तदाश्चर्यवत् , शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् । न च विना सम्बन्धं बोधनेऽतिप्रसङ्गः, लक्षणापक्षेऽपि तुल्यत्वात्, शक्यसम्बन्धस्यानेकसाधारणत्वात् । तात्पर्यविशेषान्नियम इति चेत्, न, तस्यापि सर्वान्प्रत्यविशेषात् । कश्चिदेव तात्पर्यविशेषमवधारयति न सर्व इति चेत्, हन्त तर्हि पुरुषगत एव कश्चिद्विशेषो निर्दोषत्वरूपो नियामकः । स चास्मिन्पक्षेऽपि न दण्डवारितः । तथा च यादृशस्य शुद्धान्तःकरणस्य तात्पर्यानुसन्धानपुरःसरं लक्षणया वाक्यार्थबोधो भवद्भिरङ्गीक्रियते तादृशस्यैव केवलः शब्दविशेषोऽखण्डसाक्षात्कारं विनाऽपि सम्बन्धेन जनयतीति किमनुपपन्नम् । एतस्मिन्पक्षे शब्दवृत्त्यविषयत्वाद्यतो वाचो निवर्तन्त इति सुतरामुपपन्नम् । अयं च भगवदभिप्रायो वार्तिककारैः प्रपञ्चितः—

**'दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद्बोधरूपिणः ।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्विद्मस्तं मोहहानतः ॥
अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः ।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्तेर्बोधिताः परैः ॥**

---

119 अथवा, शक्ति= अभिधा शक्ति के बिना, लक्षणा के बिना और किसी दूसरे सम्बन्ध के बिना ही जो सोये हुए व्यक्ति को उठानेवाले वाक्य[196] के समान 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, वह आश्चर्य-जैसा ही है, क्योंकि शब्द की शक्ति तो अचिन्त्य है । सम्बन्ध के बिना उसके बोध होने में भी अतिव्याप्तिदोष[197] नहीं है, क्योंकि लक्षणा के पक्ष में भी समानता ही है, वहाँ भी शक्यसम्बन्धरूप हेतु साधारणरूप से अनेक में रहता है । यदि कहो कि वक्ता के तात्पर्यविशेष से वह नियमतः ही आत्मा का ही बोध कराती है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तात्पर्य भी सभी श्रोताओं के लिए अविशेष = अभिन्न = समान रहता है । यदि कहो कि उस तात्पर्यविशेष को कोई बिरला श्रोता ही समझ सकता है, सब नहीं, तब तो पुरुषगत ही कोई निर्दोषता-रूप विशेषता ही नियामक होती है, और उसे तो हमारे पक्ष में भी कोई दण्ड

196. वस्तुतः आत्मा असङ्ग है, अतः आत्मबोधक 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में न शक्ति है, न लक्षणाग्रह है, न तात्पर्यादि वृत्तिग्रह है । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य 'सुषुप्तोत्थापक वाक्यवत्' हैं । जैसे - सुषुप्ति में निमग्न पुरुष को जगाने के लिए कोई उसका नामोच्चारण कर वाक्योच्चारण करता है - 'अये देवदत्त ! उत्तिष्ठ', इस पर वह सुषुप्त पुरुष जाग जाता है । यहाँ विचारणीय यह है कि वह सुषुप्त पुरुष उच्चारित वाक्य के शब्दों के सम्बन्धज्ञान से जागता है, अथवा शब्दसम्बन्धज्ञान के बिना ही जागता है । प्रथमपक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में मन स्वकारण में लीन रहता है, अतः सुषुप्ति में शब्दसम्बन्धज्ञान हो ही नहीं सकता सम्बन्धज्ञान के बिना ही शब्दमात्र अगृहीतसम्बन्ध सुषुप्तपुरुष को बोध कराता है । उसे जागने को बाध्य करता है । अन्यथा शब्दव्यापार से पूर्व भी जागरणापत्ति होगी । इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में प्रयुक्त शब्द भी अगृहीतात्मसंसर्गक ही आत्मबोधक हैं ।

197. यदि कोई कहे कि शब्द तो स्वसम्बद्धार्थ का बोधक होता है, असम्बद्धार्थ का नहीं, अन्यथा एक ही शब्द से असम्बद्ध सभी अर्थों का बोध होगा, लोकमर्यादा भङ्ग होगी, अतिप्रसङ्ग = अतिव्याप्तिदोष होगा, अतः 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य में लक्षणादि वृत्ति स्वीकार करनी ही चाहिए । तो इसका उत्तर है कि लक्षणा शक्यसम्बन्धवाली होती है, शक्यसम्बन्ध एक ही व्यक्ति में नहीं रहता, किन्तु अनेक व्यक्तियों में साधारण होता है, अतः वहाँ भी तो यह निर्णय नहीं हो सकता कि लक्षणा अमुक व्यक्ति में भी है, दूसरे व्यक्ति में नहीं । अतः 'सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य में शब्द अगृहीतात्मसंसर्गक ही आत्मबोधक है, ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है । फलतः वहाँ कोई अतिप्रसङ्ग जैसा दोष भी नहीं है ।

जाग्रद्वन्न यतः शब्दं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन ।
ध्वस्तेऽतो ज्ञानतोऽज्ञाने ब्रह्मास्मीति भवेत्फलम् ॥
अविद्याघातिनः शब्दाद्याऽहं ब्रह्मेति धीर्भवेत् ।
नश्यत्यविद्यया सार्धं हत्वा रोगमिवौषधम्' ॥

(बृह० वा० 1.4.860-63) इत्यादिना ग्रन्थेन ।

120 तदेवं वचनविषयस्य वक्तुर्वचनक्रियायाश्चात्याश्चर्यरूपत्वादात्मनो दुर्विज्ञानत्वमुक्त्वा श्रोतुर्दुर्मिलत्वादपि तदाह—आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेदेति । अन्यो द्रष्टुर्वक्तुश्च मुक्तादिलक्षणो मुमुक्षुर्वक्तारं ब्रह्मविदं विधिवदुपसृत्यैनं शृणोति श्रवणाख्यविचारविषयीकरोति वेदान्तवाक्यतात्पर्यनिश्चयेनावधारयतीति यावत् । श्रुत्वा चैनं मनननिदिध्यासनपरिपाकाद्वेदापि साक्षात्करोत्यपि आश्चर्यवत् । तथा चाऽऽश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमिति व्याख्यातम् । अत्रापि कर्तुराश्चर्यरूपत्वमनेकजन्मानुष्ठितसुकृतक्षालितमनोमलतयाऽतिदुर्लभत्वात् । तथा च वक्ष्यति--

से भी निवारित नहीं कर सकता । इसीप्रकार जिसप्रकार के शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषों को आप तात्पर्य के अनुसन्धानपूर्वक लक्षणा से महावाक्यार्थ का बोध स्वीकार करते हैं उसीप्रकार के पुरुष को केवल शब्दविशेष ही सम्बन्धज्ञान के बिना भी अखण्डसाक्षात्कार को उत्पन्न करता है - ऐसा स्वीकार करने में क्या अनुपपत्ति है ? इस पक्ष में शब्दवृत्ति का विषय न होने के कारण ही 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुति भी सुतराम् उपपन्न है । और भगवान् के इस अभिप्राय को वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी इस प्रकार कहा है :- "अविद्या के दुर्बल होने के कारण, आत्मा के बोधस्वरूप होने के कारण और शब्दशक्ति के अचिन्त्य होने के कारण हम उस आत्मा को मोह की निवृत्ति होने पर जान सकते हैं । सुषुप्ति में निमग्न पुरुष दूसरों के द्वारा नामोच्चारण या वाक्योच्चारण से जगाये जाने पर वाक्योक्त अभिधान और अभिधेय के सम्बन्ध को ग्रहण किए बिना ही निद्रा त्यागकर जाग ही जाते हैं, क्योंकि सुषुप्ति में कोई भी पुरुष जाग्रत्काल के समान शब्द को समझ नहीं सकता । अतः ज्ञान से अज्ञान के विध्वस्त = विनष्ट हो जाने पर 'मैं ब्रह्म हूँ'- यह फल होता है । फिर अविद्याघाती शब्द से जो 'मैं ब्रह्म हूँ' - ऐसी बुद्धि होती है वह भी अविद्या के साथ उसीप्रकार नष्ट हो जाती है जैसे औषधि रोग का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है" (बृह० वा० 1.4.860-863), इत्यादि ।

120 इसप्रकार वचन = वाक्य के विषय = कर्म -- जिज्ञासित आत्मा, वक्ता और वचनक्रिया-- इन तीनों की आश्चर्यरूपता से आत्मा की दुर्विज्ञानता = दुर्विज्ञेयता कहकर श्रोता की दुर्लभता से भी उसको कहते हैं -- 'आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद' इत्यादि । अन्य अर्थात् मुक्त दृष्टा और वक्ता से विलक्षण मुमुक्षु विधिपूर्वक ब्रह्मवेत्ता वक्ता के समीप पहुँचकर उस आत्मा को सुनता है = श्रवणनामक विचार को विषय बनाता है अर्थात् वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य का निश्चय कर अवधारण करता है । और श्रवण करके मनन और निदिध्यासन के परिपाक[198] से भी इस आत्मा का साक्षात्कार करता भी है, यह आश्चर्यसा ही है । इसी प्रकार 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' -- इस वाक्य की व्याख्या हो गई । इसमें भी जो कर्ता की आश्चर्यरूपता है वह अनेक जन्मों में अनुष्ठित सुकृतों के द्वारा क्षालित मनोमल = मनोगत रागद्वेषकामादि मलवाले दृष्टा-पुरुष की अत्यन्त दुर्लभता के कारण है । यही भगवान् स्वयं गीता में ही आगे कहेंगे --

198. तात्पर्य यह है कि आत्मबोध के लिए श्रवणादि के दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर = लगातार व्यवधानरहित सत्कारपूर्वक = श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक सेवन = अनुष्ठान से श्रवण-मननादि का परिपाक होता है, श्रवणादि के परिपाक से ही आत्मसाक्षात्कार होता है ।

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० 7.3) इति ।
'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (कठ० 2.7)
इति श्रुतेश्च । एवं श्रवणश्रोतव्ययोराश्चर्यत्वं प्राग्वद्व्याख्येयम् ।

121 ननु यः श्रवणमननादिकं करोति स आत्मानं वेदेति किमाश्चर्यमत आह--न चैव कश्चिदिति । चकारः क्रियाकर्मपदयोरनुषङ्गार्थः । कश्चिदेनं नैव वेद श्रवणादिकं कुर्वन्नपि । तदकुर्वंस्तु न वेदेति किमु वक्तव्यम् । 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्र० सू० 3.4.51) इति न्यायात् । उक्तं च वार्तिककारैः –

'कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥'
(बृह० वा० स० 294) इति ।

श्रवणादि कुर्वतामपि प्रतिबन्धपरिक्षयादेव ज्ञानं जायते । अन्यथा तु न । स च प्रतिबन्धपरिक्षयः कस्यचिद्भूत एव । यथा हिरण्यगर्भस्य । कस्यचिद्भावी । यथा वामदेवस्य । कस्यचित्वर्तते । यथा श्वेतकेतोः । तथा च प्रतिबन्धक्षयस्यातिदुर्लभत्वात् 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति स्मृतेश्च दुर्विज्ञेयोऽयमात्मेति निर्गलितोऽर्थः ।

'सहस्रों मनुष्यों में कोई एक ही सिद्धि के लिए = मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धों = योगीयों में भी कोई एक ही मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वत: अर्थात् यथार्थरूप से जानता है' (गीता, 7.3) इत्यादि । इस अर्थ को "बहुतों के द्वारा जो श्रवण के लिए भी लभ्य नहीं है, और बहुत जिसें सुनते हुए भी नहीं समझते । उस आत्मतत्त्व का वक्ता = निरूपण करनेवाला कुशल आचार्य आश्चर्यरूप है और उस कुशल आचार्य से आत्मोपदेश पाकर इसे जान लेनेवाला = ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है"-- (कठ० 2.7) इत्यादि श्रुति भी कहती है । इसीप्रकार पूर्ववत् श्रवण = श्रवणक्रिया और श्रोतव्य = श्रवण के विषय की भी आश्चर्यरूपता की व्याख्या कर लेनी चाहिए ।

121 यदि यह कहो कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो द्रष्टव्य:' -- इस श्रुति से जो श्रवण, मनन आदि करता है वह आत्मा को जान ही लेता है, इसमें आश्चर्य क्या है ? तो भगवान् कहते हैं -- 'न चैव कश्चित्' । यहाँ 'च'कार क्रियापद-'वेद' और कर्मपद -- 'एनम्' -- इन दोनों पदों के सम्बन्ध के लिए है । अर्थात् कोई तो श्रवणादि करने पर भी इस आत्मा को नहीं ही जानता, फिर श्रवणादि न करने पर इसे कोई नहीं जानता -- इसमें तो कहना ही क्या है ? यह अर्थ 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' = 'यदि कोई प्रतिबन्धक उपस्थित न हो तो इस जन्म में ही विद्यालाभ हो सकता है, क्योंकि श्रुति में ऐसा ही देखा जाता है' (ब्र० सू० 3.4.51) -- इस न्याय से भी सिद्ध होता है । यही वार्तिककार ने भी कहा है -- "यदि कोई कहे कि वह ज्ञान कैसे होता है ? तो प्रतिबन्ध के क्षय से ही होता है । वह प्रतिबन्धक्षय भी या तो किसी का हो गया है, या किसी का होनेवाला है, अथवा किसी का हो रहा है' (बृह० वा० स० 294) इत्यादि । श्रवणादि करनेवालों को भी प्रतिबन्ध का परिक्षय होने से ही ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं होता । बह प्रतिबन्ध-परिक्षय किसी का तो हो ही गया है, जैसे --

122 यदि तु श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चिदित्येव व्याख्यायेत तदा 'आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (कठ० 2.7) इति श्रुत्यैकवाक्यता न स्यात्, 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० 7.3) इति भगवद्वचनविरोधश्चेति विद्वद्भिरविनयः क्षन्तव्यः । अथवा न चैव कश्चिदित्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः कश्चिदेनं न पश्यति न वदति न शृणोति श्रुत्वाऽपि न वेदेति पञ्च प्रकारा उक्ताः कश्चित्पश्यत्येव न वदति कश्चित्पश्यति च वदति च कश्चित्तद्वचनं शृणोति च तदर्थं जानाति च कश्चिच्छ्रुत्वाऽपि न जानाति च कश्चित्तु सर्वबहिर्भूत इति । अविद्वत्पक्षे तु असम्भावनाविपरीतभावनाभिभूतत्वादाश्चर्यतुल्यत्वं दर्शनवदनश्रवणेष्विति निगदव्याख्यातः श्लोकः । चतुर्थपादे तु दृष्ट्वोक्त्वा श्रुत्वाऽपीति योजना ॥ 29 ॥

123 इदानीं सर्वप्राणिसाधारणभ्रमनिवृत्तिसाधनमुक्तमुपसंहरति –

हिरण्यगर्भ का । किसी का होनेवाला है, जैसे -- वामदेव का । और किसी का हो रहा है, जैसे -- श्वेतकेतु का । इस प्रकार प्रतिबन्धक्षय के अत्यन्त दुर्लभ होने के कारण, तथा 'पुरुषों के पापकर्म का क्षय होने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है' -- इस स्मृतिवाक्य से 'यह आत्मा दुर्विज्ञेय है' -- यह निष्कर्ष निकलता है ।

122 यदि 'श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्' -- इस वाक्य की व्याख्या इसप्रकार की जाय कि 'श्रवण करके भी इस आत्मा को कोई नहीं जानता' -- तो 'कुशल आचार्य से आत्मोपदेश पाकर इसे जानलेनेवाला = ज्ञाता आश्चर्यरूप है' (कठ० 2.7) -- इस श्रुति से इसकी एकवाक्यता नहीं होगी, और 'यत्न करनेवाले सिद्धपुरुषों में कोई एक ही मुझे तत्त्वतः जानता है, (गीता, 7.3) -- इस भगवद्वचन से भी विरोध होगा । अतः विद्वान् हमारे अविनय = अशिष्ट प्रयत्न के लिए क्षमा करें । अथवा, 'न चैव कश्चित्' इसका सर्वत्र = श्लोकस्थ सभी वाक्यों के साथ सम्बन्ध करना चाहिए; अर्थात् कोई इस आत्मा को न देखता है, न कहता है, न सुनता है, और सुनकर भी न जानता है । इसप्रकार यहाँ ये पाँच प्रकार कहे गए हैं :--(1) कोई देखता ही है कहता नहीं है, (2) कोई देखता भी है, कहता भी है, (3) कोई आत्मबोधक वचन = वाक्य को सुनता है और उसका अर्थ जानता है, (4) कोई सुनकर भी नहीं जानता है, और (5) कोई तो इन सभी बातों से वञ्चित रहता है । अविद्वत्पक्ष = सर्वबहिर्भूतपक्ष में तो असम्भावना[199] और विपरीतभावना[200] से अभिभूत होने के कारण आत्मदर्शन, कथन और श्रवण में आश्चर्यरूपता समानरूप से रहती है, अतः अविद्वत् पक्ष में बोलने मात्र से ही इस श्लोक की व्याख्या हो जाती है । चतुर्थपाद में तो 'देखकर, कहकर, और सुनकर भी' -- यह और जोड़ लेना चाहिए ।। 29 ।।

123 अब सभी प्राणियों में साधारणरूप से रहने वाले भ्रम की निवृत्ति का जो साधन कहा गया है उसका उपसंहार करते हैं :--

---

199. असम्भावना से तात्पर्य है – अभेदासम्भावना = अभेद की असम्भावना अर्थात् अभेद की सम्भावना न होना । अज्ञान के कारण अविद्वान् की बुद्धि अभेदासम्भावना से अभिभूत रहती है । वह सोचता है कि परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का मूल है, जबकि जीव अल्पज्ञ, असर्वज्ञत्वादि से युक्त और परमात्मा के आश्रित है, अतः ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते । यही अभेदासम्भावना है ।

200. विपरीतभावना से तात्पर्य है -- विरुद्धभावना अर्थात् एकत्र विरुद्धस्वभाव की प्रतीति होना । अज्ञानी पुरुष की बुद्धि अज्ञान के कारण अद्वैत के स्थान पर द्वैतभावना और उसमें भी विपरीतभावना से अभिभूत रहती है । अज्ञानी कहता है कि जीव सदा ईश्वर से भिन्न है, अनेक है और स्वकर्मानुसार फल भोगता है, किन्तु ईश्वर इससे विपरीत है, -- इन दोनों का तम और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव है । इनका अभेद = अद्वैत असंभव है । यही विपरीतभावना है ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ 30 ॥

124 सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽप्ययं देही लिङ्गदेहोपाधिरात्मा वध्यो न भवतीति नित्यं नियतं यस्मात्तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्थूलानि सूक्ष्माणि च भीष्मादिभावापन्नान्युद्दिश्य त्वं न शोचितुमर्हसि। स्थूलदेहस्याशोच्यत्वमपरिहार्यत्वात्, लिङ्गदेहस्याशोच्यत्वमात्मवदेवावध्यत्वादिति न स्थूलदेहस्य लिङ्गदेहस्याऽऽत्मनो वा शोच्यत्वं युक्तमिति भावः ॥ 30 ॥

125 तदेवं स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूपं सर्वप्राणिसाधारणमर्जुनस्य भ्रमं निराकर्त्तुमुपाधित्रय--विवेकेनाऽऽत्मस्वरूपमभिहितवान् । संप्रति युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूप-मर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनमसाधारणं भ्रमं निराकर्तुं हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभावं बोधयति भगवान्--

[हे भारत[201] ! सभी प्राणियों के देह में विद्यमान लिङ्गदेहोपाधिक यह आत्मा नित्य = सर्वदा ही अवध्य है । अत: उन सभी स्थूल और सूक्ष्म भूतों के लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है ।। 30।।]

124 समस्त प्राणियों के देहों = शरीरों के मारे जाने पर भी यह देही अर्थात् लिङ्गदेह[202] = लिङ्गशरीर की उपाधि से उपहित = लिङ्गशरीरोपहित चैतन्य आत्मा वध्य नहीं होता = मारा नहीं जा सकता, यह क्योंकि नित्य = नियत = निश्चित है, अत: भीष्मादि के रूप में स्थित उन सभी स्थूल और सूक्ष्म भूतों के लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है । स्थूलदेह की अशोच्यता तो उसके विनाश की अपरिहार्यता के कारण है तथा लिङ्गदेह की अशोच्यता आत्मा के समान ही अवध्य होने के कारण है । अत: भाव यह है कि स्थूलदेह, लिङ्गदेह = सूक्ष्मदेह = सूक्ष्मशरीर अथवा आत्मा -- किसी की भी शोच्यता उचित नहीं है ।। 30 ।।

125 इसप्रकार, स्थूल और सूक्ष्म -- दोनों शरीर और उनकी कारण अविद्या -- इन तीन उपाधियों के अविवेक से मिथ्याभूत भी संसार में सत्यत्व, आत्मधर्मत्व आदि का प्रतिभास = अध्यास = मिथ्याज्ञान सभी प्राणियों में साधारण होता है, यही सर्वसाधारण भ्रम अर्जुन में भी है, अत: अर्जुन के सर्वसाधारण भ्रम का निराकरण करने के लिए उपाधित्रय का विवेचन कर आत्मा के स्वरूप को कहा । अब युद्धरूप स्वधर्म में हिंसा आदि की बहुलता से अधर्मत्व के प्रतिभासरूप अर्जुन के ही

201. भारत = भा + रत अर्थात् भा = ज्योति = आत्मज्योति = ब्रह्म, उसमें रत = भारत । भारत = अर्जुन आत्मज्ञान का अधिकारी है और भगवान् की कृपा से वह आत्मनिष्ठ भी होगा । अत: अर्जुन को साधारण पुरुषों = अविद्वत्पुरुषों = अज्ञानीपुरुषों के समान अनात्मदेहादि के विनाश के कारण शोक और मोह से अभिभूत नहीं होना चाहिए , यही सूचित करने के लिए यहाँ 'भारत' शब्द से सम्बोधन किया गया है ।

202. मृत्यु के बाद जन्म से पूर्व जीव के कर्म-संस्कार जिस शरीर में रहते हैं, उसे 'सूक्ष्मशरीर' कहते हैं । सूक्ष्मशरीर को लिङ्गशरीर भी कहा जाता है, क्योंकि इससे प्रत्यगात्मा के अस्तित्व का ज्ञापन होता है । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, और मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण -- इन सत्रह अवयवों से मिलकर 'सूक्ष्मशरीर' बनता है --'सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि' -- (वेदान्तसार) । यह शरीर सर्गादि से सर्गान्त तक एक ही रहता है । इसी का प्रत्येक स्थूल शरीर से सम्बन्ध 'जन्म' और उससे वियोग 'मरण' कहा जाता है । सूक्ष्म होने से क्षुद्र जन्तु-शरीर में भी इसका प्रवेश अनायास ही हो जाता है । स्थूलशरीर में इसका प्रवेश स्वकर्मफलभोग के लिए आवश्यक होता है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर से प्राणी भोग नहीं कर सकता । इसी सूक्ष्मशरीर = लिङ्गशरीर से उपहित चैतन्य आत्मा को 'देही' कहते हैं, अत: इस सूक्ष्मशरीर का नाश नहीं होता । फलत: सूक्ष्मशरीर और आत्मा -- दोनों ही अविनाशी हैं ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ 31 ॥

126 न केवलं परमार्थतत्त्वमेवावेक्ष्य किंतु स्वधर्ममपि क्षत्रियधर्ममपि युद्धापराङ्मुखत्वरूपमवेक्ष्य शास्त्रत: पर्यालोच्य विकम्पितुं विचलितुं धर्मादधर्मत्वभ्रान्त्या निवर्तितुं नार्हसि । तत्रैवं सति 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' इत्यादिना 'नरके नियतं वासो भवति' इत्यन्तेन युद्धस्य पापहेतुत्वं त्वया यदुक्तं 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिना च गुरुवधब्रह्मवधाद्यकरणं यदभिहितं तत्सर्वं धर्मशास्त्रापर्यालोचनादेवोक्तम् । कस्मात्, हि यस्माद्धर्म्यादपराङ्मुखत्वधर्मादनपेताद्युद्धा-दन्यत्क्षत्रियस्य श्रेय: श्रेय:साधनं न विद्यते । युद्धमेव हि पृथिवीजयद्वारेण प्रजारक्षणब्राह्मण-शुश्रूषादिक्षात्रधर्मनिर्वाहकमिति तदेव क्षत्रियस्य प्रशस्ततरमित्यभिप्राय: । तथा चोक्तं पराशरेण--

---

करुणा आदि दोष से पूर्ण असाधारण भ्रम का निराकरण करने के लिए भगवान् हिंसा आदि से युक्त होने पर भी स्वधर्म होने के कारण युद्ध में अधर्मत्व का अभाव समझाते हैं :--

[स्वधर्म = अपना धर्म समझकर भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का साधन नहीं है ॥ 31 ॥]

126 केवल परमार्थतत्त्व को ही देखकर नहीं, किन्तु युद्ध से पराङ्मुख न होना रूप स्वधर्म अर्थात् क्षत्रियधर्म को भी देखकर = शास्त्र से पर्यालोचना कर तुम्हारा कम्पित होना = विचलित होना अर्थात् धर्म में अधर्मत्व की भ्रान्ति से निवर्तित होना = पीछे लौटना उचित नहीं है । वहाँ -- पूर्व में ऐसा होने के कारण -- युद्ध से विमुख होने के कारण तुमने जो 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' (गीता, 1.38) इत्यादि श्लोक से लेकर 'नरके नियतं वासो भवति' (गीता, 1.44) इत्यादि तक के ग्रन्थ से युद्ध को पाप का कारण बताया है, तथा 'कथं भीष्ममहं संख्ये' (गीता 2.4) इत्यादि श्लोक से गुरुवध, ब्रह्मवध आदि न करने के लिए कहा है, वह सब भी धर्मशास्त्र की पर्यालोचना न करने के कारण ही कहा है । क्यों ? क्योंकि जो धर्म्य अर्थात् पराङ्मुख न होनारूप धर्म से अनपेत -- रहित नहीं है, किन्तु सहित ही है उस युद्ध से अतिरिक्त क्षत्रिय के लिए दूसरा कोई श्रेय = श्रेय का साधन नहीं है । अभिप्राय यह है कि युद्ध ही पृथिवीजय के द्वारा प्रजारक्षण ब्राह्मणशुश्रूषा आदि क्षात्रधर्मों = क्षत्रियधर्मों के निर्वाह का कारण होता है, अत: वही क्षत्रिय के लिए विशेष प्रशंसनीय है । यही पराशर ने कहा है -- 'क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा करते हुए, हाथ में शस्त्र धारणकर कठोर दण्ड देते हुए, शत्रुओं की सेना को पराजित करके धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करना चाहिए' (पराशरस्मृति, 1.58) इत्यादि । मनु ने भी कहा है -- 'प्रजा का पालन करता हुआ राजा समान, अधिक या कम बलवाले शत्रुओं के बुलाने पर क्षात्र-धर्म का स्मरण करता हुआ युद्ध से विमुख न हो । युद्ध से डरकर नहीं भागना, प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना -- ये राजा का परम कल्याण करनेवाले धर्म हैं' (मनुस्मृति, 7.88) इत्यादि । '' 'राजा' शब्द क्षत्रियजातिमात्र का वाचक है'' -- यह पूर्वमीमांसा के इष्टि - अधिकरण में निश्चित ही किया गया है । अत: यहाँ यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि 'यह भूमिपाल का ही धर्म है' । यहाँ उदाहृत वचनों में भी 'क्षत्रियो हि' और 'क्षात्रं धर्मम्' इत्यादि पद क्षत्रियमात्र के स्पष्ट लिङ्ग हैं । अत: क्षत्रिय के लिए युद्ध श्रेष्ठ धर्म है -- यह भगवान् ने ठीक ही कहा है । 'पशु तो गौ और अश्व ही हैं, गौ और अश्व से भिन्न अन्य प्राणी तो पशु ही नहीं है' -- इस प्रकार की प्रशंसा = स्तुति[203] के समान ही यह कहा

'क्षत्रियो हि प्रजा रक्षञ्शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान् ।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्' इति ॥
(परा० स्मृ० 1.58)

मनुनाऽपि--

'समोत्तमाधमै राजा चाऽऽहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञः श्रेयस्करं परम्' ॥
(मनु० स्मृ० 7.87,88) इत्यादिना ।

राजशब्दश्च क्षत्रियजातिमात्रवाचीति स्थितमेवेष्ट्यधिकरणे । तेन भूमिपालस्यैवायं धर्म इति न भ्रमितव्यम् । उदाहृतवचनेऽपि क्षत्रियो हीति क्षात्रं धर्ममिति च स्पष्टं लिङ्गम् । तस्मात्क्षत्रियस्य युद्धं प्रशस्तो धर्म इति साधु भगवताऽभिहितम् । 'अपशवोऽन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः' इतिवत्प्रशंसालक्षणया युद्धादन्यच्छ्रेयःसाधनं न विद्यत इत्युक्तमिति न दोषः । एतेन युद्धात्प्रशस्ततरं किंचिदनुष्ठातुं ततो निवृत्तिरुचितेति निरस्तम् । 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्येतदपि ॥ 31 ॥

127 ननु युद्धस्य कर्तव्यत्वेऽपि न भीष्मद्रोणादिभिर्गुरुभिः सह तत्कर्तुमुचितमतिगर्हित्वादित्याशङ्क्याऽऽह--

गया है कि 'युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का साधन नहीं है , अतः इसमें कोई दोष नहीं है । इससे 'युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा कार्य-युद्धभूमि से लौट जाना उचित है' तथा 'मैं युद्ध में अपने बन्धुओं को मारकर कोई श्रेय = कल्याण नहीं देखता हूँ' (गीता, 1.31), इत्यादि अर्जुनोक्त विचारकथन का भी निराकरण हो जाता है ।। 31 ।।

127. 'युद्ध क्षत्रिय का कर्त्तव्य है, यह तो ठीक है किन्तु भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनों के साथ युद्ध करना तो उचित नहीं है, क्योंकि यह अतिनिन्दित है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं :--

203. ' स्तुति ' अविद्यमान गुणों के अरोप से ही होती है, विद्यमान गुणों के कथन से तो वस्तुतत्त्व ही सिद्ध होता है । यह स्तुति दो प्रकार की होती है -- अन्यत्र विद्यमान गुणों को अन्यत्र आरोपित करना प्रथम स्तुति है, जैसे -- किसी विद्वान् को बृहस्पति कहकर सम्बोधित करना । द्वितीय स्तुति है -- किसी के आरोपित गुणों का अन्यत्र प्रतिषेध करना । जैसे -- पशु तो गौ और अश्व ही हैं, गौ और अश्व से भिन्न अन्य प्राणी तो पशु ही नहीं है । यहाँ 'गौ और अश्व ही पशु है ' -- इस कथन से गौ और अश्व की प्रशंसा -- स्तुति की गई है, किन्तु अन्य पशुओं में पशुत्व नहीं है, इसप्रकार का अर्थ प्रकाशित करने का यहाँ कोई उद्देश्य नहीं है । इसीप्रकार प्रकृत प्रसंग में 'क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का साधन नहीं है' -- ऐसा कहने से क्षत्रिय के लिए प्रतिषेध के व्याज से युद्ध -- प्रशंसा की गई है, किन्तु युद्ध के अतिरिक्त क्षात्रधर्म-प्रजापालन, ब्राह्मणसेवा इत्यादि धर्म का पालन नहीं करना चाहिए -- ऐसा कहने का यहाँ कोई उद्देश्य नहीं है । यह एक स्वधर्म में प्रवृत्ति के लिए उपयुक्त वचनशैली है ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ 32 ॥

128 यदृच्छया स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण, चोऽवधारणे, अप्रार्थनयैवोपस्थितमीदृशं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं कीर्तिराज्यलाभदृष्टफलसाधनं युद्धं ये क्षत्रियाः प्रतियोगित्वेन लभन्ते ते सुखिनः सुखभाज एव । जये सत्यनायासेनैव यशसो राज्यस्य च लाभात् । पराजये चातिशीघ्रमेव स्वर्गस्य लाभादित्याह--स्वर्गद्वारमपावृतमिति । अप्रतिबद्धं स्वर्गसाधनं युद्धमव्यवधानेनैव स्वर्गजनकं ज्योतिष्टोमादिकं तु चिरतरेण देहपातस्य प्रतिबन्धाभावस्य चापेक्षणादित्यर्थः । स्वर्गद्वारमित्यनेन श्येनादिवत्प्रत्यवायशङ्का परिहृता । श्येनादयो हि विहिता अपि फलदोषेण दुष्टाः, तत्फलस्य शत्रुवधस्य 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इत्यादिशास्त्रनिषिद्धस्य प्रत्यवायजनकत्वात्फले विध्यभावाच्च न 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इति न्यायावतारः । युद्धस्य हि फलं स्वर्गः स च न निषिद्धः । तथा च मनुः--

[हे पार्थ ! बिना किसी प्रयत्न के ही प्राप्त हुआ स्वर्ग का खुला द्वाररूप ऐसा युद्ध तो सुखी क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है ॥ 32 ॥]

128 यदृच्छया = यदृच्छा से ही अर्थात् अपने प्रयत्न के बिना ही । 'चकार' निश्चयार्थक है । अर्थात् बिना प्रार्थना के ही उपस्थित = प्राप्त हुआ ऐसा युद्ध, जिसमें भीष्म-द्रोण आदि वीर पुरुष प्रतियोगी = प्रतिद्वन्द्वी प्रतिभट हैं तथा जो कीर्ति और राज्यलाभ = राज्यप्राप्तिरूप दृष्ट फलों का साधन है, जिन क्षत्रियों को प्रतियोगितया प्राप्त होता है वे तो सुखी = सुख के भागी ही हैं, क्योंकि जय = विजय होने पर तो अनायास ही यश और राज्य की प्राप्ति होगी और पराजय होने के कारण देहनाश हो तो अतिशीघ्र ही स्वर्ग की प्राप्ति होगी, यही भगवान् ने 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' से कहा है । अर्थात् प्रतिबन्धशून्य[204] स्वर्ग का साधनरूप युद्ध बिना किसी व्यवधान के ही स्वर्ग का जनक है । ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ तो अत्यन्त विलम्ब से स्वर्ग की प्राप्ति कराते हैं, क्योंकि उनमें देहपात और प्रतिबन्ध के अभाव की अपेक्षा रहती है । 'स्वर्गद्वारम्' इससे श्येनयागादि[205] के समान प्रत्यवाय की शंका का भी

---

204. स्वर्गसाधन दो प्रकार के हैं – सप्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध । सप्रतिबन्ध ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ हैं और अप्रतिबन्ध युद्ध है । ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यविहित हैं, ये स्वर्ग के जनक हैं, किन्तु इनसे स्वर्ग की प्राप्ति विलम्ब से होती है, क्योंकि देह के विद्यमान रहते हुए अविलम्ब स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् प्रारब्ध-कर्माधीन देह की स्थिति ही ज्योतिष्टोम के फलस्वरूप स्वर्गप्राप्ति की प्रतिबन्धक होती है । देहपातोत्तर ही स्वर्गप्राप्ति होती है, अतः ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ सप्रतिबन्ध स्वर्ग-साधन हैं । युद्ध में क्षत्रिय की मृत्यु होने के साथ-साथ स्वर्ग की प्राप्ति होती है, क्योंकि प्रतिबन्धक तो देह होता है, उसका युद्ध में नाश ही हो जाता है, अतः देहपात के साथ ही स्वर्गप्राप्ति भी अविलम्ब हो जाती है, इसीलिए युद्ध अप्रतिबन्ध स्वर्गसाधन है ।

205. श्येनयाग शास्त्रविहित है, किन्तु नरक का कारण है, क्योंकि इसमें शत्रुबधरूप हिंसा होती है । श्येनयाग स्वतः दुष्ट नहीं है, किन्तु इसका फल'शत्रुवध '-- दुष्ट होने से यह फलदोष से दुष्ट है । ' शत्रुवधकामः श्येनेनाभिचरन् यजेत' -- इस वाक्य से श्येनयाग मात्र विहित है, शत्रुवधरूप फल नहीं । अतः इसमें हिंसा होने से पाप होता है, जो नरक का कारण है । दूसरी ओर युद्ध क्षत्रिय के लिए शास्त्रविहित है, और उसका फल'स्वर्गप्राप्ति' कहीं भी निषिद्ध नहीं है, अतः युद्ध हिंसात्मक होने पर भी पापजनक नहीं है । यदि कोई कहे कि श्येनयाग में निषिद्ध हिंसा होने से पाप होता है तो युद्ध में निषिद्ध हिंसा होने से पाप क्यों नहीं होता, तो इसका उत्तर है कि जहाँ हिंसा होने से अनिष्ट की प्राप्ति अधिक हो, जिसका फल दुःख ही हो, वहाँ हिंसा पापजनक होती है, किन्तु जहाँ हिंसा होने से अनिष्ट की प्राप्ति न हो, जिसका फल सुख ही हो तो वहाँ हिंसा पापजनक नहीं होती, जैसे युद्ध ।

'आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः' ॥
(मनु० स्मृ० 7.89) इति ॥

129 युद्धं तु अग्नीषोमीयाद्यालम्भवद्विहितत्वान्न निषेधेन स्प्रष्टुं शक्यते षोडशिग्रहणादिवत् । ग्रहणाग्रहणयोस्तुल्यबलतया विकल्पवत्सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण संकोचसंभवात् । तथा च 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इति न्यायाद्युद्धं न प्रत्यवायजनकं नापि भीष्मद्रोणादिगुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तो दोषः, तेषामाततायित्वात् । तदुक्तं मनुना--

परिहार किया गया है । श्येनयागादि विहित होने पर भी फलदोष से दूषित कहे गए हैं, क्योंकि 'किसी प्राणी की हिंसा न करे' 'ब्राह्मण का वध न करे' इत्यादि शास्त्र से निषिद्ध श्येनयागादि का शत्रुवधरूप फल प्रत्यवाय का जनक है; और श्येनयागादि के फल के लिए कोई विधि नहीं है, अतः यहाँ 'जहाँ विधि [206] का स्पर्श होता है वहाँ निषेध[207] का अवकाश नहीं रहता' इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं है । युद्ध का फल तो स्वर्ग है और वह निषिद्ध भी नहीं है । मनु भी यही कहते हैं--

"जो राजा परस्पर एक दूसरे का संहार करने की इच्छा से युद्धों में अपार शक्तिपूर्वक युद्ध करते हैं और उससे विमुख नहीं होते हैं, वे स्वर्ग को जाते हैं" -- (मनुस्मृति, 7.89) इत्यादि ।

129 युद्ध तो अग्निषोमीयादि यज्ञों की हिंसा = आलम्भ के समान विहित होने के कारण षोडशिग्रहण आदि के समान निषेध से स्पर्श नहीं किया जा सकता, क्योंकि षोडशी के ग्रहण और अग्रहण में समान बल होने से विकल्प रहने कारण ग्रहणरूप सामान्य शास्त्र का अग्रहणरूप विशेष शास्त्र से संकोच होना सम्भव है[208] । इसीप्रकार 'विधि का स्पर्श रहने पर निषेध का अवकाश नहीं रहता' इस न्याय से भी युद्ध प्रत्यवाय (पाप) का जनक = कारण नहीं है । इसके अतिरिक्त, भीष्म-द्रोण आदि गुरु-ब्राह्मणादि का वध करने से भी कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि वे आततायी हैं । आततायी के विषय में मनु ने कहा भी है --

206. वेद के उस भाग को 'विधि' कहा जाता है जो लौकिक प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले पदार्थों का विधान करती है -- 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' । उदाहरण के लिए 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इस वाक्य को विधि कहा जाता है । विधि को सुनकर व्यक्ति में यागादि के अनुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । जिसमें पुरुष की प्रवृत्ति स्वतः नहीं होती, उसमें प्रवृत्ति कराने के लिए ही विधि की आवश्यकता होती है । फल में पुरुष की स्वतः प्रवृत्ति होती है, अतः उसमें प्रवर्तक विधि की आवश्यकता नहीं होती ।

207. 'निषेध' ऐसे वाक्य को कहते हैं जो पुरुष को अनर्थकारणभूत क्रिया के करने से रोकता है -- 'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः' । विधिवाक्य किसी क्रियानुष्ठान के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करता है, जबकि निषेधवाक्य पुरुष को निवृत्त करता है अर्थात् विधिवाक्य पुरुष में क्रियानुष्ठान के प्रति प्रवर्तना उत्पन्न करता है, जबकि निषेध वाक्य निवर्तना ।

208. अभिप्राय यह है कि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' अर्थात् 'किसी भी प्राणी की हिंसा न करे' -- यह सामान्य शास्त्र है और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' अर्थात् 'अग्नि और सोम के लिए पशु की हिंसा करनी चाहिए' -- यह एक विशेष शास्त्र है । जिस प्रकार अतिरात्र यज्ञ में षोडशीरूप यज्ञपात्र विशेष का ग्रहण तथा अग्रहण -- 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' -- दोनों ही शास्त्र में विकल्परूप से विहित हैं, दोनों के समानबल होने के कारण किसी का भी इच्छानुसार अनुष्ठान किया जा सकता है । कहाँ ग्रहण करना चाहिए और कहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिए, यह विधि के अन्तर्गत दूसरे वाक्य की पर्यालोचनाकर समझ लेना चाहिए । उसीप्रकार विशेष शास्त्र से सामान्य शास्त्र का संकोच होना चाहिए । सामान्यशास्त्र और विशेष शास्त्र -- दोनों ही स्थलभेद के अनुसार प्रमाण हैं -- कोई भी अप्रमाण नहीं हैं । इन दोनों में सामंजस्य करने के लिए यही कहना होगा कि अग्निषोमीयादि

'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयात्र तेन ब्रह्महा भवेत् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' ॥
(मनु० स्मृ० 8.350-51) इत्यादि ।

130 ननु--'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' ॥ (याज्ञ० 2.21)
इति याज्ञवल्क्यवचनादाततायिब्राह्मणवधेऽपि प्रत्यवायोऽस्त्येव । 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इति हि दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वाद्धर्मशास्त्रम्, 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्र तेन ब्रह्महा भवेत्' इति च स्वजीवनार्थत्वादर्थशास्त्रम् ।

"गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो, ब्राह्मण हो, अथवा बहुश्रुत हो; आततायी को तो आते ही बिना विचार किए ही अर्थात् तत्काल ही मारना चाहिए । अपने को मारने की इच्छा से आए हुए वेदान्त-पारगामी आततायी को भी मारने का ही निश्चय करे । ऐसा करने से ब्रह्मघाती नहीं होता । आततायी को मारने से मारनेवाले को कोई दोष नहीं होता ।"[209] -- (मनुस्मृति, 8.350–351) इत्यादि ।

130 शंका -- 'दो स्मृतियों का विरोध होने पर व्यवहार से न्याय बलवान् होता है । अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र अधिक बलवान् होता है -- ऐसी स्थिति है' (याज्ञ० 2.21) -- इस याज्ञवल्क्य के वचन के अनुसार आततायी ब्राह्मण को मारने में भी प्रत्यवाय = दोष है ही । क्योंकि 'ब्राह्मण का वध न करे' -- यह किसी दृष्टप्रयोजन की अपेक्षावाला न होने से धर्मशास्त्र है, और 'जो मारने की इच्छावाला हो उसे मारने का ही निश्चय करे, ऐसा करने से ब्रह्मघाती नहीं होता' -- यहाँ अपने जीवन का प्रयोजन रहने से यह अर्थशास्त्र है ।

विहित स्थल के अतिरिक्त दूसरे अविहित स्थल में ही हिंसा अनर्थकारिणी होने के कारण निषेध है । इसके अतिरिक्त सामान्यविधि से विशेष विधि बलवान् होती है । इस न्याय से भी 'मा हिंस्यात्' सामान्यविधि की अपेक्षा 'अग्निसोमीयं पशुमालभेत' – विशेष विधि बलवान् है । अतः विशेषविधि से सामान्यविधि बाधित होने के कारण हिंसा साधारणतः अधर्म होने के कारण प्रत्यवायजनक होने पर भी विशेषस्थल में अर्थात् अग्निषोमीयादि यज्ञ में अथवा क्षत्रिय के लिए युद्धादि विषयों में धर्मरूप में विहित होने के कारण प्रत्यवायजनक नहीं होती । इसलिए वेदान्तदर्शन में कहा गया है -- 'अशुद्धमिति चेत् न शब्दात् – (वेदान्तसूत्र 3.1.25) अर्थात् यज्ञादि कर्म हिंसाबहुल होने के कारण अशुद्ध = पापजनक है – ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह शास्त्र विहित है ।

209. यहाँ ------------ "गुरुं वा बालबृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥" मनुस्मृति, 8.350-351

यह मनुस्मृति है । तथा --
"आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयात्र तेन ब्रह्महा भवेत् ॥"

इत्यादि तो अर्थशास्त्र है ।

131 अत्रोच्यते-- 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' इतिवद्युद्धविधायकमपि धर्मशास्त्रमेव 'सुखदु:खेसमे कृत्वा' इत्यत्र दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । याज्ञवल्क्यवचनं तु दृष्टप्रयोजनोद्देश्यककूटयुद्धादिकृतवधविषयमित्यदोषः । मिताक्षराकारस्तु धर्मार्थसन्निपातेऽर्थग्राहिण एतदेवेति द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यैतच्छब्दपरामृष्टस्याऽऽपस्तम्बेन विधानान्मित्रलब्ध्याद्यर्थशास्त्रानुसारेण चतुष्पादव्यवहारे शत्रोरपि जये धर्मशास्त्रातिक्रमो न कर्तव्य इत्येतत्परं वचनमेतदित्याह । भवत्वेवं न नो हानि: । तदेवं युद्धकरणे सुखोक्ते: 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिन: स्याम माधव' इत्यर्जुनोक्तमपाकृतम् ॥ 32 ॥

132 ननु नाहं युद्धफलकाम: 'न कांक्षे विजयं कृष्ण' 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य' इत्युक्तत्वात्तत्कथं मया कर्तव्यमित्याशङ्क्याकरणे दोषमाह--

131 समाधान -- यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'ब्रह्मा के उद्देश्य से ब्राह्मण का आलम्भन (वध) करे' इस विधि के समान युद्धविधायक भी धर्मशास्त्र ही है, क्योंकि 'सुखदु:खे समे कृत्वा' (गीता, 2.38) इत्यादि श्लोक में भगवान् दृष्टप्रयोजन की अपेक्षा का अभाव भी कहेंगे । याज्ञवल्क्य वचन तो दृष्टप्रयोजन के उद्देश्य से किये जानेवाले कपट युद्धादि के द्वारा होनेवाले वध के विषय में है, अत: प्रकृत में ऐसा होने से कोई दोष नहीं है[210] । मिताक्षराकार तो कहते हैं -- 'धर्म और अर्थ का विरोध होने पर धर्म का अतिक्रमणकर जो अर्थ को ग्रहण करता है उसे यह करना चाहिए -- इस वाक्य में 'एतद् = यह' शब्द से परामृष्ट द्वादशवार्षिक प्रायश्चित्त का आपस्तम्ब ने विधान किया है । इससे इस वचन का वही तात्पर्य जान पड़ता है कि मित्रलाभ आदि अर्थशास्त्र का अनुसरण करने से चारपाद[211] वाले व्यवहार में शत्रु की विजय होने पर भी धर्मशास्त्र का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ।' ऐसा ही हो, तो भी हमारी कोई हानि नहीं है । इस प्रकार भगवान् ने युद्ध करने में सुख कहकर 'हे माधव ! स्वजनों को ही मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ?' इसप्रकार के अर्जुन के कथन का निराकरण किया है ।। 32 ।।

132 "मैं तो युद्ध के फल की इच्छा ही नहीं करता, यह मैं 'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण' (गीता, 1.32), 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य' (गीता, 1.35) इत्यादि वाक्यों से पहले ही कह चुका हूँ, तो फिर मुझे युद्ध क्यों करना चाहिए" -- इसप्रकार की अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् युद्ध न करने में दोष कहते हैं --

210. तात्पर्य यह है कि दृष्ट = लौकिक प्रयोजन की सिद्धि ही जिसका उद्देश्य है अर्थात् राज्य की प्राप्ति ही जिसका उद्देश्य है ऐसे कूटयुद्ध में यदि ब्राह्मणवध किया जाय तो ब्रह्महत्या से पाप होगा क्योंकि वह धर्मयुद्ध नहीं है, किन्तु यदि किसी फल की आकांक्षा न कर केवल कर्तव्य के बोध से युद्ध किया जाय तो उसप्रकार के युद्ध में यदि कोई ब्राह्मण आततायी के रूप में उपस्थित हो तो उसका वध करने से कोई पाप नहीं होगा, क्योंकि ऐसा युद्ध क्षत्रिय के लिए धर्मशास्त्र द्वारा विहित है ।

211. बृहस्पति ने व्यवहार के चार पाद इसप्रकार कहे हैं --

"पूर्वपक्ष आद्यपादो द्वितीयश्चोत्तरो मत: ।
क्रियापादस्तथान्यश्च चतुर्थो निर्णय: स्मृत: ।।"

अर्थात् प्रथमपाद पूर्वपक्ष है, द्वितीयपाद उत्तरपक्ष है, तृतीय क्रियापाद = प्रमाणादि के द्वारा स्वमत स्थापित करना है, और चतुर्थ निर्णयपाद होता है । इन्हें क्रमश: पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, सिद्धान्तपक्ष और निर्णयपक्ष कहा जाता है ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ 33 ॥

133 अथेति पक्षान्तरे । इमं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं धर्म्यं हिंसादिदोषेणादुष्टं सतां धर्मादनपेतामिति वा । स च मनुना दर्शितः--

'न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ।
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृतं सतां धर्ममनुस्मरन्' ॥ (मनु० 7.90-93) इति ।

सतां धर्ममुल्लङ्घ्य युध्यमानो हि पापीयान्स्यात्, त्वं तु परैराहूतोऽपि सद्धर्मोपेतमपि सङ्ग्रामं युद्धं न करिष्यसि धर्मतो लोकतो वा भीतः परावृत्तो भविष्यसि चेत्ततो 'निर्जित्य परसैन्यानि

[यदि तुम इस धर्म्य = धर्मोपेत संग्राम को नहीं करोगे, तो स्वधर्म और कीर्ति को त्यागकर पाप को प्राप्त करोगे ॥ 33 ॥]

133 यहाँ 'अथ' शब्द पक्षान्तर में है । यदि तुम इस, जिसमें भीष्म-द्रोण आदि वीर पुरुष प्रतियोगी-प्रतिद्वन्द्वी प्रतिभट हैं, धर्म्य = हिंसादि दोषों से अदूषित अथवा सत्पुरुषों के धर्म से अनपेत = युक्त संग्राम को नहीं करोगे तो ऐसे संग्राम के विषय में मनु ने स्पष्ट कहा है --

"रणभूमि में युद्ध करता हुआ कोई योद्धा कूटशस्त्र = बाहर में लकड़ी आदि तथा भीतर में घातक तीक्ष्णशस्त्र या लोहा आदि से युक्त शस्त्र; कर्णि के आकार वाला फल = बाण का अगला भाग, विषादि में बुझाये गये, अग्नि से प्रज्वलित अग्रभाग वाले शस्त्रों से शत्रुओं को न मारे ।"

"रथपर बैठा हुआ योद्धा, भूमिपर स्थित, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए और 'मैं तुम्हारा हूँ' -- ऐसा कहते हुए शरणागत योद्धा को न मारे ।"

"सोये हुए, कवच से रहित, नग्न, शस्त्र से रहित, युद्ध नहीं करते हुए, केवल युद्ध को देखते हुए जैसे -- युद्धसंवाददाता आदि और दूसरे के साथ युद्ध में भिड़े हुए योद्धा को न मारे ।"

"अपने शस्त्र-अस्त्र के टूटने आदि से दुःखी, पुत्रादि के शोक से आर्त, अतिपरिक्षत, भीत और युद्ध से विमुख योद्धा को सज्जन क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करता हुआ कोई भी योद्धा न मारे ।" (मनुस्मृति, 7.90,91,92,93) इत्यादि ।

जो व्यक्ति 'सतां धर्ममनुस्मरन्' इस मनुवाक्य से सत्पुरुषों = सज्जन क्षत्रियों के धर्म का उल्लंघन कर युद्ध करता है, वह पापी होता है । तुम भी यदि युद्ध के लिए शत्रुओं के द्वारा ललकारे जाने पर भी सत्पुरुषों के धर्म से युक्त भी इस संग्राम = युद्ध को नहीं करोगे = धर्म या लोक से भयभीत होकर युद्ध से विमुख हो जाओगे तो 'शत्रुओं की सेना को जीतकर धर्मानुसार पृथ्वी का पालन करे' इत्यादि शास्त्र से विहित युद्ध न करने के कारण स्वधर्म का त्याग करने से अर्थात् अनुष्ठान न करने से महादेव आदि के साथ युद्ध करने से प्राप्त अपनी कीर्ति का परित्याग कर

धर्मेण पालयेत्" इत्यादिशास्त्रविहितस्य युद्धस्याकरणात्स्वधर्मं हित्वाऽननुष्ठाय कीर्तिं च महादेवादिसमागमनिमित्तां हित्वा "न निवर्तेत सङ्ग्रामात्" इत्यादिशास्त्रनिषिद्धसङ्ग्रामनिवृत्या च रणजन्यं पापमेव केवलमवाप्स्यसि न तु धर्मं कीर्तिं चेत्यभिप्रायः ।

134 अथवाऽनेकजन्मार्जितं धर्मं त्यक्त्वा राजकृतं पापमेवावाप्स्यसीत्यर्थः । यस्मात्त्वां परावृत्तमेते दुष्टा अवश्यं हनिष्यन्ति अतः परावृत्तहतः संश्चिरोपार्जितनिजसुकृतपरित्यागेन परोपार्जितदुष्कृतमात्रभाङ्मा भूरित्यभिप्रायः । तथा च मनुः–

"यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥
यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु" ॥ (मनुः 7, 94-95) इति ॥

याज्ञवल्क्योऽपि "राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्" इति ।

तेन यदुक्तं–

"पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।" (गी० 1.36)
"एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।" (गी० 1.35)

इति तन्निराकृतं भवति ॥ 33 ॥

135 एवं कीर्तिधर्मयोरिष्टयोरप्राप्तिरनिष्टस्य च पापस्य प्राप्तिर्युद्धपरित्यागे दर्शिता । तत्र पापाख्यमनिष्टं व्यवधानेन दुःखफलदमामुत्रिकत्वात्, शिष्टगर्हालक्षणं त्वनिष्टमासन्नफलदमत्यसह्यमित्याह –

'संग्राम से पीछे न हटे' इत्यादि शास्त्र से निषिद्ध संग्रामनिवृत्ति से रणजन्य केवल पाप ही प्राप्त करोगे, धर्म और कीर्ति तुम्हें नही मिलेगी -- यह अभिप्राय है ।

134 अथवा, अनेक जन्मों में अर्जित धर्म को त्यागकर राजकृत = राजा युधिष्ठिर के कारण होने वाले पाप को ही प्राप्त करोगे -- यह अभिप्राय है । क्योंकि युद्ध से पराङ्मुख हुए तुमको ये दुष्ट अवश्य मार डालेंगे । अत: तात्पर्य यह है कि पराङ्मुख होकर मारे जाने पर अपने चिरसञ्चित सुकृतों का परित्यागकर दूसरे के द्वारा सञ्चित दुष्कृतों = पापों के ही भागी मत बनो । इसी प्रकार मनु भी कहते हैं --
"जो पुरुष भयवश युद्ध से पराङ्मुख हुआ शत्रुओं के द्वारा मारा जाता है, वह स्वामी का जो कुछ पाप होता है, उसे प्राप्त करता है ।"
"भयवश युद्ध से पराङ्मुख होने पर शत्रुओं से अभिहत योद्धा का परलोक के लिए उपार्जित जो कुछ पुण्य होता है वह सब उसके स्वामी को प्राप्त हो जाता है" (मनु स्मृति, 7,94-95) इत्यादि ।
याज्ञवल्क्य ने भी कहा है -- "युद्ध से विमुख होकर भागते हुए हत योद्धाओं का पुण्य राजा को प्राप्त होता है ।"
इससे अर्जुन ने जो कहा था -- 'हे मधुसूदन ! इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा, मैं तो इनके मारने पर भी इन्हें मारना नहीं चाहता' -- उसका निराकरण हो जाता है ॥ 33 ॥

135 इस प्रकार युद्ध का परित्याग करने में कीर्ति और धर्मरूप इष्ट की अप्राप्ति और पापरूप अनिष्ट की प्राप्ति दिखायी गयी । इसमें 'पापरूप अनिष्ट आमुत्रिक = पारलौकिक होने के कारण व्यवधान से अर्थात् देशान्तर तथा कालान्तर में दु:खस्वरूप फल देनेवाला है, किन्तु शिष्टगर्हास्वरूप अर्थात् शिष्ट

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ 34 ॥

136 भूतानि देवर्षिमनुष्यादीनि ते तवाव्ययां दीर्घकालमकीर्तिं न धर्मात्माऽयं न शूरोऽयमित्येवंरूपां कथयिष्यन्त्यन्योन्यं कथाप्रसङ्गे । कीर्तिधर्मनाशसमुच्चयार्थौ निपातौ । न केवलं कीर्तिधर्मौ हित्वा पापं प्राप्स्यसि अपि तु अकीर्तिं च प्राप्स्यसि । न केवलं त्वमेव तां प्राप्स्यसि अपितु भूतान्यपि कथयिष्यन्तीति वा निपातयोरर्थः ।

137 ननु युद्धे स्वमरणसंदेहात्तत्परिहारार्थमकीर्तिरपि सोढव्या आत्मरक्षणस्यात्यन्तापेक्षितत्वात् । तथा चोक्तं शान्तिपर्वणि–

"साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत वा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युध्येत् कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च सङ्ग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥

जनों में निन्दा होनारूप अनिष्ट तो आसन्न = अतिसंनिहित = तत्काल फलदेनेवाला होने से अत्यन्त असह्य होगा' – ऐसा भगवान् कहते हैं :--

[तथा समस्त प्राणी बहुत समय तक रहनेवाली तुम्हारी अपकीर्ति का भी कथन करेंगे, और संभावित = सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति तो मरण से भी बढ़कर होती है ॥ 34 ॥]

136 भूत अर्थात् देवर्षि = देवता और ऋषि, तथा मनुष्य आदि अथवा, देवर्षिनारदादि मनुष्य आदि प्राणी परस्पर कथाप्रसङ्ग में तुम्हारी अव्यया = दीर्घकाल तक रहनेवाली अपकीर्ति का कथन इसप्रकार करेंगे कि 'अर्जुन धर्मात्मा नहीं था, शूरवीर नहीं था' । यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में 'अपि' और 'च' -- ये दोनों निपात कीर्ति और धर्म -- इन दोनों के नाश के समुच्चायक हैं । अर्थात् केवल कीर्ति और धर्म को त्यागकर पाप को ही प्राप्त नहीं करोगे अपितु अकीर्ति को भी प्राप्त करोगे । अथवा, केवल तुम ही उस अकीर्ति = अपकीर्ति को प्राप्त नहीं करोगे अपितु समस्त प्राणी भी तुम्हारी अपकीर्ति का कथन करेंगे – निपातद्वय का यह अर्थ भी हो सकता है ।

137 'युद्ध में अपने मरण का संदेह रहता है, अत: उसके परिहार के लिए अर्थात् मरण से बचने के लिए अपकीर्ति भी सहनी चाहिए, क्योंकि आत्मरक्षण अत्यन्त अपेक्षित = आवश्यक होता है[212] । इसीप्रकार शान्तिपर्व में भी कहा गया है :--

"साम, दान और भेद -- इन तीनों उपायों से एक साथ या पृथक्-पृथक् एक-एक से शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करे । युद्ध कभी न करें, क्योंकि युद्ध में युद्ध करनेवालों में विजय और पराजय अनित्य अर्थात् अनियत = अनिश्चित देखी जाती है । अत: युद्ध से बचना ही चाहिए । यदि

---

212. शंका का तात्पर्य यह है कि "जब युद्ध में स्वयं के मरण का ही संदेह रहता है तो मरण से अच्छा तो अपकीर्ति को सहन करना है, क्योंकि आत्मरक्षा करना अत्यन्त आवश्यक होता है – कहा भी है, "आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि" अर्थात् आत्मरक्षा तो दारा, धन आदि से निरन्तर करनी चाहिए । आत्मरक्षा तो जीवन का प्रधान कर्त्तव्य है । 'जीवन् नरो भद्रशतानि भुङ्क्ते' – इस न्याय से जीवन होगा तो कालान्तर में और देशान्तर में धर्म, कीर्ति का अर्जन किया जा सकता है । जीवन न रहने पर तो कुछ भी संभव नहीं है । अत: 'गुणप्रधानयोर्विरोधे गुणेत्वन्यायकल्पना' = प्रधान और गौण लक्ष्यों में विरोध होने पर गुणीभूत लक्ष्य को ग्रहण करना तो अन्याय ही होगा, फलत: प्रधान लक्ष्य 'आत्मरक्षण' ही प्रथम कर्त्तव्य है'। इस शंका का निराकरण ही भगवान् प्रकृत श्लोक के उत्तरार्ध में करते हैं ।

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ।
तथा युध्येत संयत्तो विजयेन रिपून्यथा" ॥ इति ॥

एवमेव मनुनाऽप्युक्तम् ।

तथा च मरणभीतस्य किमकीर्तिदुःखमिति शङ्कामपनुदति–संभावितस्य धर्मात्मा शूर इत्येवमादिभिरनन्यलभ्यैर्गुणैर्बहुमतस्य जनस्याकीर्तिर्मरणादप्यतिरिच्यतेऽधिका भवति । चो हेतौ । एवं यस्मादतोऽकीर्तेर्मरणमेव वरं न्यूनत्वात् । त्वमप्यतिसंभावितोऽसि महादेवादिसमागमेन । अतो नाकीर्तिदुःखं सोढुं शक्ष्यसीत्यभिप्रायः । उदाहृतवचनं त्वर्थशास्त्रत्वात् 'न निवर्तेत सङ्ग्रामात्' (मनु० 7.87) इत्यादिधर्मशास्त्राद् दुर्बलमिति भाव : ॥ 34 ॥

138 ननूदासीना जना मां निन्दन्तु नाम भीष्मद्रोणादयस्तु महारथाः कारुणिकत्वेन स्तोष्यन्ति मामित्यत आह–

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ 35 ॥

139 कर्णादिभ्यो भयायुद्धान्निवृत्तं न कृपयेति त्वां मंस्यन्ते भीष्मद्रोणदुर्योधनादयो महारथाः । ननु ते मां बहु मन्यमानाः कथं भीतं मंस्यन्त इत्यत आह-येषामेव भीष्मादीनां त्वं बहुमतो बहुभिः

पूर्वोक्त तीनों ही उपाय सम्भव न हों, तो इसप्रकार युद्ध करे जिससे शत्रुओं पर संयत्तरूपेण = निश्चितरूपेण = अवश्य ही विजय प्राप्त कर सके" इत्यादि ।

ऐसा ही मनु ने भी कहा है । इसप्रकार मरण से भयभीत पुरुष के लिए अपकीर्ति ऐसा क्या दु:ख है ? -- इस शंका का भगवान् निराकरण करते हैं -- सम्भावित अर्थात् अन्यों के लिए = दूसरों के लिए अलभ्य = दुर्लभ धर्मात्मा, शूर आदि गुणों के कारण सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर होती है । यहाँ 'च' हेतु अर्थ में है । क्योंकि ऐसा है, अत: अपकीर्ति से मरण ही अच्छा है, क्योंकि इसमें न्यून = कम दु:ख है । महादेव आदि के साथ समागम होने के कारण तुम भी अत्यन्त संभावित = सम्मानित = बहुमत पुरुष हो । अत: तुम अपकीर्तिजनित दु:ख को सहन नहीं कर सकोगे -- यह अभिप्राय है । तुमने जो शान्तिपर्व के वचनों को उद्धृत किया है वे तो अर्थशास्त्र के होने के कारण 'न निवर्तेत सङ्ग्रामात्' (मनुस्मृति 7.87) इत्यादि धर्मशास्त्र के वचनों से दुर्बल हैं -- यह भाव है ॥ 34 ॥

138 यदि अर्जुन कहे कि उदासीन लोग अर्थात् जिनका युद्ध से विशेष सम्बन्ध नहीं है वे लोग भले ही मेरी निन्दा करें, भीष्म-द्रोण आदि महारथी तो मेरी कारुणिकता के कारण स्तुति ही कहेंगे -- तो भगवान् कहते हैं ;--

[जिन भीष्मादि की दृष्टि में तुम बहुमत = सम्मानित हो वे ही महारथी तुमको भय के कारण रण = युद्ध से उपरत मानेंगे । अत: युद्ध से उपरत होकर तुम लघुता को प्राप्त होओगे ॥ 35 ॥]

139 भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदि महारथी तुमको, कृपा से नहीं, कर्ण आदि के भय के कारण युद्ध से निवृत्त = उपरत मानेंगे । यदि कहो कि वे तो मेरा बहुत मान करते हैं, फिर मुझे भीत कैसे मानेंगे ? तो भगवान् कहते हैं -- जिन भीष्मादि की ही दृष्टि में तुम बहुमत हो अर्थात् 'यह अर्जुन बहुत से गुणों

गुणैर्युक्तोऽयमर्जुन इत्येवं मतस्त एव त्वां महारथा भयादुपरतं मंस्यन्त इत्यन्वयः । अतो भूत्वा युद्धादुपरत इति शेषः । लाघवमनादरविषयत्वं यास्यसि प्राप्स्यसि । सर्वेषामिति शेषः । येषामेव त्वं प्राग्बहुमतोऽभूस्तेषामेव तादृशो भूत्वा लाघवं यास्यसीति वा ॥ 35 ॥

140 ननु भीष्मादयो महारथा न बहु मन्यन्तां दुर्योधनादयस्तु शत्रवो बहु मंस्यन्ते मां युद्धनिवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यत आह –

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ 36 ॥

141 तवासाधारणं यत्सामर्थ्यं लोकप्रसिद्धं तन्निन्दन्तस्तव शत्रवो दुर्योधनादयोऽवाच्यान्वादान्वचनानर्हान्षण्ढतिलादिरूपानेव शब्दान्बहूननेकप्रकारान्वदिष्यन्ति न तु बहु मंस्यन्त इत्यभिप्रायः । अथवा तव सामर्थ्यं स्तुतियोग्यत्वं तव निन्दन्तोऽहिता अवाच्यवादान्वदिष्यन्तीत्यन्वयः ।

से युक्त है' -- इसप्रकार माने जाते हो, वे ही महारथी तुमको भय के कारण उपरत मानेंगे -- यह अन्वय है । अतः युद्ध से उपरत होकर -- यहाँ 'भूत्वा' के पूर्व 'युद्धादुपरतः' -- इसका अध्याहार करना चाहिए -- सभी की दृष्टि में लाघव अर्थात् अनादर की विषयता को प्राप्त होओगे । यहाँ 'सर्वेषाम्' इस पद का अध्याहार होगा । अथवा, यह अर्थ करना चाहिए कि जिनकी ही दृष्टि में तुम पहले बहु सम्मानित थे उन्हीं की दृष्टि में वैसे होकर अर्थात् युद्ध से उपरत होकर तुम लाघव = अनादर के योग्य हो जाओगे ॥ 35 ॥

140 यदि अर्जुन कहे कि 'भीष्मादि महारथी भले ही मेरा सम्मान न करें, दुर्योधनादि शत्रु तो मेरा मान करेंगे ही, क्योंकि युद्ध से निवृत्त होने के कारण मैं उनके लिए उपकारी होऊँगा', तो भगवान् कहते हैं --

[तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुमको बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे । उससे बढ़कर दुःख और क्या होगा ? ॥ 36 ॥]

141 तुम्हारा जो असाधारण सामर्थ्य लोक में प्रसिद्ध है उसकी निन्दा करते हुए तुम्हारे शत्रु दुर्योधन आदि तुमको बहुत-से = अनेक प्रकार के अवाच्य = न कहने योग्य वाद = वचन अर्थात् षण्ढतिल[213] आदि रूप शब्द कहेंगे, न कि वे तुम्हारा बहुत मान = सम्मान करेंगे -- यह अभिप्राय है । अथवा, श्लोक का इसप्रकार अन्वय करना चाहिए -- 'तव सामर्थ्यं स्तुतियोग्यत्वं तव निन्दन्तोऽहिता अवाच्यवादान्वदिष्यन्ति' -- अर्थात् तुम्हारे सामर्थ्य = तुम्हारी स्तुति -- योग्यता के लिए तुम्हारी निन्दा करने वाले शत्रु अवाच्य = न कहने योग्यवचन कहेंगे ।

---

213. षण्ढः निष्फलः तिलः =षण्ढतिलः अर्थात् निष्फल-तिल = बिना तेलवाले तिल को षण्डतिल कहते हैं । इसके तिलपेज और तिलपिञ्ज – ये दो नाम भी हैं (तिलपिञ्जस्तिलपेजस्तथा षण्ढतिलः स्मृतः – हलायुधकोश, 2.583; द्वौ तिले तिलपेजश्च तिलपिञ्जश्च निष्फले – अमरकोश, 2.9.19) । इसे 'जर्तिल' भी कहते हैं (जर्तिलः कथ्यते सद्भिररण्यप्रभवस्तिलः – हलायुधकोश, 2.583) । यह जंगली तिल होता है और तैलहीन होता है, अतः निष्फल होता है । निष्फल होने के कारण यह निष्प्रयोजन होता है, व्यर्थ होता है, अवहेलनीय होता है, निन्दनीय होता है । यहाँ मधुसूदन सरस्वती के कथन का तात्पर्य यह है कि अर्जुन के युद्ध से निवृत्त होने पर उसे दुर्योधन आदि शत्रु षण्ढतिल के समान व्यर्थ ही समझेंगे, उसकी निन्दा ही करेंगे ।

142 ननु भीष्मद्रोणादिवधप्रयुक्तं कष्टतरं दुःखमसहमानो युद्धान्निवृत्तः शत्रुकृतसामर्थ्यनिन्दनादिदुःखं सोढुं शक्ष्यामीत्यत आह-ततस्तस्मान्निन्दाप्राप्तिदुःखात्किं नु दुःखतरं ततोऽधिकं किमपि दुःखं नास्तीत्यर्थः ॥ 36 ॥

143 ननु तर्हि युद्धे गुर्वादिवधवशान्मध्यस्थकृता निन्दा ततो निवृत्तौ तु शत्रुकृता निन्देत्युभयतःपाशा रज्जुरित्याशङ्क्य जये पराजये च लाभध्रौव्यायुद्धार्थमेवोत्थानमावश्यकमित्याह –

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ 37 ॥

144 स्पष्टं पूर्वार्धम् । यस्मादुभयथाऽपि ते लाभस्तस्माज्जेष्यामि शत्रून्मरिष्यामि वेति कृतनिश्चयः सन्युद्धायोत्तिष्ठ, अन्यतरफलसंदेहेऽपि युद्धकर्तव्यताया निश्चितत्वात् । एतेन 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इत्यादि परिहृतम् ॥ 37 ॥

142 यदि अर्जुन कहे कि मैं तो भीष्म-द्रोण आदि के वध से होनेवाले अत्यन्त कष्टप्रद दुःख को न सह सकने के कारण युद्ध से निवृत्त होने पर शत्रुओं के द्वारा की गई अपने सामर्थ्य की निन्दा आदि से होनेवाले दुःख को सह ही सकूँगा, तो भगवान् कहते हैं -- ततः =उससे अर्थात् उस निन्दा-प्राप्ति के दुःख से बढ़कर दुःख और क्या होगा ? अर्थात् उससे अधिक दुःख कोई भी नहीं है[214] ॥ 36 ॥

143 'तब तो युद्ध में गुरु आदि का वध करने से मध्यस्थों द्वारा की गई निन्दा प्राप्त होगी और युद्ध से निवृत्त होने पर तो शत्रुओं द्वारा की गई निन्दा होगी ही -- इस प्रकार युद्ध करें, तो निन्दा, न करें, तो भी निन्दा -- यह स्थिति दोनों ओर पाश (फंदा) वाली रज्जु के समान है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् यह कहते हैं कि जय और पराजय -- दोनों ही में लाभ की ध्रुवता (निश्चितता) रहने के कारण युद्ध के लिए ही उत्थान = उठ खड़ा होना ही आवश्यक है --

[हे कौन्तेय ! मारे गए तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और जीतकर तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे । अतः युद्ध के लिए निश्चय करके उठ जाओ ॥ 37 ॥]

144 पूर्वार्ध तो स्पष्ट ही है । क्योंकि दोनों ही स्थितियों में तुम्हें लाभ है, अतः 'शत्रुओं को जीतूँगा अथवा युद्ध में मर जाऊँगा' -- ऐसा निश्चय करके युद्ध के लिए उठ जाओ, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक के फल के विषय में सन्देह होने पर भी युद्ध की कर्त्तव्यता ही निश्चित होती है । इससे 'हम तो यह भी नहीं जानते कि दोनों में से क्या श्रेष्ठ है, अथवा उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे, (गीता 2.6) -- इत्यादि अर्जुन की शंका का भी परिहार हो गया ॥ 37 ॥

कुछ विद्वानों ने 'षण्ढ-तिल' शब्द को षण्ढ और तिल – दो शब्दों के प्रयोग से अर्थ किया है कि अर्जुन के युद्ध से निवृत्त होने पर उसे दुर्योधन आदि शत्रु षण्ढ अर्थात् नपुंसक समझेंगे और तिल के समान अत्यन्त लघु समझेंगे । यह अर्थ तो औपचारिक (गौण) ही है। और फिर भगवान् पूर्व में ही अर्थात् गीता के द्वितीय अध्याय के तृतीय श्लोक में ही 'क्लैब्य' शब्द के प्रयोग से अर्जुन को नपुंसकता से सावधान कर ही चुके हैं, अतः यहाँ मधुसूदन सरस्वती को पुनः अर्जुन को नपुंसकता से सावधान करना अभीष्ट नहीं ही होगा ।

214. यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय है कि अर्जुन ! तुम्हें युद्ध करना ही चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह सब कुछ सहन कर सकता है, किन्तु अपने सामर्थ्य के लिए शत्रुओं द्वारा की गई निन्दा को सहन नहीं कर सकता है, यतः शौर्य, तेज तथा प्रभुत्वभाव क्षत्रिय के सहज कर्म होते हैं (गीता 18.43) । यदि तुम युद्ध से विरत होगे तो शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य के लिए अवाच्य शब्द कहेंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, उससे तुम्हें महान् दुःख होगा, उसे तुम स्वभाववश सहन ही नहीं कर सकोगे, अतः उस निन्दा--दुःख से बढ़कर दुःख कोई भी नहीं है ।

145 नन्वेवं स्वर्गमुद्दिश्य युद्धकरणे तस्य नित्यत्वव्याघातः, राज्यमुद्दिश्य युद्धकरणे त्वर्थशास्त्रत्वाद्धर्मशास्त्रापेक्षया दौर्बल्यं स्यात्, ततश्च काम्यस्याकरणे कुतः पापं दृष्टार्थस्य गुरुब्राह्मणादिवधस्य कुतो धर्मत्वं, तथा चाथ चेदितिश्लोकार्थो व्याहत इति चेत्तत्राऽऽह --

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ 38 ॥

146 समताकरणं रागद्वेषराहित्यम् । सुखे तत्कारणे लाभे तत्कारणे जये च रागमकृत्वा, एवं दुःखे तद्धेतावलाभे तद्धेतावजये च द्वेषमकृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व सन्नद्धो भव । एवं सुखकामनां दुःखनिवृत्तिकामनां वा विहाय स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानो गुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तं नित्यकर्माकरणनिमित्तं च पापं न प्राप्स्यसि । यस्तु फलकामनया करोति स गुरुब्राह्मणादि--

145 यदि अर्जुन आशंका करे कि 'इसप्रकार तो स्वर्ग के उद्देश्य से युद्ध करने में युद्ध-कर्म की नित्यता का व्याघात होगा और राज्य के उद्देश्य से युद्ध करने में तो युद्ध-कर्म अर्थशास्त्र रूप होने से धर्मशास्त्र की अपेक्षा दुर्बल होगा । ऐसी स्थिति में इस काम्य कर्म के न करने से पाप कैसे हो सकता है ? और जिसका प्रयोजन मात्र ऐहिक राज्य-लाभ ही है उस दृष्टार्थ युद्ध में गुरु, ब्राह्मण आदि का वध धर्मरूप कैसे हो सकता है ? इस प्रकार 'अथ चेत्' (गीता, 2.33) इत्यादि श्लोक के अर्थ की भी व्याहृति = असंगति ही सिद्ध होती है[215], तो भगवान् कहते हैं :--

[सुख-दु:ख, लाभ-हानि और जय-पराजय -- सबको समान समझकर = इनमें समता रखकर फिर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । ऐसा करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ 38 ॥]

146 समताकरण = समता रखने का अर्थ है -- राग-द्वेष से रहित होना । सुख, उसके कारण लाभ और उसके कारण जय में राग न करके; तथा दु:ख, उसके हेतु अलाभ और उसके हेतु अवजय = पराजय में द्वेष न करकें फिर युद्ध के लिए तैयार = युक्त = सन्नद्ध हो जाओ । इस प्रकार सुख की कामना और दु:ख--निवृत्ति की कामना को छोड़कर 'युद्ध मेरा धर्म है' -- ऐसी स्वधर्म बुद्धि से युद्ध करते हुए तुम्हें गुरु, ब्राह्मण आदि के वध से और नित्यकर्म न करने से होनेवाला पाप नहीं लगेगा[216] । जो पुरुष किसी फल की कामना से युद्ध करता है उसी को गुरु, ब्राह्मण आदि के वध से पाप लगता है और जो नहीं करता उसे नित्यकर्म न करने से पाप लगता है ।

215. यहाँ अर्जुन की ओर से की गई शंका का अभिप्राय यह है कि स्वर्ग के उद्देश्य से तो किया गया युद्ध-कर्म नित्यकर्म नहीं होगा, काम्य-कर्म होगा, क्योंकि फल के उद्देश्य से किया गया कर्म काम्य-कर्म ही होता है । कहा भी है –

"यत् किञ्चित् फलमुद्दिश्य यज्ञदानजपादिकम् ।
क्रियते कायिकं यच्च तत्काम्यं परिकीर्तितम् ॥"

काम्य-कर्म इच्छाधीन होता है, इसका यदि अनुष्ठान न भी करें, तो पुरुष को कोई पाप नहीं लगता । अत: प्रकृत युद्ध-कर्म = काम्य-कर्म न करने से पाप कैसे हो सकता है ? अर्थात् प्रकृत युद्ध न करने से पाप नहीं लगेगा । अपितु राज्यलाभार्थ प्रकृत युद्ध करने में गुरु, ब्राह्मण आदि का वध अवश्यंभावी होने से अधर्म ही होगा, धर्म कैसे होगा ? भगवान् जो कहते हैं कि 'प्रकृत धर्म्य संग्राम न करने से स्वधर्म को त्यागकर पाप लगेगा' – यह असंगत कथन ही है ।

216. भगवान् के कथन का तात्पर्य यह है कि फल की कामना को छोड़कर 'यह मेरा धर्म है' – ऐसी स्वधर्म बुद्धि से किया गया कर्म तो नित्य-कर्म ही होता है । प्रकृत युद्ध-कर्म 'युद्ध मेरा धर्म है' – ऐसी स्वधर्म बुद्धि से करने के लिए ही कहा जा रहा है, अत: प्रकृत धर्म्य युद्ध नित्य-कर्म ही है । इसे न करने से पाप लगेगा, क्योंकि नित्यकर्म न करने से पाप लगता है (नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि -- वेदान्तसार) । अत: प्रकृत युद्ध-कर्म =

वधनिमित्तं पापं प्राप्नोति यो वा न करोति स नित्यकर्माकरणनिमित्तम् । अतः फलकामनामन्तरेण कुर्वन्नुभयविधमपि पापं न प्राप्नोतीति प्रागेव व्याख्यातोऽभिप्रायः । 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' इति त्वानुषङ्गिकफलकथनमिति न दोषः । तथा चाऽऽपस्तम्बः स्मरति – 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति' इति । अतो युद्धशास्त्रस्यार्थशास्त्रत्वाभावात् 'पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्' इत्यादि निराकृतं भवति ॥ 38 ॥

147 ननु भवतु स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानस्य पापाभावः, तथापि न मां प्रति युद्धकर्तव्यतोपदेशस्तवोचितः, 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इत्यादिना 'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्' इत्यन्तेन विदुषः सर्वकर्मप्रतिक्षेपात् । नह्यकर्त्रभोक्तृशुद्धस्वरूपोऽहमस्मि युद्धं कृत्वा तत्फलं भोक्ष्य इति च ज्ञानं सम्भवति विरोधात् । ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासम्भवात्प्रकाशतमसोरिव । अयं चार्जुनाभिप्रायो ज्यायसी चेदित्यत्र व्यक्तो भविष्यति । तस्मादेकमेव मां प्रति ज्ञानस्य कर्मणश्चोपदेशो नोपपद्यत इति चेत्, न, विद्वदविद्वदवस्थाभेदेन ज्ञानकर्मोपदेशोपपत्तेरित्याह भगवान् –

अत: फल की कामना के बिना युद्ध करने पर दोनों ही प्रकार का पाप नहीं लगता -- यह अभिप्राय पूर्व में ही कह चुके हैं । 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'= 'मारे गए तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और जीत कर तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे' -- यह तो आनुषङ्गिक = प्रासंगिक फल[217] कहा गया है -- अत: कोई दोष नहीं है । इसीप्रकार आपस्तम्ब भी अपनी स्मृति में कहते हैं -- 'जिस प्रकार फल (आम) की प्रत्याशा से लगाए गए आम के वृक्ष से छाया और गन्ध स्वत: (आनुषङ्गिक रूप से) उत्पन्न होते ही हैं, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर अर्थ भी प्राप्त हो अथवा न हो उससे धर्म की कोई हानि नहीं होती ।' अत: युद्धशास्त्र में अर्थशास्त्रत्व न होने के कारण 'पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्' इत्यादि वाक्यों से की गई अर्जुन की शंकाओं का निराकरण हो जाता है ॥ 38 ॥

147 अच्छा, यही सही कि स्वधर्मबुद्धि से युद्ध करनेवाले को पाप नहीं लगता, तथापि आपका मुझे युद्ध की कर्त्तव्यता का उपदेश करना तो उचित नहीं है, क्योंकि 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' (गीता, 2.19) इत्यादि श्लोक से लेकर 'कथं स पुरुष: पार्थ कं घातयन्ति हन्ति कम्' (गीता 2.21) तक के ग्रन्थ से आपने विद्वान् के लिए सभी प्रकार के कर्मों का प्रतिक्षेप = निराकरण किया है । 'मैं अकर्ता, अभोक्ता और शुद्धस्वरूप हूँ और युद्ध करके उसका फल भोगूँगा' -- इस प्रकार का ज्ञान तो परस्पर

नित्यकर्म करने से ही पाप नहीं लगेगा । नित्यकर्मानुष्ठान तो परम्परया तत्त्वज्ञान का कारण होता है । नित्यकर्मानुष्ठान से सदाचार की प्राप्ति होती है, सदाचार से पापनाश होता है, पापनाश से चित्तशुद्धि, चित्तशुद्धि से संसार की वास्तविकता का बोध होने पर वैराग्य, वैराग्य से मोक्षेच्छा और मोक्ष की आकांक्षा होने पर मोक्ष के साधनों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और इसका परिणाम समस्त कर्मों का त्याग है । इसके पश्चात् योगाभ्यास से चित्तवृत्ति आत्मनिष्ठ होती है । चित्तवृत्ति के आत्मनिष्ठ होने पर जीव का अज्ञान-नष्ट हो जाने से मोक्षलाभ होता है (नैष्कर्म्यसिद्धि 1.52) । अत: नित्यकर्म तो अवश्यमेव अनुष्ठेय है । यही भावार्थ है ।

217. फल दो प्रकार का होता है – मुख्य और आनुषङ्गिक । जैसे – 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेवी आमिक्षा वाजिभ्यो वाजिनं त्विति' अर्थात् तप्त पयस् = दूध में दधि मिश्रित करने पर दो परिणाम होते हैं – आमिक्षा = छेना और वाजिन = छेने का पानी । यहाँ मुख्य प्रयोजन 'आमिक्षा' ही है, वही सारवान् वस्तु है और 'वाजिन' आनुषङ्गिक फल है, यह नि:सार है । इसीप्रकार प्रकृत युद्ध कर्म करने में मुख्य प्रयोजन तो स्वधर्मानुष्ठान ही है; स्वर्गप्राप्ति, राज्यलाभ आदि तो इसके आनुषङ्गिक फल हैं ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ 39 ॥

148 **एषा न त्वेवाहमित्याद्येकविंशतिश्लोकैस्ते तुभ्यमभिहिता सांख्ये सम्यक्ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्योपनिषत्तयैव तात्पर्यपरिसमाप्त्या प्रतिपाद्यते यः स सांख्य औपनिषदः पुरुष इत्यर्थः । तस्मिन्बुद्धिस्तन्मात्रविषयं ज्ञानं सर्वानर्थनिवृत्तिकारणं त्वां प्रति मयोक्तं नैतादृशज्ञानवतः क्वचिदपि कर्मोच्यते, तस्य कार्यं न विद्यत इति वक्ष्यमाणत्वात् । यदि पुनरेवं मयोक्तेऽपि तवैषा बुद्धिर्नोदेति चित्तदोषात्, तदा तदपनयेनाऽऽत्मतत्त्वसाक्षात्काराय कर्मयोग एव त्वयाऽनुष्ठेयः । तस्मिन्योगे कर्मयोगे तु करणीयामिमां 'सुखदुःखे समे कृत्वा'**

विरुद्ध होने के कारण सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकाश और तम के समान ज्ञान और कर्म का समुच्चय होना सम्भव नहीं है अर्थात् एक ही आत्मा में एक ही समय में अकर्तृत्वज्ञानविरोधी कर्तृत्वादिज्ञान का होना सम्भव नहीं है। अर्जुन का यह अभिप्राय 'ज्यायसी चेद्' (गीता, 3.1) इस श्लोक में अभिव्यक्त होगा। अत: मुझ एक ही को ज्ञान और कर्म-दोनों का उपदेश करना उचित नहीं है' -- ऐसी अर्जुन की आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही व्यक्ति को विद्वदवस्था = ज्ञानावस्था और अविद्वदवस्था = अज्ञानावस्था के भेद से ज्ञान और कर्म -- दोनों का उपदेश करना उपपन्न हो सकता है। हाँ, एक ही समय में दोनों का प्रयोग नहीं हो सकता, यह ठीक है, किन्तु अवस्थाभेद से तो दोनों के अनुष्ठान में कोई बाधा नहीं हो सकती -- यही भगवान् कहते हैं --

[हे पार्थ ! यह तो सांख्यसम्बन्धी बुद्धि = ज्ञान तुमको कहा गया, अब इस कर्मयोग सम्बन्धी विचार को सुनो, जिस बुद्धि = ज्ञान = विचार से युक्त होकर तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे ।। 39 ।।]

148 यह 'न त्वेवाहम्' इत्यादि इक्कीस श्लोकों से तुमको सांख्यसम्बन्धी बुद्धि = ज्ञान कहा गया । 'सम्यक्ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्योपनिषत्' अर्थात् जिसके द्वारा सभी उपाधियों -- कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि -- से शून्य परमात्मतत्त्व को सम्यक् रूप से ख्यात = प्रकाशित किया जाता है = प्रतिपादित किया जाता है, वह संख्या उपनिषत् है । उसी के द्वारा जो अपने तात्पर्य की परिसमाप्तिपूर्वक प्रतिपादित होता है, वह 'सांख्य' है अर्थात् वह औपनिषद पुरुष है । उसमें बुद्धि अर्थात् उसी से सम्बन्ध रखनेवाला जो सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति का कारणभूत ज्ञान है वह मैंने तुमको कहा है । एतादृश ज्ञानवान् पुरुष को कहीं भी कर्म करने के लिए नहीं कहा गया है, क्योंकि 'उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रहता' -- ऐसा आगे (गीता, 3.10) कहा जायेगा । यदि इस प्रकार मेरे कहने पर भी चित्तदोष के कारण तुमको यह बुद्धि = ज्ञान उदित नहीं होता तो उस दोष की निवृत्ति द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए तुमको कर्मयोग का ही अनुष्ठान करना चाहिए । उस योग अर्थात् कर्मयोग के सम्बन्ध में 'सुखदु:खे समे कृत्वा' (गीता, 2.38) इस श्लोक में कही गई फलाभिसन्धि = फलाकांक्षा की त्यागरूपा अवश्यकरणीया उस बुद्धि = ज्ञान को अब आगे मेरे द्वारा विस्तारपूर्वक कहे जाने पर सुनो । 'तु' शब्द पूर्वबुद्धि = सांख्यबुद्धि से योग की विषयता का व्यतिरेक सूचित करने के लिए है । इस प्रकार शुद्ध अन्त:करणवाले पुरुष को ज्ञान का उपदेश किया जाता है और अशुद्ध अन्त:करणवाले पुरुष को कर्म का उपदेश किया जाता है । ऐसी स्थिति में ज्ञान और कर्म -- इन दोनों के समुच्चय की शङ्का से विरोध का अवकाश कहाँ है ? -- यह अभिप्राय है ।

इत्यत्रोक्तां फलाभिसन्धित्यागलक्षणां बुद्धिं विस्तरेण मया वक्ष्यमाणां शृणु । तुशब्दः पूर्वबुद्धेर्योगविषयत्वव्यतिरेकसूचनार्थः । तथा च शुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानोपदेशोऽशुद्धान्तःकरणं प्रति कर्मोपदेश इति कुतः समुच्चयशङ्कया विरोधावकाश इत्यभिप्रायः ।

149 **योगविषयां बुद्धिं फलकथनेन स्तौति - यया व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या कर्मसु युक्तस्त्वं कर्मनिमित्तं बन्धमाशयाशुद्धिलक्षणां ज्ञानप्रतिबन्धं प्रकर्षेण पुनः प्रतिबन्धानुत्पत्तिरूपेण हास्यसि त्यक्ष्यसि । अयं भावः – कर्मनिमित्तो ज्ञानप्रतिबन्धः कर्मणैव धर्माख्येनापनेतुं शक्यते 'धर्मेण पापमपनुदति' (महाना 13.6) इति श्रुतेः । श्रवणादिलक्षणो विचारस्तु कर्मात्मकप्रतिबन्ध-रहितस्यासम्भावनादिप्रतिबन्धं दृष्टद्वारेणापनयतीति न कर्मबन्धनिराकरणायोपदेष्टुं शक्यते । अतोऽत्यन्तमलिनान्तःकरणत्वाद्बाहिरङ्गसाधनं कर्मैवत्वयाऽनुष्ठेयं, नाधुना श्रवणादियोग्यताऽपि तव जाता, दूरे तु ज्ञानयोग्यतेति । तथा च वक्ष्यति – 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति । एतेन**

149 फलकथन द्वारा योगविषयिणी बुद्धि की स्तुति करते हैं -- जिस व्यवसायात्मिका बुद्धि से कर्मों में व्यापृत होकर तुम कर्मनिमित्तक आशय = चित्त= अन्तःकरण के अशुद्धिरूप बन्धन[218] को, जो ज्ञान का प्रतिबन्धक है, प्रकर्ष से अर्थात् पुनः प्रतिबन्ध की उत्पत्ति न हो -- इस प्रकार त्याग दोगे । भाव यह है कि कर्मनिमित्तक ज्ञान का प्रतिबन्धक धर्म-नामक कर्म से ही दूर किया जा सकता है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'धर्म से पाप को दूर करता' (महाना०, 13.6) । श्रवणादिरूप विचार तो कर्मात्मक प्रतिबन्ध से रहित पुरुष के असम्भावना[219] आदि प्रतिबन्धों को दृष्टरूप से ही दूर करता है, इसलिए कर्मबन्धन के निराकरण के लिए उसका उपदेश नहीं किया जा सकता[220] । अतः अत्यन्त मलिन अन्तःकरणवाले

218. कर्म से आशय उत्पन्न होता है अर्थात् चित्त संस्कार युक्त होता है । यही चित्त की अशुद्धि है और यही अशुद्धि ही ज्ञान का प्रतिबन्धक होकर अज्ञानजनित संसारबन्धन का कारण होती है – ऐसे कर्मनिमित्तक बन्धन को संक्षिप्ताभिधानतात्पर्य से 'कर्मबन्ध' कहा है ।

219. परमात्मा या ब्रह्म इन्द्रियग्राह्य = इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं है, अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त नहीं है । जो प्रत्यक्ष प्रमाणगत नहीं है उसके सम्बन्ध में अनुमान प्रमाण भी प्रयुक्त नहीं हो सकता । अतः किसी प्रकार से ब्रह्म का अनुभव सम्भव नहीं है – ऐसी भावना को प्रमाणगत 'असम्भावना' कहते हैं ।

220. तात्पर्य यह है कि आत्मसाक्षात्कारोत्पत्ति के प्रतिबन्धक दोष दो हैं – दृष्ट और अदृष्ट । दृष्ट दोष असम्भावनादि हैं । जिनकी निवृत्ति दृष्ट श्रवण-मनन आदि उपायों से होती हैं । 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-महावाक्यादि के श्रवण से ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में संसारनिवृत्ति होने पर प्रमाणगत असम्भावनादि दृष्टदोषों की निवृत्ति होती है । मनन से प्रमेयगत असम्भावना -- ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है, यह सम्भव नहीं है – ऐसी भावना दूर हो जाती है और निदिध्यासन से विपरीत भावना -- जगत् सत्य है – की निवृत्ति होती है । अदृष्ट दोष पापादि हैं । जो अशुभ कर्मजन्य होते हैं, अतः उनकी निवृत्ति शुभकर्मजन्यपुण्यरूप अदृष्ट से होती है । जैसा कि श्रुति कहती है – 'धर्मेण पापमपनुदति' इति । अदृष्ट दोष की निवृत्ति के लिए दृष्ट श्रवणादि उपायों का उपदेश नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी निवृत्ति के वे साधन ही नहीं है । यही मधुसूदन सरस्वती के कहने का अभिप्राय है । किन्तु आचार्य धनपति अपनी 'भाष्योत्कर्षदीपिका' में मधुसूदन सरस्वती के प्रकृत कथन को उचित नहीं मानते । उनके अनुसार 'कर्म' पद स्वर्ग और नरकादि के साधन पुण्य और पाप का प्रतिपादक है, अन्तःकरणदोष का नहीं । कर्म का पुण्य और पाप व्यापक अर्थ है अन्तःकरणदोष तो व्याप्य अर्थ है । व्यापक अर्थ को ग्रहण न करके व्याप्य अर्थ को ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । इसीप्रकार 'बन्ध' शब्द का प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है । यदि 'कर्म' और 'बन्ध' -- इन दोनों पदों का मधुसूदन सरस्वती कृत अर्थ ग्रहण करेंगे तो वे दोनों 'कर्म' और 'बन्ध' -- लाक्षणिक शब्द स्वीकार करने होंगे, क्योंकि सामान्यवाची शब्दों का विशेष अर्थ-ग्रहण करने में लक्षणा ही से प्रयोग होता है । अभिधा से उपपत्ति हो रही हो तो लक्षणा वृत्ति का आश्रयण उचित नहीं

सांख्यबुद्धेरन्तरङ्गसाधनं श्रवणादि विहाय बहिरङ्गसाधनं कर्मैव भगवता किमित्यर्जुनायोपदिश्यत इति निरस्तम् । कर्मबन्धं संसारमीश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्त्या प्रहास्यसीति प्राचां व्याख्याने त्वध्याहारदोषः कर्मपदवैयर्थ्यं च परिहर्तव्यम् ॥ 39 ॥

150 ननु ' तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृह० 4.4.22) इति श्रुत्या विविदिषां ज्ञानं चोद्दिश्य संयोगपृथक्त्वन्यायेन सर्वकर्मणां विनियोगात्तत्र चान्तःकरण-

होने के कारण तुमको बहिरङ्ग साधन[221] कर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिए । अभी तो तुममें श्रवणादि की योग्यता भी उत्पन्न नहीं हुई है, ज्ञान की योग्यता तो बहुत दूर है । ऐसा ही 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता, 2.47) इत्यादि श्लोक से भगवान् आगे भी कहेंगे । इससे यह शंका भी निरस्त हो जाती है कि भगवान् ने अर्जुन को सांख्यबुद्धि के अन्तरङ्ग साधन श्रवणादि को छोड़कर बहिरंग साधन कर्म का ही उपदेश क्यों किया ? 'ईश्वरप्रसादजनित ज्ञानप्राप्ति के द्वारा कर्मबन्ध-संसार से मुक्त हो जायेगा' -- ऐसी प्राचीन आचार्यों की व्याख्या में अध्याहार दोष[222] और कर्मपद की व्यर्थता[223] का परिहार कर लेना चाहिए ॥ 39 ॥

150 "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' अर्थात् 'ब्राह्मण उस इस ब्रह्म को वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानना चाहते हैं' (बृह० 4.4.22)-- इस श्रुति से विविदिषा = ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान -- इन दोनों के उद्देश्य से संयोगपृथक्त्वन्याय[224] से यज्ञदानादि

होता । अत: 'कर्म' और 'बन्ध' – पदों का मधुसूदन सरस्वतीकृत अर्थ उचित नहीं है । तथा यह जो कहा है कि दृष्ट असम्भावनादि दोष दृष्ट श्रवणमननादि उपायों से ही निवृत्त होते हैं, कर्मयोग से नही; औरअदृष्ट पापादि दोष अदृष्ट पुण्यकर्म से दूर होते हैं, श्रवणादि से नहीं, क्योंकि अदृष्ट-दोष-निवृत्ति के साधन अदृष्ट कर्म ही होते हैं, दृष्ट श्रवणादि नहीं, वह भी ठीक नहीं है। कारण कि 'श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्य:' – यह जो आत्मज्ञानार्थ श्रवणविधायक वाक्य है, नियमविधिपरक वाक्य है, अपूर्वविधिपरक वाक्य नहीं है । अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करनेवाली विधि 'अपूर्वविधि' कहलाती है और पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर तद्विधायक वाक्य को 'नियमविधि' कहते हैं ('विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियम: पाक्षिके सति', तन्त्रवार्तिक, 1.2.34) । आत्मश्रवण श्रुतिवाक्य से होता है और भाषावाक्य से भी होता है । जिस समय भाषावाक्य से श्रोता श्रवण में प्रवृत्त होगा उस समय श्रुतिवाक्य अप्राप्त होगा । अत: उसकी प्राप्ति के लिए ' श्रोतव्य:' यह नियमविधि है । श्रुतिवाक्य से ही आत्मश्रवण करना चाहिए, भाषावाक्य से नहीं, यह नियमविधि है । नियम से अर्थात् दृष्ट श्रुतिवाक्य-श्रवण से अदृष्ट पुण्य होता है, जो असंभावनादि दोषों के कारण होनेवाले पापादि में प्रयुक्त चित्ताशुद्धि का निवर्तक होता है – ऐसा विवरणाचार्य ने कहा है । अत: ऐसा नहीं है कि अदृष्ट दोषों के निवर्तक दृष्ट श्रवणादि साधन नहीं होते, अदृष्ट दोषों के निवर्तक दृष्ट श्रवणादि साधन हो सकते हैं ।

221. ज्ञानोत्पत्ति के दो साधन हैं – बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग । जो परम्परया उपकारजनक होते हैं, वे बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं, जैसे, – निष्काम कर्म का अनुष्ठान । निष्काम कर्म के अनुष्ठान से धर्म-लाभ होता है, उसमें फलाकांक्षा न होने से वह चित्तदोषों का निवर्तक होता है, दोषनिवृत्ति से अन्त::करण शुद्ध होता हैं । इसप्रकार निष्काम कर्म का अनुष्ठान परम्परया उपकारजनक होने से बहिरङ्ग साधन है । अन्तरङ्ग साधन श्रवणमननादि हैं । ये असम्भावनादि अन्तरङ्ग दोषों के निवर्तक होते हैं, अतः ये अन्तरङ्ग साधन कहे जाते हैं । बहिरङ्ग साधन के बिना अन्तरङ्ग साधन में प्रवृत्ति व्यर्थ ही होती है क्योंकि अन्तरङ्ग साधन की उत्पत्ति बहिरङ्ग साधन के बिना नहीं होती है ।

222. प्रकृत श्लोक में 'ईश्वरप्रसादनिमित्त = ईश्वरप्रसादजनित' पदों के प्राप्त न होने से वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए 'ईश्वरप्रसादनिमित्त' पदों का अध्याहार करने के कारण 'अध्याहारदोष, होगा ।

223. यदि 'कर्मबन्ध'का अर्थ संसार करेंगे, तो 'कर्मबन्ध' पद के 'कर्म' शब्द की व्यर्थता सिद्ध होगी, क्योंकि 'बन्धन' शब्द द्वारा कर्म से उत्पन्न संसारबन्धन ही समझा जाता है । किन्तु यहाँ आचार्य धनपति कहते हैं कि जैसे -- 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ता' इत्यादि में 'जन्म' पद बन्ध के स्वरूप के ज्ञापन के लिए प्रयुक्त हुआ है, वैसे ही 'कर्मबन्ध' पद में 'कर्म पद भी बन्धस्वरूपज्ञापनार्थ ही है । अत: भाष्यकार के व्याख्यान में कोई दोष नहीं है ।

शुद्धेर्द्वारत्वान्मां प्रति कर्मानुष्ठानं विधीयते । तत्र 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छा० 8.1.6) इति श्रुतिबोधितस्य फलनाशस्य सम्भवाज्ज्ञानं विविदिषां चोद्दिश्य क्रियमाणस्य यज्ञादेः काम्यत्वात्सर्वाङ्गोपसंहारेणानुष्ठेयस्य यत्किंचिदङ्गासम्पत्तावपि वैगुण्यापत्तेर्यज्ञेनेत्यादिवाक्यविहितानां च सर्वेषां कर्मणामेकेन पुरुषायुषपर्यवसानेऽपि कर्तुमशक्यत्वात्कुतः कर्मबन्धं प्राहास्यसीतिफलं प्रत्याशेत्यत आह भगवान् –

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ 40 ॥

सभी कर्मों के विनियोग का विधान किया गया है, तथा ज्ञानप्राप्ति में अन्तःकरणशुद्धि द्वार है, इसीलिए मुझको कर्मानुष्ठान का विधान किया जा रहा है जिससे कि मेरा अन्तःकरण कर्मों से शुद्ध हो, तदनन्तर मुझको ज्ञानप्राप्ति हो । किन्तु 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' = 'जिसप्रकार यहाँ कर्मोपार्जित लोक (भोग) क्षीण हो जाता है वैसे ही परलोक में पुण्यकर्मों से प्राप्त हुए स्वर्गादि लोकों का क्षय हो जाता है' (छा०, 8.1.6) -- इस श्रुति से बतलाए हुए फलों का नाश होना भी सम्भव ही है । ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मजिज्ञासा के उद्देश्य से किए जानेवाले यज्ञादि का काम्य होने के कारण सभी अङ्गों के साथ अनुष्ठान करना आवश्यक है । यदि यज्ञादि के किसी भी अङ्ग का सम्पादन नहीं हुआ अर्थात् कोई भी अङ्ग रह गया तो कर्म में वैगुण्यदोष[225] आ सकता है । तथा 'यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिवाक्य से विहित यज्ञदानतपःप्रभृति सभी कर्मों का अनुष्ठान करना एक मनुष्य के लिए अपनी आयु भर में भी असम्भव है । ऐसी स्थिति में 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' = 'तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे' -- इस फल की आशा कैसे की जा सकती है ?'' -- ऐसी अर्जुन की आशंका का भगवान् उत्तर देते हैं --

[इस निष्काम कर्मयोग में अभिक्रम = फल का नाश नहीं होता और कोई प्रत्यवाय = दोष भी नहीं होता । इस कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भय से मनुष्य की रक्षा कर लेता है ॥ 40 ॥]

224. मीमांसादर्शन के चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद का पाँचवा सूत्र है -- 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' (मीमांसासूत्र, 4.3.5) अर्थात् पृथक्-पृथक् श्रुति वाक्य में पृथक्-पृथक् फलश्रुति रहने पर एक ही कर्म से अनेक प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है । जैसे-- 'दध्ना जुहोति' – इस वाक्य से दधि में क्रत्वर्थ सिद्ध होता है, और 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' – इस वाक्य से दधि में पुरुषार्थत्व सिद्ध होता है । वैसे ही 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि वाक्यों से दर्शपूर्णमास यज्ञों में स्वर्गादि की साधनता है, और 'यज्ञेन दानेन' – इस वाक्य से उन्हीं यज्ञों में अन्तःकरण की शुद्धि की साधनता है । यही संयोगपृथक्त्वन्याय है ।

225. यदि किसी यज्ञादि कर्म का सम्पादन यथाविधि अथवा साङ्ग न हो तो वहाँ 'वैगुण्यदोष' कहलाता है । यह वैगुण्य कर्म, कर्त्ता और साधन की विगुणता के कारण तीन प्रकार का होता है । जैसे – 'इष्ट्या पितरौ संयुज्यमानौ पुत्रं जनयत इति' – इस वाक्य में 'इष्टि' करण = साधन है, 'पितरौ' कर्ता है और 'संयोग' कर्म है– इन तीनों के गुणयोग से पुत्रजन्म होता है, किन्तु वैगुण्य से विपरीत होता है । यहाँ 'इज्या' के सम्बन्ध में कर्मवैगुण्य -- समीहाभ्रंशता है, कर्तृवैगुण्य-अविद्वान् प्रयोक्ता का होना और उसका कपूय आचरण होता है, और साधनवैगुण्य – असंस्कृत हवि, न्यूनाधिक अथवा स्वरवर्णहीन मन्त्रों का प्रयोग है, तथा दुरागत, हीन और निन्दित दक्षिणा देना है । 'उपजन' के सम्बन्ध में कर्मवैगुण्य – मिथ्यासम्प्रयोग है, कर्तृवैगुण्य -- योनिव्यापार अथवा बीजोपघात का होना है, तथा साधनवैगुण्य --इष्टि में अभिहितत्व है । इसीप्रकार लोक में विधिवाक्य है -- 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयादिति' -- इस वाक्य में कर्मवैगुण्य – दारु का मिथ्या मन्थन करना है, कर्तृवैगुण्य -- प्रमाद करना है । तथा साधनवैगुण्य -- आर्द्र और सुषिर दारु है । इन वैगुण्यदोषों के कारण यज्ञादिकर्म का कोई फल नहीं होता है (न्यायभाष्य, 2.1.57) ।

151 अभिक्रम्यते कर्मणा प्रारभ्यते यत्फलं सोऽभिक्रमस्तस्य नाशस्तद्यथेहेत्यादिना प्रतिपादित इह निष्कामकर्मयोगे नास्ति, एतत्फलस्य शुद्धेः पापक्षयरूपत्वेन लोकशब्दवाच्यभोग्यत्वाभावेन च क्षयासम्भवात् । वेदनपर्यन्ताया एव विविदिषायाः कर्मफलत्वाद्वेदनस्य चाव्यवधानेनाज्ञान-निवृत्तिफलजनकस्य फलमजनयित्वा नाशासम्भवादिह फलनाशो नास्तीति साधूक्तम् । तदुक्तम्--

'तद्यथेहेति या निन्दा सा फले न तु कर्मणि ।
फलेच्छां तु परित्यज्य कृतं विशुद्धिकृत्' इति ॥

152 तथा प्रत्यवायोऽङ्गवैगुण्यनिबन्धनं वैगुण्यमिह न विद्यते तमितिवाक्येन नित्यानामेवोपात्तदुरित-क्षयद्वारेण विविदिषायां विनियोगात् । तत्र च सर्वाङ्गोपसंहारनियमाभावात् । काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन विनियोग इति पक्षेऽपि फलाभिसन्धिरहितत्वेन तेषां नित्यतुल्यत्वात् । नहि काम्यनित्याग्निहोत्रयोः स्वतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । फलाभिसंधितदभावाभ्यामेव तु काम्यत्वनित्यत्वव्यपदेशः । इदं च पक्षद्वयमुक्तं वार्तिके --

वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने ।
तमेतमितिवाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥

151 जो फल अभिक्रमित होता है अर्थात् कर्म से प्राप्त होता है, वह 'अभिक्रम' कहा जाता है । उसका इह = यहाँ = इस निष्काम कर्मयोग में 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित नाश नहीं होता । इसका फल अन्त:करण की शुद्धि पापक्षयरूपा है, अत: उसमें 'लोक' शब्दवाच्य भोग न रहने के कारण उसका क्षय होना सम्भव नहीं है[226] । यहाँ तो वेदन = ज्ञान में समाप्त होनेवाली ही विविदिषा = जिज्ञासा कर्म का फल है और वेदन = ज्ञान बिना किसी व्यवधान के अज्ञाननिवृत्तिरूप फल का जनक होता है, अत: उसका अपने फल को उत्पन्न किए बिना नाश होना सम्भव नहीं है । इसलिए भगवान् ने यह ठीक ही कहा है कि 'यहाँ फल का नाश नहीं होता' । ऐसा ही कहा भी है -- 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुति ने जो निन्दा की है वह फल के विषय में निन्दा की गई है, कर्म के सम्बन्ध में नहीं । फलेच्छा को त्यागकर किया गया कर्म तो अन्त:करण की शुद्धि करनेवाला होता है ।

152 तथा प्रत्यवाय = अङ्गवैगुण्यजनित वैगुण्यदोष भी यहाँ नहीं होता । 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य से नित्यकर्मों के ही प्राप्त हुए पापों के क्षयद्वारा ब्रह्मजिज्ञासा में विनियोग का विधान किया गया है । और वहाँ = नित्यकर्मों में सम्पूर्ण अङ्गों को सम्मिलित करने का नियम नहीं है । 'इस श्रुति से संयोगपृथक्त्व न्याय से काम्य कर्मों के भी विनियोग का विधान किया गया है' -- ऐसा पक्ष भी यदि स्वीकार करें तो भी फलाकांक्षा = फलाशा से रहित होने के कारण वे काम्यकर्म भी नित्यकर्मों के समान ही हो जाते हैं । काम्य और नित्य अग्निहोत्रों में स्वत: कोई विशेष = भेद नहीं होता । फलाशा और फलाशा के अभाव से ही तो क्रमश: काम्य और नित्य कर्म कहे जाते हैं । इन दोनों पक्षों को वार्तिक में इस प्रकार कहा गया है --

226. तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्मयोग का फल अन्त:करणशुद्धि है, जो पापक्षयात्मक है । पापक्षय भावस्वरूप नहीं है, अभावस्वरूप है । जब पापक्षय भावभूत पदार्थ ही नहीं है, तो वह भोग्य भी नहीं है, क्योंकि अभाव का भोग नहीं हो सकता । इसीलिए इसकी निवृत्ति नहीं होती । निवृत्ति = विनाश तो जन्य और जन्यत्वविशिष्ट भाव का होता है । जन्य भावमात्र अनित्य होता है । अतएव 'जन्यो विनाशी, भावत्वात्, घटादिवत्' -- यह अनुमान वाक्य उचित है । निष्कर्षत: निष्काम कर्मयोग का फल भोग्य न होने के कारण तथा जन्य किन्तु अभावस्वरूप होने के कारण कदापि क्षीण नहीं हो सकता है ।

यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम् ।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥' इति ॥

तथा च फलाभिसन्धिना क्रियमाण एव कर्मणि सर्वाङ्गोपसंहारनियमात्तद्विलक्षणे शुद्ध्यर्थे कर्मणि प्रतिनिध्यादिना समाप्तिसम्भवान्नाङ्गवैगुण्यनिमित्तः प्रत्यवायोऽस्तीत्यर्थः । तथाऽस्य शुद्ध्यर्थस्य धर्मस्य तमेतमित्यादिवाक्यविहितस्य मध्ये स्वल्पमपि संख्ययेतिकर्तव्यतया वा यथाशक्तिभगवदाराधनार्थं किञ्चिदप्यनुष्ठितं सन्महतः संसारभयात्त्रायते भगवत्प्रसाद-सम्पादनेनानुष्ठातारं रक्षति ।

'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः' ॥

इत्यादिस्मृतेः, तमेतमिति वाक्ये समुच्चयविधायकाभावाच्चाशुद्धितारतम्यादेवानुष्ठान-तारतम्योपपत्तेर्युक्तमुक्तं कर्मबन्धं प्रहास्यसीति ॥ 40॥

153 एतदुपपादनाय तमेतमितिवाक्यविहितानामेकार्थत्वमाह–

"'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य से ऐक्यात्मज्ञान की उत्पत्ति के लिए वेदानुवचन आदि नित्यकर्मों की विधि कही गई है । अथवा संयोगपृथक्त्वन्याय से 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य से विविदिषा = ब्रह्मजिज्ञासा के लिए काम्य कर्मों का भी विधान किया गया है ।"

इस प्रकार फलाशापूर्वक किए जानेवाले ही कर्मों में सम्पूर्ण अङ्गों को सम्मिलित करने का नियम होने से और उनसे भिन्न शुद्धि के लिए किए जानेवाले कर्मों में प्रतिनिधि [227] आदि के द्वारा भी अङ्गों की समाप्ति = पूर्ति सम्भव होने से इस निष्काम कर्मयोग में अङ्गों के वैगुण्य के कारण होने वाला प्रत्यवाय = वैगुण्यदोष नहीं होता -- यह भावार्थ है । तथा 'तमेतम्' इत्यादि वाक्य से विहित इस अन्तःकरण की शुद्धि के लिए किए जाने वाले धर्म का संख्या अथवा इतिकर्तव्यता की दृष्टि से मध्य में थोडा-सा भी यथाशक्ति भगवान् की आराधना के लिए कुछ भी किया गया अनुष्ठान भगवत्कृपा के सम्पादन से अनुष्ठाता = अनुष्ठान-कर्ता की महान् संसार-भय से रक्षा करता है ।

'सम्पूर्ण पापों में अत्यन्त आसक्त होने पर भी निमेषमात्र भी अच्युत-नारायण का ध्यान करने से मनुष्य महान् तपस्वी और पंक्तिपावनपावन[228] = पंक्तियों को पवित्र करने वालों को भी पवित्र करनेवाला हो जाता है ।'

इत्यादि स्मृति भी यही कहती है । 'तमेतम्' इत्यादि वाक्य में ज्ञान और कर्म के समुच्चय का विधायक कोई शब्द न होने से अशुद्धि के तारतम्य = न्यूनाधिक्य के अनुसार ही अनुष्ठान के तारतम्य = न्यूनाधिक्य की उपपत्ति = सिद्धि होती है[229] । अतः 'तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे' -- यह कथन ठीक ही है ॥ 40 ॥

153 उक्तार्थ की उपपत्ति के लिए 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य में विहित वेदानुवचन, यज्ञ, दानादि की एकार्थता = एक प्रयोजनता कहते हैं :--

227. यहाँ 'प्रतिनिधि' से तात्पर्य है यज्ञादि की सामग्री में से किसी विशेष सामग्री के अभाव में किसी विशेष दूसरी सामग्री का प्रयोग जैसे, धूप, दीप, नैवेद्यादि के अभाव में अक्षत प्रतिनिधि होते हैं । यद्यपि काम्य कर्म में यजमान का प्रतिनिधि नहीं होता, किन्तु नित्यकर्म में कर्त्ता का भी प्रतिनिधि होता है ।

228. चतुर्वेदाध्ययनकुशलमति, सर्वप्रवचन-सकलवेदाङ्गवेत्ता, श्रोत्रियकुलोत्पन्न, त्रिणाचिकेतु अग्निहोत्री, त्रिसुपर्ण, ज्येष्ठसामग, वेदार्थविद्, प्रवक्ता, ब्रह्मचारी, सहस्रद, शतायु तथा श्रोत्रिय ब्राह्मण 'पंक्तिपावन' कहलाता है (मनुस्मृति, 3.184-186) । पंक्तिपावन का पावन अच्युतध्यान कर्ता है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ 41॥

154 हे कुरुनन्दनेह श्रेयोमार्गे तमेतमितिवाक्ये वा व्यवसायात्मिकाऽऽत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका बुद्धिरेकैव चतुर्णामाश्रमाणां साध्या विवक्षिता 'वेदानुवचनेन'इत्यादौ तृतीयाविभक्त्या प्रत्येकं निरपेक्षसाधनत्वबोधनात् । भिन्नार्थत्वे हि समुच्चयः स्यात् । एकार्थत्वेऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यामितिवद्द्वन्द्वसमासेन यदग्नये च प्रजापतये चेतिवच्चशब्देन न तथाऽत्र किञ्चित्प्रमाणमस्तीत्यर्थः । सांख्यविषया योगविषया च बुद्धिरेकफलत्वादेका व्यवसायात्मिका सर्वविपरीतबुद्धीनां बाधिका निर्दोषवेदवाक्यसमुत्थत्वादितरास्त्वव्यवसायिनां बुद्धयो बाध्या इत्यर्थ

[हे कुरुनन्दन ! इस मोक्षमार्ग में आत्मतत्त्व की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, किन्तु जो कर्मफल की इच्छावाले होते हैं उनकी बुद्धियाँ तो अनेकों शाखाओंवाली = भेदोंवाली और अनन्त होती हैं ॥ 41 ॥]

154 हे कुरुनन्दन ! इह = इस मोक्षमार्ग में अथवा 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य में व्यवसायात्मिका अर्थात् आत्मतत्त्व की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, जो चारों आश्रमों के पुरुषों के लिए साध्य विवक्षित है, क्योंकि 'वेदानुवचनेन' इत्यादि में तृतीया विभक्ति होने के कारण प्रत्येक की स्वतंत्र साधनता बताई गई है[230] । यदि इनका प्रयोजन भिन्न-भिन्न होता तो समुच्चय किया जाता । यदि इन सभी का मिलकर एक प्रयोजन होता तो 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' के समान द्वन्द्वसमास से अथवा 'यदग्नये च प्रजापतये च' के समान 'च' शब्द से उल्लेख किया जाता, किन्तु यहाँ ऐसा कोई प्रमाण नहीं है -- ऐसा इसका तात्पर्य है । सांख्यविषया और योगविषया बुद्धि एकफलवाली होने के कारण एक ही है, जो व्यवसायात्मिका अर्थात् निर्दोष वेदवाक्य से उत्पन्न होने के कारण समस्त विपरीत बुद्धियों की बाधिका होती है । अभिप्राय यह है कि अव्यवसायियों की इतर बुद्धियाँ बाध्य होती हैं -- ऐसा भाष्यकार का मत है । अन्य टीकाकार तो इसका इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'परमेश्वर

229. तात्पर्य यह है कि 'तमेतम्' इत्यादि वाक्य के अनुसार ये वेदानुवचनादि प्रत्येक ही पृथक्-पृथक् चित्त की अशुद्धि का विनाश करते हैं । विभिन्न लोगों की चित्त की अशुद्धि विभिन्न प्रकार की होती है । इस कारण किसी का वेदानुवचन से, किसी का यज्ञ से, किसी का दान से तथा किसी का तपश्चर्या से चित्त की अशुद्धि का नाश हो जाता है । और कोई यदि इन सभी का एक साथ अनुष्ठान करता है तब भी चित्तदोष की निवृत्ति होती है । चित्त की अशुद्धता के तारतम्य के अनुसार अनुष्ठान का भी तारतम्य होता है । इसप्रकार 'तमेतम्' वाक्य में अशुद्धि के तारतम्य के अनुसार अनुष्ठान के तारतम्य की सिद्धि की गई है, ज्ञान और कर्म के समुच्चय का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि इस वाक्य में ज्ञान और कर्म के समुच्चय का विधायक कोई शब्द ही प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

230. 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' -- इस श्रुतिवाक्य में आत्मतत्त्व की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, जो चारों आश्रमों के पुरुषों के लिए साध्य है, क्योंकि वेदानुवचनादि में पृथक्-पृथक् तृतीया विभक्ति का प्रयोग होने कारण प्रत्येक की स्वतंत्र साधनता बताई गई है । जैसे -- ब्रह्मचर्याश्रम में केवल 'वेदानुवचन' से ही चित्त की अशुद्धि का विनाश हो सकता है । गृहस्थाश्रम में केवल यज्ञ, दान आदि से, वानप्रस्थाश्रम में तपश्चर्या से, अथवा संन्यासाश्रम में सभी कामनाओं का परित्याग कर ब्रह्म तथा आत्मा के ऐक्य की साधनरूप परम तपश्चर्या से चित्त की अशुद्धि का नाश हो सकता है अर्थात् केवल अपने अपने आश्रम के अनुसार वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप -- इनके प्रत्येक के द्वारा ही निरपेक्षरूप से चित्तशुद्धि हो सकती है । इसप्रकार वेदानुवचनादि की चारों आश्रमों के पुरुषों के लिए पृथक्-पृथक् चित्तशुद्धि द्वारा आत्मतत्त्व की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है ।

इति भाष्यकृतः। अन्ये तु परमेश्वराराधनेनैव संसारं तरिष्यामीति निश्चयात्मिकैकनिष्ठैव बुद्धिरिह कर्मयोगे भवतीत्यर्थमाहुः। सर्वथाऽपि तु ज्ञानकाण्डानुसारेण 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इत्युपपन्नम्। कर्मकाण्डे पुनर्बहुशाखा अनेकभेदाः कामानामनेकभेदत्वात्, अनन्ताश्च कर्मफलगुणफलादिप्रकारोपशाखाभेदात्, बुद्धयो भवन्त्यव्यवसायिनां तत्तत्फलकामानाम्। बुद्धीनामानन्त्यप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः। अतः काम्यकर्मापेक्षया महद्वैलक्षण्यं शुद्धयर्थकर्मणामित्यभिप्रायः॥ 41॥

155 अव्यवसायिनामपि व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुतो न भवति प्रमाणस्य तुल्यत्वादित्याशङ्क्य प्रतिबन्धकसद्भावान्न भवतीत्याह त्रिभि :-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥ 42॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ 43॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तथाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ 44।

की आराधना से ही मैं संसार को पार कर लूंगा-- ऐसी निश्चयात्मिका एकनिष्ठा ही बुद्धि इस कर्मयोग में होती है'। किन्तु 'इस धर्म का थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भय से रक्षा कर लेता है'-- इस वाक्य की उपपत्ति तो सर्वथा ज्ञानकाण्ड के अनुसार ही होती है। कर्मकाण्ड में तो कामनाओं के अनेक भेद होने के कारण बहुशाखा = अनेकों भेदोंवाली और कर्मफल, गुणफल, आदि प्रकार से उपशाखाओं के अनेक भेद होने के कारण अनन्त बुद्धियाँ होती हैं। तद्-तद् फल की कामनावाले अव्यवसायियों की बुद्धियों की अनन्तता की प्रसिद्धि द्योतित करने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है। अत: अभिप्राय यह है कि काम्य कर्मों की अपेक्षा चित्तशुद्धि के लिए किए जानेवाले कर्मों में महती विलक्षणता है॥ 41॥

155 'अव्यवसायियों **को भी व्यवसायात्मिका बुद्धि क्यों नहीं होती है,** प्रमाण तो दोनों के लिए समान ही है' -- ऐसी आशंका करके भगवान् तीन श्लोकों से यह कहते हैं कि प्रतिबन्धक रहने के कारण उनकी यह बुद्धि नहीं होती है :--

[हे पार्थ ! वेदों के अर्थवाद में ही रत, कर्मकाण्ड की अपेक्षा अन्य कोई ज्ञानकाण्ड नहीं है -- ऐसा कहनेवाले, स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ समझनेवाले, कामात्मा अविवेकीजन जो जन्म, कर्म और फल प्रदान करने वाली, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अग्निहोत्रादि विशेष कर्मों के विस्तार से युक्त इस पुष्पित पलाश के समान आपातरमणीय वाणी को बोलते हैं, उस वाणी द्वारा अपहृत चित्तवाले तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति रखनेवाले उन पुरुषों के अन्त:करण में व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती है॥ 42-43-44॥]

156 यामिमां वाचं प्रवदन्ति तथा वाचाऽपहृतचेतसामविपश्चितां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न भवतीत्यन्वयः । इमामध्ययनविध्युपात्तत्वेन प्रसिद्धां पुष्पितां पुष्पितपलाशवदापातरमणीयां साध्यसाधनसम्बन्धप्रतिभानान्निरतिशयफलाभावाच्च । कुतो निरतिशयफलत्वाभावस्तदाह जन्मकर्मफलप्रदां जन्म चापूर्वशरीरेन्द्रियादिसम्बन्धलक्षणं तदधीनं च कर्म तत्तद्वर्णाश्रमाभिमाननिमित्तं तदधीनं च फलं पुत्रपशुस्वर्गादिलक्षणं विनश्वरं-तानि प्रकर्षेण घटीयन्त्रवदविच्छेदेन ददातीति तथा ताम् ।

157 कुत एवमत आह– भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाममृतपानोर्वशीविहारपारिजात-परिमलादिनिबन्धनो यो भोगस्तत्कारणं च यदैश्वर्यं देवादिस्वामित्वं तयोर्गतिं प्राप्तिं प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषा अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादयस्तैर्बहुलां विस्तृतामतिबाहुल्येन भोगैश्वर्यसाधनक्रियाकलापप्रतिपादिकामिति यावत् । कर्मकाण्डस्य हि ज्ञानकाण्डापेक्षया सर्वत्रातिविस्तृतत्वं प्रसिद्धम् । एतादृशीं कर्मकाण्डलक्षणां वाचं प्रवदन्ति प्रकृष्टां परमार्थस्वर्गादिफलामभ्युपगच्छन्ति ।

156 जो इस वाणी को बोलते हैं, उस वाणी द्वारा अपहृत चित्तवाले अविपश्चित = अविवेकीजनों की व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती है -- यह अन्वय है । इस अर्थात् अध्ययनविधि से ग्रहण की हुई होने के कारण प्रसिद्ध पुष्पित अर्थात् पुष्पित पलाश के समान आपातरमणीय, क्योंकि इसमें साध्य-साधन के सम्बन्ध का भान तो रहता है किन्तु निरतिशय = सर्वोत्तम फल का अभाव ही रहता है[231] । निरतिशय फल का अभाव क्यों रहता है ? उसको कहते हैं -- 'जन्मकर्मफलप्रदाम्' अर्थात् वह जन्म, कर्म और फल -- इन तीनों को प्रदान करनेवाली है । अपूर्व = नवीन शरीर, इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध होना रूप जन्म है, जन्माधीन तद्-तद् वर्णाश्रम के अभिमानवश होनेवाला कर्म है, और कर्माधीन पुत्र, पशु, स्वर्गादि रूप विनश्वर फल है -- इन जन्म, कर्म और फलों को जो प्रकर्ष से अर्थात् घटीयन्त्र के समान निरन्तर प्रदान करती रहती है वह वाणी है, वैसी वाणी को ।

157 वह वाणी ऐसी क्यों है ? अत: कहते हैं -- 'भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए क्रियाविशेषबहुला है' । अर्थात् अमृतपान, उर्वशीविहार, पारिजात पुष्पों की गन्ध आदि से होनेवाला जो भोग है और उसका कारणभूत जो देवतादि का आधिपत्यरूप ऐश्वर्य है -- उन दोनों गति = प्राप्ति के लिए साधनभूत जो अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि क्रियाविशेष हैं उनसे जो बहुल = विस्तृत है अर्थात् जो अत्यन्त बहुलता से भोग और ऐश्वर्य के साधनभूत क्रियाकलाप का प्रतिपादन करनेवाली है, क्योंकि कर्मकाण्ड की ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा सर्वत्र अतिविस्तृतता[232] ही प्रसिद्ध है । ऐसी कर्मकाण्डरूपा वाणी को बोलते हैं अर्थात् उस वाणी को प्रकृष्ट और परमार्थस्वरूप स्वर्गादि फलवाली स्वीकार करते हैं ।

231. भाव यह है कि जैसे पलाशवृक्ष पुष्पित होता है और पुष्पित होने पर इतर वृक्षों से अधिक सुन्दर दिखाई देता है, किन्तु वह पुष्पित ही होता है, फलित नहीं, अत: निष्फल होता है; वैसे ही कर्मकाण्डरूपा वाणी श्रवण में अति रमणीय होती है, आपातरमणीय होती है, क्योंकि उसमें साध्य-फल, साधन – कर्म, तत्सम्बन्ध – उपायोपेयभाव और फल के साथ आत्मा के स्व-स्वामिभाव आदि का प्रतिभान रहता है, किन्तु उसमें निरतिशय फल का तो अभाव ही रहता है ।

232. कर्मकाण्ड की ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा सर्वत्र अतिविस्तृता से तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्डीय ब्राह्मणग्रन्थ जितने बृहद्ग्रन्थ हैं उतने ज्ञानकाण्डीय उपनिषद् नहीं है । कर्मकाण्ड के प्रतिपाद्य विषय अनेक यागादि हैं, जबकि उपनिषदों में प्रतिपाद्य विषय केवल एक आत्मा ही है । उपनिषत्प्रमेय के लिए एक उपनिषद् ही प्रमाण है, जबकि कर्मविद्या में प्रमाण छै हैं । इसीप्रकार कर्मविद्या के अधिकारी भी अनेक हो सकते हैं, ब्रह्मविद्या का अधिकारी तो कोई एक वीतराग पुरुष ही कभी होता है । यही ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा कर्मकाण्ड की सर्वत्र अतिविस्तृता है ।

158 **के येऽविपश्चितो विचारजन्यतात्पर्यपरिज्ञानशून्याः। अत एव वेदवादरता वेदे ये सन्ति वादा अर्थवादाः 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्येवमादयस्तेष्वेव रता वेदार्थसत्यत्वेनैवमेवैतदिति मिथ्याविश्वासेन सन्तुष्टा हे पार्थ। अत एव नान्यदस्तीतिवादिनः कर्मकाण्डापेक्षया नास्त्यन्यज्ज्ञानकाण्ड सर्वस्यापि वेदस्य कार्यपरत्वात्, कर्मफलापेक्षया च नास्त्यन्यन्निरतिशयं ज्ञानफलमितिवदनशीला महता प्रबन्धेन ज्ञानकाण्डविरुद्धार्थभाषिण इत्यर्थः। कुतो मोक्षद्वेषिणस्ते। यतः कामात्मानः काम्यमानविषयशताकुलचित्तत्वेन काममयाः। एवं सति मोक्षमपि कुतो न कामयन्ते ? यतः स्वर्गपराः स्वर्ग एवोर्वश्याद्युपेतत्वेन पर उत्कृष्टो येषां ते तथा। स्वर्गातिरिक्तः पुरुषार्थो नास्तीति भ्राम्यन्तो विवेकवैराग्याभावान्मोक्षकथामपि सोढुमक्षमा इति यावत्।**

159 **तेषां च पूर्वोक्तभोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां क्षयित्वादिदोषादर्शनेन निविष्टान्तःकरणानां तया क्रियाविशेषबहुलया वाचाऽपहृतमाच्छादितं चेतो विवेकज्ञानं येषां तथाभूतानामर्थवादाःस्तुत्यर्था-**

158 कौन स्वीकार करते हैं ? -- जो अविपश्चित अर्थात् विचारजन्य तात्पर्यज्ञान से शून्य हैं। अतएव जो वेदवादरत हैं = वेद में जो 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालों को अक्षय पुण्य प्राप्त होता है' इत्यादि प्रकार के वाद = अर्थवाद हैं उन में ही जो रत हैं अर्थात् 'वेदार्थ की सत्यता से यह ऐसा ही है' -- इस प्रकार के मिथ्याविश्वास से सन्तुष्ट हैं। हे पार्थ ! अतएव जो 'नान्यत्' = 'अन्य नहीं है' -- ऐसा कहनेवाले हैं अर्थात् कर्मकाण्ड की अपेक्षा अन्य कोई ज्ञानकाण्ड नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य कर्म में है, इसीलिए कर्मफल की अपेक्षा ज्ञान का अन्य कोई निरतिशय फल (मोक्ष) नहीं है -- ऐसा कहने का जिनका स्वभाव है अर्थात् जो बडे प्रबन्ध[233] से ज्ञानकाण्ड के विरुद्ध अर्थ को कहने वाले हैं। वे मोक्ष से द्वेष करनेवाले क्यों होते हैं ? क्योंकि वे कामात्मा अर्थात् काम्यमान सैकड़ों विषयों से व्याकुलचित्त होने के कारण काममय होते हैं। ऐसे होने पर भी अर्थात् कामात्मा = काममय होने पर भी वे मोक्ष की भी कामना क्यों नहीं करते हैं ? क्योंकि वे स्वर्गपर होते हैं = उनकी दृष्टि में उर्वशी आदि से युक्त होने के कारण स्वर्ग ही परम उत्कृष्ट होता है; तथा 'स्वर्ग के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं है' – ऐसे भ्रम में रहने के कारण विवेक और वैराग्य से हीन होने के कारण वे मोक्ष की कथा को भी सहन करने में समर्थ नहीं होते हैं।

159 और जो पूर्वोक्त भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हैं -- उनके क्षयित्वादि दोष न देखने के कारण जिनका अन्तःकरण उनमें फंसा हुआ है तथा उस क्रियाविशेषबहुला वाणी से जिनका चित्त = विवेकज्ञान

233. यहाँ प्रबन्ध' से तात्पर्य वाक्यविस्तारपूर्वक कथन या रचना है। कर्मकाण्डी बडे प्रबन्ध से ज्ञानकाण्ड के विरुद्ध अर्थ को कहते हैं। जैसे उनकी प्रबन्धकल्पना है – 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मीमांसासूत्र, 1.2.1) अर्थात् 'आम्नाय = वेद के क्रियार्थक होने से क्रियार्थकता से रहित वेदवाक्य अनर्थक हैं'। इससे क्रियारहित वेदान्तवाक्य भी अनर्थक हैं। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' – इस अध्ययनविधि से विहित सार्थक अध्ययन के विषय होने के कारण जैसे अर्थवाद वाक्य को क्रिया की स्तुति द्वारा क्रियार्थक मानकर सार्थक माना गया है, वैसे ही कर्म के कर्ता – देव फलादि के प्रकाशनार्थक होने से क्रियाविधि की अंगरूपता वेदान्त को है, इससे सार्थक है, जीव प्रतिपादक कर्म कर्ता का, ईश्वर का प्रतिपादक कर्मांग देव का बोधक है, या अन्य फल का बोधक है, अथवा उपासनादिरूप क्रियान्तर का विधानार्थक ही है, क्योंकि यज्ञादि कर्म के प्रकरणों से वेदान्त का भिन्न प्रकरण है। सिद्धवस्तु का सर्वथा कर्म-सम्बन्ध के बिना प्रतिपादन नहीं हो सकता है, क्योंकि सिद्ध वस्तु का प्रत्यक्षादि विषयत्व होता है और प्रत्यक्षादि के विषय ब्रह्म का प्रतिपादक विषय वेद अनुवादक अप्रमाण होगा। अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य ही नष्ट हो जायेगा। इसलिए यदि वेदान्त को प्रमाण स्वीकार करना है तो क्रियार्थक ही स्वीकार करना होगा, सिद्धार्थक नहीं – इत्यादि।

स्तात्पर्यविषये प्रमाणान्तराबाधिते वेदस्य प्रमाण्यमिति सुप्रसिद्धमपि ज्ञातुमशक्तानां समाधावन्तःकरणे व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते न भवतीत्यर्थः । समाधिविषया व्यवसायात्मिका बुद्धिस्तेषां न भवतीति वा अधिकरणे विषये वा सप्तम्यास्तुल्यत्वात् । विधीयत इति कर्मकर्तरि लकारः । समाधीयतेऽस्मिन्सर्वमिति व्युत्पत्त्या समाधिरन्तःकरणं वा परमात्मा वेति नाप्रसिद्धार्थकल्पनम् । अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिस्तन्निमित्तं व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नोत्पद्यत इति व्याख्याने तु रूढिरेवाऽऽदृता ।

अपहृत = आच्छादित है ऐसे उन पुरुषों के, जो कि 'अर्थवाद स्तुति के लिए होते हैं, प्रमाणान्तर से अबाधित तात्पर्यविषय में वेद की प्रामाणिकता है' -- ऐसे सुप्रसिद्ध विषय को भी जानने में अशक्त = असमर्थ हैं, समाधि = अन्तःकरण में व्यवसायात्मिका बुद्धि 'न विधीयते' = 'न भवति' =नहीं होती है -- यह अर्थ है । अथवा यह अर्थ है कि उनकी समाधिविषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती है, क्योंकि अधिकरण या विषय -- दोनों ही में सप्तमी का विधान समान ही होता है[234] । 'विधीयते' -- इस क्रियापद में कर्मकर्ता में लकार है । 'समाधीयतेऽस्मिन् सर्वम्' = ' इसमें सभी को समाहित किया जाता है' -- ऐसी व्युत्पत्ति से 'समाधि[235]' अन्तःकरण अथवा परमात्मा का वाचक है, किसी अप्रसिद्धार्थ की कल्पना नहीं है । 'अहं ब्रह्मास्मि -- 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसी अवस्थिति समाधि है, उस समाधि का निमित्त = कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है -- इस व्याख्यान में तो रूढि को ही आदर दिया गया है ।

---

234. अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है, ('सप्तम्यधिकरणे च' -- पाणिनिसूत्र, 2.3.36) । अधिकरण तीन प्रकार का होता है--औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक । औपश्लेषिक अधिकरण वह है जहाँ कर्ता अथवा कर्म आधार में संयोगादि सम्बन्ध से रहते हैं । विषयता सम्बन्ध से होनेवाला आधार वैषयिक अधिकरण कहलाता है । जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में व्याप्त होकर रहती है वह अभिव्यापक अधिकरण कहा जाता है । प्रकृत श्लोक के 'समाधौ' पद में अन्तःकरण-पक्ष में औपश्लेषिकाधिकरण सप्तमी है और ब्रह्मपक्ष में वैषयिकाधिकरण सप्तमी है । दोनों में से किसी भी अर्थ में सप्तमी स्वीकार करने से अर्थ में भेद नहीं होता, क्योंकि व्यवसायत्मिका बुद्धि का निषेधाधिकरण दोनों ही अर्थों के अनुसार 'अन्तःकरण' ही प्राप्त होता है । अन्तःकरण में तो बुद्धि का निषेधाधिकरण अन्तःकरण स्पष्ट ही है । ब्रह्मपक्ष में बुद्धि का निषेधाधिकरण अन्तःकरण इस प्रकार होता है -- समाधि से विवक्षित ब्रह्म में विषयितासम्बन्ध से व्यवसायात्मिका बुद्धि रहती है । बुद्धि का विषय ब्रह्मभाव अन्तःकरण में रहता है । इससे बुद्धि का निषेधाधिकरण भी अन्तः:करण हुआ । इसप्रकार 'समाधौ' पद में अधिकरण या विषय -- दोनों ही अर्थों में सप्तमी स्वीकार करने पर अर्थ समान ही होता है ।

235. यहाँ 'समाधि' पद के तीन व्युत्पत्त्यर्थ दिये गए हैं --

(i) 'समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिरन्तःकरणम्' (गीताशाङ्करभाष्य, 2.44) अर्थात् पुरुष के उपभोग के लिए जिसमें सभी वस्तुएँ वासना के रूप में समाहित होती है उसे 'समाधि' अर्थात् 'अन्तःकरण ' कहते हैं ।

(ii) 'समाधीयतेऽस्मिन् सर्वम्' अर्थात् जिसमें सभी विषय समाहित होते हैं वह 'समाधि' अर्थात् ' परमात्मा' है । क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति के अनुसार समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म है, अतः परमात्मा समाधि है ।

इन दोनों व्युत्पत्तियों से यहाँ 'समाधि' पद यौगिक विवक्षित है । जहाँ यौगिकार्थ भी नहीं होता उसमें प्रयोग करने से अप्रसिद्धार्थकल्पना होती है । प्रकृत में यौगिकार्थ विवक्षित होने से अप्रसिद्धार्थकल्पना दोष नहीं है ।

(iii) 'अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिः' -- अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इस प्रकार समाहित होकर बुद्धि जब अवस्थान करती है तो उसे 'समाधि' कहते हैं । प्रकृत में 'समाधि' का रूढि अर्थ ही विवक्षित है, क्योंकि ध्याता और ध्यान का परित्याग करके क्रमशः ध्येयैकगोचरवृत्ति असंप्रज्ञात 'समाधि' कहलाती है ।

160 अयं भाव:- यद्यपि काम्यान्यग्निहोत्रादीनि शुद्ध्यर्थेभ्यो न विशिष्यन्ते तथाऽपि फलाभिसन्धिदोषान्नाऽऽशयशुद्धिं सम्पादयन्ति । भोगानुगुणा तु शुद्धिर्न ज्ञानोपयोगिनी। एतदेव दर्शयितुं भोगैश्वर्यप्रसक्तानामिति पुनरुपात्तम् । फलाभिसन्धिमन्तरेण तु कृतानि ज्ञानोपयोगिनीं शुद्धिमादधतीति सिद्धं विपश्चिदविपश्चितो: फलवैलक्षण्यम् । विस्तरेण चैतदग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ 42 ॥ 43 ॥ 44 ॥

161 ननु सकामानां मा भूदाशयदोषाद्व्यवसायात्मिका बुद्धि:, निष्कामानां तु व्यवसायात्मकबुद्ध्या कर्म कुर्वतां कर्मस्वाभाव्यात्स्वर्गादिफलप्राप्तौ ज्ञानप्रतिबन्ध: समान इत्याशङ्क्याऽऽह –

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ 45 ॥

162 त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यं काममूल: संसार: । स एव प्रकाशत्वेन विषयो येषां तादृशा वेदा: कर्मकाण्डात्मका यो यत्फलकामस्तस्यैव तत्फलं बोधयन्तीत्यर्थ: । न हि सर्वेभ्य: कामेभ्यो दर्शपूर्णमासाविति विनियोगेऽपि सकृदनुष्ठानात्सर्वफलप्राप्तिर्भवति तत्तत्कामनाविरहात् । यत्फलकामनयाऽनुतिष्ठति तदेव फलं तस्मिन्प्रयोग इति स्थितं योगसिद्ध्यधिकरणे ।

---

160 भाव यह है कि यद्यपि काम्य अग्निहोत्रादि कर्म चित्तशुद्धि के लिए किए जाने वाले अग्निहोत्रादि कर्मों से भिन्न नहीं होते हैं, तथापि फलाकांक्षारूप दोष के कारण वे अन्त:करण= चित्त की शुद्धि नहीं करते हैं । भोगानुगुणा=पुण्यजन्यभोगानुकूला शुद्धि तो ज्ञानोपयोगिनी=तत्त्वज्ञानजनक नहीं होती है । यही दिखलाने के लिए 'भोगैश्वर्यप्रमत्तानाम्'-- यह पद पुन: कहा गया है । फलाभिसन्धि=फलाकांक्षा के बिना ही किए गए कर्म ज्ञानोपयोगिनी शुद्धि करते हैं-- इस प्रकार विपश्चित = विवेकी और अविपश्चित = अविवेकी के कर्मों में फलों की विलक्षणता सिद्ध ही है । इसका विस्तार से आगे प्रतिपादन किया जायेगा । ॥ 42-43-44 ॥

161 'सकाम पुरुषों की चित्ताशुद्धि के कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि न हो, किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि से कर्म करनेवाले निष्काम पुरुषों को भी तो कर्म का फलदातृत्व स्वभाव होने के कारण स्वर्गादि फल की प्राप्ति होने पर सकाम पुरुषों के समान ही ज्ञान का प्रतिबन्ध उपस्थित हो जायेगा' -- ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं --

[हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्य = काममूल-संसार विषयक ही हैं; तुम निस्त्रैगुण्य = निष्काम, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् हो जाओ ॥ 45 ॥]

162 'त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यम्' = तीनों-सत्त्व, रज और तम -- गुणों का कर्म त्रैगुण्य अर्थात् काममूल संसार है । वही प्रकाश्यरूप से जिनका विषय है वे कर्मकाण्डात्मक वेद हैं । जो जिस फल का कामी होता है उसी को वे उस फल का बोध कराते हैं – यह अभिप्राय है । 'सर्वेभ्य: कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' = ' समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिए दर्श-पूर्णमास इष्टि करे' – ऐसा विनियोग होने पर भी एकबार दर्शपूर्णमास यज्ञ के अनुष्ठान से सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि इनमें तद्-तद् कामनाओं का अभाव रहता है । अत: जो जिस फल की कामना से जिसका अनुष्ठान करता है, उस प्रयोग में वह वही फल प्राप्त करता है -- ऐसा पूर्वमीमांसा के योगसिद्धि -- अधिकरण में निश्चित किया गया है ।

163 यस्मादेवं कामनाविरहे फलविरहस्तस्मात्त्वं निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव हेऽर्जुन । एतेन कर्मस्वाभाव्यात्संसारो निरस्तः । ननु शीतोष्णादिद्वन्द्वप्रतीकाराय वस्त्राद्यपेक्षणात्कुतो निष्कामत्वमत आह - निर्द्वन्द्वः । सर्वत्र भवेति सम्बध्यते । मात्रास्पर्शास्त्वित्युक्तन्यायेन शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुर्भव । असह्यं दुःखं कथं वा सोढव्यमित्यपेक्षायामाह - नित्यसत्त्वस्थो नित्यमचञ्चलं यत्सत्त्वं धैर्यापरपर्यायं तस्मिंस्तिष्ठतीति तथा । रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वो हि शीतोष्णादिपीडया मरिष्यामीति मन्वानो धर्माद्विमुखो भवति । त्वं तु रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वमात्रालम्बनो भव ।

164 ननु शीतोष्णादिसहनेऽपि क्षुत्पिपासादिप्रतीकारार्थं किञ्चिदनुपात्तमुपादेयमुपात्तं च रक्षणीयमिति तदर्थं यत्ने क्रियमाणे कुतः सत्त्वस्थत्वमित्यत आह – निर्योगक्षेमः, अलब्धलाभो योगः, लब्धपरिरक्षणं क्षेमस्तद्रहितो भव । चित्तविक्षेपकारिपरिग्रहरहितो भवेत्यर्थः । न चैवं चिन्ता कर्तव्या कथमेवं सति जीविष्यामीति । यतः सर्वान्तर्यामी परमेश्वर एव तव योगक्षेमादि निर्वाहयिष्यतीत्याह -- आत्मवान्, आत्मा परमात्मा ध्येयत्वेन योगक्षेमादिनिर्वाहकत्वेन च वर्तते यस्य स आत्मवान् । सर्वकामनापरित्यागेन परमेश्वरमाराधयतो मम स एव देहयात्रामात्रमपेक्षितं सम्पादयिष्यतीति निश्चित्य निश्चिन्तो भवेत्यर्थः । आत्मवानप्रमत्तो भवेति वा ॥45 ॥

---

163 क्योंकि इसप्रकार कामना के न होने पर फल भी नहीं होता है, इसलिए हे अर्जुन ! तुम निस्त्रैगुण्य अर्थात् निष्काम हो जाओ । इससे कर्ममय स्वभाववाला होने से संसार का निरास हो जाता है । किन्तु शीतोष्णादि द्वन्द्वों के प्रतीकार के लिए तो वस्त्रादि की अपेक्षा रहती है, फिर निष्कामता कैसे रह सकती है ? अत: कहते हैं -- निर्द्वन्द्व हो जाओ । यहाँ 'भव' = 'हो जाओ' का सम्बन्ध सर्वत्र = सभी पदों के साथ लगाना चाहिए । 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय' (गीता, 2.14)-- इत्यादि श्लोक में उक्त न्याय से शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करनेवाले हो जाओ । 'दु:ख तो असह्य होता है, उसे कैसे सहा जा सकता है ? -- ऐसी आशंका होने पर कहते हैं -- नित्यसत्त्वस्थ हो जाओ = नित्य -- अविचल सत्त्व, जिसका दूसरा नाम धैर्य है, उसमें जो स्थित रहता है वैसे हो जाओ । रज और तम से जिसका सत्त्व अभिभूत हो गया है वही 'शीतोष्णादि की पीड़ा से मर जाऊँगा' -- ऐसा मानकर धर्म से विमुख होता है । तुम तो रज और तम को अभिभूत कर सत्त्वमात्र का आलम्बन करो ।

164 किन्तु शीतोष्णादि को सहन करने पर भी भूख-प्यास आदि के प्रतीकार के लिए कुछ अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करना और प्राप्त हुई वस्तुओं की रक्षा करना तो आवश्यक ही है । इसके लिए प्रयत्न किये जाने पर सत्त्वस्थता कैसे रह सकती है ? अत: कहते हैं -- निर्योगक्षेम हो जाओ । अप्राप्त को प्राप्त करना 'योग' है और प्राप्त की रक्षा करना क्षेम' है -- योग और क्षेम -- इस दोनों से रहित हो जाओ । अर्थात् चित्तविक्षेपकारी परिग्रह से रहित हो जाओ । और ऐसी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि 'ऐसा होने पर मैं कैसे जीवित रहूँगा', क्योंकि सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ही तुम्हारे योगक्षेम आदि का निर्वाह कर देंगे । इसी से कहते हैं -- आत्मवान् हो जाओ । आत्मा अर्थात् परमात्मा ही ध्येयरूप से = योगक्षेमादि के निर्वाहकरूप से है जिसका, वह 'आत्मवान्' कहलाता है । तात्पर्य यह है कि 'समस्त कामनाओं का परित्याग कर परमेश्वर की आराधना में व्यापृत होने पर वही मेरी देहयात्रा मात्र के लिए अपेक्षित वस्तुजात का सम्पादन करेंगे' -- ऐसा निश्चय करके निश्चिन्त हो जाओ । अथवा, आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त हो जाओ -- यह अर्थ है ॥ 45 ॥

165 न चैवं शङ्कनीयं सर्वकामनापरित्यागेन कर्म कुर्वन्नहं तैस्तैः कर्मजनितैरानन्दैर्वञ्चितः स्यामिति। यस्मात् -

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ 46 ॥

166 उदपाने क्षुद्रजलाशये, जातावेकवचनं, यावानर्थो यावत्स्नानपानादि प्रयोजनं भवति सर्वतः संप्लुतोदके महति जलाशये तावानर्थो भवत्येव। यथा हि पर्वतनिर्झराः सर्वतः स्रवन्तः क्वचिदुपत्यकायामेकत्र मिलन्ति तत्र प्रत्येकं जायमानमुदकप्रयोजनं समुदिते सुतरां भवति सर्वेषां निर्झराणामेकत्रैव कासारेऽन्तर्भावात्। एवं सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु काम्यकर्मसु यावानर्थो हैरण्यगर्भानन्दपर्यन्तस्तावान्विजानतो ब्रह्मतत्त्वं साक्षात्कृतवतो ब्राह्मणस्य ब्रह्मबुभूषोर्भवत्येव।

165 इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिए कि समस्त कामनाओं का परित्याग कर कर्म करने से मैं उन-उन कर्मजनित आनन्दों से वञ्चित रहूँगा, क्योंकि --

[क्षुद्र-क्षुद्र जलाशयों में स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना प्रयोजन सर्वत्र व्याप्त जलवाले महान् जलाशय में सिद्ध होता ही है। इसीप्रकार समस्त वेदोक्त काम्य कर्मों में हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्त जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना प्रयोजन ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मण = ब्रह्मजिज्ञासु को भी अवश्य होता ही है॥ 46 ॥]

166 उदपान[236] अर्थात् क्षुद्र-क्षुद्र जलाशयों में -- यहाँ 'उदपाने' -- इस पद में जाति को लक्ष्य कर एक वचन का प्रयोग हुआ है -- जितना प्रयोजन[237] = स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन होता है सर्वतः = सभी ओर से संप्लुत = परिपूर्ण जलवाले महान् जलाशय में उतना प्रयोजन होता ही है। जैसे पर्वत के झरने सभी ओर से बहते हुए कहीं उपत्यका[238] = घाटी में एकत्र = एक स्थान पर मिल जाते हैं तो वहाँ प्रत्येक = एक-एक झरने से पूर्ण होने वाला जल का प्रयोजन उस समुदित = एकत्रित जल से सुतराम् = और भी सुगमता से पूर्ण हो जाता है, क्योंकि वहाँ एक ही कासार[239] = महाजलाशय या सरोवर में सभी झरनों का अन्तर्भाव =समावेश है ही। इसी प्रकार समस्त वेदों में अर्थात् वेदोक्त काम्य कर्मों में हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्त = मनुष्यलोक से लेकर हिरण्यगर्भलोकपर्यन्त आनन्दरूप जितना प्रयोजन सिद्ध

---

236. 'उदकं पीयतेऽस्मिन्निति उदपानम्' अर्थात् जिसमें जलपान किया जाता है उसे 'उदपान' कहते हैं। 'उदपान' कूप, तडाग आदि क्षुद्र जलाशयों को कहा जाता है।

237. यावानर्थ = जितना प्रयोजन = स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन। तात्पर्य यह है कि संसार में किसी क्षुद्र तडाग या कूप में स्नान किया जा सकता है तो पान नहीं किया जा सकता; पुनः किसी क्षुद्र जलाशय कूप में वस्त्रप्रक्षालन ही किया जा सकता है तो स्नानादि नहीं अर्थात् किसी एक ही क्षुद्र जलाशय से सभी प्रयोजनों की एक साथ सिद्धि नहीं हो सकती है, पृथक्-पृथक् क्षुद्र-क्षुद्र जलाशयों में पृथक्-पृथक् प्रयोजनों की सिद्ध होती है, इसीलिए कहा गया है कि क्षुद्र-क्षुद्र जलाशयों में जितना प्रयोजन सिद्ध होता है। उतना प्रयोजन सभी ओर से परिपूर्णजलवाले महान् जलाशय में सिद्ध होता ही है।

238. पर्वतीय भूप्रदेश दो प्रकार के होते हैं – अधित्यका और उपत्यका। जो पर्वत के ऊर्ध्वभाग की समतल भूमि होती है उसे 'अधित्यका' कहते हैं (अधिरूढा पर्वतोपरिभागम्) और जो पर्वत के समीप निम्न प्रदेश होता है उसे 'उपत्यका' कहते हैं (उपसमीपे आसन्ना भूमिः)। अमरकोशकार ने कहा है – 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' (अमरकोश, 2.4.7)।

239. कासारः = कस्य जलस्य आसारो यत्र। अथवा, कासं शब्दम् ऋच्छति प्राप्नोति जलगमनपतनादिकाले। अथवा, सपद्मो निष्पद्मो वा महाजलाशयः, सरोवरः। 'कासारः सरसी सरः' – हलायुधकोशः, 675।

क्षुद्रानन्दानां ब्रह्मानन्दांशत्वात्तत्र क्षुद्रानन्दानामन्तर्भावात् । 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । एकस्याप्यानन्दस्याविद्याकल्पिततत्तदुपाधिपरिच्छेदमादायां-शांशिवद्व्यपदेश आकाशस्येव घटाद्यवच्छेदकल्पनया ।

167 तथा च निष्कामकर्मभिः शुद्धान्तःकरणस्य तवाऽऽत्मज्ञानोदये परब्रह्मानन्दप्राप्तिः स्यात्तथैव च सर्वानन्दप्राप्तौ न क्षुद्रानन्दप्राप्तिनिबन्धनवैयग्र्यावकाशः । अतः परमानन्दप्रापकाय तत्त्वज्ञानाय निष्कामकर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः । अत्र यथा तथा भवतीतिपदत्रयाध्याहारो यावांस्तावा-नितिपदद्वयानुषङ्गश्च दार्ष्टान्तिके द्रष्टव्यः ॥ 46 ॥

168 ननु निष्कामकर्मभिरात्मज्ञानं सम्पाद्य परमानन्दप्राप्तिः क्रियते चेदात्मज्ञानमेव तर्हि सम्पाद्यं किं बह्वायासैः कर्मभिर्बहिरङ्गसाधनभूतैरित्याशङ्क्याऽऽह –

होता है उतना प्रयोजन उस विज्ञानी = ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मण[240] = ब्रह्मजिज्ञासु को भी अवश्य होता ही है, क्योंकि क्षुद्र आनन्द ब्रह्मानन्द के ही अंश हैं, वहाँ ब्रह्मानन्द में क्षुद्र आनन्दों का अन्तर्भाव = समावेश है ही । श्रुति भी कहती है – ' इसी ब्रह्मानन्द के अंश को पाकर ही सभी प्राणी जीवन-धारण करते हैं' (बृ० उ०, 4.3.32) । जिसप्रकार घटादि के अवच्छेदक की कल्पना से एक ही आकाश में अंशाशिभाव का व्यवहार किया जाता है, वैसे ही अविद्याकल्पित तद्-तद् उपाधि के परिच्छेद को लेकर एक ही आनन्द में अंश और अंशी के समान व्यवहार किया जाता है ।

167 इस प्रकार निष्काम कर्मों से अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर आत्मज्ञान के उदय से जब तुमको परम ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होगी तो उसी से समस्त आनन्दों की प्राप्ति हो जाने के कारण क्षुद्र आनन्दों की प्राप्ति हेतु व्यग्रता का कोई अवकाश नहीं रहेगा । अतः परमानन्द की प्राप्ति करानेवाले तत्त्वज्ञान के लिए निष्काम कर्म करो – यह अभिप्राय है । यहाँ = प्रकृत श्लोक में 'यथा', 'तथा' और 'भवति' – इन तीन पदों का अध्याहार करना चाहिए तथा 'यावान्' और 'तावान्' -- इन दो पदों का दार्ष्टान्त में सम्बन्ध समझना चाहिए ॥ 46 ॥

168 'यदि निष्काम कर्मों से आत्मज्ञान का सम्पादन करके परमानन्द की प्राप्ति की जाती है, तो आत्मज्ञान का ही सम्पादन करना चाहिए, उसके बहुकष्टसाध्य बहिरंग साधनभूत कर्मों से क्या प्रयोजन है ?' -- ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं :--

---

240. यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द 'ब्रह्म जानातीति ब्रह्मणः' – इस विग्रह से 'ब्रह्मन्' शब्द से 'तदधीते तद्वेद' – (पाणिनिसूत्र, 4.2.59) – इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । अतः 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ यहाँ ब्रह्मज्ञानी है, जाति विशेष नहीं है । यदि यह शंका की जाती है कि 'ब्रह्म वेत्ति' इस विग्रह से 'ब्राह्म' शब्द बनेगा, 'ब्राह्मण' नहीं, क्योंकि 'ब्राह्मोऽजातौ' (पाणिनिसूत्र 6.4.171) -- इस सूत्र के अनुसार जातिभिन्न अर्थ में 'ब्राह्म'--यह निपातन किया गया है । अतः ब्राह्मणत्वजाति- विशिष्ट अर्थ में ही 'ब्राह्मण' शब्द उचित ही है; तो इसके समाधान में 'ब्राह्मण' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार कर सकतें हैं -- 'ब्रह्म अणतीति ब्राह्मणः' -- इस विग्रह से 'ब्रह्मन्' शब्दपूर्वक शब्दार्थक 'अण्' धातु से 'पचाद्यच्' से 'अच्' प्रत्यय होकर 'ब्रह्मण' हुआ और 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पाणिनिसूत्र 5.4.38) सूत्र से 'अण्'प्रत्यय होकर 'ब्राह्मण' शब्द निष्पन्न हुआ । यहाँ 'ब्रह्म' शब्द वेदपरक है, जो प्रकृत श्लोक के 'तावान्सर्वेषुवेदेषु' – इस वाक्य के अनुसार स्वीकार्य है और उचित भी है, अतः 'ब्राह्मण' शब्द वैदिकमात्रपरक हुआ, जातिपरक नहीं । इस प्रकार 'ब्राह्मण' का अर्थ यहाँ 'ब्रह्मज्ञानी' अथवा वैदिक है, 'ब्राह्मण' जाति नहीं है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ 47 ॥

169 ते तवाशुद्धान्तःकरणस्य तात्त्विकज्ञानोत्पत्त्ययोग्यस्य कर्मण्येवान्तःकरणशोधकेऽधिकारो मयेदं कर्तव्यमिति बोधोऽस्तु न ज्ञाननिष्ठारूपे वेदान्तवाक्यविचारादौ । कर्म च कुर्वतस्तव तत्फलेषु स्वर्गादिषु कदाचन कस्याञ्चिदप्यवस्थायां कर्मानुष्ठानात्प्रागूर्ध्वं तत्काले वाऽधिकारो मयेदं भोक्तव्यमिति बोधो माऽस्तु ।

170 ननु मयेदं भोक्तव्यमितिबुद्ध्यभावेऽपि कर्म स्वसामर्थ्यादेव फलं जनयिष्यतीति चेन्नेत्याह– मा कर्मफलहेतुर्भूः, फलकामनया हि कर्म कुर्वन्फलस्य हेतुरुत्पादको भवति । त्वं तु निष्कामः सन्कर्मफलहेतुर्मा भूः । न हि निष्कामेन भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कर्म फलाय कल्पत इत्युक्तम् । फलाभावे किं कर्मणेत्यत आह-- मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि, यदि फलं नेष्यते किं कर्मणा दुःखरूपेणेत्यकरणे तव प्रीतिर्मा भूत् ॥ 47 ॥

171 पूर्वोक्तमेव विवृणोति–

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ 48 ॥

[तुम्हारा अधिकार तो कर्म करने में ही है, किसी भी अवस्था में उसके फलों को भोगने में नहीं है । अतः तुम कर्मफल के हेतु मत बनो, और कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए ॥ 47 ॥]

169 अशुद्ध अन्तःकरण वाले, अतः तात्त्विकज्ञान की प्राप्ति में अयोग्य तुम्हारा अन्तःकरण के शोधक कर्म में ही अधिकार अर्थात् 'मेरा यह कर्त्तव्य है' -- ऐसा बोध होना चाहिए । ज्ञाननिष्ठारूप वेदान्तवाक्य के विचारादि में तुम्हारा अधिकार नहीं है । कर्म करते हुए भी तुम्हारा कदाचन = किसी भी अवस्था में अर्थात् कर्मानुष्ठान के पूर्व, पश्चात् या उसी समय उसके फल स्वर्गादि में अधिकार अर्थात् 'मेरा यह भोक्तव्य है' -- ऐसा बोध नहीं होना चाहिए ।

170 यदि कहो कि 'मेरा यह भोक्तव्य है' -- ऐसी बुद्धि न होने पर भी कर्म अपने सामर्थ्य से ही फल तो उत्पन्न करेगा ही, तो कहते हैं, - नहीं । तुम कर्मफल के हेतु मत बनो । फल की कामना से कर्म करने पर ही कर्त्ता फल का हेतु = उत्पादक होता है । तुम तो निष्काम होकर कर्मफल के हेतु बनो, क्योंकि निष्काम भाव से अर्थात् भगवदर्पणबुद्धि से किया हुआ कर्म फल के लिए नहीं होता, यह कहा गया है । फल न रहने पर कर्म से ही क्या प्रयोजन ? -- अतः कहते हैं -- कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए = 'यदि फल ही की इच्छा नहीं है तो दुखःरूप कर्म से ही क्या प्रयोजन है' -- ऐसा समझकर कर्म न करने में तुम्हारी प्रीति नहीं होनी चाहिए ॥ 47 ॥

171 पूर्वोक्त ही को स्पष्ट करते हैं --

[हे धनञ्जय ! तुम योग में स्थित होकर, फल की अभिलाषा छोड़कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर कर्मों को करो । यह सिद्धि और असिद्धि में समता ही योग कहा जाता है ॥ 48 ॥

172 हे धनञ्जय त्वं योगस्थः सन्सङ्गं फलाभिलाषं कर्तृत्वाभिनिवेशं च त्यक्त्वा कर्माणि कुरु । अत्र बहुवचनात्कर्मण्येवाधिकारस्त इत्यत्र जातावेकवचनम् । सङ्गत्यागोपायमाह- सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा फलसिद्धौ हर्षं फलासिद्धौ च विषादं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनबुद्ध्या कर्माणि कुर्वित्यर्थः।

173 ननु योगशब्देन प्राक्कर्मोक्तम् । अत्र तु योगस्थः कर्माणि कुर्वित्युच्यते । अतः कथमेतद्बोद्धुं शक्यमित्यत आह-समत्वं योग उच्यते । यदेतत्सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वमिदमेव योगस्थ इत्यत्र योगशब्देनोच्यते न तु कर्मेति न कोऽपि विरोध इत्यर्थः । अत्र पूर्वार्धस्योत्तरार्धेन व्याख्यानं क्रियत इत्यपौनरुक्त्यमिति भाष्यकारीयः पन्थाः । 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यत्र जयाजयसाम्येन युद्धमात्रकर्तव्यता प्रकृतत्वादुक्ता । इह तु दृष्टादृष्टसर्वफलपरित्यागेन सर्वकर्मकर्तव्यतेति विशेषः ॥ 48 ॥

174 ननु किं कर्मानुष्ठानमेव पुरुषार्थो येन निष्फलमेव सदा कर्तव्यमित्युच्यते 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति न्यायात्, तद्वरं फलकामनयैव कर्मानुष्ठानमिति चेन्नेत्याह -

---

172 हे धनञ्जय ![241] तुम योग में स्थित होकर, सङ्ग = फल की अभिलाषा अर्थात् कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर कर्मों को करो । यहाँ = इस श्लोक में 'कर्माणि' पद बहुवचनान्त होने से 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' -- इत्यादि पूर्वश्लोक में प्रयुक्त एकवचनान्त 'कर्म' पद को भी जाति के तात्पर्य से एकवचन में प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए । सङ्गत्याग का उपाय कहते हैं -- सिद्धि और असिद्धि में समान होकर अर्थात् फल की सिद्धि में हर्ष और फल की असिद्धि में विषाद छोड़कर केवल ईश्वराराधन-बुद्धि से कर्मों को करो ।

173 यदि शंका हो कि पहले तो 'योग' शब्द से कर्म को कहा गया है और अब यहाँ 'योग में स्थित होकर कर्म करो' -- 'ऐसा कहा जा रहा है, अतः इसको कैसे समझा जा सकता है ? -- तो कहते हैं -- 'समता ही योग कहा जाता है' । यह जो सिद्धि और असिद्धि में समता है वही 'योगस्थः' -- इस पद में 'योग' शब्द से कही गई है, कर्म नहीं, अतः यहाँ कोई विरोध नहीं है -- यह अर्थ है । यहाँ उत्तरार्ध से पूर्वार्ध की व्याख्या की गई है, अतः पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिए -- यह भाष्यकार का मार्ग है । 'सुखदुःखे समे कृत्वा' (गीता, 2.38) -- इस श्लोक में युद्ध का प्रकरण होने के कारण जय और पराजय में समता रखते हुए केवल युद्ध की ही कर्तव्यता कही गई है, किन्तु यहाँ तो दृष्ट और अदृष्ट -- सभी फलों का परित्याग करके सभी प्रकार के कर्मों की कर्तव्यता कही गई है -- यही विशेषता है ॥ 48 ॥

174 'क्या कर्मानुष्ठान ही पुरुषार्थ है ? जिससे 'सर्वदा फलहीन कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए' -- यह कहा जा रहा है । तो 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' = 'प्रयोजन के बिना तो मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता' -- इस न्याय के अनुसार फल की कामना से ही कर्मानुष्ठान अच्छा है' -- ऐसी आशंका हो तो भगवान् कहते हैं --

---

241. यहाँ भगवान् ने 'धनञ्जय' सम्बोधन साभिप्राय किया है । धनञ्जय का अर्थ है – 'धनं जयति सम्पादयतीति धनञ्जयः' – अर्थात् जो धन को जीतता है वह 'धनञ्जय' है । कहा भी है –

'सर्वान् जनपदान् जित्वा वित्तमाश्रित्य केवलम् ।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनञ्जयम् ॥
– महाभारत, 4.42.13

इसीलिए यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुम युद्ध में अनेक बार जयलाभ कर बहुधन को तो जय कर चुके हो । अब तुम परमार्थज्ञानरूप धन को जय करो, तभी तुम्हारे नाम 'धनञ्जय' की सार्थकता होगी ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ 49 ॥

175 बुद्धियोगादात्मबुद्धिसाधनभूतान्निष्कामकर्मयोगाद्दूरेणातिविप्रकर्षेणावरमधमं कर्म फलाभिसंधिना क्रियमाणं जन्ममरणहेतुभूतम् । अथवा परमात्मबुद्धियोगाद्दूरेणावरं सर्वमपि कर्म हि यस्माद्धे धनञ्जय तस्माद्बुद्धौ परमात्मबुद्धौ सर्वानर्थनिवर्तिकायां शरणं प्रतिबन्धकपापक्षयेण रक्षकं निष्कामकर्मयोगमन्विच्छ कर्तुमिच्छ । ये तु फलहेतवः फलकामा अवरं कर्म कुर्वन्ति ते कृपणाः सर्वदा जन्ममरणादिघटीयन्त्रभ्रमणेन परवशा अत्यन्तदीना इत्यर्थः । 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतेः । तथा च त्वमपि कृपणो मा भूः किंतु सर्वानर्थनिवर्तकात्मज्ञानोत्पादकं निष्कामकर्मयोगमेवानुतिष्ठेत्यभिप्रायः । यथा हि कृपणा जना अतिदुःखेन धनमर्जयन्तो यत्किंचिद्दृष्टसुखमात्रलोभेन दानादिजनितं महत्सुखमनुभवितुं न शक्नुवन्तीत्यात्मानमेव वञ्चयन्ति तथा महता दुःखेन कर्माणि कुर्वाणाः क्षुद्रफलमात्रलोभेन परमानन्दानुभवेन वञ्चिता इत्यहो दौर्भाग्यं मौढ्यं च तेषामिति कृपणपदेन ध्वनितम् ॥ 49 ॥

176 एवं बुद्धियोगाभावे दोषमुक्त्वा तद्भावे गुणमाह –

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ 50 ॥

[हे धनञ्जय बुद्धियोग की अपेक्षा -- आत्मबुद्धि के साधनभूत निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा -- फलाभिसन्धि से किया जानेवाला कर्म अत्यन्त विप्रकृष्ट होने के कारण अवर है । अत: तुम परमात्मबुद्धि में शरण ग्रहण करो, क्योंकि फल की कामना रखनेवाले मनुष्य तो कृपण होते हैं ।। 49 ।।]

175 बुद्धियोग की अपेक्षा -- आत्मबुद्धि के साधनभूत निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा फल की अभिलाषा से किया जानेवाला जन्म-मरण का हेतुभूत कर्म दूर = अत्यन्त विप्रकृष्ट होने के कारण अवर-अधम है । अथवा परमात्मबुद्धियोग की अपेक्षा सभी कर्म दूर होने के कारण अवर हैं । हे धनञ्जय ! क्योंकि ऐसा है इसलिए तुम बुद्धि में अर्थात् सम्पूर्ण अनर्थों की निवर्तिका परमात्मबुद्धि में शरणग्रहण करो = प्रतिबन्धकपापक्षय के द्वारा रक्षा करनेवाले निष्काम कर्मयोग को करने की इच्छा करो । जो फलहेतु = फल की कामना करनेवाले मनुष्य अधम कर्म करते हैं वे तो सर्वदा कृपण होते हैं = जन्म-मरणादि-घटीयन्त्र में घूमते रहने के कारण परवश अर्थात् अत्यन्त दीन होते हैं । जैसा कि श्रुति भी कहती है -- 'हे गार्गि ! जो व्यक्ति इस अक्षर ब्रह्म को बिना जाने इस लोक से मरकर चला जाता है, वह कृपण है' । इस प्रकार तुम भी कृपण मत हो, किन्तु सम्पूर्ण अनर्थों के निवर्तक आत्मज्ञान के उत्पादक निष्काम कर्मयोग का ही अनुष्ठान करो -- यह अभिप्राय है । जिस प्रकार कृपणजन अत्यन्त दु:ख से धन का उपार्जन कर यत्किञ्चित् = थोड़े-से दृष्ट सुख के ही लोभ से दानादि के कारण मिलनेवाले महान् सुख का अनुभव नहीं कर सकते, अत: वे अपने को ही धोखा देते हैं, इसीप्रकार ये महान् दु:ख से कर्मों को कर क्षुद्र फलों के ही लोभ से परमानन्द के अनुभव से वञ्चित रह जाते हैं -- अहो ! उनका बड़ा ही दुर्भाग्य और मूढ़ता है -- यह कृपण शब्द से ध्वनित होता है ।। 49 ।।

176 इस प्रकार बुद्धियोग के अभाव में दोष कहकर अब बुद्धियोग के सद्भाव में गुण कहते हैं :--

[कर्मों में समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्ति द्वारा पुण्य औप पाप -- दोनों का परित्याग कर देता है, इसलिए तुम बुद्धियोग के लिए प्रयत्न करो । यह कर्मों में समत्वरूप योग महान् कौशल है ।। 50 ।।

177 इह कर्मसु बुद्धियुक्तः समत्वबुद्ध्या युक्तो जहाति परित्यजति उभे सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण । यस्मादेवं तस्मात्समत्वबुद्धियोगाय त्वं युज्यस्व घटस्वोद्युक्तो भव । यस्मादीदृशः समत्वबुद्धियोग ईश्वरार्पितचेतसः कर्मसु प्रवर्तमानस्य कौशलं कुशलभावो यद्बन्धहेतूनामपि कर्मणां तदभावो मोक्षपर्यवसायित्वं च तन्महत्कौशलम् ।

178 समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कर्मात्माऽपि सन्दुष्टकर्मक्षयं करोतीति महाकुशलः । त्वं तु न कुशलो यतश्चेतनोऽपि सन् सजातीयदुष्टक्षयं न करोषीति व्यतिरेकोऽत्र ध्वनितः । अथवा इह समत्वबुद्धियुक्ते कर्मणि कृते सति सत्त्वशुद्धिद्वारेण बुद्धियुक्तः परमात्मसाक्षात्कारवान् सञ्जहात्युभे सुकृतदुष्कृते । तस्मात् समत्वबुद्धियुक्ताय कर्मयोगाय युज्यस्व । यस्मात् कर्मसु मध्ये समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कौशलं कुशलो दुष्टकर्मनिवारणचतुर इत्यर्थः ॥ 50 ॥

179 ननु दुष्कृतहानमपेक्षितं न तु सुकृतहानं पुरुषार्थभ्रंशापत्तेरित्याशङ्क्य तुच्छफलत्यागेन परमपुरुषार्थप्राप्तिं फलमाह –

---

177 इह[242] अर्थात कर्मों में बुद्धियुक्त = समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि से उत्पन्न हुए ज्ञान की प्राप्ति द्वारा सुकृत-दुष्कृत अर्थात् पुण्य-पाप -- दोनों ही का परित्याग कर देता है । क्योंकि ऐसा है इसलिए तुम समत्वबुद्धियोग के लिए युक्त = प्रयत्नशील अर्थात् उद्युक्त = तैयार हो जाओ । कारण कि ऐसा समत्वबुद्धियोग कर्मों में प्रवर्तमान ईश्वरार्पितचित्तवाले पुरुष का कौशल = कुशलभाव है; बन्धन के हेतुभूत होने पर भी कर्मों में बन्धन न रहना और मोक्ष में परिसमाप्त होना है वह महान् कौशल ही है ।

178 समत्वबुद्धि से युक्त कर्मयोग कर्मरूप होने पर भी दुष्टकर्मों का क्षय करता है, अतः वह महाकुशल है । तुम तो कुशल नहीं हो, क्योंकि चेतन होने पर भी अपने सजातीय दुष्ट पुरुषों का क्षय नहीं करते हो -- यह व्यतिरेक यहाँ ध्वनित होता है । अथवा, इह = इस समत्वबुद्धियुक्त कर्म के करने पर सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा बुद्धियुक्त = परमात्मा के साक्षात्कारवाला होकर पुरुष पुण्य और पाप - दोनों का त्याग करता है । इसलिए तुम समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोग के लिए प्रयत्न करो, क्योंकि कर्मों के मध्य में समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोग कौशल = कुशल अर्थात् दुष्ट कर्मों के निवारण में चतुर है ।। 50 ।।

179 'दुष्कृत = पाप का परित्याग तो अपेक्षित = उचित है, किन्तु सुकृत = पुण्य का त्याग तो उचित नहीं है, क्योंकि इसके त्याग से तो पुरुषार्थ ही से गिर जाना होगा' -- ऐसी आशंका करके भगवान् तुच्छ फल के परित्याग से परमपुरुषार्थरूप फल की प्राप्ति को कहते हैं --

---

242. भाष्यकार आचार्य शंकर ने 'इह' शब्द का अर्थ 'अस्मिँल्लोके' = 'इस लोक में' किया है और श्लोकान्वय किया है – 'बुद्धियुक्त पुरुष इसलोक में पुण्य और पाप का त्याग करता है' । किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने 'इह' शब्द का अर्थ 'कर्मसु' = 'कर्मों में' किया है और श्लोक का अर्थ किया है 'कर्मों में समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य और पाप का परित्याग करता है' । आचार्य शंकर के अर्थानुसार तो 'इह' का कर्म के साथ कोई सम्बन्ध ही प्रतीत नहीं होता है, जबकि मधुसूदन सरस्वती ने 'इह' का शाब्दिक अर्थ ही 'कर्मसु' किया है, किन्तु दोनों अर्थों में कोई भेद नहीं है । द्वितीय अर्थ में 'इह' का कर्म के साथ शाब्दिक सम्बन्ध है, तो प्रथम अर्थ में 'इह' का कर्म के साथ प्राकरणिक सम्बन्ध है ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ 51 ॥

180 **समत्वबुद्धियुक्ता हि यस्मात्कर्मजं फलं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनार्थं कर्माणि कुर्वाणाः सत्त्व शुद्धिद्वारेण मनीषिणस्तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यात्ममनीषावन्तो भवन्ति । तादृशाश्च सन्तो जन्मात्मकेन बन्धेन विनिर्मुक्ता विशेषेणाऽऽत्यन्तिकत्वलक्षणेन निरवशेषं मुक्ताः पदं पदनीयमात्मतत्त्वमानन्दरूपं ब्रह्मानामयमविद्यातत्कार्यात्मकरोगरहिताभयं मोक्षाख्यं पुरुषार्थं गच्छन्त्यभेदेन प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।**

181 **यस्मादेवं फलकामनां त्यक्त्वा समत्वबुद्ध्या कर्माण्यनुतिष्ठन्तस्तैः कृतान्तः-करणशुद्धयस्तत्त्वमस्यादिप्रमाणोत्पन्नात्मतत्त्वज्ञानविनष्टाज्ञानतत्कार्याः सन्तः सकलानर्थनिवृत्ति-**

[क्योंकि समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष कर्मजनित फल को त्यागकर केवल ईश्वर की आराधना के लिए कर्म करते हुए सत्त्वशुद्धि द्वारा मनीषी = आत्मज्ञानी हो जाते है और जन्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर अविद्या तथा तत्कार्यात्मक रोग से रहित मोक्ष नामक परमपद को प्राप्त होते हैं ॥ 51 ॥]

180 क्योंकि समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष कर्मजनित फल को त्यागकर केवल ईश्वर की आराधना के लिए कर्म करते हुए सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मनीषी अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से जन्य मनीषा से युक्त हो जाते हैं । और ऐसे होकर वे जन्मात्मक बन्धन से विनिर्मुक्त = विशेष अर्थात् आत्यन्तिकरूप से निरवशेष = सर्वथा मुक्त होकर अनामय -- अविद्या और उसके कार्यरूप रोग से रहित पद = पदनीय-गमनीय-प्राप्त करने योग्य आत्मतत्त्व-आनन्दरूप ब्रह्म अर्थात् अभय मोक्ष नामक पुरुषार्थ को जाते हैं अर्थात् अभेदरूप[243] से प्राप्त करते हैं ।[244]

181 क्योंकि इसप्रकार फल की कामना का त्यागकर समत्वबुद्धि से कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले और उनके द्वारा जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे पुरुष 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य प्रमाणों से उत्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' -- इत्याकारक आत्मतत्त्वज्ञान से अज्ञान और उसके कार्य का नाश[245] हो जाने के कारण सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष नामक विष्णु के परमपद को जाते हैं, इसलिए तुम भी 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता, 2.7) = 'जो निश्चित श्रेय हो

243. तात्पर्य यह है कि लोक में गन्ता गमनीय स्थान को जाता है, गन्तव्य स्थान पर पहुँचता है, गन्तव्य स्थान को प्राप्त करने पर भी गन्ता और गन्तव्य में भेद ही रहता है, गन्ता गन्तव्य स्थान नहीं हो जाता । किन्तु आत्मज्ञान में इसप्रकार का भेद नहीं रहता, अपितु आत्मज्ञान में गन्ता और गन्तव्य – दोनों ब्रह्मरूप हो जाते हैं, इसीलिए यहाँ कहा है – 'अभेदेन प्राप्नुवन्ति' अर्थात् ' अभेद-रूप से प्राप्त करते हैं' ।

244. भाव यह है कि मनीषीजन केवल कर्मजनित भविष्यत् फल अर्थात् इष्टानिष्ट देहप्राप्तिरूप भविष्यत् जन्म का ही त्याग नहीं करते हैं, अपितु वर्तमान जन्मरूप बन्धन से भी जीवित अवस्था में ही विनिर्मुक्त = वि = विशेषरूप से अर्थात् आत्यन्तिकरूप से निर् = निरवशेषरूप से = सर्वथा मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त करते हैं । इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर अनामय = अविद्या और उसका कार्यरूप जो संसार है वही आमय = रोग या उपद्रव है इस आमयशून्य = जन्म-मरणादिशून्य-- सर्वोपद्रवशून्य-- समस्त संसार के स्पर्श से शून्य अभयरूप मोक्ष नामक परमपद = आनन्दस्वरूप ब्रह्मपद को अभेदरूप से प्राप्त करते हैं अर्थात् देहपात के पश्चात् विदेह कैवल्य को प्राप्त करते हैं । फलतः मनीषीजन जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं ।

245. 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' अर्थात् 'निमित्त = कारण के अभाव में नैमित्तिक = कार्य का भी अभाव हो जाता है' – इस नियम के अनुसार आत्मतत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाने पर उसके कार्य का भी नाश हो जाता है ।

परमानन्दप्राप्तिरूपं मोक्षाख्यं विष्णोः परमं पदं गच्छन्ति तस्मात्त्वमपि यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्म इत्युक्तेः श्रेयो जिज्ञासुरेवंविधं कर्मयोगमनुतिष्ठेति भगवतोऽभिप्रायः ॥ 51 ॥

182 एवं कर्माण्यनुतिष्ठतः कदा मे सत्त्वशुद्धिः स्यादित्यत आह –

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ 52 ॥

183 न ह्येतावता कालेन सत्त्वशुद्धिर्भवतीति कालनियमोऽस्ति । किंतु यदा यस्मिन्काले ते तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं व्यतितरिष्यति अविवेकात्मकं कालुष्यमहमिदं ममेदमित्याद्यज्ञान-विलसितमतिगहनं व्यतिक्रमिष्यति रजस्तमोमलमपहाय शुद्धभावमापत्स्यत इति यावत् । तदा तस्मिन्काले श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च कर्मफलस्य निर्वेदं वैतृष्ण्यं गन्तासि प्राप्तासि । 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इति श्रुतेः । निर्वेदेन फलेनान्तःकरणशुद्धिं ज्ञास्यसीत्यभिप्रायः ॥ 52 ॥

184 अन्तःकरणशुद्ध्यैवं जातनिर्वेदस्य कदा ज्ञानप्राप्तिरित्यपेक्षायामाह –

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ 53 ॥

वह मुझे बताइए' -- ऐसा कहने से श्रेय के जिज्ञासु होने के कारण इसप्रकार के कर्मयोग का अनुष्ठान करो -- यह भगवान् का अभिप्राय है ॥ 51 ॥

182 'इसप्रकार कर्मों का अनुष्ठान करने से मेरे सत्त्व = मन-चित्त की शुद्धि कब होगी' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् कहते हैं --
[जब तुम्हारी बुद्धि मोहकलिल = अविवेकात्मक कालुष्य को पार कर लेगी तब तुम श्रोतव्य और श्रुत कर्मफल में निर्वेद को प्राप्त होओगे ॥ 52 ॥]

183 'इतने समय में सत्त्व-शुद्धि = चित्तशुद्धि होती है' -- ऐसा कोई कालनियम तो नहीं है, किन्तु जब = जिस समय तुम्हारी बुद्धि = अन्तःकरण मोहकलिल = अविवेकात्मक कालुष्य आर्थात् 'मैं यह हूँ', 'यह मेरा है' -- इत्यादि अत्यन्त गहन = जटिल अज्ञान के विलास को पार कर लेगी अर्थात् रज और तम के मल को छोड़कर शुद्धभाव को प्राप्त हो जायेगी; तब = उस समय तुम श्रोतव्य = श्रवणयोग्य और श्रुत कर्मफल के निर्वेद = वैतृष्ण्य को प्राप्त होओगे[246] । श्रुति भी कहती है -- ' कर्मोपार्जित लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण उनसे विरक्त हो जाय' (मु० उ 0,1.2.12) । अभिप्राय यह है कि निर्वेदरूप फल से अर्थात् फलवैतृष्ण्य से तुम अन्तःकरण की शुद्धि को जानोगे ॥ 52 ॥

184 'अन्तःकरण की शुद्धि से इसप्रकार वैराग्य उत्पन्न होने पर ज्ञान की प्राप्ति कब होगी' -- ऐसी अपेक्षा = जिज्ञासा होने पर कहते हैं :--
[अनेकविध फल का वर्णन करनेवाली श्रुतियों से विक्षिप्त हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर परमात्मा में स्थित हो जायेगी तब तुम योग को प्राप्त करोगे ॥53 ॥]

---

246. श्रीमद्भागवत में कहा है –
'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता' । (स्कन्ध 11, अ० 20, श्लोक 9)
'भगवान् कहते हैं – कर्म के सम्बन्ध में जितने भी विधिनिषेध हैं, उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिए, जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय'।

185 ते तव बुद्धिः श्रुतिभिर्नानाविधफलश्रवणैरविचारिततात्पर्यैर्विप्रतिपन्नाऽनेकविधसंशयविपर्यासवत्त्वेन विक्षिप्ता प्राक्, यदा यस्मिन्काले शुद्धिजविवेकजनितेन दोषदर्शनेन तं विक्षेपं परित्यज्य समाधौ परमात्मनि निश्चला जाग्रत्स्वप्नदर्शनलक्षणविक्षेपरहिताऽचला सुषुप्तिमूर्छास्तब्धीभावादिरूपलयलक्षणचलनरहिता सती स्थास्यति लयविक्षेपलक्षणौ दोषौ परित्यज्य समाहिता भविष्यतीति यावत्। अथवा निश्चलाऽसंभावनाविपरीतभावनारहिताऽचला दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवनैर्विजातीयप्रत्ययादूषिता सती निर्वातप्रदीपवदात्मनि स्थास्यतीति योजना । तदा तस्मिन् काले योगं जीवपरमात्मैक्यलक्षणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमखण्डसाक्षात्कारं सर्वयोगफलमवाप्स्यसि। तदा पुनः साध्यान्तराभावात्कृतकृत्यः स्थितप्रज्ञो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥ 53॥

186 एवं लब्धावसरः स्थितप्रज्ञलक्षणं ज्ञातुमर्जुन उवाच यान्येव हि जीवन्मुक्तानां लक्षणानि तान्येव मुमुक्षूणां मोक्षोपायभूतानीति मन्वानः:-

185 श्रुतियों से = अनेक प्रकार के फलों के श्रवण से, उनका तात्पर्य न समझकर विप्रतिपन्न = अनेक प्रकार के संशय और विपर्ययों से युक्त होने के कारण पहले विक्षिप्त[247] हुई तुम्हारी बुद्धि जब = जिस समय निष्काम कर्मजन्य चित्तशुद्धि से उत्पन्न विवेक से दोषदर्शन द्वारा उस विक्षेप को त्यागकर समाधि = परमात्मा में निश्चल = जाग्रत् और स्वप्नदर्शनरूप विक्षेप से रहित और अचल अर्थात् सुषुप्ति, मूर्च्छा, स्तब्धीभाव आदि रूप लयलक्षण चलन से रहित होकर स्थित हो जायेगी अर्थात् लय -- विक्षेपरूप[248] दोषों को त्यागकर समाहित हो जायेगी; अथवा, निश्चला = असम्भावना और विपरीतभावना से रहित तथा अचला = दीर्घकाल से आरम्भ, निरन्तर और सत्कारपूर्वक सेवन करने से विजातीय प्रत्ययों से दूषित न होकर वायुरहित प्रदेश में स्थित दीपक -- दीपक की लौ के समान आत्मा में स्थित हो जायेगी -- ऐसी योजना करनी चाहिए । तब = उससमय तुम योग = जीव और परमात्मा के ऐक्यरूप समस्त योग के फल 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य अखण्ड साक्षात्कार को प्राप्त करोगे । अभिप्राय यह है कि तब तुम पुन: साध्यान्तर न होने से कृतकृत्य और स्थितप्रज्ञ[249] हो जाओगे ॥ 53 ॥

186 इसप्रकार अवसर पाकर यह मानते हुए कि जो जीवन्मुक्तों के लक्षण होंगे वे ही मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष के उपाय होने चाहिए, अर्जुन स्थितप्रज्ञ का लक्षण जानने के लिए बोले :--

247. चित्त की पांच भूमियाँ है – क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । अत्यन्त चञ्चल चित्त को 'क्षिप्त' और निद्रा, तन्द्रा, आलस्यादिवाले चित्त को 'मूढ' कहते हैं । जिसमें कभी-कभी स्थिरता होती रहती है, उसे 'विक्षिप्त' कहते हैं । एक ही विषय में विलक्षणवृत्ति के व्यवधान से रहित सदृश वृत्तियों के प्रवाहवाले चित्त को 'एकाग्र'कहते हैं । सर्ववृत्तियों के निरोधवाले चित्त को 'निरुद्ध' कहते हैं । एकाग्र और निरुद्ध – ये दोनों चित्तभूमियाँ तत्त्वज्ञानोपयोगी होती हैं । क्षिप्त, मूढ और बिक्षिप्त – ये तीनों भूमियाँ अयोग्य होती हैं । इनको शुद्ध करने पर ही तत्त्वज्ञान हो सकता है । प्रकृत में अर्जुन की बुद्धि 'विक्षिप्त' कही गई है । अत: यहाँ अर्जुन को तत्त्वज्ञान के लिए निष्काम कर्म द्वारा विक्षिप्तबुद्धि की निवृत्ति के लिए उपदेश किया गया है ।

248. लय और विक्षेप निर्विकल्पकसमाधिकाल में होने वाले विघ्न हैं । अखण्ड वस्तु ब्रह्म का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवृत्ति का सो जाना 'लय' और अन्य वस्तुओं में अवलम्बन ' विक्षेप' कहा जाता है ।

249. 'कृतं कृत्यं येन स:' – यो अपने सभी कर्त्तव्यों को कर चुका है वह 'कृतकृत्य' कहा जाता है, वही स्थितप्रज्ञ होता है । 'स्थिता प्रज्ञा यस्य स:' – जिसकी बुद्धि स्थित होती है वह 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है ।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ 54 ॥

187 स्थिता निश्चलाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञोऽवस्थाद्वयवान्समाधिस्थो व्युत्थितचित्तश्चेति, अतो विशिनष्टि समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा । कर्मणि षष्ठी । भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणम् । समाधिस्थः स्थितप्रज्ञः केन लक्षणेनान्यैर्व्यवह्रियत इत्यर्थः ।

188 स च व्युत्थितचित्तः स्थितधीः स्थितप्रज्ञः स्वयं किं प्रभाषेत स्तुतिनिन्दादावभिनन्दनद्वेषादिलक्षणं किं कथं प्रभाषते । सर्वत्र संभावनायां लिङ् । तथा किमासीतेति व्युत्थितचित्तनिग्रहाय कथं बहिरिन्द्रियाणां निग्रहं करोति । तन्निग्रहाभावकाले च किं व्रजेत कथं विषयान्प्राप्नोति । तत्कर्तृकभाषणासनव्रजनानि मूढजनविलक्षणानि कीदृशानीत्यर्थः ।

189 तदेवं चत्वारः प्रश्नाः समाधिस्थे स्थितप्रज्ञ एकः, व्युत्थिते स्थितप्रज्ञे त्रय इति । केशवेति संबोधयन्सर्वान्तर्यामितया त्वमेवैतादृशं रहस्यं वक्तुं समर्थोऽसीति सूचयति ॥ 54 ॥

190 एतेषां चतुर्णां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरं भगवानुवाच यावदध्यायसमाप्ति –

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ 55 ॥

[अर्जुन बोले -- हे केशव! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण है ? तथा वह व्युत्थितचित्त स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ।। 54 ।।]

187 जिसकी 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसी प्रज्ञा = बुद्धि स्थित = निश्चल हो गई है वह स्थितप्रज्ञ दो अवस्थाओंवाला होता है -- समाधिस्थ और व्युत्थितचित्त । अत: विशेषण देते हुए पूछते हैं -- समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ की क्या भाषा है ? 'स्थितप्रज्ञस्य' -- इस पद में कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है । 'भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणम्' =जिसके द्वारा भाषित = लक्षित होता है वह भाषा= लक्षण कहा जाता है । अर्थात् समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ अन्य पुरुषों के द्वारा किस लक्षण से व्यवहृत होता है ।

188 तथा वह व्युत्थितचित्त स्थितधी = स्थितप्रज्ञ स्वयं क्या बोलता है अर्थात् स्तुति, निन्दा आदि होने पर अभिनन्दन, द्वेष आदि बोधक वाक्य क्या-- कैसे बोलता है ? यहाँ क्रियापदों में सर्वत्र संभावना में लिङ्लकार है । तथा कैसे बैठता है ? अर्थात् अपने व्युत्थितचित्त के निग्रह के लिए कैसे बहिरिन्द्रियों का निग्रह करता है ? तथा इन्द्रियनिग्रहाभावकाल में कैसे चलता है=कैसे विषयों को प्राप्त करता है ? अर्थात् मूढ़जनों से विलक्षण तत्कर्तृक भाषण, आसन और व्रजन कैसे होते हैं ?

189 इसप्रकार ये चार प्रश्न हैं -- एक समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के विषय में हैं और तीन व्युत्थित स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में हैं । 'केशव' -- यह संबोधन करके अर्जुन यह सूचित करता है कि सर्वान्तर्यामी होने के कारण आप ही ऐसा रहस्य बताने में समर्थ हो ।। 54 ।।

190 अध्याय की समाप्तितक इन चारों प्रश्नों का क्रमश: उत्तर देते हुए भगवान् बोले :--

191 कामान्कामसंकल्पादीन्मनोवृत्तिविशेषान्प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिभेदेन तन्त्रान्तरे पञ्चधा प्रपञ्चितान्सर्वान्निरवशेषान्प्रकर्षेण कारणबाधेन यदा जहाति परित्यजति सर्ववृत्तिशून्य एव यदा भवति स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते समाधिस्थ इति शेषः । कामानामनात्मधर्मत्वेन परित्यागयोग्यतामाह-मनोगताननिति । यदि ह्यात्मधर्माः स्युस्तदा न त्यक्तुं शक्येरन्वह्नयौष्ण्यवत्स्वाभाविकत्वात् ।-मनसस्तु धर्मा एते । अतस्तत्परित्यागेन परित्यक्तुं शक्या एवेत्यर्थः ।

192 ननु स्थितप्रज्ञस्य मुखप्रसादलिङ्गगम्यः संतोषविशेषः प्रतीयते स कथं सर्वकामपरित्यागे स्यादित्यत आह-आत्मन्येव परमानन्दरूपे न त्वनात्मनि तुच्छ आत्मना स्वप्रकाशचिद्रूपेण भासमानेन नतु वृत्त्या तुष्टः परितृप्तः परमपुरुषार्थलाभात् । तथा च श्रुतिः –

[श्रीभगवान् बोले-- हे पार्थ ! जब विद्वान् अपने मन की सभी वृत्तियों को त्याग देता है तथा परमानन्दस्वरूप आत्मा में स्वप्रकाश चिद्रूप से सन्तुष्ट रहता है तब वह 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है ।। 55 ।।]

191 कामान् = काम, संकल्प आदि मन की वृत्तियों[250] को, तन्त्रान्तर = योगशास्त्र में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति-भेद[251] से पांच प्रकार से प्रपञ्चित -- विस्तारित मनोवृत्तियों को, सर्वान् = निरवशेषान् = किसी का भी शेष न रखते हुए जब उनके कारण-मन का बाध करके त्याग[252] देता है अर्थात् समस्त वृत्तियों से शून्य ही हो जाता है, तब वह (समाधिस्थ) 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है । यहाँ 'समाधिस्थ:' पद का अध्याहार करना चाहिए । 'मनोगतान्' – इस पद से अनात्मधर्म होने के कारण वृत्तियों में परित्यागयोग्यता कहते हैं । यदि वे आत्मा की धर्म होतीं तो अग्नि की उष्णता के समान उनका स्वभाव होने के कारण उनको त्यागा नहीं जा सकता था[253] । तात्पर्य यह है कि ये तो मन की धर्म हैं, अत: मन के परित्याग से इनका परित्याग किया ही जा सकता है ।

192 'स्थितप्रज्ञ में तो उसके मुखप्रसादरूप लिङ्ग से अनुमेय एक संतोषविशेष प्रतीत होता है, तो फिर वह समस्त वृत्तियों के परित्याग से युक्त कैसे हो सकता है' ? -- ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं -- परमपुरुषार्थ के लाभ के कारण वह परमानन्दस्वरूप आत्मा में ही – तुच्छ आत्मा में नहीं, आत्मा से अर्थात् स्वप्रकाश चिद्रूप से भासमान आत्मा से ही -- मनोवृत्ति से नहीं, तुष्ट अर्थात् सब प्रकार से तृप्त रहता है[254] । ऐसा ही श्रुति भी कहती है --

---

250. बृहदारण्यक – उपनिषद् में कहा गया है –
'काम: संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृह० उ०, 1.5.3) – अर्थात् काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय – ये सभी मन हैं अर्थात् मन इन सभी रूपों में प्रकट होता है ।

251. योगशास्त्र में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति – ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं । विषय के समान आकार से परिणत चित्तवृत्ति को 'प्रमाण' और विषय से विलक्षण आकार से परिणत चित्तवृत्ति को 'विपर्यय' कहते हैं । शब्दज्ञानानुपाती वस्तु से शून्य ज्ञान 'विकल्प' कहलाता है । जाग्रत् और स्वप्नावस्था की वृत्तियों के अभाव की प्रतीति की आलम्बना वृत्ति 'निद्रा' है । तथा, अनुभूत विषय का असम्प्रमोष 'स्मृति' है (योगसूत्र, 1.6-11) ।

252. 'त्याग' हान और प्रहाण भेद से दो प्रकार का होता है । जो त्यक्त पुन: उत्पन्न होता है, वह त्याग 'हान' कहलाता है, क्योंकि वहाँ कारण के बिना कार्यमात्र का नाश होता है । जो त्यक्त कदापि पुन: उत्पन्न न हो, वह त्याग 'प्रहाण' कहा जाता है । प्रकृत में 'प्रहाण' नामक त्याग ही विवक्षित है ।

253. यहाँ न्याय-मत का खण्डन किया गया है, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार कामादि आत्मा के ही धर्म हैं (इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्, न्यायसूत्र, 1.1.10) ।

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' इति ।
तथाच समाधिस्थः स्थितप्रज्ञ एवंविधैर्लक्षणवाचिभिः शब्दैर्भाष्यत इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरम् ॥55॥

193 इदानीं व्युत्थितस्य स्थितप्रज्ञस्य भाषणोपवेशनगमनानि मूढजनविलक्षणानि व्याख्येयानि । तत्र किं प्रभाषेतेत्यस्योत्तरमाह द्वाभ्याम् –

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ 56 ॥

194 दुःखानि त्रिविधानि शोकमोहज्वरशिरोरोगादिनिमित्तान्याध्यात्मिकानि व्याघ्रसर्पादिप्रयुक्तान्याधिभौतिकानि अतिवातातिवृष्ट्यादिहेतुकान्याधिदैविकानि तेषु दुःखेषु रजः – परिणामसंतापात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु प्रारब्धपापकर्मप्रापितेषु नोद्विग्नं दुःखपरिहाराक्षमतया व्याकुलं न भवति मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः । अविवेकिनो हि दुःखप्राप्तौ सत्यामहो पापोऽहं धिङ्मां दुरात्मानमेतादृशदुःखभागिनं को मे दुःखमीदृशं निराकुर्यादित्यनुतापात्मको भ्रान्तिरूप-

'जब इसके हृदय में स्थित समस्तकामनाएं छूट जाती हैं, तब यह मर्त्य होकर भी अमृत हो जाता है, यहीं यह ब्रह्म को प्राप्त होता है' -- (बृह० उ०, 4.4.7) ।

इसप्रकार समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ इस प्रकार के लक्षणों के वाचक शब्दों से कहा जाता है – यह प्रथम प्रश्न का उत्तर हुआ ॥ 55 ॥

193 अब व्युत्थित स्थितप्रज्ञ के भाषण, उपवेशन और गमन मूढजनों के भाषणादि से विलक्षण हैं -- यह भी विशेषरूप से कहना चाहिए । इनमें से दो श्लोकों के द्वारा प्रथम 'किं प्रभाषेत' = 'वह कैसे बोलता है' -- इसका उत्तर देते हैं --

[दु:खों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों में जिसकी स्पृहा नहीं होती और जिसके राग, भय और क्रोध जाते रहते हैं वह मुनि 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है ॥ 56 ॥]

194 दु:ख तीन प्रकार के होते हैं -- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । शोक, मोह, ज्वर, शिरोरोग आदि से होने वाले आध्यात्मिक; व्याघ्र, सर्प आदि के कारण होने वाले आधिभौतिक; और अतिवात, अतिवृष्टि आदि के कारण होनेवाले दु:ख आधिदैविक कहे जाते हैं । उन दु:खों में = पापमय प्रारब्ध कर्मों से प्राप्त हुईं रजोगुण की परिणामभूता संतापात्मिका चित्तवृत्ति-विशेषों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता = दु:खों के परिहार के लिए क्षमता = सामर्थ्य न होने के कारण व्याकुल नहीं होता वह अनुद्विग्नमना होता है । अविवेकी की तो दु:ख की प्राप्ति होने पर 'अहो ! मैं बड़ा पापी हूँ; ऐसे दु:ख के भागी मुझ दुरात्मा को धिक्कार है, मेरे ऐसे दु:ख का निवारण कौन करेगा ?' -- ऐसी पश्चात्तापात्मिका भ्रान्तिरूपा तामसी उद्वेगनाम्नी चित्तवृत्तिविशेष उत्पन्न होती है । यदि ऐसी वृत्ति पाप करते समय होती तो उस प्रवृत्ति की प्रतिबन्धिका होने से वह सफल होती । भोग के समय तो दु:खानुभव का कारण रहने पर कार्य का उच्छेद होना असम्भव होने के कारण वह निष्प्रयोजन ही है;

254. तात्पर्य यह है कि सन्तोष दो प्रकार का होता है – अनात्मसन्तोष और आत्मसन्तोष । 'अनात्मसंतोष' अनात्मविषयक अर्थात् अनात्मनिष्ठ होता है और मनोवृत्तिस्वरूप होता है, जो स्थितप्रज्ञ में कदापि नहीं रहता । 'आत्मसंतोष' तो स्वप्रकाश चिद्रूप से भासमान आत्मा में ही होता है, वह आत्मस्वरूप ही होता है । इसीसे समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ तुष्ट प्रतीत होता है, वह परमपुरुषार्थरूप परमानन्दस्वरूप आत्मप्राप्ति से परितृप्त रहता है ।

स्तामसश्चित्तवृत्तिविशेष उद्वेगाख्यो जायते । यद्ययं पापानुष्ठानसमये स्यात्तदा तत्प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वेन सफलः स्यात् । भोगकाले तु भवन्कारणे सति कार्यस्योच्छेत्तुमशक्यत्वान्निष्प्रयोजनो दुःखकारणे सत्यपि किमिति मम दुःखं जायत इति अविवेकजभ्रमरूपत्वान्न विवेकिनः स्थितप्रज्ञस्य संभवति । दुःखमात्रं हि प्रारब्धकर्मणा प्राप्यते नतु तदुत्तरकालीनो भ्रमोऽपि ।

195 **ननु दुःखान्तरकारणत्वात्सोऽपि प्रारब्धकर्मान्तरेण प्राप्यतामिति चेत्, न, स्थितप्रज्ञस्य भ्रमोपादानाज्ञाननाशेन भ्रमासंभवात्तज्जन्यदुःखप्रापकप्रारब्धाभावात् । यथाकथंचिद्देहयात्रामात्रनिर्वाहकप्रारब्धकर्मफलस्य भ्रमाभावेऽपि बाधितानुवृत्त्योपपत्तेरिति विस्तरेणाग्रे वक्ष्यते ।**

196 **तथा सुखेषु सत्त्वपरिणामरूपप्रीत्यात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु त्रिविधेषु प्रारब्धपुण्यकर्मप्रापितेषु विगतस्पृह आगामितज्जातीयसुखस्पृहारहितः । स्पृहा हि नाम सुखानुभवकाले तज्जातीयसुखस्य कारणं धर्ममननुष्ठाय वृथैव तदाकाङ्क्षारूपा तामसी चित्तवृत्तिर्भ्रान्तिरेव । सा चाविवेकिन एव जायते । न हि कारणाभावे कार्यं भवितुमर्हति । अतो यथा सति कारणे कार्यं मा भूदिति वृथाकाङ्क्षारूप उद्वेगो विवेकिनो न संभवति तथैवासति कारणे कार्यं भूयादिति वृथाकाङ्क्षारूपा तृष्णात्मिका स्पृहाऽपि नोपपद्यते प्रारब्धकर्मणः सुखमात्रप्रापकत्वात् ।**

अतः 'दुःख का कारण रहने पर भी मुझे दुःख क्यों होता है' -- यह वृत्ति अविवेकोत्पन्न भ्रम-रूप होने के कारण विवेकी स्थितप्रज्ञ की होना संभव नहीं है । प्रारब्ध कर्म से तो दुःख ही प्राप्त होता है, न कि उसके पश्चात् होनेवाला भ्रम भी ।

195 यदि कहो कि दुःखान्तर का कारण होने से वह भी प्रारब्ध कर्मान्तर से प्राप्त होता ही होगा, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि भ्रम के उपादान कारण अज्ञान का नाश हो जाने से स्थितप्रज्ञ में भ्रमोत्पत्ति संभव ही नहीं है, कारण कि उस भ्रम से जन्य दुःख को प्राप्त करानेवाला प्रारब्ध भी नहीं रहता है । किसी प्रकार देहयात्रामात्र का निर्वाहक प्रारब्धकर्मफल तो भ्रम न रहने पर भी बाधितानुवृत्ति[255] से रह ही सकता है -- इसको विस्तार से आगे कहेंगे ।

196 इसीप्रकार, सुखों में = पुण्यमय प्रारब्ध कर्मों से प्राप्त हुई सत्त्वगुण की परिणामरूपा तीन प्रकार की प्रीत्यात्मिका चित्तवृत्तिविशेषों में जो विगतस्पृह = आगामी उसी जाति के सुख की स्पृहा = इच्छा से रहित है । सुखानुभवकाल में उसी जाति के सुख के कारणभूत धर्म का अनुष्ठान किए बिना वृथा ही उसकी आकांक्षा करना रूप तामसी चित्तवृत्ति 'स्पृहा' है । वह भ्रान्ति ही है और अविवेकी को ही होती है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता । अतः विवेकी में जिसप्रकार कारण रहने पर 'कार्य न हो' -- ऐसा वृथा आकांक्षारूप उद्वेग संभव नहीं है उसीप्रकार कारण न रहने पर 'कार्य हो' -- ऐसी वृथा आकांक्षारूपा तृष्णात्मिका स्पृहा भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध कर्म तो सुखमात्र का प्रापक होता है ।

255. जैसे रज्जु के दग्ध हो जाने पर भी उसमें ऐंठन की अनुवृत्ति दिखाई पड़ती है, वैसे ही विवेकी में अज्ञान के बाधित होने पर भी भ्रम की अनुवृत्ति किसीप्रकार देहयात्रामात्र के निर्वाहक प्रारब्धकर्मफल का निर्वाह करती है ।

197 हर्षात्मिका वा चित्तवृत्तिः स्पृहाशब्देनोक्ता । साऽपि भ्रान्तिरेव - अहो धन्योऽहं यस्य ममेदृशं सुखमुपस्थितं को वा मया तुल्यस्त्रिभुवने केन वोपायेन ममेदृशं सुखं न विच्छिद्येतेत्येवमात्मिकोत्फुल्लतारूपा तामसी चित्तवृत्तिः । अत एवोक्तं भाष्ये - 'नाग्निरिवेन्धनाद्याधाने यः सुखान्यनुविवर्धते स विगतस्पृहः' इति । वक्ष्यति च - 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' इति । साऽपि न विवेकिनः संभवति भ्रान्तित्वात् ।

198 तथा वीतरागभयक्रोधः । रागः शोभनाध्यासनिबन्धनो विषयेषु रञ्जनात्मकश्चित्तवृत्ति-विशेषोऽत्यन्ताभिनिवेशरूपः । रागविषयस्य नाशके समुपस्थिते तन्निवारणासामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्य दैन्यात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो भयम् । एवं रागविषयविनाशके समुपस्थिते तन्निवारणसामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्याभिज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषः क्रोधः । ते सर्वे विपर्ययरूपत्वाद्विगता यस्मात्स तथा । एतादृशो मुनिर्मननशीलः संन्यासी स्थितप्रज्ञ उच्यते । एवंलक्षणः स्थितधीः स्वानुभवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमनुद्वेगनिस्पृहत्वादिवाचः प्रभाषत इत्यन्वय उक्तः । एवं चान्योऽपि मुमुक्षुर्दुःखे नोद्विजेत्सुखे न प्रहृष्येत्, रागभयक्रोधरहितश्च भवेदित्यभिप्रायः ॥ 56 ॥

---

197 अथवा, 'स्पृहा' शब्द से हर्षात्मिका चित्तवृत्ति कही गई है । वह भी भ्रान्ति ही है । वह 'अहो! मैं धन्य हूँ, जिसको ऐसा सुख प्राप्त हुआ है, त्रिभुवन में मेरे समान कौन है, ऐसा क्या उपाय किया जाय जिससे मेरा ऐसा सुख दूर न हो' -- इस प्रकार की उत्फुल्लतारूपा तामसी चित्तवृत्ति है । अतएव भाष्य में कहा है -- 'ईंधन आदि के डालने से जैसे अग्नि बढ़ती है उसीप्रकार जो सुखों को पाकर फूल नहीं जाता वह 'विगतस्पृह' है' । और भगवान् भी आगे 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' (गीता, 5.20) -- इस श्लोक में यही कहेंगे । भ्रान्तिरूपा होने के कारण वह भी विवेकी में संभव नहीं है ।

198 तथा जो राग, भय और क्रोध से शून्य है । 'राग'[256] शोभनाध्यास के कारण विषयों में रञ्जनात्मिका चित्तवृत्तिविशेष है, जो अत्यन्त अभिनिवेशरूप[257] है । राग के विषय के नाशक के उपस्थित होने पर उसका निवारण करने में अपना असामर्थ्य माननेवाले की जो दैन्यात्मिका = दीनतामयी चित्तवृत्ति विशेष होती है वह 'भय' है । इसीप्रकार राग के विषय के विनाशक के उपस्थित होने पर उसका निवारण करने में अपना सामर्थ्य माननेवाले की जो अभिज्वलनात्मिका = दाहात्मिका चित्तवृत्तिविशेष होती है वह 'क्रोध' है । ये सब विपर्ययरूपा होने के कारण जिससे निवृत्त हो गई हैं वह इसप्रकार का मुनि = मननशील संन्यासी 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है । ऐसे लक्षणोंवाला स्थितधी = स्थितप्रज्ञ अपने अनुभव को प्रकट करके शिष्यों को शिक्षा देने के लिए ही अनुद्वेग, निःस्पृहत्व आदि गुविशिष्ट वाणी बोलता है -- यह अन्वय कहा गया है । अभिप्राय यह है कि इसीप्रकार अन्य भी मुमुक्षु दुःख में दुःखी = उद्विग्न न हों, सुख में हर्ष न करें, और राग, भय, तथा क्रोध से रहित रहें ॥ 56 ॥

---

256. सुख भोगने के पश्चात् जो चित्त में उसके भोगने की इच्छा रहती है वह 'राग' है ('सुखानुशयी रागः' -- योगसूत्र, 2.7) ।

257. 'शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति' = 'शरीर और विषयादि से मेरा वियोग न हो'; 'मा न भूवं भूयासमिति' = 'ऐसा न हो कि मैं न होऊँ, किन्तु मैं बना रहूँ' -- ऐसा अनुबन्ध 'अभिनिवेश' कहलाता है (भोजवृत्ति; व्यासभाष्य, योगसूत्र -- 2.9) ।

199 किं च –

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 57 ॥

200 सर्वदेहेषु जीवनादिष्वपि यो मुनिरनभिस्नेहः, यस्मिन्सत्यन्यदीये हानिवृद्धी स्वस्मिन्नारोप्येते स तादृशोऽन्यविषयः प्रेमापरपर्यायस्तामसो वृत्तिविशेषः स्नेहः सर्वप्रकारेण तद्रहितोऽनभिस्नेहः । भगवति परमात्मनि तु सर्वथाऽभिस्नेहवान्भवेदेव, अनात्मस्नेहाभावस्य तदर्थत्वादिति द्रष्टव्यम् ।

201 तत्तत्प्रारब्धकर्मपरिप्रापितं शुभं सुखहेतुं विषयं प्राप्य नाभिनन्दति हर्षविशेषपुरस्सरं न प्रशंसति । अशुभं दुःखहेतुं विषयं प्राप्य न द्वेष्टि अन्तरसूयापूर्वकं न निन्दति । अज्ञस्य हि सुखहेतुर्यः स्वकलत्रादिः स शुभो विषयस्तद्गुणकथनादिप्रवर्तिका धीवृत्तिर्भ्रान्तिरूपाऽभिनन्दः । स च तामसः, तद्गुणकथनादेः परप्ररोचनार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात् । एवमसूयोत्पादनेन दुःखहेतुः परकीयविद्याप्रकर्षादिरेनं प्रत्यशुभो विषयस्तन्निन्दादिप्रवर्तिका भ्रान्तिरूपा धीवृत्तिर्द्वेषः । सोऽपि तामसः, तन्निन्दाया निवारणार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात् । तावभिनन्दद्वेषौ भ्रान्तिरूपौ तामसौ कथमभ्रान्ते शुद्धसत्त्वे स्थितप्रज्ञे सम्भवताम् । तस्माद्विचालकाभावात्तस्यानभिस्नेहस्य

---

199 किञ्च --
[जो मुनि सर्वत्र = समस्त देहों में अर्थात् जीवन आदि में भी स्नेहरहित रहता है और उस-उस प्रारब्धकर्म से प्राप्त शुभ विषय को पाकर उसकी प्रशंसा नहीं करता है तथा अशुभ विषय को पाकर उससे द्वेष नहीं करता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित कही जाती है ॥ 57 ॥]

200 समस्त देहों में अर्थात् जीवन आदि में भी जो मुनि अनभिस्नेह है । जिसके होने पर अन्य की हानि-वृद्धि का अपनेमेंआरोप किया जाता है वह इसप्रकार की अन्यविषयिणी, प्रेम की पर्यायवाचिनी तामसी वृत्ति विशेष 'स्नेह' है; जो सभी प्रकार से उससे रहित हो वह 'अनभिस्नेह' होता है, किन्तु भगवान् परमात्मा में तो उसे सर्वथा अभिस्नेहवान् होना ही चाहिए, क्योंकि अनात्मा में स्नेह का अभाव इसी के लिए है -- यह समझना चाहिए ।

201 उस-उस प्रारब्धकर्म से प्राप्त शुभ = सुख के हेतुभूत विषय को पाकर जो अभिनन्दन = हर्षविशेषपूर्वक प्रशंसा नहीं करता है और अशुभ = दु:ख के हेतुभूत विषय को पाकर द्वेष = आन्तरिक असूयापूर्वक निन्दा नहीं करता है । अज्ञ के लिए जो सुख की हेतुभूत अपनी कलत्रादि हैं वह 'शुभ' विषय है, उसके गुणकथन आदि की प्रवर्तिका बुद्धि की भ्रान्तिरूपा वृत्ति 'अभिनन्द' कहलाती है । यह भी तामसी ही है, क्योंकि उन कलत्रादि के गुणकथनादि दूसरों के लिए रुचिकर न होने के कारण व्यर्थ ही हैं । इसीप्रकार असूयोत्पादन द्वारा दु:ख के हेतु दूसरों के विद्यादि के उत्कर्ष इसके लिए 'अशुभ' विषय हैं । उसकी निन्दादि की प्रवर्तिका बुद्धि की भ्रान्तिरूपा वृत्ति 'द्वेष'[258] कही जाती है । यह भी तामसी ही है, क्योंकि निन्दा में परकीयविद्याप्रकर्षादि के निवारण करने का सामर्थ्य न होने के कारण वह व्यर्थ ही है । वे भ्रान्तिरूप तामस स्तुति और निन्दा शुद्धसत्त्वमय अभ्रान्त स्थितप्रज्ञ में कैसे सम्भव हो सकते हैं ? इस स्थिति से कोई विचलित करनेवाला न होने से उस

---

258. दु:ख के अनुभव के पश्चात् जो द्वेषरूपी वासना चित्त में शयन करती है, वह 'द्वेष' है (दु:खानुशयी द्वेषः -- योगसूत्र, 2.8) ।

हर्षविषादरहितस्य मुनेः प्रज्ञा परमात्मतत्त्वविषया प्रतिष्ठिता फलपर्यवसायिनी स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । एवमन्योऽपि मुमुक्षुः सर्वत्रानभिस्नेहो भवेत् । शुभं प्राप्य न प्रशंसेत्, अशुभं प्राप्य न निन्देदित्यभिप्रायः । अत्र च निन्दाप्रशंसादिरूपा वाचो न प्रभाषेतेति व्यतिरेक उक्तः ॥ 57 ॥

202 **इदानीं किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमारभते भगवान्षड्भिः श्लोकैः । तत्र प्रारब्धकर्मवशाद्व्युत्थानेन विक्षिप्तानीन्द्रियाणि पुनरुपसंहृत्य समाध्यर्थमेव स्थितप्रज्ञस्योपवेशनमिति दर्शयितुमाह –**

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 58 ॥

203 **अयं व्युत्थितः सर्वशः सर्वाणीन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः सर्वेभ्यः । चः पुनरर्थे । यदा संहरते पुनरुपसंहरति सङ्कोचयति । तत्र दृष्टान्तः कूर्मोऽङ्गानीव । तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेति स्पष्टम् । पूर्वश्लोकाभ्यां व्युत्थानदशायामपि सकलतामसवृत्त्यभाव उक्तः । अधुना तु पुनः समाध्यवस्थायां सकलवृत्त्यभाव इति विशेषः ॥ 58 ॥**

204 **ननु मूढस्यापि रोगादिवशाद्विषयेभ्य इन्द्रियाणामुपसंहरणं भवति तत्कथं तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्युक्तमत आह –**

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ 59 ॥

अनभिस्नेह = हर्षविषादरहित मुनि की परमात्मतत्त्वविषया प्रज्ञा प्रतिष्ठित = अन्त में फल प्राप्त करानेवाली होती है अर्थात् वह मुनि 'स्थितप्रज्ञ' होता है । इसीप्रकार अन्य भी मुमुक्षु सर्वत्र अनभिस्नेह हों । शुभ को पाकर प्रशंसा न करें, अशुभ को पाकर निन्दा न करें -- यह अभिप्राय है । यहाँ 'निन्दा-प्रशंसादिरूपा वाणी न बोलें' -- यह व्यतिरेक कहा गया है ॥ 57 ॥

202 अब भगवान् छः श्लोकों से 'किमासीत' = 'वह कैसे बैठता है ?' -- इस प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ करते हैं । उनमें 'प्रारब्धकर्मवश व्युत्थान से विक्षिप्त इन्द्रियों को पुनः संकुचित करके समाधि के लिए ही स्थितप्रज्ञ का बैठना होता है' -- यह दिखाने के लिए भगवान् कहते हैं --
[जैसे कछुआ सब ओर से अपने अङ्गों को समेट लेता है वैसे ही जब यह मुनि अपनी समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ 58 ॥]

203 समाधि से व्युत्थित यह मुनि सर्वशः = समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के शब्दादि समस्त विषयों से जब पुनः संहत = उपसंहृत अर्थात् संकुचित कर लेता है । यहाँ 'च' पुनः के अर्थ में है । 'कूर्मोङ्गानीव' = 'जैसे कछुआ अपने अङ्गों को' -- यह इसमें दृष्टान्त है । तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है -- यह स्पष्ट है । पूर्व के दो श्लोकों से व्युत्थानदशा में भी उसमें समस्त तामसी वृत्तियों का अभाव कहा गया है । इस समय तो पुनः समाधि अवस्था में समस्त वृत्तियों का अभाव कहा है -- यही दोनों में विशेष = भेद है ॥ 58 ॥

204 'रोगादि के कारण मूढ़ पुरुष की भी तो इन्द्रियाँ स्वविषयों से उपरत = संकुचित होती हैं, तो फिर कैसे कहा कि उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है' -- ऐसी शंका हो तो भगवान् कहते हैं --

205 निराहारस्येन्द्रियैर्विषयाननाहरतो देहिनो देहाभिमानवतो मूढस्यापि रोगिणः काष्ठतपस्विनो वा विषयाः शब्दादयो विनिवर्तन्ते किं तु रसवर्जं रसस्तृष्णा तं वर्जयित्वा। अज्ञस्य विषया निवर्तन्ते तद्विषयो रागस्तु न निवर्तत इत्यर्थः। अस्य तु स्थितप्रज्ञस्य परं पुरुषार्थं दृष्ट्वा तदेवाहमस्मीति साक्षात्कृत्य स्थितस्य रसोऽपि क्षुद्रसुखरागोऽपि निवर्तते। अपिशब्दाद्विषयाश्च। तथाच यावानर्थ इत्यादौ व्याख्यातम्। एवं च सरागविषयनिवृत्तिः स्थितप्रज्ञलक्षणमिति न मूढे व्यभिचार इत्यर्थः यस्मान्नासति परमात्मसम्यग्दर्शने सरागविषयोच्छेदस्तस्मात्सरागविषयोच्छेदिकायाः सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं महता यत्नेन सम्पादयेदित्यभिप्रायः ॥ 59 ॥

206 तत्र प्रज्ञास्थैर्ये बाह्येन्द्रियनिग्रहो मनोनिग्रहश्चासाधारणं कारणं तदुभयाभावे प्रज्ञानाशदर्शनादिति वक्तुं बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावे प्रथमं दोषमाह –

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ 60 ॥

207 हे कौन्तेय यततो भूयो भूयो विषयदोषदर्शनात्मकं यत्नं कुर्वतोऽपि, चक्षिङो ङित्त्वकरणा –

[इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण न करनेवाले देहाभिमानी मूढ़ पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उनका राग निवृत्त नहीं होता है। परन्तु परमपुरुषार्थ का साक्षात्कार करके तो इस स्थितप्रज्ञ का राग भी निवृत्त हो जाता है ॥ 59 ॥]

205 निराहार = इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण न करने वाले देही = देहाभिमानी मूढ़ पुरुष के भी अथवा रोगी या काष्ठ तपस्वी के भी शब्दादि विषय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु रसवर्ज = रस अर्थत् तृष्णा उसको छोड़कर। तात्पर्य यह है कि अज्ञ = मूढ़पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु तद्विषयक राग निवृत्त नहीं होता। परन्तु इस स्थितप्रज्ञ का परमपुरुषार्थ को देखकर = 'तदेवाहमस्मि' -- 'मैं वही हूँ' -- ऐसा साक्षात्कार करके स्थित होने पर रस = क्षुद्र सुख का राग भी निवृत्त हो जाता है। 'अपि' शब्द से 'विषय भी निवृत्त हो जाते हैं' -- यह समझना चाहिए। इसी प्रकार 'यावानर्थ उदपाने' (गीता, 2.46) -- इत्यादि श्लोक में व्याख्या की है। इसप्रकार रागसहितविषय की निवृत्ति स्थितप्रज्ञ का लक्षण है, इसलिए मूढ़पुरुष में व्यभिचार नहीं है -- यह अर्थ है। क्योंकि परमात्मा का सम्यक् रीति से साक्षात्कार हुए बिना रागसहित विषयोच्छेद नहीं हो सकता, अतः रागसहित विषयोच्छेदिका सम्यग्दर्शनात्मिका प्रज्ञा के स्थैर्य का महान् प्रयत्न से संपादन करना चाहिए -- यह अभिप्राय है ॥ 59 ॥

206 'इस प्रज्ञा की स्थिरता में बाह्येन्द्रियनिग्रह और मनोनिग्रह असाधारण कारण हैं, क्योंकि इन दोनों के अभाव में प्रज्ञा का नाश ही देखा जाता है' -- यह बताने के लिए पहले बाह्येन्द्रियनिग्रह के अभाव में दोष कहते हैं --
[हे कौन्तेय ! विवेकी पुरुष के बार-बार प्रयत्न करते रहने पर भी विवेक को नष्ट करनेवाली इन्द्रियाँ बलात्कार से उसके मन को विकृत कर देती हैं ॥ 60 ॥]

207 हे कौन्तेय ! यततः =यत्न करने पर = बार-बार विषयों में दोषदर्शनरूप यत्न करते रहने पर भी विपश्चित = अत्यन्त विवेकी पुरुष के भी मन को, क्षणमात्र निर्विकार किए जाने पर भी, इन्द्रियाँ

259. 'यततः' -- पद में 'यत्' धातु से परस्मैपद 'शतृ' प्रत्यय होकर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, जबकि 'यती प्रयत्ने' = प्रयत्न करने में 'यती' धातु का इकार अनुदात्त है और 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (पाणिनिसूत्र, 1.3.12) = 'अनुदात्तेत् और ङित् धातुओं से आत्मनेपद होता है' इस सूत्र से वह आत्मनेपदी है, अतः यहाँ

दनुदात्तेतोऽनावश्यकमात्मनेपदमिति ज्ञापनात्परस्मैपदमविरुद्धम् । विपश्चितो-ऽत्यन्तविवेकिनोऽपि पुरुषस्य मनः क्षणमात्रं निर्विकारं कृतमपीन्द्रियाणि हरन्ति विकारं प्रापयन्ति ।

208 ननु विरोधिनि विवेके सति कुतो विकारप्राप्तिस्तत्राऽऽह – प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि अतिबलीयस्त्वाद्विवेकोपमर्दनक्षमाणि । अतः प्रसभं प्रसह्य बलात्कारेण पश्यत्येव विपश्चिति स्वामिनि विवेके च रक्षके सति सर्वप्रमाथीत्वादेवेन्द्रियाणि विवेकजप्रज्ञायां प्रविष्टं मनस्ततः प्रच्याव्य स्वविषयाविष्टत्वेन हरन्तीत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति । प्रसिद्धो ह्ययमर्थो लोके यथा प्रमाथिनो दस्यवः प्रसभमेव धनिनं धनरक्षकं चाभिभूय तयोः पश्यतोरेव धनं हरन्ति तथेन्द्रियाण्यपि विषयसन्निधाने मनो हरन्तीति ॥ 60 ॥

209 एवं तर्हि तत्र कः प्रतीकार इत्यत आह –

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 61 ॥

हर लेती हैं अर्थात् विकार को प्राप्त करा देती हैं । ''चक्षिङ्' धातु के ङित्वकरण से यहाँ सिद्ध होता है कि 'अनुदात्तेत्' धातु से आत्मनेपद आवश्यक नहीं है' -- यह बताये जाने के कारण 'यतत:'[259] में परस्मैपद विरुद्ध नहीं है ।

208 'मनोविकार के विरोधी विवेकज्ञान के रहने पर स्थितप्रज्ञ को विकार की प्राप्ति कैसे होगी' ? -- ऐसी शंका होने पर कहते हैं -- प्रमाथीनि[260] प्रमथनशील = अत्यन्त बलवती होने के कारण विवेक का उपमर्दन = मथन करने में समर्थ । अत: प्रसभ = हठपूर्वक -- बलात्कार से अर्थात् विद्वान् -- विवेकी स्वामी के देखते हुए ही और विवेकरूप रक्षक के रहते हुए भी सबको मथित करनेवाली होने के कारण ही इन्द्रियाँ विवेकजा प्रज्ञा में प्रविष्ट हुए मन को वहाँ से च्युत करके अपने विषयों से आविष्ट करते हुए हर लेती हैं । 'हि' शब्द प्रसिद्धि का द्योतक है । अर्थात् लोक में यह बात प्रसिद्ध ही है कि जैसे प्रमाथी दस्यु = चोर, डाकू आदि बलपूर्वक ही धनी और धन के रक्षकों को दबाकर उनके देखते-देखते ही धन को हर लेते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ भी मन को विषयों के समीप ले जाती हैं ॥ 60 ॥

209 'यदि ऐसा ही है, तो फिर उसका प्रतीकार क्या है' ? -- यह जिज्ञासा होने पर कहते हैं -- [उन सभी इन्द्रियों को वश में करके, मन को समाहित कर, मेरा अनन्य भक्त होकर निश्चेष्ट भाव से स्थित रहे, क्योंकि जिसके वश में इन्द्रियाँ होती हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ 61 ॥]

आत्मनेपद 'शानच्' प्रत्यय होकर 'यतमानस्य' पद होना चाहिए । इसलिए 'यतत:' यह शतृ प्रत्ययान्त प्रयोग ठीक नहीं है । इसका समाधान यह है कि कि 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' – यहाँ 'चक्षिङ्' धातु का इकार अनुदात्त है, अत: अनुदात्तेत् होने से 'चष्टे' में आत्मनेपद सिद्ध ही है, किन्तु इस धातु में 'ङकार' यह ज्ञापित करता है अनुदात्तेत् धातु से आत्मनेपद होना अनिवार्य नहीं है (अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यम्, परिभाषा, 97), इस ज्ञापन के बाद यदि 'ङ्' अनुबन्ध नहीं रहेगा, तो 'चक्षि' धातु से भी कदाचित् परस्मैपद हो जायेगा । इसीप्रकार 'यती' धातु से परस्मैपद होना भी ठीक है, फलत: 'यतत:' – यह परस्मैपद शतृ प्रत्ययान्त प्रयोग भी ठीक है ।

260. 'प्रमथ्नाति एवं शीलं येषां तानि प्रमाथीनि' -- 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मथेर्हिंसायाम् हिंसा' अर्थ में ' मथ्' धातु से ताच्छील्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर 'प्रमाथीनि' शब्द निष्पन्न हुआ है । इसीलिए इन्हें 'प्रमथनशील' कहा है ।

210 तानीन्द्रियाणि सर्वाणि ज्ञानकर्मसाधनभूतानि संयम्य वशीकृत्य युक्तः समाहितो निगृहीतमनाः सन्नासीत निर्व्यापारस्तिष्ठेत् । प्रमाथिनां कथं स्ववशीकरणमिति चेत्तत्राऽऽह– मत्पर इति । अहं सर्वात्मा वासुदेव एव पर उत्कृष्ट उपादेयो यस्य स मत्पर एकान्तमद्भक्त इत्यर्थः । तथा चोक्तम्– 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' इति । यथा हि लोके बलवन्तं राजानमाश्रित्य दस्यवो निगृह्यन्ते राजाश्रितोऽयमिति ज्ञात्वा च स्वयमेव तद्वश्या भवन्ति तथैव भगवन्तं सर्वान्तर्यामिणमाश्रित्य तत्प्रभावेणैव दुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि पुनश्च भगवदाश्रितोऽयमिति मत्वा तानि तद्वश्यान्येव भवन्तीति भावः । यथा च भगवद्भक्तेर्महाप्रभावत्वं तथा विस्तरेणाग्रे व्याख्यास्यामः । इन्द्रियवशीकारे फलमाह-- वशे हीति । स्पष्टम् । तदेतद्वशीकृतेन्द्रियः सन्नासीतेति किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ 61 ॥

211 ननु मनसो बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वाराऽनर्थहेतुत्वं निगृहीतबाह्येन्द्रियस्य तूत्खातदंष्ट्रोरगवन्मनस्यनिगृहीतेऽपि न काऽपि क्षतिर्बाह्योद्योगाभावेनैव कृतकृत्यत्वादतो युक्त आसीतेति व्यर्थमुक्तमित्याशङ्क्य निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि युक्तत्वाभावे सर्वानर्थप्राप्तिमाह द्वाभ्याम्--

210 ज्ञान और कर्म की साधनभूत उन सभी इन्द्रियों का संयम कर = उनको वश में कर युक्त = समाहित अर्थात् निगृहीतमनवाला होकर निर्व्यापाररूप से स्थित रहे । यदि कहो कि प्रमाथी इन्द्रियों को अपने वश में कैसे करें, तो कहते हैं-- 'मत्परः' = मत्पर होकर इनको वश में कर सकते हो । 'मैं' = सर्वात्मा वासुदेव[261] ही पर = उत्कृष्ट उपादेय है जिसका, वह 'मत्पर' है अर्थात् मेरा एकान्त भक्त है । ऐसा ही कहा भी है -- 'जो वासुदेव के भक्त हैं उनका कहीं अशुभ नहीं होता' । जैसे लोक में किसी बलवान् राजा का आश्रय लेकर दस्यु = चोर, डाकू आदि पकड़े जाते हैं और 'यह राजा के आश्रित है' -- यह समझकर वे स्वयं ही उसके अधीन हो जाते हैं, वैसे ही सर्वान्तर्यामी भगवान् का आश्रय लेकर उनके प्रभाव से ही दुष्ट इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए । फिर तो 'यह भगवान् के आश्रित है' -- यह मानकर वे इन्द्रियाँ स्वयं ही उसके वश में ही हो जाती हैं -- यह भाव है । भगवद्भक्ति का जैसा महान् प्रभाव है -- इसकी व्याख्या हम विस्तार से आगे करेंगे । 'वशे हि' -- इत्यादि से इन्द्रियों को वश में करने का फल कहते हैं । यह स्पष्ट है । इस प्रकार इन्द्रियों को वश में करके स्थित हो -- यह 'किमासीत' = 'वह कैसे बैठता है' ? -- इस प्रश्न का 'ईदृश आसीत' = 'ऐसे बैठता है' -- यह उत्तर कहा गया है ||61||

211 'मन तो बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति द्वारा अनर्थ का हेतु होता है, जिसने बाह्य इन्द्रियों का निग्रह कर लिया हैं उसकी तो दाँत उखाड़े हुए सर्प के समान मन के निगृहीत न होने पर भी कोई क्षति नहीं हो सकती; क्योंकि वह तो बाह्य उद्योग का अभाव होने से ही कृतकृत्य हो जाता है । अतः 'मन का निग्रह करके स्थित रहे' -- यह तो व्यर्थ ही कहा है' -- ऐसी आशंका करके भगवान् दो श्लोकों से जिसने बाह्य इन्द्रियों का निग्रह कर लिया है उसको भी मनोनिग्रह के बिना समस्त अनर्थों की प्राप्ति कहते हैं --

261. 'सर्वत्रासौ वसत्यात्मरूपेण विश्वम्भरत्वादिति वासुदेवः' । यद्वा सर्वान् वासयति स च देवः वासुदेवः । तथा चोक्तम --

'सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि ।
भूतेष्वपि च सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ।।(विष्णुपुराणे)

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ 62 ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ 63 ॥

212 निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि शब्दादीन्विषयान्ध्यायतो मनसा पुनः पुनश्चिन्तयतः पुंसस्तेषु विषयेषु सङ्ग आसङ्गो ममात्यन्तं सुखहेतव एत इत्येवंशोभनाध्यासलक्षणः प्रीतिविशेष उपजायते सङ्गात्सुखहेतुत्वज्ञानलक्षणात्सञ्जायते कामो ममैते भवन्त्विति तृष्णाविशेषः । तस्मात्कामात्कुश्चित्प्रतिहन्यमानात्तत्प्रतिघातकविषयः क्रोधोऽभिज्वलनात्माऽभिजायते । क्रोधाद्भवति संमोहः कार्याकार्यविवेकाभावरूपः । संमोहात्स्मृतिविभ्रमः स्मृतेः शास्त्राचार्योपदिष्टार्थानुसन्धानस्य विभ्रमो विचलनं विभ्रंशः । तस्माच्च स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धेरैकात्म्याकारमनोवृत्तेर्नाशो विपरीतभावनोपचयदोषेण प्रतिबन्धादनुत्पत्तिरुत्पन्नायाश्च फलायोग्यत्वेन विलयः । बुद्धिनाशात्प्रणश्यति तस्याश्च फलभूताया बुद्धेर्विलोपात्प्रणश्यति सर्वपुरुषार्थायोग्यो भवति । यो हि पुरुषार्थायोग्यो जातः स मृत एवेति लोके व्यवह्रियते । अतः प्रणश्यतीत्युक्तम् । यस्मादेवं मनसो निग्रहाभावे निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि परमानर्थप्राप्तिस्तस्मान्महता प्रयत्नेन मनो निगृह्णीयादित्यभिप्रायः । अतो युक्तमुक्तं तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतेति ॥

[विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उनको प्राप्त करने की प्रबल कामना होती है, कामना के विघात से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से कार्याकार्यविवेकाभावरूप संमोह होता है, संमोह से स्मृति विचलित हो जाती है, स्मृति का भ्रंश होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से प्राणी नष्ट हो जाता है ॥ 62-63 ॥]

212 जिसने बाह्य इन्द्रियों का निग्रह कर लिया है उस पुरुष के शब्दादि विषयों का ध्यान करने पर -- मन से बार-बार चिन्तन करने पर उन विषयों में उसका संग = आसङ्ग -- आसक्ति' अर्थात् ये मेरे अत्यन्त सुख के हेतु हैं' -- ऐसी शोभनाध्यासरूपा प्रीतिविशेष उत्पन्न हो जाती है । सुखहेतुत्व ज्ञानलक्षण संग से काम = 'ये सदा मेरे रहें' -- ऐसी तृष्णाविशेष उत्पन्न होती है । उस काम से = यदि किसी कारण से वह काम प्रतिहत हो, तो उसके घातक के प्रति अभिज्वलनात्मक = दाहात्मक क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से कार्य-अकार्य के विवेक का अभावरूप संमोह होता है । संमोह से स्मृतिविभ्रम = स्मृति अर्थात् शास्त्र और आचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थ के अनुसंधान का विभ्रम-विचलन-विभ्रंश होता है । उस स्मृतिभ्रंश से बुद्धि = ऐकात्म्याकारा मनोवृत्ति का नाश हो जाता है = विपरीत भावना से उपचित दोष से और विक्षेपरूप प्रतिबन्धक रहने के कारण ऐकात्म्यकारा चित्तवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है, अथवा उत्पन्न होने पर भी वह फल के योग्य न होने के कारण उसका विलय हो जाता है । तथा बुद्धि का नाश होने से पुरुष नष्ट हो जाता है = उस फलभूता बुद्धि का लोप होने से वह नष्ट अर्थात् सम्पूर्ण पुरुषार्थ के अयोग्य हो जाता है । जो पुरुष पुरुषार्थ के योग्य नहीं रहता वह मृत ही है -- ऐसा लोक में व्यवहार किया जाता है । अतः ' प्रणश्यति'

213 मनसि निगृहीते तु बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावेऽपि न दोष इति वदन् किं व्रजेतेत्यस्योत्तरमाहाष्टभिः--

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ 64 ॥

214 योऽसमाहितचेताः स बाह्येन्द्रियाणि निगृह्यापि रागद्वेषदुष्टेन मनसा विषयांश्चिन्तयन्पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भवति । विधेयात्मा तु । तुशब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेकार्थः । वशीकृतान्तःकरणस्तु आत्मवश्यैर्मनोधीनैः स्वाधीनैरिति वा रागद्वेषाभ्यां वियुक्तैर्विरहितैरिन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्विषयाञ्शब्दादीननिषिद्धांश्चरन्नुपलभमानः प्रसादं प्रसन्नतां चित्तस्य स्वच्छतां परमात्मसाक्षात्कारयोग्यतामधिगच्छति । रागद्वेषप्रयुक्तानीन्द्रियाणि दोषहेतुतां प्रतिपद्यन्ते । मनसि स्ववशे तु न रागद्वेषौ । तयोरभावे च न तदधीनेन्द्रियप्रवृत्तिः । अवर्जनीयतया तु विषयोपलम्भो न दोषमावहतीति न शुद्धिव्याघात इति भावः ।

= 'वह नष्ट हो जाता है' -- ऐसा कहा है । क्योंकि इसप्रकार मन का निग्रह न होने पर बाह्य इन्द्रियों का निग्रह कर लेनेवाले को भी परम अनर्थ की प्राप्ति होती है, इसलिए बड़े प्रयत्न से मन का निग्रह करना चाहिए -- यह अभिप्राय है । अत: यह ठीक ही कहा है कि 'उन सब इन्द्रियों का संयम करके मन के संयमपूर्वक स्थित रहे' ॥ 62-63 ॥

213 'मन का निग्रह हो जाने पर तो बाह्य इन्द्रियों का निग्रह न होने पर भी कोई दोष नहीं है' -- यह कहते हुए 'किं व्रजेत' = 'वह कैसे चलता है ?' -- इस प्रश्न का उत्तर आठ श्लोकों से देते हैं --

[जिसने अपने अन्त:करण को वश में कर लिया है वह पुरुष तो अपने अधीन की हुई अपनी राग-द्वेषरहित इन्द्रियों से शब्दादि अनिषिद्ध विषयों को उपलब्ध करता हुआ चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है ॥ 64 ॥]

214 जो पुरुष असमाहितचित्त होता है वह बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करके भी अपने राग-द्वेष से दूषित मन से विषयों का चिन्तन करते रहने से पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाता है । विधेयात्मा तो -- यहाँ 'तु' शब्द पूर्वकथित से इसका व्यतिरेक करने के लिए है -- जिसने अपने अन्त:करण को वश में कर लिया है वह पुरुष तो आत्मवश्य = मन के अधीन अथवा अपने अधीन हुई रागद्वेष से वियुक्त = विरहित श्रोत्रादि इन्द्रियों से शब्दादि अनिषिद्ध विषयों में जाता हुआ = उनको उपलब्ध करता हुआ प्रसाद = प्रसन्नता = चित्त की स्वच्छता अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त करता है । राग-द्वेष से प्रेरित हुई इन्द्रियाँ ही दोष का कारण होती हैं । मन के अपने अधीन हो जाने पर तो राग-द्वेष नहीं रहते हैं, अत: उनका अभाव हो जाने से इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी उनके अधीन नहीं रहती । अवर्जनीयता के कारण तो विषयोपलब्धि [262] दोषावह नहीं होती है, इसीलिए इससे अन्तःकरण की शुद्धि का व्याघात = नाश नहीं होता है -- यह भाव है ।

262. विषयोपलब्धि दो प्रकार की होती है – रागद्वेषादिपूर्वकोपलब्धि और अवर्जनीयसन्निधिप्रयुक्तोपलब्धि । प्रथम उपलब्धि राग-द्वेषादिपूर्वक होती है, इसमें विषयों की उपलब्धि से पूर्व उनके प्रति राग-द्वेष रहता है, जो दोष उत्पन्न करती है, जैसे – राग से आसक्ति, आसक्ति से काम, काम से क्रोध आदि । द्वितीय विषयों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर होती है, जो अवर्जनीय होती है, क्योंकि विषयोपलब्धि विषयतन्त्र होती है', पुरुषतन्त्र नहीं होती, पुरुष की इच्छा के अधीन नहीं होती । अत: ऐसी उपलब्धि अवर्जनीय होती है, किन्तु इसमें राग-द्वेष आदि नहीं रहते, अत: यह दोषावह नहीं होती है, इसीलिए इससे विधेयात्मा की शुद्धि का व्याघात -- नाश नहीं होता है ।

215 एतेन विषयाणां स्मरणमपि चेदनर्थकारणं सुतरां तर्हि भोगस्तेन जीवनार्थं विषयान्भुञ्जानः कथमनर्थं न प्रतिपद्येतेति शङ्का निरस्ता । स्वाधीनैरिन्द्रियैर्विषयान्प्राप्नोतीति च किं व्रजेतेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ 64 ॥

216 प्रसादमधिगच्छतीत्युक्तं तत्र प्रसादे सति किं स्यादित्युच्यते--

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ 65 ॥

217 चित्तस्य प्रसादे स्वच्छत्वरूपे सति सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादीनामज्ञानविलसितानां हानिर्विनाशोऽस्य यतेरुपजायते । हि यस्मात्प्रसन्नचेतसो यतेराशु शीघ्रमेव बुद्धिर्ब्रह्मात्मैक्याकारा पर्यवतिष्ठते परिसमन्तादवतिष्ठते स्थिरा भवति विपरीतभावनादिप्रतिबन्धाभावात् । ततश्च प्रसादे सति बुद्धिपर्यवस्थानं ततस्तद्विरोध्यज्ञाननिवृत्तिः । ततस्तत्कार्यसकलदुःखहानिरिति क्रमेऽपि प्रसादे यत्नाधिक्याय सर्वदुःखहानिकरत्वकथनमिति न विरोधः ॥ 65 ॥

218 इममेवार्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) द्रढयति--

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ 66 ॥

---

215 इससे 'यदि विषयों का स्मरण भी अनर्थ का कारण है तो उनके भोग की तो बात ही क्या है ? फिर जीवन के निर्वाह के लिए विषयों का भोग करने पर भी उसे अनर्थ की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?' -- यह शङ्का निरस्त हो गई । इसप्रकार अपने अधीन की हुई इन्द्रियों से वह विषयों को प्राप्त करता है -- यह 'किं व्रजेत' = 'वह कैसे चलता है ?' -- इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है ।। 64 ।।

216 'प्रसाद को प्राप्त होता है' -- यह कहा गया, अब प्रसाद होने पर क्या फल होता है -- यह कहा जाता है :--
[चित्त की स्वच्छता होने पर पुरुष के सभी दु:खों का नाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्नचित्त विद्वान् की बुद्धि शीघ्र ही ब्रह्माकारा होकर सब ओर स्थित हो जाती है ।। 65 ।।]

217 चित्त का स्वच्छतारूप प्रसाद होने पर इस यति के अज्ञान से विलसित-कल्पित आध्यात्मिक आदि सभी दु:खों की हानि अर्थात् विनाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्नचित्त यति की बुद्धि ब्रह्मात्मैक्याकारा होकर आशु = शीघ्र ही पर्यवस्थित = परि अर्थात् सब ओर से अवस्थित = स्थिर हो जाती है, कारण कि उसके विपरीतभावना आदि प्रतिबन्धकों का अभाव हो जाता है । इस प्रकार प्रसाद होने पर बुद्धि की स्थिति होती है, उससे = स्थिरबुद्धि से तद्विरोधी अज्ञान की निवृत्ति होती है, उसके अनन्तर अज्ञान के कार्य सम्पूर्ण दु:खों की हानि होती है -- यह क्रम है, फिर भी प्रसादार्थ अधिक यत्न करने के लिए ही प्रसाद को अव्यवहितेन सम्पूर्ण दु:खों की हानि करनेवाला कहा है -- इसलिए इसमें विरोध नहीं है ।। 65 ।।

218 मन:प्रसाद से ही सम्पूर्ण दु:खों की निवृत्ति होती है -- इसी अर्थ को व्यतिरेकपूर्वक दृढ़ करते हैं : --
[अजितचित्त पुरुष को आत्मविषयक बुद्धि नहीं होती, यह बुद्धि न होने पर उसको निदिध्यासनात्मिका भावना नहीं होती तथा वैसी भावना न करनेवाले को शान्ति प्राप्त नहीं होती और अशान्त को सुख कैसे हो सकता है ? ।। 66 ।।]

219 अयुक्तस्याजितचित्तस्य बुद्धिरात्मविषया श्रवणमननाख्यवेदान्तविचारजन्या नास्ति नोत्पद्यते । तद्बुद्ध्यभावे न चायुक्तस्य भावना निदिध्यासनात्मिका विजातीयप्रत्ययानन्तरित-सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा । सर्वत्र नञोऽस्तीत्यनेनान्वयः । न चाभावयत आत्मानं शान्तिः सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपा वेदान्तवाक्यजन्या ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कृतिः । अशान्तस्याऽऽत्मसाक्षात्कारशून्यस्य कुतः सुखं मोक्षानन्द इत्यर्थः ॥ 66 ॥

220 अयुक्तस्य कुतो नास्ति बुद्धिरित्यत आह–

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ 67 ॥

221 चरतां स्वविषयेषु प्रवर्तमानानामवशीकृतानामिन्द्रियाणां मध्ये यदेकमपीन्द्रियमनुलक्षीकृत्य मनो विधीयते प्रेर्यते प्रवर्तत इति यावत् । कर्मकर्तरि लकारः । तदिन्द्रियमेकमपि मनसाऽनुसृतमस्य

219 अयुक्त = अजितचित्त पुरुष को श्रवण, मननरूप वेदान्तविचार से जन्य आत्मविषयक बुद्धि उत्पन्न नहीं होती । उस बुद्धि के न होने पर अयुक्त पुरुष को विजातीय प्रत्ययों के अन्तर से रहित सजातीय प्रत्यय की प्रवाहरूपा निदिध्यासनात्मिका[263] भावना नहीं होती । यहाँ सर्वत्र 'न' का 'अस्ति' के साथ अन्वय है । तथा आत्मा की भावना न करनेवाले को शान्ति = कार्यसहित अविद्या की निवृत्तिरूपा वेदान्तवाक्यजन्या ब्रह्मात्मैक्य की साक्षात्कृति = अनुभूति नहीं होती । और जो अशान्त = आत्मसाक्षात्कार से शून्य है उसको सुख अर्थात् मोक्षानन्द = मुक्ति का आनन्द कहाँ हो सकता है ? ॥ 66 ॥

220 अजितचित्त पुरुष को बुद्धि क्यों नहीं होती ? -- यह कहते हैं --
[अपने-अपने विषयों में प्रवर्तमान इन्द्रियों में से जिस इन्द्रिय को लक्ष्य करके मन अनुप्रवृत्त होता है वह इस अजितचित्त पुरुष की बुद्धि को इसप्रकार हर लेती है जैसे वायु जल में नाव को वहा ले जाती है ॥ 57 ॥]

221 चलती हुई अर्थात् अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हुई अवशीकृत इन्द्रियों में से जिस एक इन्द्रिय **के भी पीछे= उसी को लक्ष्य करके मन विधीयते = प्रेरित होता है अर्थात् प्रवृत्त होता है– 'विधीयते'** -- इस क्रियापद में कर्मकर्त्ता में लकार है -- वह इन्द्रिय एक होने पर भी मन का अनुसरण करने से इस साधक अथवा मन की आत्मविषयिणी शास्त्रीय प्रज्ञा को हर लेती है अर्थात् दूर ले जाती

263. ब्रह्मभिन्न प्रतीत होनेवाले विविध प्रकार के देहादि पदार्थों के प्रति ब्रह्मभिन्नरूप भावना का त्याग कर उन सम्पूर्ण पदार्थों को ब्रह्माभिन्न मानना 'निदिध्यासन' है (विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् -- वेदान्तसार) ।

264. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने 'यत्-यत्' शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण किया है और इन्द्रिय को ही प्रज्ञापहरण में कारण कहा है, तथा 'अस्य' शब्द का अर्थ 'साधकस्य मनसो वा' भी किया है । किन्तु आचार्य धनपति के अनुसार मधुसूदन सरस्वती का अर्थ उचित नहीं है । उनका कहना है कि 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' – इस पूर्वश्लोक से इन्द्रियानुगत मन में ही प्रज्ञाहरणकर्तृत्व विवक्षित है, और फिर प्रकृत श्लोक में श्रुत मन को छोड़कर अश्रुत इन्द्रिय को 'यत्-यत्' शब्द से ग्रहण करना भी तो अनुचित है । अतः इन्द्रियानुगत मन में ही प्रज्ञाहरणकर्तृत्व स्वीकार करना चाहिए । इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि भाष्यकारों ने प्रकृत श्लोक के 'इन्द्रियाणां' पद में कर्म में षष्ठी मानकर अर्थ किया है, निर्धारण में षष्ठी करके नहीं । अतः उनके व्याख्यानों के अनुसार भी इन्द्रियानुगत मन ही प्रज्ञापहरण करता है । किन्तु वास्तव में विचार किया जाय तो विषयों को ग्रहण करने में समर्थ मात्र इन्द्रियाँ ही होने के कारण इन्द्रियाँ ही अपने - अपने विषयों को मन-बुद्धि को प्रदान करती

साधकस्य मनसो वा प्रज्ञामात्मविषयां शास्त्रीयां हरति अपनयति मनसस्तद्विषयाविष्टत्वात् । यदैकमपीन्द्रियं प्रज्ञां हरति तदा सर्वाणि हरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।

222 दृष्टान्तस्तु स्पष्टः । अम्भस्येव वायोर्नौकाहरणसामर्थ्यं न भुवीति सूचयितुमम्भसीत्युक्तम् । एवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यम्भःस्थानीये मनश्चाञ्चल्ये सत्येव प्रज्ञाहरणसामर्थ्यमिन्द्रियस्य न तु भूस्थानीये मनःस्थैर्य इति सूचितम् ॥ 67 ॥

223 हि यस्मादेवम् –

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 68 ॥

224 सर्वशः सर्वाणि समनस्कानि । हे महाबाहो, इति सम्बोधयन्सर्वशत्रुनिवारण-क्षमत्वादिन्द्रियशत्रुनिवारणेऽपि त्वं क्षमोऽसीति सूचयति । स्पष्टमन्यत् । तस्येति सिद्धस्य साधकस्य च परामर्शः । इन्द्रियसंयमस्य स्थितप्रज्ञं प्रति लक्षणत्वस्य मुमुक्षुं प्रति प्रज्ञासाधनत्वस्य चोपसंहरणीयत्वात् ॥ 68 ॥

है,[264], क्योंकि मन उसी विषय में रंग जाता है । जब एक ही इन्द्रिय प्रज्ञा को हर लेती है तो सब मिलकर हर लेती हैं -- इसमें कहना ही क्या है ? -- यह तात्पर्य है ।

222 दृष्टान्त तो स्पष्ट ही है । वायु का नौका को हरने का सामर्थ्य जल में ही होता है, पृथ्वी पर नहीं -- यह सूचित करने के लिए 'अम्भसि' कहा है । इसीप्रकार दार्ष्टान्तिक में भी 'जलस्थानीय मन की चञ्चलता होने पर ही इन्द्रिय का प्रज्ञा को हरने का सामर्थ्य हो सकता है, पृथ्वीस्थानीय मन की स्थिरता होने पर नहीं -- यह सूचित किया गया है ॥ 67 ॥

223 क्योंकि ऐसा है --

[इसलिए हे महाबाहो ! जिसकी मनसहित सभी इन्द्रियाँ अपने विषयों से निगृहीत होती हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ 68 ॥]

224 सर्वशः = मनसहित सभी इन्द्रियाँ । 'हे महाबाहो !' -- यह सम्बोधन करके यह सूचित करते हैं कि समस्त शत्रुओं का निवारण करने में सक्षम होने के कारण तुम इन्द्रियरूप शत्रुओं का निवारण = निग्रह करने में भी सक्षम हो । शेष श्लोकार्थ स्पष्ट है । 'तस्य' -- इस पद से सिद्ध और साधक -- दोनों का परामर्श किया गया है, क्योंकि स्थितप्रज्ञ के लिए लक्षणरूप और मुमुक्षु के लिए प्रज्ञा के साधनरूप इन्द्रियसंयम का उपसंहार करना है ॥ 68 ॥

हैं, उनको विषयों के प्रति आसक्त करती हैं, इसी से इन्द्रियाँ ही तो विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करने से प्रज्ञा =बुद्धि का हरण करती हैं, पूर्व में कहा भी है कि विषयों में आसक्ति से बुद्धि नष्ट हो जाती है (गीता, 2.62-63), अतः इन्द्रियों में ही प्रज्ञाहरणकर्तृत्व स्वीकार करना उचित है । इन्द्रियों में प्रज्ञाहरणकर्तृत्व शास्त्र से भी सिद्ध है –

"इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा हतेः पादादिवोदकम् ॥
(मनुस्मृति, 2.99)

"यदि सब इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्य की बुद्धि वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे चमड़े के बर्तन – मशक आदि के एक भी छिद्र से सब जल बहकर नष्ट हो जाता है ।"
इसप्रकार मधुसूदन सरस्वतीकृत अर्थ शास्त्रानुभवसिद्ध होने से सर्वथा उचित ही है ।

225 तदेवं मुमुक्षुणा प्रज्ञास्थैर्याय प्रयत्नपूर्वकमिन्द्रियसंयमः कर्तव्य इत्युक्तं स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतः सिद्ध एव सर्वेन्द्रियसंयम इत्याह –

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ 69 ॥

226 या वेदान्तवाक्यजनितसाक्षात्काररूपाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा सर्वभूतानामज्ञानां निशेव निशा तान्प्रत्यप्रकाशरूपत्वात् । तस्यां ब्रह्मविद्यालक्षणायां सर्वभूतनिशायां जागर्ति अज्ञाननिद्रायाः प्रबुद्धः सन्सावधानो वर्तते संयमीन्द्रियसंयमवान्स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । यस्यां तु द्वैतदर्शनलक्षणायामविद्यानिद्रायां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रति स्वप्नवद्व्यवहरन्ति सा निशा न प्रकाशत आत्मतत्त्वं पश्यतोऽपरोक्षतया मुनेः स्थितप्रज्ञस्य । यावद्धि न प्रबुध्यते तावदेव स्वप्नदर्शनं बोधपर्यन्तत्वाद् भ्रमस्य । तत्त्वज्ञानकाले तु न भ्रमनिमित्तः कश्चिद्व्यवहारः । तदुक्तं वार्तिककारै :--

'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिस्तथा ।
काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः ।
या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः ॥' इति ।

---

225 इसप्रकार यह कहा गया कि मुमुक्षु को प्रज्ञा की स्थिरता के लिए प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियसंयम करना चाहिए, अब 'स्थितप्रज्ञ को तो स्वतः ही समस्त इन्द्रियों का संयम प्राप्त होता है' -- यह कहते हैं --
[जो 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इत्याकारक साक्षात्काररूपा प्रज्ञा समस्त प्राणियों के लिए रात्रि के समान रात्रि है उस ब्रह्मविद्यारूप समस्त प्राणियों की रात्रि में संयमी पुरुष जागता है और जिस द्वैतदर्शनरूपा अविद्या-निद्रा में सोये हुए ही प्राणी जागते हैं वह आत्मतत्त्व का अपरोक्षरूप से साक्षात्कार कर रहे मुनि की रात्रि होती है॥ 69 ॥]

226 या = जो वेदान्तवाक्यजनित साक्षात्काररूपा 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसी प्रज्ञा समस्त अज्ञ प्राणियों के लिए, उनके प्रति अप्रकाशरूपा होने के कारण, रात्रि के समान रात्रि है, उस ब्रह्मविद्यारूपा समस्त प्राणियों की रात्रि में सयंमी अर्थात् इन्द्रियसंयमवान् स्थितप्रज्ञ जागता है = अज्ञाननिद्रा से प्रबुद्ध होकर सावधान रहता है । तथा जिस द्वैतदर्शनरूपा अविद्या-निद्रा में प्रसुत ही प्राणी जागते हैं = स्वप्न के समान व्यवहार करते हैं वह आत्मतत्त्व का अपरोक्षरूप से साक्षात्कार करनेवाले स्थितप्रज्ञ मुनि की निशा होती है जो उसको प्रकाशित नहीं होती, क्योंकि जबतक पुरुष प्रबुद्ध नहीं होता तभी तक स्वप्नदर्शन होता है, कारण कि भ्रम भी तबतक रहता है, जबतक बोध नहीं होता । तत्त्वज्ञान होने पर तो भ्रमनिमित्त कोई व्यवहार ही नहीं होता । ऐसा ही वार्तिककार ने भी कहा है --
''कर्त्तादि कारकों का व्यवहार रहते शुद्ध वस्तु नहीं देखी जा सकती और शुद्ध वस्तु का दर्शन होने पर कारकों का व्यवहार नहीं रहता । यह संसार अज्ञानी के लिए उलूक और आत्मज्ञानी के लिए काक की रात्रि के समान है । यही स्वयं हरि ने 'या निशा सर्वभूतानाम्' -- इत्यादि वाक्य से कहा है ।''

227 तथा च यस्य विपरीतदर्शनं तस्य न वस्तुदर्शनं विपरीतदर्शनस्य वस्त्वदर्शनजन्यत्वात् । यस्य च वस्तुदर्शनं तस्य न विपरीतदर्शनं विपरीतदर्शनकारणस्य वस्त्वदर्शनस्य वस्तुदर्शनेन बाधितत्वात् । तथा च श्रुतिः 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत् । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ' इति विद्याविद्ययोर्व्यवस्थामाह । यथा काकस्य रात्र्यन्धस्य दिनमुलूकस्य दिवान्धस्य निशा रात्रौ पश्यतश्चोलूकस्य यद्दिनं रात्रिरेव सा काकस्येति महदाश्चर्यमेतत् । अतस्तत्त्वदर्शिनः कथमाविद्यकक्रियाकारकादिव्यवहारः स्यादिति स्वतः सिद्ध एव तस्येन्द्रियसंयम इत्यर्थः ॥ 69 ॥

228 एतादृशस्य स्थितप्रज्ञस्य सर्वविक्षेपशान्तिरप्यर्थसिद्धेति सदृष्टान्तमाह –

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ 70॥

229 सर्वाभिर्नदीभिरापूर्यमाणं सन्तं वृष्ट्यादिप्रभवा अपि सर्वा आपः समुद्रं प्रविशन्ति । कीदृशमचलप्रतिष्ठमनतिक्रान्तमर्यादम् । अचलानां मैनाकादीनां प्रतिष्ठा यस्मिन्निति वा गाम्भीर्यातिशय उक्तः । यद्वद्येन प्रकारेण निर्विकारत्वेन तद्वत्तेनैव निर्विकारत्वप्रकारेण यं स्थितप्रज्ञं

227 इसप्रकार जिसे विपरीत ज्ञान होता है उसे यथार्थ वस्तु का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि विपरीत ज्ञान वस्तु के अज्ञान से ही उत्पन्न होता है । और जिसे वस्तु का ज्ञान होता है उसे विपरीत ज्ञान नहीं होता क्योंकि विपरीत ज्ञान का कारण वस्तु का अज्ञान वस्तु के ज्ञान से बाधित हो जाता है । श्रुति भी कहती है -- 'जहाँ कोई अन्य जैसी वस्तु होती है वहीं अन्य अन्य को देखता है । जहाँ तो इसके लिए सब कुछ आत्मरूप ही हो गया है वहाँ यह किसके द्वारा किसको देखे' (बृह० उ०, 4.3.31)' ? विद्या और अविद्या की ऐसी व्यवस्था कहते हैं -- जैसे रात्रि के अन्धे काक का दिन, दिन के अन्धे उलूक की रात्रि है और रात्रि में देखनेवाले उलूक का जो दिन है वह काक की रात्रि ही है -- यह महान् आश्चर्य है । अत: तत्त्वदर्शी को अविद्याजनित क्रिया -- कारकादि व्यवहार कैसे हो सकता है ? इस प्रकार उसका इन्द्रियसंयम तो स्वत:सिद्ध ही है -- यह तात्पर्य है ।। 69 ।।

228 इसप्रकार के स्थितप्रज्ञ के समस्त विक्षेपों की शान्ति भी अर्थत: सिद्ध होती है -- यह दृष्टान्त के साथ कहते हैं :--

[जैसे नदियों के द्वारा सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में वर्षा आदि के जल भी प्रवेश कर जाते हैं, वैसे ही जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में शब्दादि सम्पूर्ण विषय प्रवेश करते हैं वही शान्ति को प्राप्त करता है, विषयों की कामना करनेवाला नहीं ।। 70 ।।]

229 सम्पूर्ण नदियों से आपूर्यमाण होते हुए समुद्र में वर्षा आदि के कारण होनेवाले जल भी प्रवेश कर जाते हैं । कैसे समुद्र में ? अचल-प्रतिष्ठ अर्थात् मर्यादा का अतिक्रमण न करनेवाले में, अथवा, जिसमें मैनाक आदि अचलों = पर्वतों की प्रतिष्ठा है -- इस प्रकार उसकी गम्भीरता की अतिशयता कही गई है । यद्वत् = जिस प्रकार से निर्विकाररूप से समुद्र स्थित रहता है, तद्वत् = उसी प्रकार से निर्विकाररूप से जिस निर्विकार स्थितप्रज्ञ में समस्त काम = अज्ञानी लोग जिनकी कामना करते हैं वे शब्दादि सम्पूर्ण विषय अवर्जनीयता के कारण = प्रारब्धकर्मवश अपरिहार्य होने के कारण

निर्विकारमेव सन्तं कामा अज्ञैर्लोकैः काम्यमानाः शब्दाद्याः सर्वे विषया अवर्जनीयतया प्रारब्धकर्मवशात्प्रविशन्ति न तु विकर्तुं शक्नुवन्ति स महासमुद्रस्थानीयः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वलौकिकालौकिककर्मविक्षेपनिवृत्तिं बाधितानुवृत्ताविद्याकार्यनिवृत्तिं चाऽऽप्नोति ज्ञानबलेन । न कामकामी कामान्विषयान्कामयितुं शीलं यस्य स कामकाम्यज्ञः शान्तिं व्याख्यातां नाऽऽप्नोति । अपि तु सर्वदा लौकिकालौकिककर्मविक्षेपेण महति क्लेशार्णवे मग्नो भवतीति वाक्यार्थः । एतेन ज्ञानिन एव फलभूतो विद्वत्संन्यासस्तस्यैव च सर्वविक्षेपनिवृत्तिरूपा जीवन्मुक्तिर्दैवाधीनविषयभोगेऽपि निर्विकारतेत्यादिकमुक्तं वेदितव्यम् ॥ 70 ॥

230 यस्मादेवं तस्मात् –

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ 71 ॥

231 प्राप्तानपि सर्वान्बाह्यान्गृहक्षेत्रादीनान्तरान्मनोराज्यरूपान्वासनामात्ररूपांश्च पथि गच्छंस्तृणस्पर्शरूपान्कामांस्त्रिविधान्विहायोपेक्ष्य शरीरजीवनमात्रेऽपि निस्पृहः सन् । यतो निरहंकारः शरीरेन्द्रियादावयमहमित्यभिमानशून्यः, विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसम्भावनारहित इति वा । अतो निर्ममः शरीरयात्रामात्रार्थेऽपि प्रारब्धकर्माक्षिप्ते कौपीनाच्छादनादौ ममेदमित्यभिमानवर्जितः सन्यःपुमांश्चरति प्रारब्धकर्मवशेन भोगान्भुङ्क्तेयादृच्छिकतया यत्र

प्रवेश करते हैं, किन्तु वे उसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, वह महासमुद्रस्थानीय स्थितप्रज्ञ अपने ज्ञान के बल से शान्ति = समस्त लौकिक और अलौकिक कर्मों से उत्पन्न विक्षेप की निवृत्ति तथा बाधितानुवृत्ति से समस्त अविद्या के कार्य की निवृत्ति प्राप्त करता है; कामकामी नहीं । कामकामी = 'कामान्-विषयान् पशुपुत्रस्वर्गादीन् कामयितुं शीलं यस्य स कामकामी' अर्थात् पशुपुत्रस्वर्गादि काम्य विषयों की कामना करने का स्वभाव है जिसका वह कामकामी = अज्ञानी पुरुष इस व्याख्या की हुई शान्ति को प्राप्त नहीं करता, अपितु वह तो सर्वदा लौकिक और अलौकिक कर्मों के विक्षेप से महान् क्लेश-समुद्र में निमग्न रहता है-- यह वाक्यार्थ है । इससे ज्ञानी के लिए ही ज्ञान का फलभूत विद्वत्संन्यास तथा उसी के लिए सम्पूर्ण विक्षेप की निवृत्तिरूपा जीवन्मुक्ति, दैवाधीन विषयों को भोगते रहने पर भी निर्विकारता इत्यादि कहा गया है -- यह जानना चाहिए ॥ 70 ॥

230 क्योंकि ऐसा है, इसलिए --

[जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़कर स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर व्यवहार करता है वह शान्ति प्राप्त करता है ॥ 71 ॥]

231 प्राप्त होने पर भी सम्पूर्ण कामों को = गृह-क्षेत्र आदि बाह्य तथा मनोराज्यरूप और वासनामात्ररूप आन्तर -- इन तीनों प्रकार के कामों को जो मार्ग में चलते हुए तृणस्पर्श के समान हैं, छोड़कर = उपेक्षा करके, शरीर के जीवनमात्र की भी स्पृहा न कर तथा क्योंकि निरहंकार अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि में 'यह मैं हूँ' -- ऐसे अभिमान से शून्य अथवा विद्यावान् आदि होने के कारण आत्मसम्भावना से रहित होता है, अतः निर्मम = शरीरयात्रामात्र के लिए भी प्रारब्धकर्मवश प्राप्त हुए कौपीन, वस्त्र (आच्छादन) आदि में 'यह मेरा है' -- ऐसे अभिमान से रहित होकर जो पुरुष व्यवहार करता है = प्रारब्धकर्मवश प्राप्त हुए भोगों को भोगता है अथवा यादृच्छिकता से -- स्वेच्छा से जहाँ कहाँ

क्वापि गच्छतीति वा । स एवंभूतः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरम-लक्षणामविद्यातत्कार्यनिवृत्तिमधिगच्छति ज्ञानबलेन प्राप्नोति । तदेतदीदृशं व्रजनं स्थितप्रज्ञस्येति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरं परिसमाप्तम् ॥ 71 ॥

232 तदेवं चतुर्णां प्रश्नानामुत्तरव्याजेन सर्वाणि स्थितप्रज्ञलक्षणानि मुमुक्षुकर्तव्यतया कथितानि । सम्प्रति कर्मयोगफलभूतां सांख्यनिष्ठां फलेन स्तुवन्नुपसंहरति –

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ 72 ॥

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन -
संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोध्यायः ॥ 2 ॥

233 एषा स्थितप्रज्ञलक्षणव्याजेन कथिता, एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिरिति च प्रागुक्ता स्थितिर्निष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकपरमात्मज्ञानलक्षणा ब्राह्मी ब्रह्मविषया । हे पार्थैनां स्थितिं प्राप्य यः कश्चिदपि पुनर्न विमुह्यति । न हि ज्ञानबाधितस्याज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति अनादित्वेनोत्पत्त्यसम्भवात् । अस्यां स्थितावन्तकालेऽपि अन्त्येपि वयसि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि निर्वाणं निर्वृत्तिं ब्रह्मरूपं निर्वाणमिति वा, ऋच्छति गच्छत्यभेदेन । किमु वक्तव्यं यो ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य यावज्जीवमस्यां ब्राह्म्यां स्थिताववतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीत्यपिशब्दार्थः ॥72॥

भी जाता है -- वह = इसप्रकार का स्थितप्रज्ञ ज्ञान के बल से शान्ति अर्थात् संसार के सम्पूर्ण दु:खों से उपरमरूपा अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति प्राप्त करता है । इसप्रकार का व्रजन = चलना स्थितप्रज्ञ का होता है -- यह चतुर्थ प्रश्न का उत्तर भी समाप्त हो गया ॥ 71 ॥

232 इसप्रकार चारों प्रश्नों के उत्तर के व्याज से स्थितप्रज्ञ के सभी लक्षणों को मुमुक्षु के कर्त्तव्यरूप से कह दिया । अब कर्मयोग की फलभूता सांख्यनिष्ठा का, फल के द्वारा उसकी स्तुति करते हुए, उपसंहार करते हैं --

[हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसको प्राप्त करके कोई भी पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता और अन्तिम काल = वय में भी इसमें स्थित होकर पुरुष ब्रह्मरूप निर्वाण को प्राप्त करता है ॥ 72 ॥]

233 यह स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के व्याज से कही गई और पहले 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धि:' -- इसप्रकार कही गई स्थिति = सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक परमात्मा की ज्ञानरूपा निष्ठा ब्राह्मी = ब्रह्मविषया है । हे पार्थ ! इस स्थिति को प्राप्त करके जो कोई भी पुरुष पुन: मोह को प्राप्त नहीं होता । ज्ञान से बाधित अज्ञान की पुन: उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनादि होने के कारण उसकी उत्पत्ति असम्भव है । इस स्थिति में अन्तकाल में भी = अन्तिम वय = आयु में भी = वृद्धावस्था में भी स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण = ब्रह्म में निर्वाण अर्थात् निर्वृत्ति अथवा ब्रह्मरूप निर्वाण को अभेदरूप से प्राप्त करता है । जो ब्रह्मचर्य अवस्था से ही संन्यास लेकर जीवनपर्यन्त इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहता है वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है -- इसमें तो कहना ही क्या है ? -- यह 'अपि' शब्द का अर्थ है ।

234 ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम् । तत्फलं ज्ञाननिष्ठैवेत्यध्यायेऽस्मिन्प्रकीर्तितम् ॥

इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां सर्वगीतार्थसूत्रणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ 2 ॥

---

234 ज्ञान, उसका साधन निष्काम कर्म, उसका फल सत्त्वशुद्धि = चित्तशुद्धि-अन्तःकरण की शुद्धि और उसका फल ज्ञाननिष्ठा -- ये ही पदार्थ इस अध्याय में कहे गये हैं ॥ 72 ॥

इस प्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य
श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका
के हिन्दीभाषानुवाद का सांख्ययोग नामक
द्वितीय अध्याय समाप्त होता है ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

1 **एवं तावत्प्रथमेनाध्यायेनोपोद्घातितो द्वितीयेनाध्यायेन कृत्स्नः शास्त्रार्थः सूत्रितः । तथा हि – आदौ निष्कामकर्मनिष्ठा । ततोऽन्तःकरणशुद्धिः । ततः शमदमादिसाधनपुरःसरः सर्वकर्मसंन्यासः । ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता भगवद्भक्तिनिष्ठा । ततस्तत्त्वज्ञाननिष्ठा तस्याः फलं च त्रिगुणात्मकाविद्यानिवृत्त्या जीवन्मुक्तिः प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्तं तदन्ते च विदेहमुक्तिः। जीवन्मुक्तिदशायां च परमपुरुषार्थालम्बनेन परवैराग्यप्राप्तिर्दैवसंपदाख्या च शुभवासना तदुपकारिण्यादेया । आसुरसम्पदाख्या त्वशुभवासना तद्विरोधिनी हेया । दैवसम्पदोऽसाधारणं कारणं सात्त्विकी श्रद्धा । आसुरसम्पदस्तु राजसी तामसी चेति हेयोपादेयविभागेन कृत्स्नशास्त्रार्थपरिसमाप्तिः ।**

2 **तत्र 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इत्यादिना सूत्रिता सत्त्वशुद्धिसाधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठा सामान्यविशेषरूपेण तृतीयचतुर्थाभ्यां प्रपञ्च्यते । ततः शुद्धान्तःकरणस्य शमदमादिसाधन-सम्पत्तिपुरःसरा 'विहाय कामान्यः सर्वान्' इत्यादिना सूत्रिता सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा संक्षेपविस्तररूपेण पञ्चमषष्ठाभ्याम् । एतावता च त्वंपदार्थोऽपि निरूपितः । ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना सूत्रिताऽनेकप्रकारा भगवद्भक्तिनिष्ठाऽध्यायषट्केन प्रतिपाद्यते । तावता च तत्पदार्थोऽपि निरूपितः । प्रत्यध्यायं चावान्तरसङ्गतिमवान्तरप्रयोजनभेदं च तत्र तत्र प्रदर्शयिष्यामः । ततस्तत्त्वंपदार्थैक्यज्ञानरूपा 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' इत्यादिना सूत्रिता तत्त्वज्ञाननिष्ठा त्रयोदशे प्रकृतिपुरुषविवेकद्वारा प्रपञ्चिता । ज्ञाननिष्ठायाश्च फलं 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिना सूत्रिता त्रैगुण्यनिवृत्तिश्चतुर्दशे सैव जीवन्मुक्तिरिति गुणातीतलक्षणकथनेन प्रपञ्चिता । ' तदा गन्तासि**

---

1 इस प्रकार प्रथम अध्याय से जिस अर्थ का उपोद्घात किया गया है वही अर्थ द्वितीय अध्याय में सूत्ररूप से कहा गया है । तथाहि -- आदि में निष्कामकर्मनिष्ठा, ततः अन्तःकरणशुद्धि, तत्पश्चात् शमदमादिसाधनपूर्वक सर्वकर्मसंन्यास, तदनंतर वेदान्त-वाक्य-विचारसहित भगवद्भक्तिनिष्ठा, तदुपरान्त तत्त्वज्ञाननिष्ठा तथा उसका फल त्रिगुणात्मिका अविद्या की निवृत्ति द्वारा प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्त जीवन्मुक्ति और उसके अन्त में विदेह मुक्ति -- का निरूपण किया गया है । जीवन्मुक्ति की अवस्था में ही परम-पुरुषार्थ -- मोक्ष का अवलम्बन कर परवैराग्यकी प्राप्ति होती है । उस समय उसमें उपकारिणी दैवी सम्पत्ति शुभवासना का ग्रहण करना चाहिए और उसकी विरोधिनी आसुरी सम्पदा अशुभवासना का त्याग करना चाहिए । दैवी सम्पत्ति का असाधारण कारण सात्त्विक श्रद्धा है और आसुरी सम्पदा का तो कारण राजसी-तामसी श्रद्धा है -- इस प्रकार हेयोपादेय = ग्राह्य और त्याज्य के विभाग से सम्पूर्ण गीता-शास्त्रार्थ की परिसमाप्ति हुई है ।

2 उसमें 'योगस्थः कुरु कर्माणि'(गीता, 2.48) इत्यादि से सूत्रिता = सूत्र रूप में कही हुई सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धि की साधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठा का सामान्य और विशेष रूप से तृतीय और चतुर्थ अध्यायों द्वारा प्रतिपादन किया गया है । तदनंतर शुद्धान्तःकरण पुरुष के लिए शम-दमादि-साधन-सम्पत्तिपूर्विका 'विहाय कामान् यः सर्वान्' (गीता 2.71) इत्यादि से सूत्रिता = सूत्ररूप में कही हुई सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा का संक्षेप और विस्तार रूप से पञ्चम और षष्ठ अध्यायों से निरूपण किया

निर्वेदम्' इत्यादिना सूत्रिता परवैराग्यनिष्ठा संसारवृक्षच्छेदद्वारेण पञ्चदशे। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमना' इत्यादिना स्थितप्रज्ञलक्षणेन सूत्रिता परवैराग्योपकारिणी दैवी सम्पदादेया 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिन्यासुरी सम्पच्च हेया षोडशे। दैवसम्पदोऽसाधारणं कारणं च सात्त्विकी श्रद्धा 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिपरिहारेण सप्तदशे। एवं सफला ज्ञाननिष्ठाऽध्यायपञ्चकेन प्रतिपादिना। अष्टादशेन च पूर्वोक्तसर्वोपसंहार इति कृत्स्नगीतार्थसङ्गतिः।

3 **तत्र पूर्वाध्याये सांख्यबुद्धिमाश्रित्य ज्ञाननिष्ठा भगवतोक्ता-- 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' इति। तथा योगबुद्धिमाश्रित्य कर्मनिष्ठोक्ता 'योगे त्विमां शृणु' इत्यारभ्य 'कर्मण्येवाधिकारस्ते -- मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इत्यन्तेन। न चानयोर्निष्ठयोरधिकारिभेदः स्पष्टमुपदिष्टो भगवता। न चैकाधिकारिकत्वमेवोभयोः समुच्चयस्य विवक्षितत्वादिति वाच्यम्। 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इति कर्मनिष्ठाया बुद्धिनिष्ठापेक्षया निकृष्टत्वाभिधानात्। 'यावानर्थउदपाने'**

गया है और इतने ग्रन्थ से ही 'त्वम्' पदार्थ का भी निरूपण हुआ है। तत्पश्चात् वेदान्त-वाक्य-विचार सहित 'युक्त आसीत मत्परः' (गीता, 2.61) इत्यादि से सूत्रित अनेक प्रकार की भगवद्भक्तिनिष्ठा का आगे के छः अध्यायों से प्रतिपादन किया गया है और इतने ग्रन्थ से ही ' तत्' पदार्थ का भी निरूपण हुआ है। प्रत्येक अध्याय में अवान्तर संगति और अवान्तर प्रयोजनविशेष को तत्र-तत्र = यथास्थान प्रदर्शित करेंगे। तदुपरान्त 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ की ऐक्यज्ञानरूपा 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (गीता, 2.21) इत्यादि से सूत्रिता तत्त्वज्ञाननिष्ठा तेरहवें अध्याय में प्रकृति-पुरुष-विवेक द्वारा कही गई है। ज्ञाननिष्ठा का फल 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (गीता, 2.45) इत्यादि से सूत्रिता त्रैगुण्यनिवृत्ति चौदहवें अध्याय में निरूपित है, वही जीवन्मुक्ति है -- यह गुणातीत के लक्षणकथन से विस्तारपूर्वक कही गयी है। तदुपरान्त 'तदा गन्तासि निर्वेदम्' (गीता, 2.45) इत्यादि से सूत्रिता परवैराग्यनिष्ठा संसार-वृक्ष के छेदन द्वारा पन्द्रहवें अध्याय में कही गई है। इसके पश्चात् 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' (गीता, 2.56) इत्यादि स्थितप्रज्ञ के लक्षणों द्वारा सूत्रिता परवैराग्य में उपकारिणी दैवी सम्पत्ति ग्राह्य है और 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' (गीता, 2.42) इत्यादि से सूत्रिता परवैराग्य की विरोधिनी आसुरी सम्पदा हेय = त्याज्य है -- यह सोलहवें अध्याय में कहा गया है। फिर 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' (गीता, 2.45) इत्यादि से सूत्रित दैवीसम्पत्ति का असाधारण कारण सात्त्विक श्रद्धा उसकी विरोधिनी राजसी-तामसी श्रद्धा के परिहारपूर्वक सतरहवें अध्याय में कही गई है। इस प्रकार इन पाँच अध्यायों से फल सहित ज्ञाननिष्ठा का प्रतिपादन किया गया है। अठारहवें अध्याय में पूर्वोक्त सम्पूर्ण विषय का उपसंहार हुआ है। यह सम्पूर्ण गीता के अर्थ की संगति है।

3 इसमें पूर्व अध्याय में भगवान् ने सांख्यबुद्धि का आश्रय लेकर 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' (गीता, 2.39) - इसप्रकार ज्ञाननिष्ठा कही है तथा योगबुद्धि का आश्रय लेकर 'योगे त्विमां शृणु' (गीता, 2.39) इत्यादि से लेकर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते -- मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' (गीता, 2.47) इत्यादि तक कर्मनिष्ठा कही है। किन्तु वहाँ भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा - इन दोनों निष्ठाओं के अधिकारीविशेष का स्पष्टतया उपदेश नहीं किया है। यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि दोनों का समुच्चय विवक्षित होने के कारण उन दोनों निष्ठाओं का एक ही अधिकारी है, क्योंकि 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' (गीता, 2.49) = 'हे धनञ्जय ! बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है' ---- इससे बुद्धिनिष्ठा की अपेक्षा कर्मनिष्ठा की निकृष्टता कही गई है। 'यावानर्थ

इत्यत्र च ज्ञानफले सर्वकर्मफलान्तर्भावस्य दर्शितत्वात् । स्थितप्रज्ञलक्षणमुक्त्वा च – 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इति सप्रशंसं ज्ञानफलोपसंहारात् । 'या निशा सर्वभूतानाम्' इत्यादौ ज्ञानिनो द्वैतदर्शनाभावेन कर्मानुष्ठानासंभवस्य चोक्तत्वात् । अविद्यानिवृत्तिलक्षणे मोक्षफले ज्ञानमात्रस्यैव लोकानुसारेण साधनत्वकल्पनात् । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेश्च ।

4 **ननु तर्हि तेजस्तिमिरयोरिव विरोधिनोर्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासम्भवाद्भिन्नाधिकारिकत्वमेवास्तु । सत्यम् । नैवं सम्भवति एकमर्जुनं प्रति तूभयोपदेशो न युक्तः । नहि कर्माधिकारिणं प्रति ज्ञाननिष्ठोपदेष्टुमुचिता न वा ज्ञानाधिकारिणं प्रति कर्मनिष्ठा । एकमेव प्रति विकल्पेनोभयोपदेश इति चेत् । न, उत्कृष्टनिकृष्टयोर्विकल्पानुपपत्तेः। अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितात्मस्वरूपे मोक्षे तारतम्यासम्भवाच्च । तस्माज्ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्भिन्नाधिकारिकत्वे एकं प्रत्युपदेशायोगादेकाधिकारिकत्वे च विरुद्धयोः समुच्चयासम्भवात्कर्मापेक्षया ज्ञानप्राशस्त्यानुपपत्तेश्च विकल्पाभ्युपगमे चोत्कृष्टमनायाससाध्यं ज्ञानं विहाय निकृष्टमनेकायासबहुलं कर्मानुष्ठातुमयोग्यमिति मत्वा पर्याकुलीभूतबुद्धिः--**

उदपाने' (गीता, 2.46) -- इत्यादि में भी ज्ञान के फल में ही सम्पूर्ण कर्मों के फल का अन्तर्भाव दिखाया गया है । स्थितप्रज्ञ का लक्षण कह कर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' (गीता, 2.72) -- इसप्रकार प्रशंसापूर्वक ज्ञान के फल का उपसंहार किया है । 'या निशा सर्वभूतानाम्' (गीता, 2.69) इत्यादि में ज्ञानी के लिए द्वैतदर्शन का अभाव होने से कर्मानुष्ठान की असंभवता कही गई है । अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्षात्मक फल में लोक के अनुसार ज्ञानमात्र की ही साधनता कल्पित की गई है और श्रुति भी कहती है -- 'उस परमात्मा को जानकर ही जीव मृत्यु के पार हो जाता है, अयन = मोक्ष के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है' (श्वेता०, 3.8) ।

4 'तब तो प्रकाश और अन्धकार के समान विरोधी ज्ञान और कर्म का समुच्चय असम्भव होने के कारण उनके अधिकारी भिन्न ही होने चाहिए' । 'सत्य है' । 'ऐसा नहीं हो सकता, तब तो एक ही अर्जुन को दोनों निष्ठाओं का उपदेश उचित नहीं था, क्योंकि कर्म के अधिकारी को ज्ञाननिष्ठा का उपदेश और ज्ञान के अधिकारी को कर्मनिष्ठा का उपदेश करना उचित नहीं हो सकता ।' 'यदि यह मान लें कि विकल्प से एक को भी दोनों निष्ठाओं का उपदेश किया जा सकता है', तो नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट और निकृष्ट साधनों में विकल्प नहीं हो सकता और अविद्यानिवृत्ति से उपलक्षित आत्मस्वरूप मोक्ष में कोई तारतम्य भी संभव नहीं है । अतः ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा – दोनों निष्ठाओं की भिन्न आधिकारिकता होने से एक ही व्यक्ति को उपदेश नहीं किया जा सकता तथा दोनों निष्ठाओं की एक आधिकारिकता होने से परस्पर विरुद्ध दोनों निष्ठाओं का समुच्चय संभव न होने के कारण कर्म की अपेक्षा ज्ञान की उत्कृष्टता सिद्ध नहीं होती । और इनमें विकल्प स्वीकार करने पर तो उत्कृष्ट, अनायाससाध्य ज्ञान को छोड़कर निकृष्ट, अनेक = कायिक, वाचिक, मानसिक आयासों = प्रयत्नों से साध्य = बहुकष्टसाध्य कर्म का अनुष्ठान करना अनुचित होगा' -- ऐसा मानकर व्याकुल चित्त हुए --

[अर्जुन ने कहा -- हे जनार्दन ! यदि आपको निष्काम कर्म की अपेक्षा आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धि अधिक श्रेष्ठ अभिमत है, तो हे केशव ! आप मुझे इस हिंसादि अनेक आयासों से साध्य कर्म में क्यों नियुक्त करते हैं ? ॥1 ॥]

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ 1 ॥

5 **हे जनार्दन सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धय इति त्वं तथाभूतो मयाऽपि श्रेयोनिश्चयार्थं याच्यस इति नैवानुचितमिति सम्बोधनाभिप्रायः । कर्मणो निष्कामादपि बुद्धिरात्मतत्त्वविषया ज्यायसी प्रशस्ततरा चेद्यदि ते तव मता तत्तदा किं कर्मणि घोरे हिंसाद्यनेकायासबहुले मामतिभक्तं नियोजयसि 'कर्मण्येवाधिकारस्त' इत्यादिना विशेषेण प्रेरयसि हे केशव सर्वेश्वर । सर्वेश्वरस्य सर्वेष्टदायिनस्तव मां भक्तं 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मामि'त्यादिना त्वदेकशरणतयोपसन्नं प्रति प्रतारणा नोचितेत्यभिप्रायः ॥ 1 ॥**

6 **ननु नाहं कंचिदपि प्रतारयामि किं पुनस्त्वामतिप्रियं, त्वं तु किं मे प्रतारणाचिह्नं पश्यसीति चेत्तत्राऽऽह –**

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ 2 ॥

---

5 हे जनार्दन[1] ! = 'सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धय इति' अर्थात् सभी जनों द्वारा अपनी अभिलषित वस्तुओं की सिद्धि = प्राप्ति के लिए आप अर्दित = याचित = प्रार्थित होते हैं, अतः आप 'जनार्दन' हैं । ऐसे होने के कारण ही आपसे मैं भी जो श्रेय का निश्चय करने के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ वह अनुचित नहीं है -- यह इस सम्बोधन का अभिप्राय है । यदि आपको यह अभिमत = स्वीकार है कि निष्कामभाव से भी किए हुए कर्म की अपेक्षा आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धि ज्यायसी = प्रशस्ततरा = अधिक श्रेष्ठ है, तो आप अपने परम भक्त मुझको इस घोर = हिंसा आदि अनेक आयासों = प्रयत्नों से साध्य कर्म में क्यों नियुक्त करते हैं ? 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता, 2.47) = ' तेरा कर्म में ही अधिकार है' -- इत्यादि वाक्यों से विशेषरूप से क्यों प्रेरित करते हैं ? हे केशव = हे सर्वेश्वर ! आप सभी को अभीष्ट प्रदान करने वाले सर्वेश्वर हैं, अतः मुझ अपने भक्त को = ' शिष्यस्तेऽहं शाधि माम्' (गीता, 2.7) = 'मैं आपका शिष्य हूँ, आप शरण में आये हुए मुझको शिक्षा दीजिए' -- इत्यादि से पूर्व में ही आपकी शरण में आये हुए को प्रतारणा = बहकाना = ठगना उचित नहीं है -- यह अभिप्राय है ॥ 1 ॥

6 यदि भगवान् कहें कि मैं तो किसी को भी नहीं ठगता, फिर मेरे अत्यन्त प्रिय तुमको तो कैसे ठगूंगा ? तुमको मुझमें ठगने के क्या चिह्न दिखाई देते हैं ? – तो अर्जुन कहता है –

[आप व्यामिश्र = परस्पर मिले हुए सें अर्थवाले वाक्य से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं । अतः आप निश्चय करके एक ही बात कहिए, जिससे मैं श्रेय = कल्याण प्राप्त करूँ ॥ 2 ॥]

---

1. जन + अर्द गतौ याचने च, नन्द्यादित्वात् ल्यु = 'जन' उपपदयुक्त णिजन्त 'अर्द्' (गति और याचना) धातु से 'ल्यु' प्रत्यय है । अथवा जनैर्लोकैरर्द्यते याच्यते पुरुषार्थानसौ जनार्दनः, कर्मणि ल्युट् = 'जन' उपपदयुक्त णिजन्त 'अर्द्' (याचना) धातु से कर्म अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर ' जनार्दन' शब्द निष्पन्न है, अतः सभी जनों – लोकों द्वारा पुरुषार्थप्राप्ति के लिए जो याचित = प्रार्थित होते हैं वे 'जनार्दन' हैं ।

7 तव वचनं व्यामिश्रं न भवत्येव मम त्वेकाधिकारिकत्वभिन्नाधिकारिकत्वसन्देहाद्व्यामिश्रं संकीर्णार्थमिव ते यद्वाक्यं मां प्रति ज्ञानकर्मनिष्ठाद्वयप्रतिपादकं तेन वाक्येन त्वं मे मम मन्दबुद्धेर्वाक्यतात्पर्यापरिज्ञानाद् बुद्धिमन्तःकरणं मोहयसीव भ्रान्त्या योजयसीव । परमकारुणिकत्वात्त्वं न मोहयस्येव मम तु स्वाशयदोषान्मोहो भवतीतीवशब्दार्थः । एकाधिकारित्वे विरुद्धयोः समुच्चयानुपपत्तेरेकार्थत्वाभावेन च विकल्पानुपपत्तेः प्रागुक्तेर्यद्यधिकारिभेदं मन्यसे तदेकं मां प्रति विरुद्धयोर्निष्ठयोरुपदेशायोगात्तज्ज्ञानं वा कर्म वैकमेवाधिकारं मे निश्चित्य वद । येनाधिकारनिश्चयपुरःसरमुक्तेन त्वया मया चानुष्ठितेन ज्ञानेन कर्मणा वैकेन श्रेयो मोक्षमहमाप्नुयां प्राप्तुं योग्यः स्याम् । एवं ज्ञानकर्मनिष्ठयोरेकाधिकारित्वे विकल्पसमुच्चययोरसम्भवादधिकारिभेदज्ञानायार्जुनस्य प्रश्न इति स्थितम् ।

7 आपका वचन व्यामिश्र नहीं है, किन्तु मेरे ही सन्देह के कारण कि -- 'ज्ञान और कर्म एकाधिकारिक हैं या भिन्नाधिकारिक हैं ?' -- मैं आपके वचन को व्यामिश्र = संकीर्ण अर्थवाला सा समझ रहा हूँ । आपने मेरे प्रति जो ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा -- दोनों ही निष्ठाओं का प्रतिपादक वाक्य कहा है उस वाक्य से आप मुझ मन्दमति की बुद्धि = अन्तःकरण को उस वाक्य के तात्पर्य को न समझने के कारण मोहित - सा कर रहे हैं = मानो भ्रान्तियुक्त कर रहे हैं । परम कारुणिक होने के कारण आप तो मोहित नहीं करते, किन्तु अपने आशय = अन्तःकरण के दोष से ही मुझे मोह हो रहा है[2] -- यह 'इव' शब्द का अभिप्राय है । यदि आप ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा -- दोनों निष्ठाओं का एकाधिकारित्व स्वीकार करते हैं, तो दोनों विरुद्ध निष्ठाओं में समुच्चय अनुपपन्न होगा और एकार्थत्व = एक ही प्रयोजन का अभाव होने से = एक ही प्रयोजन न होने से विकल्प भी अनुपपन्न होगा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है; तथा यदि इनके अधिकारियों में भेद मानते हैं, तो मुझ एक को ही इन दोनों विरुद्ध निष्ठाओं का उपदेश करना अयुक्त है । अतः आप ज्ञान अथवा कर्म जिस किसी एक का अधिकार मुझमें निश्चय करके मुझे ज्ञान या कर्म एक ही निष्ठा का उपदेश कीजिए । जिससे अधिकार-निश्चयपूर्वक आपके द्वारा उपदिष्ट = उक्त और मेरे द्वारा अनुष्ठित ज्ञान अथवा कर्म एक ही निष्ठा से मैं श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्त करूँ = मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो जाऊँ । इसप्रकार ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा -- इन दोनों निष्ठाओं का एकाधिकारित्व स्वीकार करने पर विकल्प और समुच्चय संभव न होने के कारण उनके अधिकारियों के भेद को जानने के लिए अर्जुन का प्रश्न है -- यह स्थिर = निश्चय हुआ ।

8 यहाँ भाष्यकार ने अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक पुनः पुनः अन्य विद्वानों के समस्त कुमतों का श्रुति, स्मृति और न्याय के बल से निरकारण किया है, अतः मैं उसके लिए प्रवृत्त नहीं होता हूँ । भाष्यकार के ही मत का सारदर्शी मैं तो यहाँ ग्रन्थ की योजना मात्र कर रहा हूँ । अपनी वाणी की शुद्धि के लिए ही भगवान् भाष्यकार के केवल आशयमात्र को प्रकाशित कर रहा हूँ ।। 2 ।।

2. अर्जुन के कथन का तात्पर्य यह है कि हे जनार्दन ! आपका वाक्य व्यामिश्र = मिश्रित नहीं है, किन्तु मुझे ही अपने अन्तःकरण की अशुद्धि के कारण संशय हो रहा है कि आपके वाक्य में ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा – दोनों का ही प्रतिपादन किया गया है, तो मुझे ज्ञानयोग का अनुष्ठान अपेक्षित है या कर्मयोग का अनुष्ठान अपेक्षित है, क्योंकि दोनों का ही अनुष्ठान एक समय में एक पुरुष से नहीं हो सकता । इसलिए मेरे ही अन्तःकरण में भ्रान्ति सी हो रही है । आप तो परम दयालु हैं, आप व्यर्थ ही किसी के अन्तःकरण को भ्रान्तियुक्त नहीं करते । यहाँ 'इव' शब्द का यह अभिप्राय है ।

8 **इहेतरेषां कुमतं समस्तं श्रुतिस्मृतिन्यायबलान्निरस्तम् ।**
पुनः पुनर्भाष्यकृताऽतियत्नादतो न तत्कर्तुमहं प्रवृत्तः ॥
भाष्यकारमतसारदर्शिना ग्रन्थमात्रमिह योज्यते मया ।
आशयो भगवतः प्रकाश्यते केवलं स्ववचसो विशुद्धये ॥ 2 ॥

9 **एवमधिकारिभेदेऽर्जुनेन पृष्टे तदनुरूपं प्रतिवचनम् –**

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ 3 ॥

10 **अस्मिन्नधिकारित्वाभिमते लोके शुद्धाशुद्धान्तःकरणभेदेन द्विविधे जने द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा स्थितिर्ज्ञानपरता कर्मपरता च पुरा पूर्वाध्याये मया तवात्यन्तहितकारिणा प्रोक्ता प्रकर्षेण स्पष्टत्वलक्षणेनोक्ता । तथा चाधिकार्यैक्यशङ्कया मा ग्लासीरिति भावः । हेऽनघापापेति सम्बोधयन्नु**

---

9 इसप्रकार अर्जुन के द्वारा अधिकारिभेद का प्रश्न पूछे जाने पर उसके अनुरूप उत्तर-वाक्य से श्री भगवान् बोले --

[हे अनघ = निष्पाप अर्जुन ! मैने पहले इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा कही है -- ज्ञानयोग के द्वारा सम्यक् रूप से आत्मबुद्धि को प्राप्त हुए सांख्ययोगियों की निष्ठा और कर्मयोग के द्वारा कर्माधिकारी योगियों की निष्ठा ।। 3 ।।]

10 इस = अधिकारित्व से अभिमत-इष्ट लोक में = शुद्धान्तःकरण और अशुद्धान्तःकरण भेद से दो प्रकार के जनसमुदाय[3] में तुम्हारे अत्यन्त हितकारी मैने पहले = पूर्व अध्याय[4] में ज्ञानपरता और कर्मपरता के भेद से द्विविधा = दो प्रकार की निष्ठाएँ = स्थितियाँ प्रोक्ता = प्रकर्ष से अर्थात् स्पष्ट रूप से कही हैं । अतः तुम अधिकारी की एकता की शङ्का से खिन्न मत होओ -- यह भाव है । हे अनघ = अपाप अर्थात् निष्पाप -- इसप्रकार सम्बोधन करते हुए भगवांन् अर्जुन की उपदेशयोग्यता सूचित करते हैं ।[5] एक ही निष्ठा साध्य-साधन अवस्था-भेद से दो प्रकार की मैंने कही है, दोनों ही स्वतन्त्र निष्ठाएँ नहीं है -- यह कहने के लिए'निष्ठा'[6] -- यह एकवचनान्त पद प्रयुक्त हुआ है । इसी प्रकार आगे भी कहेंगे -- 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' (गीता, 5.5) = 'जो पुरुष सांख्य और योग को एक ही देखता है वही यथार्थ देखता है' ।

---

3. 'लोकस्तु भुवने जने' (अमरकोष, 3.3.2) = 'लोक' के भुवन = संसार और जन – दो अर्थ हैं । यहाँ अमरकोष के अनुसार 'लोक' शब्द जनवाची है ।

4. प्रकृत प्रसङ्ग में आचार्य धनपति अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में कहते हैं कि श्लोक में प्रयुक्त 'पुरा' शब्द का अर्थ 'सर्गादौ' = 'सृष्टि के आदि में' है, यही भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य को अभीष्ट है । किन्तु मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ और श्रीधर ने'पुरा' का अर्थ 'पूर्वाध्याये' = 'पूर्व अध्याय में' किया है, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि यह अर्थ भाष्यविरुद्ध है; 'प्रोक्ता' – इतना कहने मात्र से ही अर्थ-संगति हो जाने पर 'लोकेऽस्मिन्' और 'पुरा' -- इनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ ही है; तथा 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' (गीता, 4.1) –इस श्लोक के भाष्योक्त अर्थ से विरोध भी होता है ।

5. 'अनघ' – इस सम्बोधन से यह सूचित किया गया है कि अर्जुन भगवान् से ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त करने के योग्य है, क्योंकि वह निष्पापान्तःकरण है, निष्पापान्तःकरण में ही उपदेशवाक्य से आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, सपापान्तःकरण में आत्मज्ञान नहीं होता, जैसा कि स्मृति कहती है -- 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादि ।

6. साधन की परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठा को 'निष्ठा' कहते हैं ।

पदेशयोग्यतामर्जुनस्य सूचयति। एकैव निष्ठा साध्यसाधनावस्थाभेदेन द्विप्रकारा न तु द्वे एव स्वतन्त्रे निष्ठे इति कथयितुं निष्ठेत्येकवचनम्। तथा च वक्ष्यति –

'एवं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इति।

11 तामेव निष्ठां द्वैविध्येन दर्शयति – सांख्येति, संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां प्राप्तवतां ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां ज्ञानभूमिमारूढानां शुद्धान्तःकरणानां सांख्यानां ज्ञानयोगेन ज्ञानमेव युज्यते ब्रह्मणाऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ता 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना। अशुद्धान्तःकरणानां तु ज्ञानभूमिमनारूढानां योगिनां

11 उसी निष्ठा को दो प्रकार से दिखाते हैं -- सांख्येति = सांख्यों[7] की = संख्या अर्थात् सम्यक् आत्मबुद्धि, उसको प्राप्त हुए हैं जो = जिन्होंने ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर लिया है और वेदान्तजनित विज्ञान से वस्तु का भलीभांति निश्चय कर लिया है उन ज्ञान की भूमिकाओं पर आरूढ़ हुए शुद्ध अन्तःकरणवाले सांख्ययोगियों की निष्ठा ज्ञानयोग के द्वारा कही है। ज्ञानयोग = 'ज्ञानमेव योगः ज्ञानयोगः' =ज्ञानरूप योग = ज्ञान ही योग है। योग = 'युज्यते ब्रह्मणाऽनेनेति' = जिसके द्वारा ब्रह्म से युक्त होते हैं, वह 'योग' है -- इसप्रकार की व्युत्पत्ति से ज्ञानरूप योग - ज्ञानयोग = ज्ञान ही = परमार्थ तत्त्व का ज्ञान ही योग है। उस ज्ञानयोग के द्वारा 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' (गीता, 2.61) इत्यादि से सांख्ययोगियों की निष्ठा कही गई है। अशुद्ध अन्तःकरणवाले, अतएव ज्ञान की भूमिकाओं पर अनारूढ़ योगियों की = कर्माधिकारी योगियों की निष्ठा कर्मयोग के द्वारा कही है। कर्मयोग = 'कर्मैव योगः कर्मयोगः' = कर्मरूपयोग = कर्म ही योग है। योग = ' युज्यतेऽन्तःकरणशुद्ध्याऽनेनेति' = जिसके द्वारा अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक ब्रह्म से युक्त होते हैं, वह 'योग' है -- इसप्रकार की व्युत्पत्ति से कर्मरूप योग - कर्मयोग = कर्म ही योग है। उस कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक ज्ञान की भूमिकाओं पर आरूढ़ होने के लिए 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' (गीता, 2.31) इत्यादि से कर्माधिकारी योगियों की निष्ठा कही गई है।

12 अतएव ज्ञान और कर्म का समुच्चय अथवा विकल्प नहीं है। किन्तु निष्काम कर्म के अनुष्ठान से शुद्ध अन्तःकरणवाले को सर्वकर्मसंन्यास से ही ज्ञान होता है -- इसप्रकार चित्त की शुद्धि और अशुद्धिरूप अवस्था के भेद से एक ही निष्ठा तुमको -- 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गीता, 2.39) इत्यादि में दो प्रकार से कही है। अतः भूमिका के भेद से एक के भी प्रति दोनों का उपयोग होने के कारण अधिकार-भेद होने पर भी उपदेश की व्यर्थता नहीं है--यह अभिप्राय है। यही दिखलाने के लिए अशुद्धचित्त साधक को चित्तशुद्धिपर्यन्त 'न कर्मणामनारम्भात्' (गीता, 3.4) इत्यादि से लेकर 'मोघं पार्थ स जीवति' (गीता, 3.16) तक तेरह श्लोकों से कर्म का अनुष्ठान दिखलाते हैं। शुद्धचित्त ज्ञानी को कोई भी कर्म अपेक्षित नहीं है -- यह 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' (गीता, 3.17-18) इत्यादि दो श्लोकों से दिखाते हैं। 'तस्मात् असक्तः' (गीता, 3.19) यहाँ से आरम्भ करके यह दिखायेंगे कि फलाकांक्षा से रहित होनारूप कौशल से बन्धन के हेतु भी कर्म सत्त्वशुद्धि = चित्तशुद्धि, ततः ज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष के हेतु हो सकते हैं। उससे आगे तो 'अथ

7. ''वेदान्तैः सर्वैः सम्यगाख्यायते तात्पर्येण प्रतिपाद्यत इति सांख्यं निर्विशेषं परं ब्रह्म तदेव स्वात्मत्वेन ये विदुस्ते सांख्याः ब्रह्मविदस्तेषां सांख्यानां ब्रह्मज्ञानम्'' = सभी वेदान्त के द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रकाशित हैं अथवा तात्पर्य के रूप में प्रतिपादित हुए हैं वे सांख्य अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म हैं। उनको जो जन अपने आत्मा के रूप में जानते हैं उन्हें भी सांख्य अर्थात् ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है।

कर्माधिकारयोगिनां कर्मयोगेन कर्मैव युज्यतेऽन्तःकरणशुद्ध्याऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ताऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानभूमिकारोहणार्थं 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिना।

12 **अत एव न ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो विकल्पो वा। किं तु निष्कामकर्मणा शुद्धान्तःकरणानां सर्वकर्मसंन्यासेनैव ज्ञानमिति चित्तशुद्ध्यशुद्धिरूपावस्थाभेदेनैकमेव त्वां प्रति द्विविधा निष्ठोक्ता -- 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति। अतो भूमिकाभेदेनैकमेव प्रत्युभयोपयोगान्नाधिकारभेदेऽप्युपदेशवैयर्थ्यमित्यभिप्रायः। एतदेव दर्शयितुमशुद्धचित्तस्य चित्तशुद्धिपर्यन्तं कर्मानुष्ठानं 'न कर्मणामनारम्भादि'त्यादिभिर्मोघं पार्थ स जीवती-'त्यन्तैस्त्रयोदशभिर्दर्शयति। शुद्धचित्तस्य तु ज्ञानिनो न किंचिदपि कर्मापेक्षितमिति दर्शयति--यस्त्वात्मरतिरिति द्वाभ्याम्। 'तस्मादसक्त' इत्यारभ्य तु बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्ष-हेतुत्वं सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण सम्भवति फलाभिसंधिराहित्यरूपकौशलेनेति दर्शयिष्यति। ततः परं त्वथ केनेति प्रश्नमुत्थाप्य कामदोषेणैव काम्यकर्मणः शुद्धिहेतुत्वं नास्ति। अतः कामराहित्येनैव कर्माणि कुर्वन्नन्तःकरणशुद्ध्या ज्ञानाधिकारी भविष्यसीति यावदध्यायसमाप्ति वदिष्यति भगवान्॥ 3॥**

13 **तत्र कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः--**

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ 4॥

14 **कर्मणां 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्याऽऽत्मज्ञाने विनियुक्तानामनारम्भादननुष्ठानाच्चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानायोग्यो बहिर्मुखः पुरुषो नैष्कर्म्यं सर्वकर्मशून्यत्वं ज्ञानयोगेन निष्ठामिति यावत्, नाश्नुते न प्राप्नोति।**

15 **ननु 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेः सर्वकर्मसंन्यासादेव ज्ञाननिष्ठोपपत्तेः कृतं कर्मभिरित्यत आह--नच संन्यसनादेव चित्तशुद्धिं विना कृतात्सिद्धिं ज्ञाननिष्ठालक्षणां**

केन' (गीता, 3.36) इत्यादि से प्रश्न उठाकर अध्याय की समाप्तिपर्यन्त भगवान् बतायेंगे कि कामदोष से ही काम्यकर्म शुद्धि के हेतु नहीं होते, अतः कामनारहित होकर कर्म करने से तुम अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान के अधिकारी हो जाओगे॥ 3॥

13 कारण का अभाव होने पर कार्य की अनुपपत्ति होने से --
[कर्मों का अनुष्ठान न करने से ही पुरुष सर्वकर्मशून्यतारूप ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है और केवल संन्यास से ही ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है॥ 4॥]

14 'उस इस ब्रह्म को ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानने की इच्छा करते हैं' -- इस श्रुति से आत्मज्ञान में विनियुक्त = विनियोग के लिए उपदिष्ट कर्मों का आरम्भ = अनुष्ठान न करने से चित्तशुद्धि न होने के कारण ज्ञान के अयोग्य, अतएव बहिर्मुख पुरुष नैष्कर्म्य = सर्वकर्मशून्यता अर्थात् ज्ञानयोग के द्वारा निष्ठा को प्राप्त नहीं होता है।

15 यदि कहो कि 'संन्यासी को प्राप्त होने वाले इस ब्रह्मरूपलोक की इच्छा से ही संन्यास ग्रहण करते हैं' -- इस श्रुति के अनुसार सर्वकर्मसंन्यास से ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो सकती है, तो फिर कर्मों के अनुष्ठान

सम्यक्फलपर्यवसायित्वेनाधिगच्छति नैव प्राप्नोतीत्यर्थः । कर्मजन्यां चित्तशुद्धिमन्तरेण संन्यास एव न संभवति । यथाकथंचिदौत्सुक्यमात्रेण कृतोऽपि न फलपर्यवसायीति भावः ॥ 4 ॥

16 **तत्र कर्मजन्यशुद्ध्यभावे बहिर्मुखः--**

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ 5 ॥

17 **हि यस्मात्क्षणमपि कालं जातु कदाचित्कश्चिदप्यजितेन्द्रियोऽकर्मकृत्सन्न तिष्ठति । अपि तु लौकिकवैदिककर्मानुष्ठानव्यग्र एव तिष्ठति तस्मादशुद्धचित्तस्य संन्यासो न संभवतीत्यर्थः ।**

18 **कस्मात्पुनरविद्वान्कर्माण्यकुर्वाणो न तिष्ठति । हि यस्मात्सर्वः प्राणी चित्तशुद्धिरहितोऽवशोऽस्वतन्त्र एव सन्प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैरभिव्यक्तैः सत्त्वरजस्तमोभिः स्वभावप्रभवैर्वा रागद्वेषादिभिर्गुणैः कर्म लौकिकं वैदिकं वा कार्यते । अतः कर्माण्यकुर्वाणो न कश्चिदपि तिष्ठतीत्यर्थः । यतः स्वाभाविका गुणाश्चालका अतः परवशतया सर्वदा कर्माणि कुर्वतोऽशुद्धबुद्धेः सर्वकर्मसंन्यासो न संभवतीति न संन्यासनिबन्धना ज्ञाननिष्ठा संभवतीत्यर्थः ॥ 5 ॥**

19 **यथाकथंचिदौत्सुक्यमात्रेण कृतसंन्यासस्त्वशुद्धचित्तस्तत्फलभाङ्न भवति यतः--**

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ 6 ॥

की क्या आवश्यकता है' -- तो कहते हैं कि चित्तशुद्धि के बिना किये हुए केवल संन्यास से ही पुरुष ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि को सम्यक् फल में समाप्तिरूप से अधिगत = प्राप्त नहीं होता है । भाव यह है कि कर्मजन्या चित्तशुद्धि के बिना संन्यास ही संभव नहीं है । यदि किसी प्रकार उत्सुकतामात्र से संन्यास किया भी जाय तो वह फलपर्यवसायी नहीं हो सकता ॥ 4 ॥

16 कर्मजन्या शुद्धि के अभाव में बहिर्मुख --
[कोई भी पुरुष क्योंकि एक क्षण भी कदाचित् कर्म किये बिना रह नहीं सकता,कारण कि प्रकृतिजनित सत्त्वादि गुण अथवा स्वाभाविक गुण राग-द्वेषादि सभी से बलात् कर्म कराते रहते हैं ॥ 5 ॥]

17 हि = यस्मात् = क्योंकि कोई भी अजितेन्द्रिय पुरुष एक क्षण भी जातु = कदाचित् = किसी समय में कर्म किये बिना नहीं रह सकता, अपितु वह लौकिक और वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में व्यग्र ही रहता है, इसलिए अशुद्धचित्त पुरुष का संन्यास होना संभव नहीं है -- यह भाव है ।

18 प्रश्न है कि अविद्वान् कर्म किये बिना क्यों नहीं रह सकता ? क्योंकि चित्तशुद्धि से रहित सभी प्राणी अवश = अस्वतंत्र ही रहने के कारण प्रकृतिज = प्रकृति से जनित कार्यरूप में अभिव्यक्त हुए सत्त्व, रज और तम -- इन गुणों के द्वारा अथवा प्रकृतिज = स्वभावज = स्वभावजनित -- स्वाभाविक रागद्वेषादि गुणों के द्वारा लौकिक अथवा वैदिक कर्मों में लगाये हुए हैं । अत: तात्पर्य यह है कि कर्म न करते हुए कोई भी नहीं रहता । क्योंकि स्वाभाविक गुण चालक हैं, अत: परवशता के कारण सर्वदा कर्म करते रहने वाले अशुद्धबुद्धि -- अशुद्धचित्त पुरुष को सर्वकर्मसंन्यास करना संभव नहीं है और उसमें संन्यासनिबन्धना ज्ञाननिष्ठा नहीं हो सकती है-- यह अभिप्राय है ॥ 5 ॥

19 किसी प्रकार उत्सुकतामात्र से कृतसंन्यास अशुद्धचित्त पुरुष संन्यास के फल का भागी नहीं होता, क्योंकि --

20 यो विमूढात्मा रागद्वेषादिदूषितान्तःकरण औत्सुक्यमात्रेण कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि संयम्य निगृह्य बहिरिन्द्रियैः कर्माण्यकुर्वन्निति यावत् । मनसा रागादिप्रेरितेन्द्रियार्थान्शब्दादीन्न त्वात्मतत्त्वं स्मरन्नास्ते कृतसंन्यासोऽहमित्यभिमानेन कर्मशून्यस्तिष्ठति स मिथ्याचारः सत्त्वशुद्ध्यभावेन फलायोग्यत्वात्पापाचार उच्यते,

'त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् ।
श्रुत्येह विहितो यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ॥'

इत्यादिधर्मशास्त्रेण । अत उपपन्नं न च संन्यसनादेवाशुद्धान्तःकरणः सिद्धिं समधिगच्छतीति ॥ 6 ॥

21 औत्सुक्यमात्रेण सर्वकर्माण्यसंन्यस्य चित्तशुद्धये निष्कामकर्माण्येव यथाशास्त्रं कुर्यात् । यस्मात् –

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ 7 ॥

22 तुशब्दोऽशुद्धान्तःकरणसंन्यासिव्यतिरेकार्थः । इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनसा सह नियम्य पापहेतुशब्दादिविषयासक्तेर्निवर्त्य मनसा विवेकयुक्तेन नियम्येति वा, कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाण्यादिभिः कर्मयोगं शुद्धिहेतुतया विहितं कर्माऽऽरभते करोत्यसक्तः फलाभिलाषशून्यः

[जो विमूढात्मा = रागद्वेषादि से दूषित अन्तःकरणवाला पुरुष कर्मेन्द्रियों का निग्रह कर मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है -- मैं संन्यासी हूँ -- ऐसा अभिमान कर कर्मशून्य रहता है, वह मिथ्या आचरण वाला कहा जाता है ॥ 6 ॥]

20 जो विमूढात्मा = रागद्वेषादि से दूषित अन्तःकरणवाला पुरुष उत्सुकतामात्र से वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियों का संयम = निग्रह करके अर्थात् बहिरिन्द्रियों से ही कर्म न करता हुआ रागादि से प्रेरित मन से इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का -- न कि आत्मतत्त्व का -- स्मरण करता रहता है अर्थात् 'मैं कृतसंन्यास हूँ' = 'मैंने संन्यास किया है' = 'मैं संन्यासी हूँ' -- ऐसे अभिमान से कर्मशून्य रहता है, वह मिथ्याचार है, सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धि न होने से फल के अयोग्य होने के कारण पापाचार कहा जाता है ।''त्वम्' -- पदार्थ के विवेक के लिए समस्त कर्मो का संन्यास (त्याग) श्रुति से विहित है, 'त्वंपदार्थ के विवेक के बिना कर्मत्यागी पतित होता है' -- इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य से भी यही सिद्ध होता है । अतः यह कहना उचित ही है कि अशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष केवल संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त नहीं करता ॥ 6 ॥

21 उत्सुकतामात्र से समस्त कर्मों का संन्यास (त्याग) न करके चित्तशुद्धि के लिए शास्त्रानुसार निष्काम कर्म ही करने चाहिए, क्योंकि --

[हे अर्जुन ! जो पुरुष तो मन के साथ ज्ञानेन्द्रियों का संयम करके फल की अभिलाषा छोड़कर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग = शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करता है, वह मिथ्याचार -- पापाचार पुरुष से श्रेष्ठ होता है ॥ 7 ॥]

22 श्लोक में 'तु' शब्द अशुद्ध अन्तःकरणवाले संन्यासी से कर्मयोगी का व्यतिरेक = श्रेष्ठत्व दिखलाने के लिए प्रयुक्त हुआ है । जो विवेकी पुरुष इन्द्रियों अर्थात् श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का मन के साथ संयम करके = पाप की हेतु शब्दादि विषयों के प्रति आसक्ति से उनको निवृत्त करके, अथवा विवेकयुक्त

सन्यो विवेकी स इतरस्मान्मिथ्याचाराद्विशिष्यते । परिश्रमसाम्येऽपि फलातिशयभाक्त्वेन श्रेष्ठो भवति । हेऽर्जुनाऽऽश्चर्यमिदं पश्य यदेकः कर्मेन्द्रियाणि निगृह्णञ्ज्ञानेन्द्रियाणि व्यापारयन्पुरुषार्थशून्योऽपरस्तु ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियाणि व्यापारयन्परमपुरुषार्थभाग्भवतीति ॥ 7॥

23 **यस्मादेवं तस्मान्मनसा ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियैः--**

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ 8 ॥

24 **त्वं प्रागननुष्ठितशुद्धिहेतुकर्मा नियतं विध्युद्देशे फलसंबन्धशून्यतया नियतनिमित्तेन विहितं कर्म**

मन से इन्द्रियों का संयम -- निग्रह करके[8] वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग = चित्तशुद्धि के लिए शास्त्रविहित कर्मों का आरम्भ = अनुष्ठान असक्त = फल की अभिलाषा से रहित होकर करता है, वह कर्मयोगी अन्य (दूसरे) मिथ्याचार की अपेक्षा विशेष होता है । यद्यपि मिथ्याचार और विवेकी -- दोनों का इन्द्रियनिग्रहादि परिश्रम समान होता है, तथापि मिथ्याचार की अपेक्षा विवेकी अधिक फल का भागी होता है, कारण कि मिथ्याचारी अन्तःकरणशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान नहीं किए रहता, अतएव मिथ्याचार की अपेक्षा वह विवेकी कर्मयोगी श्रेष्ठ होता है । हे अर्जुन ! यह आश्चर्य तो देखो कि एक तो कर्मेन्द्रियों का निग्रह कर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा व्यापार करने से पुरुषार्थ से शून्य रह जाता है और दूसरा ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह कर कर्मेन्द्रियों द्वारा व्यापार करने से परम पुरुषार्थ का भागी हो जाता है ॥ 7 ॥

23 क्योंकि ऐसा है, इसलिए मन से ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह कर कर्मेन्द्रियों से --
[तुम नियत = नित्य कर्मों का अनुष्ठान करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है; कर्म न करने से तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥ 8 ॥]

24 तुमने प्राक् = पहले -- पूर्व जन्म में चित्तशुद्धि के हेतु कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया है, इसलिए नियत = विधि के उद्देश्य में फल के सम्बन्ध का अभाव नियत होने से विहित कर्म अर्थात् लोक में प्रसिद्ध

---

8. नियन्त्रण दो प्रकार का होता है – प्रतिकूल विषयों से व्यावृत्तिमूलक और अनुकूल विषयों में प्रवृत्तिमूलक । इसीलिए प्रकृत में इन्द्रिय-निग्रह को दो प्रकार से कहा है – श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का मनसा सह = मन के साथ निग्रह करना = पाप की हेतु शब्दादि विषयों के प्रति आसक्ति से उनका निवृत्त करना अथवा विहित – अविहित सभी विषयों में प्रवृत्तिशील इन्द्रियों को विवेकयुक्त मनसा = मन से विहित विषयों में ही प्रवृत्त करना । यद्यपि अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति होने से प्रतिकूल विषयों से व्यावृत्ति अर्थतः सिद्ध होती ही है, तथापि प्रतिकूल विषयों से व्यावृत्ति होने से अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति अर्थतः सिद्ध होती है । इसीप्रकार उभयतः कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्ति होने से कृत्य = अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति और अकृत्य = प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति सिद्ध होती है, अतः कौन सा नियन्त्रण शाब्द है, कौन सा आर्थ, इसमें कोई विनिगमक नहीं है । अतः यहाँ उभयार्थ का अभिधान उचित ही है । तात्पर्य यह है कि कर्मयोग के लिए समस्त इन्द्रियों का सम्पूर्ण विषयों से निरोध करना व्याहत है, क्योंकि कर्मयोग के लिए विहित विषयों में प्रवृत्ति आवश्यक है और केवल प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति परमावश्यक है । कृत्याकृत्य में प्रवृत्ति-निवृत्ति का ज्ञान इन्द्रियों में संभव नहीं है, यह ज्ञान तो मन में ही संभव है, अतः इन्द्रियाँ मन के ही अधीन होती है, इसीलिए मन को विवेकयुक्त कहा है । यदि मन ही प्रतिकूल विषयों में प्रवृत्त होगा तो वह इन्द्रिय-निग्रह कर ही नहीं सकता, इसीलिए प्रथम अर्थ में मन के साथ (मनसा सह) इन्द्रियों को प्रतिकूल विषयों से हटाना कहा है । द्वितीय अर्थ में मन विवेकी है, अतः वह प्रतिकूल विषयों में प्रवृत्त ही नहीं होगा, अनुकूल विषयों में ही प्रवृत्त होगा, उसका नियन्त्रण करना व्यर्थ है, अतः उससे (मनसा) इन्द्रियों का निग्रह करना उचित ही है । इसलिए उभयार्थाभिधान उचित ही है ।

श्रौतं स्मार्तं च नित्यमिति प्रसिद्धं कुरु । कुर्विति मध्यमपुरुषप्रयोगेणैव त्वमिति लब्धे त्वमिति पदमर्थान्तरे संक्रमितम् ।

25 कस्मादशुद्धान्तःकरणेन कर्मैव कर्तव्यं हि यस्मादकर्मणोऽकरणात्कर्मैव ज्यायः प्रशस्यतरम् । न केवलं कर्माभावे तवान्तःकरणशुद्धिरेव न सिध्येत् । किं तु अकर्मणो युद्धादिकर्मरहितस्य ते तव शरीरयात्रा शरीरस्थितिरपि न प्रकर्षेण क्षात्रवृत्तिकृतत्वलक्षणेन सिध्येत् । तथा च प्रागुक्तम् । अपि चेत्यन्तःकरणशुद्धिसमुच्चयार्थः ॥ 8 ॥

26 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतेः सर्वं कर्म बन्धात्मकत्वान्मुमुक्षुणा न कर्तव्यमिति मत्वा तस्योत्तरमाह –

श्रौत और स्मार्त नित्यकर्म[9] करो । 'कुरु' -- इस मध्यमपुरुष की क्रिया के प्रयोग से ही उसका कर्ता 'त्वम्' प्राप्त हो जाता है, फिर भी श्लोक में 'त्वम्' पद का प्रयोग किया गया है, कारण कि वह 'त्वम्' पद यहाँ अर्थान्तर में संक्रमित है[10] -- 'त्वं प्रागननुष्ठितशुद्धिहेतुकर्मा' ।

25 अशुद्ध अन्तःकरणवाले को कर्म ही क्यों करना चाहिए, क्योंकि अकर्म = कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही ज्याय = प्रशस्यतर = श्रेष्ठतर है । कर्म न करने से न केवल तुम्हारे अन्तःकरण की शुद्धि ही नहीं होगी, अपितु अकर्मी अर्थात् युद्धादि कर्म से रहित होने से तुम्हारी शरीरयात्रा = शरीर की स्थिति भी प्रसिद्ध = प्र--प्रकर्ष से = क्षात्रवृत्ति के कृतत्वरूप से सिद्ध नहीं होगी । इसीप्रकार पहले भी कहा जा चुका है । 'अपि च' -- यह शब्द अन्तःकरण की शुद्धि के साथ समुच्चय करने के लिए है ॥ 18 ॥

26 ''कर्मणा बध्यते जन्तुः' = 'कर्म करने से प्राणी बन्धन को प्राप्त होता है' -- इस स्मृति से स्पष्ट है कि समस्त कर्म बन्धनात्मक हैं, अतः मुमुक्षु को कर्म नहीं करना चाहिए' -- ऐसा अर्जुन की ओर से मानकर भगवान् उसका उत्तर देते हैं --

---

9. 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' (अर्थसंग्रह) = वेद के उस भाग को 'विधि' कहते हैं जो लौकिक प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले पदार्थ = प्रधान क्रिया, अङ्गक्रिया, द्रव्य, क्रम अधिकार आदि का विधान करती है । उदाहरण के लिए – 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' – यह वाक्य ' विधि' है, क्योंकि यह स्वर्ग प्राप्त कराने वाले 'अग्निहोत्र' नामक योग के अनुष्ठान का विधान करता है । ऐसे कर्मविधायक वाक्य के उद्देश्य में फल का सम्बन्ध नियम से रहता है, अतः यह ' काम्य-कर्म' विधायक वाक्य है । जिस कर्मविधायकवाक्य के उद्देश्यांश में फल के सम्बन्ध का अभाव नियत रहता है, वह 'नित्यकर्मविधायकवाक्य होता है, उदाहरण के लिए – 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि । यहाँ शुचिविहितकालजीवित्व के उद्देश्य से नित्यकर्म-सन्ध्या का विधान है, अतः उद्देश्यांश में फल के सम्बन्ध का अभाव होने से वही नियतवाक्य है, फलतः विहित सन्ध्या 'नित्यकर्म' है, यह श्रौत नित्यकर्म है । पञ्चमहायज्ञादि जो कर्म हैं वे स्मृतिप्रोक्त नित्यकर्म होने से स्मार्त 'नित्यकर्म' हैं ।

10. 'वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्' (काव्यप्रकाश) = कहीं वाच्य अनुपयुक्त होने से अर्थान्तर में परिणत हो जाता है, उसे 'अर्थान्तरसंक्रमित' कहते हैं । जैसे – 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' – यह भगवान् राम का वाक्य है । राम वर्षाकाल में समुन्नत मेघमाला को आकाश में देख कर अपने हृदयस्थ भाव से विभोर होकर कहते हैं -- 'मैं तो कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूंगा' । यहाँ 'अस्मि सहे' इत्यादि शब्दों से ही राम का बोध सिद्ध हो जाता है, किन्तु 'राम' शब्द का प्रयोग अत्यन्त दुःखसहिष्णुस्वरूप अर्थान्तर में संक्रमित है । इसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में 'कुरु' – इस मध्यमपुरुष की क्रिया के प्रयोग से ही उसका कर्त्ता 'त्वम्' प्राप्त हो जाता है, किन्तु श्लोक में 'त्वम्' पद का प्रयोग अर्थान्तर में संक्रमित है अर्थात् 'त्वम्' पद का प्रयोग अर्थान्तरबोधनार्थ है – भगवान् कहते हैं कि अन्यों को असुलभ सकल कल्याणभाजन प्रिय शिष्य 'तुम' ही हो, इसलिए तुमसे ही मैं यह शास्त्ररहस्य कह रहा हूँ । इसप्रकार यहाँ 'त्वम्' पद का प्रयोग प्रियशिष्यस्वरूप अर्थान्तर में संक्रमित है ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।। 9 ।।

27 **यज्ञः परमेश्वरः 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः तदाराधनार्थं यत्क्रियते कर्म तद्यज्ञार्थं तस्मात्कर्मणोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्माधिकारी कर्मबन्धनः कर्मणा बध्यते न त्वीश्वराराधनार्थेन । अतस्तदर्थं यज्ञार्थं कर्म हे कौन्तेय त्वं कर्मण्यधिकृतो मुक्तसङ्गः सन्समाचर सम्यक्श्रद्धादिपुरःसरमाचर ।। 9 ।।**

28 **प्रजापतिवचनादप्यधिकृतेन कर्म कर्तव्यमित्याह सहयज्ञा इत्यादिचतुर्भिः--**

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। 10 ।।

29 **सह यज्ञेन विहितकर्मकलापेन वर्तन्त इति सहयज्ञाः समाधिकृता इति यावत् 'वोपसर्जनस्य'**

[हे कौन्तेय ! यज्ञ = परमेश्वर के लिए किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला यह कर्माधिकारी कर्मबन्धन में पड़ता है; अतः तुम आसक्ति छोड़कर परमेश्वर की आराधना के लिए सम्यक् प्रकार से कर्म का आचरण करो ।। 9 ।।]

27 'यज्ञो वै विष्णुः' = 'यज्ञ विष्णु ही है' -- इस श्रुति के अनुसार यज्ञ का अर्थ परमेश्वर है । उस परमेश्वर की आराधना के लिए जो कर्म किया जाता है वह यज्ञार्थ होता है । उस यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म में प्रवृत्त हुआ यह लोक = कर्माधिकारी कर्मबन्धन में पड़ता है = कर्म से बँधता है[11], ईश्वर की आराधना के लिए किए जाने वाले कर्म से नहीं । अतः हे कौन्तेय ! तुम कर्म में अधिकृत हो, आसक्ति छोड़कर तदर्थ = यज्ञार्थ = परमेश्वर की आराधना के लिए कर्म का समाचरण = सम्यक् प्रकार से श्रद्धापूर्वक आचरण करो ।। 9 ।।

28 प्रजापति के वचनानुसार भी कर्माधिकारी को कर्म करना चाहिए -- यह 'सहयज्ञाः' इत्यादि चार श्लोकों से कहते हैं --

[पुरा = सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजाओं की सृष्टि करके कहा कि इस यज्ञ के अनुष्ठान से अर्थात् स्वाश्रमोचित धर्मों के अनुष्ठान से तुम्हारी उत्तरोत्तर वृद्धि होगी, इसे तुम इष्टफल प्रदान करनेवाली कामधेनु समझो ।। 10 ।।]

29 जो यज्ञ अर्थात् विहितकर्मकलाप के साथ रहते हैं, उनको 'सहयज्ञ[12]' कहते हैं अर्थात् समाधिकृत = यज्ञादि कर्मों में अधिकृत -- अधिकारी कहते हैं । 'वोपसर्जनस्य' (पाणिनिसूत्र, 6.3.82) ='बहु-

11. श्लोक के 'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' -- इस अंश का अर्थ मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ तथा श्रीधर ने किया है -- 'अन्यत्र = कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्मबन्धनः = कर्मणा बध्यते' । आचार्य धनपति के अनुसार मधुसूदन सरस्वती कृत यह अर्थ उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अर्थ में ' प्रवृत्त' पद का प्रयोग होने से अध्याहार दोष है, कर्म में 'ल्युट्' प्रत्यय करना व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध है, तथा 'कर्मबन्धनः' – पद में बहुव्रीहि समास न करने से पुल्लिंग का प्रयोग नहीं हो सकता । वस्तुतः मधुसूदन सरस्वती कृत अर्थ भाष्य के विरुद्ध है, क्योंकि भाष्यकार शंकर ने उद्धृत श्लोकांश का अर्थ किया है -- 'अन्यत्र = अन्येन कर्मणा लोकोऽयमधिकृतः कर्मकृत् कर्मबन्धनः कर्म बन्धनं यस्य सोऽयं कर्मबन्धनो लोको' अर्थात् शंकर के अनुसार 'कर्मबन्धनः' पद में बहुव्रीहि समास है, तदनुसार पुल्लिंग भी उचित है, तदनुसार ही 'बन्धन' पद भाव अर्थ में ल्युडन्त है जो शास्त्रसिद्ध है । फलतः भाष्यकारकृत अर्थ ही यहाँ ग्राह्य है, अन्य नहीं ।

इति पक्षे सादेशाभावः । प्रजास्त्रीन्वर्णान्पुरा कल्पादौ सृष्ट्वोवाच प्रजानां पतिः स्रष्टा । किमुवाचेत्याह--अनेन यज्ञेन स्वाश्रमोचितधर्मेण प्रसविष्यध्वं प्रसूयध्वम् । प्रसवो वृद्धिः । उत्तरोत्तरामभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । कथमनेन वृद्धिः स्यादत आह--एष यज्ञाख्यो धर्मो वो युष्माकमिष्टकामधुक्, इष्टानभिमतान्कामान्काम्यानि फलानि दोग्धि प्रापयतीति तथा । अभीष्टभोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः ।

30 अत्र यद्यपि यज्ञग्रहणमावश्यककर्मोपलक्षणार्थमकरणे प्रत्यवायस्याग्रे कथनात् । काम्यकर्मणां च प्रकृते प्रस्तावो नास्त्येव 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' इत्यनेन निराकृतत्वात्, तथाऽपि नित्यकर्मणामप्यानुषङ्गिकफलसद्भावात्, 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' इत्युपपद्यते । तथा चाऽऽपस्तम्बः स्मरति--'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति' इति । फलसद्भावेऽपि तदभिसंध्यनभिसंधिभ्यां काम्यनित्ययोर्विशेषः । अनभिसंहितस्यापि वस्तुस्वभावादुत्पत्तौ न विशेषः । विस्तरेण चाग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ 10 ॥

व्रीहि के अवयव 'सह' के स्थान में 'स' आदेश विकल्प से हो' -- इस सूत्र के अनुसार पक्ष में 'सह' को 'स' आदेश नहीं हुआ है । पुरा = कल्प के आरम्भ में प्रजाओं के पति = प्रजापति = स्रष्टा ने प्रजा अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य -- इन तीन वर्णों की सृष्टि करके कहा । क्या कहा ? वह कहते हैं -- 'इस यज्ञ से अर्थात् स्वाश्रमोचित धर्म से तुम प्रसूत होओ - प्रसव = वृद्धि अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करो' । इस यज्ञ से वृद्धि कैसे होगी ? अतः कहते हैं -- 'यह यज्ञनामक धर्म तुम्हारे लिए इष्टकामधुक् हो = जो इष्ट अर्थात् अभिमत काम = काम्य फलों का दोहन करता है = इष्ट काम्य फलों को प्राप्त कराता है ऐसा वह इष्टकामधुक् हो अर्थात् अभीष्ट भोग प्रदान करनेवाला हो' ।

30 यहाँ यद्यपि 'यज्ञ' शब्द का ग्रहण आवश्यक कर्मों के उपलक्षण के लिए किया है, क्योंकि उनका अनुष्ठान न करने पर आगे प्रत्यवाय कहा गया है तथा प्रकृत में काम्य कर्मों का कोई प्रस्ताव ही नहीं है, क्योंकि 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (गीता, 2.47) -- इस वाक्य से काम्यकर्म का निराकरण किया गया है, तथापि नित्यकर्मों में भी आनुषङ्गिकरूप से फल रहता ही है, इसलिए 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' = यह तुम्हारे लिए इष्ट फल देने वाला हो' -- यह कथन उचित ही है । इसीप्रकार आपस्तम्ब भी अपनी स्मृति में कहते हैं -- 'जिस प्रकार फल के लिए लगाये हुए आम के वृक्ष से छाया और गन्ध उत्पन्न होते ही हैं, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर अर्थ भी प्राप्त हो अथवा न हो उससे धर्म की कोई हानि नहीं होती' । कर्मों में फल विद्यमान रहने पर भी उस फल की इच्छा होने और इच्छा न होने से काम्य और नित्य कर्मों में भेद हो जाता है । इच्छा न होने पर भी वस्तु के स्वभाव से यदि फल की उत्पत्ति हो जाय तो इससे कर्म में कोई भेद नहीं होता । यह विस्तारपूर्वक आगे प्रतिपादित किया जायेगा ॥ 10 ॥

---

12. 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (पाणिनिसूत्र, 2.2.28) इस सूत्र के अनुसार 'तुल्ययोग' में 'सह' अव्यय का तृतीयान्त शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होता है । किन्तु कहीं कहीं 'तुल्ययोग' न होने पर भी 'सह' शब्द का तृतीयान्त शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होता है । सूत्र में 'तुल्ययोग' वचन प्रायिक = वैकल्पिक है ('तुल्ययोगवचनं प्रायिकम्' --सिद्धान्तकौमुदी) इस कल्पना में सूत्रस्थ 'इति' पद का समावेश होना ही प्रमाण है । इसप्रकार 'तेन सहेति तुल्ययोगे'-- इस सूत्र की प्रवृत्ति उदाहरणों के अनुसार स्वीकार्य है ('इति' शब्दोपादानात् अस्य सूत्रस्य प्रयोगदर्शनात् प्रवृत्तिरिति भावः – लघुशब्देन्दुशेखरटीका) । अतः 'यज्ञेन सह वर्तन्ते' इति 'सहयज्ञाः' = यहाँ 'विद्यमान यज्ञवाले' अर्थ में 'तेन सहेति तुल्योगे' -- सूत्र से समास हुआ है । इस समास में 'वोपसर्जनस्य (पाणिनि सूत्र, 6.3.82) -- सूत्र से 'सह' को 'स' विकल्प से होता है । फलतः 'सयज्ञाः', 'सहयज्ञाः' – ये दोनों प्रयोग साधु हैं ।

31 कथमिष्टकामदोग्धृत्वं यज्ञस्येति तदाह–

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ 11 ॥

32 अनेन यज्ञेन यूयं यजमाना देवानिन्द्रादीन्भावयत हविर्भागैः संवर्धयत तर्पयतेत्यर्थः । ते देवा युष्माभिर्भाविताः सन्तो वो युष्मान्भावयन्तु वृष्ट्यादिनाऽन्नोत्पत्तिद्वारेण संवर्धयन्तु एवमन्योन्यं संवर्धयन्तो देवाश्च यूयं च परं श्रेयोऽभिमतमर्थं प्राप्स्यथ देवास्तृप्तिं प्राप्स्यन्ति यूयं च स्वर्गाख्यं परं श्रेयः प्राप्स्यथेत्यर्थः ॥ 11 ॥

33 न केवलं पारत्रिकमेव फलं यज्ञात्, किं त्वैहिकमपीत्याह–

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ 12 ॥

34 अभिलषितान्भोगान्पश्वन्नहिरण्यादीन्वो युष्मभ्यं देवा दास्यन्ते वितरिष्यन्ति । हि यस्माद्यज्ञैर्भावितास्तोषितास्ते । यस्मात्तैऋणवद्भवद्भ्यो दत्ता भोगास्तस्मात्तैर्देवैर्दत्तान्भोगानेभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय यज्ञेषु देवोद्देशेनाऽऽहुतीरसंपाद्य यो भुङ्क्ते देहेन्द्रियाण्येव तर्पयति स्तेन एव तस्कर एव स देवस्वापहारी देवर्णानपाकरणात् ॥ 12 ॥

---

31 यज्ञ इष्टकामधुक् कैसे होता है -- यह कहते हैं --
[इस यज्ञ से तुम देवताओं को तृप्त करो और वे देवता तुमको तृप्त करेंगे । इस प्रकार परस्पर तृप्त करते हुए तुम परम श्रेय = कल्याण को प्राप्त करोगे ।। 11 ।।]

32 इस यज्ञ से यजन करते हुए तुम इन्द्रादि देवताओं को भावित करो = हविर्भाग से संवर्धित करो अर्थात् तृप्त करो । तुम्हारे द्वारा भावित - तृप्त किये हुए वे देवता तुमको भावित करें = वृष्टि आदि से अन्नोत्पत्ति के द्वारा संवर्धित करें -- तृप्त करें । इसप्रकार एक-दूसरे का संवर्धन करते हुए देवता और तुम परम श्रेय = अपना अभिमत -- अभीष्ट अर्थ प्राप्त करोगे अर्थात् देवता तृप्ति को प्राप्त होंगे और तुम स्वर्ग नामक परम श्रेय को प्राप्त करोगे ।। 11 ।।

33 यज्ञ से न केवल पारलौकिक ही फल प्राप्त होता है, अपितु ऐहिक फल की भी प्राप्ति होती है -- यह कहते हैं --
[यज्ञ से भावित-तृप्त देवता तुमको इष्ट-अभिलषित भोग देंगे । देवताओं द्वारा दिये गए भोगों को उन्हें समर्पण किये बिना जो पुरुष स्वयं भोगता है वह चोर ही है ।। 12 ।।]

34 देवता तुमको पशु, अन्न, हिरण्य आदि अभिलषित भोग देंगे, हि = यस्मात् = क्योंकि वे तुम्हारे यज्ञों से भावित-तोषित-सन्तुष्ट हैं । क्योंकि उन्होंने तुमको ऋण की भांति भोग दिये हैं, इसलिए उन देवताओं के द्वारा दिये गए भोंगो को उन देवताओं को दिये बिना = यज्ञों में देवताओं के उद्देश्य से आहुति प्रदान किये बिना जो पुरुष स्वयं भोगता है -- अपने देह और इन्द्रियों को ही तृप्त करता है वह देवताओं के ऋण का शोधन न करने के कारण स्तेन -- तस्कर-चोर अर्थात् देवताओं के धन का अपहरण करनेवाला ही है ।। 12 ।।

35 ये तु--

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ 13 ॥

36 **वैश्वदेवादियज्ञावशिष्टममृतं येऽश्नन्ति ते सन्तः शिष्टा वेदोक्तकारित्वेन देवाद्यृणापाकरणात् । अतस्ते मुच्यन्ते सर्वैर्विहिताकरणमिमित्तैः पूर्वकृतैश्च पञ्चसूनानिमित्तैः किल्बिषैः । भूतभाविपातकासंसर्गिणस्ते भवन्तीत्यर्थः ।**

37 **एवमन्वये भूतभाविपापाभावामुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह--भुञ्जते ते वैश्वदेवाद्यकारिणोऽघं पापमेव । तुशब्दोऽवधारणे । ये पापाः पञ्चसूनानिमित्तं प्रमादकृतहिंसानिमित्तं च कृतपापाः सन्त आत्मकारणादेव पचन्ति न तु वैश्वदेवाद्यर्थम् । तथा च पञ्चसूनादिकृतपापे विद्यमान एव वैश्वदेवादिनित्यकर्माकरणनिमित्तमपरं पापमाप्नुवन्तीति 'भुञ्जते ते त्वघं पापा इत्युक्तम् । तथा च स्मृतिः--**

---

35 किन्तु जो --
[जो वैश्वदेवादि यज्ञ से अवशिष्ट अन्न खानेवाले हैं, वे सत्पुरुष समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं; किन्तु जो अपने ही लिए अन्न -पाक करते हैं, वे पापा:[13] = पापी पुरुष तो अघ[14] = पाप का ही भोग करतें हैं ॥ 13 ॥]

36 जो वैश्वदेवादि यज्ञ से अवशिष्ट अमृत भोजन करते हैं, वे सन्त = शिष्ट पुरुष हैं, क्योंकि वेदोक्त कर्म करनेवाले होने से उन्होंने देवादि के ऋण चुका दिए हैं । अत: वे सम्पूर्ण अर्थात् विहित कर्मों के न करने से होनेवाले और पञ्चसूना = पाँच प्रकार की हिंसाओं से पहले किये हुए पापों से मुक्त हो जाते हैं । भावार्थ यह है कि वे भूत और भावी -- सभी पापों के संसर्ग से शून्य हो जाते हैं ।

37 इस प्रकार अन्वयमुख से भूत और भावी पापों का अभाव कहकर व्यतिरेकमुख से दोष कहते हैं -- वे वैश्वदेवादि यज्ञों को न करनेवाले पुरुष अघ = पाप को ही भोगते हैं । यहाँ 'तु' शब्द अवधारणार्थक = निश्चयार्थक है । जो पापी पुरुष पञ्चसूना = पाँच प्रकार की हिंसाओं से और प्रमादजनित हिंसाओं से होने वाले पाप किये होने पर भी अपने ही लिए अन्न पकाते है, न कि वैश्वदेवादि के लिए तो वे इसप्रकार पञ्चसूनादि से होने वाले पाप के विद्यमान रहते हुए भी वैश्वदेवादि नित्यकर्मों के न करने से होने वाले दूसरे पाप को प्राप्त करते हैं -- यह 'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' इससे कहा है ।

---

13. 'अस्त्री पङ्कं पुमान्पाप्मा पापं किल्बिषकल्मषम् । कलुषं वृजिनैनोघमंहोदुरितदुष्कृतम् ।' (अमरकोष, 1.4.23) -- अमरकोष के अनुसार 'पाप' के बारह नाम है, जिनमें 'पाप' शब्द नपुंसक लिङ्ग है । किन्तु प्रकृत में 'पाप' शब्द पापीपरक है, अत: यहाँ 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पाणिनिसूत्र, 5.2.127) -- इस सूत्र के अनुसार प्रथमान्त 'पापम्' शब्द से मत्वर्थ में 'अच्' प्रत्यय होकर 'पाप:' (पापानि सन्ति अस्य) यह अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द प्रयुक्त हुआ है । यह औपचारिक प्रयोग है ।

14. 'अघं भुञ्जते' = 'अघ = पाप का उपभोग करता है ' -- इस वाक्य में 'अघ' शब्द औपचारिक है । जो केवल अपने लिए अन्न-पाक करता है, उस भोजन से पाप होता है (अघं स केवलं भुङ्क्ते य: पचत्यात्मकारणात् - मनुस्मृति, 3.118), अत: यहाँ पापपरक भोजन को अघ = पाप कहा है । फलत: 'अघं भुञ्जते ' इस वाक्य का 'अघ = पाप = पापपरक भोजन का उपभोग करता है' -- यह अभिप्राय है ।

'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी ।
पञ्च सूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति ॥' इति ।

'पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति' इति च । श्रुतिश्च--'इदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते । स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत्' इति । मन्त्रवर्णोऽपि –

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥' इति ।

इदं चोपलक्षणं पञ्चमहायज्ञानां स्मार्तानां श्रौतानां च नित्यकर्मणाम् । अधिकृतेन नित्यानि कर्माण्यवश्यमनुष्ठेयानीति प्रजापतिवचनार्थः ॥ 13 ॥

38 न केवलं प्रजापतिवचनादेव कर्म कर्तव्यमपि तु जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपीत्याह--अन्नादिति त्रिभिः--

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ 14 ॥

इसीप्रकार स्मृति भी कहती है --

'ओखली-मूसल, चक्की, चूल्हा, जल का घट और मार्जनी -- ये गृहस्थ के लिए पञ्चसूना = पाँच जीवहिंसा के स्थान हैं, इन्हीं के कारण वह स्वर्ग प्राप्त नहीं कर पाता'।[15] फिर स्मृति कहती है -- 'पञ्चसूनाकृत पाप को वह पञ्चयज्ञों[16] से दूर कर सकता है' । और श्रुति कहती है -- 'जो कुछ खाया जाता है वह सब कुछ ही समस्त भोक्ताओं का = चींटी तक समस्त प्राणियों का साधारण = सर्वोपभोग्य अन्न है । जो इसकी उपासना करता है अर्थात् केवल अपने लिए ही इन अन्नों का व्यवहार करता है वह पाप से निवृत्त नहीं हो सकता है क्योंकि यह मिश्र है अर्थात् वह अन्न सभी का साधारण है' (बृह० उ०, 9.4.10) । मन्त्रवर्ण = वेद भी कहता है –

'यह अप्रचेता = अविद्वान् = हृदयहीन व्यक्ति जो पापमय अन्न ग्रहण करता है, सत्य कहता हूँ, वह उसका वध ही है । वह न तो अर्यमा का पोषण करता है और न मित्र का, अकेला भोजन करने वाला तो केवल पापी ही होता है' (ऋग्वेद, 10.129.5) । यह कथन पञ्च महायज्ञ तथा स्मार्त और श्रौत नित्यकर्मों का उपलक्षण है । कर्माधिकारी को नित्यकर्मों का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए -- यह प्रजापति के वचन का अभिप्राय है ॥ 13 ॥

38 न केवल प्रजापति के वचन से ही कर्म कर्तव्य है, अपितु संसारचक्र की प्रवृत्ति का कारण होने से भी कर्म अवश्यकर्त्तव्य है -- यह 'अन्नाद्' इत्यादि तीन श्लोकों से कहते हैं –

[अन्न से प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं, वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यज्ञ से वृष्टि होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ॥ 14 ॥]

---

15. 'पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ (मनुस्मृति, 3.68)

'गृहस्थ के लिए चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली-मूसल और जल का घट – ये पाँच पाप के स्थान हैं; इन्हें व्यवहृत करता हुआ गृहस्थ पाप से बंधता है ।'

16. ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ – ये पाँच महायज्ञ हैं । वेद का अध्ययन और अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, अतिथियों का सत्कार करना 'मनुष्ययज्ञ' है तथा बलिवैश्वदेव करना 'भूतयज्ञ, है (मनुस्मृति, 3.70) ।

39 **अन्नाद्भुक्ताद्रेतोलोहितरूपेण परिणताद्भूतानि प्राणिशरीराणि भवन्ति जायन्ते । अन्नस्य संभवो जन्मान्नसम्भवः पर्जन्याद्वृष्टेः । प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् । अत्र कर्मोपयोगमाह—यज्ञात्कारीयदिरग्निहोत्रादेश्चापूर्वाख्याद्धर्माद्भवति पर्जन्यः । यथा चाग्निहोत्राहुतेर्वृष्टिजनकत्वं तथा व्याख्यातमष्टाध्यायीकाण्डे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादरूपायां षट्प्रश्न्याम् । मनुना चोक्तम्—**

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इति ।

स च यज्ञो धर्माख्यः सूक्ष्मः कर्मसमुद्भव ऋत्विग्यजमानव्यापारसाध्यः । यज्ञस्य हि अपूर्वस्य विहितं कर्म कारणम् ॥ 14 ॥

40 **तच्चापूर्वोत्पादकम् –**

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ 15 ॥

41 **ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म वेदः स एवोद्भवः प्रमाणं यस्य तत्तथा । वेदविहितमेव कर्मापूर्वसाधनं जानीहि । न त्वन्यत्पाषण्डप्रतिपादितमित्यर्थः । ननु पाषण्डशास्त्रापेक्षया वेदस्य किं वैलक्षण्यं यतो वेदप्रति–**

39 वीर्य और रज के रूप में परिणत भुक्त अन्न से भूत = प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं । अन्न का संभव = जन्म अन्नसंभव है वह पर्जन्य = वृष्टि से होता है । यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है । इसमें कर्म का उपयोग कहते हैं -- कारीरी[17] आदि और अग्निहोत्रादि यज्ञ से अपूर्व नामक धर्म के द्वारा पर्जन्य होता है । अग्निहोत्र की आहुति जिसप्रकार वृष्टिजनक होती है उसका क्रम अष्टाध्यायी-काण्ड[18] में जनक-याज्ञवल्क्यसंवादरूप छः प्रश्नों में दिया है । मनु ने भी कहा है– 'अग्नि में विधिपूर्वक छोड़ी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त करती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है' (मनुस्मृति, 3.76) ।

वह धर्मनामक सूक्ष्म अपूर्वरूप यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है अर्थात् वह यज्ञ यजमान और ऋत्विज के व्यापार से सिद्ध होता है, क्योंकि अपूर्वरूप यज्ञ का कारण विहित कर्म ही है ॥ 14 ॥

40 यज्ञकारणीभूत कर्म अपूर्वोत्पादक है -- यह कहते हैं --

[कर्म को तुम ब्रह्म-वेद से प्रमाणित जानो और वेद अक्षर-अविनाशी परमात्मा से आविर्भूत हुआ है । अतः सर्वप्रकाशक और अविनाशी वेद यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥ 15 ॥]

41 ब्रह्मोद्भव = ब्रह्म अर्थात् वेद ही है उद्भव = प्रमाण जिसका ऐसे कर्म को अर्थात् वेदविहित ही कर्म को अपूर्व का साधन जानो, अन्य पाखण्डशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म को नहीं -- यह तात्पर्य है[19] । यदि कहो कि पाखण्डशास्त्रों की अपेक्षा वेद की क्या विलक्षणता है जिससे वेदप्रतिपादित

17. 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' = 'वृष्टि की कामना करने वाला कारीरी याग करे' – इस श्रुति से सूखते हुए धानों के समुज्जीवनार्थ 'कारीरी' याग का विधान है । अतः 'कारीरी' याग से अपूर्व की उत्पत्ति होती है, अपूर्वधर्म से मेघ होते हैं, ततः वृष्टि होती है ।

18. यहाँ अष्टाध्यायी-काण्ड से तात्पर्य है -- 'अष्टानामध्यायानां समाहारः' – अष्टाध्यायी बृहदारण्यक उपनिषद् । इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से छः प्रश्न किए हैं और उन सभी प्रश्नों का उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्य ने दिया है । यह जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद रूप है ।

पादित एव धर्मो नान्य इत्यत आह--ब्रह्म वेदाख्यमक्षरसमुद्भवमक्षरात्परमात्मनो निर्दोषात्पुरुष-निश्वासन्यायेनाबुद्धिपूर्वं समुद्भव आविर्भावो यस्य तदक्षरसमुद्भवम् । तथा चापौरुषेयत्वेन निरस्तसमस्तदोषाशङ्कं वेदवाक्यं प्रमितिजनकतया प्रमाणमतीन्द्रियेऽर्थे न तु भ्रमप्रमाद-करणापाटवविप्रलिप्सादिदोषवत्प्रणीतं पाखण्डवाक्यं प्रमितिजनकमिति भावः। तथा च श्रुतिः--अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवेतानि निःश्वसितानि' इति।

42 **तस्मात्साक्षात्परमात्मसमुद्भवतया सर्वगतं सर्वप्रकाशकं नित्यमविनाशि च ब्रह्मवेदाख्यं यज्ञे धर्मा--**

ही धर्म है, अन्य नहीं, तो कहते हैं -- वेदाख्य ब्रह्म अक्षरसमुद्भव है । अक्षर = निर्दोष परमात्मा से पुरुषनिःश्वासन्याय [20] द्वारा अबुद्धिपूर्वक है समुद्भव = आविर्भाव जिसका वह अक्षरसमुद्भव है । इसप्रकार भाव यह है कि अपौरुषेय होने के कारण जिसमें वाक्यार्थप्रमितिप्रतिबन्धक समस्त दोषों की आशङ्का निरस्त है वह वेदवाक्य ही स्वार्थप्रमितिजनक[21] होने से अतीन्द्रिय विषय में प्रमाण है, किन्तु भ्रम[22], प्रमाद[23], इन्द्रियों में अपटुता -- विषयग्रहण में पूर्ण सामर्थ्याभाव, विप्रलिप्सा = ठगने की इच्छा--धोखा देने की इच्छा इत्यादि दोषों वाले व्यक्तियों द्वारा प्रणीत पाखण्डवाक्य प्रमितिजनक नहीं होता, अतएव वह अतीन्द्रिय विषय में प्रमाण नहीं है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- **'यह जो** ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं इस महान् भूत = परमात्मा के निःश्वास हैं --- ये इसी के निःश्वास **हैं' (बृह० उ०,** 2.4.10) ।

42 अतः साक्षात् परमात्मा से समुत्पन्न होने के कारण यह सर्वगत = सर्वप्रकाशक और नित्य = अविनाशी वेदाख्य ब्रह्म तात्पर्य से = तात्पर्यविषयत्वसम्बन्ध[24] से अतीन्द्रिय धर्मनामक यज्ञ में प्रतिष्ठित

19. भाव यह है कि श्रुतिप्रमाणक कर्मों को ही अपूर्व का साधन समझना चाहिए । इनके अन्तर्गत स्मार्त कर्मों का भी संग्रह हो जाता है । यद्यपि सभी स्मार्त कर्म श्रुतियों में उपलब्ध नहीं होते, इसलिए उसको श्रुतिप्रमाणक नहीं कह सकते; तथापि स्मृतियों में उनके विधान से यह अनुमान किया जाता है कि ये स्मार्तकर्म श्रुतिप्रमाणसिद्ध हैं, क्योंकि 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जैमिनिसूत्र, 1.3.3) = 'श्रुति से विरोध होने पर स्मृति अनपेक्ष = अप्रमाण त्याज्य होती है, विरोध नहीं रहने पर उसके मूलरूप श्रुति का अनुमान होता है' -- इस मीमांसा सूत्र के अनुसार श्रुतिविरुद्ध स्मार्तकर्म त्याज्य हैं, जिनमें न विरोध है, न उसकी विधि ही है, उनके विषय में यह अनुमान किया जाता है कि तद्विषयक श्रुति अवश्य है । यदि वह श्रुति उपलभ्यमांन शाखा में प्राप्त नहीं होती तो अनुपलभ्यान शाखा में अवश्य होगी । निष्कर्षतः स्मार्तकर्म श्रुतिप्रमाणक हैं ।

20. पुरुषनिश्वासन्याय = पुरुष की श्वास-प्रश्वासप्रक्रिया का न्याय । जब कोई सुप्तपुरुष श्वास-प्रश्वासप्रक्रिया करता है तो उस समय उसको यह बुद्धि नहीं होती कि मैं श्वास अन्दर खींचूँ, बाहर करूँ; वह श्वास-प्रश्वासप्रक्रिया स्वतः ही अबुद्धिपूर्वक चलती रहती है । सुषुप्तिदशा में भी श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया निरन्तर अबुद्धिपूर्वक चलती रहती है । अतः यह पुरुषनिश्वासन्याय उस समय प्रयुक्त किया जाता है जब कोई क्रिया अबुद्धिपूर्वक की जाय । जैसा कि प्रकृत प्रसंग में वेदों का अविर्भाव ईश्वर से पुरुषनिश्वासन्यायेन अबुद्धिपूर्वक हुआ है ।

21. प्रमिति प्रमा है । प्रमा अनधिगत और अबाधित विषय के ज्ञान को कहते हैं (अनधिगताबाधित-विषयज्ञानत्वम् प्रमात्वम् -- वेदान्त परिभाषा) ।

22. अतस्मिंस्तद्बुद्धि 'भ्रम' है ।

23. अनवधानता - असावधानी - अन्तःकरण की दुर्बलता 'प्रमाद' है । विषयान्तर में चित्त को व्यावृत करना 'प्रमाद' है ।

24. यहाँ यह शंका की जा सकती है कि धर्म वेदान्त-मत के अनुसार मन में रहता है, सांख्य-मतानुसार बुद्धि में रहता है और न्याय-मतानुसार आत्मा में रहता है, अतः धर्म अतीन्द्रिय है, एवंभूत धर्म वेद का अधिकरण कैसे हो सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि सभी वेदों का तात्पर्य 'तात्पर्यवृत्ति' से धर्म में रहता है, अतः तात्पर्यविषयत्वसम्बन्ध से वेद धर्म में है, वेदमूलक धर्म है ।

ख्येऽतीन्द्रिये प्रतिष्ठितं तात्पर्येण । अतः पाषण्डप्रतिपादितोपधर्मपरित्यागेन वेदबोधित एव धर्मोऽनुष्ठेय इत्यर्थः ॥ 15 ॥

43 **भवत्वेवं ततः किं फलितमित्याह –**

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ 16 ॥

44 **परमेश्वरात्सर्वावभासकनित्यनिर्दोषवेदाविर्भावः । ततः कर्मपरिज्ञानं ततोऽनुष्ठानाद्धर्मोत्पादः । ततः पर्जन्यस्ततोऽन्नं ततो भूतानि पुनस्तथैव भूतानां कर्मप्रवृत्तिरित्येवं परमेश्वरेण प्रवर्तितं चक्रं सर्वजगन्निर्वाहकं यो नानुवर्तयति नानुतिष्ठति सोऽघायुः पापजीवनो मोघं व्यर्थमेव जीवति हे पार्थ तस्य जीवनान्मरणमेव वरं जन्मान्तरे धर्मानुष्ठानसम्भवादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः– 'अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः' इति ।**

45 **ब्रह्मविदं व्यावर्तयति–इन्द्रियाराम इति । यत इन्द्रियैर्विषयेष्वारमति अतः कर्माधिकारी संस्तदकरणात्पापमेवाऽऽचिन्वन्व्यर्थमेव जीवतीत्यभिप्रायः ॥ 16 ॥**

है । अतः अभिप्राय यह है कि पाखण्डप्रतिपादित उपधर्म का परित्याग कर वेदबोधित = वेदोक्त ही धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ 15 ॥

43 अच्छा, ऐसा ही सही -- 'वेद धर्म में प्रतिष्ठित है', किन्तु इससे प्रकृत में क्या फलित हुआ -- यह कहते हैं --

[परमेश्वर से वेदाविर्भाव, ततः कर्मपरिज्ञान, तदनन्तर उनका अनुष्ठान--इत्यादिरूप से परमेश्वर द्वारा प्रवर्तित इस चक्र का जो अनुवर्तन नहीं करता, हे पार्थ ! वह अघायु = पापजीवन और इन्द्रियाराम पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ 16॥]

44 सर्वप्रथम सर्वावभासक परमेश्वर से नित्य और निर्दोष वेद का आविर्भाव होता है, उससे = वेद से कर्म का ज्ञान होता है, तदनन्तर वेदविहित कर्म के अनुष्ठान से धर्म की उत्पत्ति होती है । धर्म से पर्जन्य = वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है, अन्न से भूत = प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं, पुनः इसीप्रकार प्राणियों की कर्म में प्रवृत्ति होती है -- इसप्रकार परमेश्वर द्वारा प्रवर्तित सम्पूर्ण जगत् के निर्वाहक इस चक्र का जो अनुवर्तन = अनुष्ठान नहीं करता वह अघायु = पापजीवन -- पापमय जीवनवाला मोघ = व्यर्थ ही जीता है । हे पार्थ ! उसके जीवन से तो मरण ही श्रेष्ठ है, क्योंकि जन्मान्तर में तो उससे धर्म का अनुष्ठान सम्भव होगा ही -- यह तात्पर्य है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'यह आत्मा निश्चय ही समस्त प्राणियों का लोक है; यह जो हवन और यज्ञ करता है, उससे देवताओं का लोक होता है; जो अध्ययन करता है, उससे ऋषियों का लोक होता है; पितरों को जो पिण्डदान करता है और प्रजा की इच्छा करता है, उससे पितरों का; मनुष्यों को जो बसाता है और भोजन देता है, उससे मनुष्यों का; पशुओं को जो तृण और जल देता है, उससे पशुओं का तथा उसके घर में जो कुत्ते, पक्षी और चींटी पर्यन्त जीव अपना जीवननिर्वाह करते हैं, उससे उनका लोक होता है' (बृह० उ०, 1.4.16) ।

45 'इन्द्रियाराम' -- इस पद से ब्रह्मविद् को कर्माधिकारी से पृथक् करते हैं, क्योंकि वह इन्द्रियों के

46 यस्त्विन्द्रियारामो न भवति परमार्थदर्शी स एवं जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुभूतं कर्माननुतिष्ठन्नपि न प्रत्यवैति कृतकृत्यत्वादित्याह द्वाभ्याम्--

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥17 ॥

47 इन्द्रियारामो हि स्रक्चन्दनवनितादिषु रतिमनुभवति, मनोज्ञान्नपानादिषु तृप्तिं, पशुपुत्रहिरण्यादिलाभेन रोगाद्यभावेन च तुष्टिम्, उक्तविषयाभावे रागिणामरत्यतृप्त्यतुष्टिदर्शनाद् । रतितृप्तितुष्टयो मनोवृत्तिविशेषाः साक्षिसिद्धाः । लब्धपरमात्मानन्दस्तु द्वैतदर्शनाभावादतिफल्गुत्वाच्च विषयसुखं न कामयत इत्युक्तं 'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र । अतोऽनात्मविषयकरतितृप्तितुष्ट्यभावादात्मानं परमानन्दमद्वयं साक्षात्कुर्वन्नुपचारादेवमुच्यते--आत्मरतिरात्मतृप्त आत्मसन्तुष्ट इति । तथा च श्रुतिः--'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति। आत्मतृप्तश्चेति चकार

द्वारा विषयों में ही रमण करता है, अतः कर्माधिकारी होकर भी उनका आचरण न करने से केवल पाप का ही चयन = संग्रह करने के कारण वह व्यर्थ ही जीता है -- यह अभिप्राय है ॥ 16 ॥

46 जो परमार्थदर्शी इन्द्रियाराम नहीं होता वह इसप्रकार संसारचक्र की प्रवृत्ति के हेतुभूत कर्मों का अनुष्ठान न करने पर भी कृतकृत्य होने के कारण प्रत्यवाय का भागी नहीं होता, - यह दो श्लोकों से कहते हैं -

[जो पुरुष आत्मा में ही रति-प्रीति रखता है, आत्मा में ही तृप्त रहता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है उसके लिए कोई भी कार्य नहीं रहता ॥ 17 ॥]

47 इन्द्रियाराम पुरुष तो माला, चन्दन, वनिता आदि में रति-प्रीति का अनुभव करता है, रुचिकर अन्न-पानादि में तृप्ति का अनुभव करता है और पशु, पुत्र, हिरण्य आदि के लाभ तथा रोगादि के अभाव से सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि उक्त विषयों का अभाव होने पर रागी पुरुषों की अरति, अतृप्ति और अतुष्टि देखी जाती हैं । रति, तृप्ति और तृष्टि -- ये सब मनोवृत्तियाँ विशेष हैं, इनकी सिद्धि -- अनुभूति साक्षी चैतन्य के द्वारा होती है, अतएव ये साक्षिसिद्ध -- साक्ष्यानुभवसिद्ध हैं । जो लब्ध-प्राप्त परमानन्द हैं, वे तो द्वैतदर्शन = द्वैतदृष्टि का अभाव हो जाने के कारण विषयों के तत्त्वहीन हो जाने से -- अत्यन्त तुच्छ हो जाने से विषयसुख की कामना नहीं करते -- यह 'यावानर्थ उदपाने' (गीता, 2.46) इस श्लोक में कह चुके हैं । अतः अद्वय-अद्वैत और परमानन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करनेवाले पुरुष में अनात्मविषयिणी रति, तृप्ति और तुष्टि का अभाव होने के कारण उसको उपचार से ही आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट कहा जाता है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'यह आत्मक्रीड, आत्मरति, और क्रियावान् ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होता है' । 'आत्मतृप्तश्च' ---- यहाँ चकार एवकारार्थ है अथवा एवकार का अनुकर्षण करता है, अन्य 'आत्मरतिरेव' और

---

25. आचार्य शंकर के मतानुसार 'मानव' शब्द का अर्थ 'संन्यासी' है । शंकरानन्द कहते है – ' बहिरन्तश्च सर्वत्र ब्रह्मैव मापयति ग्राहयति मानं प्रत्यग्दर्शनं तदेव सर्वदा वाति भजतीति मानवो ब्रह्मविद् यतिः' = बाहर तथा अन्दर सर्वत्र ब्रह्म को ही जो ग्रहण कराता है उसको मान = प्रत्यग्दर्शन कहते हैं । उस प्रत्यग्दर्शन का ही जो सर्वदा भजन करता है उसको मानव = ब्रह्मज्ञानी कहते हैं । मधुसूदन सरस्वती कहते हैं – जो व्यक्ति मानव = तत्त्वज्ञ होते हैं वे ही कृत-कृत्य होते हैं – मात्र जन्म की उत्कर्षता के लिए व्यक्ति ब्राह्मण इत्यादि होते हैं, ऐसा नहीं है -- इसप्रकार के अर्थ को प्रकाशित करनेके लिए ही 'मानव' शब्द को प्रयुक्त किया गया है ।

एवकारानुकर्षणार्थः । मानव इति यः कश्चिदपि मनुष्य एवंभूतः स एव कृतकृत्यो न तु ब्राह्मणत्वादिप्रकर्षेणेति कथयितुम् । आत्मन्येव च संतुष्ट इत्यत्र चकारः समुच्चयार्थः । य एवंभूतस्याधिकारहेत्वभावात्किमपि कार्यं वैदिकं लौकिकं वा न विद्यते ॥ 17 ॥

48 **नन्वात्मविदोऽपि अभ्युदयार्थं निःश्रेयसार्थं प्रत्यवायपरिहारार्थं वा कर्म स्यादित्यत आह–**

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ 18 ॥

49 **तस्याऽऽत्मरतेः कृतेन कर्मणाऽभ्युदयलक्षणो निःश्रेयसलक्षणो वाऽर्थ प्रयोजनं नैवास्ति तस्य स्वर्गाद्यभ्युदयानर्थित्वात्, निःश्रेयसस्य च कर्मासाध्यत्वात् । तथा च श्रुतिः– 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' इति । अकृतो नित्यो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्तीत्यर्थः । ज्ञानसाध्यस्यापि व्यावृत्तिरेवकारेण सूचिता । आत्मरूपस्य हि निःश्रेयसस्य नित्यप्राप्तस्याज्ञानमात्रमप्राप्तिः । तच्च तत्त्वज्ञानमात्रापनोद्यम् । तस्मिंस्तत्त्वज्ञानेनापनुन्ने तस्याऽऽत्मविदो न किंचित्कर्मसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा प्रयोजनमस्तीत्यर्थः ।**

'आत्मन्येव' -- दोनों में एवकार है केवल 'आत्मतृप्तश्च' में चकार है । अतः चकार एवकार के अनुकर्षण के लिए है और अनुकर्षण कर 'आत्मन्येव तृप्तः' -- इस अर्थ का बोध कराता है । 'मानव'[25] -- शब्द यह बतलाने के लिए है कि जो कोई भी मनुष्य इसप्रकार का है वही कृतकृत्य है, ब्राह्मणत्वादि के प्रकर्ष -- लाभ से कोई कृतकृत्य नहीं हो सकता । 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः' -- इसमें चकार समुच्चय के लिए है । जो इसप्रकार का है उसके कर्माधिकार का कोई हेतु न रहने से उसके लिए कोई भी वैदिक अथवा लौकिक कार्य नहीं रहता ।। 17 ।।

48 यदि कहो कि आत्मवेत्ता पुरुष को भी अभ्युदय, निःश्रेयस अथवा प्रत्यवाय के परिहार के लिए कर्म तो करना ही होगा, तो कहते हैं --

[उस आत्माराम पुरुष का कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं है और कर्म न करने से भी कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतों में उसका किसी से भी प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं है ।। 18 ।।]

49 उस आत्माराम का कृत अर्थात् कर्म से कोई अभ्युदयरूप अथवा निःश्रेयसरूप अर्थ = प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह स्वर्गादि अभ्युदय का तो अर्थी = अभिलाषी--इच्छुक नहीं है और निःश्रेयस = मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है ---- 'कर्मचित लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण को विरक्त हो जाना चाहिए, क्योंकि अकृत-मोक्ष कृत - कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता' (मु०उ०, 1.2.12) । तात्पर्य यह है कि अकृत - नित्य मोक्ष कृत -- कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता । 'नैव' शब्द के एवकार से यह सूचित किया गया है कि उसका ज्ञानसाध्य भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि निःश्रेयस आत्मरूप है, अतएव वह तो नित्य ही प्राप्त है, उसकी अप्राप्ति है -- केवल अज्ञान, वह तत्त्वज्ञान से ही नष्ट होता है; जब अज्ञान तत्त्वज्ञान से नष्ट हो गया, तब उस आत्मवेत्ता के लिए ऐसा कोई प्रयोजन नहीं रहता, जो कि कर्मसाध्य या ज्ञानसाध्य हो -- यह अभिप्राय है ।

50 **एवंभूतेनापि प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्माण्यनुष्ठेयान्येवेत्यत आह--नाकृतेनेति। भावे निष्ठा । नित्यकर्माकरणेनेह लोके गर्हितत्वरूपः प्रत्यवायप्राप्तिरूपो वा कश्चनार्थो नास्ति । सर्वत्रोपपत्तिमाहोत्तरार्धेन। चो हेतौ। यस्मादस्याऽऽत्मविदः सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु कोऽपि अर्थव्यपाश्रयः प्रयोजनसंबन्धो नास्ति । कंचिद्भूतविशेषमाश्रित्य कोऽपि क्रियासाध्योऽर्थो नास्तीति वाक्यार्थः । अतोऽस्य कृताकृते निष्प्रयोजने 'नैनं कृताकृते तपतः' इति श्रुतेः । 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' इति श्रुतेर्देवा अपि तस्य मोक्षाभवनाय न समर्था इत्युक्तेर्न विघ्नाभावार्थमपि देवाराधनरूपकर्मानुष्ठानमित्यभिप्रायः ।**

51 **एतादृशो ब्रह्मविद्भूमिकासप्तकभेदेन निरूपितो वसिष्ठेन –**

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता ।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥' इति ।

---

50 ऐसा होने पर भी उसको प्रत्यवाय-पाप के परिहार के लिए तो कर्म का अनुष्ठान करना ही चाहिए -- तो कहते हैं 'नाकृतेन' इत्यादि । 'अकृतेन' -- इस पद में भाव में निष्ठा 'क्त' प्रत्यय है । नित्यकर्म न करने से उसका इस लोक में गर्हितत्वरूप = निन्दित होना रूप अथवा प्रत्यवाय प्राप्तिरूप कोई प्रयोजन नहीं है ।[26] उत्तरार्द्ध श्लोक से सर्वत्र = उपर्युक्त सभी बातों की उपपत्ति कहते हैं । 'च' पद हेतु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । क्योंकि इस आत्मवेत्ता का ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्तभूतों में कोई भी अर्थव्यपाश्रय = प्रयोजनसम्बन्ध नहीं है । इस वाक्य का अर्थ यह है कि इस आत्मवेत्ता का किसी भूतविशेष का आश्रय लेकर कोई भी क्रियासाध्य प्रयोजन नहीं है । अतः इसके लिए कृत = कर्म करना और अकृत = कर्म न करना -- दोनों ही निष्प्रयोजन हैं, जैसा कि श्रुति भी कहती है -- 'इस ज्ञानी को कृत और अकृत -- दोनों ही ताप नहीं पहुँचाते' । 'देवता भी उसका पराभव करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह उनका आत्मा ही है' -- इस श्रुति के अनुसार देवता भी उसका मोक्ष न होने देने में समर्थ नहीं है -- इस कथन से यह अभिप्राय निकलता है कि उस आत्मवेत्ता को मोक्षमार्ग में आगत विघ्नों के अभाव के लिए भी देवताराधनरूप कर्म का भी अनुष्ठान करना आवश्यक नहीं है ।

51 इसप्रकार के ब्रह्मवेत्ता का वसिष्ठ ने सात भूमिकाओं के भेद से निरूपण किया है -- " 'शुभेच्छा' नाम की पहली ज्ञानभूमि कही जाती है । 'विचारणा' दूसरी है और तीसरी 'तनुमानसा' है । 'सत्त्वापत्ति' चौथी है और 'असंसक्ति' नामिका पाँचवी है । छठी 'पदार्थाभाविनी' है तथा सातवीं 'तुर्यगा' कही गई है ।"

---

26. यद्यपि लोक में नित्यकर्म न करने से दो प्रकार का अनर्थ होता है – प्रथम लोक में निन्दा होना और द्वितीय प्रत्यवाय की प्राप्ति । किन्तु आत्मवेत्ता को इन दोनों से कोई प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि आत्मवेत्ता नित्यकर्म करने के लिए अधिकृत नहीं होता, ऐसा होने से प्रत्यवायजनक भावरूप विहित अकर्म में उसकी व्यापृतता भी नहीं होती अथवा वह आत्मवेत्ता लोक में निन्दा और स्तुति से उदासीन रहता है और अकर्म में व्यापृत न होने से उसको प्रत्यवाय होता ही नहीं है ।

52 **तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा प्रथमा । ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारः श्रवणमननात्मको द्वितीया । ततो निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया । एतद्भूमिकात्रयं साधनरूपं जाग्रदवस्थोच्यते योगिभिः, भेदेन जगतो भानात् । तदुक्तम् –**

'भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्थितम् ।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते ॥' इति ।

53 **ततो वेदान्तवाक्यान्निर्विकल्पको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वापत्तिः स्वप्नावस्थोच्यते । सर्वस्यापि जगतो मिथ्यात्वेन स्फुरणात् । तदुक्तम्–**

'अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिताः ॥' इति ।

सोऽयं चतुर्थभूमिं प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते ।

54 **पञ्चमीषष्ठीसप्तम्यस्तु भूमिका जीवन्मुक्तेरेवावान्तरभेदाः । तत्र सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि या निर्विकल्पकसमाध्यवस्था साऽसंसक्तिरिति सुषुप्तिरिति चोच्यते । ततः स्वयमेव व्युत्थानात् । सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः । ततस्तदभ्यासपरिपाकेण चिरकालावस्थायिनी सा पदार्थाभावनीति गाढसुषुप्तिरिति चोच्यते । ततः स्वयमनुत्थितस्य योगिनः परप्रयत्नेनैव व्युत्थानात् । सोऽयं ब्रह्मविद्वरीयान् । उक्तं हि –**

---

52 इनमें नित्यानित्यवस्तुविवेकादि से आरम्भ होकर फल में परिणत होनेवाली 'मोक्षेच्छा' पहली भूमिका है । तदनन्तर गुरु के समीप जाकर श्रवणमननात्मक वेदान्तवाक्यों का विचार करना दूसरी भूमिका है । ततः निदिध्यासन के अभ्यास से मन की एकाग्रता द्वारा सूक्ष्म वस्तु को ग्रहण करने की योग्यता हो जाना तीसरी भूमिका है । ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं, इनको योगिजन 'जाग्रदवस्था' कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में भेदज्ञान से जगत् का भान होता है । ऐसा कहा भी है -- 'राम ! ये तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् हैं -- ऐसा निश्चय किया गया है । इस जाग्रदवस्था में जगत् भेदबुद्धि से यथावत् दिखाई देता है ।'

53 इसके पश्चात् वेदान्तवाक्य से ब्रह्म और आत्मा की एकता का निर्विकल्पक साक्षात्कार होना चौथी भूमिका है, यह फलरूपा है -- 'सत्त्वापत्ति' रूपा है, इसको स्वप्नावस्था कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में सम्पूर्ण ही जगत् मिथ्यारूप से स्फुरित होता है । कहा भी है --
'अद्वैत के स्थिर हो जाने पर और द्वैत के निवृत्त हो जाने पर चौथी भूमिका को प्राप्त हुए योगी जगत् को स्वप्नवत् देखते हैं ।' यह चौथी भूमिका को प्राप्त हुआ योगी 'ब्रह्मवित्' कहा जाता है ।

54 पाँचवीं, छठी और सातवीं भूमिकाएँ तो जीवन्मुक्ति के ही अवान्तर भेद हैं । इनमें सविकल्पक समाधि के अभ्यास से मन का निरोध हो जाने पर जो निर्विकल्पक समाधि की अवस्था होती है, वह 'असंसक्ति' है, इसको 'सुषुप्ति' कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था से योगी स्वयं ही व्युत्थित होता है, अतः वह योगी 'ब्रह्मविद्वर' कहलाता है । तदनन्तर, उस अभ्यास के परिपाक से जो चिरकालावस्थायिनी निर्विकल्पक समाधि प्राप्त होती है, वह 'पदार्थाभाविनी' है, उसको 'गाढ़सुषुप्ति' कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था से स्वयं उत्थित न होने वाले योगी का दूसरों के प्रयत्न से ही व्युत्थान होता है । यह योगी 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहलाता है । जैसा कि कहा है --

'पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ।
षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥' इति ।

55 यस्यास्तु समाध्यवस्थाया न स्वतो न वा परतो व्युत्थितो भवति सर्वथा भेददर्शनाभावात् । किं तु सर्वदा तन्मय एव स्वप्रयत्नमन्तरेणैव परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुवशादन्यैर्निर्वाह्यमाण-दैहिकव्यवहारः परिपूर्णपरमानन्दघन एव सर्वतस्तिष्ठति । सा सप्तमी तुरीयावस्था । तां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । उक्तं हि --

'षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
किंचिदेवैष संपन्नस्त्वथवैष न किंचन ॥
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा योगभूमिषु ॥' इति ।

यामधिकृत्य श्रीमद्भागवते स्मर्यते--

'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥' इति ।

"'सुषुप्ति' -- पद नामिका पाँचवीं भूमिका में पहुँचकर फिर योगी क्रमशः 'गाढ़सुषुप्ति' नामिका छठी भूमिका को प्राप्त होता है ।"

55 सर्वथा भेददर्शन -- भेददृष्टि न रहने के कारण जिस समाधि -- अवस्था से योगी न स्वतः, न परतः व्युत्थित होता है; किन्तु सर्वदा तन्मय ही रहने के कारण अपना कोई प्रयत्न न होने पर भी परमेश्वर द्वारा प्रेरित प्राणवायु के कारण दूसरों के द्वारा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होते रहने से सर्वतः परिपूर्ण परमानन्दघनरूप से ही स्थित रहता है, वह सातवीं 'तुरीयावस्था' है । इस अवस्था को प्राप्त हुआ योगी 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहा जाता है । कहा भी है -- "यह योगी छठी भूमिका में स्थित होकर सातवीं भूमिका को प्राप्त करे । उस अवस्था में यह थोड़ा- सा भेद रखते हुए अथवा कुछ भी भेद न रखते हुए परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है । यह सातवीं योगभूमिका 'विदेहमुक्ति' कही गई है । यह वाणी के लिए अगम्य, शान्त और योगभूमियों में सीमारूप है ।"

इसी को लक्ष्य करके श्रीमद्भागवत में भी कहा है --

"जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीर पर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीर से उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है -- नश्वर शरीर सम्बन्धी इन बातों पर दृष्टि नहीं डालता । प्राण और इन्द्रियों के साथ यह शरीर भी प्रारब्ध के अधीन है । इसलिए अपने आरम्भक कर्म जब तक है तब तक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है । परन्तु आत्मवस्तु का साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योग में आरूढ़ पुरुष, स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपञ्च के सहित उस शरीर को फिर कभी स्वीकार नहीं करता, जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्था के शरीर आदि को स्वीकार नहीं करता" (श्रीमद्भागवत, 11.13.36-37) ।

श्रुतिश्च--'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ।' इति ।

56 तत्रायं संग्रहः--

'चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा ।
जीवन्मुक्तेरवस्थास्तु परास्तिस्रः प्रकीर्तिताः ॥'

अत्र प्रथमभूमित्रयमारूढोऽज्ञोऽपि न कर्माधिकारी किं पुनस्तत्त्वज्ञानी तद्विशिष्टो जीवन्मुक्तो वेत्यभिप्रायः ॥ 18 ॥

57 यस्मान्न त्वमेवंभूतो ज्ञानी किं तु कर्माधिकृत एव मुमुक्षुः--

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ 19 ॥

58 असक्तः फलकामनारहितः सततं सर्वदा न तु कदाचित्कार्यमवश्यकर्तव्यं यावज्जीवादिश्रुतिचोदितं 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्या ज्ञाने विनियुक्तं कर्म नित्यनैमित्तिकलक्षणं सम्यगाचर यथाशास्त्रं निर्वर्तय । असक्तो हि यस्मादाचरन्नीश्वरार्थं कर्म कुर्वन्सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण परं मोक्षमाप्नोति पूरुषः स एव सत्पुरुषो नान्य इत्यभिप्रायः ॥ 19 ॥

श्रुति भी कहती है -- 'जिसप्रकार साँप की केंचुली वल्मीक = वामी पर मरी पड़ी रहती है उसीप्रकार यह शरीर पड़ा रहता है, तथा यह अशरीर, अमृत और सभी का प्रवर्तक आत्मा तो स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है' ।

56 इन सभी भूमिकाओं का संग्रह इसप्रकार है --
"चौथी भूमिका ज्ञानरूप है, पहली तीन भूमिकाएँ साधनरूपा हैं और बाद की तीन भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति की अवस्थाएँ कही गई हैं ।"
इनमें से पहली तीन भूमिकाओं पर आरूढ़[27] अज्ञ = अज्ञानी भी कर्म का अधिकारी नहीं है, तो फिर तत्त्वज्ञानी या उससे भी विशिष्ट जीवन्मुक्त के लिए क्या कहना -- यह अभिप्राय है ॥ 18॥

57 क्योंकि तुम ऐसे ज्ञानी नहीं हो, कर्माधिकारी मुमुक्षु ही हो --
[इसलिए फल की कामना से रहित होकर तुम निरन्तर अवश्यकर्त्तव्य कर्मों का सम्यक् प्रकार से आचरण करो, क्योंकि फल की कामना से रहित होकर कर्म करनेवाला पुरुष परम मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ 19 ॥]

58 असक्त = फल की कामना से रहित होकर सतत -- सर्वदा, न कि कदाचित् = कभी-कभी, कार्य = अवश्य कर्त्तव्य, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' = 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे' -- इस श्रुति से उदित् = विहित-कथित, तथा 'ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं' -- इस श्रुति द्वारा आत्मज्ञान में विनियुक्त नित्यनैमित्तिकरूप कर्मों का सम्यक् प्रकार से आचरण करो अर्थात् शास्त्रानुसार आचरण करो । हि = यस्मात् = क्योंकि फल

---

27. यहाँ आचार्य धनपति ने मधुसूदन सरस्वती पर आक्षेप किया है कि उन्होंने श्लोक में अप्रयुक्त 'भूमिकारूढ़' इत्यादि शब्दों के प्रयोग से वसिष्ठोक्त सप्तभूमिकाओं का अप्रासंगिक प्रदर्शन किया है ।

59 **ननु विविदिषोरपि ज्ञाननिष्ठाप्राप्त्यर्थं श्रवणमनननिदिध्यासनानुष्ठानाय सर्वकर्मत्यागलक्षणः संन्यासो विहितः । तथा च न केवलं ज्ञानिन एव कर्मानधिकारः किं तु ज्ञानार्थिनोऽपि विरक्तस्य । तथा च मयाऽपि विरक्तेन ज्ञानार्थिना कर्माणि हेयान्येवेत्यर्जुनाशङ्कां क्षत्रियस्य संन्यासानधिकारप्रतिपादनेनापनुदति भगवान् –**

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ 20 ॥

60 **जनकादयो जनकाजातशत्रुप्रभृतयः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धाः क्षत्रिया विद्वांसोऽपि कर्मणैव सह न तु कर्मत्यागेन सह संसिद्धिं श्रवणादिसाध्यां ज्ञाननिष्ठामास्थिताः प्राप्ताः । हि यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि क्षत्रियो विविदिषुर्विद्वान्वा कर्म कर्तुमर्हसीत्यनुषङ्गः । 'ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति संन्यासविधायके वाक्ये ब्राह्मणत्वस्य विवक्षित्वात् । 'स्वाराज्यकामो राजा राजसूयेन यजेत' इत्यत्र क्षत्रियत्ववत् । 'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रयो राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य' इति च स्मृतेः । पुराणेऽपि –**

की कामना से रहित होकर ईश्वर के लिए कर्म करने से पुरुष सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक ज्ञान की प्राप्ति द्वारा परम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है । वही पुरुष सत्पुरुष है, दूसरा नहीं -- यह अभिप्राय है ॥ 19 ॥

59 'विविदिषु = ब्रह्मजिज्ञासु को भी ज्ञाननिष्ठा की प्राप्तिहेतु श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अनुष्ठान करने के लिए सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास विहित है । इसप्रकार न केवल ज्ञानी का ही कर्म में अनधिकार है, अपितु विरक्त ज्ञानार्थी का भी कर्म में अनधिकार है । अतः विरक्त ज्ञानार्थी मुझे भी कर्मों का त्याग करना चाहिए' -- ऐसी अर्जुन की आशंका का भगवान् 'क्षत्रिय का संन्यास में अनधिकार है' इस प्रतिपादन से निराकरण करते हैं --

[जनकादि क्षत्रिय विद्वानों ने कर्म के द्वारा ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की थी, इसलिए और लोकसंग्रह पर दृष्टि रखकर भी तुमको कर्म करना चाहिए ॥ 20 ॥]

60 जनकादि = जनक, अजातशत्रु आदि श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध क्षत्रिय विद्वानों ने भी कर्म ही के साथ, न कि कर्मत्याग के साथ, संसिद्धि = श्रवणादिसाध्य ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की थी । हि = यस्मात् = क्योंकि ऐसा है, इसलिए तुम भी क्षत्रिय हो, बह्मजिज्ञासु हो या विद्वान्, कर्म करने के योग्य हो । यहाँ अन्तिम पादस्थ 'अर्हसि' का अनुषङ्ग[28] = सम्बन्ध विवक्षित है । 'ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से व्युत्थित होकर = विरत होकर भिक्षाचरण करते हैं' (बृह० उ०, 4.4.12) - इस संन्यासविधायक वाक्य में ब्राह्मणत्व विवक्षित है, जैसे कि 'स्वर्ग चाहने वाला राजा राजसूय यज्ञ करे' -- इस वाक्य में क्षत्रियत्व विवक्षित है । तथा 'ब्राह्मण के लिए चार आश्रम हैं, क्षत्रिय के लिए तीन और वैश्य के लिए दो[29] - इस स्मृति--वाक्य में और 'विष्णुलिङ्ग = परमात्मलिङ्ग दण्ड-

28. उत्तर पद का पूर्व में सम्बन्ध 'अनुषङ्ग' कहलाता है और पूर्वपद का उत्तर में सम्बन्ध को ' अनुवृत्ति' कहते हैं ।
29. तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास -- ये चार आश्रम विहित हैं, क्षत्रिय के लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ -- ये तीन आश्रम विहित हैं, तथा वैश्य के लिए ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य -- ये दो आश्रम विहित हैं ।

'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते ॥'

इति क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासाभाव उक्तः । तस्माद्युक्तमेवोक्तं भगवता–'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति ।

61 **'सर्वे राजाश्रिता धर्मा राजा धर्मस्य धारकः' इत्यादिस्मृतेर्वर्णाश्रमधर्मप्रवर्तकत्वेनापि क्षत्रियोऽवश्यं कर्म कुर्यादित्याह--लोकेति । लोकानां स्वे स्वे धर्मे प्रवर्तनमुन्मार्गान्निवर्तनं च लोकसंग्रहस्तं पश्यन्नपिशब्दाज्जनकादिशिष्टाचारमपि पश्यन्कर्म कर्तुमर्हस्येवेत्यन्वयः । क्षत्रियजन्मप्रापकेण कर्मणाऽऽरब्धशरीरस्त्वं विद्वानपि जनकादिवत्प्रारब्धकर्मबलेन लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तुं योग्यो भवसि न तु त्यक्तुं ब्राह्मणजन्मालाभादित्यभिप्रायः । एतादृशभगवदभिप्रायविदा भगवता भाष्यकृता ब्राह्मणस्यैव संन्यासो नान्यस्येति निर्णीतम् । वार्तिककृता तु प्रौढिवादमात्रेण क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासोऽस्तीत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ 20 ॥**

62 **ननु मया कर्मणि क्रियमाणेऽपि लोकः किमिति तत्संगृह्णीयादित्याशङ्क्य श्रेष्ठाचारानुविधायित्वादित्याह--**

धारण मुखोत्पन्न ब्राह्मणों का धर्म है, बाहुजात क्षत्रिय और उरुजात वैश्य के लिए यह धर्म श्रेष्ठ नहीं हैं' -- इस पुराण-वाक्य में क्षत्रिय और वैश्य के लिए संन्यास का अभाव कहा गया है; इसलिए भगवान् ने ठीक ही कहा है कि -- 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' ।

61 'सभी धर्म राजा के आश्रित हैं, राजा ही धर्म का धारक है' -- इत्यादि स्मृति के अनुसार वर्णाश्रम धर्म का प्रवर्तक होने से भी क्षत्रिय को अवश्य कर्म करना चाहिए -- यह 'लोकसंग्रहमेवापि' इत्यादि से कहते हैं । लोकों को अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त करना और विपरीत मार्ग से हटाना 'लोकसंग्रह' है, उसको देखते हुए, 'अपि' शब्द से जनकादि के शिष्टाचार को भी देखते हुए तुम कर्म करने के योग्य हो अर्थात् तुम कर्म कर ही सकते हो -- यह अन्वय है । तुम्हारा शरीर क्षत्रिय जन्म की प्राप्ति करानेवाले प्रारब्धकर्म से आरम्भ हुआ है, तुम विद्वान् भी हो, अतः जनकादि के समान प्रारब्धकर्म के बल से लोकसंग्रह के लिए कर्म करने योग्य हो, ब्राह्मण जन्म की प्राप्ति न होने के कारण तुम कर्म का त्याग करने के अधिकारी नहीं हो -- यह अभिप्राय है । इस प्रकार के भगवान् के अभिप्राय को जानने वाले भगवान् भाष्यकार ने ऐसा ही निर्णय किया है कि ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार है, अन्य वर्ण को नहीं । वार्तिककार ने तो प्रौढिवाद से ही यह कहा है कि क्षत्रिय और वैश्य को भी संन्यास का अधिकार है -- यह द्रष्टव्य[30] है ॥ 20 ॥

62 'मेरे कर्म करने पर भी लोक उस आचरण को क्यों ग्रहण करेगा ?' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं कि श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण अनुविधान -- अनुकरण करने वाला होने से वह उस आचरण को ग्रहण करेगा --

---

30. अर्जुन को भगवान् के कहने का यहाँ अभिप्राय यही है कि हे अर्जुन ! यदि तुमने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया है तो चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो तुमको अवश्य कर्म करना चाहिए और यदि तुम तत्त्वज्ञ हो गए हो तो भी कर्म त्याग कर संन्यास ग्रहण करने का तुमको अधिकार नहीं है । उस अवस्था में जनक आदि राजर्षियों की भाँति लोक-संग्रह के प्रति दृष्टि रखकर तुमको क्षत्रिय धर्म के अनुसार कर्म करना चाहिए ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ 21 ॥

63 श्रेष्ठः प्रधानभूतो राजादिर्यद्यत्कर्माऽऽचरति शुभमशुभं वा तत्तदेवाऽऽचरतीतरः प्राकृतस्तदनुगतो जनः, न त्वन्यत्स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः ।

64 ननु शास्त्रमवलोक्याशास्त्रीयं श्रेष्ठाचारं परित्यज्य शास्त्रीयमेव कुतो नाऽऽचरति लोक इत्याशङ्क्याऽऽचारवत्प्रतिपत्तावपि श्रेष्ठानुसारितामितरस्य दर्शयति—स यदिति । स श्रेष्ठो यल्लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं कुरुते प्रमाणत्वेन मन्यते तदेव लोकोऽप्यनुवर्तते प्रमाणं कुरुते न तु स्वातन्त्र्येण किंचिदित्यर्थः । तथा च प्रधानभूतेन त्वया राज्ञा लोकसंरक्षणार्थं कर्म कर्तव्यमेव प्रधानानुयायिनो जनव्यवहारा भवन्तीति न्यायादित्यभिप्रायः ॥ 21 ॥

65 अत्र चाहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः--

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ 22 ॥

66 हे पार्थ मे मम त्रिष्वपि लोकेषु किमपि कर्तव्यं नास्ति । यतोऽनवाप्तं फलं किंचिन्ममावाप्तव्यं

[श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस कर्म का आचरण करता है उसी-उसी को इतर जन भी करने लगते हैं । वह जिस को प्रमाणभूत करता है उसी का लोक अनुवर्तन करने लगता है ॥ 21 ॥]

63 श्रेष्ठ = प्रधानभूत राजा आदि शुभ अथवा अशुभ जिस-जिस कर्म का आचरण करते हैं उसी-उसी को उनके अनुयायी दूसरे साधारण जन भी करने लगते हैं, वे जन स्वतंत्रता से दूसरे कर्मों का आचरण नहीं करते -- यह अर्थ है ।

64 'लोक शास्त्र देखकर अशास्त्रीय श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का अनुकरण छोड़कर शास्त्रीय ही कर्मों का आचरण क्यों नहीं करता ?' -- ऐसी आशङ्का करके भगवान् ' स यत्' इत्यादि श्लोक के उत्तरार्द्ध से यह दिखाते हैं कि आचरण के समान ज्ञान में भी इतर जन श्रेष्ठ पुरुषों का ही अनुसरण करते हैं । वह श्रेष्ठ जिस लौकिक अथवा वैदिक कर्म को प्रमाणभूत करता है = प्रमाणरूप से मान लेता है उसी का लोक भी अनुवर्तन करने लगता है = लोक उसी को प्रमाणभूत मान लेता है, वह स्वतंत्रता से कुछ नहीं करता -- यह तात्पर्य है । इसप्रकार अभिप्राय यह है कि प्रधानभूत राजा =क्षत्रिय तुमको भी लोक की रक्षा के लिए कर्म करना ही चाहिए, क्योंकि 'सर्वसाधारण के व्यवहार प्रधान पुरुष का अनुसरण करनेवाले होते हैं' -- ऐसा न्याय है ॥ 21 ॥

65 इसमें तो मैं ही दृष्टान्त हूँ -- ऐसा भगवान् आगे के तीन श्लोकों से कहते हैं --

[हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरा कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, क्योंकि कोई ऐसा अप्राप्त फल नहीं है जो मुझे पाना हो; फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ ॥ 22 ॥]

66 हे पार्थ ! मेरा तीनों लोकों में कोई भी कर्त्तव्य नहीं है; क्योंकि कोई भी ऐसा अप्राप्त फल नहीं है जो मुझे पाना हो: फिर भी मैं कर्म में तत्पर रहता ही हूँ = कर्म करता ही हूँ[31] । 'पार्थ' -- ऐसा

---

31. तात्पर्य यह है कि भगवान् सत्यकाम, सत्यसंकल्प हैं, इस कारण समस्त वस्तुएँ ही उनको संकल्पमात्र से ही प्राप्त होती हैं, अतः उनके लिए अप्राप्त नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । वे स्वयं पूर्णकाम अथवा प्राप्तकाम है, अतः उनके लिए प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है । इसीलिए भगवान् को किसी वस्तु को उद्देश्य करके कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहने के कारण उनके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है । तथापि लोक की उन्मार्ग से रक्षा कर उसको सन्मार्ग में चालित करने के लिए लोकसंग्रहरूप कर्म में भगवान् तत्पर रहते ही हैं ।

नास्ति। तथापि वर्त एव कर्मण्यहं कर्म करोम्येवेत्यर्थः। पार्थेति संबोधयन्विशुद्धक्षत्रियवंशोद्भवस्त्वं शूरापत्यापत्यत्वेन चात्यन्तं मत्समोऽहमिव वर्तितुमर्हसीति दर्शयति ॥ 22 ॥

67 **लोकसंग्रहोऽपि न ते कर्तव्यो विफलत्वादित्याशङ्क्याऽऽह–**

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ 23 ॥

68 **यदि पुनरहमतन्द्रितोऽनलसः सन्कर्मणि जातु कदाचिन्न वर्तेय नानुतिष्ठेयं कर्माणि तदा मम श्रेष्ठस्य सतो वर्त्म मार्गं हे पार्थ मनुष्याः कर्माधिकारिणः सन्तोऽनुवर्तन्तेऽनुवर्तेरन्सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥ 23 ॥**

69 **श्रेष्ठस्य तव मार्गानुवर्तित्वं मनुष्याणामुचितमेव अनुवर्तित्वे को दोष इत्यत आह–**

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ 24 ॥

70 **अहमीश्वरश्चेद्यदि कर्म न कुर्यां तदा मदनुवर्तिनां मन्वादीनामपि कर्मानुपपत्तेर्ल्लोकस्थितिहेतोः कर्मणो लोपेनेमे सर्वे लोका उत्सीदेयुर्विनश्येयुः। ततश्च वर्णसंकरस्य च कर्ताऽहमेव स्याम्। तेन चेमाः सर्वाः प्रजा अहमेवोपहन्यां धर्मलोपेन विनाशयेयम्। कथं च प्रजानामनुग्रहार्थं प्रवृत्त ईश्वरोऽहं ताः सर्वा विनाशयेयमित्यभिप्रायः।**

सम्बोधन करके भगवान् यह दिखाते हैं कि तुम विशुद्ध क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए हो और शूरसेन की पुत्री के पुत्र होने के कारण बहुत कुछ मेरे ही समान हो, इसलिए तुम मेरे समान ही व्यवहार करो ॥ 22 ॥

67 'लोकसंग्रह भी आपको नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह भी आपके लिए विफल है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् कहते हैं --
[हे पार्थ ! यदि कदाचित् आलस्यरहित होकर मैं कर्म न करूँ तो मनुष्य सर्वशः मेरे ही मार्ग का अनुसरण करने लगेंगे ॥ 23 ॥]

68 यदि पुनः मैं अतन्द्रित = आलस्यरहित होकर जातु = कदाचित् कर्म मैं तत्पर न रहूँ = कर्मों का अनुष्ठान न करूँ, तो हे पार्थ ! कर्म के अधिकारी होकर भी मनुष्य मुझ श्रेष्ठ के वर्त्म = मार्ग का सर्वशः = सब प्रकार से अनुवर्तन करने लगेंगे ॥ 23 ॥

69 'श्रेष्ठ आपके मार्ग का अनुसरण करना मनुष्यों के लिए उचित ही है, उनके अनुवर्ती होने में क्या दोष है' -- ऐसा यदि कहो तो कहते हैं --
[यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक विनष्ट हो जाँय। इसप्रकार मैं वर्णसंकरता का कर्ता होऊँ और इस समस्त प्रजा का नाश करूँ ॥ 24 ॥]

70 मैं ईश्वर यदि कर्म न करूँ तो मेरे अनुवर्ती मनु आदि की भी कर्म करने की उपपत्ति न होने से लोक की स्थिति के हेतुभूत कर्म का लोप हो जाने से ये सब लोक उत्सन्न = विनष्ट हो जाँय। इससे मैं ही वर्णसंकरता का कर्ता होऊँ और उसके द्वारा मैं ही इस समस्त प्रजा का नाश करूँ = धर्मलोप के द्वारा इसको विनष्ट करूँ। यह कैसे हो सकता है कि प्रजाओं के अनुग्रहार्थ प्रवृत्त ईश्वर मैं उन सबका विनाश करूँ -- यह भगवान् का अभिप्राय है।

71 यद्यदाचरतीत्यादेरपरा योजना--न केवलं लोकसंग्रहं संपश्यन्कर्तुमर्हस्यपि तु श्रेष्ठाचारत्वादपीत्याह--यद्यदिति । तथा च मम श्रेष्ठस्य यादृश एव आचारस्तादृश एव मदनुवर्तिना त्वयाऽनुष्ठेयो न स्वातन्त्र्येणान्य इत्यर्थः । कीदृशस्तवाऽऽचारो यो मयाऽनुवर्तनीय इत्याकाङ्क्षायां न मे पार्थेत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैस्तत्प्रदर्शनमिति ॥ 24 ॥

72 ननु तवेश्वरस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्यापि कर्तृत्वाभिमानाभावान्न काऽपि क्षतिः । मम तु जीवस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्य कर्तृत्वाभिमानेन ज्ञानाभिभवः स्यादित्यत आह--

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ 25 ॥

73 सक्ताः कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मण्यभिनिविष्टा अविद्वांसोऽज्ञा यथा कुर्वन्ति कर्म लोकसंग्रहं कर्तुमिच्छुर्विद्वानात्मविदपि तथैव कुर्यात् । किंतु असक्तः सन्कर्तृत्वाभिमानं फलाभिसंधिं चाकुर्वन्नित्यर्थः । भारतेति भरतवंशोद्भवत्वेन भा ज्ञानं तस्यां रतत्वेन वा त्वं यथोक्तशास्त्रार्थबोधयोग्योऽसीति दर्शयति ॥ 25 ॥

74 ननु कर्मानुष्ठानेनैव लोकसंग्रहः कर्तव्यो न तु तत्त्वज्ञानोपदेशेनेति को हेतुरत आह--

---

71 'यद्यदाचरति' इत्यादि श्लोकों की दूसरी योजना इसप्रकार हो सकती है -- न केवल लोकसंग्रह पर ही दृष्टि रखकर तुमको कर्म करना चाहिए, अपितु श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण को भी देखकर कर्म करना चाहिए -- यह 'यद्यत्' इत्यादि श्लोक से कहते हैं । इसप्रकार मुझ श्रेष्ठ का जैसा आचरण है वैसा ही मेरे अनुयायी तुमको भी अनुष्ठान करना चाहिए, स्वतंत्रता से कोई दूसरा आचरण नहीं करना चाहिए -- यह इसका तात्पर्य है । 'आपका आचरण कैसा है, जिसका मुझे अनुवर्तन करना चाहिए' -- ऐसी जिज्ञासा होने पर भगवान् 'न मे पार्थ' -- इत्यादि तीन श्लोकों से उसका प्रदर्शन करते हैं ॥ 24 ॥

72 यदि अर्जुन कहे कि 'आप ईश्वर हैं, अत: लोकसंग्रह के लिए कर्म करते रहने पर भी कर्तृत्व का अभिमान न होने के कारण आपकी कोई क्षति नहीं है । मैं तो जीव हूँ, अत: लोकसंग्रह के लिए कर्म करने पर कर्तृत्व का अभिमान होने से मेरा ज्ञान अभिभूत हो सकता है', तो भगवान् कहते हैं --
[हे भारत ! कर्तृत्वाभिमान और फलाभिसन्धि से कर्म में अभिनिविष्ट अविद्वान् जिस प्रकार कर्म करते हैं, उसीप्रकार लोकसंग्रह के चिकीर्षु विद्वान् असक्त होकर कर्म करें ॥ 25 ॥]

73 सक्त = आसक्त = कर्तृत्व के अभिमान और फल की कामना से कर्म में अभिनिविष्ट --अभिनिवेश रखने वाले अविद्वान् = अज्ञ - अज्ञानी जिसप्रकार कर्म करते हैं, लोकसंग्रह करने की इच्छावाला विद्वान् = आत्मवेत्ता भी उसी प्रकार कर्म करे, किन्तु असक्त होकर अर्थात् कर्तृत्व का अभिमान और फल की कामना न करते हुए । 'भारत' -- इस सम्बोधन से यह दिखलाते हैं कि भरतवंश में उत्पन्न होने के कारण अथवा 'भा' जो ज्ञान है उसमें रत होने के कारण तुम शास्त्र के यथोक्त तात्पर्य को समझने में सक्षम हो ॥ 25 ॥

74 'कर्मानुष्ठान से ही लोकसंग्रह करना चाहिए, तत्त्वज्ञानोपदेश से नहीं, इसमें क्या हेतु है ?'-- इस पर कहते हैं --

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ 26 ॥

75 **अज्ञानामविवेकिनां कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मसङ्गिनां कर्मण्यभिनिविष्टानां या बुद्धिरहमेतत्कर्म करिष्य एकत्फलं च भोक्ष्य इति तस्या भेदं विचालनमकर्त्रात्मोपदेशेन न कुर्यात् । किंतु युक्तोऽवहितः सन्विद्वाँल्लोकसंग्रहं चिकीर्षुरविद्वदधिकारिकाणि सर्वकर्मणि समाचरन् स्तेषां श्रद्धामुत्पाद्य जोषयेत्प्रीत्या सेवयेत् । अनधिकारिणामुपदेशेन बुद्धिविचालने कृते कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेरुभयभ्रष्टत्वं स्यात् । तथा चोक्तम् –**

'अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः ॥' इति ॥ 26 ॥

76 **विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येऽपि कर्तृत्वाभिमानतदभावाभ्यां विशेषं दर्शयन्सक्ताः कर्मणीतिश्लोकार्थं विवृणोति द्वाभ्याम् –**

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ 27 ॥

77 **प्रकृतिर्माया सत्त्वरजस्तमोगुणमयी मिथ्याज्ञानात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः 'मायां तु प्रकृतिं विद्या-**

[कर्मों में आसक्त अज्ञानी पुरुषों की बुद्धि को आत्मोपदेश से विचलित न करे । विद्वान् समस्त कर्मों का समाहित चित्त से सम्यक् प्रकार आचरण करता हुआ प्रीतिपूर्वक उनसे भी कर्मों का सेवन कराये ॥ 26 ॥]

75 कर्तृत्व के अभिमान और फल की कामना से कर्मसङ्गी = कर्म में आसक्त = कर्म में अभिनिविष्ट अज्ञ = अविवेकी पुरुषों की जो ऐसी बुद्धि है कि 'मैं यह कर्म करूँगा और इसका फल भोगूँगा' -- उसका भेद = विचालन अकर्ता आत्मा के उपदेश से न करे । किन्तु लोकसंग्रह का चिकीर्षु विद्वान् युक्त = अवहित-समाहित होकर जिनमें अविद्वानों = अज्ञानियों का ही अधिकार है उन समस्त कर्मों का सम्यक् प्रकार आचरण करता हुआ उनमें उनकी श्रद्धा उत्पन्न करके उनका उनसे प्रीतिपूर्वक सेवन कराये । आत्मोपदेश से अनधिकारियों की बुद्धि को विचलित करने पर तो कर्मों में श्रद्धा न रहने से और ज्ञान की उत्पत्ति न होने से -- वे दोनों ओर से ही भ्रष्ट हो जायेंगे । ऐसा कहा भी है –

'जो पुरुष अर्द्धप्रबुद्ध अज्ञानी पुरुष से यह कह देता है कि 'सब ब्रह्म है', तो वह उसको महान् नरकजाल में ही फंसा देता है ।'

76 विद्वान् और अविद्वान् के कर्मानुष्ठान में समानता रहने पर भी कर्तृत्वाभिमान और उसके अभाव से उसमें भेद दिखलाकर आगे के दो श्लोकों से 'सक्ताः कर्मणि' इत्यादि श्लोक के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं --

[ये सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति = माया के गुणों द्वारा किये जाते हैं, किन्तु अहंकार से जिसका आत्मा = अन्तःकरण अत्यन्त मूढ़ है वह पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' -- ऐसा मानता है ॥ 27 ॥]

77 प्रकृति = माया अर्थात् परमेश्वर की मिथ्या ज्ञानात्मिका सत्त्वरजस्तमोगुणमयी शक्ति है,[32] जैसा कि श्रुति भी कहती है-- 'माया को प्रकृति और मायी को महेश्वर जानो' (श्वेता० उ०,4.10) । सर्वशः

न्मायिनं तु महेश्वरम्' इति श्रुतेः । तस्याः प्रकृतेर्गुणैर्विकारैः कार्यकारणरूपैः क्रियमाणानि लौकिकानि वैदिकानि च कर्माणि सर्वशः सर्वप्रकारैरहंकारेण कार्यकारणसंघातात्मप्रत्ययेन विमूढः स्वरूपविवेकासमर्थ आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽहंकारविमूढात्माऽनात्मन्यात्माभिमानी तानि कर्माणि कर्ताऽहमिति करोम्यहमिति मन्यते कर्तृत्वाध्यासेन । कर्ताऽहमिति तृन्प्रत्ययः । तेन 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ 27 ॥

78 **विद्वांस्तु तथा न मन्यत इत्याह–**

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ 28 ॥

79 **तत्त्वं याथात्म्यं वेत्तीति तत्त्ववित् । तुशब्देन तस्याज्ञाद्वैशिष्ट्यमाह । कस्य तत्त्वमित्यत आह**

= सब प्रकार से उस प्रकृति के गुणों अर्थात् कार्य-कारणरूप विकारों द्वारा किये जाते हुए लौकिक और वैदिक -- सम्पूर्ण कर्मों को अहंकार अर्थात् कार्य-कारणसंघात में आत्मप्रत्यय – आत्मबुद्धि = कार्य -- शरीर और कारण-इन्द्रियाँ इनका जो संघात है उसमें -- अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि से अत्यन्त मूढ़ = स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ है आत्मा = अन्तःकरण जिसका वह अहंकारविमूढात्मा अर्थात् अनात्मा में आत्मा का अभिमान रखनेवाला पुरुष कर्तृत्व के अध्यास से ऐसा मानता है कि 'उन कर्मों का कर्ता मैं हूँ अर्थात् मैं उन कर्मों को करता हूँ' । ' कर्ताऽहम्' इसमें 'कर्तृ' शब्द में 'तृन्' प्रत्यय है; इसलिए 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पाणिनि-सूत्र, 2.3.69) – इस पाणिनि-सूत्र से षष्ठी का निषेध होने के कारण 'कर्माणि' पद में षष्ठी विभिक्ति नहीं हुई है[33] ॥ 27 ॥

78 विद्वान् ऐसा नहीं मानता, -- यह कहते है :--
[हे महाबाहो ! गुण-कर्म और आत्मा -- इनके तत्त्व को जानने वाला तो - 'गुण = चक्षु आदि अपने गुणों = रूपादि विषयों में अनुवृत्त होते हैं' ऐसा मानकर कर्तृत्व का अभिनिवेश नहीं करता ॥ 28 ॥]

79 जो तत्त्व = यथार्थ स्वरूप को जानता है[34] उसे 'तत्त्ववित्' कहते हैं । 'तु' शब्द से उसकी अज्ञानी से विशिष्टता कहते हैं । किसका तत्त्व जानता है ? अतः कहते हैं – 'गुणकर्मविभागयोः' =गुण-

32. चराचर जगत् के कारण को 'प्रकृति' कहते हैं (प्रकरोतीति प्रकृतिः) । सांख्यमतानुसार सत्त्व, रज और तम – इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहते हैं । इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति को 'प्रधान' भी कहते हैं । वेदान्त-मत में इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति को 'माया' कहते हैं, इसी भेद के कारण परिणामवाद का मायावाद से व्यवहार होता है । माया मिथ्या ज्ञानात्मिका है, परमेश्वर की शक्ति है, स्वतंत्र नहीं है । सांख्यमत में प्रकृति स्वयंभू – स्वतंत्र कही जाती है । यही दोनों मतों में भेद है ।

33. यहाँ यह शंका हो सकती है कि प्रकृत श्लोक में 'तानि कर्माणि कर्ताऽहम्' – यह प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं है क्योंकि 'ण्वुलतृचौ' (पाणिनि-सूत्र, 3.1.133) सूत्र से 'कर्ता' में ' तृच्' प्रत्यय करने पर 'कर्तृकर्मणोः कृति ' (पाणिनिसूत्र, 2.6.65) सूत्र से 'कर्माणि' द्वितीयान्त पद के स्थान पर षष्ठी होने से 'तेषां कर्मणां कर्त्ताऽहम्' प्रयोग साधु है, तो इसका समाधान यह है कि 'तानि कर्माणि कर्ताऽहम्' यह प्रयोग भी शुद्ध है, क्योंकि इस प्रयोग के 'कर्ता' पद में 'तृन्' (पाणिनिसूत्र, 3.2.135) सूत्र से 'कृ' धातु से 'तृन्' प्रत्यय हुआ है; और 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पाणिनिसूत्र, 2.3.69) = 'ल (ल के आदेश शतृ, शानच् आदि), उ, उक-कृदन्त, अव्यय (क्त्वा आदि), निष्ठा (क्त, क्तवतु), खल् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय तथा तृन् प्रत्याहार (इसमें 'शतृशानचौ' (पाणिनिसूत्र, 3.2.134) के 'तृ' अक्षर से लेकर 'तृन्' ('पाणिनिसूत्र, 3.2.135) के नकार तक के प्रत्यय-शानच्, चानश्, शतृ और तृन् लिए जाते हैं) – इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती' – इस सूत्र से 'तृन्' के योग में षष्ठी का निषेध होने के कारण 'कर्माणि' पद में षष्ठी न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई है ।

गुणकर्मविभागयोः, गुणा देहेन्द्रियान्तःकरणान्यहंकारास्पदानि कर्माणि च तेषां व्यापारभूतानि ममकारास्पदानीति गुणकर्मेति द्वंद्वैकवद्भावः । विभज्यते सर्वेषां जडानां विकारिणां भासकत्वेन पृथग्भवतीति विभागः स्वप्रकाशज्ञानरूपोऽसङ्ग आत्मा । गुणकर्म च विभागश्चेति द्वंद्वः । तयोर्गुणकर्मविभागयोर्भास्यभासकयोर्जडचैतन्ययोर्विकारिनिर्विकारयोस्तत्त्वं याथात्म्यं यो वेत्ति स गुणाः करणात्मका गुणेषु विषयेषु प्रवर्तन्ते विकारित्वान्न तु निर्विकार आत्मेति मत्वा न सज्जते सक्तिं कर्तृत्वाभिनिवेशमतत्त्वविदिव न करोति । हे महाबाहो, इति संबोधयन्सामुद्रिकोक्तसत्पुरुषलक्षणयोगित्वान्न पृथग्जनसाधारण्येन त्वमविवेकी भवितुमर्हसीति सूचयति ।

80 **गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविदिति वा । अस्मिन्पक्षे गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् ॥ 28 ॥**

कर्म और विभाग का तत्त्व जानता है । गुण से यहाँ अहंकारास्पद = अहिमित्याकारक प्रतीति के विषय देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण विवक्षित है[35] तथा कर्म से उन देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण के व्यापारभूत ममकारास्पद = ममकार के विषय इष्ट है ।[36] 'गुण-कर्म' -- इनका द्वन्द्वैकवद्भाव है ।[37] जो समस्त जड़ विकारियों का भासक होने से उनसे विभक्त-पृथक् है वह स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप असङ्ग आत्मा 'विभाग' है । गुणकर्म और विभाग -- इनमें द्वन्द्व समास है ।[38] उन गुणकर्म और विभाग = भास्य और भासक = जड़ और चैतन्य = विकारी और निर्विकार के तत्त्व = यथार्थ स्वरूप को जो जानता है वह यह मानकर कि 'करणात्मक = इन्द्रियरूप गुण ही गुणों = विषयों में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि वे विकारी हैं, निर्विकार आत्मा नहीं', -- आसक्त नहीं होता अर्थात् अतत्त्ववित् के समान आसक्ति = कर्तृत्व का अभिनिवेश नहीं करता । 'हे महाबाहो !' -- ऐसा सम्बोधन करके यह सूचित करते हैं कि सामुद्रिकशास्त्रोक्त सत्पुरुष के लक्षणों से युक्त होने के कारण तुम अन्य साधारण जनों के समान अविवेकी होने के योग्य नहीं हो ।

80 अथवा, 'गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित्' -- इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्ववित् । इस पक्ष में 'गुणकर्मणोः' -- इतने से ही निर्वाह हो जाता है, अतः 'विभाग' पद का प्रयोजन चिन्त्य = विचारणीय है[39] ॥ 28 ॥

---

34. अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप से जो जानता है वही 'तत्त्ववित्' कहा जाता है ।

35. जैसे – 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्', 'काणोऽहम्', 'बधिरोऽहम्', 'मूढोऽहम्' = 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ', 'मैं काणा हूँ', 'मैं बधिर हूँ', 'मैं मूढ़ हूँ' – इत्यादि प्रतीतियाँ लोक में प्रसिद्ध है ।

36. जैसे –'मैंने अपने देह से परिश्रम किया', 'मैने अपने नेत्र से देखा', 'मैने अपने मन से सोचा' – इत्यादि प्रतीतियाँ लोक में प्रसिद्ध हैं ।

37. 'गुणकर्म' पद में 'गुणश्च कर्म च अनयोः समाहारः गुणकर्म'– इसप्रकार समाहार द्वन्द्व समास होने कारण एक वचन है ।

38. 'गुणकर्म च विभागश्चेति द्वन्द्वः' = गुणकर्म और विभाग – इन द्रोनों पदों में इतरेतर द्वन्द्व समास है । अतः 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' (पाणिनिसूत्र, 2.4.26) = 'द्वन्द्व और तत्पुरुष समास के अर्थ में पर पद के समान अर्थात् उत्तर पद को अभिलक्षित कर लिङ्ग प्रयोग किया जाता है' -- इस सूत्र से पर पद 'विभाग' को अभिलक्षित कर-पुल्लिङ्ग होकर 'गुणाकर्मविभागौ' -- यह प्रथमा द्विवचन में रूप निष्पन्न हुआ है और प्रकृत में षष्ठी द्विवचन में 'गुणकर्मविभागयोः'– यह रूप निष्पन्न होकर प्रयुक्त हुआ है ।

39. यहाँ आचार्य धनपति कहते हैं कि प्रकृत में मधुसूदन सरस्वती ने 'गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम्' – ऐसा कहकर भगवान् भाष्यकार शंकर के 'गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविदिति' -- इस

81 तदेवं विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येन विद्वानविदुषो बुद्धिभेदं न कुर्यादित्युक्तमुपसंहरति—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ 29 ॥

82 प्रकृतेः पूर्वोक्ताया मायाया गुणैः कार्यतया धर्मैर्देहादिभिर्विकारैः सम्यङ्मूढाः स्वरूपास्फुरणेन तानेवाऽऽत्मत्वेन मन्यमानास्तेषामेव गुणानां देहेन्द्रियान्तःकरणानां कर्मसु व्यापारेषु सज्जन्ते सक्तिं वयं कर्मस्तत्फलायेति दृढतरामात्मीयबुद्धिं कुर्वन्ति ये तान्कर्मसङ्गिनोऽकृत्स्नविदोऽनात्मा-

81 इसप्रकार विद्वान् और अविद्वान् के कर्मानुष्ठान में समानता रहने पर भी विद्वान् को अपने अभिप्राय के अनुसार उपदेश देकर अविद्वान् की बुद्धि विचलित नहीं करनी चाहिए[40] – इस उक्तार्थ का उपसंहार करते हैं --

[प्रकृति = माया के गुणों से अत्यन्त मूढ़ हुए पुरुष देहेन्द्रिय आदि गुणों के कर्मों में आसक्ति करते हैं, उन मन्द अनात्मज्ञ पुरुषों को पूर्णतत्त्वज्ञ = परिपूर्ण ब्रह्म के ज्ञाता विद्वान् कर्म की श्रद्धा से विचलित न करें ॥ 29 ॥]

82 प्रकृति के = पूर्वोक्त माया के गुणों से = कार्य होने के कारण धर्मों से अर्थात् देहादि विकारों से अत्यन्त मूढ़ = स्वरूप का स्फुरण न होने के कारण उन देहादि को ही आत्मरूप माननेवाले उन गुणों के ही = देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणों के ही कर्मों = व्यापारों में आसक्ति करते हैं = उनमें आसक्ति अर्थात् 'हम फल के लिए कर्म करते हैं' -- इस प्रकार दृढ़तर आत्मीयबुद्धि करते हैं जो उन कर्मसङ्गियों को अकृत्स्नवित् = अनात्माभिमानी -- अनात्मज्ञ मन्द = अशुद्ध चित्त होने के कारण

भाष्य पर आक्षेप किया है । वस्तुतः भाष्य के अर्थ को न समझकर ही मधुसूदन सरस्वती ने भाष्य पर आक्षेप किया है । भाष्य का अर्थ इस प्रकार है -- " नाहं कार्यकरणसंघातात्मेति गुणेभ्य आत्मनो विभागः न मे कर्माणीत्यात्मनस्तेभ्यो विभागः गुणकर्मभ्यां विभक्तात्मसाक्षात्कारवान् । तथा च नायमहंकारविमूढात्मा नापि कर्मण्यासक्तो येनाहं कर्तेति मन्येत" = "मैं कार्य-कारण का संघातात्मा नहीं हूँ' – इसप्रकार गुणों से आत्मा के विभाग, तथा 'मेरे कर्म नहीं हैं' – इसप्रकार कर्मों से आत्मा के विभाग को जानने वाला अर्थात् गुण और कर्मों से विभक्त साक्षात्कारवान् तत्त्ववेत्ता अहंकारविमूढात्मा नहीं कहा जा सकता और न वह कर्म में आसक्त ही होता है जिससे 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा अभिमान करे, क्योंकि वह उन दोनों से अतिरिक्त 'आत्मा' को जानता है" -- यह अर्थ 'विभाग' पद के न रहने पर नहीं हो सकता । अतः 'गुणकर्मविभागयोः'पद में 'विभाग' पद सप्रयोजन है, व्यर्थ नहीं है । इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'गुणकर्मविभागयोः' – पद का समासविग्रह इसप्रकार समझना चाहिए -- 'विभागश्च विभागश्च विभागौ गुणकर्मभ्यो विभागौ गुणकर्मविभागौ तयोः गुणकर्मविभागयोः' – इति ।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रदर्शित व्याख्या ही विचारणीय है । उन्होंने 'गुणकर्मविभागयोः' पद का समासविग्रह किया है – 'गुणकर्म च विभागश्चेति द्वन्द्वः' – इसप्रकार इतरेतरद्वन्द्व समास करने पर यहाँ 'विभाग' पद अल्पाच् और 'आत्मा' का बोधक होने से अभ्यर्हित है । अतः 'अल्पाच्तरम्' (पाणिनिसूत्र, 2.2.34) = 'जिस पद में थोड़े स्वर होते हैं, उसका द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयोग होता है' – इस सूत्र से और 'अभ्यर्हितं च' (वार्तिक – 1412) = 'द्वन्द्व में श्रेष्ठ = पूज्य (अभ्यर्हित) का पूर्व निपात होता है' -- इस वार्तिक से 'विभाग' पद का पूर्वनिपात होगा, ऐसा होने पर 'गुणकर्मविभागयोः' – पद ही असंगत हो जायेगा । तथा पूर्वनिपात प्रकरण को अनित्य मानकर उक्त प्रयोग की उपपत्ति तो अगति की गति होगी जो भाष्योक्त रीति से गति रहने पर अनुचित ही होगी । इसके अतिरिक्त 'विभाग' पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अप्रसिद्धार्थ की कल्पना और क्लिष्ट कल्पना करना भी अनुचित ही है जैसी कि मधुसूदन सरस्वती ने अपने व्याख्यान में की है (द्रष्टव्य -- भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

40. तात्पर्य यह है कि विद्वान् को अविद्वान् के लिए सत्य और हितकर वही उपदेश करना चाहिए जिसमें अविद्वान् का कल्याण हो, जिस समीचीन उपदेश से भी उसका अहित हो उसका उपदेश नहीं करना चाहिए ।

भिमानिनो मन्दानशुद्धचित्तत्वेन ज्ञानाधिकारमप्राप्तान्कृत्स्नवित्परिपूर्णात्मवित्स्वयं न विचालयेत्कर्मश्रद्धातो न प्रच्यावयेदित्यर्थः । ये त्वमन्दा शुद्धान्तःकरणास्ते स्वयमेव विवेकोदयेन विचलन्ति ज्ञानाधिकारं प्राप्ता इत्यभिप्रायः ।

83 कृत्स्नाकृत्स्नशब्दावात्मानात्मपरतया श्रुत्यर्थानुसारेण वार्तिककृद्भिर्व्याख्यातौ –

'सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः कृत्स्नं वस्तु यतोऽद्वयम् ।
संभवस्तद्विरुद्धस्य कुतोऽकृत्स्नस्य वस्तुनः ॥
यस्मिन्दृष्टेऽप्यदृष्टोऽर्थः स तदन्यश्च शिष्यते ।
तथाऽदृष्टेऽपि दृष्टः स्यादकृत्स्नस्तादृगुच्यते ॥' इति ।

अनात्मनः सावयवत्वादनेकधर्मवत्त्वाच्च केनचिद्धर्मेण केनचिदवयवेन वा विशिष्टे तस्मिन्नेकस्मिन्घटादौ ज्ञातेऽपि धर्मान्तरेणावयवान्तरेण वा विशिष्टः स एवाज्ञातोऽवशिष्यते । तदन्यश्च पटादिरज्ञातोऽवशिष्यत एव । तथा तस्मिन्घटादावज्ञातेऽपि पटादिर्ज्ञातः स्यादिति तज्ज्ञानेऽपि तस्यान्यस्य चाज्ञानात्तदज्ञानेऽप्यन्यज्ञानाच्च सोऽकृत्स्न उच्यते । कृत्स्नस्त्वद्वय आत्मैव तज्ज्ञाने कस्यचिदवशेषस्याभावादिति श्लोकद्वयार्थः ॥ 29 ॥

84 एवं कर्मानुष्ठानसाम्येऽप्यज्ञविज्ञयोः कर्तृत्वाभिनिवेशतदभावाभ्यां विशेष उक्तः । इदानीमज्ञस्यापि मुमुक्षोरमुमुक्ष्वपेक्षया भगवदर्पणं फलाभिसंध्यभावं च विशेषं वदन्नज्ञतयाऽर्जुनस्य कर्माधिकारं द्रढयति–

ज्ञानाधिकार को अप्राप्त पुरुषों को कृत्स्नवित् = परिपूर्णात्मवित् -- परिपूर्ण आत्मा का ज्ञाता स्वयं विचलित न करे अर्थात् कर्म की श्रद्धा से च्युत न करे । जो अमन्द अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं वे तो विवेक का उदय होने से स्वयं ही विचलित होते हैं, क्योंकि उनको तब ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है -- यह अभिप्राय है ।

83 कृत्स्न और अकृत्स्न शब्दों की वार्तिककार ने भी श्रुति के तात्पर्य के अनुसार आत्मा और अनात्मा के वाचकरूप से व्याख्या की है --

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यों के अनुसार अद्वय-अखण्ड आत्मा ही कृत्स्नपूर्णवस्तु है, इसलिए उससे विरुद्ध अकृत्स्न -- अपूर्ण वस्तु की सम्भावना ही कैसे हो सकती है । जिस वस्तु को देख लेने पर भी उससे भिन्न कोई दूसरा अदृष्ट = न देखा हुआ पदार्थ रह जाय तथा जिसको न देखने पर भी उस भिन्न पदार्थ को देखा जा सके वह 'अकृत्स्न' कहा जाता है ।"

अनात्मा के सावयव और अनेक धर्मवान् होने के कारण किसी धर्म अथवा किसी अवयव से विशिष्ट एक घटादि के ज्ञात होने पर भी धर्मान्तर अथवा अवयवान्तर से विशिष्ट होने पर वही घटादि अज्ञात रहता है; उससे भिन्न पटादि तो अज्ञात ही रहता है । इसीप्रकार उस घटादि के अज्ञात रहने पर भी पटादि ज्ञात रहता है, पटादि का ज्ञान होने पर भी उससे भिन्न वस्तु का ज्ञान न होने से और उसका ज्ञान न होने पर भी उससे भिन्न का ज्ञान होने से वह 'अकृत्स्न' कहलाता है । कृत्स्न तो अद्वय = अद्वैत आत्मा ही है, उसका ज्ञान होने पर कोई अज्ञात अवशिष्ट नहीं रहता है -- यह वार्तिक के दोनों श्लोकों का अर्थ है ।। 29 ।।

84 इसप्रकार अज्ञानी और ज्ञानी के कर्मानुष्ठान में समानता रहने पर भी कर्तृत्व के अभिनिवेश और उसके अभाव के कारण अज्ञानी और ज्ञानी का भेद कहा । अब अज्ञानी भी मुमुक्षु की अमुमुक्षु

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ 30 ॥

85 **मयि भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वनियन्तरि सर्वात्मनि सर्वाणि कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च सर्वप्रकाराणि अध्यात्मचेतसाऽहं कर्ताऽन्तर्याम्यधीनस्तस्मा एवेश्वराय राज्ञ इव भृत्यः कर्माणि करोमीत्यनया बुद्ध्या संन्यस्य समर्प्य निराशीर्निष्कामो निर्ममो देहपुत्रभ्रात्रादिषु स्वीयेषु ममताशून्यो विगतज्वरः । संतापहेतुत्वाच्छोक एव ज्वरशब्देनोक्तः । ऐहिकपारत्रिकदुर्यशोनरकपातादिनिमित्तशोकरहितश्च भूत्वा त्वं मुमुक्षुर्युध्यस्व विहितानि कर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः । अत्र भगवदर्पणं निष्कामत्वं च सर्वकर्मसाधारणं मुमुक्षोः । निर्ममत्वं त्यक्तशोकत्वं च युद्धमात्रे प्रकृत इति द्रष्टव्यमन्यत्र ममताशोकयोरप्रसक्तत्वात् ॥ 30 ॥**

की अपेक्षा से भगवदर्पण और फलाभिसन्धि = फलाशा का अभाव -- यह विशेषता बतलाते हुए अज्ञानी होने के कारण अर्जुन के कर्माधिकार को भगवान् दृढ़ करते है --
[तुम अध्यात्मबुद्धि से सम्पूर्ण कर्मों को मुझे अर्पण कर, फल की आशा और ममता से रहित होकर, शोकहीन होकर युद्ध करो ॥ 30 ॥]

85 मुझे = सर्वात्मा, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, परमेश्वर भगवान् वासुदेव को ही सम्पूर्ण कर्म = लौकिक और वैदिक सब प्रकार के कर्म अध्यात्मबुद्धि से = 'मैं कर्ता अन्तर्यामी के अधीन हूँ और सेवक जैसे राजा के लिए कर्म करता है उसी प्रकार मैं भी उस ईश्वर के लिए ही कर्म करता हूँ' -- ऐसी बुद्धि से संन्यस्त करके = समर्पण[41] करके निराशी: = निष्काम, निर्मम = देह, पुत्र, भ्राता आदि आत्मीयों में ममताशून्य, और विगतज्वर होकर -- यहाँ संताप का हेतु होने से 'ज्वर' शब्द से शोक ही कहा गया है, अत: किसी ऐहिक या पारलौकिक कारण से, अपकीर्ति से, अथवा नरकपातादि कारणों से होनेवाले शोक से रहित होकर तुम युद्ध करो = मुमुक्षु होने के कारण विहित कर्म करो -- यह अभिप्राय है । यहाँ मुमुक्षु के लिए भगवदर्पण और निष्कामता तो सम्पूर्ण कर्मों में समान हैं, किन्तु निर्ममत्व और त्यक्तशोकत्व प्रकृत युद्धमात्र से ही सम्बन्धित हैं -- यह द्रष्टव्य है, क्योंकि दूसरे कर्मों में तो ममता और शोक का प्रसंग ही नहीं होता[42] ॥ 30 ॥

41. कर्मो का समर्पण दो प्रकार से होता है – ईश्वरार्पण और ब्रह्मार्पण । ईश्वरार्पण पुनः दो प्रकार का होता है – (क) 'मैं कर्ता हूँ'– इस प्रकार का अभिमान पूर्णरूप से त्याग कर कर्म करना । जब साधक में 'भगवान् की प्रकृति ही समस्त कर्मों के द्वारा भगवान् की ही सेवा कर रही है । देह, इन्द्रिय, अन्त:करण – यह सब तो प्रकृति ही हैं । 'मैं' भी प्रकृति ही हूँ । अत: 'मैं कर्ता हूँ' – यह कैसे हो सकता है । ईश्वर ही अपनी प्रकृति के द्वारा अपने कर्मों को करता है और ईश्वर ही कर्ता होने से कर्मफल भी उसका ही होता है' – ऐसी दृढ़ बुद्धि हो जाती है तो वह पूर्णरूप से 'मैं कर्ता नहीं हूँ' – इसप्रकार कर्तृत्व के अभिमान से शून्य होकर यंत्र की तरह समस्त कर्मों को ईश्वर में अर्पण करने में समर्थ होता है । यह प्रथम प्रकार का ईश्वरार्पण है । (ख) आंशिकरूप से 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा अभिमान कर कर्म करना । आंशिक रूप से 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा अभिमान कर कर्म करनेवाले व्यक्ति यह नहीं समझ पाते हैं कि अखंड चित्शक्ति = माया = प्रकृति ही विश्व का कार्य कर रही है । अत: वे अपने को ईश्वर के अंशरूप से कल्पना करके भगवान् की आज्ञा के अनुसार ईश्वर के ही दास या दासी के रूप में कर्म करते हुए समस्त कर्मों को ईश्वर में ही अर्पण कर देते हैं । यह द्वितीय प्रकार का ईश्वरार्पण है । **ब्रह्मार्पण** में ज्ञानी व्यक्ति समस्त जगत् और अपने को ब्रह्म ही मानते हैं । कर्ता, कर्म, करण, कर्मफल इत्यादि सब प्रकृति के गुणों का ही कार्य है अर्थात् ब्रह्मरूप अधिष्ठान में माया के द्वारा ही वे रचित होते हैं । अत: उनकी ब्रह्म की सत्ता से कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है । इस कारण से ज्ञानी की दृष्टि से कर्ता, कर्म इत्यादि ब्रह्म ही है अर्थात् वे सब उनकी अपनी आत्मा ही है । यही ब्रह्मार्पण है ।

86 फलाभिसंधिराहित्येन भगवदर्पणबुद्ध्या विहितकर्मानुष्ठानं सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण मुक्तिफलमित्याह –

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ 31 ॥

87 इदं फलाभिसंधिराहित्येन विहितकर्माचरणरूपं मम मतं नित्यं नित्यवेदबोधित – त्वेनानादिपरम्परागतमावश्यकमिति वा सर्वदेति वा । मानवा मनुष्या ये केचिन्मनुष्याधिकारित्वात्कर्मणां श्रद्धावन्तः शास्त्राचार्योपदिष्टेऽर्थेऽननुभूतेऽप्येवमेवैतदिति विश्वासः श्रद्धा तद्वन्तः। अनसूयन्तः, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । सा च दुःखात्मके कर्मणि मां प्रवर्तयन्नकारुणिकोऽयमित्येवंरूपा प्रकृते प्रसक्ता तामसूयां मयि गुरौ वासुदेवे सर्वसुहृद्यकुर्वन्तो येऽनुतिष्ठन्ति तेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण सम्यग्ज्ञानिवन्मुच्यन्ते कर्मभिर्धर्माधर्माख्यैः ॥ 31 ॥

88 एवमन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह–

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ 32 ॥

---

86 फल की कामना से रहित होकर भगवदर्पण बुद्धि से विहित कर्मों का अनुष्ठान सत्त्वशुद्धि-चितशुद्धि और ज्ञानप्राप्ति द्वारा मुक्तिफलक है -- यह कहते हैं --
[जो मनुष्य श्रद्धावान् और असूयारहित होकर नित्य -- सर्वदा मेरे इस मत का अनुसरण करते हैं वे भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं ॥ 31 ॥]

87 फल की कामना से रहित होकर भगवदर्पण बुद्धि से विहित कर्मों का आचरणरूप मेरा यह मत नित्य है अर्थात् नित्य वेद द्वारा बोधित -- प्रतिपादित होने के कारण अनादि परम्परा से प्राप्त है अथवा आवश्यक है; अथवा नित्य = सर्वदा ही जो कोई मानव = मनुष्य कर्मों के अधिकारी होने के कारण श्रद्धावान् = शास्त्र और आचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थ में अनुभूत न होने पर भी 'यह ऐसा ही है' -- इसप्रकार का विश्वास श्रद्धा है उससे युक्त होकर और असूया न करते हुए= गुणों में भी दोष निकालना असूया है[43], 'यह बड़ा अकारुणिक है जो मुझको इस दु:खात्मक कर्म में प्रवृत्त कर रहा है' -- यह उसका स्वरूप है, प्रकृत में प्रसक्त उस असूया को सबके सुहृद और अपने गुरु मुझ वासुदेव के प्रति न करते हुए मेरे इस मत का अनुसरण करते हैं वे भी चित्तशुद्धि और ज्ञानप्राप्ति के द्वारा सम्यग्ज्ञानी के ही समान धर्माधर्मरूप कर्मों से मुक्त हो जाते हैं ॥ 31 ॥

88 इसप्रकार अन्वय में गुण कहकर व्यतिरेक में दोष कहते हैं --
[जो लोग दोषदृष्टिपरायण होकर मेरे इस मत का अनुष्ठान -- अनुसरण नहीं करते हैं उन दुष्टचित्त और सब प्रकार के ज्ञान में अनेक प्रकार से मूढ़ पुरुषों को तुम समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट समझो ॥ 32 ॥]

---

42. मधुसूदन सरस्वती का यह व्याख्यान विचारणीय है कि युद्ध के अतिरिक्त अन्यत्र ममता और शोक का प्रसंग ही नहीं होता । सभी कर्मों में 'ममेदम्' = 'यह मेरा है' – ऐसी 'ममता' का प्रसंग होता है और निष्फल अथवा कष्टसाध्य कर्म में ज्वर = 'शोक' का भी प्रसंग होता है । जैसा कि भगवान् ने शोकादि की निवृत्ति के लिए ही गीता में ही कहा है – 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' (गीता, 2.48) इत्यादि । (द्रष्टव्य-भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

43. 'अ[illegible] तु दोषारोपो गुणेष्वपि' (अमरकोश, 1.7.24) = औद्धत्य से किसी के गुणों में दोषों का आरोप करना 'असूया' है ।

89 तुशब्दः श्रद्धावद्वैधर्म्यमश्रद्धां सूचयति । तेन ये नास्तिक्यादश्रद्दधाना अभ्यसूयन्तो दोषमुद्भावयन्त एतन्मम मतं नानुवर्तन्ते तानचेतसो दुष्टचित्तानत एव सर्वज्ञानविमूढान्सर्वत्र कर्मणि ब्रह्मणि सगुणे निर्गुणे च यज्ज्ञानं तत्र विविधं प्रमाणतः प्रमेयतः प्रयोजनतश्च मूढान्सर्वप्रकारेणायोग्यान्नष्टान्सर्वपुरुषार्थभ्रष्टान्विद्धि जानीहि ॥ 32 ॥

90 ननु राज्ञ इव तव शासनातिक्रमे भयं पश्यन्तः कथमसूयन्तस्तव मतं नानुवर्तन्ते कथं वा सर्वपुरुषार्थसाधने प्रतिकूला भवन्तीत्यत आह--

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं याति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ 33 ॥

91 प्रकृतिर्नाम प्राग्जन्मकृतधर्माधर्मज्ञानेच्छादिसंस्कारो वर्तमानजन्मन्यभिव्यक्तः सर्वतो बलवान् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इतिश्रुतिप्रमाणकः । तस्याः स्वकीयाया प्रकृतेः सदृशमनुरूपमेव सर्वो जन्तुर्ज्ञानवान्ब्रह्मविदपि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इतिन्यायात्, गुणदोषज्ञानवान्वा चेष्टते किं पुनर्मूर्खः । तस्माद्भूतानि सर्वे प्राणिनः प्रकृतिं यान्ति अनुवर्तन्ते

89 यहाँ 'तु' शब्द श्रद्धावान् के धर्म से विपरीत अश्रद्धा को सूचित करता है । उसके कारण जो नास्तिकता से श्रद्धा न करते हुए और असूया = दोषों की उद्भावना -- कल्पना करते हुए मेरे इस मत का अनुवर्तन -- अनुसरण नहीं करते हैं उन अचेता = दुष्टचित्त अतएव सर्वज्ञानविमूढ = सर्वत्र अर्थात् कर्म तथा सगुण और निर्गुण ब्रह्म में जो ज्ञान है उसमें विविधरूप से अर्थात् प्रमाण से, प्रमेय से और प्रयोजन से मूढ़ अर्थात् सब प्रकार से अयोग्य पुरुषों को तुम नष्ट = समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट समझो ।। 32 ।।

90 'राजा की आज्ञा के समान आपकी आज्ञा का उल्लंघन करने में भय देखते हुए भी वे किसप्रकार दोषदृष्टिपरायण होकर आपके मत का अनुवर्तन -- अनुसरण नहीं करते हैं और क्यों सम्पूर्ण पुरुषार्थों के साधन के प्रतिकूल रहते है' -- ऐसा यदि कोई कहे तो भगवान् कहते हैं --
[ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है, अतः समस्त प्राणी अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं । इसमें निग्रह क्या करेगा ? ।। 33 ।।]

91 'प्रकृति' पूर्वजन्म में कृत धर्म, अधर्म, ज्ञान, इच्छा आदि के संस्कार का नाम है, वह वर्तमान जन्म में अभिव्यक्त होकर सर्वतः बलवान् होता है, इसमें श्रुति प्रमाण है -- 'विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा उसका अनुसरण करते हैं' (बृह० उ०, 4.4.2) । उस अपनी प्रकृति के सदृश -- अनुरूप ही समस्त प्राणी, यहाँ तक कि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' = 'इन्द्रियादि का व्यवहार ज्ञानी, अज्ञानी और पशुओं का भी अज्ञानजनित ही होता है, अतः उसमें ज्ञानी का अज्ञानी और पशुआदि से कोई भेद नहीं है ' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, उपोद्घात) इस न्याय से ज्ञानवान् = ब्रह्मवेत्ता अथवा गुण-दोषों का ज्ञान रखनेवाला भी चेष्टा करता है, फिर मूर्ख की तो बात ही क्या हैं ? इसलिए भूत = समस्त प्राणी अपनी प्रकृति को ही जाते हैं अर्थात् उसका ही अनुवर्तन करते हैं, भले ही वह उनके पुरुषार्थ की भ्रंशता का ही हेतु हो । उसमें मेरा या किसी राजा का निग्रह क्या करेगा ? अर्थात् राग की उत्कटता[44] के कारण वह अपने आपको पाप से निवृत्त नहीं कर सकता । वह महान् नरक का कारण जानकर भी दुर्वासना

44. राग दो प्रकार का होता है - उत्कट और अनुत्कट । दोषाज्ञानपूर्वक इष्ट में प्रवृत्ति राग से होती है, प्रवृत्तिजनक राग होता है । प्रवृत्तिकाल में दोष का ज्ञान है तो भी अनुचित कर्म में प्रवृत्ति होती है, तो वह उत्कट राग के कारण होती है । दोषाज्ञानपूर्वक इष्ट में प्रवृत्ति होती है, तो वह अनुत्कट राग के कारण होती है ।

पुरुषार्थभ्रंशहेतुभूतामपि । तत्र मम वा राज्ञो वा निग्रहः किं करिष्यति । रागौत्कट्येन दुरितान्निवर्तयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । महानरकसाधनत्वं ज्ञात्वाऽपि दुर्वासनाप्राबल्यात्पापेषु प्रवर्तमाना न मच्छासनातिक्रमदोषाद्बिभ्यतीति भावः ॥ 33 ॥

92 **ननु सर्वस्य प्राणिवर्गस्य प्रकृतिवशवर्तित्वे लौकिकवैदिकपुरुषकारविषयाभावाद्विधिनिषेधानर्थक्यं प्राप्तं, न च प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति यं प्रति तदर्थवत्त्वं स्यादित्यत आह—**

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ 34 ॥

93 **इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सया सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थे विषये शब्दे स्पर्श रूपे रसे गन्धे च । एवं कर्मेन्द्रियविषयेऽपि वचनादावनुकूले शास्त्रनिषिद्धेऽपि रागः प्रतिकूले शास्त्रविहितेऽपि द्वेष इत्येवं प्रतीन्द्रियार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितावानुकूल्यप्रातिकूल्यव्यवस्थया स्थितौ न त्वनियमेन सर्वत्र तौ भवतः। तत्र पुरुषकारस्य शास्त्रस्य चायं विषयो यत्तयोर्वशं नाऽऽगच्छेदिति । कथं या हि पुरुषस्य प्रकृतिः सा बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृतेष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं रागं पुरस्कृत्यैव शास्त्रनिषिद्धे कलञ्जभक्षणादौ प्रवर्तयति । तथा बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृतानिष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं द्वेषं पुरुस्कृत्यैव शास्त्रविहितादपि संध्यावन्दनादेर्निवर्तयति । तत्र शास्त्रेण प्रतिषिद्धस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वे ज्ञापिते सहकार्यभावात्केवलं दृष्टेष्टसाधनताज्ञानं मधुविषसंपृक्तान्नभोजन इव तत्र न रागं जनयितुं**

की प्रबलता के कारण पापों में प्रवर्तमान मेरी आज्ञा के उल्लंघन के दोष से नहीं डरता -- यह भाव है ॥ 33 ॥

92 'यदि समस्त प्राणिवर्ग प्रकृति के ही वशीभूत है,तो लौकिक या वैदिक कर्म पुरुषार्थ के कोई विषय न रहने के कारण विधि और निषेध की व्यर्थता प्राप्त होती है, क्योंकि प्रकृति से शून्य तो कोई है नहीं, जिसके प्रति उसकी सार्थकता हो' -- ऐसी शंका हो तो भगवान् कहते हैं --
[इन्द्रिय -- इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष अनुकूलता और प्रतिकूलता की व्यवस्था से स्थित रहते हैं, उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे ही इसके शत्रु हैं ॥ 34 ॥]

93 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्य' -- यहाँ 'इन्द्रियस्य' शब्द की वीप्सा -- द्विरुक्ति से 'सर्वेषामिन्द्रियाणाम्' = 'सभी इन्द्रियों का' -- यह अर्थ ग्रहण है अर्थात् सभी इन्द्रियों के अर्थ = विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं । इसीप्रकार कर्मेन्द्रियों के विषय वचनादानविहरणोत्सर्गानन्द हैं । इन विषयों में जो विषय अनुकूल प्रतीत होता है, वह शास्त्र से निषिद्ध भी हो, तो भी उसमें राग होता है; इसीप्रकार जो प्रतिकूल प्रतीत होता है, वह शास्त्रविहित भी हो, तो भी उसमें द्वेष होता है । इसप्रकार अनुकूलता और प्रतिकूलता की व्यवस्था से प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ = विषय में राग और द्वेष स्थित रहते हैं, किन्तु वे अनियम से सर्वत्र नहीं होते अर्थात् प्रतिकूल में राग और अनुकूल में द्वेष कभी नहीं होता । इसमें पुरुषाकार = पुरुष प्रयत्न -- पुरुषार्थ और शास्त्र का यह विषय है कि उन राग और द्वेष के वश में न हो । क्यों ? क्योंकि पुरुष की जो प्रकृति है वह बलवदनिष्टसाधनता के ज्ञान के अभाव से सहकृत इष्टसाधनता के ज्ञान के कारण राग को पुरस्कृत करके ही उसको शास्त्रनिषिद्ध कलञ्जभक्षणादि में प्रवृत्त करती है तथा बलवदिष्टसाधनता के ज्ञान के अभाव से सह-

शक्नोति । एवं विहितस्य शास्त्रेण बलवदिष्टानुबन्धित्वे बोधिते सहकार्यभावात्केवलमनिष्टसाधनत्वज्ञानं भोजनादाविव तत्र न द्वेषं जनयितुं शक्नोति । ततश्चाप्रतिबद्धं शास्त्रं विहिते पुरुषं प्रवर्तयति निषिद्धाच्च निवर्तयतीति शास्त्रीयविवेकविज्ञानप्राबल्येन स्वाभाविकरागद्वेषयोः कारणोपमर्देनोपमर्दात्र प्रकृतिर्विपरीतमार्गे पुरुषं शास्त्रदृष्टिं प्रवर्तयितुं शक्नोतीति न शास्त्रस्य पुरुषकारस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गः ।

94 **तयो रागद्वेषयोर्वशं नाऽऽगच्छेत्तदधीनो न प्रवर्तेत निवर्तेत वा किन्तु शास्त्रीयतद्विपक्षज्ञानेन तत्कारणविघटनद्वारा तौ नाशयेत् । हि यस्मात्तौ रागद्वेषौ स्वाभाविकदोषप्रयुक्तावस्य पुरुषस्य श्रेयोर्थिनः परिपन्थिनौ शत्रू श्रेयोमार्गस्य विघ्नकर्तारौ दस्यू इव पथिकस्य इदं च "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त" इत्यादिश्रुतौ स्वाभाविकरागद्वेषनिमित्तशास्त्रविपरीतप्रवृत्तिमसुरत्वेन शास्त्रीयप्रवृत्तिं च देवत्वेन निरूप्य व्याख्यातमतिविस्तरेणेत्युपरम्यते ॥ 34 ॥**

95 **ननु स्वाभाविकरागद्वेषप्रयुक्तपश्वादिसाधारणप्रवृत्तिप्रहाणेन शास्त्रीयमेव कर्म कर्तव्यं चेत्तर्हि यत्सुकरं भिक्षाशनादि तदेव क्रियतां किमतिदुःखावहेन युद्धेनेत्यत आह–**

कृत अनिष्टसाधनता के ज्ञान के कारण द्वेष को पुरस्कृत करके ही शास्त्रविहित भी सन्ध्यावन्दनादि से निवृत्त करती है । ऐसी स्थिति में शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध वस्तु की बलवदनिष्टसाधनता का ज्ञान करा दिये जाने पर सहकारी कारण का अभाव हो जाने से केवल दृष्ट इष्टसाधनता का ज्ञान जैसे मधु-विषसंपृक्त अन्न-भोजन में रागोत्पत्ति नहीं करता वैसे ही शास्त्रनिषिद्ध कलञ्जभक्षणादि में राग उत्पन्न नहीं कर सकता । इसीप्रकार शास्त्र के द्वारा विहित वस्तु की बलवदिष्टसाधनता का बोध करा दिये जाने पर सहकारी कारण का अभाव हो जाने से केवल अनिष्टसाधनता का ज्ञान जैसे भोजनादि में द्वेषोत्पत्ति नहीं करता वैसे ही शास्त्रविहित सन्ध्यावन्दनादि में द्वेष उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिए शास्त्र बिना किसी प्रतिबन्ध के पुरुष को विहित कर्म में प्रवृत्त करता है और निषिद्धकर्म से निवृत्त करता है । इसप्रकार शास्त्रीय विवेक -- विज्ञान की प्रबलता से स्वाभाविक राग और द्वेष के कारण--प्रकृति के उपमर्दन के साथ राग-द्वेष का उपमर्दन हो जाता है, इसलिए प्रकृति शास्त्रदृष्टिवाले पुरुष को विपरीत मार्ग में प्रवृत्त नहीं कर सकती । इसप्रकार शास्त्र और पुरुषकार -- पुरुषार्थ की व्यर्थता का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता ।

94 उन राग-द्वेष के वश में न हो अर्थात् उनके अधीन होकर कर्म में प्रवृत्त या निवृत्त न हो, किन्तु शास्त्रीय उनके विपक्ष -- विरोधी ज्ञान से उनके कारण के विघटन द्वारा उनका नाश कर दे,क्योंकि स्वाभाविक दोष से होनेवाले वे राग और द्वेष इस श्रेयोर्थी = कल्याणकामी पुरुष के परिपन्थी = शत्रु हैं अर्थात् पथिक के मार्ग में विघ्न करनेवाले दस्यु की भाँति उसके श्रेयोमार्ग = कल्याणमार्ग में विघ्न करनेवाले हैं । इसकी 'प्रजापति के देव और असुर -- दो पुत्र थे, इनमें देवता छोटे थे और असुर बड़े थे, वे इस लोक में एक दूसरे से स्पर्धा करते थे' -- इत्यादि श्रुति में स्वाभाविक राग-द्वेष के कारण होनेवाली शास्त्रविपरीत प्रवृत्ति का असुररूप से और शास्त्रीयप्रवृत्ति का देवरूप से निरूपण करके अतिविस्तारपूर्वक व्याख्या की है, अतः इस चर्चा से उपरत होते हैं ।। 34 ।।

95 'यदि स्वाभाविक राग-द्वेष से प्रयुक्त पशु आदि के समान प्रवृत्ति का प्रहाण -- त्याग कर शास्त्रीय ही कर्म करना चाहिए, तो जो अत्यन्त सुकर भिक्षाशनादि हैं वे ही करने चाहिए, इस अत्यन्त दुःखावह युद्ध से क्या प्रयोजन है ?' -- ऐसा यदि कोई कहे तो भगवान् कहते हैं --

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ 35 ॥

96 **श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वधर्मो यं वर्णाश्रमं वा प्रति यो विहितः स तस्य स्वधर्मो विगुणोऽपि सर्वाङ्गोपसंहारमन्तरेण कृतोऽपि परधर्मात्स्वं प्रत्यविहितात्स्वनुष्ठितात्सर्वाङ्गोपसंहारेण संपादितादपि । न हि वेदातिरिक्तमानगम्यो धर्मः, येन परधर्मोऽप्यनुष्ठेयो धर्मत्वात्स्वधर्मवदित्यनुमानं तत्र मानं स्यात् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति न्यायात् । अतः स्वधर्मे किंचिदङ्गहीनेऽपि स्थितस्य निधनं मरणमपि श्रेयः प्रशस्यतरं परधर्मस्थस्य जीवितादपि । स्वधर्मस्थस्य निधनं हीह लोके कीर्त्यावहं परलोके च स्वर्गादिप्रापकम् । परधर्मस्तु इहाकीर्तिकरत्वेन परत्र नरकप्रदत्वेन च भयावहो यतोऽतो रागद्वेषादिप्रयुक्तस्वाभाविकप्रवृत्तिवत्परधर्मोऽपि हेय एवेत्यर्थः ।**

97 **एवं तावद्भगवन्मताङ्गीकारिणां श्रेयःप्राप्तिस्तदनङ्गीकारिणां च श्रेयोमार्गभ्रष्टत्वमुक्तम् । श्रेयोमार्गभ्रंशेन फलाभिसंधिपूर्वककाम्यकर्माचरणे च केवलपापमात्राचरणे च बहूनि कारणानि कथितानि ये त्वेतदभ्यसूयन्त इत्यादिना । तत्रायं संग्रहश्लोकः--**

[स्वधर्म = अपना धर्म विगुण होने पर भी -- अंगवैगुण्य के कारण असम्पूर्ण रूप से अनुष्ठित होने पर भी सम्यक्-प्रकार से अनुष्ठित -- समस्त अंगों के साथ सम्पादित परधर्म से अधिक प्रशंसनीय है । स्वधर्म में मरना भी कल्याणकारक है, परधर्म तो भयावह -- भयदायक होता है ॥ 35 ॥]

96 जिस वर्ण और आश्रम के लिए जो कर्म विहित है वह उसका स्वधर्म होता है । वह स्वधर्म विगुण होने पर भी = सम्पूर्ण अङ्गों के उपसंहार के बिना कृत होने पर भी स्वनुष्ठित = सम्पूर्ण अङ्गों के उपसंहार के साथ सम्पादित परधर्म = अपने लिए अविहित धर्म की अपेक्षा श्रेयान् = अधिक प्रशंसनीय है । क्योंकि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' = 'जो पदार्थ विधिरूप हो वह धर्म है'-- इस न्याय से धर्म वेद के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से तो जाना ही नहीं जाता जिससे कि 'परधर्मोऽप्यनुष्ठेयो, धर्मत्वात्, स्वधर्मवत्'[45] = 'परधर्म भी अनुष्ठेय है, धर्म होने के कारण, स्वधर्म के समान' -- यह अनुमान उसमें प्रमाण माना जा सके । अतः कुछ अङ्गहीन होने पर भी स्वधर्म में स्थित पुरुष का निधन = मरण भी परधर्म में स्थित रहकर जीनेवाले की अपेक्षा श्रेय = अधिक प्रशंसनीय है । क्योंकि स्वधर्म में स्थित पुरुष का निधन इस लोक में कीर्तिदायक और परलोक में स्वर्गादि की प्राप्ति करानेवाला है । परधर्म तो क्योंकि इस लोक में अकीर्तिकर होने से और परलोक में नरकादि की प्राप्ति कराने वाला होने से भयावह है, अतः राग-द्वेषादि से प्रयुक्त स्वाभाविक प्रवृत्ति के समान परधर्म भी हेय ही है -- यह अभिप्राय है ।

97 इसप्रकार निस्सन्देह भगवान् के मत को अंगीकार करनेवालों को श्रेय = मोक्ष की प्राप्ति होती है और उनके मत को अंगीकार न करनेवालों का श्रेयोमार्ग से अधःपात होता है -- यह कहा गया है । 'ये

45. यह अनुमान असंगत है । इस अनुमान वाक्य में 'असिद्ध-हेत्वाभास' है । 'लिङ्ग के रूप में निश्चित न होनेवाला हेतु 'असिद्ध-हेत्वाभास' कहलाता है ('लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्धः' -- तर्कभाषा) । परधर्म में अन्यदीय की अपेक्षा से धर्मत्व ही नहीं है अर्थात् गोत्वादि जाति के समान धर्मत्व जाति नहीं है, जिससे कि गवान्तर में गोत्वादि जाति के दर्शन से तादात्म्य होने के कारण गवादि के अनुमान के समान परकीय अनुष्ठेय में धर्मत्व (लिङ्ग) के ज्ञान से अनुष्ठेय का अनुमान भी हो जायेगा । यदि ऐसा स्वीकार भी किया गया तो वह धर्मशास्त्रैकसमधिगम्य नहीं होगा । इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अनुमानादिगम्य तो होगा ही, वह अनुमानादिगम्य भी कदापि नहीं होगा । 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' -- ब्रह्मसूत्र, 3.1.25) – इस वेदान्त-सूत्र में यही सिद्ध किया गया है कि धर्म और अधर्म मात्र वेदैकसमधिगम्य हैं, अनुमानादिगम्य नहीं है ।

श्रद्धाहानिस्तथाऽसूया दुष्टचित्तत्वमूढते ।
प्रकृतेर्वशवर्त्तित्वं रागद्वेषौ च पुष्कलौ ॥
परधर्मरुचित्वं चेत्युक्ता दुर्मार्गवाहकाः ॥ 35 ॥

98 तत्र काम्यप्रतिषिद्धकर्मप्रवृत्तिकारणमपनुद्य भगवन्मतमनुवर्तितुं तत्कारणावधारणाय—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ 36 ॥

99 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' इत्यादिना पूर्वमनर्थमूलमुक्तम् । सांप्रतं च 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः' इत्यादिना बहुविस्तरं कथितम् । तत्र किं सर्वाण्यपि समप्राधान्येन कारणानि । अथवैकमेव मुख्यं कारणमितराणि तु तत्सहकारीणि केवलम् । तत्राऽऽद्ये सर्वेषां पृथक्पृथङ्निवारणे महान्प्रयासः स्यात् । अन्त्ये त्वेकस्मिन्नेव निराकृते कृतकृत्यता स्यादित्यतो ब्रूहि मे केन हेतुना प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं त्वन्मताननुवर्ती सर्वज्ञानविमूढः पुरुषः पापमनर्थानुबन्धि सर्वं फलाभिसंधिपुरःसरं काम्यं चित्रादि शत्रुवधसाधनं च श्येनादि प्रतिषिद्धं च कलञ्चभक्षणादि बहुविधं कर्माऽऽचरति स्वयं कर्तुमनिच्छन्नपि न तु निवृत्तिलक्षणं परमपुरुषार्थानुबन्धि त्वदुपदिष्टं कर्मेच्छन्नपि करोति । न च पारतन्त्र्यं विनेत्थं संभवति । अतो येन बलादिव नियोजितो राज्ञेव भृत्यस्त्वन्मतविरुद्धं सर्वानर्थानुबन्धित्वं जानन्नपि तादृशं कर्माऽऽचरति तमनर्थमार्गपर्वर्तकं मां प्रति ब्रूहि ज्ञात्वा

त्वेतदभ्यसूयन्तः' -- इत्यादि से श्रेयोमार्ग से पतित होकर फलाभिसन्धिपूर्वक काम्य कर्मों का आचरण करने में और केवल पापमात्र का आचरण करने में अनेक कारण कहे गए हैं । इस विषय में यह संग्रहश्लोक है --

'श्रद्धाहीनता, असूया, दुष्टचित्तता, मूढ़ता, प्रकृति की वशवर्त्तिता, पुष्कल राग-द्वेष और परधर्म में रुचि होना -- ये सब कुपथ के वाहक हैं' ॥ 35 ॥

98 अब काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति के कारणों का निराकरण कर भगवान् के मत का अनुवर्तन -- अनुसरण करने के लिए उनके कारण का निश्चय करने के उद्देश्य से --

[अर्जुन ने कहा -- हे वार्ष्णेय ! यह पुरुष इच्छा न होने पर भी बलात्कार से नियुक्त किये हुए के समान किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है ॥ 36 ॥]

99 आपने पहले 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' (गीता, 2.62) इत्यादि से अनर्थ का मूल = कारण कहा और अब 'प्रकृतेर्गुणसंमूढा' (गीता, 3.29) इत्यादि से उस मूल = कारण का बहुत विस्तार कहा -- तो क्या ये सभी समानरूप से प्रधानता को ग्रहण कर कारण हैं, अथवा इनमें कोई एक ही मुख्य कारण है और दूसरे उसके केवल सहकारी हैं ? इनमें प्रथम पक्ष होने पर तो उन सभी कारणों का पृथक्-पृथक् निवारण करने में महान् प्रयास = कष्ट होगा और अन्तिम पक्ष होने पर तो एक का ही निराकरण कर देने से कृतकृत्यता हो जायेगी । अतः आप मुझे बताइए कि किस कारण से प्रयुक्त = प्रेरित होकर यह आपके मत का अनुसरण न करने वाला सर्वज्ञानविमूढ़ पुरुष पाप अर्थात् परिणाम में अनर्थरूप फलकामनापूर्वक चित्रादि सम्पूर्ण काम्य कर्म, श्येनादि शत्रु के वध के साधन, कलञ्जभक्षणादि प्रतिषिद्ध कर्म इत्यादि अनेक प्रकार के कर्मों का -- स्वयं इच्छा न होने पर भी --

समुच्छेदायेत्यर्थः । हे वार्ष्णेय वृष्णिवंशे मन्मातामहकुले कृपयाऽवतीर्णेतिसंबोधनेन वार्ष्णेयीसुतोऽहं त्वया नोपेक्षणीय इति सूचयति ॥ 36 ॥

100 एवमर्जुनेन पृष्टे 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति' 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय' इत्यादिश्रुतिसिद्धमुत्तरम्--

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ 37 ॥

101 यस्त्वया पृष्टो हेतुर्बलादनर्थमार्गे प्रवर्तकः स एष काम एव महाञ्शत्रुः । यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम् । ननु क्रोधोऽप्यभिचारादौ प्रवर्तको दृष्ट इत्यत आह--क्रोध एषः । काम एव केनचिद्धेतुना प्रतिहतः क्रोधत्वेन परिणमतेऽतः क्रोधोऽप्येष काम एव । एतस्मिन्नेव महावैरिणि निवारिते सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरित्यर्थः । तन्निवारणोपायज्ञानाय तत्कारणमाह--रजोगुणसमुद्भवः । दुःखप्रवृत्ति-- बलात्मको रजोगुण एव समुद्भवः कारणं यस्य, अतः कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य

आचरण करता है, तथा जिसका परिणाम परम पुरुषार्थ है उस आपके द्वारा उपदिष्ट निवृत्तिरूप कर्म का -- इच्छा होने पर भी -- आचरण नहीं करता है । ऐसा होना परतन्त्रता = पराधीनता के बिना तो सम्भव नहीं है । अत: जिसके द्वारा बलपूर्वक राजा से प्रेरित सेवक के समान नियुक्त होकर यह आपके मत से विरुद्ध कर्म का -- उसे सब प्रकार के अनर्थमय परिणामवाला जानकर भी -- आचरण करता है, उस अनर्थ मार्ग के प्रवर्त्तक कारण को आप मुझे बताइए जिससे उसे जानकर मैं नष्ट कर सकूँ -- यह अभिप्राय है । हे वार्ष्णेय -- वृष्णिवंश अर्थात् मेरे मातामह के कुल में कृपा करके अवतीर्ण हुए ! -- ऐसा संबोधन करके यह सूचित करता है कि मैं भी वार्ष्णेयी = वृष्णिवंश में उत्पन्न हुई कुन्ती का पुत्र हूँ, इसलिए आपको मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।। 36 ।।

100 इसप्रकार अर्जुन के पूछने पर "यह पुरुष = आत्मा काममय है -- ऐसा कहते है", "पहले यह एक आत्मा ही था, उसने कामना की 'मेरी जाया हो', 'प्रजा हो', 'वित्त हो', 'मैं कर्म करूँ" --, इत्यादि श्रुतिसिद्ध उत्तर भगवान् ने दिया --

[श्रीभगवान् ने कहा -- हे अर्जुन ! यह काम है । यही रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला क्रोध भी है । यही महान् अशन (भोजन) अर्थात् अग्नि से सदृश भोगों से तृप्त न होनेवाला और महान् पापी है, तुम इसे संसार में अपना शत्रु समझो ।। 37 ।।]

101 तुमने जो बलात् अनर्थ के मार्ग में प्रवृत्त करानेवाला कारण पूछा वह महान् शत्रु यह काम ही है, जिसके कारण प्राणियों को सम्पूर्ण अनर्थों की प्राप्ति होती है । यदि कहो कि अभिचारादि में क्रोध भी तो अनर्थ के मार्ग में प्रवर्त्तक देखा जाता है, तो कहते हैं -- 'क्रोध एषः' = क्रोध भी तत्त्वत: काम ही है । यह काम ही किसी कारण से प्रतिहत होने पर क्रोधरूप में परिणत हो जाता है, अत: क्रोध भी यह काम ही है । तात्पर्य यह है कि इसी महान् शत्रु काम का निवारण कर सकने पर ही समस्त पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है । उसके निवारण के उपाय के ज्ञान के लिए उसके कारण को कहते हैं -- 'रजोगुणसमुद्भवः' = दु:ख, प्रवृत्ति और बलरूप रजोगुण ही है समुद्भव = कारण जिसका, अत: वह भी वैसा ही है, क्योंकि कार्य अपने कारण का अनुवर्त्ती होता है ।

सोऽपि तथा। यद्यपि तमोगुणोऽपि तस्य कारणं तथाऽपि दुःखे प्रवृत्तौ च रजस एव प्राधान्यात्तस्यैव निर्देशः। एतेन सात्त्विक्या वृत्त्या रजसि क्षीणे सोऽपि क्षीयत इत्युक्तम्।

102 अथवा तस्य कथमनर्थमार्गे प्रवर्तकत्वमित्यत आह—रजोगुणस्य प्रवृत्यादिलक्षणस्य समुद्भवो यस्मात्। कामो हि विषयाभिलाषात्मकः स्वयमुद्भूतो रजः प्रवर्तयन्पुरुषं दुःखात्मके कर्मणि प्रवर्तयति। तेनायमवश्यं हन्तव्य इत्यभिप्रायः।

103 ननु सामदानभेददण्डाश्चत्वार उपायास्तत्र प्रथमत्रिकस्यासंभवे चतुर्थो दण्डः प्रयोक्तव्यो न तु हठादेवेत्याशङ्क्य त्रयाणामसंभवं वक्तुं विशिनष्टि–महाशनो महापाप्मेति। महदशनमस्येति महाशनः।

'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥' इति स्मृतेः।

अतो न दानेन संधातुं शक्यः। नापि सामभेदाभ्यां यतो महापाप्माऽत्युग्रः। तेन हि बलात्प्रेरितोऽनिष्टफलमपि जानन्पापं करोति। अतो विद्धि जानीहि एनं काममिह संसारे वैरिणम्।

104 तदेत्सर्वं विवृतं वार्तिककारैः 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति श्रुतिव्याख्याने–

यद्यपि तमोगुण भी उसका कारण होता है, किन्तु दुःख में, प्रवृत्त करने में रजोगुण की ही प्रधानता होती है, अतः उसी का निर्देश किया गया है। इससे यह भी कहा गया है कि सात्त्विकी वृत्ति से रजोगुण के क्षीण हो जाने पर उस काम का भी क्षय हो जाता है।

102 अथवा, काम अनर्थमार्ग में कैसे प्रवर्त्तक होता है -- यह कहते हैं -- जिससे प्रवृत्ति-आदिरूप रजोगुण का समुद्भव = प्रादुर्भाव होता है -- ऐसा यह काम है। काम विषयाभिलाषात्मक = विषयों की अभिलाषारूप प्रसिद्ध ही है, अतः वह जब स्वयं उद्भूत होता है तो रजोगुण को प्रवृत्त कर पुरुष को दुःखात्मक कर्म में प्रवृत्त करता है, इसलिए इसका हनन = नाश अवश्य करना चाहिए -- यह अभिप्राय है।

103 'साम,दान, भेद और दण्ड -- ये चार उपाय शत्रु को वश में करने के लिए शास्त्र में कहे गए हैं, उनमें से पहले तीन के संभव न होने पर ही चौथे उपाय दण्ड का प्रयोग करना चाहिए, हठात् = अकस्मात् ही दण्ड का तो प्रयोग नहीं करना चाहिए' -- ऐसी आशंका करके प्रकृत में इन पहले तीनों उपायों का प्रयोग असम्भव बताने के लिए काम को विशेषण देते हैं -- 'महाशनो महापाप्मेति' = यह काम महाशन और महापापी है। इसका महान् अशन (भोजन) है, इसलिए यह 'महाशन' है -- जैसा कि स्मृति कहती है -- 'पृथ्वी में जितने धान, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं -- वे सब भी एक पुरुष की कामनाओं की तृप्ति में पर्याप्त नहीं हैं -- ऐसा मानकर शान्त हो जाना चाहिए'। अतः इसको न दान से साधा जा सकता है और न साम तथा भेद से ही, क्योंकि यह महान् पापी अर्थात् अत्यन्त उग्र है। इससे बलात् प्रेरित हुआ पुरुष अनिष्टमय फल को जानता हुआ भी पाप करता है। अतः इह = संसार में तुम इस काम को अपना वैरी समझो।

104 इन सबका विशेष विवरण वार्तिककार ने 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' -- इस श्रुति के व्याख्यान में प्रस्तुत किया है --

'प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यथोक्तस्याधिकारिणः ।
स्वातन्त्र्ये सति संसारसृतौ कस्मात्प्रवर्तते ॥
न तु निःशेषविध्वस्तसंसारानर्थवर्त्मनि ।
निवृत्तिलक्षणे वाच्यं केनायं प्रेर्यतेऽवशः ॥
अनर्थपरिपाकत्वमपि जानन्प्रवर्तते ।
पारतन्त्र्यमृते दृष्टा प्रवृत्तिर्नेदृशी क्वचित् ॥
तस्माच्छ्रेयोर्थिनः पुंसः प्रेरकोऽनिष्टकर्मणि ।
वक्तव्यस्तन्निरासार्थमित्यर्था स्यात्परा श्रुतिः ॥
अनाप्तपुरुषार्थोऽयं निःशेषानर्थसंकुलः ।
इत्यकामयतानाप्तान्पुमर्थान्साधनैर्जडः ॥
जिहासति तथाऽनर्थानविद्वानात्मनि श्रितान् ।
अविद्योद्भूतकामः सन्नथो खल्विति च श्रुतिः ॥
अकामतः क्रियाः काश्चिद्दृश्यन्ते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
काम एष क्रोध एष इत्यादिवचनं स्मृतेः ।
प्रवर्तको नापरोऽतः कामादन्यः प्रतीयते ॥' इति ।

अकामत इति मनुवचनम् । अन्यत्स्पष्टम् ॥ 37 ॥

105 तस्य महापाप्मत्वेन वैरित्वमेव दृष्टान्तैः स्पष्टयति–

'प्रवृत्ति और निवृत्ति में यथोक्त अधिकारी = प्रमाता स्वतंत्र होने पर भी संसारमार्ग में ही क्यों प्रवृत्त होता है ? निवृत्तिरूप मार्ग में यद्यपि संसाररूप अनर्थमय मार्ग का सर्वथा नाश है तो भी, बताओ तो, यह किसके कारण विवश होकर उसमें प्रेरित नहीं होता ? यह जो प्रवृत्ति की अनर्थपरिणामता को भी जानकर उसी की ओर प्रवृत्त होता है -- ऐसा परतन्त्रता के बिना कभी देखने में नहीं आता । इसलिए जो कल्याणकामी पुरुष को अनिष्ट कर्म में प्रेरित करता है उसको बताना है, जिससे कि उसका निराकरण किया जा सके । यही अर्थ कहने के लिए 'सोऽकामयत' -- यह आगे की श्रुति है । यह पुरुष अनेक प्रकार के अनर्थों से व्याप्त है और इसको पुरुषार्थ भी प्राप्त नहीं थे, इसलिए इस जड़ = मूढ़ ने अपने को अप्राप्त पुरुषार्थों को साधनों से प्राप्त कराने के लिए कामना की तथा यह अविद्वान् जीव अविद्याजनित कामना से युक्त होकर अपने में आश्रित अनर्थों को त्यागना चाहता है -- ऐसा 'अथो खलु' -- यह श्रुति कहती है । इस संसार में कामना के बिना किसी की कोई क्रिया नहीं देखी जाती । प्राणी जो-जो क्रियाएँ करता है वह काम = कामना की ही चेष्टा होती है । तथा 'यह काम है यह क्रोध है' -- ऐसा स्मृति का भी वचन है । अत: काम के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा प्रवर्तक प्रतीत नहीं होता' इत्यादि ।

अकामत: क्रिया:--' इत्यादि वाक्य मनु का है (मनुस्मृति, 11.127) । शेष सब स्पष्ट ही है ॥ 37 ॥

105 महान् पापी होने के कारण उस काम के वैरित्व = शत्रुत्व को ही दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं --

[जैसे अग्नि धूएँ से, दर्पण मल से और गर्भ उल्व = जरायु = जेर से ढ़का रहता है, वैसे ही यह ज्ञान उस काम से ढ़का हुआ है ॥ 38 ॥]

धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ 38 ॥

106 तत्र शरीरारम्भात्प्रागन्तःकरणस्यालब्धवृत्तिकत्वात्सूक्ष्मः कामः शरीरारम्भकेण कर्मणा स्थूलशरीरावच्छिन्ने लब्धवृत्तिकेऽन्तःकरणे कृताभिव्यक्तिः सन्स्थूलो भवति । स एव विषयस्य चिन्त्यमानतावस्थायां पुनः पुनरुद्रिच्यमानः स्थूलतरो भवति । स एव पुनर्विषयस्य भुज्यमानतावस्थायामत्यन्तोद्रेकं प्राप्तः स्थूलतमो भवति । तत्र प्रथमावस्थायां दृष्टान्तः—यथा धूमेन सहजेनाप्रकाशात्मकेन प्रकाशात्मको वह्निराव्रियते । द्वितीयावस्थायां दृष्टान्तः—यथाऽऽदर्शो मलेनासहजेनाऽऽदर्शोत्पत्त्यनन्तरमुद्रिक्तेन । चकारोऽवान्तरवैधर्म्यसूचनार्थं आव्रियत इतिक्रियानुकर्षणार्थश्च । तृतीयावस्थायां दृष्टान्तः—यथोल्बेन जरायुणा गर्भवेष्टनचर्मणाऽतिस्थूलेन सर्वतो निरुध्याऽऽवृतस्तथा प्रकारत्रयेणापि तेन कामेनेदमावृतम् ।

106 शरीर की रचना होने से पूर्व अन्तःकरण अलब्ध वृत्ति होता है, अतः उसमें काम सूक्ष्म रहता है । शरीरारम्भक कर्म से जब अन्तःकरण स्थूलशरीरावच्छिन्न होकर वृत्ति लाभ करता है, तो उसमें काम अभिव्यक्त हो जाने पर स्थूल हो जाता है । वही विषय की चिन्त्यमान अवस्था में पुनः पुनः उद्रिच्यमान -- उपचीयमान -- वर्द्धमान होने पर स्थूलतर हो जाता है और वही फिर विषय की भुज्यमान – भोग करने की अवस्था में अत्यन्त उद्रेक को प्राप्त होकर स्थूलतम हो जाता है । उनमें से प्रथम अवस्था में दृष्टान्त कहते हैं -- जैसे सहज = साथ ही उत्पन्न होनेवाले अप्रकाशात्मक धूएँ से प्रकाशात्मक अग्नि ढ़का रहता है । द्वितीय अवस्था में दृष्टान्त है -- जैसे असहज = साथ ही उत्पन्न न होनेवाले मल से दर्पण ढ़का रहता है, जो कि दर्पण की उत्पत्ति के अनन्तर -- पश्चात् उत्पन्न होता है । यहाँ चकार उसका अवान्तर वैधर्म्य सूचित करने के लिए है और 'आव्रियते' इस क्रिया पद का अनुकर्षण करने के लिए है । तृतीय अवस्था में दृष्टान्त है -- जैसे उल्ब = जरायु अर्थात् गर्भवेष्टन अतिस्थूल चर्म से गर्भ सब ओर से रोककर आवृत रहता है, वैसे ही इन तीनों ही प्रकार से उस काम से इदम्[46] = यह ज्ञान आवृत है ।

46. 'इदम्' शब्द से आत्मा के सत्, चित् और आनन्द – ये तीनों स्वरूप विवक्षित हैं । एतदनुरूप ही तीन दृष्टान्त हैं – जैसे – धूम अग्नि के साथ-साथ उत्पन्न होता है और अपने स्वभाव के अनुसार अपने ही उत्पत्ति-स्थान अग्नि को ढ़क देता है वैसे ही काम ज्ञान से उत्पन्न होता है, क्योंकि ज्ञान ही एकमात्र सद्वस्तु है, यह ज्ञान-सत्ता ही माया के द्वारा अनेक रूपों में परिणत होकर परिच्छिन्न शब्दादि विषय के रूप में प्रतिभासित होती है और उन शब्दादि विषयों में अनुकूलत्व बोध होने से उन विषयों के प्रति काम का उदय होता है अर्थात् ज्ञान की सत्ता से ही काम सत्तावान् होता है । ज्ञान से उत्पन्न काम अपने उत्पत्ति-स्थान प्रकाशात्मक ज्ञान को अपने स्वभाव के अनुसार आवृत करता है अर्थात् अखंडाद्वय ज्ञान सत्ता को = सत्स्वरूप आत्मा को उपलब्ध होने में बाधा डालकर परिच्छिन्न विषय के रूप में खण्डित तथा विकारी कर देता है । जैसे दर्पण मुखादि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर दर्शक के लिए आनन्दकर होता है किन्तु मल से आवृत हो जाने पर वह दर्पण उसी प्रतिबिम्ब को ग्रहण भी नहीं कर पाता है वैसे ही चित्तरूप दर्पण में भी कामरूप मल जम जाने पर उसकी स्वच्छता को आवृत कर आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में बाधा देता है अर्थात् आनन्दस्वरूप आत्माको प्रकाशित नहीं होने देता है । जैसे अचेतन जरायु चेतन भ्रूण को चारों ओर से आवृत करके रखता है वैसे ही काम और उससे उत्पन्न संकल्प आदि अचेतन होने पर भी चेतन ज्ञान को प्रकाशित न होने देकर सभी प्रकार से आवृत करके रखता है ।

किसी के मत में 'इदम्' शब्द से जीव, ईश्वर और अन्तःकरण – ये तीन विवक्षित हैं । एतदनुरूप ही तीन दृष्टान्त हैं – जैसे धूम से आवृत प्रकाशात्मक भी अग्नि दूसरे को प्रकाशित नहीं करती है वैसे ही परमात्मा सर्वप्रकाशक

107 अत्र धूमेनाऽऽवृतोऽपि वह्निर्दाहादिलक्षणं स्वकार्यं करोति । मलेनाऽऽवृतस्त्वादर्शः प्रतिबिम्बग्रहणलक्षणं स्वकार्यं न करोति । स्वच्छताधर्ममात्रतिरोधानात्स्वरूपतस्तूपलभ्यत एव । उल्बेनाऽवृतस्तु गर्भो न हस्तपादादिप्रसारणरूपं स्वकार्यं करोति न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति विशेषः ॥ 38 ॥

108 तथा तेनेदमावृतमिति संग्रहवाक्यं विवृणोति–

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ 39 ॥

109 ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमन्तःकरणं विवेकविज्ञानं इदंशब्दनिर्दिष्टमेतेन कामेनाऽऽवृतम् । तथाऽप्यापाततः सुखहेतुत्वादुपादेयः स्यादित्यत आह--ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । अज्ञो हि विषयभोगकाले कामं मित्रमिव पश्यंस्तत्कार्ये दुःखे प्राप्ते वैरित्वं जानाति कामेनाहं दुःखित्वमापादित इति । ज्ञानी तु भोगकालेऽपि जानात्यनेनाहमनर्थे प्रवेशित इति । अतो विवेकी दुःखी भवति भोगकाले च तत्परिणामे चानेनेति ज्ञानिनोऽसौ नित्यवैरीति सर्वथा तेन हन्तव्य एवेत्यर्थः ।

107 इन दृष्टान्तों में अग्नि धूएँ से आवृत होने पर भी दाहादिरूप अपना कार्य करता है, किन्तु मल से आवृत दर्पण प्रतिबिम्बग्रहणरूप अपना कार्य नहीं करता, क्योंकि उसके स्वच्छतारूप धर्म का ही तिरोधान हो जाता है, किन्तु स्वरूपतः तो उसकी उपलब्धि होती ही है । उल्ब से आवृत गर्भ तो न हाथ-पैर फैलानारूप अपना कार्य करता है और न स्वरूप से दिखाई ही देता है -- यह विशेष-भेद है ॥ 38 ॥

108 'तथा तेनेदमावृतम्' = 'वैसे ही यह उससे आवृत है' -- इस संग्रहवाक्य को स्पष्ट करते हैं -- [हे कौन्तेय ! इस अग्निसदृश न पूर्ण = तृप्त होनेवाले कामरूप ज्ञानी के नित्यवैरी से ज्ञान ढ़का हुआ है ॥ 39॥]

109 जिसके द्वारा जाना जाय उसे 'ज्ञान' कहते हैं । वह ज्ञान -- अन्तःकरण अथवा विवेक विज्ञान ही पूर्वश्लोक में 'इदम्' (यह) शब्द से निर्दिष्ट है । यही इस काम से ढ़का हुआ है । तथापि आपाततः = तत्काल सुख का हेतु होने से यदि कोई कहे कि यह उपादेय है तो कहते हैं -- 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा' = 'काम ज्ञानी का नित्य वैरी है', क्योंकि अज्ञानी पुरुष विषयभोग के समय काम को मित्र के समान देखता है, किन्तु उसके कार्य दुःख को प्राप्त होने पर उसके वैरित्व को जानता है कि काम ने ही मुझे इस दुःखावस्था को प्राप्त कराया है । ज्ञानी तो भोग के समय भी जानता है कि इसी ने मुझको अनर्थ में फंसाया है । अतः विवेकी पुरुष भोगकाल में और उसके परिणाम में भी इससे दुःखी रहता है, इसलिए यह ज्ञानी का नित्यवैरी है; अतः भावार्थ यह है कि ज्ञानी को तो सर्वथा काम का नाश कर ही डालना चाहिए ।

स्वयंप्रकाश होने पर भी काम से आवृत होकर दूसरे को स्फुट प्रकाशित नहीं होता है । जैसे दर्पण मल से आवृत होकर मुखादि को प्रकाशित नहीं करता है वैसे ही काम से आवृत अन्तःकरण परमात्मा के साक्षात्कार का हेतु नहीं होता है । जैसे उल्ब से आवृत गर्भ अपने हस्तपादादि को प्रसारित नहीं कर सकता है वैसे ही काम से आवृत जीव ईश्वरादि के ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है ।

110 तर्हि किंस्वरूपोऽसावित्यत आह--कामरूपेण। काम इच्छा तृष्णा सैव रूपं यस्य तेन। हे कौन्तेयेति संबन्धाविष्कारेण प्रेमाणं सूचयति । ननु विवेकिनो हन्तव्योऽप्यविवेकिन उपादेयः स्यादित्यत आह--दुष्पूरेणानलेन च। चकार उपमार्थः। न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्येत्यनलो वह्निः। स यथा हविषा पूरयितुमशक्यस्तथाऽयमपि भोगेनेत्यर्थः। अतो निरन्तरं संतापहेतुत्वाद्विवेकिन इवाविवेकिनोऽपि हेय एवासौ। तथा च स्मृतिः--

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥' इति ।

अथवेच्छाया विषयसिद्धिनिवर्त्यत्वादिच्छारूपः कामो विषयभोगेन स्वयमेव निवर्तिष्यते किं तत्रातिनिर्बन्धेनेत्यत उक्तं--दुष्पूरेणानलेन चेति। विषयसिद्ध्या तत्कालमिच्छातिरोधानेऽपि पुनः प्रादुर्भावात्र विषयसिद्धिरिच्छानिवर्तिका । किं तु विषयदोषदृष्टिरेव तथेति भावः ॥ 39 ॥

111 ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने सुखेन स जेतुं शक्यत इति तदधिष्ठानमाह--

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ 40 ॥

---

110 'अच्छा तो उसका स्वरूप क्या है' ? -- इसपर कहते हैं -- 'कामरूपेण' = 'वह कामरूप है' । काम इच्छा तृष्णा यही है रूप जिसका एवंरूप 'काम' है, उससे ज्ञान आवृत है । "हे कौन्तेय !"-- इस सम्बोधन से अपना सम्बन्ध व्यक्त करते हुए भगवान् अर्जुन के प्रति अपना प्रेमातिशय प्रकट करते हैं । यहाँ चकार उपमार्थक है । 'न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्येत्यनलो वह्निः" = जिसका अलं = पर्याप्ति न हो वह अनल -- वह्नि है । जैसे वह्नि -- अग्नि की पूर्ति = तृप्ति हविःप्रदान से असम्भव है वैसे ही काम की तृप्ति भोग से नहीं हो सकती -- यह अभिप्राय है । अतः निरन्तर सन्ताप का हेतु होने से यह काम विवेकी के समान अविवेकी के लिए भी है हेय = त्याज्य ही है । ऐसा ही स्मृति कहती है -- 'भोगों की कामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती, जैसे हविः से अग्नि प्रज्वलित होता है वैसे ही भोगों के उपभोग से तो वह काम और भी वृद्धि को प्राप्त होता है' (मनुस्मृति, 2.94) ।

अथवा, कोई यह कहे कि 'विषय की सिद्धि = प्राप्ति से तो इच्छा की निवृत्ति हो जाती है, अतः विषयों के भोग से इच्छारूप काम स्वयं ही निवृत्त हो जायेगा, उसके लिए विशेष आग्रह करने की क्या आवश्यकता है ?' -- इसीलिए 'दुष्पूरेणानलेन च' = 'काम अग्निसदृश न पूर्ण = तृप्त होने वाला है' -- यह कहा है । विषय की सिद्धि = प्राप्ति होने पर तो उस समय इच्छा निवृत्त हो जाने पर भी उसका पुनः-पुनः प्रादुर्भाव होता रहता है, अतः विषयसिद्धि इच्छा को निवृत्त करनेवाली नहीं है, किन्तु विषयदोषदृष्टि ही इच्छा को निवृत्त करनेवाली है -- यह भाव है ।। 39 ।।

111 क्योंकि शत्रु का अधिष्ठान = निवासस्थान ज्ञात होने पर उसको सुख से जीता जा सकता है, इसलिए उस काम का अधिष्ठान कहते हैं --

[इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि -- ये इस काम के अधिष्ठान कहे जाते हैं और यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आवृत करके इस देही = देहाभिमानी जीव को मोहित करता है ।। 40 ।।]

112 इन्द्रियाणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकाणि श्रोत्रादीनि वचनादानगमनविसर्गानन्दजनकानि वागादीनि च । मनः संकल्पात्मकं बुद्धिरध्यवसायात्मिका च । अस्य कामस्याधिष्ठानमाश्रय उच्यते । यत एतैरिन्द्रियादिभिः स्वस्वव्यापारवद्भिराश्रयैर्विमोहयति विविधं मोहयति एष कामो ज्ञानं विवेकज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य देहिनं देहाभिमानिनम् ॥ 40 ॥

113 यस्मादेवम्–यस्मादिन्द्रियाधिष्ठानः कामो देहिनं मोहयति–

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ 41 ॥

114 तस्मात्त्वमादौ मोहनात्पूर्वं कामनिरोधात्पूर्वमिति वा । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि नियम्य वशीकृत्य, तेषु हि वशीकृतेषु मनोबुद्ध्योरपि वशीकरणं सिध्यति संकल्पाध्यवसाययो-र्बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वारैवानर्थहेतुत्वात् । अत इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरिति पूर्वं पृथङ्निर्दिश्यापीहेन्द्रियाणीत्येतावदुक्तम् । इन्द्रियत्वेन तयोरपि संग्रहो वा । हे भरतर्षभ महावंशप्रसूतत्वेन समर्थोऽसि । पाप्मानं सर्वपापमूलभूतमेनं कामं वैरिणं प्रजहिहि परित्यज हि

112 इन्द्रियाँ = शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को ग्रहण करनेवाली श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द को उत्पन्न करने वाली वागादि कर्मेन्द्रियाँ, संकल्पात्मक मन और अध्यवसायात्मिका बुद्धि -- ये इस काम के अधिष्ठान = आश्रय कहे जाते हैं, क्योंकि यह काम इन स्वस्वव्यापारविशिष्ट इन्द्रियादिरूप आश्रयों से ज्ञान = विवेकज्ञान को आवृत = आच्छादित करके इस देही = देहाभिमानी जीव को मोहित करता है[47] ॥ 40 ॥

113 क्योंकि ऐसा है = क्योंकि इन्द्रियरूप अधिष्ठानवाला काम देही को मोहित करता है –
[इसलिए हे भरतर्षभ ! तुम पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करनेवाले सम्पूर्ण पापों के मूल इस काम को प्रकर्षपूर्वक मारो ॥ 49 ॥]

114 इसलिए तुम पहले = मोहन -- मोहग्रस्त होने से पहले अथवा कामनिरोध से पहले ही श्रोत्रादि इन्द्रियों को नियत = वश में करके, क्योंकि उन इन्द्रियों को वश में करने पर मन और बुद्धि का भी वशीकरण अनायास ही सिद्ध हो जाता है, कारण कि संकल्प और अध्यवसायरूप मन और बुद्धि के व्यापार बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा ही अनर्थ के हेतु होते हैं । इसीलिए पहले 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः' -- इसप्रकार तीनों का पृथक्-पृथक् निर्देश करके भी यहाँ मात्र 'इन्द्रियाणि' इतना ही कहा है । अथवा इन्द्रियरूप होने से मन और बुद्धि का भी इन्द्रियों में संग्रह -- समावेश हो सकता है । हे भरतर्षभ ! = महान वंश में जन्म लेने के कारण तुम सामर्थ्यवान् हो -- यह उक्त सम्बोधन का अर्थ है । अतः पाप्मा = सम्पूर्ण पापों के मूलभूत इस कामरूप वैरी -- शत्रु को प्रजहि हि = परित्यज हि = त्याग ही दो -- स्फुटं प्रजहि = स्फुटतया नष्ट कर दो अथवा प्रकर्षपूर्वक मार दो, क्योंकि 'जहि शत्रुम्' -- इस प्रकार इस अध्याय का उपसंहार किया है । और फिर यह काम ज्ञान = शास्त्र और आचार्य के उपदेश

47. यहाँ भाव यह है कि काम सर्वप्रथम इन्द्रियों में आता है, तदनन्तर मन संकल्प करता है, ततः बुद्धि में विश्वास द्वारा ज्ञान = विवेकज्ञान को आवृत = आच्छादित करके देही = आत्मा को मोहित कर तदनिष्ट में प्रवृत्त कराता है । अतः सर्वप्रथम इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए, जिससे क्रोधादि इन्द्रियों में प्रकट न हो सके । यह चेष्टा मोहग्रस्त होने से पहले अथवा कामनिरोध से पहले ही करनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रियों को वश में करने पर मन और बुद्धि का भी वशीकरण अनायास ही सिद्ध हो जाता है, कारण कि संकल्प और अध्यवसाय रूप मन और बुद्धि के व्यापार बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा ही अनर्थ के हेतु होते हैं ।

स्फुटं प्रजहि प्रकर्षेण मारयेति वा। जहि शत्रुमित्युपसंहाराच्च। ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजं परोक्षं विज्ञानमपरोक्षं तत्फलं तयोर्ज्ञानविज्ञानयोः श्रेयःप्राप्तिहेत्वोर्नाशनम् ॥ 41 ॥

115 ननु यथाकथंचिद्बाह्येन्द्रियनियमसंभवेऽप्यान्तरतृष्णात्यागोऽतिदुष्कर इति चेत्। न, 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र परदर्शनस्य रसाभिधानीयकतृष्णात्यागसाधनस्य प्रागुक्तेः। तर्हि कोऽसौ परो यद्दर्शनात्तृष्णानिवृत्तिरित्याशङ्क्य शुद्धमात्मानं परशब्दवाच्यं देहादिभ्यो विविच्य दर्शयति--

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ 42 ॥

116 श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च स्थूलं जडं परिच्छिन्नं बाह्यं च देहमपेक्ष्य पराणि सूक्ष्मत्वात्प्रकाशकत्वाद्व्यापकत्वादन्तःस्थत्वाच्च प्रकृष्टान्याहुः पण्डिताः श्रुतयो वा। तथेन्द्रियेभ्यः परं मनः संकल्पविकल्पात्मकं तत्प्रवर्तकत्वात्। तथा मनसस्तु परा बुद्धिरध्यवसायात्मिका। अध्यवसायो हि निश्चयस्तत्पूर्वक एव संकल्पादिर्मनोधर्मः। यस्तु बुद्धेः परतस्तद्भास- कत्वेनावस्थितो यं देहिनमिन्द्रियादिभिराश्रयैर्युक्तः कामो ज्ञानावरणद्वारेण मोहयतीत्युक्तं स बुद्धेर्द्रष्टा पर आत्मा। 'स एष इह प्रविष्टः' इतिवद्व्यवहितस्यापि देहिनस्तदा परामर्शः।

से समुत्पन्न परोक्षात्मक ज्ञान तथा विज्ञान= उक्त ज्ञान का फलभूत अपरोक्षात्मक ज्ञान -- इन दोनों ज्ञान और विज्ञान को, जो श्रेय:प्राप्ति के हेतु हैं, नष्ट करने वाला है, अत: इस काम का हनन युक्त ही है ॥ 41 ॥

115 यदि यह कहो कि 'किसी न किसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों का नियमन तो संभव भी हो सकता है, किन्तु आन्तरिक तृष्णा का त्याग होना तो अत्यन्त दुष्कर -- कठिन है', तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (गीता, 2.59) -- इस पूर्व श्लोक में 'परदर्शन = परमात्मदर्शन रससंज्ञक तृष्णा के त्याग का साधन है' -- यह पहले कह चुके हैं। अत: ऐसी आशंका करके कि 'तो फिर वह 'पर' क्या है ? जिसके दर्शन से तृष्णा की निवृत्ति होती है' -- ' पर' शब्द वाच्य शुद्ध आत्मा को देहादि से पृथक् करके दिखलाते हैं --

[पण्डितों अथवा श्रुतियों का कथन है कि इन्द्रियाँ स्थूल देह की अपेक्षा पर = श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन पर है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से पर है वह तो वही परमात्मा ही है ॥ 42 ॥]

116 पण्डितों अथवा श्रुतियों ने श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों को सूक्ष्म, प्रकाशक, व्यापक और अन्त:स्थ होने के कारण स्थूल, जड़, परिच्छिन्न और बाह्य देह की अपेक्षा पर = प्रकृष्ट -- श्रेष्ठ कहा है। तथा इन्द्रियों की अपेक्षा संकल्प -- विकल्पात्मक मन पर = श्रेष्ठ है, क्योंकि वह इन्द्रियों का प्रवर्तक है। तथा मन से भी पर = श्रेष्ठ = अध्यवसायात्मिका बुद्धि है, क्योंकि अध्यवसाय निश्चय को कहते हैं और तत्पूर्वक = निश्चयपूर्वक ही संकल्पादि मन के धर्म होते हैं। तथा जो बुद्धि से भी पर = श्रेष्ठ है = उसका भासक होने से अवस्थित = विद्यमान है; जिस देही को इन्द्रियादिरूप आश्रयों से युक्त काम उसके ज्ञान का आवरण करके मोहित करता है -- ऐसा कहा है वह बुद्धि का द्रष्टा पर आत्मा है। 'स एष इह प्रविष्ट:' = 'वह यह आत्मा इस देह में प्रविष्ट है' -- इस श्रुति-वचन के अनुसार यद्यपि बुद्धि और आत्मा के बीच में महत्तत्त्व और अव्यक्त का व्यवधान है तो भी तत्तच्छब्द से आत्मा का परामर्श -- ग्रहण होता है।

117 अत्रार्थे श्रुतिः--

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'

(कठ० 1.3.10,11) इति ॥

अत्राऽऽत्मनः परत्वस्यैव वाक्यतात्पर्यविषयत्वादिन्द्रियादिपरत्वस्याविवक्षितत्वादिन्द्रियेभ्यः परा अर्था इति स्थानेऽर्थेभ्यः पराणीन्द्रियाणीति विवक्षाभेदेन भगवदुक्तं न विरुध्यते । बुद्धेरस्मदादिव्यष्टिबुद्धेः सकाशान्महानात्मा समष्टिबुद्धिरूपः परः 'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' इति वायुपुराणवचनात् । महतो हैरण्यगर्भ्या बुद्धेः परमव्यक्तमव्याकृतं सर्वजगद्बीजं मायाख्यं 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेः, 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इति च । अव्यक्तात्सकाशात्सकलजडवर्गप्रकाशकः पुरुषः पूर्ण आत्मा परः । तस्मादपि कश्चिदन्यः परः स्यादित्यत आह--पुरुषान्न परं किंचिदिति । कुत एवं यस्मात्सा काष्ठा समाप्तिः सर्वाधिष्ठानत्वात् । सा परा गतिः ' सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा परा गतिरपि सैवेत्यर्थः । तदैतत्सर्वं ' यो बुद्धेः परतस्तु सः' इत्यनेनोक्तम् ॥42 ॥

---

117 इस अर्थ में श्रुति भी है -- 'इन्द्रियों की अपेक्षा विषय पर हैं, विषयों से मन पर है, मन से बुद्धि पर है, बुद्धि से पर महान् आत्मा है, महत् से पर अव्यक्त है, और अव्यक्त से पुरुष पर है । पुरुष से पर कुछ भी नहीं है, वही परत्व की काष्ठा -- सीमा और परा गति है' (कठ०, 1.3.10-11) । यहाँ वाक्य का तात्पर्य आत्मा की परता -- उत्कृष्टता -- श्रेष्ठता बताना ही है, इन्द्रियादि की परता -- श्रेष्ठता बताना नहीं है, अत: भगवान् ने यदि विवक्षाभेद से 'इन्द्रियेभ्यः परा अर्था' -- इसके स्थान पर 'अर्थेभ्यः पराणीन्द्रियाणि' -- कहा है तो वहाँ अर्थ में कोई विरोध नहीं है । बुद्धि अर्थात् हम लोगों की व्यष्टि बुद्धि की अपेक्षा समष्टि बुद्धिरूप महान्[48] आत्मा पर = श्रेष्ठ है । वायुपुराण के वचन के अनुसार -- 'मन, महान्, मति, ब्रह्मा, पुर्, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर -- ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं' । महत्तत्त्व अर्थात् हिरण्यगर्भ की बुद्धि की अपेक्षा अव्यक्त = अव्याकृत अर्थात् मायासंज्ञक सम्पूर्ण जगत् का बीज पर -- श्रेष्ठ है; जैसा कि श्रुति कहती है -- 'माया को तो प्रकृति समझना चाहिए', 'उस समय यह जगत् अव्याकृत था' । अव्यक्त की अपेक्षा सम्पूर्ण जड वर्ग का प्रकाशक पुरुष = पूर्ण आत्मा पर -- श्रेष्ठ है । उस पुरुष से भी पर -- श्रेष्ठ कोई और होगा ? -- ऐसी शंका हो सकने के कारण कहते हैं -- 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' = 'पुरुष से पर -- श्रेष्ठ कोई नहीं हैं' -- ऐसा श्रुति कहती है । ऐसा क्यों है ? -- क्योंकि वह पुरुष काष्ठा = समाप्ति है, कारण कि वह समस्त जगत् का अधिष्ठान होने से परा गति है । तात्पर्य यह है कि 'वह संसारमार्ग के पार = अन्त को प्राप्त करता है, वही विष्णु का परम पद है' -- इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध परा गति भी वही है । यह सब 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' -- इस वाक्य से कहा गया है ॥ 42 ॥

---

48. यहाँ 'महान्' शब्द से बुद्धि अर्थ विवक्षित है, किन्तु बुद्धि से बुद्धि में परत्व = श्रेष्ठत्व नहीं हो सकता है, अत: प्रथम बुद्धि से तात्पर्य हम लोगों की व्यष्टि बुद्धि है, इसकी अपेक्षा पर = श्रेष्ठ महान् आत्मा समष्टि बुद्धिरूप है ।

118 फलितमाह--

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ 43 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ 3 ॥

---

119 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र यः परशब्देनोक्तस्तमेवंभूतं पूर्णमात्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा साक्षात्कृत्य संस्तभ्य स्थिरीकृत्याऽऽत्मानं मन आत्मनैतादृशनिश्चयात्मिकया बुद्ध्या जहि मारय शत्रुं सर्वपुरुषार्थशातनं हे महाबाहो महाबाहोर्हि शत्रुमारणं सुकरमिति योग्यं संबोधनम् । कामरूपं तृष्णारूपं दुरासदं दुःखेनाऽऽसादनीयं दुर्विज्ञेयानेकविशेषमिति यत्नाधिक्याय विशेषणम् ॥ 43 ॥

120 उपायः कर्मनिष्ठाऽऽत्र प्राधान्येनोपसंहृता । उपेया ज्ञाननिष्ठा तु तद्गुणत्वेन कीर्तिता ॥ 1 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ 3 ॥

---

118 अब इसका फलितार्थ कहते हैं --
[हे महाबाहो ! इसप्रकार आत्मा को बुद्धि से पर -- श्रेष्ठ जानकर आत्मा = मन का संयमकर आत्मा से = निश्चयात्मिका बुद्धि से इस कामरूप दुरासद = दुर्जय शत्रु को मारो ॥ 43 ॥]

119 'रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' = 'पर का दर्शन करके इसका रस भी निवृत्त हो जाता है' – इस वाक्य में जो 'पर' शब्द से कहा गया है उस एवंभूत = उक्त गुणविशिष्ट पूर्ण आत्मा को बुद्धि से पर -- श्रेष्ठ जानकर = साक्षात् अनुभव कर आत्मा = मन को संस्तभ्य = सम्यक् प्रकार से स्तम्भित = स्थिर करके आत्मा = एतादृश = ऐसी -- पूर्वोक्त निश्चयात्मिका बुद्धि से सकल पुरुषार्थ के नाशक इस कामरूप = तृष्णारूप दुरासद = दुःख से आसादनीय, दुर्विज्ञेय, अनेक विशेषताओं वाले शत्रु को मार दो । यहाँ काम के विशेषण उसके हननार्थ विशेष यत्न की आवश्यकता सूचित करने के लिए हैं । 'हे महाबाहो !' -- यह सम्बोधन उचित ही है, क्योंकि महाबाहु = विशाल बाहुवाले के लिए शत्रु को मारना सुगम होता है ॥ 43 ॥

120 इस अध्याय में ज्ञान की उपायभूता कर्मनिष्ठा का प्रधानता से निरूपण किया है और उसकी उपेयभूता ज्ञाननिष्ठा का उसके गुणरूप से उल्लेख किया है ॥ 1 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का कर्मयोग नामक तृतीय अध्याय समाप्त होता है ।
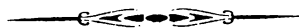
अथ चतुर्थोऽध्याय:

1 यद्यपि पूर्वमुपेयत्वेन ज्ञानयोगस्तदुपायत्वेन च कर्मयोग इति द्वौ योगौ कथितौ तथाऽपि 'एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति' इत्यनया दिशा साध्यसाधनयो: फलैक्यादैक्यमुपचर्य साधनभूतं कर्मयोगं साध्यभूतं च ज्ञानयोगमनेकविधगुणविधानाय स्तौति वंशकथनेन भगवान् --

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ 1 ॥

2 इममध्यायद्वयेनोक्तं योगं ज्ञाननिष्ठालक्षणं कर्मनिष्ठोपायलभ्यं विवस्वते सर्वक्षत्रियवंश-बीजभूतायाऽऽदित्याय प्रोक्तवान्प्रकर्षेण सर्वसंदेहोच्छेदादिरूपेणोक्तवानहं भगवान्वासुदेव: सर्वजगत्परिपालक: सर्गादिकाले राज्ञां बलाधानेन तदधीनं सर्वं जगत्पालयितुम् । कथमनेन

1 यद्यपि पहले उपेयरूप से ज्ञानयोग और उसके उपायरूप से कर्मयोग - इन दोनों योगों को कहा है, तथापि 'जो पुरुष सांख्य =ज्ञानयोग और योग = कर्मयोग को फलरूप में एक ही देखता है, वही यथार्थ देखता है'[1] --- इस वचन के अनुसार साध्य = ज्ञानयोग और साधन = कर्मयोग -- इन दोनों के फल = मोक्ष की एकता से इनकी भी एकता का उपचार कर अनेक प्रकार के गुणों का विधान करने के लिए साधनभूत कर्मयोग और साध्यभूत ज्ञानयोग की, वंश कथन द्वारा भगवान् स्तुति करते हैं -----

[श्रीभगवाल् बोले --- हे अर्जुन ! मैंने इस अव्यय= अविनाशी योग को सृष्टि के आदि में सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा ॥ 1 ॥

2 मैंने = सम्पूर्ण जगत् की रक्षाऽकरने वाले भगवान् वासुदेव ने इस = इससे पूर्व के दो अध्यायों में उक्त --- द्वितीय और तृतीय अध्यायों में उक्त कर्मनिष्ठारूप उपाय से लभ्य = प्राप्त होने वाले ज्ञाननिष्ठारूप योग को सृष्टि के आदि - आरम्भकाल में राजाओं में इससे बलाधान = बल का सञ्चार कर उनके अधीन सम्पूर्ण जगत् का पालन करने के लिए समस्त क्षत्रियवंश के बीजभूत विवस्वान्[2] = आदित्य[3] सूर्य से प्रोक्तवान् = प्र -- प्रकर्ष से अर्थात् सभी प्रकार के सन्देहों की निवृत्ति आदि करते हुए उक्तवान् = कहा था । इससे = इस योग से बलाधान = बल का संचार कैसे होता है --- यह इस योग के विशेषण 'अव्यय' से दिखलाते हैं । जो अव्यय -- अविनाशी वेदमूलक होने से अथवा अव्यय मोक्षरूप फलवाला होने से [4] अव्यय है । अथवा जो 'न व्येति

1. गीता, 5.5 ।

2. विवस्वान् = विशेषेण वस्ते आच्छादयति = वि+वस् +क्विप् । विवस्तेजोऽस्यास्तीति, विवस् + मतुप्, मस्य वः, 'तसौ मत्वर्थे' (पाणिनिसूत्र, 1.4.19) इति भत्वादुत्वाभावः = सूर्यः ।

3. आदित्यः = अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम् +ण्य = सूर्यः ।

4. यहाँ यह शंका हो सकती है कि साध्य तो साधन के द्वारा सिद्ध होने के कारण अनित्य होता है , अतः मोक्ष भी ज्ञानसाध्य होने के कारण नित्य नहीं होगा, तो इसका समाधान यह है कि इस प्रकार के अनुमान का यहाँ अवकाश नहीं है, क्योंकि यह अनुमान 'न स पुनरावर्तते' ='मोक्ष पाकर वह फिर संसार में लौटकर नहीं आता' --- इस श्रुति से बाधित हो जाता है । इस श्रुति का अभिप्राय यह है कि सर्वत्र ब्रह्मदर्शन रूप योग के द्वारा जिस मोक्ष की प्राप्ति होती है उसका व्यय = नाश नहीं होता है, इस कारण ज्ञान अव्यय फल= अक्षय्य --- अविनाशी मोक्षरूप फल का ही हेतु होता है ।

बलाधानमिति विशेषणेन दर्शयति--अव्ययमव्ययवेदमूलत्वादव्ययमोक्षफलत्वाच्च न व्येति स्वफलादित्यव्ययमव्यभिचारिफलम् । तथाचैतादृशेन बलाधानं शक्यमिति भावः ।

3 स च मम शिष्यो विवस्वान्मनवे वैवस्वताय स्वपुत्राय प्राह । स च मनुरिक्ष्वाकवे स्वपुत्राया-ऽऽदिराजायाब्रवीत् । यद्यपि प्रतिमन्वन्तरं स्वायंभुवमन्वादिसाधारणोऽयं भागवदुपदेशस्तथाऽपि सांप्रतिकवैवस्वतमन्वन्तराभिप्रायेणाऽऽदित्यमारभ्य संप्रदायो गणितः ॥ 1 ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ 2 ॥

4 एवमादित्यमारभ्य गुरुशिष्यपरम्परया प्राप्तमिमं योगं राजानश्च त ऋषयश्चेति राजर्षयः प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थनिरीक्षणक्षमा निमिप्रमुखाः स्वपित्रादिप्रोक्तं विदुः । तस्मादनादिवेदमूलत्वेनानन्त-

व्यभिचरति स्वफलात्' = अपना फल देने से इधर-उधर नहीं होता अर्थात् अवश्य फल देने वाला है । इस प्रकार ऐसे योग से बलाधान = बल का सञ्चार हो सकता है -- यह भाव है ।

3 फिर मेरे शिष्य उस विवस्वान् = सूर्य ने यह योग अपने पुत्र वैवस्वत[5] = मनु से कहा । और उस मनु ने इसको अपने पुत्र आदिराज इक्ष्वाकु से कहा[6] । यद्यपि भगवान् का यह उपदेश प्रत्येक मन्वन्तर[7] में स्वायम्भुव[8] मनु आदि के लिए भी समानरूप से होता है, तथापि सांप्रतिक वैवस्वत मन्वन्तर के अभिप्राय से सूर्य से लेकर ही इसके सम्प्रदाय की गणना की गई है ।।1।।

[हे परंतप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षि जानते थे, किन्तु अब बहुत समय हो जाने के कारण वह योग नष्ट = लुप्त हो गया है ।। 2 ।।

4 इस प्रकार सूर्य से लेकर गुरु - शिष्य - परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को जो राजा भी थे और ऋषि भी थे वे निमिप्रमुख राजर्षि,[9]--- जो प्रभुता होने पर भी सूक्ष्म विषयों के निरीक्षण में समर्थ

5. वैवस्वत = विवस्वतोऽपत्यमिति -- विवस्वत् + अण् = सप्तमो मनुः, यथा रघुवंशे, 1.11—— 'वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्' । विष्णुपुराणे चतुर्दश मनव उक्तास्तन्नामानि यथा, ——

"मनुः स्वायंभुवो नाम मनुः स्वारोचिषस्तथा ।
औत्तमिस्तामसिश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा ।।
एते तु मनवोऽतीताः सप्तमस्तु रवे सुतः ।
वैवस्वतोऽयं यस्यैतत् सप्तमं वर्तते युगम् ।।
सावर्णिर्दक्षसावर्णो ब्रह्मसावर्ण इत्यपि
धर्मसावर्णरुद्रस्तु सावर्णो रौच्यभौत्यवत् ।।"।

6. 'स्वयं तीर्णोऽपरान् तारयति' = 'स्वयं संसार से उत्तीर्ण होकर दूसरों का त्राण करते हैं'—- इस न्याय के अनुसार सूर्य ने इस योग को मनु से, और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा था ।

7. 'मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः' (अमरकोष, 1.22) = 'देवताओं के इकहत्तर युग का 'मन्वन्तर' अर्थात् चौदह मनुओं में से प्रत्येक मनु का स्थितिकाल होता है । मनु ने कहा है —

'यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ।। (मनुस्मृति, 1.79)

'जो 12,000 दिव्य वर्ष = मनुष्यों के चारों युगों के परिमाण –43,20.000 वर्ष का ' देवों का युग' कहा गया है, उससे इकहत्तर गुना कालपरिमाण को इस शास्त्र में 'मन्वन्तर' कहा गया है ।' इस प्रकार 12,000 दिव्य वर्ष = 1 दैव युग = 43,20,000 मानुषवर्ष या मानुष चतुर्युग परिमाण × 71 = 8,52,000 दिव्य वर्ष = 71 दैव युग = 30,67, 20.000 मानुष वर्ष एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण होता है ।

8. स्वायम्भुवः = स्वयम्भुवोऽपत्यमिति; स्वयम्भू + अण् ; संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वात् न गुणः ; = प्रथमोमनुः ।

फलत्वेनानादिगुरुशिष्यपरम्पराप्राप्तत्वेन च कृत्रिमत्वशङ्कानास्पदत्वान्महाप्रभावोऽयं योग इति श्रद्धातिशयाय स्तूयते ।

5 **स एवं महाप्रयोजनोऽपि योगः कालेन महता दीर्घेण धर्महासकरेणेहेदानीमावयोर्व्यवहारकाले द्वापरान्ते दुर्बलानजितेन्द्रियाननधिकारिणः प्राप्य कामक्रोधादिभिरभिभूयमानो नष्टो विच्छिन्नसंप्रदायो जातः । तं विना पुरुषार्थाप्राप्तेरहो दौर्भाग्यं लोकस्येति शोचति भगवान् । हे परंतप परं कामक्रोधादिरूपं शत्रुगणं शौर्येण बलवता विवेकेन तपसा च भानुरिव तापयतीति परंतपः शत्रुतापनो जितेन्द्रिय इत्यर्थः । उर्वश्युपेक्षणाद्यद्भुतकर्मदर्शनात् । तस्मात्त्वं जितेन्द्रियत्वादत्राधिकारीति सूचयति ॥ 2 ॥**

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ 3 ॥

6 **य एवं पूर्वमुपदिष्टोऽप्यधिकार्यभावाद्विच्छिन्नसंप्रदायोऽभूत् । यं विना च पुरुषार्थो न लभ्यते । स एवायं पुरातनोऽनादिगुरुपरम्परागतो योगोऽद्य संप्रदायविच्छेदकाले मयाऽतिस्निग्धेन ते तुभ्यं प्रकर्षेणोक्तः । न त्वन्यस्मै कस्मैचित्। कस्मात्, भक्तोऽसि मे सखा चेति, इतिशब्दो हेतौ । यस्मात्त्वं**

थे, अपने पिता आदि के उपदेश करने से जानते थे । अतः अनादिवेदमूलक, अनन्त फलक और अनादि गुरु-शिष्य- परम्परा से प्राप्त होने के कारण कृत्रिमता की शङ्का के योग्य न होने से यह योग महान् प्रभावशाली है -- इस प्रकार इसमें अत्यन्त श्रद्धा की वृद्धि के लिए इसकी स्तुति की गई है ।

5 इस प्रकार महान् प्रयोजनवाला होने पर भी यह योग धर्म का ह्रास करने वाले महान् =दीर्घ काल के कारण इह= इदानीम् = इस समय अर्थात् हमारे व्यवहार के समय -- द्वापर का अन्त आने पर दुर्बल और अजितेन्द्रिय अनधिकारी पुरुषों को प्राप्त होकर काम -- क्रोधादि से अभिभूत = तिरस्कृत होकर नष्ट हो गया है अर्थात् विच्छिन्न सम्प्रदाय हो गया है = इसके सम्प्रदाय का विच्छेद हो गया है । इस ज्ञान -- निष्ठारूप योग के बिना धर्मार्थकामादि पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए भगवान् 'अहो ! लोक का दुर्भाग्य है जो इस योग से वञ्चित हुआ' --- इस प्रकार का दुःख प्रकट करते हैं । हे परंतप = जो पर= कामक्रोधादिरूप आन्तर शत्रुसमुदाय को अपने शौर्य,प्रबल विवेक और तप से सूर्य की भांति तापित करता है -- ऐसे हे परंतप = शत्रुओं को तपानेवाले अर्थात् जितेन्द्रिय! क्योंकि उर्वशी की उपेक्षा करना आदि तुम्हारे अद्भुत कर्म देखे जाते हैं, इसलिए तुम जितेन्द्रिय होने कारण इस योग के अधिकारी हो --- यह इस सम्बोधन से सूचित करते हैं ।।2।।

[वही यह पुरातन योग आज मैंने तुमको कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इसलिए कि यह ज्ञान उत्तम रहस्य है ।।3।।

6 जो इस प्रकार पूर्वोपदिष्ट भी अधिकारी न रहने से विच्छिन्न सम्प्रदाय हो गया है और जिसके बिना पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती है, उसी इस पुरातन = अनादि गुरु - परम्परा से आगत योग

9. जो राजा भी हों और ऋषि भी हों अर्थात् जो भूपति होकर सूक्ष्मार्थदर्शी हों, उनको 'राजर्षि' कहते हैं । इस अर्थ से 'राजर्षि' शब्द ब्राह्मणादि का उपलक्षण है । अथवा 'राजानश्च ऋषयश्च' --- इस प्रकार'राजर्षि' शब्द का द्वन्द्व समास कर राजा लोक भी जानते थे और ऋषिलोक भी जानते थे --- ऐसा अर्थ कर सकते हैं ।

मम भक्तः शरणागतत्वे सत्यत्यन्तप्रीतिमान्सखा च समानवयाः स्निग्धसहायोऽसि सर्वदा भवसि अतस्तुभ्यमुक्त इत्यर्थः अन्यस्मै कुतो नोच्यते तत्राऽऽह– हे यस्मादेतज्ज्ञानमुत्तमं रहस्यमति गोप्यम् ॥ 3 ॥

7 **या भगवति वासुदेवे मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वानित्यत्वाशङ्का । मूर्खाणां तामपनेतुमनुवदन्नर्जुन आशङ्कते –**

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ 4 ॥

8 **अपरमल्पकालीनमिदानींतनं वसुदेवगृहे भवतो जन्म शरीरग्रहणं विहीनं च मनुष्यत्वात् । परं बहुकालीनं सर्गादिभवमुत्कृष्टं च देवत्वात्, विवस्वतो जन्म । अत्राऽऽत्मनो जन्माभावस्य प्राग्व्युत्पा-**

को आज = सम्प्रदाय -विच्छेद के समय अत्यन्त स्नेहवान् मैंने तुमको ही प्रकर्ष से = पूर्णरूप से कहा है, किसी अन्य को नहीं । क्यों ? 'भक्तोऽसि मे सखा चेति' = 'क्योंकि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो'। 'इति'शब्द यहाँ हेतु अर्थ में है । क्योंकि तुम मेरे भक्त हो[10]--- शरणागत होने के कारण मेरे प्रति अत्यन्त प्रीतिमान् हो और सखा -- समवयस्क अर्थात् सर्वदा स्नेही सहायक हो[11], इसलिए मैंने तुमको ही कहा है --- यह तात्पर्य है । किसी अन्य को यह क्यों नहीं कहा ? इसमें कारण कहते हैं - हि = यस्मात् = क्योंकि यह ज्ञान उत्तम रहस्य[12] = अत्यन्त गोपनीय है ॥ 3॥

7 मूर्खों को जो भगवान् वासुदेव में मनुष्यत्व के कारण असर्वज्ञत्व और अनित्यत्व की आशंका होती है, उसकी निवृत्ति के लिए तदनुवादपूर्वक अर्जुन शङ्का करता है ---

[अर्जुन बोला -- आपका जन्म तो अल्पकालीन अर्थात् अब हुआ है और सूर्य का जन्म बहुकालीन अर्थात् सृष्टि के आरम्भ का है, इसलिए यह मैं कैसे समझूँ कि आपने सृष्टि के आरम्भ में सूर्य से यह योग कहा था ॥4॥

8. आपका वसुदेव के गृह में जन्म[14] अर्थात् शरीर धारण करना अपर = अल्पकालीन अर्थात् इदानींतन--

10. तुम मेरे भक्त हो अर्थात् भजनशील हो । जैसे – 'शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः' = 'जैसे शिवमय विष्णु है वैसे ही विष्णुमय शिव है'– इस शास्त्र -वचन के अनुसार शिव और विष्णु का अभेद सिद्ध होने कारण शिवस्वरूप मेरा बाहर और अन्दर से निष्कपट श्रद्धा से तुम भजन करते हो । इस कारण तुम मेरे भक्त हो अर्थात् सर्वदा मेरा भजन करना ही तुम्हारा स्वभाव है ।

11. तुम सखा हो अर्थात् कृष्णरूपी सखा के स्मरण और श्रवणादि से तुम्हारा चित्त द्रवीभूत हो जाता है ।

12. यह योग शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान करने वाले गृहस्थ का उत्तम साधन है अर्थात् सर्वोत्तम परब्रह्म की प्राप्ति का कारण है, अतः मुक्ति का भी साधन है । इस कारण यह उत्तम रहस्य है ।

13. यहाँ भगवान् के कहने का तात्पर्य यह है कि हे अर्जुन ! यह ज्ञाननिष्ठारूप योग उत्तम रहस्य है । यह सभी को प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, केवल अधिकारी को ही कहा जा सकता है । इस रहस्योद्घाटन के लिए तुम ही उत्तम अधिकारी हो, क्योंकि (i) तुम परंतप = जितेन्द्रिय हो, (ii) तुम मेरे ही भक्त हो, अतएव मेरे प्रति अतिशय श्रद्धावान् ही हो । इस कारण मैं जो भी कहूँगा तुम संशयहीन होकर उसको ग्रहण करोगे, और (iii) तुम मेरे सखा भी हो, इस कारण तुम्हारा चित्त मेरे प्रति अत्यन्त स्निग्ध = स्नेहयुक्त होने से मेरी वाणी को अनायास ही धारण करेगा और प्रभावित होगा । इसीलिए मैंने इस उत्तम रहस्य को तुमको ही प्रकाशित किया है, अन्य को नहीं ।

दितत्वाद्देहाभिप्रायेणैवार्जुनस्य प्रश्नः । अतः कथमेतद्विजानीयामतिविरुद्धार्थतया । एतच्छब्दार्थमेव विवृणोति--त्वमादौ प्रोक्तवानिति । त्वमिदानींतनो मनुष्योऽसर्वज्ञः सर्गादौ पूर्वतनाय सर्वज्ञायाऽऽदित्याय प्रोक्तवानिति विरुद्धार्थमेतदिति भावः ।

9 अत्रायं निर्गलितोऽर्थः--एतद्देहावच्छिन्नस्य तव देहान्तरावच्छेदेन वाऽऽदित्यं प्रत्युपदेष्टृत्वमेतद्देहेन वा । नाऽऽद्यः । जन्मान्तरानुभूतस्यासर्वज्ञेन स्मर्तुमशक्यत्वात् । अन्यथा ममापि जन्मान्तरानुभूतस्मरणप्रसङ्गः, तव मम च मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वाविशेषात् । तदुक्तमभियुक्तैः-- 'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' इति । नापि द्वितीयः सर्गादाविदानींतनस्य देहस्यासद्भावात् । तदेवं देहान्तरेण सर्गादौ सद्भावसंभवेऽपीदानीं तत्स्मरणानुपपत्तिः । अनेन देहेन स्मरणोपपत्तावपि सर्गादौ सद्भावानुपपत्तिरित्यसर्वज्ञत्वानित्यत्वाभ्यां द्वावर्जुनस्य पूर्वपक्षौ ॥ 4 ॥

10 तत्र सर्वज्ञत्वेन प्रथमस्य परिहारमाह --

वर्तमानकालिक -- आधुनिक है तथा मनुष्यत्व के कारण विहीन अर्थात् देवशरीर से विहीन -- अपकृष्ट है और सूर्य का जन्म पर = बहुकालीन अर्थात् सृष्टि के आरम्भ का है तथा देवत्व के कारण उत्कृष्ट भी है । क्योंकि आत्मा के जन्माभाव की सिद्धि पहले की जा चुकी है, इसलिए यहाँ अर्जुन का प्रश्न देह के अभिप्राय से ही है ।अतः प्रत्यक्षरूपेण विरुद्धार्थक होने से मैं यह कैसे समझूँ कि 'आपने सृष्टि के आरम्भ में सूर्य से यह योग कहा था' = 'त्वमादौ प्रोक्तवानिति' ऐसा कहकर 'एतद्'शब्द का अर्थ ही स्पष्ट करते हैं । भाव यह है कि आप इदानींतन =इस समय के मनुष्य है, अतएव असर्वज्ञ है, सृष्टि के आरम्भ में आपने अपने पूर्ववर्ती सर्वज्ञ सूर्य से यह योग कहा था -- यह तो स्पष्ट विरुद्धार्थक है ।

9 यहाँ इसका निर्गलित = निचोड़ अर्थ यह है -- इस देह से अवच्छिन्न आपका आदित्य = सूर्य के प्रति उपदेशकत्व देहान्तर के अवच्छेद से है या इसी देह से है ? प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि असर्वज्ञ मनुष्य जन्मान्तरानुभूत = जन्मान्तर में अनुभव किए हुए विषय का स्मरण नहीं कर सकता । अन्यथा मुझको भी जन्मान्तरानुभूत विषय का स्मरण होने लगेगा, क्योंकि मनुष्य होने से आपकी और मेरी असर्वज्ञता में तो कोई विशेष = भेद है नहीं । विद्वानों ने ऐसा कहा भी है -- 'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' = 'जन्मान्तर में अनुभूत विषय का स्मरण नहीं होता है ।' द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में इदानींतन = इस समय के शरीर की स्थिति नहीं हो सकती । यदि इसप्रकार देहान्तर के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में आपकी स्थिति संभव भी हो तो इस समय उसका स्मरण होना संभव नहीं है । तथा इस देह से स्मरण करना संभव भी हो तो सृष्टि के आरम्भ में इसकी स्थिति नहीं हो सकती । इसप्रकार असर्वज्ञत्व और अनित्यत्व की दृष्टि से अर्जुन के ये दो पूर्वपक्ष हैं ॥ 4 ॥

10 इसमें से सर्वज्ञत्व की दृष्टि से श्रीभगवान् प्रथम पक्ष का परिहार करते हैं :--

[श्रीभगवान् बोले -- हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं । मैं उन सबको जानता हूँ, किन्तु हे परंतप ! तुम नहीं जानते ॥ 5 ॥]

14. यहाँ 'जन्म' शब्द से यह सूचित किया गया है कि जिसका जन्म होता है, नाम व रूप होता है वह माया के अधीन होने के कारण अनित्य, असर्वज्ञ और विकारी अवश्य ही होगा, अतः मूर्खजन वासुदेव कृष्ण को भगवान् के रूप में कभी स्वीकार नहीं करेंगे । इस कारण प्रकृत विषय को स्पष्ट करके समझाकर कहना चाहिए जिससे यह संशय पूर्णरूप से निराकृत हो जाय, यही यहाँ अर्जुन के प्रश्न का अभिप्राय है ।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ 5 ॥

11 जन्मानि लीलादेहग्रहणानि लोकदृष्ट्यभिप्रायेणाऽऽदित्यस्योदयवन्मे मम बहूनि व्यतीतानि तव चाज्ञानिनः कर्मार्जितानि देहग्रहणानि । तव चेत्युपलक्षणमितरेषामपि जीवानां, जीवैक्याभिप्रायेण वा । हेऽर्जुन श्लेषेणार्जुनवृक्षनाम्ना संबोधयन्नावृतज्ञानत्वं सूचयति । तानि जन्मान्यहं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो वेद जानामि सर्वाणि मदीयानि त्वदीयान्यन्यदीयानि च । न त्वमज्ञो जीवस्तिरो-

11 लौकिक दृष्टि के अभिप्राय से सूर्य के उदय के समान मेरे बहुत से जन्म = लीला[15] देहग्रहण व्यतीत हो चुके हैं[16] । और अज्ञानी तुम्हारे भी अनेक बार कर्मार्जित देहग्रहण हो चुके हैं । 'तव च' = 'तुम्हारे भी' -- यह कथन 'अन्य जीवों के भी अनेक जन्म हो चुके हैं' -- इसका उपलक्षण है; अथवा, जीवैक्य = जीवों की एकता के अभिप्राय से है । 'हे अर्जुन ! -- इससे श्लेष[17] द्वारा अर्जुनवृक्ष के नाम से संबोधन करके यह सूचित करते हैं कि 'तुम्हारा ज्ञान आवृत है' । उन अपने, तुम्हारे और अन्य जीवों के समस्त जन्मों को मैं[18] सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर तो जानता हूँ, किन्तु

15. लीला = लयनमिति, ली + सम्पदादित्वात् क्विप् । लियं लातीति, ला + कः । केलिः, विलास : ।

16. श्री भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि जन्म कर्मनिमित्तक होता है, किन्तु भगवान् का तो कोई भी शुभाशुभ कर्म ही नहीं होता, कारण कि मिथ्याज्ञान से राग-द्वेष के कारण शुभाशुभ कर्म होते हैं, भगवान् में मिथ्याज्ञान नहीं होता है, अतः उनका वास्तविक जन्म नहीं होता है, भगवान् तो लीलादेहग्रहण करते हैं – लीलया जन्म ग्रहण करते हैं, इस जन्म को भी लौकिक दृष्टि से जन्म कहा जाता है वैसे ही जैसे कि सूर्य का उदय होता है । सूर्य सदैव आकाश में प्रकाशित रहता है, किन्तु लोक में यह व्यवहार होता है कि सूर्य प्रातःकाल उदय होता है और सायंकाल अस्त होता है, प्रतिदिन सूर्योदयास्त भिन्न-भिन्न माना जाता है । परमार्थतः भगवान् अज = जन्मरहित हैं, उसका किसी प्रकार का देहग्रहण संभव नहीं है, तथापि विभिन्न योनियों में भगवान् के जो जन्म दिखाई देते हैं वे सब उनकी माया का विलास मात्र है ।

17. जहाँ दो भिन्न अर्थों के बोधक समानाकार शब्द एक बार उच्चारण किये जाने के कारण एक शब्द के रूप में प्रतीत होते हैं, जैसे – जतु और काष्ठ – दो भिन्न वस्तुएँ हैं, किन्तु कभी-कभी जतु काष्ठ के साथ चिपककर एक हो जाती है, वहाँ शब्दों का श्लेष होने से उसको 'श्लेष' अलंकार कहते हैं ('वाच्यभेदेन भिन्ना युगपद्भाषणस्पृशः । श्लिष्यन्ति शब्दः श्लेषः'– काव्यप्रकाश) । अभिप्राय यह है कि एक बार उच्चरित जो शब्द अनेक अर्थ का बोधक हो उसे 'श्लेष' कहते हैं । प्रकृत में अर्जुन'शब्द श्लिष्ट है, जिससे पार्थ अर्जुन और वृक्षविशेष – दोनों प्रतीत होते हैं । वृक्ष की जड़ता प्रसिद्ध है, अर्जुन वृक्ष के नाम से सम्बोधन कर भगवान् ने अर्जुन का जड़त्व = अज्ञान = आवृतज्ञान सूचित किया है ।

18. मैं जानता हूँ, कारण 'मैं'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव हूँ; मेरी ज्ञानशक्ति पर कोई आवरण नहीं है, इस कारण मुझसे कुछ भी अज्ञात नहीं है । श्रुति कहती है -- 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' = 'विज्ञाता के विज्ञान का कभी लोप नहीं होता है' । 'मैं'सभी जीवों के भीतर सर्वावस्था में नित्य शाश्वत विज्ञाता हूँ, इस कारण मैं भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ जानता हूँ ।

19. तुम नहीं जानते हो, कारण 'तुम' अज्ञ जीव हो । स्वरूप की दृष्टि से तुममें और मुझमें कोई भेद न होने पर भी तुम्हारी ज्ञानशक्ति अज्ञान के आवरण से आवृत है, इस कारण तुमसे सब कुछ अज्ञात है । इसीकारण तुम अपने को भी नहीं जानते हो ।

20. यहाँ 'परंतप' – इस सम्बोधन से भगवान् ने यह सूचित किया है कि 'अर्जुन अज्ञान की विक्षेप शक्ति के कारण भेद-दृष्टि विशिष्ट होकर पर = शत्रु की कल्पना करके उसका हनन करने के लिए प्रवृत्त है' । वस्तुतः पर = द्वितीय तो कोई नहीं है, 'नान्योऽतो दृष्टा श्रोता' – इत्यादि श्रुति के अनुसार चैतन्य एक ही है, अद्वितीय है और उसका हनन नहीं हो सकता है, जैसा कि गीता में ही भगवान् ने कहा है -- 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' ।

भूतज्ञानशक्तिर्वेत्थ न जानासि स्वीयान्यपि किं पुनः परकीयाणि । हे परंतप परं शत्रुं भेददृष्ट्या परिकल्प्य हन्तुं प्रवृत्तोऽसीति विपरीतदर्शित्वाद्भ्रान्तोऽसीति सूचयति । तदनेन संबोधनद्वयेनाऽऽवरणविक्षेपौ द्वावप्यज्ञानधर्मौ दर्शितौ ॥ 5 ॥

12 **नन्वतीतानेकजन्मवत्त्वमात्मनः स्मरसि चेत्तर्हि जातिस्मरो जीवस्त्वं परजन्मज्ञानमपि योगिनः सार्वात्म्याभिमानेन 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इति न्यायेन संभवति । तथाचाऽऽह वामदेवो जीवोऽपि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' इत्यादिदाशतय्याम् । अत एव न मुख्यः सर्वज्ञस्त्वम् । तथाच कथमादित्यं सर्वज्ञमुपदिष्टवानस्यनीश्वरः सन् । न हि जीवस्य मुख्यं सार्वज्ञ्यं संभवति व्यष्ट्युपाधेः परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंबन्धित्वाभावात् । समष्ट्युपाधेरपि विराजः स्थूलभूतोपाधित्वेन सूक्ष्मभूतपरिणामविषयं मायापरिणामविषयं च ज्ञानं न संभवति । एवं सूक्ष्म-**

तुम[19] अज्ञानी जीव, जिसकी ज्ञानशक्ति तिरोभूत हो गई है, अपने भी जन्मों को नहीं जानते, अन्य जीवों के जन्मों को तो कैसे जानोगे ? 'हे परंतप[20] !' -- इस सम्बोधन से यह सूचित करते हैं कि 'तुम भेददृष्टि से पर = शत्रु की कल्पना करके उसका हनन करने के लिए प्रवृत्त हो ।' इसप्रकार इन दो सम्बोधनों से अज्ञान के आवरण[21] और विक्षेप[22] दोनों धर्मों को दिखलाया है ॥ 5 ॥

12 यदि आपको अपने अतीत अनेक जन्मों का स्मरण होता है, तो आप कोई जातिस्मर = पूर्वजन्मों का स्मरण रखनेवाले जीव हैं, क्योंकि 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' = 'वामदेव के समान इन्द्र ने शास्त्रीय दृष्टि से अपने को परमात्मस्वरूप कहा है' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.32) - इस न्याय से योगी को सार्वात्म्य का अभिमान होने से अन्य जन्मों का ज्ञान भी हो सकता है । वामदेव ने जीव होकर भी दाशतयी श्रुति में इसीप्रकार कहा है -- 'मैं मनु हुआ था और सूर्य हुआ था तथा अब ब्राह्मण कक्षीवान् ऋषि हूँ' -- इत्यादि । अतएव आप मुख्य सर्वज्ञ नहीं है । फिर आपने अनीश्वर होकर सर्वज्ञ सूर्य को उपदेश कैसे दिया ? क्योंकि जीव में मुख्य सर्वज्ञता नहीं हो सकती, कारण कि व्यष्टि उपाधि[23] परिच्छिन्न होने के कारण सबसे सम्बन्ध रखनेवाली नहीं होती । समष्टि उपाधि[24] वाले विराट् को भी स्थूलभूत उपाधि होने से सूक्ष्मभूतों के परिणाम और माया के परिणाम के विषय में ज्ञान नहीं हो सकता । इसीप्रकार सूक्ष्मभूत उपाधि वाले हिरण्यगर्भ को भी उसकी कारणभूता माया के परिणाम - आकाशादि के सर्गक्रम आदि के विषय में ज्ञान न होना सिद्ध ही है । इसलिए ईश्वर ही कारण उपाधिवाला होने से अतीत = भूत, अनागत = भविष्य और वर्तमान - सभी विषयों का ज्ञानवान्-मुख्य सर्वज्ञ है । भूत, भविष्य और वर्तमान को विषय करनेवाली माया की तीन वृत्तियाँ हैं, अथवा इन सबको विषय करनेवाली एक मायावृत्ति है -- यह दूसरी बात है । किन्तु उस सर्वज्ञ और नित्य ईश्वर का तो, उसमें धर्माधर्मादि का अभाव होने के कारण, जन्म

---

21. अज्ञान की उस शक्ति को 'आवरण-शक्ति' कहते हैं, जो स्वयं परिच्छिन्न होते हुए भी अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप को उसीप्रकार आच्छादित कर देती है जिसप्रकार एक छोटा सा मेघ का टुकड़ा दर्शक के नेत्रों के सम्मुख आकर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को भी ढक लेता है और फलस्वरूप दर्शक सूर्य को देख नहीं पाता है (आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायततमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् -- वेदान्तसार) ।

22. अखण्ड वस्तु = ब्रह्म का अवलम्बन न करने के कारण, चित्तवृत्ति का अन्य वस्तुओं में अवलम्बन 'विक्षेप' कहा गया है (अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः – वेदान्तसार) ।

भूतोपाधेरपि हिरण्यगर्भस्य तत्कारणमायापरिणामाकाशादिसर्गक्रमादिविषयज्ञानाभावः सिद्ध एव। तस्मादीश्वर एव कारणोपाधित्वादतीतानागतवर्तमानसर्वार्थविषयज्ञानवान्मुख्यः सर्वज्ञः । अतीतानागतवर्तमानविषयं मायावृत्तित्रयमेकैव वा सर्वविषया मायावृत्तिरित्यन्यत् । तस्य च नित्येश्वरस्य सर्वज्ञस्य धर्माधर्माद्यभावेन जन्मैवानुपपन्नमतीतानेकजन्मवत्त्वं तु दूरोत्सारितमेव । तथाच जीवत्वे सार्वज्ञ्यानुपपत्तिरीश्वरत्वे च देहग्रहणानुपपत्तिरिति शङ्काद्वयं परिहरन्नित्यत्वपक्षस्यापि परिहारमाह –

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ 6 ॥

13 **अपूर्वदेहेन्द्रियादिग्रहणं जन्म । पूर्वगृहीतदेहेन्द्रियादिवियोगो व्ययः । यदुभयं तार्किकैः प्रेत्यभाव इत्युच्यते । तदुक्तम् 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति । तदुभयं च धर्माधर्मवशाद्भवति । धर्माधर्मवशत्वं चाज्ञस्य जीवस्य देहाभिमानिनः कर्माधिकारित्वाद्भवति । तत्र यदुच्यते सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वकारणस्येदृग्देहग्रहणं नोपपद्यत इति तत्तथैव । कथं, यदि तस्य**

होना ही असम्भव है; अतः उसका अतीत अनेकजन्मवत्व तो दूर ही रह जाता है ।इसप्रकार यदि आप जीव हैं तो आपमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती और यदि आप ईश्वर हैं तो देहग्रहण नहीं हो सकता -- इन दो शंकाओं का परिहार करते हुए अनित्यत्व के पक्ष का भी परिहार करते हैं –
['मैं' अव्ययात्मा = अविनाशीस्वरूप, अज = अजन्मा होते हुए भी तथा समस्त भूतप्राणियों का ईश्वर होते हुए भी, अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी माया से ही प्रकट होता हूँ ॥6॥]

13 अपूर्व = नवीन देह और इन्द्रियादि को ग्रहण करना 'जन्म' है तथा पूर्व गृहीत देह और इन्द्रियादि का वियोग होना व्यय = 'मृत्यु' है । इन्हीं दोनों को तार्किक 'प्रेत्यभाव'[25] कहते हैं । यह कहा भी है -- 'उत्पन्न होने वाले की मृत्यु निश्चित है और मृत का जन्म होना निश्चित है' । ये दोनों=

---

23. व्यष्टि उपाधि परिच्छिन्न = सीमित को व्याप्त करनेवाली होती है । यह निकृष्ट अर्थात् जीव की उपाधि है । यह निकृष्ट उपाधि होने के कारण मलिन सत्त्वप्रधान है । इसकी मलिनसत्त्वप्रधानता का कारण यह है कि इसमें सत्त्व रजस् और तमस् से अभिभूत होकर मलिन रहता है तथा रजस् और तमस् की ही प्रधानता रहती है । अतएव यह जीव के स्वरूप = शुद्धचैतन्य को आच्छन्न किये रहती है । व्यष्टि से उपहित जीव को 'प्राज्ञ' कहा जाता है । प्राज्ञ 'प्रायेण अज्ञः' = प्रायः अज्ञ ही होता है । 'प्राज्ञ' सुषुप्ति अवस्था में वर्तमान जीव है । जाग्रत् अवस्था में वर्तमान जीव 'विश्व' कहा जाता है और स्वप्न अवस्था में वर्तमान जीव को 'तैजस' कहते हैं ।

24. समष्टि उपाधि सर्वत्र व्याप्त रहती है । यह उत्कृष्ट अर्थात् ज्ञानात्मक चैतन्य की उपाधि है । इसको उत्कृष्ट उपाधि कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर का उपाधिभूत समष्टिमूलक अज्ञान ईश्वर को आवृत नहीं करता है । यह उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण विशुद्ध सत्त्वप्रधान है । यहाँ विशुद्धता का अर्थ यह है कि इसमें सत्त्वगुण जो प्रधान होता है, वह रजस् और तमस् से अभिभूत नहीं होता है । समष्टि से उपहित चैतन्य समस्त अज्ञानजन्य प्रपञ्च का अवभासक होने के कारण सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व और सर्वनियन्तृत्व आदि गुणों से युक्त अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत्कारण और 'ईश्वर' नाम से व्यवहृत होता है । ईश्वर की यह समष्टि स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च के विलय का आधार होने के कारण 'सुषुप्ति' और इसीलिए स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च लय का स्थान कहलाती है । ईश्वर की इस समष्टि की स्वप्नावस्था वह है जिसमें सूक्ष्म भूतों की दृष्टि के परिणामस्वरूप सूक्ष्मशरीर उत्पन्न हो जाते हैं और स्वप्नावस्था में वर्तमान ईश्वर-चैतन्य को 'हिरण्यगर्भ' और 'सूत्रात्मा' कहते हैं । ईश्वर की समष्टि की जाग्रदवस्था वह है जिसमें स्थूल भूतों के कार्यरूप स्थूलप्रपञ्च की सृष्टि होती है । जाग्रदवस्था में वर्तमान ईश्वर – चैतन्य को 'विराट्' और'वैश्वानर' कहते हैं ।

शरीरं स्थूलभूतकार्यं स्यात्तदा व्यष्टिरूपत्वे जाग्रदवस्थाऽस्मदादितुल्यत्वं, समष्टिरूपत्वे च विराड्जीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात् । अथ सूक्ष्मभूतकार्यं तदा व्यष्टिरूपत्वे स्वप्नावस्थाऽस्मदादितुल्यत्वं, समष्टिरूपत्वे च हिरण्यगर्भजीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात् । तथाच भौतिकं शरीरं जीवानाविष्टं परमेश्वरस्य न संभवत्येवेति सिद्धम् । नच जीवाविष्ट एव तादृशे शरीरे तस्य भूतावेशवत्प्रवेश इति वाच्यम् । तच्छरीरावच्छेदेन तज्जीवस्य भोगाभ्युपगमेऽन्तर्यामिरूपेण सर्वशरीरप्रवेशस्य विद्यमानत्वेन शरीरविशेषाभ्युपगमवैयर्थ्यात् । भोगाभावे च जीवशरीरत्वानुपपत्तेः । अतो न भौतिकं शरीरमीश्वरस्येति पूर्वार्धेनाङ्गीकरोति—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्निति ।

14 **अजोऽपि सन्नित्यपूर्वदेहग्रहणमव्ययात्माऽपि सन्निति पूर्वदेहविच्छेदं भूतानां भवनधर्माणां सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामीश्वरोऽपि सन्निति धर्माधर्मवशत्वं निवारयति । कथं तर्हि देहग्रहणमित्युत्तरार्धेनाऽऽह—प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि प्रकृतिं मायाख्यां विचित्रानेकशक्तिमघटमानघटनापटीयसीं स्वां स्वोपाधिभूतामधिष्ठाय चिदाभासेन वशीकृत्य संभवामि तत्परि-**

जन्म और मृत्यु धर्म और अधर्म के कारण होते हैं । देहाभिमानी अज्ञानी जीव को धर्म और अधर्म की अधीनता कर्म का अधिकारी होने से होती है । यहाँ यह जो कहा गया है कि सर्वकारणस्वरूप सर्वज्ञ ईश्वर का इसप्रकार देहग्रहण करना संभव नहीं है, वह ठीक ही है । कैसे ? यदि ईश्वर का शरीर स्थूलभूतों का कार्य होगा तो व्यष्टिरूप होने पर जाग्रदवस्था में हम लोगों के समान ही होगा और समष्टिरूप होने पर विराट् जीव होगा, क्योंकि वह विराट् भी उस स्थूलभूत की उपाधिवाला है । यदि वह सूक्ष्मभूतों का कार्य होगा तो व्यष्टिरूप होने पर स्वप्नावस्था में हम लोगों के समान ही होगा और समष्टिरूप होने पर हिरण्यगर्भ जीव होगा, क्योंकि वह हिरण्यगर्भ भी उस सूक्ष्मभूत की उपाधि वाला है । इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर का जीव के आवेश से रहित भौतिक शरीर नहीं हो सकता[26] । यह भी नहीं कहना चाहिए कि भूत के आवेश के समान ईश्वर का किसी जीवाविष्ट भौतिक शरीर में प्रवेश हो जाता है, क्योंकि यदि वह उस शरीर के अवच्छेद द्वारा उस जीव के भोगों को स्वीकार करता है तो अन्तर्यामीरूप से उसका सभी शरीरों में प्रवेश है ही, अत: किसी विशेष शरीर में प्रवेश स्वीकार करना व्यर्थ ही है और यदि वह भोगों को स्वीकार नहीं करता है तो उस शरीर की जीवशरीरता ही सिद्ध नहीं हो सकती । अत: ईश्वर का शरीर भौतिक नहीं होता -- यह 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' -- इस पूर्वार्ध से स्वीकार करते हैं ।

14 'अजोऽपि सन्' = 'अज -- अजन्मा होते हुए भी' -- इसमें अपूर्व नवीन देहग्रहण का; 'अव्ययात्माऽपि सन्' = 'अव्ययात्मा -- अविनाशी स्वरूप होते हुए भी' -- इससे पूर्व गृहीत देह के विच्छेद का; और 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' = 'भूतों का -- उत्पत्ति धर्मवाले ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त

25. प्रेत्यभाव = 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु से ' क्त्वा' (ल्यप्) प्रत्यय होकर 'प्रेत्य' शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है – मरकर । 'भाव' शब्द का अर्थ है – जन्म । इसप्रकार मृत्यु के पश्चात् जन्म ग्रहण करना ही 'प्रेत्यभाव' है ('पुनरुत्पत्ति: प्रेत्यभाव:' – न्यायसूत्र, 1.1.19) । आत्मा के पूर्व देह की निवृत्ति और अपूर्व = नवीन देहसंघात की प्राप्ति 'प्रेत्यभाव' है ('प्रेत्यभावश्च आत्मन: पूर्वदेहनिवृत्ति:, अपूर्वदेहसंघातलाभ:' – तर्कभाषा) ।

26. तात्पर्य यह है कि भौतिक शरीर जीवाविष्ट ही होता है, जीव के आवेश से रहित नहीं होता । यदि ईश्वर का शरीर भौतिक होगा, तो वह जीवाश्रित ही होगा, ईश्वराश्रित नहीं, अतएव सर्वज्ञ नहीं होगा । फलत: सर्वज्ञ ईश्वर का भौतिक शरीर हो ही नहीं सकता ।

णामविशेषैरेव देहवानिव जात इव च भवामि। अनादिमायैव मदुपाधिभूता यावत्कालस्थायित्वेन च नित्या जगत्कारणत्वसंपादिका मदिच्छयैव प्रवर्तमाना विशुद्धसत्त्वमयत्वेन मम मूर्तिस्तद्विशिष्टस्य चाजत्वमव्ययत्वमीश्वरत्वं चोपपन्नम् । अतोऽनेन नित्येनैव देहेन विवस्वन्तं च त्वां च प्रतीमं योगमुपदिष्टवानहमित्युपपन्नम् । तथाच श्रुतिः -- 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति । आकाशोऽत्राव्याकृतम्। 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्यादौ तथा दर्शनात्, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति न्यायाच्च।

15 **तर्हि भौतिकविग्रहाभावात्तद्धर्ममनुष्यत्वादिप्रतीतिः कथमिति चेत्तत्राऽऽह -- आत्ममाययेति । मन्माययैव मयि मनुष्यत्वादिप्रतीतिर्लोकानुग्रहाय न तु वस्तुवृत्त्येति भावः । तथा चोक्तं मोक्षधर्मे –**

प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी' -- इससे धर्म और अधर्म की अधीनता का निवारण करते हैं । 'तो फिर आपका देहग्रहण कैसे होता है'? -- इसका उत्तर 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि' इस उत्तरार्द्ध से देते हैं :-- प्रकृति[27] = अनेक प्रकार की विचित्र शक्तियों से सम्पन्न, अघटमानघटनापटीयसी -- असम्भव को सम्भव करने में कुशल, स्व -- अपनी उपाधिभूता माया नाम की प्रकृति को अधीन करके = चिदाभास के द्वारा अपने वश में करके संभवामि[28] = प्रकट होता हूँ अर्थात् उसके परिणामविशेषों से ही देहवान्-सा और उत्पन्न हुआ सा हो जाता हूँ। काल की स्थितिपर्यन्त रहनेवाली होने से नित्य, जगत् के कारणत्व की सम्पादिका, मेरी इच्छा से ही प्रवृत होनेवाली, मेरी उपाधिभूता अनादि माया ही विशुद्ध सत्त्वमयी होने के कारण मेरी मूर्त्ति है । उससे विशिष्ट मुझमें अजत्व, अव्ययत्व और ईश्वरत्व उपपन्न होता है । अतः इस नित्य देह से ही मैंने सूर्य और तुमको इस योग का उपदेश किया है -- यह युक्तियुक्त ही है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'ब्रह्म आकाशशरीरवाला है' । इस श्रुति में अव्याकृत आकाश का ही ग्रहण है, क्योंकि 'आकाश में ही वह ओतप्रोत है' -- इत्यादि श्रुति में ऐसा देखा गया है, तथा 'आकाशस्तल्लिङ्गात्[29] (ब्रह्मसूत्र, 1.1.22) -- इस न्याय से भी यही सिद्ध होता है ।

15 'तो फिर भौतिक शरीर न होने पर आपमें भौतिक शरीर के धर्म मनुष्यत्वादि क्यों प्रतीत होते हैं ?' -- ऐसी यदि शङ्का हो तो कहते हैं -- 'आत्ममाययेति' । मेरी माया से ही मुझमें मनुष्यत्वादि की प्रतीति होती है और वह लोकानुग्रह के लिए ही होती है, वस्तुदृष्टि से नहीं होती अर्थात् वास्तविक मनुष्यत्वादि मुझमें नहीं होते । इसीप्रकार महाभारत के शान्तिपर्व के खण्ड 'मोक्षधर्म' में भी कहा है -- 'हे नारद !तुम जो

27. प्रकृतिः = प्र + कृ + कर्तरि क्तिच् (पाणिनि सूत्र, 3.3.174) = प्रकृष्टा कृतिः कार्यं यस्याः सा; प्रकर्षेण सृष्ट्यादिकं करोतीति वा प्रकृतिः = प्रकृष्ट कार्य है जिसका वह; अथवा जो प्रकर्ष से सृष्टि आदि कार्य करती है वह 'प्रकृति' है -- इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रकृति' शब्द से यहाँ भगवान् की दैवी माया विवक्षित है । सांख्याभिमत सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था 'प्रकृति' विवक्षित नहीं है । कारण कि सांख्य – मत में प्रकृति स्वतन्त्र है, जबकि प्रकृत में प्रकृति ईश्वराधीन है । ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी 'प्रकृति' की व्युत्पत्ति करते हुए ऐसा ही कहा है –

"प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्त्तिता: ॥"

28. संभवामि = सम्यगप्रच्युतज्ञानबलवीर्यादिशक्त्यैव भवामि – अर्थात् मैं सम्यक् अप्रच्युत – अस्खलित ज्ञान, बल, वीर्य आदि शक्तियों के साथ ही होता हूँ – प्रकट होता हूँ । प्रकृति के परिणामविशेषों द्वारा मैं देहग्रहण न करके भी देहवान्-सा और उत्पन्न हुआ सा हो जाता हूँ ।

29. 'आकाश इति होवाच' – इस श्रुति में 'आकाश' शब्द ब्रह्म = परमात्मा का वाचक है, क्योंकि इसमें 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' = 'आकाश से ही ये सब भूत समुत्पन्न होते हैं' -- इत्यादि श्रुतिवाक्य उस ब्रह्म के ही लिङ्ग हैं ।

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥' इति ।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं कारणोपाधिं मां चर्मचक्षुषा द्रष्टुं नार्हसीत्यर्थः । उक्त च भगवता भाष्यकारेण -- 'स च भगवाञ्ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन्स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वल्लँक्ष्यते स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया' इति । व्याख्यातृभिश्चोक्तं स्वेच्छाविनिर्मितेन मायामयेन दिव्येन रूपेण संबभूवेति ।

नित्यो यः कारणोपाधिर्मायाख्योऽनेकशक्तिमान् ।
स एव भगवद्देह इति भाष्यकृतां मतम् ॥

16 **अन्ये तु परमेश्वरे देहदेहिभावं न मन्यन्ते । किं यश्च नित्यो विभुः सच्चिदानन्दघनो भगवान्वासुदेवः परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा स एव तद्विग्रहो नान्यः कश्चिद्भौतिको मायिको वेति । अस्मिन्पक्षे योजना -- 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इत्यादिश्रुतेः 'असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' 'नाऽऽत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इत्यादिन्यायाच्च वस्तुगत्या जन्मविनाशरहितः सर्वभासकः सर्वकारणमायाधिष्ठानत्वेन सर्वभूतेश्वरोऽपि सन्नहं प्रकृतिं स्वभावं सच्चिदानन्दघनैकरसम् । मायां**

मुझको देख रहे हो यह मेरी रची हुई माया ही है, सम्पूर्ण भूतों के गुणों से युक्त मुझको तो तुम देख नहीं सकते ।' अर्थात् सम्पूर्ण भूतों के गुणों से युक्त, उनकी कारणभूता मायारूप उपाधिवाले मुझको तुम इन चर्मचक्षुओं से देख नहीं सकते । भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है -- 'ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से सदा सम्पन्न वह भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायारूप प्रकृति को वश में करके अजन्मा, अविनाशी, समस्त भूतों के ईश्वर तथा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव होते हुए भी और अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी प्राणियों पर कृपा करने की इच्छा से लोकानुग्रह के लिए अपनी माया से देहवान्-सा और उत्पन्न हुआ-सा दिखाई देता है ।'व्याख्याकारों ने भी कहा है -- 'भगवान् स्वेच्छा-निर्मित मायामय दिव्यरूप से प्रकट हुए ।' अतः भाष्यकार का ऐसा मत है कि जो अनेकशक्तिवाली, कारणरूपा माया नाम की नित्य उपाधि है वही भगवान् का देह है ।

16 अन्य विद्वान् तो परमेश्वर में देह-देही भाव भी नहीं मानते, किन्तु उनके अनुसार जो नित्य, विभु, सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव परिपूर्ण निर्गुण परमात्मा हैं वही उनका विग्रह--शरीर है, अन्य कोई भौतिक अथवा मायिक उनका शरीर नहीं है । इस पक्ष में इसप्रकार योजना करनी चाहिए -- 'वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है', 'अरे मैत्रेय ! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और

---

30. सत् स्वरूप ब्रह्म के किसी अन्य से सम्भव = उत्पत्ति – जन्म की आशंका युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अनुपपत्ति से ब्रह्म का सम्भव = जन्म नहीं होता है । जिससे सत्मात्र ब्रह्म है, उस सत्मात्र सत्सामान्य की सत्मात्र से उत्पत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि अतिशय = भेद के बिना प्रकृति-विकारभाव की असिद्धि होती है । दृष्ट विपर्ययरूप दोष से किसी सत् विशेष से भी सत् सामान्य रूप ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि सामान्यस्वरूप मृत्तिकादि से विशेषरूप घटादि उत्पन्न होते देखे जाते हैं, न कि विशेषों से उत्पन्न होते हुए सामान्य देखे जाते हैं । निरात्म होने के कारण असत् से भी सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि श्रुति कहती है – 'कथमसतः सज्जायेत' = 'असत् से सत्, कैसे उत्पन्न हो सकता है' । और 'न चास्य कश्चिज्जनिता' (श्वेता० उ०, 6.9) = 'उसका कोई जनयिता नहीं है' -- यह श्रुति भी ब्रह्म के जनयिता का वारण करती है । इसप्रकार युक्ति और श्रुति से सत् स्वरूप ब्रह्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं है ।

व्यावर्तयति--स्वामिति । निजस्वरूपमित्यर्थः । 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः । स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सन्संभवामि देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि । कथं तर्ह्यदेहे सच्चिदानन्दघने देहत्वप्रतीतिरत आह--आत्ममाययेति । निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिर्मायामात्रमित्यर्थः तदुक्तम् --

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया ॥' इति ।
'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥' इति च ।

17 **केचित्तु नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्यावयववावयविभावं वास्तवमेवेच्छन्ति ते ' निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते' इति न्यायेन नापवाद्याः । यदि संभवेत्तथैवास्तु किमतिपल्लवितेनेत्युपरम्यते ॥6 ॥**

अनुच्छेदरूप धर्मवाला है' इत्यादि श्रुतियों तथा 'अंसभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः[30] (ब्रह्मसूत्र, 2.3.9); 'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः[31] (ब्रह्मसूत्र, 2.3.17) -- इत्यादि सूत्रों के न्याय से भी वस्तुतः जन्मविनाशरहित, सर्वभासक, सर्वकारणभूता माया का अधिष्ठान होने से समस्त भूतप्राणियों का ईश्वर होते हुए भी मैं अपनी प्रकृति = अपने सच्चिदानन्दघनैकरस स्वरूप को -- यहाँ 'स्वाम्' -- ऐसा कहकर भगवान् माया की व्यावृति कर रहे हैं -- अर्थात् निजस्वरूप को, -- जैसा कि श्रुति कहती है -- 'वह भगवान् किसमें प्रतिष्ठित हैं ? अपनी महिमा में', -- उस अपने स्वरूप को अधिष्ठित करके अर्थात् अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहते हुए ही प्रकट होता हूँ = देह-देहीभाव के बिना ही देही के समान व्यवहार करता हूँ । 'तो फिर अदेह सच्चिदानन्दघन में देहत्व की प्रतीति कैसे होती है ?' -- अतः कहते हैं -- 'आत्ममाययेति' । अर्थात् मुझ निर्गुण, शुद्ध, सच्चिदानन्दरसघन, देह-देहीभावशून्य भगवान् वासुदेव में जो देह-देहीरूप से प्रतीति होती है वह मायामात्र है । कहा भी है -- 'इस कृष्ण को तुम निखिल आत्माओं का आत्मा समझो, वही जगत् के हित के लिए यहाँ माया से देही-सा दिखाई देता है'; तथा 'अहो इन नन्दगोप और व्रजवासियों का बड़ा ही भाग्य है, जिनके मित्र सनातन परमानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म हैं ।'

17 कोई विद्वान् नित्य, निरवयव और निर्विकार होने पर भी उस परमानन्दस्वरूप परमात्मा के अवयव-अवयवी = अंशांशी--भाव को वास्तविक ही मानना चाहते हैं । 'जो निर्युक्तिक कहते हैं, हम उनका निराकरण नहीं करते' -- इस न्याय से मैं उनका निराकरण नहीं करता । यदि ऐसा संभव हो तो हो, इसका विस्तार करने-की क्या आवश्यकता है । अतः हम इस विचार से उपरत होते है ॥ 6 ॥

---

31. जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उत्पत्ति प्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति का अश्रवण है । यदि कहें कि कहीं का अश्रवण अन्यत्र श्रुत का वारण नहीं करता है, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि कहा सत्य गया है, किन्तु इस जीवात्मा की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है; क्योंकि उन श्रुतियों से जीवात्मा के नित्यत्व का बोध होता है, और अजत्व, अमरत्व, अभयत्वादि श्रुतियों से भी जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं होती है । श्रुतियाँ हैं – 'न जीवो म्रियते' (छा०, 6.11.3); ' स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० 4.4.22); 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० 2.18), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ० 2.18) इत्यादि ।

18 एवं सच्चिदानन्दघनस्य तव कदा किमर्थं वा देहिवद्व्यवहार इति तत्रोच्यते –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ 7 ॥

19 धर्मस्य वेदविहितस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य वर्णाश्रमतदाचारव्यङ्ग्यस्य यदा यदा ग्लानिर्हानिर्भवति हे भारत भरतवंशोद्भवत्वेन भा ज्ञानं तत्र रतत्वेन वा त्वं न धर्महानिं सोढुं शक्नोषीति संबोधनार्थः । एवं यदा यदाऽभ्युत्थानमुद्भवोऽधर्मस्य वेदनिषिद्धस्य नानाविधदुःखसाधनस्य धर्मविरोधिनस्तदा तदाऽऽत्मानं देहं सृजामि नित्यसिद्धमेव सृष्टमिव दर्शयामि मायया ॥ 7 ॥

---

18 इसप्रकार सच्चिदानन्दघन आपका कब और किस लिए देही के समान व्यवहार होता है ? -- इसका उत्तर भगवान् देते हैं :--

[हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि = हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान = उद्भव होता है तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ ॥ 7 ॥]

19 वेदविहित, प्राणियों के अभ्युदय और निःश्रेयस के साधन, प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप तथा वर्ण, आश्रम और इनके आचार से व्यक्त धर्म[32] की जब-जब ग्लानि अर्थात् हानि होती है । 'हे भारत !' -- इस सम्बोधन का तात्पर्यार्थ यह है कि भरत वंश में समुत्पन्न होने के कारण अथवा भा = ज्ञान उसमें रत होने के कारण तुम धर्म की हानि को सहन नहीं कर सकते हो । इसीप्रकार जब-जब वेदनिषिद्ध, नाना प्रकार के दुःखों के साधन, वेदविरोधी अधर्म का अभ्युत्थान अर्थात् उद्भव होता है, तब-तब मैं अपने आत्मा = देह को रचता हूँ अर्थात् अपने नित्यसिद्ध देह = स्वरूप को ही माया से सृष्ट = रचा हुआ-सा दिखलाता हूँ [33] ॥ 7 ॥

---

32. धर्म दो प्रकार का होता है – प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण । प्रवृत्तिलक्षण धर्म से अर्थात् याग-यज्ञादि और अन्यान्य वेदविहित काम्य कर्मों के अनुष्ठान से धर्म, अर्थ और काम – ये त्रिवर्ग – तीनों पुरुषार्थ सिद्ध होकर प्राणिवर्ग का अभ्युदय होता है । निवृत्तिलक्षण धर्म से अर्थात् कर्मफल की आकांक्षा त्यागकर कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्य निःश्रेयस अर्थात् परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

33. मधुसूदन सरस्वती ने प्रकृत श्लोक के 'आत्मानं सृजाम्यहम्' – इस अंश का अर्थ किया है – 'आत्मानं = देहं सृजामि, नित्यसिद्धमेव सृष्टमिव प्रदर्शयामीति' = 'मैं अपने आत्मा = देह को रचता हूँ अर्थात् नित्यसिद्ध देह को ही माया से सृष्ट-सा दिखलाता हूँ'; जो कि उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं – क्या परमेश्वर का देह परमेश्वर से अन्य है अथवा अनन्य है ? परमेश्वर का देह परमेश्वर से अन्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर परमेश्वर में असत्त्वादि की आपत्ति होगी, अतएव उसके सच्चिदादिरूप होने की मान्यता से विरोध होगा । यदि परमेश्वर का देह परमेश्वर से अनन्य स्वीकार करते हैं, तो प्रश्न उपस्थित होता है कि परमेश्वर का वह देह क्या परिच्छिन्न है अथवा अपरिच्छिन्न है ? यदि कहें कि परमेश्वर का वह देह परिच्छिन्न है, तो ईश्वर के नित्य देह में ही परिच्छिन्नता होगी, इसप्रकार तो ईश्वर के देह को नित्यसिद्ध कहनेवाले विद्वानों द्वारा परमेश्वर में असत्त्वादि के सम्पादन से मूलोच्छेद ही सम्पादित होगा । यदि कहें कि परमेश्वर का वह देह अपरिच्छिन्न है, तो अपरिच्छिन्न होकर भी अवयवों का समूह और परिमित आकारवाला देह होगा, इसप्रकार स्ववदतोव्याघात दोष होगा । अतः प्रकृत में 'आत्मानं सृजाम्यहम्' का अर्थ होना चाहिए – 'आत्मानं = स्वं सृजामि, जन्मवन्तमिव प्रदर्शयामीति' = 'मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ अर्थात् जन्मवान्-सा दिखलाता हूँ' । श्लोकस्थ 'आत्मा' शब्द का अर्थ 'देह' नहीं होना चाहिए । (द्रष्टव्य – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

20 तत्किं धर्मस्य हानिरधर्मस्य च वृद्धिस्तव परितोषकारणं येन तस्मिन्नेव काल आविर्भवसीति तथा चानर्थावह एव तवावतारः स्यादिति नेत्याह –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ 8॥

21 धर्महान्या हीयमानानां साधूनां पुण्यकारिणां वेदमार्गस्थानां परित्राणाय परितः सर्वतो रक्षणाय । तथाऽधर्मवृद्ध्या वर्धमानानां दुष्कृतां पापकारिणां वेदमार्गविरोधिनां विनाशाय च । तदुभयं कथं स्यादिति तदाह – धर्मसंस्थापनार्थाय धर्मस्य सम्यगधर्मनिवारणेन स्थापनं वेदमार्गपरिरक्षणं धर्मसंस्थापनं तदर्थं संभवामि पूर्ववत्, युगे युगे प्रतियुगम् ॥ 8 ॥

20 'तो क्या धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि आपके परितोष का कारण हैं जिसमें आप उसी समय में आविर्भूत -- प्रादुर्भूत -- प्रकट होते हैं ? तब तो आपका अवतार अनर्थ की प्राप्ति करानेवाला ही होगा' । -- इसका उत्तर देते हैं, 'नहीं' :--

[मैं साधु पुरुषों की रक्षा करने के लिए दूषित कर्म करनेवालों का विनाश करने के लिए तथा धर्म को स्थापित करने के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ ॥ 8 ॥]

21 धर्म की हानि से हीयमान = क्षीण होते हुए साधुओं = वेदमार्ग में स्थित पुण्य करने वालों के परित्राण = परितः -- सर्वतः -- सब ओर से रक्षा करने के लिए तथा अधर्म की वृद्धि से वर्धमान = बढ़ते हुए दुष्कृतों = वेदमार्ग के विरोधी पाप करने वालों के विनाश के लिए[34] । 'ये दोनों कार्य कैसे हो सकते हैं' ? तो कहते हैं -- धर्म संस्थापन के लिए = अधर्म के निवारण द्वारा धर्म की सम्यक् स्थापना अर्थात् वेदमार्ग का परिरक्षण ही धर्म संस्थापन है उसके लिए मैं युगे-युगे[35] = युग-युग में = प्रत्येक युग में पूर्ववत् प्रकट होता हूँ[36] ॥ 8 ॥

34. यदि कोई यहाँ शङ्का करे कि भगवान् का अवतरण यदि दुष्कृतों के विनाश के लिए होता है, तो ऐसा होने पर भगवान् का तो नैर्घृण्य अर्थात् निष्ठुरता ही सिद्ध होगी; तो यह आशङ्का उचित नहीं होगी, क्योंकि भगवान् गुण और दोष का नियन्त्रण करनेवाले हैं, नियन्त्रणार्थ दुष्कृतों का विनाश उनकी निष्ठुरता नहीं कही जा सकती, जैसे – माता बालक का लालन व ताडन करती है, किन्तु उसकी ताड़ना बालक के प्रति निष्ठुरता नहीं कही जा सकती है । देवी भागवत में कहा भी है –

'लालने ताड़ने मातुर्नाकारुण्यं यथाऽर्भके ।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः ॥'

35. 'युगे-युगे' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इसप्रकार किया है – (i) प्रत्येक युग में बार-बार अर्थात् सत्ययुग, द्वापर, त्रेता, और कलियुग – इन चारों युगों में बार-बार; (ii) धर्म की हानि और अधर्म के अभ्युत्थान के सन्धिक्षणों में; तथा (iii) आवश्यक अवसरों पर ।

36. आचार्य धनपति का मत है कि प्रकृत श्लोक में भगवान् के अवतरण के तीन प्रयोजन कहे गए हैं – सन्मार्ग में स्थित साधुओं की रक्षा, दुष्कृतों = असाधुओं का विनाश और धर्म का संस्थापन । मधुसूदन सरस्वती ने यह जो कहा है कि साधुओं की रक्षा और असाधुओं का विनाश – ये दोनों कार्य धर्मसंस्थापन के लिए ही है, अतः भगवान् का अवतरण धर्मसंस्थापनार्थ ही है, विचारणीय है । क्योंकि धर्मसंस्थापन मात्र से साधुओं की रक्षा और असाधुओं का विनाश सिद्ध नहीं होता है । जैसे – भगवान् श्रीकृष्ण ने वसुदेव के गृह में अवतार लेकर गीता के उपदेश से धर्मसंस्थापन, युधिष्ठिरादि के परिपालन से साधुओं की रक्षा और कंसवधादि से असाधुओं का विनाश – इसप्रकार तीन प्रयोजन संपादित किये हैं । अतएव गीता के उपदेशमात्र से तत्र-तत्र कृत अर्जुनसंरक्षण और तद्-तद् उपायों से कर्मनाश सिद्ध नहीं होता है । इससे इस कथन का भी उत्तर दिया गया है कि साधुओं की रक्षा और असाधुओं का विनाश धर्मसंस्थापनार्थ हैं । कारण कि वसुदेवादि की रक्षा और कंसादि के वध से किसी धर्म की स्थापना नहीं हुई है, अन्यथा धर्मसंस्थापनार्थ व्यासावतार ही व्यर्थ हो जायेगा, उन्होंने साधुरक्षा और असाधु

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ 9 ॥

22 **जन्म नित्यसिद्धस्यैव मम सच्चिदानन्दघनस्य लीलया तथाऽनुकरणम् । कर्म च धर्मसंस्थापनेन जगत्परिपालनं मे मम नित्यसिद्धेश्वरस्य दिव्यमप्राकृतमन्यैः कर्तुमशक्यमीश्वरस्यैवासाधारणम् । एवमजोऽपि सन्नित्यादिना प्रतिपादितं यो वेत्ति तत्त्वतो भ्रमनिवर्तनेन । मूढैर्हि मनुष्यत्वभ्रान्त्या भगवतोऽपि गर्भवासादिरूपमेव जन्म स्वभोगार्थमेव कर्मेत्यारोपितम् । परमार्थतः शुद्धसच्चिदानन्दरूपत्वज्ञानेन तदपनुद्याजस्यापि मायया जन्मानुकरणमकर्तुरपि परानुग्रहाय कर्मानुकरणमित्येवं यो वेत्ति स आत्मनोऽपि तत्त्वस्फुरणात्त्यक्त्वा देहमिमं पुनर्जन्म नैति । किं तु मां भगवन्तं वासुदेवमेव सच्चिदानन्दघनमेति संसारान्मुच्यत इत्यर्थः । हेऽर्जुन ॥ 9 ॥**

23 **मामेति सोऽर्जुनेत्युक्तं तत्र स्वस्व सर्वमुक्तप्राप्यतया पुरुषार्थत्वमस्य मोक्षमार्गस्यानादिपरम्परागतत्वं च दर्शयति –**

[हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अप्राकृत हैं -- ऐसा जो तत्त्वतः जानता है वह देह को त्यागकर पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ 9 ॥]

22 जन्म = नित्यसिद्ध होने पर भी सच्चिदानन्दघन मेरा लीला से वैसा = जन्म ग्रहण-सा अनुकरण करना और कर्म = धर्मसंस्थापन से जगत् का परिपालन करना । मे = मेरे = नित्य सिद्ध ईश्वर मेरे जन्म और कर्म दिव्य[37] = अप्राकृत हैं अर्थात् दूसरों से हो सकने के योग्य नहीं हैं, ये ईश्वर के ही असाधारण चिह्न हैं -- इसप्रकार = 'अजोऽपि सन् ---' (गीता, 4.6-8) इत्यादि श्लोकों से प्रतिपादित ईश्वर के इन असाधारण जन्म और कर्मों को जो तत्त्वतः = भ्रम की निवृत्ति करके जानता है । मूढ़ पुरुष तो मनुष्यत्व की भ्रान्ति से 'भगवान् का भी जन्म गर्भवासादिरूप ही है और उनके कर्म अपने भोग के लिए ही हैं ' -- ऐसा आरोप करते हैं । इस भ्रान्ति को उनकी परमार्थतः शुद्धसच्चिदानन्दघनरूपता के ज्ञान से दूर करके जो ऐसा जानता है कि भगवान् अज -- अजन्मा होने पर भी माया से जन्म-ग्रहण का अनुकरण करते हैं और अकर्त्ता होने पर भी परानुग्रहार्थ = दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए कर्मों का अनुकरण करते हैं, वह आत्मा के भी तत्त्व का स्फुरण हो जाने के कारण इस देह को त्यागकर पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु मुझ सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव को ही प्राप्त होता है अर्थात् हे अर्जुन[38] ! वह संसार से मुक्त हो जाता है ॥ 9 ॥

विनाश नहीं किया था जबकि प्रतिपक्षानुसार उक्तकर्मद्वय से ही धर्मसंस्थापन होता है । इसप्रकार भगवान् का अवतरण कदाचित् एक प्रयोजन के लिए, कदाचित् दो प्रयोजनों के लिए, अथवा कदाचित् तीनों प्रयोजनों के लिए होता है – यह कहना ही यहाँ अधिक उचित प्रतीत होता है ।

37. दिव्य = दूसरे की सहायता के बिना जो अपने प्रकाश से दीप्त = प्रकाशित होता है उसको 'दिव्य' कहते हैं । अतः 'दिव्य' शब्द का अर्थ स्वयंप्रकाश अर्थात् निर्विशेष चिदैकरस परब्रह्म है । निर्विशेष स्वयंप्रकाश = दिव्य ब्रह्म में जो कुछ जन्म अथवा कर्म कल्पित होकर प्रतीत होते हैं वे सभी दिव्य ही होते हैं, परब्रह्म के स्वरूप ही होते हैं । जैसे स्वर्णनिर्मित आभूषणों के अणु-परमाणु में स्वर्ण ही विद्यमान रहता है, कारण कि उनके नाम तथा रूप केवल वाक्य के विलासमात्र होते हैं, अतः मिथ्या होते हैं ।

38. यहा भगवान् ने 'अर्जुन' -- सम्बोधन से यह सूचित किया है कि हे अर्जुन ! हे शुद्धबुद्धे ! तुम्हारी बुद्धि निर्मल है, इस कारण तुम तो मेरे जन्म और कर्म के यथार्थ तत्त्व को अनायास ही जान सकते हो, ऐसा कर मुझे प्राप्त कर सकते हो = पुनर्जन्म से मुक्त हो सकते हो । फलतः तुम ऐसा ही करो ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ 10 ॥

24 **रागस्तत्तत्फलतृष्णा । सर्वान्विषयान्परित्यज्य ज्ञानमार्गे कथं जीवितव्यमिति त्रासो भयम् । सर्वविषयोच्छेदकोऽयं ज्ञानमार्गः कथं हितः स्यादिति द्वेषः क्रोधः । त एते रागभयक्रोधा वीता विवेकेन विगता येभ्यस्ते वीतरागभयक्रोधाः शुद्धसत्त्वाः । मन्मया मां परमात्मानं तत्पदार्थं त्वंपदार्थाभेदेन साक्षात्कृतवन्तो मदेकचित्ता वा । मामुपाश्रिता एकान्तप्रेमभक्त्या मामीश्वरं शरणं गताः । बहवोऽनेके ज्ञानतपसा ज्ञानमेव तपः सर्वकर्मक्षयहेतुत्वात्, 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति हि वक्ष्यति । तेन पूताः क्षीणसर्वपापाः सन्तो निरस्ताज्ञानतत्कार्यमलाः । मद्भावं मद्रूपत्वं विशुद्धसच्चिदानन्दघनं मोक्षमागता अज्ञानमात्रापनयेन मोक्षं प्राप्ताः ।**

25 **ज्ञानतपसा पूता जीवन्मुक्ताः सन्तो मद्भावं मद्विषयं भावं रत्याख्यं प्रेमाणमागता इति वा । 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति हि वक्ष्यति ॥ 10 ॥**

26 **ननु ये ज्ञानतपसा पूता निष्कामास्ते त्वद्भावं गच्छन्ति, ये त्वपूताः सकामास्ते न गच्छन्तीति फलदातुस्तव वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामिति नेत्याह –**

---

23 'मामेति सोऽर्जुन' = 'हे अर्जुन ! वह मुझे ही प्राप्त होता है' -- यह पूर्वश्लोक में कहा । इसमें समस्त मुक्त पुरुषों के प्राप्यरूप से अपनी पुरुषार्थरूपता और इस मोक्ष मार्ग की अनादि परम्परा से प्राप्ति दिखलाते हैं --
[जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे, जिनका मुझ में ही चित्त लगा रहता था, और जो मेरा ही आश्रय लिए रहते थे -- ऐसे ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए बहुत- से भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं ॥ 10 ॥]

24 तत्-तत् फल की तृष्णा को 'राग' कहते हैं । 'समस्त विषयों का परित्याग कर ज्ञानमार्ग में कैसे जीवेंगे' -- ऐसे त्रास को 'भय' कहते हैं । 'यह ज्ञानमार्ग समस्त विषयों का उच्छेदक है, इससे कैसे हित होगा ?' -- ऐसे द्वेष को 'क्रोध' कहते हैं । वे ये राग, भय और क्रोध जिनसे वीत = विवेकपूर्वक निवृत्त हो गये थे, वे वीतरागभयक्रोध = शुद्धचित्त अतएव मन्मय = 'तत्' पद के अर्थ मुझ परमात्मा का 'त्वम्' पद के अर्थ के साथ अभेदरूप से साक्षात्कार करने वाले अथवा एकमात्र मुझमें ही चित्त रखनेवाले अतएव मामुपाश्रित = मेरे आश्रित = एकान्त प्रेमा भक्ति के द्वारा मुझ ईश्वर की शरण को प्राप्त हुए ज्ञानतप से = सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का हेतु होने से ज्ञान ही है तप, जैसा कि आगे कहेंगे भी 'ज्ञान के समान इस लोक में कुछ भी पवित्र नहीं है' (गीता, 4.38), उससे पूत = पवित्र = क्षीण हो गये थे सम्पूर्ण पाप जिनके अर्थात् जिनका अज्ञान और उसका कार्यरूप मल निवृत्त हो गया था ऐसे बहुत -- से भक्त मद्भाव = मेरे विशुद्ध सच्चिदानन्दघन स्वरूप मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् अज्ञानमात्र की निवृत्ति से मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं ।

25 अथवा, ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए = जीवन्मुक्त हुए मद्भाव = मद्विषयक 'रति' नामक भाव अर्थात् प्रेम को प्राप्त हो चुके हैं, क्योंकि 'उनमें नित्य एकान्तभक्तियुक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है' (गीता, 7.17) -- ऐसा कहेंगे भी ॥ 10 ॥

26 'जो पुरुष ज्ञानरूप तप से पवित्र है अतएव निष्काम हैं तो वे तो त्वद्भाव = ईश्वरभाव = मोक्ष को प्राप्त होते हैं किन्तु जो अपवित्र है अतएव सकाम हैं वे त्वद्भाव को प्राप्त नहीं होते -- ऐसी

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ 11 ॥

27 **य आर्ता अर्थार्थिनो जिज्ञासवो ज्ञानिनश्च यथा येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया च मामीश्वरं सर्वफलदातारं प्रपद्यन्ते भजन्ति तांस्तथैव तदपेक्षितफलदानेनैव भजाम्यनुगृह्णाम्यहं न विपर्ययेण । तत्रामुमुक्षूनार्तानर्थार्थिनश्चाऽऽर्तिहरणेनार्थदानेन चानुगृह्णामि । जिज्ञासून्विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिश्रुतिविहितनिष्कामकर्मानुष्ठातृञ्ज्ञानदानेन ज्ञानिनश्च मुमुक्षून्मोक्षदानेन न त्वन्यकामायान्यद्ददामीत्यर्थः ।**

28 **ननु तथाऽपि स्वभक्तानामेव फलं ददासि न त्वन्यदेवभक्तानामिति वैषम्यं स्थितमेवेति नेत्याह – मम सर्वात्मनो वासुदेवस्य वर्त्म भजनमार्गं कर्मज्ञानलक्षणमनुवर्तन्ते हे पार्थ सर्वशः सर्वप्रकारैरिन्द्रादीनप्यनुवर्तमाना मनुष्या इति कर्माधिकारिणः । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादिमन्त्रवर्णात् 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायाच्च सर्वरूपेणापि फलदाता भगवानेक एवेत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति येऽप्यन्यदेवताभक्ता इत्यादि ॥ 11 ॥**

स्थिति में तो कर्मफल प्रदान करने वाले आपमें विषमता और निष्ठुरता के दोष सिद्ध होते हैं' -- ऐसा यदि अर्जुन कहे तो उसका भगवान् निषेध करते हैं --

[हे पार्थ ! जो पुरुष मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ; मनुष्य सर्वशः = सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं ॥ 11 ॥]

27 जो आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी भक्त सर्वफलप्रद मुझ ईश्वर को सकाम अथवा निष्काम जैसे भी भाव से भजते हैं उनको मैं भी वैसे ही = उनके अभीष्ट फलदान से ही भजता हूँ अर्थात् अनुगृहीत करता हूँ, विपरीत फलदान से नहीं । उनमें से अमुमुक्षु = मोक्षेच्छा से रहित आर्त और अर्थार्थियों को तो उनकी आर्ति = आपत्ति को दूर करके और अर्थ = सम्पत्ति प्रदान करके अनुगृहीत करता हूँ । जिज्ञासुओं = 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि-श्रुतिविहित निष्काम कर्म का अनुष्ठान करनेवालों को ज्ञानदान से और ज्ञानियों = मुमुक्षुओं को मोक्षदान से अनुगृहीत करता हूँ अर्थात् अन्य कामनावान् को अन्य फल नहीं देता हूँ ।

28 यदि कहो कि 'फिर भी आप अपने भक्तों को ही फल देते हैं, अन्य देवताओं के भक्तों को नहीं देते, इसलिए आपमें विषमता तो बनी ही रही' -- तो कहते हैं, नहीं । हे पार्थ[39] ! सर्वशः = सब प्रकार से इन्द्रादि देवताओं का भी अनुवर्तन करनेवाले मनुष्य अर्थात् कर्माधिकारी भी मुझ सर्वात्मा वासुदेव के ही कर्म-ज्ञानरूप वर्त्म = भजन मार्ग का अनुवर्तन करते हैं । अभिप्राय यह है कि 'भगवान् को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं' -- इत्यादि मन्त्रवर्ण से और 'परमात्मा ही जिस फल का जो अधिकारी होता है उसे तदनुरूप ही फल देते हैं, क्योंकि उपपत्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है ' (ब्रह्मसूत्र, 3.2.38) -- इस न्याय से सब प्रकार से फलदाता भगवान् एक ही हैं । इसी प्रकार 'येऽप्यन्यदेवताभक्ताः' (गीता, 9.23) -- इत्यादि श्लोक से कहेंगे ॥ 11 ॥

39. यहाँ 'पार्थ' -- इस सम्बोधन से भगवान् यह सूचित करते हैं कि हे पार्थ ! इतर मनुष्य भी मेरे मार्ग का अनुवर्तन करते हैं, तुम तो पृथा के पुत्र होने के कारण मेरे सम्बन्धी होने पर भी मेरा अनुवर्तन नहीं करते हो, यह आश्चर्य है ।

29 ननु त्वामेव भगवन्तं वासुदेवं किमिति सर्वे न प्रपद्यन्त इति तत्राऽऽह –

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ 12 ॥

30 कर्मणां सिद्धिं फलनिष्पत्तिं काङ्क्षन्त इह लोके देवता देवानिन्द्राग्न्याद्यान्यजन्ते पूजयन्ति अज्ञानप्रतिहतत्वान्न तु निष्कामाः सन्तो मां भगवन्तं वासुदेवमिति शेषः । कस्मात्, हि यस्मादिन्द्रादिदेवतायाजिनां तत्फलकाङ्क्षिणां कर्मजा सिद्धिः कर्मजन्यं फलं क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति मानुषे लोके । ज्ञानफलं त्वन्तःकरणशुद्धिसापेक्षत्वान्न क्षिप्रं भवति ।

31 मानुषे लोके कर्मफलं शीघ्रं भवतीति विशेषणादन्यलोकेऽपि वर्णाश्रमधर्मव्यतिरिक्तकर्मफलसिद्धिर्भगवता सूचिता । यतस्तत्तत्क्षुद्रफलसिद्ध्यर्थं सकामा मोक्षविमुखा अन्या देवता यजन्तेऽतो न मुमुक्षव इव मां वासुदेवं साक्षात्ते प्रपद्यन्त इत्यर्थः ॥ 12 ॥

32 शरीरारम्भकगुणवैषम्यादपि न सर्वे समानस्वभावा इत्याह –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ 13 ॥

---

29 यदि कहो कि 'आप ही सर्वफलप्रदाता हैं तो सब आप भगवान् वासुदेव को ही क्यों नहीं भजते है, तत्तद्फलेच्छा से देवतान्तर की उपासना क्यों करते हैं', -- तो भगवान् कहते हैं --
[इस लोक में कर्मों की सिद्धि की कामना करने वाले मनुष्य देवताओं का पूजन करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मजनित सिद्धि अतिशीघ्र प्राप्त हो जाती है ॥ 12 ॥]

30 मनुष्य कर्मों की सिद्धि = फलोत्पत्ति -- फलप्राप्ति की इच्छा करते हुए अज्ञान से प्रतिहत होने के कारण इस लोक में इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं का यजन = पूजन करते है[40], निष्काम होकर मुझ भगवान् वासुदेव को नहीं भजते हैं -- यह अध्याहार करना चाहिए । ऐसा क्यों करते हैं ? क्योंकि मनुष्यलोक में इन्द्रादि देवताओं का पूजन करनेवाले और कर्मफल की इच्छा करनेवाले मनुष्यों को कर्मजा सिद्धि अर्थात् कर्मजन्य फल क्षिप्र = शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है । ज्ञानफल तो अन्तः -- करणशुद्धि की अपेक्षा रखने के कारण शीघ्र प्राप्त नहीं होता ।

31 'मनुष्यलोक में कर्मफल शीघ्र प्राप्त होता है' -- इस विशेषण से भगवान् ने यह सूचित किया है कि अन्य लोकों में भी वर्णाश्रमधर्म के अतिरिक्त कर्मफल की सिद्धि होती है । क्योंकि वे मनुष्य तत्-तत् क्षुद्र कर्मफलों की सिद्धि के लिए सकाम अतएव मोक्ष से विमुख होकर अन्य देवताओं का पूजन करते हैं, अतः वे मुमुक्षुओं के समान मुझ वासुदेव को साक्षात् नहीं भजते हैं -- यह अर्थ है ॥ 12 ॥

32 शरीराम्भक गुणों के वैषम्य के कारण भी सभी मनुष्य समान स्वभाववाले नहीं होते,-- यह कहते हैं --

---

40. श्रुति में भी कहा गया है – 'योऽन्यां देवतामुपासते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' (बृह० उ० 1.4.10) अर्थात् जो मनुष्य दूसरे देवता की इसप्रकार उपासना करता है कि जैसे मैं अन्य हूँ और देवता मुझसे अन्य हैं – वह तत्त्व को नहीं जानता है, वह अज्ञान से प्रतिहत होता है अर्थात् उसको आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता है – वह देवताओं के समीप पशु की भाँति रहता है अर्थात् पशु जिस प्रकार आहारादि के लिए अपने स्वामी के अनुकूल कार्य करता है वह भी वैसे ही अपने क्षुद्र कर्मफलों की सिद्धि के लिए देवताओं की प्रीति के लिए कार्य करता है ।

33 **चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं स्वार्थे ष्यञ् । मयेश्वरेण सृष्टमुत्पादितं गुणकर्मविभागशो गुणविभागशः कर्मविभागशश्च । तथाहि सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां च सात्त्विकानि शमदमादीनि कर्माणि । सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां च तादृशानि शौर्यतेजःप्रभृतीनि कर्माणि । तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां च कृष्यादीनि तादृशानि कर्माणि । तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां च तामसानि त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणीति मानुषे लोके व्यवस्थितानि ।**

34 **एवं तर्हि विषमस्वभावचातुर्वर्ण्यस्रष्टृत्वेन तव वैषम्यं दुर्वारमित्याशङ्क्य नेत्याह – तस्य विषमस्वभावस्य चातुर्वर्ण्यस्य व्यवहारदृष्ट्या कर्तारमपि मां परमार्थदृष्ट्या विद्ध्यकर्तारमव्ययं निरहंकारत्वेनाक्षीणमहिमानम् ॥ 13 ॥**

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ 14 ॥

35 **कर्माणि विश्वसर्गादीनि मां निरहंकारत्वेन कर्तृत्वाभिमानहीनं भगवन्तं न लिम्पन्ति देहारम्भकत्वेन न बध्नन्ति । एवं कर्तृत्वं निराकृत्य भोक्तृत्वं निराकरोति न मे ममाऽऽप्तकामस्य कर्मफले स्पृहा**

[गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र -- चारों वर्णों की रचना मैंने की है, किन्तु उनका कर्ता होने पर भी तुम मुझको अकर्ता और अव्यय समझो ॥ 13 ॥]

33 चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम् = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र -- इन चार वर्णों को ही 'चातुर्वर्ण्य'[41] कहते हैं । यहाँ स्वार्थ में 'ष्यञ्' तद्धित प्रत्यय हुआ है । इस चातुर्वर्ण्य को गुणकर्मविभाग से = गुणविभाग से और कर्मविभाग मैंने अर्थात् ईश्वर ने रचा है अर्थात् उत्पन्न किया है[42] । इसीलिए ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान हैं और उनके शमदमादि कर्म भी सात्त्विक हैं । क्षत्रिय सत्त्वोपसर्जन = सत्त्व की गौणता और रजःप्रधान = रजोगुण की प्रधानता से युक्त हैं तथा उनके शौर्य, तेज आदि कर्म भी वैसे ही हैं । वैश्य तमोगुण की गौणता और रजोगुण की प्रधानता से युक्त हैं तथा उनके कृषि आदि कर्म भी वैसे ही हैं । शूद्र तमःप्रधान हैं और उनके त्रैवर्णिकों की = ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – इन तीन वर्णों की सेवा, शुश्रूषा आदि कर्म भी तामस ही हैं -- इसप्रकार मनुष्यलोक में वर्ण और उनके गुणकर्मों की व्यवस्था है ।

34 'इसप्रकार तो विषम स्वभाववाले चातुर्वर्ण्य की रचना करनेवाले होने से आपकी विषमता दुर्वार = अनिवार्य ही है' -- ऐसी आशङ्का होने पर भगवान् कहते हैं -- नहीं, उस विषम स्वभाव वाले चातुर्वर्ण्य का व्यवहार-दृष्टि से कर्ता होने पर भी परमार्थदृष्टि से तुम मुझको अकर्ता और अव्यय अर्थात् अहंकार रहित होने के कारण अपनी महिमा से अक्षीण = अच्युत समझो ॥ 13॥

['मुझको कर्म लिप्त नहीं करते और न मेरी कर्मफल में स्पृहा = इच्छा है' -- इसप्रकार जो पुरुष मुझको जानता है वह कर्मों से नहीं बँधता ॥ 14 ॥]

---

41. चातुर्वर्ण्यम् = चत्वारो वर्णा एव – चतुर्वर्ण + ष्यञ् = य – आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण-लोप = 'चतुर्वर्ण' शब्द से 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्' (वार्तिक, 3091) = 'चतुर्वर्ण आदि शब्दों से स्वार्थ में 'ष्यञ्' तद्धित प्रत्यय होता है, – इस वार्तिक के अनुसार स्वार्थ में 'ष्यञ्' (य) प्रत्यय होकर 'चातुर्वर्ण्यम्' शब्द निष्पन्न हुआ है ।

42. यहाँ अर्थ में कुछ अनुपपत्ति प्रतीत होती है । जो यह कहा कि शरीराम्भक गुणों के वैषम्य के कारण भी सभी मनुष्य समान स्वभाववाले नहीं होते, इससे तो यही कहना चाहिए कि गुणकर्मविभाग से चातुर्वर्ण्य उत्पन्न हुआ है, 'मया सृष्टम्' = 'मैंने उत्पन्न किया है', -- यह कहने की आवश्यकता नहीं है । (द्रष्टव्य-भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

तृष्णा ' आप्तकामस्य का स्पृहा' इति श्रुतेः । कर्तृत्वाभिमानफलस्पृहाभ्यां हि कर्माणि लिम्पन्ति तदभावान्न मां कर्माणि लिम्पन्तीति । एवं योऽन्योऽपि मामकर्तारमभोक्तारं चाऽऽत्मत्वेनाभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यतेऽकर्त्रात्मज्ञानेन मुच्यते इत्यर्थः ॥ 14 ॥

36 **यतो नाहं कर्ता न मे कर्मफलस्पृहेति ज्ञानात्कर्मभिर्न बध्यतेऽतः –**

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ 15 ॥

37 **एवमात्मनोऽकर्तुः कर्मालेपं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरतिक्रान्तैरपि अस्मिन्युगे ययातियदुप्रभृतिभिर्मुमुक्षुभिः । तस्मात्त्वमपि कर्मैव कुरु न तूष्णीमासनं नापि संन्यासम् । यद्यतत्त्ववित्तदाऽऽत्मशुद्ध्यर्थं तत्त्वविच्चेल्लोकसंग्रहार्थम् । पूर्वैर्जनकादिभिः पूर्वतरमतिपूर्वं युगान्तरेऽपि कृतम् । एतेनास्मिन्युगेऽन्ययुगे च पूर्वपूर्वतरैः कृतत्वादवश्यं त्वया कर्तव्यं कर्मेति दर्शयति ॥ 15 ॥**

38 **ननु कर्मविषये किं कश्चित्संशयोऽप्यस्ति येन पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्यतिनिर्बध्नासि अस्त्येवेत्याह –**

---

35 विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, संहारादि कर्म निरहङ्कार होने के कारण कर्तृत्व के अभिमान से रहित मुझ भगवान् को लिप्त नहीं करते अर्थात् देहारम्भकरूप से नहीं बाँधते । इसप्रकार अपने कर्तृत्व का निराकरण कर भोक्तृत्व का भी निराकरण करते हैं -- मुझ आप्तकाम को कर्मफल में स्पृहा = तृष्णा नहीं है, श्रुति भी कहती है -- 'आप्तकामस्य का स्पृहा' अर्थात् 'आप्तकाम को क्या स्पृहा = इच्छा हो सकती है'? कर्म कर्तृत्वाभिमान और फलस्पृहा से ही जीव को लिप्त करते हैं, उन दोनों का अभाव होने के कारण कर्म मुझको लिप्त नहीं करते । इसप्रकार जो कोई अन्य जीव भी मुझ अकर्ता और अभोक्ता को आत्मरूप से जानता है वह कर्मों से नहीं बँधता अर्थात् वह अकर्ता आत्मा के ज्ञान से मुक्त हो जाता है ॥ 14 ॥

36 क्योंकि 'मैं कर्ता नहीं हूँ और न मुझको कर्मफल में स्पृहा है' -- ऐसे ज्ञान से जीव कर्मों से नहीं बँधता, इसलिए --

[ऐसा जानकर इस युग में पूर्ववर्ती मुमुक्षु भी कर्म करते थे और उनसे पहले अन्य युगों में होनेवाले मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था, अत: तुम भी कर्म ही करो ॥ 15 ॥]

37 एवं = इसप्रकार अकर्ता आत्मा में कर्मालेप = कर्म के लेप का अभाव जानकर पूर्ववर्ती = इस युग में अतिक्रान्त ययाति, यदु आदि मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था । अत: तुम भी कर्म ही करो, चुप नहीं बैठो और न संन्यास ही ग्रहण करो । यदि तुम तत्त्वविद् नहीं हो, तो चित्तशुद्धि के लिए और तत्त्वविद् हो, तो लोकसंग्रह के लिए कर्म करो । पूर्ववर्ती जनकादि ने पूर्वतर = अत्यन्त पूर्वकाल में युगान्तरों में भी कर्म किया था । इससे भगवान् यह दिखाते हैं कि इस युग में और अन्य युगों में भी पूर्ववर्ती और अत्यन्त पूर्ववर्ती मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था, अत: तुमको भी कर्म अवश्य करना चाहिए ॥ 15 ॥

38 'क्या कर्म के विषय में कोई सन्देह भी है जिससे आप 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' = 'पूर्ववर्ती मुमुक्षुओं ने भी अत्यन्त पूर्वकाल में भी कर्म किया था' -- ऐसा कहकर अत्यन्त आग्रह कर रहे हैं ?' -- इसके उत्तर में कहते हैं, 'हाँ, है ही'--

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 16 ॥

39 **नौस्थस्य निष्क्रियेष्वपि तटस्थवृक्षेषु गमनभ्रमदर्शनात्तथा दूराच्चक्षुःसंनिकृष्टेषु गच्छत्स्वपि पुरुषेष्वगमनभ्रमदर्शनात्परमार्थतः किं कर्म किं वा परमार्थतोऽकर्मेति कवयो मेधाविनोऽप्यत्रास्मिन्विषये मोहिता मोहं निर्णयासामर्थ्यं प्राप्ता अत्यन्तदुर्निरूपत्वादित्यर्थः । तत्तस्मात्ते तुभ्यमहं कर्म, अकारप्रश्लेषेण च्छेदादकर्म च प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण संदेहोच्छेदेन वक्ष्यामि । यत्कर्माकर्मस्वरूपं ज्ञात्वा मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यस्यशुभात्संसारात्॥ 16 ॥**

40 **ननु सर्वलोकप्रसिद्धत्वादहमेवैतज्जानामि देहेन्द्रियादिव्यापारः कर्म तूष्णीमासनमकर्मेति तत्र किं त्वया वक्तव्यमिति तत्राऽऽह –**

[कर्म क्या है और अकर्म क्या है -- इस विषय में मेधावी पुरुषों को भी मोह हो जाता है, अतः मैं तुमको प्रकर्ष से कर्म और अकर्म बताऊँगा, जिसको जानकर तुम अशुभ = संसार से मुक्त हो जाओगे ॥ 16 ॥]

39 जैसे नौका में बैठे हुए पुरुष को निष्क्रिय = क्रियारहित तट के वृक्षों में चलने का भ्रम होता देखा जाता है तथा दूरी पर दिखाई देनेवाले चलते हुए पुरुषों में भी न चलने का भ्रम होता देखा जाता है, वैसे ही परमार्थतः क्या कर्म है अथवा क्या अकर्म है -- इस विषय में कवि = मेधावी पुरुष भी मोहित = मोह अर्थात् निर्णय करने में असमर्थता को प्राप्त होते देखे जाते हैं, क्योंकि इसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है -- ऐसा इसका अर्थ है । अतः मैं तुमको कर्म और 'तत्तेऽकर्म'-- इसप्रकार अकार का योग करते हुए 'तत् ते + अकर्म' -- ऐसा पदच्छेद करके अकर्म भी प्रवक्ष्यामि = प्र + वक्ष्यामि = प्र -- प्रकर्षेण = प्रकर्ष से = संदेह का उच्छेद करते हुए बताऊँगा, जिस कर्म और अकर्म के स्वरूप को जानकर तुम अशुभ अर्थात् संसार से मुक्त हो जाओगे[43] ॥ 16 ॥

40 'सर्वलोकप्रसिद्ध होने के कारण यह तो मैं भी जानता हूँ कि देह, इन्द्रियादि का व्यापार कर्म है और चुप बैठे रहना अकर्म है, इसमें आपको क्या कहना है ?' -- ऐसा यदि अर्जुन कहे तो भगवान् कहते हैं :--

43. भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि कर्म और अकर्म का तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है अतएव दुर्ज्ञेय है । इसीलिए कर्म के सम्बन्ध में विद्वानों में महान् वैषम्य दिखाई देता है । किसी के मत में कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान ही कर्म है और वेदनिषिद्ध अकरणीय कर्म का अनुष्ठान 'अकर्म' है । किसी के अनुसार देहेन्द्रियादि की चेष्टा ही 'कर्म' है और कुछ न करके संन्यासी के रूप में चुप रहना ' अकर्म' है । कोई कहता है कि भगवान् की आराधना ही 'कर्म' है और इसके अतिरिक्त सब 'अकर्म ' है । अन्य कहते हैं कि कामनासहित शास्त्रीय या लौकिक कर्म ही 'कर्म' है और परमात्मा के स्वरूप का परोक्ष ज्ञान गुरुमुख से प्राप्त कर उस ज्ञान के साथ निष्कामरूप से अनुष्ठित कर्म 'अकर्म ' है -- इत्यादि । इसप्रकार अत्यन्त मेधावी अर्थात् सर्वशास्त्रज्ञ विद्वान् भी कौन कर्म है और कौन अकर्म है -- इस विषय का निर्णय करने में प्रायशः असमर्थ होते हैं । अतः मैं ही कहता हूँ कि क्या कर्म है और क्या अकर्म है जिससे कि संसार से मुक्ति प्राप्त हो सके । यदि कर्म से कर्मफल उत्पन्न होता है तो वही कर्म संसार बन्धन का हेतु होता है अर्थात् कर्म में कर्तृत्वाभिमान और कर्मफल की कामना रहने पर वही कर्म जन्म-मृत्यु का कारण बनकर संसार-गति प्राप्त कराता है और यदि कर्तृत्वाभिमान का त्यागकर अर्थात् प्रकृति से सम्भूत देहादि ही कर्म कर रहा है, मैं मात्र उसका द्रष्टा हूँ -- इस प्रकार की बुद्धि से आत्मस्वरूप में स्थित होकर कर्मफल में स्पृहाशून्य होकर देहेन्द्रियादि से कर्म करने पर भी कर्म संसार के बीज = कर्मफल को उत्पन्न नहीं कर सकता है । इसप्रकार का कर्म अकर्म ही हो जाता है । जो मनुष्य इसप्रकार कर्म और अकर्म के स्वरूप = तत्त्व को जानकर कर्म करते हैं तो उनका कर्म अकर्म हो जाता है और उसीकारण से वे संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ 17 ॥

41 **हि यस्मात्कर्मणः शास्त्रविहितस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति, विकर्मणश्च प्रतिषिद्धस्य, अकर्मणश्च तूष्णींभावस्य । अत्र वाक्यत्रयेऽपि तत्त्वमस्तीत्यध्याहारः । यस्माद्गहना दुर्ज्ञाना । कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणाम् । गतिस्तत्त्वमित्यर्थः ॥ 17 ॥**

42 **कीदृशं तर्हि कर्मादीनां तत्त्वमिति तदाह –**

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ॥ 18 ॥

43 **कर्मणि देहेन्द्रियादिव्यापारे विहिते प्रतिषिद्धे चाहं करोमीति धर्म्यध्यासेनाऽऽत्मन्यारोपिते नौस्थेनाचलत्सु तटस्थवृक्षादिषु समारोपिते चलन इवाकर्त्रात्मस्वरूपालोचनेन वस्तुतः कर्माभावं तटस्थवृक्षादिष्विव यः पश्येत्पश्यति । तथा देहेन्द्रियादिषु त्रिगुणमायापरिणामत्वेन सर्वदा सव्यापारेषु निर्व्यापारस्तूष्णीं सुखमास इत्यभिमानेन समारोपितेऽकर्मणि व्यापारोपरमे दूरस्थचक्षुःसंनिकृष्टपुरुषेषु गच्छत्स्वप्यगमन इव सर्वदा सव्यापारदेहेन्द्रियादिस्वरूपपर्यालोचनेन**

[कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है ॥ 17 ॥]

41 हि = यस्मात् = क्योंकि कर्म = शास्त्रविहित कर्म का भी तत्त्व जानना चाहिए, विकर्म = प्रतिषिद्ध कर्म और अकर्म = चुप बैठे रहने का भी तत्त्व जानना चाहिए । यहाँ तीनों ही वाक्यों में 'बोद्धव्यम्' के साथ 'तत्त्वमस्ति' -- इतना अध्याहार करना चाहिए । क्योंकि कर्म की -- यह कर्म, अकर्म और विकर्म का उपलक्षण है, अतः इन तीनों ही की गति अर्थात् तत्त्व गहन = दुर्ज्ञेय है ॥ 17 ॥

42 'तो फिर इन कर्मादि का तत्त्व कैसा है ?' इसके उत्तर में कहते हैं :--
[जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान्, योगयुक्त और सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है ॥ 18 ॥]

43 कर्म में = देहेन्द्रियादि के विहित और प्रतिषिद्ध व्यापार में, जिसका कि नौका में बैठे हुए पुरुष के द्वारा तटस्थ वृक्षों में आरोपित चलन के समान 'अहं करोमि' = 'मैं करता हूँ' -- इसप्रकार धर्मी के अध्यास से आत्मा में आरोप कर लिया गया है, -- जो अकर्त्ता आत्मा के स्वरूप का विचार करने से तटस्थ वृक्षों में चलनाभाव के समान वस्तुतः कर्माभाव देखता है; तथा त्रिगुणमयी माया के परिणामरूप से सर्वदा सव्यापार देहेन्द्रियादि में 'मैं निर्व्यापार चुपचाप सुखपूर्वक बैठा हूँ' -- इसप्रकार के अभिमान से आरोपित अकर्म में = व्यापाराभाव में, -- जो दूरी पर दिखाई देनेवाले चलते हुए पुरुषों में आरोपित गमनाभाव के समान है, -- जो सर्वदा सव्यापार देहेन्द्रियादि के स्वरूप का विचार करने से उदाहृत पुरुषों में गमन के समान वस्तुतः कर्म = निवृत्ति नामक प्रयत्नरूप व्यापार ही देखता है; तथा उदासीन अवस्था में भी 'मैं उदासीन हूँ' -- ऐसा अभिमान भी कर्म ही है -- इसप्रकार जो वास्तविक वस्तु को देखनेवाला है वह बुद्धिमान् है । 'स बुद्धिमान्'-- इत्यादि से बुद्धिमत्त्व, योगयुक्तत्व और सर्वकर्मकृत्त्व-- इन तीन धर्मों से उसकी स्तुति की गई है ।

वस्तुगत्या कर्म निवृत्त्याख्यप्रयत्नरूपं व्यापारं यः पश्येदुदाहृतपुरुषेषु गमनमिव । औदासीन्यावस्थायामप्युदासीनोऽहमास इत्यभिमान एव कर्म । एतादृशः परमार्थदर्शी स बुद्धिमानित्यादिना बुद्धिमत्त्वयोगयुक्तत्वसर्वकर्मकृत्त्वैस्त्रिभिर्धर्मैः स्तूयते ।

44 अत्र प्रथमपादेन कर्मविकर्मणोस्तत्त्वं कर्मशब्दस्य विहितप्रतिषिद्धपरत्वात्, द्वितीयपादेन चाकर्मणस्तत्त्वं दर्शितमिति द्रष्टव्यम् । तत्र यत्त्वं मन्यसे कर्मणो बन्धहेतुत्वात्तूष्णीमेव मया सुखेन स्थातव्यमिति तन्मृषा । असति कर्तृत्वाभिमाने विहितस्य प्रतिषिद्धस्य वा कर्मणो बन्धहेतुत्वाभावात् । तथा च व्याख्यातं 'न मां कर्माणि लिम्पन्ती'त्यादिना । सति च कर्तृत्वाभिमाने तूष्णीमहमास इत्यौदासीन्याभिमानात्मकं यत्कर्म तदपि बन्धहेतुरेव वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । तस्मात्कर्मविकर्माकर्मणां तत्त्वमीदृशं ज्ञात्वा विकर्माकर्मणी परित्यज्य कर्तृत्वाभिमानफलाभिसंधिहानेन विहितं कर्मैव कुर्वित्यभिप्रायः ।

45 अपरा व्याख्या -- कर्मणि ज्ञानकर्मणि दृश्ये जडे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वभ्रमाधिष्ठानमकमविद्यं स्वप्रकाशचैतन्यं परमार्थदृष्ट्या यः पश्येत् । तथाऽकर्मणि च स्वप्रकाशे दृग्वस्तुनि कल्पितं कर्म दृश्यं मायामयं न परमार्थसत्, दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तेः --

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते' इति श्रुतेः ॥

---

44 यहाँ प्रथम पाद से कर्म और विकर्म -- इन दोनों के तत्त्व को दिखाया गया है, क्योंकि 'कर्म' शब्द विहित और प्रतिषिद्ध -- दोनों ही प्रकार के कर्मों का वाचक है; तथा द्वितीय पाद से अकर्म का तत्त्व दिखाया गया है -- यह द्रष्टव्य है । इसमें तुम जो ऐसा मानते हो कि कर्म तो बन्धन का हेतु है, अतः मुझे सुख से चुप ही बैठना चाहिए -- यह मृषा = असत्य है, क्योंकि कर्तृत्वाभिमान न रहने पर विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता । ऐसा ही 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (गीता, 4.14) -- इत्यादि श्लोक में भगवान् ने स्वयं स्पष्ट किया है । कर्तृत्वाभिमान रहने पर तो 'मैं चुप बैठा हूँ' -- ऐसा उदासीनता का अभिमानात्मक जो कर्म है वह भी बन्धन का ही हेतु होता है, क्योंकि तब वस्तुतत्त्व का ज्ञान नहीं होता । अतः कर्म, विकर्म और अकर्म -- इन तीनों के इसप्रकार के तत्त्व को जानकर विकर्म और अकर्म का परित्याग कर कर्तृत्वाभिमान और फलाभिसंधि = फलाशा का त्याग कर विहित कर्म ही करो -- यह अभिप्राय है ।

45 दूसरी व्याख्या -- कर्म में = ज्ञान के कर्मभूत दृश्य जड़समूह में सद्रूप से और स्फुरणरूप से अनुस्यूत सम्पूर्ण भ्रम के अधिष्ठान अकर्म अर्थात् अवेद्य स्वप्रकाश चैतन्य को परमार्थ दृष्टि से जो देखता है; तथा अकर्म में = स्वप्रकाश दृग्वस्तु -- चिद्वस्तु में जो कल्पित कर्म = मायामय दृश्य को देखता है, परमार्थ सत् को नहीं, क्योंकि दृक् और दृश्य का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता । श्रुति भी कहती है -- 'जो समस्त भूतों को आत्मा में और समस्त भूतों में आत्मा को देखता है वह ऐसी दृष्टि के कारण किसी की निन्दा नहीं करता ।' इसप्रकार आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास होने पर भी जो शुद्ध वस्तु को ही देखता है वही मनुष्यों के मध्य में बुद्धिमान् है, अन्य नहीं, क्योंकि यही परमार्थदर्शी है, अन्य तो अपरमार्थदर्शी हैं । वह बुद्धि के साधन योग से युक्त और अन्तःकरण की शुद्धि के कारण एकाग्रचित्त है; अतः वही अन्तःकरण की शुद्धि के साधन सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है -- इसप्रकार उसके वास्तविक धर्मों से ही उसकी स्तुति की जाती है । क्योंकि ऐसा है,

एवं परस्पराध्यासेऽपि शुद्धं वस्तु यः पश्यति मनुष्येषु मध्ये स एव बुद्धिमान्नान्यः । अस्य परमार्थदर्शित्वादन्यस्य चापरमार्थदर्शित्वात् । स च बुद्धिसाधनयोगयुक्तोऽन्तः -- करण-शुद्ध्यैकाग्रचित्तः । अतः स एवान्तःकरणशुद्धिसाधनकृत्स्नकर्मकृदिति वास्तवधर्मैरेव स्तूयते । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि परमार्थदर्शी भव तावतैव कृत्स्नकर्मकारित्वोपपत्तेरित्यभिप्रायः ।

46 **अतो यदुक्तं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभादिति, यच्चोक्तं कर्मादीनां तत्त्वं बोद्धव्यमस्तीति, स बुद्धिमानित्यादिस्तुतिश्च, तत्सर्वं परमार्थदर्शने संगच्छते । अन्यज्ञानादशुभात्संसारान्मोक्षानुपपत्तेः । अतत्त्वं चान्यन्न बोद्धव्यं न वा तज्ज्ञाने बुद्धिमत्त्वमिति युक्तैव परमार्थदर्शिनां व्याख्या ।**

47 **यत्तु व्याख्यानं कर्मणि नित्ये परमेश्वरार्थेऽनुष्ठीयमाने बन्धहेतुत्वाभावादकर्मेदमिति यः पश्येत् । तथाऽकर्मणि च नित्यकर्माकरणे प्रत्यवायहेतुत्वेन कर्मेदमिति यः पश्येत्स बुद्धिमानित्यादि तदसंगतमेव । नित्यकर्मण्यकर्मेदमिति ज्ञानस्याशुभमोक्षहेतुत्वाभावात्, मिथ्याज्ञानत्वेन तस्यैवाशुभत्वाच्च । न चैतादृशं मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं तत्त्वं नाप्येतादृशज्ञाने बुद्धिमत्त्वादिस्तुत्युपपत्तिर्भ्रान्तत्वात् । नित्यकर्मानुष्ठानं हि स्वरूपतोऽन्तःकरणशुद्धिद्वारोपयुज्यते न तत्राकर्मबुद्धिः कुत्राप्युपयुज्यते शास्त्रेण नामादिषु ब्रह्मदृष्टिवदविहितत्वात् । नापीदमेव वाक्यं**

इसलिए तुम भी परमार्थदर्शी बनो, क्योंकि उसी से तुम्हारा सम्पूर्णकर्मकारित्व उपपन्न होगा -- यह अभिप्राय है ।

46 अत: यह जो कहा गया था कि 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' (गीता, 4.16) = 'जिसको जानकर तुम अशुभ = संसार से मुक्त हो जाओगे'; तथा यह जो कहा था कि 'कर्मादीनां तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति' = ' कर्म, विकर्म और अकर्म -- इन तीनों के तत्त्व को जानना चाहिए'; एवं 'स बुद्धिमान्' (गीता, 4.18)' = 'वही बुद्धिमान् है' -- इत्यादि से जो उसकी स्तुति की थी -- यह सब परमार्थ का दर्शन होने पर ही संगत होता है, क्योंकि अन्य ज्ञान से तो अशुभ = संसार से मोक्ष होना सम्भव नहीं है । अन्य जो अतत्त्व है वह न तो बोद्धव्य = जानने योग्य है और न उसके ज्ञान में कोई बुद्धिमत्ता ही है -- इसप्रकार परमार्थदर्शियों की यह व्याख्या युक्त ही है ।

47 यह जो व्याख्यान है कि परमेश्वर के लिए अनुष्ठीयमान नित्य कर्म में बन्धन की हेतुता का अभाव होने के कारण 'यह अकर्म है' -- ऐसा जो देखता है; तथा नित्य कर्म न करने रूप अकर्म में प्रत्यवाय की हेतुता होने से 'यह कर्म है' -- ऐसा जो देखता है वह बुद्धिमान् है -- इत्यादि, वह असंगत ही है; क्योंकि नित्य कर्म में 'यह अकर्म है' -- ऐसा ज्ञान अशुभ = संसार से मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता, कारण कि मिथ्याज्ञान होने से वह स्वयं ही अशुभ है । ऐसा मिथ्याज्ञान न तो बोद्धव्य तत्त्व ही हो सकता है और न ऐसे ज्ञान में बुद्धिमत्त्वादि स्तुति ही उपपन्न हो सकती है, क्योंकि ऐसे ज्ञानवाला मनुष्य तो भ्रान्त ही है । क्योंकि नित्य कर्मों का अनुष्ठान स्वरूपत: अन्त:करण की शुद्धि के द्वारा ही उपयोगी होता है, अत: उसमें अकर्मबुद्धि का कहीं भी उपयोग नहीं होता, क्योंकि शास्त्र ने नामादि में ब्रह्मदृष्टि के समान उसमें अकर्मबुद्धि का कहीं विधान ही नहीं किया है । और न यही वाक्य इसका विधायक है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो उपक्रम आदि से विरोध होगा -- यह कह रहे हैं । इसीप्रकार नित्यकर्मों का न करना भी स्वरूपत: नित्यकर्म से विरुद्ध कर्म के रूप में ही उपयोगी होता है, उसमें कर्मदृष्टि का तो कहीं भी उपयोग नहीं होता । तथा नित्यकर्मों को न करने से कोई प्रत्यवाय भी नहीं होता, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती । अन्यथा, सर्वदा नित्य कर्म न करने से अविशेषता -- अभिन्नता -- समानता रहने के

तद्विधायकमुपक्रमादिविरोधस्योक्तेः । एवं नित्यकर्माकरणमपि स्वरूपतो नित्यकर्मविरुद्धकर्मलक्षकतयोपयुज्यते न तु तत्र कर्मदृष्टिः काप्युपयुज्यते । नापि नित्यकर्माकरणात्प्रत्यवायः, अभावाद्भावोत्पत्त्ययोगात् । अन्यथा तदविशेषेण सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयत इति न्यायेन भावार्थस्यैवापूर्वजनकत्वात् । 'अतिरात्रे षोडशिनं न गृह्णाति' इत्यादावपि संकल्पविशेषस्यैवापूर्वजनकत्वाभ्युपगमात्, 'नेक्षेतोयन्तमादित्यम्' इत्यादिप्रजापतिव्रतवत् । अतो नित्यकर्मानुष्ठानार्हे काले तद्विरुद्धतया यदुपवेशनादि कर्म तदेव नित्यकर्माकरणोपलक्षितं प्रत्यवायहेतुरिति वैदिकानां सिद्धान्तः । अत एवाकुर्वन्विहितं कर्मेत्यत्र लक्षणार्थे शता व्याख्यातः । 'लक्षणहेत्वोः

कारण उससे कार्य की उत्पत्ति होती रहने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । पूर्वमीमांसा में कहा है – 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते' (मीमांसा सूत्र,2.1.1) = 'कर्मवाचक शब्द भावरूप अर्थ के द्योतक हैं, उनसे क्रिया की प्रतीति होती है और इसी अर्थ का उनसे विधान किया जाता है' -- इस न्याय में भावरूप अर्थ ही अपूर्व का जनक माना गया है । जैसे प्रजापतिव्रत में 'नेक्षेताद्यन्तमादित्यम्' = 'उदित होते हुए सूर्य को न देखे' -- इत्यादि में अनीक्षण संकल्प ही अनुष्ठेय है वही अपूर्वजनक है, ईक्षणाभाव नहीं; वैसे ही 'अतिरात्रे षोडशिनं न गृह्णाति' = 'अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण नहीं करता' --इत्यादि में भी तदग्रहण संकल्प विशेष ही अनुष्ठेय होने के कारण अपूर्व का जनक माना गया है, ग्रहणाभाव नहीं । अतः नित्यकर्म के अनुष्ठान के योग्य समय में उसके विरुद्ध जो उपवेशन = कर्म न कर बैठे रहना आदि कर्म है वही नित्य कर्म न करने से उपलक्षित प्रत्यवाय का हेतु होता है[44] -- यह वैदिकों का सिद्धान्त है । अतएव 'अकुर्वन् विहितं कर्म' -- इस वाक्य में 'अकुर्वन्' शब्द में जो 'शतृ' प्रत्यय किया गया है उसको लक्षणार्थक मानकर व्याख्या की गई है । यद्यपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पाणिनिसूत्र, 3.2.126) = 'क्रिया से लक्षण और हेतु -- दोनों अर्थ में 'शतृ' प्रत्यय होता है' -- इस पाणिनिसूत्र के अनुसार लक्षण और हेतु – दोनों अर्थों में 'शतृ' प्रत्यय का विधान समानरूप से होता है, किन्तु यहाँ हेतु-अर्थ उपपन्न नहीं है[45] । अतः मिथ्यादर्शन के निराकरण का प्रसङ्ग होने पर मिथ्यादर्शन से ही व्याख्या करना शोभा नहीं देता । यह वाक्य नित्यकर्मानुष्ठानपरक भी नहीं है,

44. तात्पर्य यह है कि नित्यकर्म के अनुष्ठान के योग्य समय में उसके विरुद्ध कर्म अर्थात् नित्य कर्म न कर बैठे रहना ही भावरूप होने से प्रत्यवाय का जनक होता है अथवा उस समय नित्यकर्म न कर अनुष्ठीयमान कर्मान्तर ही प्रत्यवाय का कारण होता है, उस समय का अभावरूप नित्यकर्माकरण प्रत्यवाय का हेतु नहीं होता, क्योंकि वह अभावरूप होने से किसी का कारण ही नहीं हो सकता । अतएव श्रुति में कहा है – 'कथमसतः सज्जायेत' अर्थात् 'असत् से सत् की उत्पति कैसे हो सकती है ' । भगवान् ने स्वयं भी कहा है 'नासतो विद्यते भावः' (गीता, 2,16) अर्थात् 'असत्वस्तु से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है' । अतः यह वैदिक सिद्धांत है कि नित्यकर्माकरणोपलक्षित उपवेशनादि प्रत्यवाय-जनक होता है ।

45. यहाँ यह शङ्का की गई है 'अकुर्वन् विहितं कर्म'– इस वाक्य में 'अकुर्वन्' शब्द में 'शतृ'प्रत्यय है और 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पाणिनिसूत्र,3.2.126) इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार प्रकृतवाक्य में 'शतृ'प्रत्यय लक्षण और हेतु दोनों के अर्थों में प्रयुक्त होना चाहिए, यहाँ 'शतृ' प्रत्यय का प्रयोग मात्र 'लक्षण' के अर्थ में हुआ है, हेतु अर्थ में नहीं, तो यह कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि प्रयोगान्तर में 'शतृ'प्रत्यय लक्षण और हेतु – दोनों अर्थों में विवक्षा भेद से वहाँ होता है जहाँ दोनों अर्थों में उपपत्ति होती है । किन्तु प्रकृत वाक्य में हेतु अर्थ में अनुपपत्ति है अतः हेतु की अविवक्षा है । यहाँ हेतु अर्थ में अनुपपत्ति क्यों है, क्योंकि अभाव से भाव नहीं होता । यदि प्रकृत में हेतु अर्थ स्वीकार करेंगे तो अभाव से भावोत्पत्ति को स्वीकार करना होगा जो असंभव है, अतः यहाँ 'शतृ'प्रत्यय मात्र 'लक्षण'के अर्थ में हुआ है ।

क्रियाया' इत्यविशेषस्मरणेऽप्यत्र हेतुत्वानुपपत्तेः । तस्मान्मिथ्यादर्शनापनोदे प्रस्तुते मिथ्यादर्शनव्याख्यानं न शोभतेतराम् । नापि नित्यानुष्ठानपरमेवैतद्वाक्यं, 'नित्यानि कुर्या' दित्यर्थे 'कर्मण्यकर्म यः पश्ये' दित्यादि तदबोधकं वाक्यं प्रयुञ्जानस्य भगवतः प्रतारकत्वापत्तेरित्यादि भाष्य एव विस्तरेण व्याख्यातमित्युपरम्यते ॥ 18 ॥

48 तदेतत्परमार्थदर्शिनः कर्तृत्वाभिमानाभावेन कर्मालिप्तत्वं प्रपञ्च्यते ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्यन्तेन —

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ 19 ॥

49 यस्य पूर्वोक्तपरमार्थदर्शिनः सर्वे यावन्तो वैदिका लौकिका वा समारम्भाः समारभ्यन्त इति व्युत्पत्त्या कर्माणि कामसंकल्पवर्जिताः कामः फलतृष्णा संकल्पोऽहं करोमीति कर्तृत्वाभिमानस्ताभ्यां वर्जिताः । लोकसंग्रहार्थं वा जीवनमात्रार्थं वा प्रारब्धकर्मवेगाद्वृथाचेष्टारूपा

क्योंकि 'नित्यानि कुर्याद्' = 'नित्यकर्म करने चाहिए' -- इस अर्थ में उस अर्थ का बोध न कराने वाले 'कर्मण्यकर्म यः पश्येद्' = 'जो कर्म में अकर्म देखता है' -- इत्यादि वाक्य का प्रयोग करने से भगवान् में प्रतारकत्वापत्ति होगी -- इत्यादि भाष्य में ही विस्तारपूर्वक कहा गया है, अतः इस निरूपण से उपरत होता हूँ ॥ 18 ॥

48 तो उस परमार्थदर्शी में कर्तृत्व का अभिमान न रहने से कर्मलिप्तत्व भी नहीं रहता -- यह 'यस्य' इत्यादि से लेकर 'ब्रह्मकर्मसमाधिना' (गीता 4.24) तक विस्तारपूर्वक कहते हैं --

[जिसके समस्त कर्म कामना = फल की तृष्णा और संकल्प = कर्तृत्वाभिमान से रहित होते हैं उस ज्ञानरूप अग्नि द्वारा दग्ध हुए कर्मों वाले पुरुष को बुधजन 'पण्डित' कहते हैं ॥19॥

49 जिसके = पूर्वोक्त परमार्थदर्शी के सर्वे = समस्त = जितने भी वैदिक या लौकिक सभी समारम्भ[46] = 'समारभ्यन्त' इति = 'जिनका सम्यक् आरम्भ किया जाता है' -- इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्म कामसंकल्पवर्जित = काम -- फल की तृष्णा और संकल्प -- 'अहं करोमि' = 'मैं करता हूँ' -- इस प्रकार का कर्तृत्वाभिमान -- इनसे रहित लोकसंग्रह के लिए अथवा जीवनमात्र के लिए प्रारब्धकर्म के वेग से वृथा चेष्टारूप होते हैं । उसको=कर्मादि में अकर्मादिदर्शनरूप जो ज्ञान है वही है अग्नि

46. समारम्भ = 'समारभ्यत इति समारम्भः' अर्थात् सम्यक् प्रकार से देहेन्द्रियादि के द्वारा जिसका आरम्भ =अनुष्ठान किया जाता है उसको 'समारम्भ' कहते हैं अर्थात् प्राणरक्षा के उपयोगी देहेन्द्रियादि के सम्पूर्ण व्यापार को 'समारम्भ' कहते हैं ।

47. "तदधिगम =तद्= ब्रह्म का अधिगम= अनुभव होने पर उत्तर के अघ = पाप का अश्लेष और पूर्व के अघ = पाप का विनाश हो जाता है । श्रुति भी कहती है कि 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते ' (छा० उ० 4.14.3) अर्थात् 'जिसप्रकार पद्मपत्र जल से निर्लिप्त रहता है उसीप्रकार तत्त्वज्ञानी पापकर्म से निर्लिप्त रहता है'— इस श्रुति से आगामी पाप के साथ विद्वान् के असम्बन्ध को कहा गया है । इसी प्रकार पूर्व के संचित पाप के विनाश को भी श्रुति कहती हैं – 'तद्यथैषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० उ०, 5.24.3) अर्थात् 'जिस प्रकार तुला अग्नि से भस्मीभूत हो जाती है ठीक उसी प्रकार ज्ञानी का निखिल पाप विनष्ट हो जाता है' । श्रुति कर्मक्षय का भी व्यपदेश करती है –

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥'
(मुण्ड० उ०,2.2.8)

भवन्ति । तं कर्मादावकर्मादिदर्शनं ज्ञानं तदेवाग्निस्तेन दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति न्यायात्, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तं बुधा ब्रह्मविदः परमार्थतः पण्डितमाहुः । सम्यग्दर्शी हि पण्डित उच्यते न तु भ्रान्त इत्यर्थः ॥ 19 ॥

50 **भवतु ज्ञानाग्निना प्राक्तनानामप्रारब्धकर्मणां दाह आगामिनां चानुत्पत्तिः । ज्ञानोत्पत्तिकाले क्रियमाणं तु पूर्वोत्तरयोरनन्तर्भावात्फलाय भवेदिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का तामपनुदति --**

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ 20 ॥

51 **कर्मणि फले चाऽऽसङ्गं कर्तृत्वाभिमानं भोगाभिलाषं त्यक्त्वाऽकर्त्रभोक्त्रात्मसम्यग्दर्शनेन बाधित्वा नित्यतृप्तः परमानन्दस्वरूपलाभेन सर्वत्र निराकाङ्क्षः । निराश्रय आश्रयो देहेन्द्रियादिरद्वैतदर्शनेन निर्गतो यस्मात्स निराश्रयो देहेन्द्रियाद्यभिमानशून्यः । फलकामनायाः कर्तृत्वाभिमानस्य च निवृत्तौ हेतुगर्भं क्रमेण विशेषणद्वयम् । एवंभूतो जीवन्मुक्तो व्युत्थानदशायां कर्मणि वैदिके लौकिके वाऽभिप्रवृत्तोऽपि प्रारब्धकर्मवशाल्लोकदृष्ट्याऽभितः साङ्गोपाङ्गानुष्ठानाय प्रवृत्तोऽपि स्वदृष्ट्या नैव किंचित्करोति स निष्क्रियात्मदर्शनेन बाधितत्वादित्यर्थः ॥ 20 ॥**

उससे 'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' [47] (ब्रह्मसूत्र, 4.1.13) – इस न्याय से दग्ध हो गए हैं शुभाशुभरूप कर्म जिसके ऐसे ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए कर्मोंवाले उस पुरुष को बुध = ब्रह्मविद् -- ब्रह्मज्ञ - ब्रह्मवेत्ता वास्तविक 'पण्डित'कहते हैं । तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शी ही 'पण्डित'[48] कहा जाता है, भ्रान्त नहीं ।।19।।

50 'अच्छा, ज्ञानाग्नि से प्राक्तन = पूर्वकृत अप्रारब्ध = प्रारब्धव्यतिरिक्त कर्मों का दाह और आगामी कर्मों की अनुत्पत्ति हो, किन्तु ज्ञानोत्पत्ति के समय क्रियमाण =किये हुए कर्म तो पूर्व और उत्तर = आगामी कर्मों में नहीं आते हैं, अतः वे तो फल के लिए होंगे '--- ऐसी यदि किसी की आशङ्का हो तो उसका निराकरण करते हैं :--

[जो पुरुष कर्म और फल की आसक्ति छोड़कर नित्यतृप्त और निराश्रय रहता है वह कर्म में प्रवृत्त रहने पर भी कुछ नहीं करता है ।।20 ।।]

51 कर्म और फल में आसङ्ग = क्रमशः कर्तृत्वाभिमान और भोग की अभिलाषा को त्यागकर = अकर्ता और अभोक्ता आत्मा के सम्यक् दर्शन से बाधित कर जो नित्यतृप्त = अपने परमानन्दमय स्वरूप के लाभ से सर्वत्र = सब विषयों से निराकाङ्क्ष – निस्पृह;और निराश्रय =अद्वैतदर्शन से देहेन्द्रियादि आश्रय निर्गत - निवृत्त हो गया है जिससे ऐसा निराश्रय अर्थात् देहेन्द्रियादि के अभिमान से शून्य होता है । फल की कामना और कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति में ये दोनों विशेषण क्रम से

अर्थात् 'उस परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि = अज्ञानग्रन्थि का भेदन हो जाता है, समस्त संशयों का उच्छेद हो जाता है तथा कर्मों का क्षय हो जाता है ।''

48. पण्डित = 'पण्डा वेदोज्ज्वला तत्त्वविषयिणी वा बुद्धिः, सा संजाता अस्य, स पण्डितः' अर्थात् 'पण्डा' शब्द से 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (पाणिनिसूत्र, 5.2.36) – इस सूत्र के अनुसार 'इतच्'प्रत्यय होकर 'पण्डित' शब्द निष्पन्न हुआ है । 'पण्डा ' शब्द का अर्थ है -- वेदोज्ज्वला अथवा तत्त्वविषयिणी 'बुद्धि'। अथवा, कल्याणी =सर्वत्र एक अखण्ड चैतन्याकारा 'चित्तवृत्ति' को अर्थात् सर्वत्र 'समदर्शन' को 'पण्डा' कहते हैं । समदर्शन होने से आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता अर्थात् कर्ता, कर्म, करण और कर्मफल की भिन्नत्वबुद्धि लुप्त हो जाती है । इस प्रकार के समदर्शी = परमार्थदर्शी को 'पण्डित' कहते हैं ।

52 यदाऽत्यन्तविक्षेपहेतोरपि ज्योतिष्टोमादेः सम्यग्ज्ञानवशान्न तत्फलजनकत्वं तदा शरीरस्थितिमात्रहेतोरविक्षेपकस्य भिक्षाटनादेर्नास्त्येव बन्धहेतुत्वमिति कैमुत्यन्यायेनाऽऽह –

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥ 21 ॥

53 निराशीर्गततृष्णो यतचित्तात्मा चित्तमन्तःकरणमात्मा बाह्येन्द्रियसहितो देहस्तौ संयतौ प्रत्याहारेण निगृहीतौ येन सः । यतो जितेन्द्रियोऽतो विगततृष्णत्वात्त्यक्तसर्वपरिग्रहस्त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा भोगोपकरणानि येन सः । एतादृशोऽपि प्रारब्धकर्मवशाच्छारीरं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कौपी-

हेतुगर्भित हैं । एवंभूत वह जीवन्मुक्त व्युत्थान दशा में वैदिक अथवा लौकिक कर्म में अभिप्रवृत्त = प्रारब्धकर्मवश लोकदृष्टि से अभितः = साङ्गोपाङ्गरूप से अनुष्ठान करने के लिए प्रवृत्त होने पर भी अपनी दृष्टि से कुछ भी नहीं करता है, क्योंकि निष्क्रिय आत्मा के दर्शन से सब कर्म बाधित हो जाते हैं -- यह अर्थ है ॥20॥

52 'जब अत्यन्त विक्षेप के हेतु भी ज्योतिष्टोम आदि काम्य कर्म सम्यग्ज्ञान के कारण अपने फल के जनक = उत्पादक नहीं होते, तब शरीर की स्थिति मात्र के हेतु और अविक्षेपक = विक्षेप शून्य भिक्षाटनादि कर्म तो बन्धन के कारण हो ही नहीं सकते' -- यह कैमुतिकन्याय[49] से कहते हैं :-- [जो तृष्णाशून्य, अन्तःकरण और देह का निग्रह करनेवाला तथा सम्पूर्ण भोगसाधनों को त्यागनेवाला है वह पुरुष केवल शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक कर्मों को करता हुआ भी किल्विष = संसार को प्राप्त नहीं होता है ॥ 21 ॥]

53 निराशीः = तृष्णाशून्य, यतचित्तात्मा = जिसने चित्त = अन्तःकरण और आत्मा = बाह्य इन्द्रियों सहित देह -- इन दोनों का प्रत्याहार के द्वारा संयम = निग्रह कर लिया है वह; तथा क्योंकि जितेन्द्रिय है, अतः तृष्णाशून्य होने के कारण जो त्यक्तसर्वपरिग्रह है अर्थात् जिसने सम्पूर्ण परिग्रह = भोगसाधनों का त्याग कर दिया है वह ऐसा होने पर भी प्रारब्धकर्मवश शारीर = शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक कौपीन और आच्छादन आदि धारण करना तथा भिक्षाटनादि करना रूप यति के लिए शास्त्र द्वारा अनुमोदित कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों को--उनको भी कर्तृत्वाभिमान से शून्य होकर केवल दूसरों के द्वारा आरोपित कर्तृत्व से करता हुआ, परमार्थतः अकर्ता आत्मा का दर्शन करने के कारण किल्विष = धर्माधर्म के फलभूत अनिष्ट संसार को प्राप्त नहीं होता है[50] । ——————

49. कैमुतिकन्याय = 'किमुत इत्यव्ययं तस्मात् आगतः = किमुत + ठक् = कैमुतिकः' = 'किमुत' (और कितना अधिक) अव्यय से 'तत आगतः' (पाणिनिसूत्र, 4.3.74) – इस अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होकर 'कैमुतिक' शब्द निष्पन्न हुआ है । यह न्यायविशेष है । इसका प्रयोग यह दिखलाने के लिए होता है जब बहुत बड़ा कार्य हो गया तो छोटे कार्य का क्या कहना । प्रकृत प्रसङ्ग में इस न्याय की सार्थकता यह है कि जब ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म भी सम्यग्ज्ञान के कारण अपने फल के जनक नहीं होते तो शरीरस्थितिमात्र के लिए कृत भिक्षाटनादि कर्म तो बन्धन के कारण हो ही नहीं सकते ।

50. यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अधर्म का फल तो अनिष्ट = दुःखमय संसार होता है, क्योंकि अधर्म किल्विष = पाप है; किन्तु धर्म का फल अनिष्ट = दुःखमय संसार नहीं होगा, अपितु सुखमय संसार ही होगा, धर्म तो किल्विष = पाप नहीं, पुण्य है । तो इसका समाधान यह है कि प्रकृत में 'किल्विष' शब्द अनिष्टार्थक है । तत्त्वज्ञानी के लिए पाप के समान पुण्य भी बन्धक होने से अनिष्ट ही है, अतः वह भी किल्विष ही है, फलतः धर्म = पुण्य भी किल्विष = अनिष्ट संसार का हेतु है ।

नाच्छादनादिग्रहणभिक्षाटनादिरूपं यतिं प्रति शास्त्राभ्यनुज्ञातं कर्म कायिकं वाचिकं मानसं च, तदपि केवलं कर्तृत्वाभिमानशून्यं पराध्यारोपितकर्तृत्वेन कुर्वन्परमार्थतोऽकर्त्रात्मदर्शनान्नाऽऽप्नोति न प्राप्नोति किल्बिषं धर्माधर्मफलभूतमनिष्टं संसारं पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टफलत्वेन किल्बिषत्वात् ।

54 **ये तु शरीरनिर्वर्त्यं शारीरमिति व्याचक्षते तन्मते केवलं कर्म कुर्वन्नित्यतोऽधिकार्थालाभादव्यावर्तकत्वेन शारीरपदस्य वैयर्थ्यम् । अथ वाचिकमानसिकव्यावर्तनार्थमिति ब्रूयात्तदा कर्मपदस्य विहितमात्रपरत्वेन शारीरं विहितं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषमित्यप्रसक्तप्रतिषेधोऽनर्थकः । वाचिकं मानसं च विहितं कर्म कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषमिति च शास्त्रविरुद्धमुक्तं स्यात् । विहित प्रतिषिद्धसाधारणपरत्वेऽप्येवमेव व्याघात इति भाष्य एव विस्तरः ॥21॥**

55 **त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कर्माभ्यनुज्ञातं तत्रान्नाच्छादनादिव्यतिरेकेण शरीरस्थितेरसंभवाद्याञ्चादिनाऽपि स्वप्रयत्नेनान्नादिकं संपाद्यमिति प्राप्ते नियमायाऽऽह –**

जिसप्रकार पाप अनिष्ट का कारण होने से किल्विष है वैसे ही पुण्य भी अनिष्ट का कारण होने से किल्विष ही है ।

54 जो 'शरीरनिर्वर्त्यं शारीरम्' = 'शरीरनिर्वर्त्य = शरीरसाध्य अर्थात् शरीर से साध्य कर्म 'शारीर' कर्म है' -- ऐसी व्याख्या करते हैं, उनके मत में तो 'केवलं कर्म कुर्वन्' -- इससे अधिक अर्थ का लाभ नहीं है, अत: उसके व्यावर्तक रूप से 'शारीर' पद व्यर्थ ही हो जाता है । यदि वे कहें कि 'शारीर' पद का प्रयोग वाचिक और मानसिक कर्मों की व्यावृत्ति के लिए है, तो 'कर्म' पद तो सभी विहित कर्मों का वाचक है, अत: इससे 'शास्त्रविहित शारीरिक कर्मों को करने से ज्ञानी किल्विष = पाप को प्राप्त नहीं होता है' -- यह अर्थ होगा, वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि तत्त्वज्ञानी के लिए शास्त्रविहित कर्म प्रसक्त ही नहीं है अतएव उसका प्रतिषेध ही व्यर्थ होगा । यदि 'शास्त्रविहित वाचिक और मानसिक कर्म करने से ज्ञानी किल्विष = पाप को प्राप्त होता है' -- यह अर्थ करेंगे, तो यह शास्त्रविरुद्ध होगा । यदि इसको विहित और प्रतिषिद्ध -- दोनों ही प्रकार के कर्मों का समानरूप से वाचक मानें तब भी ऐसा ही व्याघात उपस्थित होगा -- इसप्रकार इसका भाष्य में ही बहुत विस्तार किया है ॥ 21॥

55 सम्पूर्ण भोगसाधनों के परित्यागी यति के लिए शरीर की स्थितिमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे कर्म की अभ्यनुज्ञा -- अनुमति शास्त्र में दी गई है,[51] इसमें अन्न, आच्छादनवस्त्रादि के बिना शरीर की स्थिति संभव न होने के कारण उसको याञ्चा -- याचना आदि करके भी अपने प्रयत्न से अन्नादि का संग्रह करना चाहिए -- ऐसा प्राप्त होने पर भगवान् नियम के लिए कहते हैं :--

---

51. शास्त्र में यति के लिए पाँच प्रकार की भिक्षा की व्यवस्था कही गई है –

"माधुकरमसंक्लिप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।
तात्कालिकापपन्नञ्च भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम् ॥"

(i) माधुकरी भिक्षा -- मधुकर जैसे पुष्प-पुष्प पर मधु के लिए घूमता रहता है वैसे ही परिव्राजक भी यदि घर-घर घूमकर प्रयोजनीय भिक्षा का संग्रह करता है वह 'माधुकरी' भिक्षा है । (ii) असंक्लिप्त भिक्षा--अभिशप्त पापियों के गृह वर्जन करके संकल्प न कर तीन, पाँच अथवा सात गृहों से भिक्षा ग्रहण करना 'असंक्लिप्त' भिक्षा है । (iii) प्राक्प्रणीत भिक्षा-पहले ही यदि कोई भक्त भिक्षा के लिए अनुरोध करे तो उसको स्वीकार करने से उसी भिक्षा को 'प्राक्प्रणीत' भिक्षा कहते हैं । (iv) अयाचित भिक्षा – याचना या प्रयत्न के बिना ही जो भिक्षा स्वत: ही प्राप्त हो उसको ' अयाचित' भिक्षा कहते हैं । (v) तात्कालिकोपपन्न भिक्षा -- भिक्षा के समय यदि कोई भक्त संन्यासी के समीप भिक्षा लाकर उपस्थित हो तो उसे 'तात्कालिकोपपन्न' भिक्षा कहते हैं ।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ 22 ॥

56 **शास्त्राननुमतप्रयत्नव्यतिरेको यदृच्छा तयैव यो लाभोऽन्नाच्छादनादेः शास्त्रानुमतस्य स यदृच्छालाभस्तेन संतुष्टस्तदधिकतृष्णारहितः । तथा च शास्त्रं 'भैक्षं चरेत्' इति प्रकृत्य अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' इति याञ्चासंकल्पादिप्रयत्नं वारयति । मनुरपि –**

'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् इति ॥'

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं विशन्तीत्यादिशास्त्रानुमतस्तु प्रयत्नः कर्तव्य एव । एवं लब्धव्यमपि शास्त्रनियतमेव –

'कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ॥' इत्यादि ।

एवमन्यदपि विधिनिषेधरूपं शास्त्रमूह्यम् ।

57 **ननु स्वप्रयत्नमन्तरेणालाभे शीतोष्णादिपीडितः कथं जीवेदत आह – द्वंद्वातीत द्वंद्वानि क्षुत्पिपासाशीतोष्णवर्षादीनि अतीतोऽतिक्रान्तः समाधिदशायां तेषामस्फुरणात् । व्युत्थानदशायां**

[जो यदृच्छामात्र से -- अपने आप ही होनेवाले लाभ में सन्तुष्ट रहनेवाला, हर्षशोकादि द्वन्द्वों से अतीत -- परे, मत्सरता -- ईर्ष्या से रहित, तथा सिद्धि और असिद्धि में समत्व--भाववाला होता है, वह शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक कर्मों को करके भी उनमें नहीं बँधता है ।। 22 ।।

56 शास्त्र में जिसकी अनुमति नहीं दी गई है उस प्रयत्न से भिन्न 'यदृच्छा' है । उसी से जो शास्त्रानुमत -- शास्त्रसम्मत अन्न, वस्त्रादि का लाभ होता है वह 'यदृच्छालाभ' है, उसी से जो सन्तुष्ट है अर्थात् उससे अधिक की तृष्णा से रहित है । इसीप्रकार शास्त्र भी 'भैक्षं चरेत्' = 'भिक्षाटन करे' -- ऐसा प्रकरण उठाकर फिर 'अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' = 'संन्यासी न मांगी हुई, न संकल्प की हुई, स्वयं ही प्राप्त तथा यदृच्छा से प्राप्त भिक्षा को ग्रहण करे' -- ऐसा कहकर याञ्चा, संकल्पादि के प्रयत्न को रोकता ही है । मनु ने भी कहा है --

"यति भूकम्पादि उत्पात और निमित्त = शकुन बताकर, नक्षत्रविद्या से, हस्तरेखा आदि अङ्गविद्या से, शासनपूर्वक और वाद-विवाद करके कभी भी भिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न न करे" (मनुस्मृति, 6.50) । 'यतयो भिक्षार्थं ग्रामं विशन्ति' = 'यतिजन भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करते हैं' -- इत्यादि शास्त्रानुमत प्रयत्न तो करना ही चाहिए । इसी प्रकार 'लब्धव्य' = 'कितना ग्रहण करना चाहिए' -- यह भी शास्त्र से नियत है --

"दो कौपीन, वस्त्र, शीतनिवारिणी कन्था और पादुकाएँ -- इतना ग्रहण कररना चाहिए, इसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का संग्रह न करे" -- इत्यादि । इसीप्रकार अन्य विधि -- निषेधरूप शास्त्र भी समझ लेने चाहिए ।

57 'यदि अपने प्रयत्न के बिना कन्था, वस्त्रादि की प्राप्ति न हो तो शीतोष्णादि = सर्दी-गर्मी आदि से पीड़ित होकर यति कैसे जीवेगा ?' ऐसी शंका हो, तो कहते हैं -- 'द्वन्द्वातीत:' = 'भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और वर्षा आदि जो द्वन्द्व हैं इनसे जो अतीत = अतिक्रान्त -- ऊपर उठा हुआ है अर्थात्

स्फुरणेऽपि परमानन्दाद्वितीयाकर्त्रभोक्त्रात्मप्रत्ययेन बाधात्तैर्द्वंद्वैरुपहन्यमानोऽप्यक्षुभितचित्तः । अत एव परस्य लाभे स्वस्यालाभे च विमत्सरः परोत्कर्षासहनपूर्विका स्वोत्कर्षवाञ्छा मत्सरस्तद्रहितोऽद्वितीयात्मदर्शनेन निर्वैरबुद्धिः । अत एव समस्तुल्यो यदृच्छालाभस्य सिद्धावसिद्धौ च सिद्धौ न हृष्टो नाप्यसिद्धौ विषण्णः स स्वानुभवेनाकर्तैव परैरारोपितकर्तृत्वः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिरूपं कर्म कृत्वाऽपि न निबध्यते बन्धहेतोः सहेतुकस्य कर्मणो ज्ञानाग्निना दग्धत्वादिति पूर्वोक्तानुवादः ॥ 22 ॥

58 **त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यदृच्छालाभसंतुष्टस्य यतेर्यच्छरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिरूपं कर्म तत्कृत्वा न निबध्यत इत्युक्ते गृहस्थस्य ब्रह्मविदो जनकादेर्यज्ञादिरूपं यत्कर्म तद्बन्धहेतुः स्यादिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का तामपनेतुं त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गमित्यादिनोक्तं विवृणोति –**

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ 23 ॥

59 **गतसङ्गस्य फलासङ्गशून्यस्य मुक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्यासशून्यस्य ज्ञानावस्थितचेतसो निर्विकल्पकब्रह्मात्मैक्यबोध एव स्थितं चित्तं यस्य तस्य स्थितप्रज्ञस्येत्यर्थः। उत्तरोत्तरविशेषणस्य पूर्व-**

समाधि अवस्था में इनका स्फुरण नहीं होने से और व्युत्थान दशा में इनका स्फुरण होने पर भी परमानन्दस्वरूप, अद्वितीय, अकर्ता, अभोक्ता आत्मा के अनुभव से बाधित हो जाने के कारण उन द्वन्द्वों से उपहत होने पर भी जिसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता । अतएव, दूसरे को लाभ होने पर और अपने को लाभ न होने पर जो 'विमत्सर' होता है तथा दूसरे के उत्कर्ष को सहन नहीं करते हुए स्वोत्कर्ष -- आत्मोत्कर्ष की अभिलाषा करना जो 'मत्सर' है -- उससे जो रहित है अर्थात् अद्वितीय आत्मा के दर्शन से जिसकी बुद्धि निर्वैर = वैरहीन है । अतएव जो यदृच्छा लाभ की सिद्धि और असिद्धि में समान -- एक सा रहता है अर्थात् सिद्धि होने पर प्रसन्न नहीं होता और असिद्धि में खिन्न नहीं होता वह अपने अनुभव से तो अकर्ता ही रहता है, दूसरे लोग ही उसमें कर्तृत्व का आरोप कर लेते हैं । वह शरीर की स्थितिमात्र के लिए भिक्षाटनादिरूप कर्मों को करता हुआ भी उनमें नहीं बँधता है, क्योंकि बन्धन का हेतु कर्म तो अपने कारण सहित ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाता है -- यह पूर्वोक्तानुवाद है ॥ 22 ॥

58 'सम्पूर्ण भोगसाधनों का परित्यागी और यदृच्छालाभ में सन्तुष्ट यति शरीर की स्थितिमात्र के लिए भिक्षाटनादिरूप कर्म करता हुआ भी नहीं बँधता है' -- ऐसा कथन होने पर यदि किसी की यह आशङ्का हो कि 'गृहस्थ ब्रह्मज्ञानी जनकादि के यज्ञादिरूप जो कर्म हैं वे उनके बन्धन के हेतु होंगे'? -- तो उसका निराकरण करने के लिए भगवान् 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' (गीता, 4.20) -- इत्यादि श्लोक से कहे हुए कथन का स्पष्टीकरण करते हैं --

[फलासक्ति से शून्य, कर्तृत्व -- भोक्तृत्व आदि के अध्यास से शून्य, स्थितप्रज्ञ और यज्ञ = विष्णु के लिए करनेवाले पुरुष का कर्म अपने फलसहित सर्वथा लीन हो जाता है ॥ 23 ॥]

59 'गतसङ्गस्य' = फल की आसक्ति से शून्य का, 'मुक्तस्य' = कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि के अध्यास से शून्य का, 'ज्ञानावस्थितचेतसः' = निर्विकल्पक ब्रह्म और आत्मा की एकता के बोध में स्थित है चित्त जिसका उसका अर्थात् स्थितप्रज्ञ का । यहाँ उत्तरोत्तर विशेषण पूर्व-पूर्व विशेषण का हेतु समझकर अन्वय

पूर्वहेतुत्वेनान्वयो द्रष्टव्यः। गतसङ्गत्वं कुतो यतोऽध्यासहीनत्वं तत्कुतो यतः स्थितप्रज्ञत्वमिति। ईदृशस्यापि प्रारब्धकर्मवशाद्यज्ञाय यज्ञसंरक्षणार्थं ज्योतिष्टोमादियज्ञे श्रेष्ठाचारत्वेन लोकप्रवृत्त्यर्थं यज्ञाय विष्णवे तत्प्रीत्यर्थमिति वा। आचरतः कर्म यज्ञदानादिकं समग्रं सहाग्रेण फलेन विद्यत इति समग्रं प्रविलीयते प्रकर्षेण कारणोच्छेदेन तत्त्वदर्शनाद्विलीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥ 23 ॥

60 ननु क्रियमाणं कर्म फलमजनयित्वैव कुतो नश्यति ब्रह्मबोधे तत्कारणोच्छेदादित्याह –

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना ॥ 24 ॥

61 अनेककारकसाध्या हि यज्ञादिक्रिया भवति। देवतोद्देशेन हि द्रव्यत्यागो यागः। स एव त्यज्यमानद्रव्यस्याग्नौ प्रक्षेपाद्धोम इत्युच्यते। तत्रोद्देश्या देवता संप्रदानं, त्यज्यमानं द्रव्यं हविः

करना चाहिए। 'गतसङ्गत्व क्यों हैं ?' -- क्योंकि अध्यासहीनता है। 'अध्यासहीनता क्यों है' ? -- क्योंकि स्थितप्रज्ञता है। ऐसे पुरुष के भी प्रारब्धकर्मवश 'यज्ञाय' = यज्ञ की रक्षा के लिए -- श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण होने के कारण ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में लोक की प्रवृत्ति कराने के लिए -- अथवा यज्ञ अर्थात् विष्णु उनकी प्रीति -- प्रसन्नता के लिए आचरण करनेवाले पुरुष का कर्म = यज्ञदानादि समग्र[52] = 'सहाग्रेण फलेन विद्यते' अर्थात् जो अग्र = फल के सहित रहे वह 'समग्र' है, इसप्रकार फल सहित प्रविलीन = प्र--प्रकर्ष से--तत्त्व--दर्शन से कारणोच्छेदपूर्वक विलीन अर्थात् विनष्ट हो जाता है ॥ 23 ॥

60 'किन्तु क्रियमाण कर्म अपना फल उत्पन्न किये बिना ही क्यों नष्ट हो जाता है' ? -- इस शङ्का का उत्तर देते हैं – 'क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर कर्म के कारण का उच्छेद--नाश हो जाता है' -- यही कहते हैं :--

[अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा जो हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है -- इसप्रकार जिसकी कर्म में ब्रह्मदृष्टि है उसके लिए उससे प्राप्त होनेवाला फल भी ब्रह्म ही है ॥ 24 ॥]

61 यज्ञादि क्रिया कर्तादि अनेक कारकों से साध्य होती है। देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग करना 'याग' है। उसी त्यज्यमान = त्याग किये जानेवाले द्रव्य को अग्नि में छोड़ने से 'होम' कहा जाता है। इसमें उद्देश्य देवता 'सम्प्रदान' कारक है, 'हवि' शब्द का वाच्य त्यज्यमान द्रव्य 'प्रक्षेप' धातु के अर्थ का साक्षात् 'कर्म' है। उसका फल व्यवहित स्वर्गादि[53] तो भावना का 'कर्म' है।

52. समग्र = यद्यपि 'समग्र' शब्द समस्तवाची है तथापि प्रकृत में यौगिक अर्थ से फलसहित साधनपरक है। इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने 'सहाग्रेण फलेन विद्यते इति समग्रम्' – ऐसी व्युत्पत्ति की है। भाष्यकार शंकराचार्य ने 'सहाग्रेण कर्मफलेन वर्तत इति समग्रम्' -- यह व्युत्पत्ति की है।

53. उत्पत्तिशील की उत्पत्ति में कारणभूत जो उत्पादयिता का मानसिक व्यापार विशेष होता है उसको 'भावना' कहते हैं। भावना दो प्रकार की होती है -- शाब्दी और आर्थी। उत्पादयिता = प्रयोजक के उस व्यापारविशेष को, जो प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करनेवाला होता है, 'शाब्दी भावना' कहते हैं। शाब्दी भावना का बोध 'लिङ्' अंश से होता है, अत: लिङर्थ को 'शाब्दी भावना' कहते हैं। स्वर्गादि प्रयोजन को लक्ष्य करके याग आदि क्रिया को अनुष्ठित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार उत्पन्न होता है उसको 'आर्थी भावना' कहते हैं। आर्थी--भावना का बोध 'धातु' अंश से होता है, अतः धात्वर्थ को 'आर्थी–भावना' कहते हैं। शाब्दी–भावना का कर्म आर्थी भावना होती है और आर्थी भावना का कर्म स्वर्गादि होता है। अत: शाब्दी भावना का कर्म स्वर्गादि होता है किन्तु वह आर्थी भावना से व्यवहित होता है। इसीलिए प्रकृत में 'व्यवहित स्वर्गादि' कहा है।

शब्दवाच्यं साक्षाद्धात्वर्थकर्म, तत्फलं तु स्वर्गादि व्यवहितं भावनाकर्म। एवं धारकत्वेन हविषोऽग्नौ प्रक्षेपे साधकतमतया जुह्वादि करणं प्रकाशकतया मन्त्रादीति करणमपि कारकज्ञापकभेदेन द्विविधम्। एवं त्यागोऽग्नौ प्रक्षेपश्च द्वे क्रिये। तत्राऽऽद्यायां यजमानः कर्ता। प्रक्षेपे तु यजमानपरिक्रीतोऽध्वर्युः प्रक्षेपाधिकरणं चाग्निः। एवं देशकालादिकमप्यधिकरणं सर्वक्रियासाधारणं द्रष्टव्यम्।

62 **तदेवं सर्वेषां क्रियाकारकादिव्यवहाराणां ब्रह्माज्ञानकल्पितानां रज्ज्वज्ञानकल्पितानां सर्पधारादण्डादीनां रज्जुतत्त्वज्ञानेनेव ब्रह्मतत्त्वज्ञानेन बाधे बधितानुवृत्त्या क्रियाकारकादिव्यवहाराभासो दृश्यमानोऽपि दग्धपटन्यायेन न फलाय कल्पत इत्यनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते। ब्रह्मदृष्टिरेव च सर्वयज्ञात्मिकेति स्तूयते।**

63 **तथाहि - अर्प्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽर्पणं जुह्वादि मन्त्रादि च। एवमर्प्यतेऽस्मा इति व्युत्पत्त्याऽर्पणं देवतारूपं संप्रदानम्। एवमर्प्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्याऽर्पणमधिकरणं देशकालादि। तत्सर्वं ब्रह्मणि कल्पितत्वाद्ब्रह्मैव रज्जुकल्पितभुजंगवदधिष्ठानव्यतिरेकेणासदित्यर्थः। एवं हविस्त्यागप्रक्षेपक्रिययोः साक्षात्कर्म कारकं तदपि ब्रह्मैव। एवं यत्र प्रक्षिप्यतेऽग्नौ सोऽपि ब्रह्मैव। ब्रह्माग्नाविति समस्तं पदम्। तथा येन कर्त्रा यजमानेनाध्वर्युणा च त्यज्यते प्रक्षिप्यते च तदुभयमपि**

इसीप्रकार अग्नि में छोड़ते समय हवि को धारण करनेवाले होने से जुहु आदि अत्यन्त साधक होने के कारण 'करण' हैं तथा प्रकाशक होने से मन्त्रादि भी 'करण' ही है -- इसप्रकार 'करण' भी कारक और ज्ञापक भेद से दो प्रकार का है। इसीप्रकार त्याग और अग्नि में प्रक्षेप = छोड़ना ये दो क्रियाएँ हैं इनमें प्रथम क्रिया 'त्याग' का कर्ता तो यजमान है, किन्तु 'प्रक्षेप' में यजमान के द्वारा दक्षिणादि से परिक्रीत अध्वर्यु कर्ता है। तथा प्रक्षेप का 'अधिकरण' अग्नि है। इसीप्रकार देश, कालादि को भी समस्त क्रियाओं का साधारण अधिकरण समझना चाहिए।

62 इसप्रकार, जैसे रज्जु के अज्ञान से कल्पित सर्प, धारा, दण्डादि का रज्जु के तत्त्वज्ञान से बाध हो जाता है वैसे ही ब्रह्म के अज्ञान से कल्पित इन क्रिया, कारकादि समस्त व्यवहारों का ब्रह्मतत्त्वज्ञान से बाध हो जाने पर बाधित अनुवृत्ति से यदि इस क्रिया-कारकादि के व्यवहाराभास की प्रतीति भी होती रहे तो भी यह दग्धपटन्याय[54] से फलदायक नहीं होता -- यही इस श्लोक से प्रतिपादित किया गया है। 'ब्रह्मदृष्टि ही सर्वयज्ञात्मिका है' -- इसप्रकार उसकी स्तुति की जाती है।

63 जैसे कि 'अर्पणम्' = 'अर्प्यतेऽनेनेति' = 'इनके द्वारा अर्पण किया जाता है' -- इस करणव्युत्पत्ति से जुहु आदि और मन्त्रादि 'अर्पण' है। इसीप्रकार 'अर्प्यतेऽस्मा इति' = 'इनके लिए अर्पण किया जाता है' -- इस व्युत्पत्ति से देवतारूप सम्प्रदान 'अर्पण' है। इसीप्रकार 'अर्प्यतेऽस्मिन्निति' = 'इनमें अर्पण किया जाता है' -- इस व्युत्पत्ति से देश-कालादि अधिकरण 'अर्पण' है। ये सब ब्रह्म में कल्पित होने के कारण ब्रह्म ही हैं। रज्जु में कल्पित सर्प के समान अपने अधिष्ठान से पृथक् ये असत् ही हैं -- यह अर्थ है। इसीप्रकार त्याग और प्रक्षेप क्रियाओं का साक्षात् कर्मकारक 'हवि' भी ब्रह्म ही है। इसीप्रकार जिस अग्नि में हवि छोड़ा जाता है वह भी ब्रह्म ही है। 'ब्रह्माग्नौ' -- यह समस्त पद है। इसीप्रकार जिन यजमान और अध्वर्यु कर्ताओं के द्वारा हवि का त्याग और प्रक्षेप किया जाता है वे दोनों कर्ताकारक भी ब्रह्म हैं -- जैसा कि कर्ता में विहित तृतीया के द्वारा अनुवाद करके 'ब्रह्मणा' पद से ब्रह्म का विधान किया गया है। इसीप्रकार 'हुतम्'= हवन अर्थात् त्यागक्रिया और प्रक्षेपक्रिया--

---

54. दग्धपटन्याय = जले हुए वस्त्र का न्याय। यह न्याय किसी वस्तु की निष्प्रयोजनता सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे दग्ध वस्त्र में वस्तु का आकारमात्र प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में उससे वस्त्र का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रकृत में भी ठीक वैसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञान से क्रिया-कारकादि व्यवहार बाधित हो जाते हैं, बाधित हो जाने पर भी वे बाधितानुवृत्ति से आभासरूप में प्रतीत होते रहते हैं, किन्तु वे फलदायक नहीं होते हैं।

कर्तृकारकं कर्तरि विहितया तृतीययाऽनूद्य ब्रह्मेति विधीयते ब्रह्मणेति । एवं हुतमिति हवनं त्यागक्रिया प्रक्षेपक्रिया च तदपि ब्रह्मैव । तथा तेन हवनेन यद्गन्तव्यं स्वर्गादि व्यवहितं कर्म तदपि ब्रह्मैव । अत्रत्य एवकार: सर्वत्र संबध्यते । हुतमित्यत्रापीत एव ब्रह्मेत्यनुषज्यते व्यवधानाभावात्साकाङ्क्षत्वाच्च 'चित्पतिस्त्वा पुनातु' इत्यादावच्छिद्रेणेत्यादिपरवाक्यशेषवत् ।

64 **अनेन रूपेण कर्मणि समाधिर्ब्रह्मज्ञानं यस्य स कर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मविदा कर्मानुष्ठात्राऽपि ब्रह्म परमानन्दाद्वयं गन्तव्यमित्यनुषज्यते साकाङ्क्षत्वादव्यवधानाच्च या ते अग्ने रजाशयेत्यादौ तनूर्वर्षिष्ठेत्यादिपूर्ववाक्यशेषवत् ।**

65 **अथवाऽर्प्यतेऽस्मै फलायेति व्युत्पत्त्याऽर्पणपदेनैव स्वर्गादिफलमपि ग्राह्यम् । तथा च 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' इत्युत्तरार्धं ज्ञानफलकथनायैवेति समञ्जसम् । अस्मिन्पक्षे ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्येकं वा पदम् । पूर्वं ब्रह्मपदं हुतमित्यनेन संबध्यते चरमं गन्तव्यपदेनेति भिन्नं वा पदम् । एवं च नानुषङ्गद्वयक्लेश इति द्रष्टव्यम् । ब्रह्म गन्तव्यमित्यभेदेनैव तत्प्राप्तिरुपचारात् । अत एव न स्वर्गादि तुच्छफलं तेन गन्तव्यं विद्ययाऽऽविद्यककारकव्यवहारोच्छेदात् । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः –**

ये भी ब्रह्म ही हैं । इसीप्रकार उस हवन से जो गन्तव्य है वह स्वर्गादि व्यवहित कर्म भी ब्रह्म ही है । अत्रत्य = यहाँ के = श्लोक के 'एवकार' का सबके साथ सम्बन्ध है । व्यवधान का अभाव और साकांक्ष होने के कारण जैसे 'चित्पतिस्त्वा पुनातु' = 'चित्पति तुमको पवित्र करे' -- इत्यादि वाक्यों में अन्य वाक्यों से 'अच्छिद्रेण' = 'निरन्तर' आदि पद का अध्याहार कर लिया जाता है वैसे ही यहाँ 'हुतम्' -- इस पद के साथ भी इधर से ही = श्लोक से 'ब्रह्म' पद का सम्बन्ध लगा लेना चाहिए ।

64 इस रूप से कर्म में समाधि = ब्रह्मज्ञान है जिसका वह 'कर्मसमाधि' है उस ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठाता के लिए भी परमानन्द अद्वयस्वरूप ब्रह्म ही गन्तव्य है -- इसप्रकार अव्यवधान और साकांक्ष होने के कारण 'ब्रह्मैव गन्तव्यम्' का 'कर्मसमाधिना' के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए, जैसे कि 'या ते अग्ने रजाशया' इत्यादि वाक्य में 'तनूवर्षिष्ठा' इत्यादि पूर्ववाक्य के शेष का अध्याहार कर लिया जाता है ।

65 अथवा, 'अर्प्यतेऽस्मै फलायेति' = 'इस फल के लिए अर्पण किया जाता है' -- इस व्युत्पत्ति से 'अर्पण' पद से ही स्वर्गादि फल भी ग्रहण कर सकते हैं । इसप्रकार 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' यह उत्तरार्ध ज्ञानफल बताने के लिए ही है -- यह कहना ठीक है । इस पक्ष में 'ब्रह्मकर्मसमाधिना' यह या तो एक पद है या इस उत्तरार्ध के पूर्व 'ब्रह्म' पद का 'हुतम्' के साथ सम्बन्ध है और चरम = अन्तिम 'ब्रह्म' पद का 'गन्तव्यम्' के साथ सम्बन्ध है -- इसप्रकार ये भिन्न-भिन्न पद हैं । इसप्रकार दो सम्बन्ध लगाने का कष्ट नहीं होगा -- यह द्रष्टव्य है । 'ब्रह्म गन्तव्य है' -- इसप्रकार भी ब्रह्मप्राप्ति ब्रह्माभेद होने से औपचारिक है[55] । अतएव उसके द्वारा स्वर्गादि तुच्छफल गन्तव्य नहीं है, क्योंकि विद्या से अविद्यक कारक व्यवहार का उच्छेद हो जाता है । वार्तिककार ने कहा है --

---

55. 'ब्रह्म गन्तव्य है' -- इस वाक्य में उक्त ब्रह्मप्राप्ति औपचारिक है, क्योंकि ब्रह्म गन्तव्य ज्ञानी वस्तुतः ब्रह्म ही है ।

'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिः कुतः ॥' इति ।

66 **अर्पणादिकारकस्वरूपानुपमर्देनैव तत्र नामादाविव ब्रह्मदृष्टिः क्षिप्यते संपन्मात्रेण फलविशेषायेति केषांचिद्व्याख्यानं भाष्यकृद्भिरेव निराकृतमुपक्रमादिविरोधाद्ब्रह्मविद्याप्रकरणे संपन्मात्रस्याप्रसक्तत्वादित्यादियुक्तिभिः ॥ 24 ॥**

67 **अधुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञरूपत्वेन स्तावकतया ब्रह्मार्पणमन्त्रे स्थिते पुनरपि तस्य स्तुत्यर्थमितरान्यज्ञानुपन्यस्यति –**

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ 25 ॥

68 **देवा इन्द्राग्न्यादय इज्यन्ते येन स दैवस्तमेव यज्ञं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिरूपमपरे योगिनः कर्मिणः पर्युपासते सर्वदा कुर्वन्ति न ज्ञानयज्ञम् । एवं कर्मयज्ञमुक्त्वाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्फलभूतं ज्ञानयज्ञ-**

''कारक व्यवहार रहते हुए शुद्ध वस्तु का दर्शन नहीं हो सकता और शुद्ध वस्तु का अनुभव होने पर कारकव्यापार कैसे रह सकता है ?''

66 'नामादि में ब्रह्मदृष्टि करने के समान सम्पत्[56] मात्र के द्वारा किसी फलविशेष की प्राप्ति के लिए यहाँ अर्पणादि कारकों के स्वरूप का त्याग किये बिना ही ब्रह्मदृष्टि कही गई है' -- ऐसे किन्हीं के व्याख्यान का निराकरण उपक्रमादि से विरोध, ब्रह्मविद्या के प्रकरण में सम्पत् मात्र का प्रसंग न होना इत्यादि युक्तियों से भगवान् भाष्यकार ने ही कर दिया है ॥ 24 ॥

67 अब, 'ब्रह्मार्पणम्' -- इत्यादि मन्त्र में = पूर्वश्लोक में यज्ञरूप से सम्यग्दर्शन = तत्त्वज्ञान की स्तावकता निश्चित होने पर भी पुन: उसकी स्तुति के लिए दूसरे यज्ञों का उल्लेख करते हैं --

[कोई कर्मयोगी इन्द्रादि देवताओं का यजन करने के लिए दर्शपूर्णमासादि यज्ञों का सर्वदा अनुष्ठान करते हैं और दूसरे ज्ञानयोगी ब्रह्मरूप अग्नि में = तत्पदार्थ में यज्ञ को = त्वंपदार्थ प्रत्यगात्मा को यज्ञरूप से = तत्पदार्थ से -- अभेदरूप से ही हवन करते हैं ॥ 25 ॥]

68 जिसके द्वारा इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं का यजन किया जाता है वह 'दैवयज्ञ' है । कोई योगी = कर्मयोगी उस दर्शपूर्णमास -- ज्योतिष्टोमादिरूप यज्ञ का ही पर्युपासन करते हैं = सर्वदा अनुष्ठान करते हैं, ज्ञानयज्ञ का नहीं । इसप्रकार कर्मयज्ञ को कहकर अन्त:करणशुद्धि द्वारा उसके फलभूत ज्ञानयज्ञ को 'ब्रह्माग्नौ' इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं -- अपरे अर्थात् पूर्वोक्त कर्मयोगियों से भिन्न तत्त्वदर्शननिष्ठ संन्यासी ब्रह्माग्नि में = सत्यज्ञानानन्तानन्दरूप समस्त विशेषों से रहित = निर्विशेष

56. अनुत्तम अधिकरण में उत्तम वस्तु का आरोप 'सम्पत्' कहलाता है । जैसे मनोवृत्ति में विश्वेदेवा का आरोप है (अनन्तं वै मनः अनन्ता विश्वेदेवा' इत्यादि) । प्रकृत में अनुत्तम यज्ञादि में उत्तम ब्रह्मदृष्टि का आरोप 'सम्पत्' है ।

57. अभिप्राय यह है कि 'यज्ञ' शब्द यहाँ 'आत्मा' का वाची है, वस्तुत: स्वात्मा भी परब्रह्म ही है, अत: 'यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति -- वाक्य का अर्थ इसप्रकार होगा --'यज्ञम्' = यज्ञ को = निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप होकर भी जो बुद्ध्यादि उपाधिविशिष्ट होकर सोपाधिक हुआ है वही जीव अपने को, 'यज्ञेनैव' = यज्ञ से ही = अपने द्वारा ही अर्थात् उक्त सर्वधर्मउपाधिविशिष्ट जीव अपने द्वारा ही -- निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप के साथ एकत्वदर्शन द्वारा ही = अपने को निर्विशेषब्रह्म से अनुभव कर, 'ब्रह्माग्नौ उपजुह्वति' = ब्रह्माग्नि में -- अखण्डाद्वय ब्रह्म में आहुति दान करता है अर्थात् अग्नि में जो कुछ आहुति दी जाती है वह जिस प्रकार अग्नि ही बन जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा को ब्रह्माग्नि में आहुति देने से वह जीवत्वभाव का परित्याग कर ब्रह्म ही हो जाता है ।

माह – ब्रह्माग्नौ सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपं निरस्तसमस्तविशेषं ब्रह्म तत्पदार्थस्तस्मिन्नग्नौ यज्ञं प्रत्यगात्मानं त्वंपदार्थं यज्ञेनैव, यज्ञशब्द आत्मनामसु यास्केन पठितः। इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। एवकारो भेदाभेदव्यावृत्त्यर्थः। त्वंपदार्थाभेदेनैवोपजुह्वति तत्स्वरूपतया पश्यन्तीत्यर्थः। अपरे पूर्वविलक्षणास्तत्त्वदर्शननिष्ठाः संन्यासिन इत्यर्थः।

69 **जीवब्रह्माभेददर्शनं यज्ञत्वेन संपाद्य तत्साधनयज्ञमध्ये पठ्यते श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ इत्यादिना स्तोतुम् ॥ 25 ॥**

70 **तदनेन मुख्यगौणौ द्वौ यज्ञौ दर्शितौ यावद्धि किंचिद्वैदिकं श्रेयःसाधनं तत्सर्वं यज्ञत्वेन संपाद्यते। तत्र–**

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ 26 ॥

71 **श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि तानि शब्दादिविषयेभ्यः प्रत्याहृत्यान्ये प्रत्याहारपराः संयमाग्निषु, धारणा ध्यानं समाधिरिति त्रयमेकविषयं संयमशब्देनोच्यते। तथा चाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः – 'त्रयमेकत्र संयम :' इति। तत्र हृत्पुण्डरीकादौ मनसश्चिरकालस्थापनं धारणा। एवमेकत्र धृतस्य चित्तस्य भगवदाकारवृत्तिप्रवाहोऽन्तराऽन्याकारप्रत्ययव्यवहितो ध्यानम्। सर्वथा विजातीय-**

ब्रह्म जो तत्पदार्थ है वही है अग्नि उसमें यज्ञ = प्रत्यगात्मा अर्थात् त्वंपदार्थ को यज्ञरूप से ही = त्वंपदार्थ के अभेद से ही हवन करते हैं अर्थात् तत्स्वरूप से -- ब्रह्मरूप से देखते हैं[57]। यास्क ने 'यज्ञ' शब्द का आत्मा के नामों में उल्लेख किया है। यहाँ 'यज्ञेन' शब्द में 'इत्थंभूतलक्षणे' (पाणिनि सूत्र, 2.3.21) = 'इत्थंभूत = किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में तृतीया विभक्ति होती है' -- सूत्र से तृतीया विभक्ति है[58]। एवकार भेदाभेद की व्यावृत्ति के लिए है।

69 इसप्रकार जीव और ब्रह्म के अभेददर्शन का यज्ञरूप से सम्पादन कर उसकी स्तुति के लिए 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' (गीता, 4.33) इत्यादि श्लोक से उसका उसके साधनभूत यज्ञों में पाठ किया जाता है ॥ 25 ॥

70 इसप्रकार इस श्लोक से यज्ञ के मुख्य और गौण -- ये दो भेद बतलाये। अब जितने भी श्रेयः-- प्राप्ति के वैदिक साधन हैं उन सबका यज्ञरूप से सम्पादन करते हैं। इनमें --
[अन्य योगीजन श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों का संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं और दूसरे योगी शब्दादि विषयों को इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन करते हैं ॥ 26 ॥]

71 अन्य = प्रत्याहारपरायण योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को शब्दादि विषयों से हटाकर संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि -- इन तीनों का एक विषय में होना 'संयम' कहा जाता है। इसीप्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है -- 'त्रयमेकत्र संयमः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 4.4) = 'त्रयम् = धारणा, ध्यान और समाधि -- तीनों का एकत्र = एक विषय में होना 'संयम' कहलाता है'। इनमें, मन को हृदयकमल आदि स्थानों में अधिक देर तक स्थित रखना 'धारणा'

58. शंकरानन्द के अनुसार 'यज्ञेन' शब्द में सहयोग से तृतीया है। उनके अनुसार प्रकृत वाक्य का अर्थ है -- " 'यज्ञम्' = सोपाधिक आत्मा को 'यज्ञेन' = 'यज्ञो वै विष्णुः' -- इस श्रुति के अनुसार सोपाधिक ईश्वर के साथ ही 'उपजुह्वति' = निर्विशेष आत्मा में आहुति देते हैं।"

प्रत्ययानन्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः समाधिः । स तु चित्तभूमिभेदेन द्विविधः संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । चित्तस्य हि पञ्च भूमयो भवन्ति क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति । तत्र रागद्वेषादिवशाद्विषयेष्वभिनिविष्टं क्षिप्तं, तन्द्रादिग्रस्तं मूढं, सर्वदा विषयासक्तमपि कदाचिद्ध्याननिष्ठं क्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तं, तत्र क्षिप्तमूढयोः समाधिशङ्कैव नास्ति । विक्षिप्ते तु चेतसि कादाचित्कः समाधिर्विक्षेपप्राधान्याद्योगपक्षे न वर्तते । किं तु तीव्रपवनविक्षिप्तप्रदीपवत्स्वयमेव नश्यति । एकाग्रं तु एकविषयकधारावाहिकवृत्तिसमर्थं सत्त्वोद्रेकेण तमोगुणकृततन्द्रादिरूपलयाभावादात्मकारा वृत्तिः । सा च रजोगुणकृतचाञ्चल्यरूपविक्षेपाभावादेकविषयैवेति शुद्धे सत्त्वे भवति चित्तमेकाग्रम् । अस्यां भूमौ संप्रज्ञातः समाधिः । तत्र ध्येयाकारा वृत्तिरपि भासते । तस्या अपि निरोधे निरुद्धं चित्तमसंप्रज्ञातसमाधिभूमिः । तदुक्तम् "तस्या अपि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिः" इति । अयमेव सर्वतो विरक्तस्य समाधि-

है । इसप्रकार एक स्थान पर स्थित चित्त का बीच-बीच में अन्य-अन्य प्रकार के ज्ञानों से व्यवहित जो भगवदाकारवृत्ति का प्रवाह है वह 'ध्यान' है । विजातीय प्रत्यय के व्यवधान से सर्वथा शून्य जो सजातीयप्रत्ययप्रवाह है उसको 'समाधि' कहते हैं । वह समाधि चित्त की भूमिकाओं के भेद से दो प्रकार की होती है -- संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात । चित्त की पाँच भूमियाँ हैं -- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । इनमें, जो चित्त राग-द्वेषादि के कारण विषयों में अभिनिविष्ट = लिप्त रहता है वह 'क्षिप्त' है, जो तन्द्रादि से ग्रस्त है वह 'मूढ़' कहलाता है, तथा जो सर्वदा विषयासक्त होने पर भी कदाचित् ध्याननिष्ठ हो जाता है वह क्षिप्त से विशिष्ट होने के कारण 'विक्षिप्त' कहलाता है । इनमें, क्षिप्त और मूढ़ चित्तों में तो समाधि की सम्भावना ही नहीं है । विक्षिप्त चित्त में तो कदाचित् समाधि होती है, वह विक्षेप की प्रधानता के कारण योगपक्ष में नहीं रहती, किन्तु तीव्र पवन से विक्षिप्त = चञ्चल हुए दीपक के समान स्वयं ही नष्ट हो जाती है । एकाग्र चित्त तो एक विषयसम्बन्धी धारावाहिक वृत्ति में समर्थ होता है । उसमें सत्त्व के उद्रेक के कारण तमोगुणकृत तन्द्रादिरूप लय का अभाव रहने से आत्माकार वृत्ति रहती है । वह वृत्ति रजोगुणकृत चाञ्चल्यरूप विक्षेप का अभाव रहने के कारण एक विषयसम्बन्धी ही होती है, अतः इस शुद्ध सत्त्व की अवस्था में चित्त एकाग्र हो जाता है । इस चित्तभूमि में संप्रज्ञात समाधि होती है । उसमें ध्येयाकारा वृत्ति का भी भान रहता है । उस वृत्ति का भी निरोध हो जाने पर निरुद्ध चित्त की असंप्रज्ञात समाधि भूमि होती है । ऐसा ही कहा भी है -- 'तस्या अपि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (पातञ्जलयोग -- सूत्र, 1.51) = 'पर-वैराग्यद्वारा ऋतम्भरा-प्रज्ञाजन्य संस्कार का भी निरोध हो जाने पर पुरातन--नूतन सब संस्कारों का निरोध हो जाने से 'निर्बीज-समाधि' होती है' । सर्वतः विरक्त समाधिफलरूप सुख की भी अपेक्षा न रखनेवाले योगी की यह निर्बीज-समाधि ही दृढ़भूमि होने पर 'धर्ममेघ[59] कही जाती है । कहा भी है-- 'प्रसंख्यानेऽप्य-

59. अति उत्तम पुण्य-पाप से रहित परम पुरुषार्थ के साधक धर्म की जो वर्षा करता है वह 'धर्ममेघ' कहलाता है (प्रकृष्टमशुक्लकृष्णं धर्मं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः – भोजवृत्ति) । विवेकख्याति की परिपक्व अर्थात् निरन्तर रहने वाली अवस्था 'धर्ममेघ-समाधि' है । इसकी पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद – नामक पर-वैराग्य है । जिसका फल असंप्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि है ।

60. जितने तत्त्व परस्पर विलक्षण स्वरूपवाले हैं, उनका यथाक्रम विचार करना 'प्रसंख्यान' कहलाता है (प्रसंख्यानं यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्परविलक्षणस्वरूपविभावनम् – भोजवृत्ति) । इसी को 'पुरुष-प्रकृति-विवेक-ज्ञान' भी कहते हैं । सम्प्रज्ञात समाधि की सबसे ऊँची अवस्था विवेकख्याति = प्रसंख्यान है ।

फलमपि सुखमनपेक्षमाणस्य योगिनो दृढभूमिः सन्धर्ममेघ इत्युच्यते । तदुक्तम् – "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः, ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः" इति। अनेकरूपेण संयमानां भेदादग्निष्विति बहुवचनम् । तेषु इन्द्रियाणि जुह्वति धारणाध्यान-समाधिसिद्ध्यर्थं सर्वाणीन्द्रियाणि स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरन्तीत्यर्थः । तदुक्तम् -- "स्वस्व-विषयासंप्रयोगे चित्तरूपानुकार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" इति । विषयेभ्यो निगृहीतानीन्द्रियाणि चित्तरूपाण्येव भवन्ति । ततश्च विक्षेपाभावाच्चित्तं धारणादिकं निर्वहतीत्यर्थः । तदनेन प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपं योगाङ्गचतुष्टयमुक्तम् । तदेवं समाध्यवस्थायां सर्वेन्द्रियवृत्तिनिरोधो यज्ञत्वेनोक्तः ।

72 **इदानीं व्युत्थानावस्थायां रागद्वेषराहित्येन विषयभोगो यः सोऽप्यपरो यज्ञ इत्याह – शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति अन्ये व्युत्थितावस्थाः श्रोत्रादिभिरविरुद्धविषयग्रहणं स्पृहाशून्यत्वेनान्यसाधारणं कुर्वन्ति । स एव तेषां होमः ॥ 26 ॥**

कुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः, ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 4.29-30) = 'जो योगी प्रसंख्यान[60] – ज्ञान से भी विरक्त है उसको सर्वथा = निरन्तर विवेकख्याति का उदय होने से 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है, उस धर्ममेघ समाधि से उसके क्लेश और कर्मों की निवृत्ति हो जाती है ।' अनेकरूप से संयमों के भेद होने के कारण 'अग्निषु' -- इस पद में बहुवचन प्रयुक्त हुआ है[61]। उन संयमरूप अग्नियों में इन्द्रियों का हवन करते हैं अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिए समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से खींच लेते हैं । कहा भी है -- 'स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तरूपानुकार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 2.54) = 'इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना 'प्रत्याहार' है' । विषयों से निगृहीत = खींची हुई इन्द्रियाँ चित्तरूप ही हो जाती है । इससे विक्षेप का अभाव हो जाने के कारण चित्त धारणा, ध्यान और समाधि को धारण करता है -- यह अर्थ है । इसप्रकार इस श्लोकार्ध से प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप योग के चार अङ्ग कहे गए हैं । अतः इसप्रकार यहाँ समाधि-अवस्था में समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध ही यज्ञरूप से कहा गया है ।

72 अब, 'व्युत्थान अवस्था में जो राग-द्वेष से रहित विषयभोग है वह भी एक-दूसरा यज्ञ है' -- यह 'शब्दादीन्' इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं --'शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति' = 'दूसरे योगी शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन करते हैं' अर्थात् अन्य = दूसरे व्युत्थित अवस्थावाले योगी श्रोत्रादि इन्द्रियों से योगाविरुद्ध विषयों को ग्रहण कर स्पृहा--तृष्णाशून्य होकर अन्य साधारण विषयों को ग्रहण करते हैं -- यही उनका होम है ।। 26 ।।

---

61. आचार्य धनपति ने प्रकृत श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ किया है – 'दूसरे प्रत्याहारपरायण योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों का संयमन ही करते हैं' । वे कहते हैं कि मधुसूदन सरस्वती ने यह जो अर्थ किया है कि 'दूसरे प्रत्याहारपरायण योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का धारणा, ध्यान और समाधि – भेद से अनेकविध संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं ' – वह चिन्त्य है, क्योंकि प्रकृत में प्रत्याहाररूप अग्नियों में श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का होम विवक्षित है, अन्यथा श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के होम का अधिकरण ही अप्राप्त होगा, कारण कि ध्यानादि तो मनोहोम के अधिकरण हैं । इससे प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिरूप योगाङ्गचतुष्टय भी यहाँ अविवक्षित सिद्ध होता है ।

73 तदेवं पातञ्जलमतानुसारेण लयपूर्वकं समाधिं ततो व्युत्थानं च यज्ञद्वयमुक्त्वा ब्रह्मवादिमतानुसारेण बाधपूर्वकं समाधिं कारणोच्छेदेन व्युत्थानशून्यं सर्वफलभूतं यज्ञान्तरमाह --

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ 27 ॥

74 द्विविधो हि समाधिर्भवति लयपूर्वको बाधपूर्वकश्च । तत्र "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० 2.1.14) इति न्यायेन कारणव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्त्वात्पञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यं व्यष्टिरूपं समष्टिरूपविराट्कार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तथा समष्टिरूपमपि पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकं कार्यमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तत्रापि पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यपञ्चगुणा गन्धेतरचतुर्गुणापकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । ताश्चतुर्गुणा आपो गन्धरसेतरत्रिगुणात्मकतेजःकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण न सन्ति । तदपि त्रिगुणात्मकं तेजो गन्धरसरूपेतरद्विगुणवायुकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । सोऽपि द्विगुणात्मको वायुः शब्दमात्रगुणाकाशकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । स च शब्दगुण आकाशो बहु स्यामिति परमेश्वरसंकल्पात्मकाहंकारकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । सोऽपि संकल्पात्मकोऽहंकारो मायेक्षणरूपमहत्तत्त्वकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तदपीक्षणरूपं महत्तत्त्वं मायापरिणामत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तदपि मायाख्यं कारणं जडत्वेन चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्तीत्यनु-

---

73 इसप्रकार पातञ्जलमतानुसार लयपूर्वक समाधि और उससे व्युत्थान -- इन दो यज्ञों को कहकर अब ब्रह्मवादिमतानुसार बाधपूर्वक समाधि को जो कारण का उच्छेद हो जाने से व्युत्थानशून्य है और सर्वफलभूत है, एक अन्य यज्ञ कहते हैं :--

[दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों का और प्राणों के कर्मों का ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्नि में हवन करते हैं ॥ 27 ॥]

74 समाधि दो प्रकार की होती है -- लयपूर्वक और बाधपूर्वक। उसमें, "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्रह्मसूत्र, 2.1.14) " = 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा- उ०, 6.1.1) -- इस श्रुति के वाचारम्भण आदि शब्दों के कारण घटादि विकार = कार्य केवल नाममात्र ही हैं, वस्तुतः मृत्तिका = कारण ही सत्य है", -- इस न्याय से कारण के अतिरिक्त कार्य की सत्ता ही नहीं है, अतएव पञ्चीकृत पञ्चभूतों का व्यष्टिरूप कार्य समष्टिरूप विराट् का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है तथा समष्टिरूप पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक कार्य भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है। उसमें भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- इन पाँच गुणोंवाली पृथ्वी, गन्ध के अतिरिक्त चार गुणों वाले जल का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है; वह चार गुणोंवाला जल, गन्ध और रस के अतिरिक्त शेष तीन गुणोंवाले तेज का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है; वह तीन गुणोंवाला तेज भी, गन्ध, रस और रूप के अतिरिक्त शेष दो गुणों वाले वायु का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है; तथा वह दो गुणोंवाला वायु भी, केवल शब्दमात्र गुण वाले आकाश का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है। वह शब्दगुणवाला आकाश भी, 'मैं बहुत हो जाऊँ' -- ऐसे परमेश्वर संकल्परूप अहंकार का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है। वह परमेश्वर का संकल्परूप अंहकार भी, माया के ईक्षणरूप महत्तत्व का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है। वह ईक्षणरूप महत्तत्व भी, माया का

संधानेन विद्यमानेऽपि कार्यकारणात्मके प्रपञ्चे चैतन्यमात्रगोचरो यः समाधिः स लयपूर्वक उच्यते । तत्र तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यार्थज्ञानाभावेनाविद्यातत्कार्यस्याक्षीणत्वात् । एवं चिन्तनेऽपि कारणसत्त्वेन पुनः कृत्स्नप्रपञ्चोत्थानादयं सुषुप्तिवत्सबीजः समाधिर्न मुख्यः । मुख्यस्तु तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थसाक्षात्कारेणाविद्याया निवृत्तौ सर्गक्रमेण तत्कार्यनिवृत्तेरनाद्य-विद्यायाश्च पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यस्यापि पुनरुत्थानाभावान्निर्बीजो बाधपूर्वकः समाधिः । स ऐवानेन श्लोकेन प्रदर्श्यते ।

75 तथाहि—सर्वाणि निखिलानि स्थूलरूपाणि संस्काररूपाणि चेन्द्रियकर्माणीन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानां पञ्चानां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानां च पञ्चानां बाह्यानामान्तरयोश्च मनोबुद्ध्योः कर्माणि शब्दश्रवणस्पर्शग्रहणरूपदर्शनरसग्रहणगन्धग्रहणानि वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यानि च संकल्पाध्यवसायौ च । एवं प्राणकर्माणि च प्राणानां प्राणापानव्यानोदानसमानाख्यानां पञ्चानां कर्माणि बहिर्नयनमधोनयनमाकुञ्चनप्रसारणादि अशितपीतसमनयनमूर्ध्वनयनमित्यादीनि । अनेन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च प्राणा मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशात्मकं लिङ्गमुक्तम् । तच्च सूक्ष्मभूतसमष्टिरूपं हिरण्यगर्भाख्यमिह विवक्षित-

---

परिणाम होने से उससे अतिरिक्त नहीं है । वह माया संज्ञक कारण भी, जड़ होने से चैतन्य में अध्यस्त होने के कारण उससे अतिरिक्त नहीं है । इसप्रकार के अनुसंधान से कार्य-कारणरूप प्रपञ्च के विद्यमान रहने पर भी चैतन्यमात्रगोचर जो समाधि होती है, वह 'लयपूर्वक' कही जाती है, क्योंकि इसमें 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त के महावाक्यों के अर्थ का ज्ञान न होने के कारण अविद्या और उसका कार्य क्षीण नहीं होता । इसप्रकार चिन्तन करने पर भी कारण की सत्ता रहने से पुनः सम्पूर्ण प्रपञ्च का आविर्भाव हो सकने के कारण यह सुषुप्ति के समान 'सबीज-समाधि' होती है, यह मुख्य समाधि नहीं है । मुख्य समाधि तो वह है जो 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का साक्षात्कार होने से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर सर्गक्रमसहित उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने से अनादि अविद्या का पुनः उत्थान न होने के कारण उसके कार्य का भी पुनः उत्थान न होने से 'बाधपूर्वक' निर्बीज-समाधि होती है । उसी को इस श्लोक से दिखलाते हैं ।

75 सर्वाणि = सम्पूर्ण अर्थात् सब स्थूलरूप और संस्काररूप इन्द्रियकर्मों को = श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण-नामक पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ-नामक पाँच कर्मेन्द्रिय -- इन दस बाह्य इन्द्रियों के; तथा, मन और बुद्धि -- इन आन्तर इन्द्रियों के--क्रमशः शब्दश्रवण, स्पर्शग्रहण, रूपदर्शन, रसग्रहण, गन्धग्रहण और वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द; तथा संकल्प और अध्यवास -- इन कर्मों को । और इसीप्रकार प्राणकर्मों को = प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक पाँच प्राणों के -- क्रमशः बहिर्नयन, अधोनयन, आकुञ्चन-प्रसारणादि, अशित-पीत का समनयन और ऊर्ध्वनयन इत्यादि कर्मों को । इससे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि -- इन सत्तरह अवयवोंवाले 'लिङ्गशरीर' को कहा गया है । यहाँ वह सूक्ष्मभूतों का समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही विवक्षित है -- यह बतलाने के लिए 'सर्वाणि' -- यह विशेषण दिया है । आत्मसंयमयोगाग्नि में = आत्मविषयक धारणा, ध्यान और समाधिरूप संयम उसका परिपाक होने पर निरोधसमाधिरूप योग; -- जिसको पतञ्जलि ने इसप्रकार सूत्रबद्ध किया है -- 'व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचितान्वयो

मिति वदितुं सर्वाणीति विशेषणम् । आत्मसंयमयोगाग्नौ, आत्मविषयकः संयमो धारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिरूपस्तत्परिपाके सति योगो निरोधसमाधिः । यं पतञ्जलिः सूत्रयामास -- " व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः" इति । व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं तत्संस्काराः समाधिविरोधिनस्ते योगिप्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते । तद्विरोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति । ततश्च निरोधमात्रक्षणेन चित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति । तस्य फलमाह -- "ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्" इति । तमोरजसोः क्षयाल्लयविक्षेपशून्यत्वेन शुद्धसत्त्वरूपं चित्तं प्रशान्तमित्युच्यते । पूर्वपूर्वप्रशमसंस्कारपाटवेन तदाधिक्यं प्रशान्तवाहितेति । तत्कारणं च सूत्रयामास -- "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" इति । विरामो वृत्त्युपरमस्तस्य प्रत्ययः कारण वृत्त्युपरमार्थः पुरुषप्रयत्नस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन संपादनं तत्पूर्वकस्तज्जन्योऽन्यः संप्रज्ञाताद्विलक्षणोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः । एतादृशो य आत्मसंयमयोगः स एवाग्निस्तस्मिञ्ज्ञानदीपिते ज्ञानं वेदान्तवाक्यजन्यो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारस्तेनाविद्यातत्कार्यनाशद्वारा दीपितेऽत्यन्तोज्ज्वलिते बाधपूर्वके समाधौ समष्टिलिङ्गशरीरमपरे जुह्वति प्रविलापयन्तीत्यर्थः । अत्र च सर्वाणीति आत्मेति ज्ञानदीपित इति विशेषणैरग्नावित्येकवचनेन च पूर्ववैलक्षण्यं सूचितमिति न पौनरुक्त्यम् ॥ 27 ॥

निरोधपरिणामः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 3.9) = 'व्युत्थान के संस्कार का अभिभव और निरोध के संस्कार का प्रादुर्भाव -- यह जो निरोधकाल में होनेवाले चित्त का दोनों संस्कारों में अन्वय-अनुगत-सम्बन्ध होना है वह 'निरोधपरिणाम' कहा जाता है' । क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त -- इन तीन पूर्वोक्त भूमिकाओं को 'व्युत्थान' कहते हैं, उसके संस्कार समाधिविरोधी होते हैं अतएव योगी प्रयत्न से उनका प्रतिदिन और प्रतिक्षण पराभव करता रहता है । इससे उनके विरोधी निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव होता है । तब निरोधमात्र क्षण से जो चित्त का अन्वय होता है वही उसका 'निरोधपरिणाम' कहा जाता है । उसके फल को कहते हैं -- 'ततः[62] प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (पातञ्जलयोगसूत्र, 3.10) = 'निरोधसंस्कार से चित्त की शान्त प्रवाहवाली गति होती है' । तमोगुण और रजोगुण का क्षय हो जाने से लय और विक्षेप से शून्य हो जाने के कारण शुद्धसत्त्वरूप चित्त 'प्रशान्त' कहा जाता है । पूर्व--पूर्व प्रशमसंस्कार की पटुता से उसका अधिक होना ही 'प्रशान्तवाहिता' है । उसके कारण को इसप्रकार सूत्रबद्ध किया है -- 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 1.18) = 'सब वृत्तियों के निरोध का कारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्यास से जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असंप्रज्ञात-समाधि है' । विराम = वृत्तियों का उपरम-निरोध, उसका प्रत्यय = कारण जो वृत्तियों के उपरम-निरोध के लिए पुरुष प्रयत्न ही है, उसका अभ्यास = पुनः-पुनः संपादन करना, उसके द्वारा उससे जन्य योग अन्य = संप्रज्ञात से विलक्षण अर्थात् असंप्रज्ञात है । ऐसा जो आत्मसंयमयोग है वही है अग्नि, ज्ञान से प्रकाशित उस अग्नि में = ज्ञान जो वेदान्तवाक्यों से जन्य ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्काररूप है, उससे अविद्या और उसके कार्य के नाश द्वारा दीपित = अत्यन्त उज्ज्वलित उस अग्नि में अर्थात् बाधपूर्वक समाधि में अन्य योगी समष्टि लिङ्गशरीर का हवन करते हैं अर्थात् उसको उसमें लीन कर देते हैं । यहाँ 'सर्वाणि, आत्मा, ज्ञानदीपिते' -- इन विशेषणों से और 'अग्नौ' -- ऐसा एकवचन होने से पूर्वश्लोक से वैलक्षण्य सूचित हुआ है, अतः यह पुनरुक्ति नहीं है ।। 27 ।।

62. पातञ्जलयोगसूत्र में 'ततः' के स्थान पर 'तस्य' पाठ है ।

76 एवं त्रिभिः श्लोकैः पञ्च यज्ञानुक्त्वाऽधुनैकेन श्लोकेन षड्यज्ञानाह –

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ 28 ॥

77 द्रव्यत्याग एव यथाशास्त्रं यज्ञो येषां ते द्रव्ययज्ञाः पूर्तदत्ताख्यस्मार्तकर्मपराः । तथा च स्मृतिः --

"वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥
शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् ।
बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥" इति ।

इष्टाख्यं श्रौतं कर्म तु दैवमेवापरे यज्ञमित्यत्रोक्तम् । अन्तर्वेदि दानमपि तत्रैवान्तर्भूतम् । तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञास्तपस्विनः ।

78 तथा योगश्चित्तवृत्तिनिरोधोऽष्टाङ्गो यज्ञो येषां ते योगयज्ञा यमनियमासनादियोगाङ्गानुष्ठानपराः । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो हि योगस्याष्टावङ्गानि । तत्र प्रत्याहारः श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्य इत्यत्रोक्तः । धारणाध्यानसमाधय आत्मसंयमयोगाग्नावित्यत्रोक्ताः । प्राणायामोऽपाने जुह्वति प्राणमित्यन्तरश्लोके वक्ष्यते । यमनियमासनान्यत्रोच्यन्ते । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः पञ्च । शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः पञ्च । स्थिरसुखमासनं पद्मकस्वस्तिकाद्यनेकविधम् ।

---

76 इसप्रकार तीन श्लोकों से पाँच यज्ञों को कहकर अब एक श्लोक से छः यज्ञों को कहते हैं :-- [कोई योगी द्रव्ययज्ञ करते हैं, कोई तप ही रूप यज्ञ करते हैं तथा दूसरे योग ही रूप यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं । कोई स्वाध्यायरूप यज्ञ करते हैं, कोई ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं और कोई यत्नशील पुरुष तीव्रव्रतों का आचरण करते हैं ॥ 28 ॥]

77 शास्त्र के अनुसार द्रव्यत्याग ही है यज्ञ जिनका वे 'द्रव्ययज्ञ' कहलाते हैं अर्थात् वे पूर्त -- दत्तसंज्ञक स्मार्त कर्म करनेवाले हैं । यहाँ ऐसी स्मृति है --

"बावड़ी, कूआँ, तडागादि और देवमन्दिर बनवाना; अन्नदान करना और बगीचा लगवाना -- ये 'पूर्त' कर्म कहे जाते हैं । शरणागतों की रक्षा करना, प्राणियों की हिंसा न करना, और जो यज्ञवेदी से बाहर दान किया जाय -- ये 'दत्त' कर्म कहे जाते हैं ।"

इष्टाख्य श्रौत कर्म तो 'दैवमेवापरे यज्ञम्' (गीता, 4.25) -- इत्यादि में कहा गया है । अन्तर्वेदि = वेदी के भीतर किये जानेवाला दान भी दैवयज्ञ के ही अन्तर्गत है तथा कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तप ही यज्ञ है जिनका वे तपस्वी तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं ।

78 इसी प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोधरूप अष्टाङ्गयोग ही है यज्ञ जिनका वे योगयज्ञ अर्थात् यम, नियम, आसनादि योग के अङ्गों का अनुष्ठान करनेवाले हैं । यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि -- ये योग के आठ अङ्ग हैं । इनमें, 'प्रत्याहार' 'श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्ये' (गीता, 4.26) -- इत्यादि स्थान पर कह दिया है । 'धारणा, ध्यान और समाधि '-- ये तीनों अङ्ग 'आत्मसंयमयोगाग्नौ' इत्यादि में कहे गये हैं । 'प्राणायाम' को 'अपाने जुह्वति प्राणम्'-- इस समनन्तर श्लोक में कहेंगे । यहाँ यम, नियम और आसन -- इन तीन अङ्गों को कहते हैं । अहिंसा, सत्य,

79 अशास्त्रीयः प्राणिवधो हिंसा । सा च कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिविधा । एवमयथार्थभाषणमवध्यहिंसानुबन्धि यथार्थभाषणं चानृतम् । स्तेयमशास्त्रीयमार्गेण परद्रव्यस्वीकरणम् । अशास्त्रीयः स्त्रीपुंसव्यतिकरो मैथुनम् । शास्त्रानिषिद्धमार्गेण देहयात्रानिर्वाहकाधिकभोगसाधनस्वीकारः परिग्रहः । एतन्निवृत्तिलक्षणा उपरमा यमाः । 'यम उपरमे' इति स्मरणात् ।

80 तथा शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च । मृज्जलादिभिः कायादिक्षालनं हितमितमेध्याशनादि च बाह्यं, मैत्रीमुदितादिभिर्मदमानादिचित्तमलक्षालनमान्तरं, संतोषो विद्यमानभोगोपकरणादधिकस्यानुपादित्सारूपा चित्तवृत्तिः । तपः क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिद्वंद्वसहनं काष्ठमौनाकारमौनादिव्रतानि च । इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनं काष्ठमौनमवचनमात्रमाकारमौनमिति भेदः । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतयाऽर्पणम् । एते विधिरूपा नियमाः । पुराणेषु येऽधिका उक्तास्त एष्वेव यमनियमेष्वन्तर्भाव्याः । एतादृशयमनियमाद्यभ्यासपरा योगयज्ञाः । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यथाविधि वेदाभ्यासपराः स्वाध्याययज्ञाः । न्यायेन वेदार्थनिश्चयपरा ज्ञानयज्ञाः ।

अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह -- ये पाँच 'यम' हैं । शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान -- ये पाँच 'नियम' हैं । जो स्थिर और सुखदायी हो वह 'आसन' है, यह पद्म -- स्वस्तिकादि भेद से अनेक प्रकार का होता है ।

79 अशास्त्रीय प्राणिवध 'हिंसा' है । वह कृत =की हुई, कारित = करायी हुई और अनुमोदित = अनुमोदन की हुई भेद से तीन प्रकार की है । इसीप्रकार अयथार्थ भाषण और जिसका परिणाम किसी अवध्य प्राणी की हिंसा हो वह यथार्थभाषण 'असत्य' हैं । अशास्त्रीय मार्ग से दूसरे के धन को ले लेना 'स्तेय' है । अशास्त्रीय स्त्री - पुरुषसंयोग 'मैथुन'है । शास्त्रप्रतिषिद्ध मार्ग से देहयात्रा के निर्वाहक अधिक भोगसाधनों का संग्रह करना 'परिग्रह' है । इन सबसे निवृत्तिरूप उपरम 'यम'हैं, क्योंकि 'यम उपरमे' = 'यम' धातु 'उपरम होना' अर्थ में है -- ऐसा व्याकरणशास्त्र कहता है ।

80 इसी प्रकार 'शौच'दो प्रकार का होता है -- बाह्य और आभ्यन्तर । मिट्टी, जलादि से शरीरादि को शुद्ध करना तथा हितकारी, परिमित और मेध्य= पवित्र भोजन करना आदि 'बाह्य' शौच है ;एवं मित्रता, मुदिता आदि से मद-मान आदि चित्त के मलों को धोना 'आन्तर' शौच है । अपने पास विद्यमान भोग के साधन से अधिक प्राप्त करने की इच्छा न होना रूप जो चित्तवृत्ति होती है उसको 'संतोष' कहते हैं । भूख - प्यास, सर्दी - गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करना तथा काष्ठमौन, आकारमौन आदि व्रत 'तप'हैं । संकेत से भी अपने अभिप्राय को प्रकट न करना 'काष्ठमौन' है और केवल न बोलना 'आकारमौन'है -- यह इन दोनों का भेद है । मोक्षशास्त्रों का अध्ययन अथवा प्रणवजप 'स्वाध्याय'कहलाता है । फल की अपेक्षा न करते हुए अपने समस्त कर्मों को उस परमगुरु - ईश्वर को समर्पण करना 'ईश्वर प्रणिधान'कहा जाता है । ये विधिरूप 'नियम'हैं । पुराणों में जो अधिक यम - नियम कहे गये हैं उनका इन्हीं यम - नियमों में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए । जो इस प्रकार के यम - नियमादि के अभ्यास में लगे हुए हैं वे 'योगयज्ञ' कहे जाते हैं । स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ = जो विधिपूर्वक वेदाभ्यास में रत रहते हैं वे 'स्वाध्याययज्ञ' कहलाते हैं और जो न्यायपूर्वक अर्थात् युक्ति और विचारपूर्वक वेद के तात्पर्य का निश्चय करने में तत्पर रहते हैं वे 'ज्ञानयज्ञ' कहे जाते हैं ।

81 यज्ञान्तरमाह--यतयो यत्नशीलाः संशितव्रताः सम्यक्शितानि तीक्ष्णीकृतान्यतिदृढानि व्रतानि येषां ते संशितव्रता व्रतयज्ञा इत्यर्थः । तथा च भगवान्पतञ्जलिः -- "ते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" इति । ये पूर्वमहिंसाद्याः पञ्च यमा उक्तास्त एव जात्याद्यनवच्छेदेन दृढभूमयो महाव्रतशब्दवाच्याः । तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना यथा मृगयोर्मृगातिरिक्तान्न हनिष्यामीति । देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति सैव कालावच्छिन्ना यथा न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनीति । सैव प्रयोजनविशेषरूपसमयावच्छिन्ना यथा क्षत्रियस्य देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण न हनिष्यामि युद्धं विना न हनिष्यामीति च । एवं विवाहादिप्रयोजनव्यतिरेकेणानृतं न वदिष्यामीति एवमापत्कालव्यतिरेकेणक्षुद्भयाद्यतिरिक्तस्तेयं न करिष्यामीति एवमृतुव्यतिरिक्तकाले पत्नीं न गमिष्यामीति एवं गुर्वादि प्रयोजनमन्तरेण न परिग्रहीष्यामीति यथायोग्यमवच्छेदो द्रष्टव्यः । एतादृगवच्छेदपरिहारेण यदा सर्वजातिसर्वदेशसर्वकालसर्वप्रयोजनेषु भवाः सार्वभौमा अहिंसादयो भवन्ति महता प्रयत्नेन परिपाल्यमानत्वात्, तदा ते महाव्रतशब्देनोच्यन्ते । एवं काष्ठमौनादिव्रतमपि द्रष्टव्यम् । एतादृशव्रतदार्ढ्ये च कामक्रोधलोभमोहानां चतुर्णामपि नरकद्वारभूतानां निवृत्तिः ।

81 एक और यज्ञ कहते हैं -- यति अर्थात् यत्नशील संशितव्रत = सम्यक् - प्रकार से शिततीक्ष्ण किये हुए अर्थात् अत्यन्त दृढ़ किये हुए हैं व्रत जिनके वे 'संशितव्रत' अर्थात् व्रतरूप यज्ञ करनवाले होते हैं । इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है -- 'ते[63] जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (पातञ्जलयोगसूत्र, 2-31) = 'जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सर्वभूमियों में पालन करने योग्य यम 'महाव्रत' कहलाते हैं'। पहले जो अहिंसा आदि पाँच यम कहे गये हैं वे ही जाति आदि के अवच्छेद से रहित होने के कारण दृढ़भूमिवाले होने से 'महाव्रत' शब्द से कहे जाते हैं । इनमें, जाति से अवच्छिन्न अहिंसा है, जैसे -- शिकारी कहता है कि 'मैं मृग के अतिरिक्त किसी और जीव को नहीं मारूँगा' । देश से अवच्छिन्न अहिंसा है कि 'मैं तीर्थस्थान पर वध नहीं करूँगा'। वही कालावच्छिन्न होती है, जैसे -- 'मैं चतुर्दशी या पुण्यतिथि को नहीं मारूँगा' । वही प्रयोजनविशेषरूप समय - अनुबंध से भी अवच्छिन्न होती है, जैसे -- कोई क्षत्रिय कहता है कि 'मैं देवता और ब्राह्मणों के प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से हिंसा नहीं करूँगा' अथवा 'युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से हिंसा नहीं करूँगा'। इसी प्रकार 'विवाह आदि प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से असत्य नहीं 'बोलूँगा' ; एवं 'आपत्काल और भूख के भय आदि के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से चोरी नहीं करूँगा' ; एवं 'ऋतुकाल के अतिरिक्त भार्यागमन नहीं करूँगा' ;एवं 'गुरू आदि के प्रयोजन के बिना अन्य किसी उद्देश्य से परिग्रह नहीं करूँगा' इत्यादि प्रकार से सत्यादि का भी यथायोग्य अवच्छेद समझ लेना चाहिए । इस प्रकार के अवच्छेद के परिहार से ये अहिंसा आदि अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक पालन किये जाने के कारण जब सर्वजाति, सर्वदेश, सर्वकाल और सर्वप्रयोजनों में रहते हुए सार्वभौम रहते हैं, तो ये 'महाव्रत' शब्द से कहे जाते हैं । इसी प्रकार काष्ठमौन आदि व्रतों को भी समझना चाहिए । इस प्रकार के व्रतों की दृढ़ता हो जाने पर नरक के द्वारभूत काम, क्रोध, लोभ और मोह - इन चारों की भी निवृत्ति हो जाती है । इनमें अहिंसारूप क्षमा से क्रोध की, ब्रह्मचर्यरूप वस्तुविचार से काम की, अस्तेय और अपरिग्रहरूप संतोष से लोभ की तथा सत्य अर्थात् यथार्थ ज्ञानरूप विवेक से मोह और मोह जिनका मूल है उन सबकी निवृत्ति हो जाती है -- ऐसा समझना चाहिए । इनसे अन्य फल सकाम पुरुषों के लिए योगशास्त्र में कहे गए हैं ।।28।।

63. पातञ्जलयोगसूत्र में 'ते' -- यह पाठ ही नहीं है ।

तत्राहिंसया क्षमया क्रोधस्य, ब्रह्मचर्येण वस्तुविचारेण कामस्य, अस्तेयापरिग्रहरूपेण संतोषेण लोभस्य, सत्येन यथार्थज्ञानरूपेण विवेकेन मोहस्य, तन्मूलानां च सर्वेषां निवृत्तिरिति द्रष्टव्यम् । इतराणि च फलानि सकामानां योगशास्त्रे कथितानि ॥ 28 ॥

82 **प्राणायामयज्ञमाह सार्धेन –**

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ 29 ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

83 **अपानेऽपानवृत्तौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति प्राणवृत्तिं बाह्यवायोः शरीराभ्यन्तरप्रवेशेन पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । प्राणे अपानं तथाऽपरे जुह्वति शारीरवायोर्बहिर्निर्गमनेन रेचकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थ : । पूरकरेचककथनेन च तदविनाभूतो द्विविधः कुम्भकोऽपि कथित एव । यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरं श्वासप्रश्वासनिरोधः क्रियमाणोऽन्तःकुम्भकः । यथाशक्ति सर्वं वायुं विरिच्यानन्तरं क्रियमाणो बहिष्कुम्भकः ।**

84 **एतत्प्राणायामत्रयानुवादपूर्वकं चतुर्थं कुम्भकमाह – प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यामान्तरस्य वायोर्बहिर्निर्गमः श्वासः प्राणस्य गतिः । बहिर्निर्गतस्यान्तःप्रवेशः प्रश्वासोऽपानस्य गतिः । तत्र पूरके प्राणगतिनिरोधः । रेचकेऽपानगतिनिरोधः । कुम्भके तूभयगतिनिरोध इति क्रमेण**

---

82 अब डेढ़ श्लोक से प्राणायामयज्ञ को कहते है :--
[कोई योगीजन अपान में प्राण का हवन करते हैं और दूसरे कोई प्राण में अपान का हवन करते हैं । तथा अन्य आहार का संयम करने वाले प्राणायामपरायण योगीजन प्राण और अपान की गतियों को रोककर प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं ।।29-30 अ।।]

83 कोई अपान = अपानवृत्ति में प्राणवृत्ति का हवन करते हैं = प्रक्षेप करते हैं अर्थात् बाह्यदेशस्थित वायु का शरीर के भीतर प्रवेश करने से 'पूरक'संज्ञक प्राणायाम करते हैं । तथा दूसरे कोई प्राण में अपान का हवन करते हैं अर्थात् शरीरस्थित वायु को बाहर निकालने से ' रेचक' नामक प्राणायाम करते हैं । पूरक और रेचक के कथन से उनके अविनाभूत = साथ ही होनेवाले दो प्रकार के 'कुम्भक' को भी कहा ही गया है । बाह्यदेशस्थित वायु को यथाशक्ति शरीर के भीतर पूर्ण कर उसके पश्चात् किये जानेवाला श्वास- प्रश्वास का निरोध 'अन्तः - कुम्भक' है और शरीरस्थित सब वायु को यथाशक्ति बाहर निकाल कर उसके पश्चात् किये जानेवाला श्वास - प्रश्वास - निरोध 'बाह्यकुम्भक' है ।

84 इन तीनों प्राणायामों के अनुवादपूर्वक चतुर्थ प्राणायाम 'कुम्भक' को कहते हैं । प्राण और अपान की गतियों को = मुख और नासिका के भीतर रहनेवाले वायु का बाहर निकलनारूप श्वास प्राण की गति है तथा बाहर निकले हुए वायु का भीतर प्रवेश होना रूप प्रश्वास अपान की गति है । इनमें, पूरक में प्राण की गति का निरोध होता है, रेचक में अपान की गति का निरोध होता है, तथा कुम्भक में तो प्राण और अपान -- दोनों ही की गति का निरोध होता है -- इस प्रकार क्रम से अथवा एक साथ श्वासप्रश्वाससंज्ञक प्राण और अपान की गतियों को रोककर प्राणायामपरायण - प्राणायाम में तत्पर होते हुए पूर्वोक्त योगियों से भिन्न दूसरे योगी नियाताहार = आहार का संयम

युगपच्च श्वासप्रश्वासाख्ये प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः सन्तोऽपरे पूर्वविलक्षणा नियताहारा आहारनियमादियोगसाधनविशिष्टाः प्राणेषु बाह्याभ्यन्तरकुम्भकाभ्यासनिगृहीतेषु प्राणञ्ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाञ्जुह्वति चतुर्थकुम्भकाभ्यासेन विलापयन्तीत्यर्थः ।

85 **तदेतत्सर्वं भगवता पतञ्जलिना संक्षेपविस्तराभ्यां सूत्रितम् । तत्र संक्षेपसूत्रम् – "तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः" इति । तस्मिन्नासने स्थिरे सति प्राणायामोऽनुष्ठेयः । कीदृशः, श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः श्वासप्रश्वासयोः प्राणापानधर्मयोर्या गतिः पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वाभाविकप्रवहणं क्रमेण युगपच्च पुरुषप्रयत्नविशेषेण तस्या विच्छेदो निरोध एव लक्षणं स्वरूपं यस्य स तथेति । एतदेव विवृणोति -- "बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः" इति । बाह्यगतिनिरोधरूपत्वाद्बाह्यवृत्तिः पूरकः । आन्तरगतिनिरोध- रूपत्वादान्तरवृत्ती रेचकः । कैश्चित्तु बाह्यशब्देन रेचक आन्तरशब्देन च पूरको व्याख्यातः । युगपदुभयगतिनिरोधः स्तम्भस्तद्वृत्तिः कुम्भकः । तदुक्तं यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात्प्रयत्नादभावो भवति न पुनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघविधारणं नापि रेचनप्रयत्नौघविधारणं, किं तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत्सर्वतः संकोचमापद्यत एवमयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्नावरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मभूतोऽवतिष्ठते । न तु पूरयति येन पूरकः । न तु रेचयति येन रेचक इति । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया च परीक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति । यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति**

करना आदि योग के साधनों से सम्पन्न हो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकों के अभ्यास से निगृहीत प्राणों में ज्ञानेन्द्रिय - कर्मेन्द्रियं रूप प्राणों का हवन करते हैं अर्थात् चतुर्थ प्राणायाम 'कुम्भक' के अभ्यास से उनको विलीन कर देते हैं ।

85 यह सब भगवान् पतञ्जलि ने संक्षेप और विस्तार से सूत्रबद्ध किया है । इनमें संक्षेप सूत्र है -- 'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः[64] प्राणायामः' (पातञ्जलयोगसूत्र 2.49) = 'आसन के स्थिर होने पर श्वास - प्रश्वास की गति को रोकना स्वरूप 'प्राणायाम'है' । तस्मिन् =आसन के स्थिर होने पर प्राणायाम करना चाहिए । वह प्राणायाम कैसा होता है ? 'श्वासप्रश्वास -- योर्गतिविच्छेदलक्षणः' = प्राण और अपान के धर्म श्वास और प्रश्वास की जो गति अर्थात् पुरुष के प्रयत्न के बिना ही स्वाभाविक प्रवाह है उसका पुरुष के प्रयत्नविशेष के द्वारा क्रम से अथवा एक साथ विच्छेद अर्थात् निरोध हो जाना ही है लक्षण अर्थात् स्वरूप जिसका वह 'प्राणायाम' होता है । इसी को स्पष्ट करते हैं :--- 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 2.50) = 'यह प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति भेद से तीन प्रकार का होता है । देश, काल और संख्या से परिदृष्ट= देखा हुआ दीर्घ = लंबा और सूक्ष्म = हल्का होता है' । बाह्यगति का निरोधरूप होने के कारण पूरक 'बाह्यवृत्ति' है और आन्तरगति का निरोधरूप होने के कारण रेचक 'आभ्यन्तरवृत्ति' है । कोई विद्वान् [65]---- तो बाह्यशब्द से रेचक

64. पातञ्जलयोगसूत्र में 'लक्षण' पाठ नहीं है ।

65. भोजवृत्ति के अनुसार बाह्यवृत्ति श्वास 'रेचक' है और अन्तर्वृत्ति प्रश्वास 'पूरक' है (बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः । अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः । भोजवृत्ति, 2.50) । माष्यकार और तत्त्ववैशारदीकार भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं ।

तथा प्राणोऽपि देशकालसंख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मोऽपि संपद्यते। तथाहि-- हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसम्मुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते देशे श्वासः समाप्यते । तत एव च परावृत्य हृदयपर्यन्तं प्रविशतीति स्वाभाविकी प्राणापानयोर्गतिः । अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा निर्गच्छति। नासातश्चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा देशे समाप्यते। एवं प्रवेशोऽपि तावानवगन्तव्यः । तत्र बाह्यदेशव्याप्तिर्निवाते देश इषीकादिसूक्ष्मतूलक्रिययाऽनुमातव्या । अन्तरपि पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेनानुमातव्या । सेयं देशपरीक्षा । तथा निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणस्तेषामियत्ताऽवधारणीया, स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य च्छोटिकावच्छिन्नः कालो मात्रा । ताभिः षट्त्रिंशता मात्राभिः प्रथम उद्घातो मन्दः । स एव द्विगुणीकृतो द्वितीयो मध्यः । स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्तीव्र इति । नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोर्विरिच्यमानस्य शिरस्यभिहननमुद्घात इत्युच्यते । सेयं कालपरीक्षा संख्यापरीक्षा च । प्रणवजपावृत्तिभेदेन वा संख्यापरीक्षा श्वासप्रवेशगणनया वा । कालसंख्ययोः कथंचिद्भेदविवक्षया पृथगुपन्यासः । यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिर्नावगम्यते तथाऽपि कालसंख्याव्याप्तिरवगम्यत एव । स खल्वयं प्रत्यहमभ्यस्तो दिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालप्रचयव्यापितया दीर्घः परमनैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्म इति निरूपितस्त्रिविधः प्राणायामः । चतुर्थं फलभूतं सूत्रयति

और आन्तरशब्द से पूरक अर्थ ग्रहण करते हैं । एक साथ बाह्य और आभ्यन्तर -- दोनों गतियों का निरोधरूप कुम्भक 'स्तम्भवृत्ति' है । इसके विषय में कहा गया है -- जहाँ श्वास और प्रश्वास -- दोनों का एक ही प्राणविधारक = प्राणों को धारण करने वाले प्रयत्न से अभाव हो जाता है, तो पूर्ववत् पुनः आपूरण प्रयत्नौघ = प्रयत्नप्रवाह विधारण =रोकना नहीं होता है और रेचक प्रयत्नौघ भी विधारण नही होता है, किन्तु जिस प्रकार तप्त पाषाण पर डाला हुआ जल सूखता हुआ सब ओर से संकुचित हो जाता है उसी प्रकार वहनशील =गतिशील यह मारुत =वायु भी बलवान् विधारक प्रयत्न से अवरुद्धगति होकर = अपनी क्रिया रुक जाने पर शरीर में ही सूक्ष्म होकर रहता है । न तो पूरण करता है जिससे 'पूरक' कहा जाय और न रेचन ही करता है जिससे 'रेचक' कहा जाय । इस प्रकार यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या से परीक्षित होने पर अर्थात् परीक्षा किये जाने पर दीर्घ और सूक्ष्म संज्ञावाला होता है । जिस प्रकार रूई का सघन पिण्ड फैलाने पर विरल= झीना हो जाने के कारण दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है उसी प्रकार प्राण भी देश, काल और संख्या की अधिकता से अभ्यास किये जाने पर दीर्घ और दुर्लक्ष्य होने के कारण सूक्ष्म हो जाता है । जैसे -- श्वास हृदय से निकलकर नासिका के अग्रभाग से बारह अंगुलपर्यन्त देश में समाप्त होता है और वहीं से लौटकर हृदयपर्यन्त भीतर जाता है -- यह प्राण और अपान की स्वाभाविकी गति है । अभ्यास से तो वह क्रम से नाभि अथवा आधार से निकलता है और नासिकाग्र से चौबीस अंगुलपर्यन्त अथवा छत्तीस अंगुलपर्यन्त देश में समाप्त होता है । इसी प्रकार उसका प्रवेश भी उतना ही समझना चाहिए । इनमें, श्वास की बाह्यदेश में व्याप्ति का तो सरकण्डे आदि के सूक्ष्म = बारीक रूओं की क्रिया से अनुमान करना चाहिए । आन्तर - देश - व्याप्ति का भी चींटी के स्पर्श के समान स्पर्श से अनुमान करना चाहिए । यही देशपरीक्षा है । इसी प्रकार पलक गिरने की क्रिया में व्यतीत होनेवाले काल का चतुर्थ भाग जो क्षण है उन क्षणों की इयत्ता = इयत्--परिमाणता = संख्या भी जाननी चाहिए । अपने जानुमण्डल = घुटने की पाली -

स्म -- 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' इति । बाह्यविषयः श्वासो रेचकः । आभ्यन्तरविषयः प्रश्वासः पूरकः । वैपरीत्यं वा । तावुभावपेक्ष्य सकृद्बलवद्विधारकप्रयत्नवशाद्भवति बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्तृतीयः कुम्भकः । तावुभावनपेक्ष्यैव केवलकुम्भकाभ्यासपाटवेनासकृत्तत्तत्प्रयत्नवशाद्भवति चतुर्थ : कुम्भकः । तथा च बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपीति तदनपेक्ष इत्यर्थः । अन्या व्याख्या -- बाह्यो विषयो द्वादशान्तादिराभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः । तौ द्वौ विषयावाक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायाम इति । तृतीयस्तु बाह्याभ्यन्तरौ विषयावपर्यालोच्यैव सहसा भवतीति विशेषः । एतादृशश्चतुर्विधः प्राणायामोऽपाने जुह्वति प्राणमित्यादिना सार्धेन श्लोकेन दर्शितः ॥ 29-30 अ ॥

86 तदेवमुक्तानां द्वादशधा यज्ञविदां फलमाह—

घेरे को हाथ से तीन बार स्पर्श करके चुटकी बजाने में जितना काल लगता है उसको 'मात्रा'कहते हैं । उन छत्तीस मात्राओं से प्रथम उद्घात होना 'मन्द' है, वही दुगुना होने पर द्वितीय 'मध्यम' उद्घात कहलाता है तथा वही तिगुना होने पर तृतीय 'तीव्र' उद्घात होता है । नाभिमूल से प्रेरित होकर विरिच्यमान वायु का जो शिर में अभिघात होता है उसको 'उद्घात' कहते हैं । यही कालपरीक्षा और संख्यापरीक्षा है । अथवा प्रणवजप की आवृत्तिओं के भेद से या श्वासप्रवेश की गणना से संख्यापरीक्षा होती है । काल और संख्या के कथंचिद् भेद की विवक्षा से इनका पृथक् उल्लेख किया है । यद्यपि कुम्भक में देशव्याप्ति का ज्ञान नहीं होता तथापि काल और संख्या की व्याप्ति का ज्ञान तो होता ही है । यह प्राणायाम दिन, पक्ष, मास आदि के क्रम से प्रतिदिन अभ्यास करने पर देश, काल और संख्या में व्यापक होने से दीर्घ और अत्यन्त निपुणता से समझने के योग्य होने से सूक्ष्म होता है । इस प्रकार तीन प्रकार के प्राणायाम का निरूपण हुआ । इनका फलभूत जो चतुर्थ प्राणांयाम है उसको पतञ्जलि ने इसप्रकार सूत्रबद्ध किया है --- 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' (पातञ्जलयोगसूत्र,2.51) = 'बाह्य और आभ्यन्तर विषयों को फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला चतुर्थ प्राणायाम है' । बाह्य जिसका विषय है वह श्वास 'रेचक' है और आभ्यन्तर जिसका विषय है वह प्रश्वास 'पूरक' है । अथवा, इसके विपरीत बाह्य जिसका विषय है वह श्वास 'पूरक' है और आभ्यन्तर जिसका विषय है वह प्रश्वास 'रेचक' है -- ऐसा भी व्याख्यान हो सकता है । उन दोनों की अपेक्षा कर एक ही बलवान् विधारक प्रयत्न से जो बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कुम्भक होता है वह तृतीय प्राणायाम है । तथा उन दोनों की अपेक्षा न करके ही केवल कुम्भक के अभ्यास की पटुता से बार - बार तद्- तद् प्रयत्न करने पर चतुर्थ कुम्भक होता है । इस प्रकार 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी' -- इसका अर्थ यही है कि बाह्य = रेचक और आभ्यन्तर = पूरक की अपेक्षा न करनेवाला चतुर्थ कुम्भक होता है । इसकी दूसरी व्याख्या इसप्रकार हो सकती है -- बाह्य विषय नासिकाग्र से बारह अंगुल आदि की दूरी है और आभ्यन्तर विषय हृदय, नाभिचक्र आदि हैं, उन दोनों विषयों का आक्षेप कर अर्थात् पर्यालोचन कर जो स्तम्भरूप प्राणगति का विच्छेद होता है वह चतुर्थ प्राणायाम है । तृतीय प्राणायाम तो बाह्य और आभ्यन्तर विषयों की पर्यालोचना किए बिना ही सहसा होता है -- यही इन दोनों में भेद है । इस प्रकार चार प्रकार के प्राणायाम को 'अपाने जुह्वति प्राणम्' इत्यादि डेढ़ श्लोक से दिखलाया है ॥29- 30अ ॥

86 इसप्रकार उक्त बारह प्रकार के यज्ञवेत्ताओं का फल कहते हैं :--

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ 30 ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

87 **यज्ञान्विदन्ति जानन्ति विन्दन्ति लभन्ते वेति यज्ञविदो यज्ञानां ज्ञातारः कर्तारश्च । यज्ञैः पूर्वोक्तैः क्षपितं नाशितं कल्मषं पापं येषां ते यज्ञक्षपितकल्मषाः । यज्ञान्कृत्वाऽवशिष्टे कालेऽन्नममृतशब्दवाच्यं भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजः । ते सर्वेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण यान्ति ब्रह्म सनातनं नित्यं संसारान्मुच्यन्त इत्यर्थः ॥ 30 ब – 31 अ ॥**

88 **एवमन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाहार्धेन –**

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ 31 ॥

89 **उक्तानां यज्ञानां मध्येऽन्यतमोऽपि यज्ञो यस्य नास्ति सोऽयज्ञस्तस्यायमल्पसुखोऽपि मनुष्यलोको नास्ति सर्वनिन्द्यत्वात्, कुतोऽन्यो विशिष्टसाधनसाध्यः परलोको हे कुरुसत्तम ॥ 31 ब ॥**

90 **किं त्वया स्वोत्प्रेक्षामात्रेणैवमुच्यते न हि वेद एवात्र प्रमाणमित्याह –**

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ 32 ॥

[यज्ञों के ज्ञाता, यज्ञों के द्वारा जिनके पापों का क्षय हो गया है वे तथा जो यज्ञों से अवशिष्ट अमृतरूप अन्न का भोजन करते हैं वे सभी योगीजन सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।। 30 ब –31अ ।।]

87 जो यज्ञों को 'विदन्ति '= 'जानन्ति' = जानते हैं अथवा 'विन्दन्ति' = 'लभन्ते' = प्राप्त करते हैं वे यज्ञविद्[66] =यज्ञों के ज्ञाता और कर्ता ; पूर्वोक्त यज्ञों से क्षपित =विनाशित हैं कल्मष अर्थात् पाप जिनके वे यज्ञक्षपितकल्मष ; तथा जो यज्ञों को करके अवशिष्ट काल में अमृतशब्दवाच्य अन्न का भोजन करते हैं ऐसे यज्ञशिष्टामृतभुज् -- ये सभी सत्त्वशुद्धि-- अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानप्राप्ति द्वारा सनातन = नित्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं अर्थात् संसार से मुक्त हो जाते हैं ।। 30ब-- 31अ ।।

88 इसप्रकार यज्ञान्वय में =यज्ञ करने में गुण कहकर यज्ञ - व्यतिरेक में = यज्ञ न करने में आधे श्लोक से दोष कहते हैं :-

[हे कुरुसत्तम - कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! अयज्ञ को तो यह मनुष्यलोक भी प्राप्त नहीं होता, फिर परलोक तो प्राप्त ही कैसे हो सकता है ?।। 31ब ।।]

89 हे कुरुसत्तम - कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! उक्त यज्ञों में से कोई एक भी यज्ञ जिसका नहीं है वह 'अयज्ञ' कहलाता है । उसको यह अल्पसुखवाला मनुष्यलोक भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह सभी का निन्दनीय होता है; फिर अन्य अर्थात् विशिष्टसाधनसाध्य परलोक तो प्राप्त ही कैसे हो सकता है ?।। 31 ब ।।

90 ''क्या आप अपनी उत्प्रेक्षा -- सम्भावना -- कल्पना से ही ऐसा कह रहे हैं ?'इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं --- 'नहीं, इसमें वेद ही प्रमाण है ' --

---

66. यहाँ 'यज्ञविद्' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है । यज्ञविद् = यज्ञं विन्दन्ति विदन्ति वा । 'यज्ञ' कर्मपूर्वक 'विद ज्ञाने 'और 'विद्लृ लाभे' धातु से 'संपदादिभ्यः क्विप्' (वार्तिक, 2233) – वार्तिक से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'यज्ञविद्' शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका क्रमशः अर्थ हुआ --- 'यज्ञों का ज्ञाता 'और 'यज्ञों का कर्ता'। प्रकृत में दोनों व्युत्पत्ति विवक्षित हैं, अतः 'यज्ञविद्' शब्द से 'यज्ञवेत्ता' और 'यज्ञकर्ता'-- ये दोनों अर्थ विवक्षित हैं ।

91 एवं यथोक्ता बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञाः सर्ववैदिकश्रेयःसाधनरूपा वितता विस्तृता ब्रह्मणो वेदस्य मुखे द्वारे वेदद्वारेणैवैतेऽवगता इत्यर्थः । वेदवाक्यानि तु प्रत्येकं विस्तरभयान्नोदाहियन्ते । कर्मजान्कायिकवाचिकमानसकर्मोद्भवान्विद्धि जानीहि तान्सर्वान्यज्ञान्नाऽऽत्मजान् । निर्व्यापारो ह्यात्मा न तद्व्यापारा एते किं तु निर्व्यापारोऽहमुदासीन इत्येवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसेऽस्मात्संसार-बन्धनादिति शेषः ॥ 32 ॥

92 सर्वेषां तुल्यवन्निर्देशात्कर्मज्ञानयोः साम्यप्राप्तावाह –

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ 33 ॥

93 श्रेयान्प्रशस्यतरः साक्षान्मोक्षफलत्वात्, द्रव्यमयात्तदुपलक्षिताज्ज्ञानशून्यात्सर्वस्मादपि यज्ञात्संसारफलाज्ज्ञानयज्ञ एक एव हे परंतप । कस्मादेवं यस्मात्सर्वं कर्मेष्टिपशुसोमचयनरूपं श्रौतमखिलं निरवशेषं स्मार्तमुपासनादिरूपं च यत्कर्म तज्ज्ञाने ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे समाप्यते

[इसप्रकार वेद के द्वारा ही अनेक प्रकार के यज्ञों का विस्तार हुआ है । उन सबको तुम कर्मजनित जानो । ऐसा जानकर तुम मुक्त हो जाओगे ।।32।।

91 इसप्रकार यथोक्त बहुविध = बहुत प्रकार के यज्ञ, जो सभी वैदिक = वेदप्रतिपादित श्रेय के साधनरूप हैं, ब्रह्म के = वेद के मुख अर्थात् द्वार में वितत = विस्तृत हैं अर्थात् वेद के द्वारा ही उनका ज्ञान हुआ है । यहाँ विस्तार के भय से उनमें से प्रत्येक से सम्बन्ध रखनेवाले वेदवाक्य उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं । उन सब यज्ञों को तुम कर्मज = कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म से उत्पन्न हुए जानो, आत्मा से उत्पन्न हुए नहीं, क्योंकि आत्मा तो निर्विकार है, ये उसके व्यापार नहीं हो सकते । किन्तु 'मैं निर्व्यापार और उदासीन हूँ'-- ऐसा जानकर तुम इस संसारबन्धन से मुक्त हो जाओगे । इस वाक्य में 'अस्मात् संसारबन्धनात् ' = 'इस संसार - बन्धन से'---इतना अध्याहार करना चाहिए ।। 32 ।।

92 सभी यज्ञों का एक जैसा उल्लेख होने के कारण कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ की समानता प्राप्त होने पर कहते हैं :--

।हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ !सम्पूर्ण श्रौत और स्मार्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं ।।33।।

93 हे परंतप ! संसारफलक सभी द्रव्यमय यज्ञों से अर्थात् उनसे उपलक्षित ज्ञानशून्य यज्ञों से ज्ञानयज्ञ एक ही श्रेष्ठ अर्थात् अधिक प्रशंसनीय है, क्योंकि उसका फल साक्षात् मोक्ष ही है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि 'सर्वम्' = इष्टि, पशु और सोमचयनरूप सब श्रौतकर्म और 'अखिलम्' = उपासनादि रूप जितना भी कर्म है वह समग्र स्मार्तकर्म ब्रह्म और आत्मा की एकता के साक्षात्काररूप ज्ञान में ही समाप्त होते हैं अर्थात् प्रतिबन्धक्षय के द्वारा पर्यवसित होते हैं । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'उस इस ब्रह्म को ब्राह्मण वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानना चाहते हैं' (बृ० उ० 4.4.22), 'धर्म

67. ज्ञान की उत्पत्ति में समस्त आश्रमकर्मों की अपेक्षा रहती है, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'-- यह श्रुति अश्ववत् यज्ञादि की ज्ञान -साधनता को सूचित करती है । अर्थात् जैसे योग्यतावश अश्व हल खींचने में नियुक्त नहीं किया जाता है, किन्तु रथ खींचने में नियुक्त किया जाता है । इसी प्रकार आश्रमकर्म ज्ञान के फल मोक्ष में अपेक्षित नहीं होते हैं, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति में तो अवश्य अपेक्षित होते हैं ।

प्रतिबन्धक्षयद्वारेण पर्यवस्यति । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तप॰॰ऽनाशकेन" इति "धर्मेण पापमपनुदति" इति च श्रुतेः "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति न्यायाच्चेत्यर्थः ॥ 33 ॥

94 एतादृशज्ञानप्राप्तौ कोऽतिप्रत्यासन्न उपाय इति उच्यते –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ 34 ॥

95 तत्सर्वकर्मफलभूतं ज्ञानं विद्धि लभस्व आचार्यानभिगम्य तेषां प्रणिपातेन प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातो दीर्घनमस्कारस्तेन कोऽहं कथं बद्धोऽस्मि केनोपायेन मुच्येयमित्यादिपरिप्रश्नेन बहुविषयेण प्रश्नेन । सेवया सर्वभावेन तदनुकूलकारितया । एवं भक्तिश्रद्धातिशयपूर्वकेणावनति-

से पाप को दूर करता है' इत्यादि । ब्रह्मसूत्र के 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'[67] ---(ब्रह्मसूत्र,3.4.26)-- इस न्याय से भी यह अर्थ सिद्ध होता है ।।33।।

94 ऐसे ज्ञान की प्राप्ति में अत्यन्त समीपवर्ती उपाय कौन सा है ? -- इस विषय में भगवान् कहते हैं -- [उस ज्ञान को तुम आचार्यो के समीप जाकर उनको दण्डवत् - प्रणाम करके, उनसे अनेक विषयसम्बन्धी प्रश्न करके और उनकी सेवा के द्वारा जानो । वे ज्ञानी और तत्त्वदर्शी आचार्य तुमको ज्ञान का उपदेश करेंगे ।।34।।]

95 उस समस्त कर्मों के फलभूत ज्ञान को तुम आचार्यों के समीप जाकर उनको प्रणिपात = प्रकर्ष से -- प्रकृष्ट भाव से - विनीत भाव से नीचे -- भूमि पर पतन - साष्टांग दण्डवत् प्रणाम अथवा दीर्घ नमस्कार[68] करके ;उनसे 'मैं कौन हूँ ?', 'किस प्रकार बद्ध हुआ हूँ ?' 'किस उपाय से मुक्त होऊँगा ?' -- इत्यादि परिप्रश्न = अनेक विषयसम्बन्धी प्रश्न करके ; और उनकी सेवा = सभी प्रकार से उनके अनुकूल कार्य करके जानो अर्थात् प्राप्त करो । इस प्रकार भक्ति और श्रद्धा की अतिशयतापूर्वक अवनतिविशेष से अभिमुख -- अनुकूल होकर ज्ञानी = पद -व्याकरण, वाक्य - मीमांसा और न्याय आदि प्रमाणों में निपुण और तत्वदर्शी = ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले आचार्य तुमको साक्षात् मोक्षफलक परमात्मविषयक ज्ञान का उपदेश करेंगे अर्थात् उपदेश के द्वारा तुममें ज्ञान का सम्पादन करेंगे । 'ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट ही ज्ञान फलरूप में परिणत होनेवाला होता है, उससे रहित अर्थात् तत्त्वदर्शन से रहित पद - वाक्य आदि प्रमाणों में निपुण भी ज्ञानी आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान नहीं'---- यह भगवान् का मत 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० उ० 1.2.12) = 'उसको जानने के लिए वह जिज्ञासु हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाय' -- इस श्रुति के समान है; क्योंकि उक्त श्रुति में भी 'श्रोत्रिय = अधीतवेद = वेदों के अध्येता, और ब्रह्मनिष्ठ = ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले गुरु के समीप जाय'-- ऐसी व्याख्या की है [68] । यहाँ 'ज्ञानिनः, तत्त्व-

६८. कालिका पुराण में कहा है --

'प्रसार्य्य पादौ हस्तौ च पतित्वा दण्डवत् क्षितौ ।
जानुभ्यां धरणीं गत्वा शिरसा स्पृश्य मेदिनीम् ॥
क्रियते यो नमस्कार उत्तमः कायिकस्तु सः ।'

विशेषेणाभिमुखाः सन्त उपदेक्ष्यन्ति उपदेशेन संपादयिष्यन्ति ते तुभ्यं ज्ञानं परमात्मविषयं साक्षान्मोक्षफलं ज्ञानिनः पदवाक्यन्यायादिमाननिपुणास्तत्त्वदर्शिनः कृतसाक्षात्काराः । साक्षात्कारवद्भिरुपदिष्टमेव ज्ञानं फलपर्यवसायि न तु तद्रहितैः पदवाक्यमाननिपुणैरपीति भगवतो मतं "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इतिश्रुतिसंवादि। तत्रापि श्रोत्रियमधीतवेदं ब्रह्मनिष्ठं कृतब्रह्मसाक्षात्कारमिति व्याख्यानात् । बहुवचनं चेदमाचार्यविषयमेकस्मिन्नपि गौरवातिशयार्थं न तु बहुत्वविवक्षया । एकस्मादेव तत्त्वसाक्षात्कारवत आचार्यात्तत्त्वज्ञानोदये सत्याचार्यान्तरगमनस्य तदर्थमयोगादिति द्रष्टव्यम् ॥ 34 ॥

96 **एवमतिनिर्बन्धेन ज्ञानोत्पादने किं स्यादत आह –**

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ 35 ॥

97 **यत्पूर्वोक्तं ज्ञानमाचार्यैरुपदिष्टं ज्ञात्वा प्राप्य, ओदनपाकं पचतीतिवत्तस्यैव धातोः सामान्यविवक्षया प्रयोगः । न पुनर्मोहमेवं बन्धुवधादिनिमित्तं भ्रमं यास्यसि हे पाण्डव ।**

98 **कस्मादेवं यस्मादेव ज्ञानेन भूतानि पितृपुत्रादीनि अशेषेण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि स्वाविद्यावि-**

-दर्शिनः'-- इत्यादि पदों में जो बहुवचन का प्रयोग हुआ है वह भी एक ही आचार्य के लिए उनके अत्यन्त गौरव के लिए प्रयुक्त हुआ है,अनेक आचार्यों की विवक्षा से प्रयुक्त नहीं हुआ है[70]; -- क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कारवान् एक ही आचार्य से तत्त्वज्ञान का उदय हो सकने पर पुनः उसके लिए किसी अन्य आचार्य के समीप जाना उचित नहीं है -- यह द्रष्टव्य है ।।34 ।।

96 इसप्रकार -- अत्यन्त आग्रहपूर्वक ज्ञान उत्पन्न करने से क्या होगा ? -- इस पर भगवान् कहते हैं :-- [हे पाण्डव ! जिस पूर्वोक्त ज्ञान को जानकर तुम पुनः इसप्रकार मोह को प्राप्त नहीं होओगे तथा जिसके द्वारा तुम सम्पूर्ण भूतों को अपने में और मेरे में भी अभेद रूप से देखोगे ।।35।।]

97 हे पाण्डव ![71] आचार्यों से उपदिष्ट जिस पूर्वोक्त ज्ञान को जानकर अर्थात् प्राप्तकर तुम पुनः इस-- प्रकार मोह को = बन्धुवधादिनिमित्तक भ्रम को प्राप्त नहीं होओगे । 'ओदनपाकं पचति' = 'ओदनरूप पाक पकाता है '-- इस वाक्य में जैसे 'पाकम्' और 'पचति' -- इन पदों में एक ही 'पच्' धातु है वैसे ही प्रकृत श्लोक में समानता की विवक्षा से 'ज्ञानम्'और 'ज्ञात्वा' -- इन दोनों पदों में एक ही 'ज्ञा'- धातु का प्रयोग किया है ।

98 ऐसा क्यों होगा ? क्योंकि जिस ज्ञान के द्वारा तुम अपनी अविद्या से विजृम्भित= प्रतीत होनेवाले भूतों को = पिता - पुत्रादि पदार्थों को अशेषरूप से = ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त अपने में अर्थात् त्वंपद के अर्थ तुममें और मेरे मे अर्थात् 'तत्' पद के अर्थ मुझ वासुदेव में जो परमार्थतः भेद--

69. यहाँ 'ज्ञानी' शब्द को 'तत्त्वदर्शी' शब्द से विशिष्ट इसलिए किया गया है कि तत्त्वज्ञानोपदेश के लिए उपदेष्टा गुरु को शास्त्रज्ञ और तत्त्वज्ञ - दोनों ही होना चाहिए; क्योंकि कोई - कोई शास्त्रज्ञ भी तत्त्वदर्शन में असमर्थ होते हैं । इसीलिए भगवान् का मत है कि 'ब्रह्मवेत्ता आचार्य के द्वारा उपदिष्ट ही ज्ञान फलरूप में परिणत होता है , पद- वाक्य - प्रमाणज्ञ किन्तु अतत्त्वज्ञ आचार्य के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान नहीं ', यही 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'-- इस श्रुति वाक्य से भी प्रमाणित है ।

70. स्मृति - वचन भी है -- 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' = 'गुरु, आत्मा और ईश्वर के लिए एकवचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।' अतः प्रकृत में एक गुरु की विवक्षा में भी बहुवचन का प्रयोग उचित ही है ।

जृम्भितानि आत्मनि त्वयि त्वंपदार्थेऽथो अपि मयि भगवति वासुदेवे तत्पदार्थे परमार्थतो भेदरहितेऽधिष्ठानभूते द्रक्ष्यस्यभेदेनैव, अधिष्ठानातिरेकेण कल्पितस्याभावात् । मां भगवन्तं वासुदेवमात्मत्वेन साक्षात्कृत्य सर्वाज्ञाननाशे तत्कार्याणि भूतानि न स्थास्यन्तीति भावः ॥ 35 ॥

99 किं च शृणु ज्ञानस्य माहात्म्यम् –

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ 36 ॥

100 अपि चेदित्यसंभाविताभ्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ । यद्यप्ययमर्थो न संभवत्येव तथाऽपि ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते । यद्यपि त्वं पापकारिभ्यः सर्वेभ्योऽप्यतिशयेन पापकारी पापकृत्तमः स्यास्तथाऽपि सर्वं वृजिनं पापमतिदुस्तरत्वेनार्णवसदृशं ज्ञानप्लवेनैव नान्येन ज्ञानमेव प्लवं पोतं कृत्वा संतरिष्यसि सम्यगनायासेन पुनरावृत्तिवर्जितत्वेन च तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि । वृजिनशब्देनात्र धर्माधर्मरूपं कर्म संसारफलमभिप्रेतं मुमुक्षोः पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टत्वात् ॥ 36 ॥

101 ननु समुद्रवत्तरणे कर्मणां नाशो न स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह –

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ 37 ॥

रहित और अधिष्ठानभूत है, अभेदरूप से ही देखोगे ; क्योंकि अधिष्ठान के अतिरिक्त कल्पित = अध्यस्त पदार्थ की सत्ता नहीं होती । भाव यह है कि मुझ भगवान् वासुदेव का आत्मरूप से साक्षात्कार करके सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो जाने पर उसके कार्यभूत भूतों की स्थिति नहीं रहेगी ।। 35।।

99 इसके अतिरिक्त ज्ञान का माहात्म्य सुनो --

[यदि तुम समस्त पापियों से भी बढ़कर पाप करने वाले हो तो भी ज्ञानरूप नौका से ही समस्त पापों के पार हो जाओगे ।।36 ।।

100 'अपि'और 'चेत्' -- ये दोनों निपात असंभावित वस्तु की स्वीकृति प्रदर्शित करने के लिए हैं । यद्यपि यह अर्थ संभव नहीं है, तथापि ज्ञान का फल कहने के लिए इसको स्वीकार करके कहा जाता है । यद्यपि तुम समस्त पापकारियों की अपेक्षा भी पापकृत्तम = अधिक पापकारी हो, तथापि समस्त वृजिन अर्थात् पाप को, जो अत्यन्त दुस्तर होने के कारण अर्णव =समुद्र सदृश है, ज्ञानरूप नौका से ही -- किसी अन्य से नहीं, अर्थात् ज्ञान को ही नौका = जहाज बनाकर संतरिष्यसि=सम्यक् -- अनायास और पुनरावृत्तिरहित ही तर जाओगे -- पार कर जाओगे । 'वृजिन'शब्द यद्यपि पापवाची है तथापि यहाँ इस शब्द से संसारफलक धर्माधर्मरूप कर्म अभिप्रेत है, क्योंकि मुमुक्षु के लिए तो पाप के समान पुण्य भी अनिष्ट ही है ।।36।।

101 'समुद्र के समान पाप को तरने से भी कर्मों का नाश तो नहीं होगा' -- ऐसी आशङ्का करके दूसरा दृष्टांत देते हैं ----

---

71. तुम्हारी बुद्धि पाण्डु अर्थात् शुद्ध है अतएव तुम ज्ञान प्राप्त कर मोह से मुक्त होओगे और सर्वभूत को अपने में और मुझमें अद्वैतरूप से देख सकोगे -- यह सूचित करने के लिए ही यहाँ 'पाण्डव' कहकर सम्बोधन किया है ।

102 यथैधांसि काष्ठानि समिद्धः प्रज्वलितोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते भस्मीभावं नयति हेऽर्जुन ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि पापानि पुण्यानि चाविशेषेण प्रारब्धफलभिन्नानि भस्मसात्कुरुते तथा तत्कारणाज्ञानविनाशेन विनाशयतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः --

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥" इति ।

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्," "इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु," इति च सूत्रे । अनारब्धे पुण्यपापे नश्यत एवेत्यत्र सूत्रम् – "अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः" इति । ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणां तु तद्देहान्त एव विनाशः । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति श्रुतेः, "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते" इति सूत्राच्च । आधिकारिकाणां तु यान्येव ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणि तान्येव देहान्तरारम्भकाण्यपि । यथा वसिष्ठापान्तरतमःप्रभृतीनाम् । तथा च सूत्रं "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" इति ।

[हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात् कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देता है ।।37।।

102 जैसे समिद्ध = प्रज्वलित अग्नि एधांसि = काष्ठों को भस्मसात् कर देता है = भस्मीभाव को प्राप्त करा देता है, हे अर्जुन ! वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि प्रारब्धफल के अतिरिक्त पाप और पुण्य समस्त कर्मों को अविशेष - समानरूप से भस्मसात् कर देता है अर्थात् उनके कारण अज्ञान का नाश करके उनको नष्ट कर देता है । ऐसा ही श्रुति भी कहती है -- 'उस पर और अपर ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है और समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं एवं समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है' (मु० उ०, 2.2.8) । इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र में भी कहा गया है -- 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.13) = 'तदधिगम =ब्रह्म का अधिगम -- अनुभव होने पर उत्तर के अघ का अश्लेष और पूर्व के अघ--पाप का विनाश हो जाता है, क्योंकि श्रुति इस प्रकार का व्यपदेश -- कथन करती है' ; और 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.14) = 'इतर - पुण्य कर्म का भी इसी प्रकार = अघ- पाप के समान ज्ञानी के साथ अश्लेष और विनाश होता हैं, इससे उसका शरीरपात होने पर उसको विदेह- कैवल्य प्राप्त हो जाता है'।

अनारब्ध फलवाले पुण्य और पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं -- इस विषय में यह सूत्र है -- 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.15) = 'अनारब्ध कार्यवाले पूर्व के संचित पुण्य और पाप ही नष्ट होते हैं ; प्रारब्ध कार्यवाले नहीं, क्योंकि उनकी तो देहपात अवधि कही गई है'। किन्तु जो ज्ञानोत्पादक देह का आरम्भ करनेवाले कर्म हैं उनका तो उस देह का अन्त होने पर ही विनाश होता है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० उ०, 6.14.2) = 'उस ज्ञानी के विदेहमोक्ष में तब तक ही विलम्ब होता है जब तक उसका शरीर नहीं छूटता, फिर तो वह विदेह मुक्त हो ही जाता है'। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र भी है -- 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.19) = 'इतर - प्रारब्ध कर्मों को तो ज्ञानी उपभोग से क्षीण करके ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं',आधिकारिक पुरुषों के तो जो कर्म ज्ञानोत्पादक देह का आरम्भ करने वाले होते हैं वे ही अन्य देह के भी आरम्भक होते हैं, जैसे कि वसिष्ठ, अपान्तरतम आदि के कर्म थे । इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र भी कहता है --'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (ब्रह्मसूत्र, 3.3.32) = 'आधिकारिक पुरुषों की अपने

अधिकारोऽनेकदेहारम्भकं बलवत्प्रारब्धफलं कर्म । तच्चोपासकानामेव नान्येषाम् । अनारब्धफलानि नश्यन्ति आरब्धफलानि तु यावद्भोगसमाप्ति तिष्ठन्ति । भोगश्चैकेन देहेनानेकेन वेति न विशेषः । विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः ॥ 37 ॥

103 यस्मादेवं तस्मात् --

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ॥ 38 ॥

104 न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनं शुद्धिकरमन्यदिह वेदे लोकव्यवहारे वा विद्यते, ज्ञानभिन्नस्याज्ञानानिवर्तकत्वेन समूलपापनिवर्तकत्वाभावात्कारणसद्भावेन पुनः पापोदयाच्च । ज्ञानेन त्वज्ञाननिवृत्त्या समूलपापनिवृत्तिरिति तत्सममन्यन्न विद्यते ।

105 तदात्मविषयं ज्ञानं सर्वेषां किमिति झटिति नोत्पद्यते तत्राऽऽह -- तज्ज्ञानं कालेन महता योग-संसिद्धो योगेन पूर्वोक्तकर्मयोगेन संसिद्धः संस्कृतो योग्यतामापन्नः स्वयमात्मन्यन्तःकरणे विन्दति लभते न तु योग्यतामापन्नोऽन्यदत्तं स्वनिष्ठतया न वा परनिष्ठं स्वीयतया विन्दतीत्यर्थः ॥ 38 ॥

अधिकार की समाप्ति तक स्थिति रहती है'। अनेक देहों का आरम्भक बलवान् प्रारब्धफल कर्म 'अधिकार'कहलाता है । ऐसा कर्म उपासकों का ही होता है, अन्यों का नहीं । अनारब्ध फलवाले कर्म तो ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध फलवाले कर्म तो भोग की समाप्ति तक रहते हैं । वह भोग एक देह से समाप्त हो अथवा अनेक देहों से -- इससे कोई अन्तर नहीं आता । इस विषय का विस्तार आकर ग्रन्थों में देखना चाहिए ॥37॥

103 क्योंकि ऐसा है, इसलिए --

[वेद या लोकव्यवहार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाली कोई भी वस्तु नहीं है । उस ज्ञान को कर्मयोग के द्वारा बहुत काल में संस्कृत हुआ पुरुष स्वयं अपने आत्मा =अन्तःकरण में प्राप्त करता है ॥38॥]

104 इह = वेद में या लोकव्यवहार में ज्ञान के समान पवित्र - पावन अर्थात् शुद्धि करनेवाली कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है, क्योंकि ज्ञान से भिन्न -अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु अज्ञान की निवृत्ति करनेवाली न होने से मूलसहित पाप को दूर करनेवाली नहीं हो सकती, कारण कि पाप का हेतु विद्यमान रहने से पुनः पाप का उदय हो सकता है[72] । ज्ञान से तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के कारण मूलसहित पाप की निवृत्ति हो जाती है, अतः उसके समान दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है ।

105 'अच्छा तो वह आत्मविषयक ज्ञान सभी को तुरन्त उत्पन्न क्यों नहीं हो जाता '?-- इस विषय में कहते हैं -- उस ज्ञान को पुरुष बहुत समय में योगसंसिद्ध = योग से --- पूर्वोक्त कर्मयोग से संसिद्ध --संस्कृत

72. यदि कहें कि ज्ञान के अतिरिक्त प्रायश्चित्तादि तो पापों को नष्ट करते ही हैं तो इसका उत्तर है कि प्रायश्चित्तादि पापों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते, कारण पाप का हेतु अज्ञान विद्यमान रहने से पुनः पाप का उदय होना संभव है । प्रायश्चित्तादि विशेष कर्म से विशेष पाप ही नष्ट होता है किन्तु उससे अनेक जन्मों से संचित और इस जन्म में क्रियमाण समस्त पाप सर्वकाल के लिए एक-साथ निवृत्ति नहीं हो सकते । प्रायश्चित्तादि किसी पाप की सामयिक रूप से निवृत्ति करते हैं, अतः पाप का पुनः उदय होना संभव होता है । और फिर प्रायश्चित्तादि केवल पाप को ही नष्ट करते हैं, पुण्य को तो नहीं, अतः पुण्य रहने से भी जन्म-मरण का बीज रहता है । इस प्रकार प्रायश्चित्तादि मूलसहित पाप की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं करते हैं । ज्ञान से ही पाप, पुण्य, मिश्र, संचित

106 येनैकान्तेन ज्ञानप्राप्तिर्भवति स उपायः पूर्वोक्तप्रणिपाताद्यपेक्षयाऽप्यासन्नतर उच्यते --

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ 39 ॥

107 गुरुवेदान्तवाक्येष्विदमित्थमेवेतिप्रमारूपास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा तद्वान्पुरुषो लभते ज्ञानम् । एतादृशोऽपि कश्चिदलसः स्यात्तत्राऽऽह -- तत्परः, गुरूपासनादौ ज्ञानोपायेऽत्यन्ताभियुक्तः । श्रद्धावांस्तत्परोऽपि कश्चिदजितेन्द्रियः स्यादत आह -- संयतेन्द्रियः, संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानीन्द्रियाणि येन स संयतेन्द्रियः । य एवं विशेषणत्रययुक्तः सोऽवश्यं ज्ञानं लभते । प्रणिपातादिस्तु बाह्यो मायावित्वादिसंभवादनैकान्तिकोऽपि । श्रद्धावत्त्वादिस्त्वैकान्तिक उपाय इत्यर्थः ।

108 ईदृशेनोपायेन ज्ञानं लब्ध्वा परां चरमां शान्तिमविद्यातत्कार्यनिवृत्तिरूपां मुक्तिमचिरेण तदव्यवधानेनैवाधिगच्छति लभते । यथा हि दीपः स्वोत्पत्तिमात्रेणैवान्धकारनिवृत्तिं करोति न तु कंचित्सहकारिणमपेक्षते तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तिमात्रेणैवाज्ञाननिवृत्तिं करोति न तु किंचित्प्रसंख्यानादिकमपेक्षत इति भावः ॥ 39 ॥

अर्थात् योग्यता को प्राप्त होने पर स्वयं आत्मा में अर्थात् अन्तःकरण में विन्दति -- लभते = प्राप्त करता है अर्थात् योग्यता को प्राप्त हुआ पुरुष भी उस ज्ञान को दूसरे के देने पर अपने में स्थितरूप से अथवा दूसरे में स्थित होने पर अपने स्वत्वरूप से प्राप्त नहीं करता है ।।38।।

106 जिससे अवश्य ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और जो पूर्वोक्त प्रणिपात आदि की अपेक्षा भी अधिक समीपवर्ती है उस उपाय को कहते हैं :--

[श्रद्धावान्, ज्ञानप्राप्ति के उपायों में तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।।39।।

107 गुरु और वेदान्त के वाक्यों में 'इदमित्थमेव' = 'यह ऐसा ही है'-- ऐसी प्रमारूपा आस्तिक्य - बुद्धि 'श्रद्धा' है, उससे युक्त = श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है । एतादृश = ऐसा - श्रद्धावान् होने पर भी कोई आलसी हो तो इस पर कहते हैं -- तत्पर = गुरूपासना आदि ज्ञान के उपायों में अत्यन्त अभियुक्त - व्यस्त -- लगा हुआ हो । श्रद्धावान् और तत्पर होने पर भी कोई अजितेन्द्रिय हो तो कहते हैं -- संयतेन्द्रिय = जिसने अपनी इन्द्रियों को विषयों से संयत अर्थात् निवृत्त कर लिया है ऐसा वह संयतेन्द्रिय पुरुष होना चाहिए । जो ऐसे तीन विशेषणों से युक्त है वह अवश्य ही ज्ञान को प्राप्त करता है । प्रणिपातादि तो बाह्य साधन हैं और वे मायावीरूप आदि भी हो सकते हैं, अतः वे अनैकान्तिक = अवश्य ही फल न देनेवाले भी हैं, किन्तु श्रद्धावान् होना आदि तो ऐकान्तिक = अवश्य ही फल देने वाले उपाय हैं -- यह अर्थ है ।

108 इस प्रकार के उपाय से ज्ञान प्राप्त करके वह अचिर = शीघ्र ही अर्थात् ज्ञान होते ही पर = चरम शान्ति को अर्थात् अविद्या और उसके कार्य की निवृत्तिरूपा मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । भाव यह है कि जैसे दीपक अपनी उत्पत्तिमात्र से ही अन्धकार की निवृत्ति करता है, किसी सहकारी की

तथा क्रियमाण सर्वकर्म एकसाथ नष्ट होते हैं अर्थात् ज्ञान से अज्ञान नष्ट होने पर अज्ञान के कार्य समस्त पापों की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, इसलिए ज्ञानसदृश पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है, यह सिद्ध है ।

109 अत्र च संशयो न कर्तव्यः, कस्मात् –

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ 40 ॥

110 अज्ञोऽनधीतशास्त्रत्वेनाऽऽत्मज्ञानशून्यः । गुरुवेदान्तवाक्यार्थ इदमेवं न भवत्येवेतिविपर्ययरूपा नास्तिक्यबुद्धिरश्रद्धा तद्वानश्रद्दधानः । इदमेवं भवति न वेति सर्वत्र संशयाक्रान्तचित्तः संशयात्मा विनश्यति स्वार्थाद्भ्रष्टो भवति । अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च विनश्यतीति संशयात्मापेक्षया न्यूनत्वकथनार्थं चकाराभ्यां तयोः प्रयोगः । कुतः, संशयात्मा हि सर्वतः पापीयान्यतो नायं मनुष्यलोकोऽस्ति वित्तार्जनाद्यभावात्, न परो लोकः स्वर्गमोक्षादिर्धर्मज्ञानाद्यभावात्, न सुखं भोजनादिकृतं संशयात्मनः सर्वत्र संदेहाक्रान्तचित्तस्य । अज्ञस्याश्रद्दधानस्य च परो लोको नास्ति मनुष्यलोको भोजनादिसुखं च वर्तते । संशयात्मा तु त्रितयहीनत्वेन सर्वतः पापीयानित्यर्थः ॥ 40 ॥

111 एतादृशस्य सर्वानर्थमूलस्य संशयस्य निराकरणायऽऽत्मनिश्चयमुपायं वदन्नध्यायद्वयोक्तां पूर्वापरभूमिकाभेदेन कर्मज्ञानमयीं द्विविधां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति –

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ 41 ॥

अपेक्षा नहीं करता वैसे ही ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिमात्र से ही अज्ञान की निवृत्ति करता है, किसी प्रसंख्यान आदि अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करता ॥ 39 ॥

109 इसमें संशय नहीं करना चाहिए । क्यों ? क्योंकि --
[अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयात्मा पुरुष नष्ट हो जाता है । संशयात्मा को तो न यह लोक है, न परलोक है और न उसको सुख ही प्राप्त होता है ॥40 ॥]

110 अज्ञ= शास्त्रों का अध्ययन किया हुआ न होने से जो आत्मज्ञान से शून्य है ; गुरु और वेदान्त के वाक्यों के अर्थ में 'इदमेवं न भवत्येव' = ' यह ऐसा हो ही नहीं सकता' -- इस प्रकार की विपर्ययरूपा नास्तिक्यबुद्धि अश्रद्धा है उससे जो युक्त है वह अश्रद्दधान =श्रद्धा न रखने वाला ; तथा 'इदमेवं भवति न वा' = 'यह ऐसा है या नहीं' -- इस प्रकार जिसका चित्त सर्वत्र संशय से आक्रांत = संशयग्रस्त रहता है वह संशयात्मा नष्ट हो जाता है अर्थात् स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है । 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च विनश्यति'-- इस प्रकार संशयात्मा की अपेक्षा उन दोनों की --- अज्ञ और अश्रद्दधान की न्यूनता कहने के लिए उनका प्रयोग दो चकारों के सहित किया है । ऐसा क्यों है ? कारण कि संशयात्मा सबकी अपेक्षा अधिक पापी है, क्योंकि जिसका चित्त सर्वत्र संशयग्रस्त रहता है उस संशयात्मा का वित्तार्जन आदि न होने से न यह मनुष्यलोक है ; न धर्म - ज्ञानादि का अभाव होने के कारण स्वर्ग - मोक्षादि परलोक ही है ; और न उसको भोजनादिकृत सुख ही प्राप्त होता है । अज्ञानी और अश्रद्दधान का तो परलोक ही नहीं है, उनको मनुष्यलोक और भोजनादि सुख तो प्राप्त है ही । अतः भाव यह है कि संशयात्मा तो इहलोक, परलोक और भोजनादिसुख -- इन तीनों ही से रहित होने के कारण सबकी अपेक्षा अधिक पापी है ॥40 ॥

111 इस प्रकार इस समस्त अनर्थों के मूल संशय का निराकरण करने के लिए आत्मनिश्चयरूप उपाय को बताते हुए भगवान दो अध्यायों में उक्त पूर्वापर-- भूमिकाभेद से कर्म और ज्ञानमयी दो प्रकार की ब्रह्मनिष्ठा का उपसंहार करते हैं:--

112 योगेन भगवदाराधनलक्षणसमत्वबुद्धिरूपेण संन्यस्तानि भगवति समर्पितानि कर्माणि येन। यद्वा परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन संन्यस्तानि त्यक्तानि कर्माणि येन तं योगसंन्यस्तकर्माणम्। संशये सति कथं योगसंन्यस्तकर्मत्वमत आह -- ज्ञानसंछिन्नसंशयं ज्ञानेनाऽऽत्मनिश्चयलक्षणेन छिन्नः संशयो येन तम्। विषयपरवशत्वरूपप्रमादे सति कुतो ज्ञानोत्पत्तिरित्यत आह -- आत्मवन्तमप्रमादिनं सर्वदा सावधानम्। एतादृशमप्रमादित्वेन ज्ञानवन्तं ज्ञानसंछिन्नसंशयत्वेन योगसंन्यस्तकर्माणं कर्माणि लोकसंग्रहार्थानि वृथाचेष्टारूपाणि वा न निबध्नन्ति अनिष्टमिष्टं मिश्रं वा शरीरं नाऽऽरभन्ते हे धनंजय॥ 41॥

113 यस्मादेवम् --

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ 42॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ 4॥

---

114 अज्ञानादविवेकात्संभूतमुत्पन्नं हृत्स्थं हृदि बुद्धौ स्थितं, कारणस्याऽऽश्रयस्य च ज्ञाने शत्रुः सुखेन हन्तुं शक्यत इत्युभयोपन्यासः। एनं सर्वानर्थमूलभूतं संशयमात्मनो ज्ञानासिनाऽऽत्मविषयकनि-

[हे धनञ्जय! समत्वबुद्धिरूप योग के द्वारा जिसने अपने कर्मों का संन्यास = भगवान् में समर्पण कर दिया है और आत्मनिश्चयरूप ज्ञान से जिसने संशय का छेदन कर दिया है उस आत्मवान् पुरुष को कर्म नहीं बाँधते ।।41।।

112 भगवान् की आराधना ही जिसका लक्षण है ऐसे समत्वबुद्धिरूप योग के द्वारा जिसने अपने कर्मों का संन्यास =भगवान् में समर्पण कर दिया है ; अथवा, परमार्थदर्शन ही जिसका लक्षण है ऐसे योग के द्वारा जिसने अपने कर्मों का संन्यास = त्याग कर दिया है उस योगसंन्यस्तकर्मा को । संशय रहने पर योगसंन्यस्तकर्मत्व कैसे हो सकता है ? अतः कहते है -- 'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' = जिसने आत्मनिश्चयरूप ज्ञान से संशय का छेदन कर दिया है उसको। विषयपरवशत्वरूप प्रमाद होने पर ज्ञानोत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः कहते हैं -- 'आत्मवन्तम्' =आत्मवान् को = अप्रमादी को -- सर्वदा सावधान को । ऐसे अप्रमादी होने के कारण ज्ञानवान् को और ज्ञानसंछिन्नसंशय होने के कारण योगसंन्यस्तकर्मा को लोकसंग्रह के लिए किये गए या वृथाचेष्टारूप कर्म नहीं बाँधते अर्थात् हे धनञ्जय ! वे उसके इष्ट, अनिष्ट अथवा मिश्र शरीर का आरम्भ नहीं करते ।।41 ।।

113 क्योंकि ऐसा है --

[इसलिए हे भारत ! अज्ञान से उत्पन्न और हृदय में स्थित इस संशय को अपने ज्ञानरूप खड्ग से काटकर निष्काम कर्मयोग का आचरण करो और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ ।।42।।]

114 अज्ञान = अविवेक से संभूत =उत्पन्न और हृत्स्थ = हृत् अर्थात् बुद्धि में स्थित, -- कारण और आश्रय का ज्ञान होने पर शत्रु को सुख से मारा जा सकता है, इसलिए यहाँ दोनों का उल्लेख किया है, -- इस समस्त अनर्थों के मूलभूत संशय को अपने ज्ञानरूप खड्ग से = आत्मविषयक

श्चयखड्गेन छित्त्वा योगं सम्यग्दर्शनोपायं निष्कामकर्माऽऽतिष्ठ कुरु। अत इदानीमुत्तिष्ठ युद्धाय हे भारत भरतवंशे जातस्य युद्धोद्यमो न निष्फल इति भावः ॥ 42 ॥

115 **स्वस्यानीशत्वबाधेन भक्तिश्रद्धे दृढीकृते।**
धीहेतुः कर्मनिष्ठा च हरिणेहोपसंहृता ॥ 1 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ 4 ॥

निश्चयरूप खड्ग से काटकर सम्यग्दर्शन के उपायभूत योग = निष्काम कर्म का अनुष्ठान करो। अतः इस समय तुम युद्ध के लिए खड़े हो जाओ। हे भारत! -- इस सम्बोधन से यह भाव है कि भरतवंश में उत्पन्न हुए तुम्हारा युद्ध के लिए उद्यम निष्फल नहीं होगा ॥42 ॥

115 यहाँ भगवान् ने अपने अनीशत्व का बाध करके भक्ति और श्रद्धा को दृढ़ किया है और धी- बुद्धि - ज्ञान की हेतुभूता कर्मनिष्ठा का उपसंहार किया है ॥ 1 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य
श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका
के हिन्दीभाषानुवाद का ब्रह्मार्पणयोग नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त होता है।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

1 **अध्यायाभ्यां कृतो द्वाभ्यां निर्णयः कर्मबोधयोः ।**
कर्मतत्त्यागयोर्द्वाभ्यां निर्णयः क्रियतेऽधुना ॥

2 **तृतीयेऽध्याये 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते'- इत्यादिनाऽर्जुनेन पृष्टो भगवाञ्ज्ञानकर्मणो-र्विकल्पसमुच्चयासंभवेनाधिकारिभेदव्यवस्थया 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया' इत्यादिना निर्णयं कृतवान् । तथा चाज्ञाधिकारिकं कर्म न ज्ञानेन सह समुच्चीयते तेजस्तिमिरयोरिव युगपदसंभवात्कर्माधिकारहेतुभेदबुद्ध्यपनोदकत्वेन ज्ञानस्य तद्विरोधित्वात् । नापि विकल्प्यते, एकार्थत्वाभावात्, ज्ञानकार्यस्याज्ञाननाशस्य कर्मणा कर्तुमशक्यत्वात् 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः । ज्ञाने जाते तु कर्मकार्यं नापेक्ष्यत एवेत्युक्तं 'यावानर्थ उदपाने ' इत्यत्र । तथा च ज्ञानिनः कर्मानधिकारे निश्चिते**

---

1 गत दो अध्यायों से कर्म और ज्ञान (बोध) का निर्णय किया गया है, अब दो अध्यायों से कर्म और उसके त्याग = कर्मसंन्यास का निर्णय किया जाता है ।

2 तृतीय अध्याय में 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादि श्लोक से अर्जुन के द्वारा पूछे जाने पर भगवान् ने ज्ञान और कर्म का विकल्प अथवा समुच्चय असंभव होने के कारण अधिकारिभेद से व्यवस्था करते हुए उनका 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ' -- इत्यादि श्लोकों से निर्णय किया था । अतः जिसका अधिकारी अज्ञानी पुरुष है उस कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म के अधिकार की हेतुभूता भेदबुद्धि का अपनोदक = निवर्त्तक होने के कारण ज्ञान कर्म का विरोधी है, अतः प्रकाश और अन्धकार के समान वे एक साथ नहीं रह सकते । इसी प्रकार ज्ञान और कर्म का विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि उन दोनों का एक ही प्रयोजन नहीं है -- ज्ञान का कार्य जो अज्ञाननाश है वह कर्म से हो ही नहीं सकता । श्रुति भी कहती है -- 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय' = 'उसको ही जानकर पुरुष मृत्यु को पार कर जाता है, मोक्ष - प्राप्ति के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है' । ज्ञान उत्पन्न होने पर तो कर्म के कार्य की अपेक्षा ही नहीं रहती -- यह 'यावानर्थ उदपाने' (गीता, 2.46) -- इस श्लोक में कहा है । इसप्रकार ज्ञानी का कर्म में अधिकार नहीं है -- यह निश्चित होने पर वह प्रारब्धकर्मवश वृथा चेष्टारूप से कर्मानुष्ठान करता रहे अथवा समस्त कर्मों का त्याग कर दे -- यह निर्विवाद रूप से चतुर्थ अध्याय में निर्णय किया गया है । अज्ञानी पुरुष को तो अन्तःकरणशुद्धि द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कर्मों का अनुष्ठान करना ही चाहिए; जैसा कि श्रुति में कहा गया है -- 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' = 'उस इस ब्रह्म को ब्राह्मणजन वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और उपवास के द्वारा जानना चाहते हैं' और भगवान् के वचन हैं -- 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीता, 4.33) = 'हे पार्थ ! श्रौत और स्मार्त्त -- सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं । इस प्रकार समस्त कर्म ज्ञान के लिए हैं तथा सर्वकर्मसंन्यास = समस्त कर्मों का त्याग भी ज्ञान के लिए है -- यह -- 'इसी आत्मलोक की इच्छा करते हुए संन्यासी संन्यास ग्रहण करते हैं'; 'पहले दान्त अर्थात् बाह्येन्द्रियों के व्यापारों से उपरत होकर तत्पश्चात् शान्त अर्थात् अन्तःकरण की तृष्णाओं से निवृत्त हुआ, उपरत अर्थात् समस्त कामनाओं

प्रारब्धकर्मवशाद्वृथाचेष्टारूपेण तदनुष्ठानं वा सर्वकर्मसंन्यासो वेति निर्विवादं चतुर्थे निर्णीतम् । अज्ञेन त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये कर्माण्यनुष्ठेयानि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुतेः, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति भगवद्वचनाच्च । एवं सर्वकर्माणि ज्ञानार्थानि । तथा सर्वकर्मसंन्यासोऽपि ज्ञानार्थः श्रूयते -- 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति', 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्', 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्', 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्' इत्यादौ ।

3 **तत्र कर्मतत्त्यागयोरारादुपकारकसंनिपत्योपकारकयोः प्रयाजावघातयोरिव न समुच्चयः संभवति विरुद्धत्वेन यौगपद्याभावात् । नापि कर्मतत्त्यागयोरात्मज्ञानमात्रफलत्वेनैकार्थत्वादतिरात्रयोः षोडशिग्रहणाग्रहणयोरिव विकल्पः स्यात्, द्वारभेदेनैकार्थत्वाभावात् । कर्मणो हि पापक्षयरूपमदृष्टमेव द्वारं, संन्यासस्य तु सर्वविक्षेपाभावेन विचारावसरदानरूपं दृष्टमेव द्वारं, नियमापूर्वं तु दृष्टसमवायित्वादवघातादाविव न प्रयोजकम् । तथा चादृष्टार्थदृष्टार्थयोरारादुपकारक-**

से मुक्त और विधिपूर्वक समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला संन्यासी तथा तितिक्षु आत्मा में समाहित होकर आत्मस्वरूप में ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करे'; 'त्याग करनेवाले पुरुष को ही उसके प्रत्यगात्मस्वरूप परम पद का ज्ञान हो सकता है'; 'सत्य-असत्य, सुख--दुःख, वेद तथा यह लोक और परलोक -- इन सभी का त्याग करके आत्मानुसन्धान करे' -- इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है ।

3 उसमें कर्म और उसके त्याग = कर्मसंन्यास का समुच्चय होना आरात् उपकारक प्रयाज और सन्निपत्य उपकारक अवघात[1] के समान सम्भव नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध होने के कारण ये एक साथ नहीं रह सकते । कर्म और उसके त्याग का आत्मज्ञानमात्र फल होने से एक ही प्रयोजन होने पर भी उनका विकल्प भी अतिरात्र के उद्देश्य से किये जानेवाले षोडशी के ग्रहण और अग्रहण के समान नहीं हो सकता, क्योंकि द्वारभेद होने के कारण उनकी एकार्थता नहीं है । निश्चय ही कर्म का तो पापक्षयरूप अदृष्ट ही द्वार है, किन्तु संन्यास का तो समस्त विक्षेपों के अभाव के संपादन द्वारा विचारावसरदानरूप = विचार के लिए अवसरप्रदानरूप दृष्ट ही द्वार है । अवघातादि के समान नियमापूर्व भी कर्म का प्रयोजक नहीं है, क्योंकि वह अपूर्वतोदृष्टसमवायी होता —

1. योग के उपकारक अङ्ग दो प्रकार के होते हैं – आरादुपकारक और सन्निपत्योपकारक । ऐसे कर्म जिनका विधान प्रधान कर्म के अङ्गभूत द्रव्यादि को उद्देश्य न करके केवल कर्म के रूप में ही होता है अर्थात् जिनका प्रधान कर्म के अङ्गों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जो स्वतन्त्ररूप से प्रधान कर्म के उपकारक होते हैं 'आरादुपकारक' कहे जाते हैं, आरादुपकारक फलापूर्व अर्थात् परमापूर्व के आरात् = समीपता से अर्थात् साक्षात् रूप से उपकारक होते हैं । जैसे दर्शपूर्णमास प्रधान याग है, 'प्रयाज' दर्शपूर्णमास का ही साक्षात् अङ्ग है जिसका साध्य दर्शपूर्णमास के परमापूर्व को उत्पन्न करना होता है, जो इसप्रकार दर्शपूर्णमास प्रधान याग के फलापूर्व की उत्पत्ति में साक्षात् उपकारक होता है, इसीलिए 'प्रयाज' की संज्ञा 'आरादुपकारक' है । इसके विपरीत ऐसे कर्म जिनका विधान प्रधान कर्म के अङ्गभूत द्रव्यादि को उद्देश्य करके किया जाता है 'सन्निपत्योपकारक' कहे जाते हैं । जैसे – दर्शपूर्णमास प्रधान कर्म है, इसके अङ्ग द्रव्य-व्रीहि हैं । व्रीहि को उद्देश्य करके 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि = व्रीहि का अवघात (कूटना), प्रोक्षण इत्यादि करना 'सन्निपत्योपकारक' कर्म हैं । सन्निपत्योपकारक सन्निपत्य = किसी मध्यवर्ती अङ्गी में निपत्य = गिरकर अर्थात् किसी मध्यवर्ती अंगी का आश्रय लेकर परमापूर्व की उत्पत्ति में उपकारक होता है, इसीलिए इसको 'आश्रयि कर्म' 'सामवायिक कर्म' कहा जाता है । यद्यपि स्वर्गार्थ ही आरादुपकाररक प्रयाजादि है एवं तदर्थ ही सन्निपत्योपकारक अवघातादि भी हैं, किन्तु वे विभिन्न काल में अनुष्ठित होते हैं, अतः इनका समुच्चय सम्भव नहीं है । इसीप्रकार कर्म और कर्मसंन्यास का भी समुच्चय संभव नहीं है ।

संनिपत्योपकारकयोरेकप्रधानार्थत्वेऽपि विकल्पो नास्त्येव, प्रयाजावघातादीनामपि तत्प्रसङ्गात् । तस्मात्क्रमेणोभयमप्यनुष्ठेयम् । तत्रापि संन्यासानन्तरं कर्मानुष्ठानं चेत्तदा परित्यक्तपूर्वाश्रमस्वीकारेणाऽऽरूढपतितत्वात्कर्मानधिकारित्वं प्राक्तनसंन्यासवैयर्थ्यं च तस्यादृष्टार्थत्वाभावात् । प्रथमकृतसंन्यासेनैव ज्ञानाधिकारलाभे तदुत्तरकाले कर्मानुष्ठानवैयर्थ्यं च । तस्मादादौ भगवदर्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानादन्तःकरणशुद्धौ तीव्रेण वैराग्येण विविदिषायां सर्वकर्मसंन्यासः श्रवणमननादिरूपवेदान्तवाक्यविचाराय कर्तव्य इति भगवतो मतम् । तथा चोक्तम् -- 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इति । वक्ष्यते च –

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥' इति ।

है अर्थात् दृष्टफल के साथ समवेत होकर उत्पन्न होता है[2] । इसप्रकार अदृष्टार्थ आरात् उपकारक कर्म और दृष्टार्थ सन्निपत्य उपकारक कर्मत्याग -- ये दोनों आत्मज्ञानोत्पादन रूप एक प्रधान प्रयोजन के लिए होने पर भी इनमें विकल्प नहीं हो सकता, अन्यथा प्रयाज और अवघातादि में भी विकल्प होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । अत: कर्म और उसके त्याग -- इन दोनों का ही क्रमश: अनुष्ठान करना चाहिए । इसमें भी यदि कहो कि संन्यास के बाद कर्मों का अनुष्ठान किया जाय तो परित्यक्त पूर्व आश्रम को स्वीकार करने से आरूढ़पतित होने के कारण पुन: कर्म का अधिकार ही नहीं रहता और इसप्रकार प्राक्तन = पूर्वस्वीकृत संन्यास भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि उसका कोई अदृष्ट प्रयोजन नहीं है । इसके अतिरिक्त जब प्रथम स्वीकृत संन्यास से ही ज्ञान का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो उसके उत्तरकाल में कर्मों का अनुष्ठान करना व्यर्थ ही है । अतः सर्वप्रथम भगवदर्पण बुद्धि से निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए उससे अन्त:करण = मन की शुद्धि होने पर तीव्र वैराग्य से विविदिषा = ब्रह्मजिज्ञासा -- ब्रह्मज्ञानेच्छा दृढ़ होगी तदनन्तर श्रवण-मननादिरूप वेदान्तवाक्यविचार के लिए सर्वकर्मसंन्यास = समस्त कर्मों का त्याग करना चाहिए-- यही भगवान् को अभिमत है । ऐसा ही भगवान् ने कहा भी है-- 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (गीता, 3.4) = 'कर्मों का आरम्भ किये बिना कोई पुरुष नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं कर सकता' । आगे भी भगवान् कहेंगे -- 'योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले मुनि के लिए कर्मयोग ही साधन कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उसके लिए शम ही साधन कहा जाता है' (गीता, 6.3) । यहाँ

2. विविध साधनों से सिद्ध होनेवाली क्रिया के अनुष्ठान में अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति होने लगने पर अभिप्रेत साधन की प्राप्ति करानेवाली विधि को 'नियमविधि' कहते हैं । उदाहरण के लिए ब्रीहितुषविमोक एक क्रिया है जिसका अनुष्ठान नखविदलन, अश्मकुट्टन और अवहनन से हो सकता है । इसीप्रकार अन्य साधनों से भी तुषविमोक हो सकता है । इसप्रकार तुषविमोक के अनेक साधनों द्वारा सम्पाद्य होने पर जब तुषिविमोक में अवघात के अतिरिक्त नखविदलन आदि किसी भी साधन की प्राप्ति होने लगती है तब अवघात की अप्राप्ति हो उठती है, अत: उस अवघात को प्राप्त कराने के लिए नियमविधि की प्रवृत्ति होती है । नियमविधि इसप्रकार अप्राप्त अवघात का विधान करती है । प्रकृत स्थल में अनभिप्रेत एक साधन की प्राप्ति हो रही थी जिसका बाधकर अभिप्रेत अप्राप्त साधन -- अवघात का विधान किया गया है । अवघात द्वारा ही तुषविमोक होने पर अपूर्व की उत्पत्ति मानी जाती है, नखविदलन द्वारा नहीं, इसीलिए अवघात का नियमन किया गया है । भाव यह है कि अवघात का प्रयोजन नियमापूर्व की उत्पत्ति है, तुषविमोकमात्र नहीं । अवघात होने पर तुषविमोक होता है और अवघात के अभाव में तुषविमोक नहीं होता है --- इसप्रकार अन्वय-व्यतिरेक द्वारा तुषविमोक की सिद्ध्यसिद्धि लोकत: प्राप्त है – सर्वविदित है, अतएव अवघात का विधान तुषविमोक के लिए ही नहीं है, अपितु नियमापूर्व की उत्पत्ति के लिए भी है । इसप्रकार नियमापूर्व अवघात का प्रयोजक है । अवघातादि नियमविधि तुषविमोकरूप दृष्ट फल के साथ ही अपूर्वरूप अदृष्ट फल का जनक होती है । कर्म से ऐसा कोई दृष्ट फल नहीं होता, इसलिए नियमापूर्व इसका प्रयोजक नहीं है ।

योगोऽत्र तीव्रवैराग्यपूर्विका विविदिषा । तदुक्तं वार्तिककारैः--
'प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीति श्रुतेर्बलात् ॥' इति

स्मृतिश्च --

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ ' इति ।

मोक्षधर्मे च --

' कषायं पाचयित्वा च श्रेणीस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥
भावितः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु ।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥
तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः ।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत्परमभीप्सतः ॥' इति ।

4 **मोक्षं वैराग्यम् । एतेन क्रमाक्रमसंन्यासौ द्वावपि दर्शितौ । तथा च श्रुतिः -- 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेयदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति ।**

'योग' शब्द का अर्थ तीव्रवैराग्यपूर्विका विविदिषा = ब्रह्मज्ञानेच्छा है । यह वार्तिककार ने भी कहा है -- ''ईप्सन्ति' = 'इच्छा करते हैं' -- इस श्रुति के बल से यह सिद्ध होता है कि वेदानुवचनादि जो समस्त कर्म श्रुति में विहित हैं उनका मुख्य उद्देश्य है प्रत्यगात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में विविदिषा = जानने की इच्छा उत्पन्न करना, किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के लिए तो तत्त्वज्ञानी उन कर्मों का त्याग करने की ही इच्छा करते हैं ।'' स्मृति में भी कहा गया है -- 'कर्मों से राग-द्वेषादि रूप चित्त के कषाय पक्व = क्षीण हो जाते हैं, ज्ञान तो परम गति है । कर्मों से कषायों के पक्व = क्षीण हो जाने पर उसके बाद ज्ञान की प्रवृत्ति होती है अर्थात् तत्त्वज्ञान का उदय होता है' । मोक्ष-धर्म में भी ऐसा ही कहा गया है -- 'तीन श्रेणीरूप तीन आश्रमों में = ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ और वानप्रस्थ -- इन तीन आश्रमों में कषाय = राग-द्वेष, काम-क्रोध इत्यादि को क्षीण करके संन्यास ग्रहण करना चाहिए । संन्यास सबसे उत्तम अन्तिम आश्रम है । संसार की अनेक योनियों में जितेन्द्रिय रहकर जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उसको तो प्रथम = ब्रह्मचर्य आश्रम में ही मोक्ष = वैराग्य प्राप्त हो जाता है । वैराग्य = मोक्ष को प्राप्तकर दृष्टार्थ अतएव विद्वान् जीवन्मुक्त को अन्य तीन आश्रमों में और क्या प्रयोजन अभीष्ट रह जाता है ?'

4 यहाँ 'मोक्ष' शब्द का अर्थ वैराग्य है । इससे क्रम और अक्रम -- दोनों प्रकार के संन्यास दिखाये गये हैं । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'ब्रह्मचर्य समापन कर गृही = गृहस्थ बने फिर गृहस्थ से वनी = वानप्रस्थ होकर संन्यासी हो जाय अथवा दूसरे प्रकार से ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर ले अथवा गृहस्थ या वानप्रस्थ से ही जिस दिन ही वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ले लें' ।

5 अतः अज्ञानी के लिए वैराग्य न होने की दशा में कर्मानुष्ठान ही विहित है वही करना चाहिए तथा वैराग्य की अवस्था में उसी के लिए श्रवणादि का अवसर प्रदान कर ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिए संन्यास का विधान किया गया है -- इसप्रकार अवस्थाभेद से अज्ञानी के लिए ही कर्म और उसके त्याग की व्याख्या

5 **तस्मादज्ञस्याविरक्ततादशायां कर्मानुष्ठानमेव । तस्यैव विरक्ततादशायां संन्यासः श्रवणाद्यवसरदानेन ज्ञानार्थ इति दशाभेदेनाज्ञमधिकृत्यैव कर्मतत्त्यागौ व्याख्यातुं पञ्चमषष्ठावध्यायावारभ्येते । विद्वत्संन्यासस्तु ज्ञानबलादर्थसिद्ध एवेति संदेहाभावान्नात्र विचार्यते ।**

6 **तत्रैकमेव जिज्ञासुमज्ञं प्रति ज्ञानार्थत्वेन कर्मतत्त्यागयोर्विधानात्तयोश्च विरुद्धयोर्युगपदनुष्ठानासंभवान्मया जिज्ञासुना किमिदानीमनुष्ठेयमिति संदिहानः --**

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ 1 ॥

7 **हे कृष्ण सदानन्दरूप भक्तदुःखकर्षणेति वा । कर्मणां यावज्जीवादिश्रुतिविहितानां नित्यानां नैमित्तिकानां च संन्यासं त्यागं जिज्ञासुमज्ञं प्रति कथयसि वेदमुखेन पुनस्तद्विरुद्धं योगं च**

करने के लिए पञ्चम और षष्ठ अध्यायों का आरम्भ किया गया है । विद्वत्संन्यास तो ज्ञान के बल से स्वतः ही सिद्ध हो जाता है, अतः उसके विषय में कोई सन्देह न होने के कारण यहाँ उसका विचार नहीं किया गया है ।

6 इसप्रकार एक ही जिज्ञासु अज्ञानी पुरुष के लिए ज्ञान के प्रयोजन से जब कर्म और उसके त्याग -- इन दोनों का विधान किया गया है और परस्पर विरुद्ध होने के कारण जब एक ही समय में एक ही पुरुष के द्वारा उन दोनों का अनुष्ठान असम्भव है तब 'मेरे जैसे जिज्ञासु के लिए अब किसका अनुष्ठान करना चाहिए ?' -- इसप्रकार संशयापन्न होकर --

[अर्जुन ने कहा -- हे कृष्ण ! आप कर्मों के संन्यास का और फिर कर्मयोग का भी उपदेश कर रहे हैं, अतः इनमें से जो अधिक श्रेयस्कर हो उस एक का ही अच्छी प्रकार निश्चय करके मुझको उपदेश कीजिए ॥ 1 ॥]

7 हे कृष्ण ! = हे सदानन्दरूप[3] ! अथवा हे भक्तदुःखकर्षण[4] ! = हे भक्तों के दुःखों का कर्षण = हरण करनेवाले ! आप 'संन्यासी लोग इसी आत्मलोक की इच्छा करते हुए संन्यास ग्रहण करते हैं' (बृ० उ० 4.4.22); ' उस इस ब्रह्म को ब्राह्मण लोग वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानना चाहते हैं' (बृ० उ० 4.4.22) इत्यादि -- इन दो श्रुति-वाक्यों से, अथवा, 'जो तृष्णाशून्य, अन्तःकरण और देह का निग्रह करनेवाला तथा सम्पूर्ण भोग साधनों को त्यागनेवाला है वह पुरुष केवल शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक कर्मों को करता हुआ भी किल्विष = संसार को प्राप्त नहीं होता है' (गीता, 4.21); 'हे भारत ! अज्ञानसंभूत और हृदयस्थ इस संशय को अपने ज्ञानरूप खड्ग से काटकर निष्काम कर्मयोग का आचरण करो और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ' (गीता, 4.42) -- इन दो गीता-वाक्यों से एक ही जिज्ञासु अज्ञानी को वेद के आधार से 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि श्रुतिद्वारा विहित नित्य और नैमित्तिक कर्मों के संन्यास = त्याग का और फिर उसके विरुद्ध कर्मानुष्ठानरूप योग का उपदेश कर रहे हैं । इसप्रकार आप एक ही अज्ञानी के

---

3. विष्णुपुराण में कहा है –

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् 'कृषि' शब्द का अर्थ है -- सत्ता या सत्, और 'ण' शब्द का अर्थ है -- आनन्द । सत् और आनन्द का जो ऐक्यरूप है अर्थात् सदानन्दरूप जो परब्रह्म है उसे ही 'कृष्ण' कहा जाता है ।

4. 'कर्षति दुःखानि शरणागतानां भक्तानाम्, बाहुलकात् कृषेर्नक् वर्णं विनापि णत्वं च, कृष्णः--' अर्थात् जो शरणागत भक्तों के दुःखों का कर्षण -- हरण – निवारण करते हैं वे ही 'कृष्ण' हैं ।

कर्मानुष्ठानरूपं शंससि 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति', 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिवाक्यद्वयेन,

'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥'

'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत' इति गीतावाक्यद्वयेन वा । तत्रैकमज्ञं प्रति कर्मतत्त्यागयोर्विधानाद्युगपदुभयानुष्ठानासंभवादेतयोः कर्मतत्त्यागयोर्मध्ये यदेकं श्रेयः प्रशस्यतरं मन्यसे कर्म वा तत्त्यागं वा तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितं तव मतमनुष्ठानाय ॥ 1 ॥

8 **एवमर्जुनस्य प्रश्ने तदुत्तरम् –**

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ 2 ॥

9 **निःश्रेयसकरौ ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन मोक्षोपयोगिनौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासादनधिकारिकृतात्कर्मयोगो विशिष्यते श्रेयानधिकारसंपादकत्वेन ॥ 2 ॥**

लिए कर्म और कर्मत्याग-- इन दोनों का विधान कर रहे हैं, किन्तु इन दोनों का एक साथ अनुष्ठान होना सम्भव नहीं है, अत: कर्म और कर्मत्याग -- इन दोनों में से जिस एक को आप श्रेयस्कर = अधिक प्रशस्त समझते हो उस कर्म अथवा कर्मत्याग रूप अपने सुनिश्चित मत को मुझे अनुष्ठान करने के लिए कहिए ।। 1 ।।

8 इसप्रकार अर्जुन के प्रश्न करने पर उसके उत्तर में श्रीभगवान् बोले --

[कर्मसंन्यास और कर्मयोग -- ये दोनों ही निःश्रेयस = कल्याण करनेवाले हैं, किन्तु उन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ।। 2 ।।]

9 संन्यास और कर्मयोग -- ये दोनों की निःश्रेयसकर हैं अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के हेतु होने कारण मोक्ष में उपयोगी हैं । किन्तु उन दोनों में भी अनधिकारी द्वारा किए हुए कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिकार का संपादक होने से विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है[5] ।। 2 ।।

5. संन्यास साधारणत: दो प्रकार का होता है – विद्वत्संन्यास और विविदिषासंन्यास । प्रकृत श्लोक में विद्वत्संन्यास के सम्बन्ध में नहीं कहा गया है क्योंकि विद्वान् = ब्रह्मनिष्ठ के लिए कर्मयोगानुष्ठान असम्भव है, यही इस अध्याय की उपक्रमिका में पहले ही कहा गया है । अत: जिसने अनात्मज्ञ किन्तु जिज्ञासु होकर विविदिषासंन्यास ग्रहण किया है उसके कर्म परित्याग को अर्थात् वेदान्तवाक्यादि के श्रवणादि के लिए मुमुक्षु जब गृहस्थाश्रमोचित समस्त कर्म का परित्याग कर देता है तब उसप्रकार के कर्म परित्याग को यहां 'संन्यास' शब्द से अभिहित किया गया है । इसप्रकार कर्मसंन्यास श्रवणादि के द्वारा ज्ञान उत्पन्न कर मोक्ष का हेतु होता है । और जिनकी चित्तशुद्धि न होकर विविदिषा की उत्पत्ति नहीं हुई है उनकी चित्तशुद्धि के लिए कर्मयोगानुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है । इसप्रकार साधक कर्मयोगानुष्ठान से पहले चित्तशुद्धि कर तत्पश्चात् श्रवणादि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करते हैं, यही भेद है । किन्तु कर्मसंन्यास और कर्मयोगानुष्ठान – दोनों ही अधिकारी-भेद से ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होने के कारण मोक्ष के हेतु होते हैं, अत: दोनों की निःश्रेयसकर हैं । यद्यपि दोनों ही मोक्ष के हेतु होने के कारण निःश्रेयसकर हैं, तथापि उन दोनों में भी मात्र कर्मसंन्यास से = ज्ञानरहित कर्मत्याग से अर्थात् जो चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्वज्ञान का अधिकारी नहीं हुआ है ऐसे अनधिकारी पुरुष के द्वारा जो कर्मसंन्यास होता है उसकी अपेक्षा कर्मयोगानुष्ठान ही श्रेष्ठ होता है, क्योंकि कर्मयोग के फलस्वरूप ही कर्मयोगी चित्तशुद्धि प्राप्त कर प्रकृत संन्यास का अधिकारी होता है, ऐसा कहकर ही भगवान् कर्मयोग की स्तुति कर रहे हैं ।

10 **तमेव कर्मयोगं स्तौति त्रिभिः--**

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ 3 ॥

11 **स कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नित्यं संन्यासीति ज्ञेयः । कोऽसौ ? यो न द्वेष्टि भगवदर्पणबुद्धया क्रियमाणं कर्म निष्फलत्वशङ्कया । न काङ्क्षति स्वर्गादिकम् । निर्द्वंद्वो रागद्वेषरहितो हि यस्मात्सुखमनायासेन हे महाबाहो बन्धादन्तःकरणाशुद्धिरूपाज्ज्ञानप्रतिबन्धात्प्रमुच्यते नित्यानित्यवस्तुविवेकादिप्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ 3 ॥**

12 **ननु यः कर्मणि प्रवृत्तः स कथं संन्यासीति ज्ञातव्यः कर्मतत्त्यागयोः स्वरूपविरोधात्, फलैक्यात्तथेति चेत्, न स्वरूपतो विरुद्धयोः फलेऽपि विरोधस्यौचित्यात् । तथाच निः-श्रेयसकरावुभावित्यनुपपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह --**

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ 4 ॥

13 **संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरङ्गसाधनतया सांख्यः संन्यासः । योगः पूर्वोक्तः कर्मयोगः । तौ पृथग्विरुद्धफलौ बालाः शास्त्रार्थविवेकज्ञानशून्याः प्रवदन्ति न पण्डिताः । किं**

---

10 उसी कर्मयोग की तीन श्लोकों से स्तुति करते हैं --
[हे महाबाहो ! जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है उसको नित्यसंन्यासी ही समझना चाहिए, क्योंकि निर्द्वन्द्व = राग--द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित होने के कारण वह सुखपूर्वक = सुगमता से ही संसाररूप बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ 3 ॥]

11 वह कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ भी नित्यसंन्यासी है -- यह समझना चाहिए । वह कौन ? जो भगवदर्पण बुद्धि से किये जाते हुए कर्म से, उसकी निष्फलता की आशङ्का से, द्वेष नहीं करता और न उससे स्वर्गादि की आकांक्षा करता है; क्योंकि हे महाबाहो ! निर्द्वन्द्व = राग-द्वेषरहित पुरुष सुखपूर्वक = अनायास ही बन्धन से = अन्त:करण की अशुद्धिरूप ज्ञान के प्रतिबन्ध से प्रमुच्यते = नित्यानित्यवस्तुविवेकादि के प्रकर्ष से मुक्त हो जाता है ॥ 3 ॥

12 'जो कर्म में प्रवृत्त है उसको संन्यासी कैसे समझना चाहिए ? क्योंकि कर्म और कर्मत्याग के स्वरूप में तो विरोध है । यदि कहें कि दोनों के फल में एकता होने से उनमें अविरोध है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो स्वरूपत: विरुद्ध हैं उनके तो फल में भी विरोध रहना ही उचित है, अत: कर्म और कर्मत्याग -- ये दोनों ही नि:श्रेयसकर हैं -- यह कथन भी सर्वथा उपपत्तिशून्य है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं :--
[सांख्य = संन्यास और योग = निष्काम कर्मयोग पृथक्-पृथक् फलवाले हैं = विरुद्ध फलवाले हैं -- ऐसा तो मूर्खलोग कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलरूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ 4 ॥]

13 संख्या सम्यक् आत्मबुद्धि को कहते हैं, उसको॰ज्ञान के अन्तरङ्गसाधनरूप से जो धारण करता है

तर्हि पण्डितानां मतम् । उच्यते -- एकमपि संन्यासकर्मणोर्मध्ये सम्यगास्थित:स्वाधिकारानुरूपेण सम्यग्यथाशास्त्रंकृतवान्सन्नुभयोर्विन्दतेफलंज्ञानोत्पत्तिद्वारेणनि:श्रेयसमेकमेव॥4॥

14 एकस्यानुष्ठानात्कथमुभयो: फलं विन्दते तत्राऽऽह --

यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति ॥ 5 ॥

15 सांख्यैर्ज्ञाननिष्ठै: संन्यासिभिरैहिककर्मानुष्ठानशून्यत्वेऽपि प्राग्भवीयकर्मभिरेव संस्कृतान्त:करणै: श्रवणादिपूर्विकया ज्ञाननिष्ठया यत्प्रसिद्धं स्थानं तिष्ठत्येवास्मिन्नतु कदाऽपि च्यवत इति व्युत्पत्त्या मोक्षाख्यं प्राप्यत आवरणाभावमात्रेण लभ्यत इव नित्यप्राप्तत्वात् । योगैरपि भगवदर्पणबुद्ध्या फलाभिसंधिराहित्येन कृतानि कर्माणि शास्त्रीयाणि योगास्ते येषां सन्ति तेऽपि योगा: । अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्यय: । तैर्योगिभिरपि सत्त्वशुद्ध्या संन्यासपूर्वकश्रवणादिपुर:सरया ज्ञाननिष्ठया वर्तमाने भविष्यति वा जन्मनि संपत्स्यमानया तत्स्थानं गम्यते । अत एकफलत्वादेकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स एव सम्यक्पश्यति नान्य: ।

वह सांख्य[6] = संन्यास और योग = पूर्वोक्त कर्मयोग -- ये दोनों पृथक् = विरुद्ध फलवाले हैं -- ऐसा तो बाल = शास्त्रार्थ के विवेकज्ञान से शून्य मूर्खलोग कहते हैं, न कि पण्डितजन । तो पण्डितों का क्या मत है ? कहते हैं -- संन्यास और कर्म -- इन दोनों में से एक में भी सम्यक् आस्थित होने पर अर्थात् अपने अधिकार के अनुसार सम्यक् -- यथाशास्त्र आचरण करने पर पुरुष ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा दोनों के मोक्षरूप एक ही फल को प्राप्त होता है ॥ 4 ॥

14 एक का अनुष्ठान करने पर दोनों का फल कैसे प्राप्त होता है ? इसपर कहते हैं :--
[सांख्यों = संन्यासियों द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है वही कर्मयोगियों को भी प्राप्त होता है, अत: जो सांख्य = संन्यास और योग = कर्मयोग को एकरूप से देखता है वही यथार्थ देखता है ॥ 5 ॥]

15 ऐहिक = लौकिक कर्मानुष्ठान से शून्य होने पर भी अपने पूर्वजन्म के कर्मों से ही संस्कृत -- शुद्ध अन्त:करणवाले सांख्यों अर्थात् ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों के द्वारा श्रवणादिपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से जो प्रसिद्ध स्थान = 'इसमें स्थित ही रहता है, कभी च्युत नहीं होता' -- इस व्युत्पत्ति से 'मोक्ष' संज्ञक स्थान प्राप्त किया जाता है -- नित्य प्राप्त होने के कारण जो आवरण की निवृत्तिमात्र से प्राप्त किया जाता -- सा प्रतीत होता है । योगियों द्वारा भी भगवदर्पण बुद्धि से फलाभिसन्धि = फल की कामना न रखकर किये जानेवाले शास्त्रीय कर्म 'योग' हैं, वे जिनके हैं वे भी 'योग' कहे जाते हैं -- 'योग' शब्द अर्शादिगण में है, अत: यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में 'अच्' प्रत्यय हुआ है -- उन योगियों के द्वारा भी सत्त्वशुद्धि = अन्त:करण की शुद्धि होने पर वर्तमान या भावी जन्म में संन्यासपूर्वक किये हुए श्रवणादि से प्राप्त हुई ज्ञाननिष्ठा से वही स्थान प्राप्त किया जाता है । अत: एक मोक्षरूप फलवाले होने से जो सांख्य और योग को एकरूप देखता है वही सम्यक् = यथार्थ देखता है, अन्य नहीं ।

---

6. यहाँ 'तद्वहतिरथयुगप्रासङ्गम्' (पाणिनिसूत्र, 4.4.76) = 'द्वितीयान्त रथ, युग और प्रासङ्ग शब्दों से 'वहति' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है' -- सूत्र से 'यत्' प्रत्यय हुआ है । संख्या सम्यगात्मबुद्धि: तां वहति इति सांख्य: = संख्या + यत्, 'यस्येति च' (पाणिनिसूत्र 6.4.148) -- सूत्र से अन्त्य आकार का लोप होकर 'सांख्य' शब्द निष्पन्न हुआ ।

16 **अयं भावः—येषां संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा दृश्यते तेषां तयैव लिङ्गेन प्राग्जन्मसु भगवदर्पितकर्मनिष्ठाऽनुमीयते । कारणमन्तरेण कार्योत्पत्त्ययोगात् । तदुक्तम्—**

'यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत् ।
यत्कृत्यं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणि स्थितिः ॥' इति ।

एवं येषां भगवदर्पितकर्मनिष्ठा दृश्यते तेषां तयैव लिङ्गेन भाविनी संन्यासपूर्वज्ञाननिष्ठाऽनुमीयते सामग्र्याः कार्याव्यभिचारित्वात् । तस्मादज्ञेन मुमुक्षुणाऽन्तःकरणशुद्धये प्रथमं कर्मयोगोऽनुष्ठेयो न तु संन्यासः । स तु वैराग्यतीव्रतायां स्वयमेव भविष्यतीति ॥ 5 ॥

17 **अशुद्धान्तःकरणेनापि संन्यास एव प्रथमं कुतो न क्रियते ज्ञाननिष्ठाहेतुत्वेन तस्याऽऽवश्यकत्वादिति चेत्तत्राऽऽह—**

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ 6 ॥

18 **अयोगतो योगमन्तःकरणशोधकं शास्त्रीयं कर्मान्तरेण हठादेव यः कृतः संन्यासः स तु दुःखमाप्तुमेव भवति अशुद्धान्तःकरणत्वेन तत्फलस्य ज्ञाननिष्ठाया असंभवात् । शोधके च**

---

16 भाव यह है कि जिनकी संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा देखी जाती है उसी ज्ञाननिष्ठास्वरूप लिङ्ग = हेतु से ही उनकी पूर्वजन्मों में भगवदर्पित कर्मनिष्ठा का अनुमान होता है, क्योंकि कारण के बिना कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं है । कहा भी है --
'वर्तमान जन्म के अतिरिक्त अन्य जो जन्म हुए थे जन्मों में इस ज्ञानी पुरुष ने अवश्य ही सत्कर्म किये होंगे, नहीं तो इसकी ब्रह्म में स्थिति नहीं हो सकती थी ।' इसीप्रकार जिनकी भगवदर्पित कर्मनिष्ठा देखी जाती है उनकी, उसी लिङ्ग से, भावी संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि कारण-सामग्री कार्य का व्यभिचार नहीं करती है अर्थात् अपने कार्य की उत्पत्ति करती ही है । अतः अज्ञ मुमुक्षु पुरुष को पहले अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्मयोग का अनुष्ठान करना चाहिए, न कि संन्यास का, क्योंकि वैराग्य की तीव्रता होने पर संन्यास तो स्वयं ही हो जायेगा ॥ 5 ॥

17 यदि कोई कहे कि 'अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष को भी पहले संन्यास ही क्यों नहीं करना चाहिए, क्योंकि ज्ञाननिष्ठा का हेतु होने से उसको करना आवश्यक ही है' -- तो कहते हैं :--
[हे महाबाहो ! निष्काम कर्मयोग के बिना हठात् किया हुआ संन्यास दुःख प्राप्त करने के लिए ही होता है । योगयुक्त होकर संन्यास करनेवाला मुनि अचिरेण = शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ 6 ॥]

18 अयोगतः = अन्तःकरणशोधक शास्त्रीय कर्मरूप योग के बिना हठ से ही किया हुआ जो संन्यास होता है वह तो दुःख प्राप्त करने के लिए ही होता है, क्योंकि अन्तःकरण के अशुद्ध होने से तत्फल -- भूता = संन्यासफलभूता = संन्यास की फलभूता ज्ञाननिष्ठा तो हो नहीं सकती और अन्तः -- करणशोधक कर्म में अधिकार भी नहीं रहता-- इसप्रकार कर्म और ब्रह्म--दोनों से भ्रष्ट हो जाने के

कर्मण्यनधिकारात्कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टत्वेन परमसंकटापत्तेः । कर्मयोगयुक्तस्तु शुद्धान्तः -- करणत्वान्मुनिर्मननशीलः संन्यासी भूत्वा ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणमात्मानं नचिरेण शीघ्रमेवाधिगच्छति साक्षात्करोति प्रतिबन्धकाभावात् । एतच्चोक्तं प्रागेव--

'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥' इति ।

19 **अत एकफलत्वेऽपि कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यत इति यत्प्रागुक्तं तदुपपन्नम् ॥ 6 ॥**

20 **ननु कर्मणो बन्धहेतुत्वाद्योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्माधिगच्छतीत्यनुपपन्नमित्यत आह--**

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ 7 ॥

21 **भगवदर्पणफलाभिसन्धिराहित्यादिगुणयुक्तं शास्त्रीयं कर्म योग इत्युच्यते । तेन योगेन युक्तः पुरुषः प्रथमं विशुद्धात्मा विशुद्धो रजस्तमोभ्यामकलुषित आत्माऽन्तःकरणरूपं सत्त्वं यस्य स तथा । निर्मलान्तःकरणः सन्विजितात्मा स्ववशीकृतदेहः । ततो जितेन्द्रियः स्ववशीकृतसर्वबाह्येन्द्रियः । एतेन मनूक्तस्त्रिदण्डी कथितः,**

कारण परम संकट उपस्थित हो जाता है । कर्मयोगयुक्त मुनि = मननशील तो शुद्धचित्त होने के कारण संन्यासी होकर ब्रह्म = सत्य, ज्ञानादिलक्षण आत्मा को नचिर = अचिर = शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है अर्थात् प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने के कारण उसका साक्षात्कार कर लेता है । यह पहले ही कहा जा चुका है -- 'कर्मों का अनुष्ठान न करने से ही पुरुष सर्वकर्मशून्यतारूप ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है और केवल संन्यास से ही ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है' (गीता, 3.4) ।

19 अतः एक फलवाले होने पर भी 'कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट = श्रेष्ठ है' -- यह जो पहले कहा है वह उचित ही है ॥ 6 ॥

20 'कर्म तो बन्धन का हेतु है, अतः यह कहना उचित नहीं है कि कर्मयोगयुक्त मुनि ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है' -- ऐसा यदि कोई कहे तो कहते हैं :--

[कर्मयोगयुक्त पुरुष विशुद्धात्मा = विशुद्ध अन्तःकरणवाला, विजितात्मा = संयत शरीरवाला, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण जड़-अजड़ को आत्मभाव से देखनेवाला होने के कारण कर्म करने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता ॥ 7 ॥]

21 भगवदर्पण और फलाभिसन्धिराहित्य आदि गुणों से युक्त शास्त्रीय कर्म 'योग' कहा जाता है । उस योग से युक्त पुरुष प्रथम विशुद्धात्मा = विशुद्ध अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से अकलुषित -- अदूषित है आत्मा = अन्तःकरणरूप सत्त्व जिसका ऐसा निर्मल अन्तःकरणवाला होकर, विजितात्मा = अपने वश में किया हुआ है देह जिसने ऐसा होकर, पुनः जितेन्द्रिय = अपने वश में की हुई हैं समस्त बाह्य इन्द्रियाँ जिसने ऐसा होकर उक्त तीनों को वश में कर लेता है, वह त्रिदण्डी कहलाता है । इससे मनु के कहे हुए त्रिदण्डी का उल्लेख किया गया है -- 'वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड -- ये तीन दण्ड जिसके अधीन होते हैं वह 'त्रिदण्डी' कहा जाता हैं (मनुस्मृति, 12.10) । यहाँ 'वाक्' बाह्य इन्द्रियों का उपलक्षण है । ऐसे पुरुष को तत्त्वज्ञान अवश्य होता है -- यह 'सर्वभूतभूतात्मा' से कहते हैं ।

'वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥' इति ।

वागिति ब्राह्येन्द्रियोपलक्षणम् । एतादृशस्य तत्त्वज्ञानमवश्यं भवतीत्याह--सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वभूत आत्मभूतश्चाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य स तथा । जडाजडात्मकं सर्वमात्ममात्रं पश्यन्नित्यर्थः । सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्येति व्याख्याने तु सर्वभूतात्मेत्येतावतैवार्थलाभादात्मभूतेत्यधिकं स्यात् । सर्वात्मपदयोर्जडाजडपरत्वे तु समञ्जसम् । एतादृशः परमार्थदर्शी कुर्वन्नपि कर्माणि परदृष्ट्या न लिप्यते तैःकर्मभिः स्वदृष्ट्या तदभावादित्यर्थः ॥7॥

22 **एतदेव विवृणोति द्वाभ्याम् –**

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ 8 ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ 9 ॥

सर्वभूतात्मभूतात्मा = सर्वभूत और आत्मभूत है आत्मा -- स्वरूप जिसका वह अर्थात् जड़ -- अजड़रूप सभी को आत्ममात्र देखनेवाला है । 'सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्य इति' = 'समस्त भूतों -- प्राणियों का आत्मभूत है आत्मा जिसका वह' -- ऐसा व्याख्यान करने पर तो 'सर्वभूतात्मा' -- इतने से ही उक्त अर्थ निकल सकता था, अत: 'आत्मभूत' -- यह पद अधिक ही रहेगा[7] । फलत: 'सर्व' और 'आत्मा' -- इन दो पदों को जड़ और अजड़परक मानना उचित होगा । ऐसा परमार्थदर्शी दूसरों की दृष्टि में कर्म करता हुआ भी उन कर्मों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि अपनी दृष्टि में तो वह कुछ करता ही नहीं है -- यह अर्थ है ॥ 7 ॥

22 इसी का दो श्लोकों से स्पष्टीकरण करते हैं --

[तत्त्व को जाननेवाला सांख्य-योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, तथा आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी 'इन्द्रियाँ इन्द्रियों के = अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं' -- ऐसा समझता हुआ 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' -- ऐसा मानता है ॥ 8-9 ॥]

7. प्रकृत में मधुसूदन सरस्वती ने भाष्योक्तार्थ पर दोषारोपण करते हुए यह जो कहा है कि 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' का 'सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्य इति' -- ऐसा व्याख्यान करने पर तो 'सर्वभूतात्मा' मात्र पद से ही भाष्योक्तार्थ निकल सकता था, अत: वहाँ 'आत्मभूत' पद अधिक ही रहेगा; फलत: 'सर्व' और 'आत्मा' – इन दो पदों को जड़ और अजड़परक मानना उचित होगा', – वह प्रमादमात्र है; क्योंकि उक्त समस्त पद का 'सर्व' शब्द कृत्स्नवाची = अखिलार्थक है, अत: 'सर्व' शब्द से ही जड़ और अजड़ का ग्रहण होने पर 'सर्वभूतात्मा' – इतने से ही मधुसूदन सरस्वती का इष्टार्थ निकल आता है, तो फिर उनके व्याख्यान के अनुसार भी 'आत्मभूत' पद अधिक ही रहेगा; पुन:, यदि उक्त समस्त पद का 'सर्वमचेतनमात्मनश्चेतनास्तद्भूत आत्मा यस्य इति' = 'समस्त = अचेतन और आत्मा = चेतन भूत है आत्मा जिसका' -- ऐसा विग्रह करने पर 'सर्वात्मभूतात्मा' इतने से ही मधुसूदन सरस्वती का अभीष्टार्थ निकल आता है, तो फिर उनके व्याख्यान में प्रथम 'भूत' पद अधिक ही रहेगा, इस प्रकार 'यत्रोभयो: समो दोष:' -- इस न्याय से मधुसूदन सरस्वती का भाष्य पर आक्षेप अनुचित है (द्रष्टव्य – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

23 **चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैर्वागादिकर्मेन्द्रियैः प्राणादिवायुभेदैरन्तःकरणचतुष्टयेन च तत्तच्चेष्टासु क्रियमाणासु इन्द्रियाणीन्द्रियादीन्येवेन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु वर्तन्ते प्रवर्तन्ते न त्वहमिति धारयन्नवधारयन्नैव किंचित्करोमीति मन्येत मन्यते तत्त्ववित्परमार्थदर्शी युक्तः समाहितचित्तः। अथवाऽऽदौ युक्तः कर्मयोगेन पश्चादन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्त्वविद्भूत्वा नैव किंचित्करोमीति मन्यत इति संबन्धः।**

24 **तत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां व्यापाराः पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नित्युक्ताः। गतिः पादयोः। प्रलापो वाचः। विसर्गः पायूपस्थयोः। ग्रहणं हस्तयोरिति पञ्च कर्मेन्द्रियव्यापारा गच्छन्प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नित्युक्ताः। श्वसन्निति प्राणादिपञ्चकस्य व्यापारोपलक्षणम्। उन्मिषन्निमिषन्निति नागकूर्मादिपञ्चकस्य। स्वपन्नित्यन्तः-करणचतुष्टयस्य। अर्थक्रमवशात्पाठक्रमं भङ्क्त्वा व्याख्याताविमौ श्लोकौ। यस्मात्सर्वव्यापा-रेष्वप्यात्मनोऽकर्तृत्वमेव पश्यति अतः कुर्वन्नपि न लिप्यत इति युक्तमेवोक्तमिति भावः॥ 8-9॥**

25 **तर्ह्यविद्वान्कर्तृत्वाभिमानाल्लिप्यतैव तथाच कथं तस्य संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा स्यादिति तत्राऽऽह--**

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ 10॥

---

23 चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों से, वागादि कर्मेन्द्रियों से, प्राणादि वायुविशेष से और अन्तःकरणचतुष्टय से उन-उन चेष्टाओं को करने पर 'इन्द्रियाणि = इन्द्रियादि ही इन्द्रियार्थों में = अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं = प्रवृत्त हो रही हैं, मैं नहीं' -- ऐसी धारणा अर्थात् निश्चय करके तत्त्ववित् = परमार्थदर्शी युक्त = समाहितचित्त पुरुष 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' -- ऐसा मानता है। अथवा, इसका यह सम्बन्ध इष्ट है कि पहले कर्मयोग से युक्त होकर फिर अन्तःकरणशुद्धि द्वारा तत्त्ववित् होकर 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' -- ऐसा मानता है।

24 उसमें दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, घ्राण और अशन -- ये चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना -- इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः व्यापार 'पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन् और अश्नन्' -- इन पदों से कहे गये हैं। पैरों की गति, वाणी का प्रलाप, पायु और उपस्थ का विसर्ग तथा हाथों का ग्रहण -- ये पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार 'गच्छन्, प्रलपन्, विसृजन् और गृह्णन्' -- इन पदों से कहे गये हैं। 'श्वसन्' -- यह प्राणादि पाँच वायुओं के व्यापार का उपलक्षण है, 'उन्मिषन्, निमिषन्' इत्यादि नाग, कूर्मादि पाँच वायुओं के व्यापार हैं। 'स्वपन्' आदि अन्तःकरणचतुष्टय के व्यापार हैं। अर्थक्रम के कारण पाठक्रम को भङ्ग करके इन दोनों श्लोकों की व्याख्या की गई है[8]। क्योंकि समस्त व्यापारों में भी वह तत्त्ववित् आत्मा का अकर्तृत्व ही देखता है, अतः 'वह कर्म करते हुए भी उससे लिप्त नही होता है' -- यह ठीक ही कहा है -- ऐसा इसका भाव है ॥8-9॥

25 प्रश्न होगा -- 'अविद्वान् तो कर्तृत्वाभिमान से लिप्त होता ही है, ऐसी स्थिति में उसको संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा कैसे प्राप्त होगी'? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं :--

[जो पुरुष फल की अभिलाषा छोड़कर ब्रह्म = परमेश्वर को अर्पण करते हुए कर्म करता है वह जल से कमल के पत्ते के समान पाप से लिप्त नहीं होता ॥ 10 ॥]

---

8. यह न्याय है -- 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' -- अर्थात् पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है, क्योंकि अर्थबोध के लिए ही शब्द का प्रयोग होता है।

26 **ब्रह्मणि परमेश्वर आधाय समर्प्य सङ्गं फलाभिलाषं त्यक्त्वेश्वरार्थं भृत्य इव स्वाम्यर्थं स्वफलनिरपेक्षतया करोमीत्यभिप्रायेण कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च करोति यो लिप्यते न स पापेन पापपुण्यात्मकेन कर्मणेति यावत् । यथा पद्मपत्रमुपरि प्रक्षिप्तेनाम्भसा न लिप्यते तद्वत् । भगवदर्पणबुद्धयाऽनुष्ठितं कर्म बुद्धिशुद्धिफलमेव स्यात् ॥ 10 ॥**

27 **तदेव विवृणोति—**

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ 11 ॥

28 **कायेन मनसा बुद्धयेन्द्रियैरपि योगिनः कर्मिणः फलसङ्गं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति । कायादीनां सर्वेषां विशेषणं केवलैरिति । ईश्वरायैव करोमि न मम फलायेति ममताशून्यैरित्यर्थः । आत्मशुद्धये चित्तशुद्धयर्थम् ॥ 11 ॥**

29 **कर्तृत्वाभिमानसाम्येऽपि तेनैव कर्मणा कश्चिन्मुच्यते कश्चित्तु बध्यत इति वैषम्ये को हेतुरिति तत्राऽऽह—**

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ 12 ॥

---

26 जो पुरुष ब्रह्म = परमेश्वर में आधान = समर्पण करके सङ्ग = फल की अभिलाषा छोड़कर 'जैसे सेवक स्वामी के लिए अपने फल की इच्छा न रखकर कार्य करता है वैसे ही मैं ईश्वर के लिए निरभिलाष होकर कर्म कर रहा हूँ' -- इस अभिप्राय से समस्त लौकिक और वैदिक कर्म करता है वह पाप से अर्थात् पाप--पुण्य रूप कर्म से लिप्त नहीं होता । जिसप्रकार कमल का पत्ता अपने ऊपर डाले हुए जल से लिप्त नहीं होता उसीप्रकार अविद्वान् भी कर्मलिप्त नहीं होता । भगवदर्पणबुद्धि से अनुष्ठित कर्म बुद्धि की शुद्धिरूप फलवाला ही होता है ॥ 10 ॥

27 इसी को स्पष्ट करते हैं :--
[निष्काम कर्मयोगी आत्मशुद्धि = चित्तशुद्धि के लिए फल की अभिलाषा छोड़कर ममताशून्य शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा भी कर्म करते रहते हैं ॥11॥]

28 योगी अर्थात् कर्मयोगी फल की आसक्ति छोड़कर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं । 'केवलैः' -- यह 'काय' आदि सभी का विशेषण है । इसका अर्थ यह है कि 'मैं ईश्वर के लिए ही कर्म करता हूँ अपने फल के लिए नहीं' – इसप्रकार ममताशून्य शरीरादि से योगी कर्म करते हैं । आत्मशुद्धि के लिए अर्थात् चित्त की शुद्धि के लिए करते हैं ॥ 11 ॥

29 'कर्तृत्वाभिमान समान होने पर भी उसी कर्म से कोई मुक्त होता है और कोई बंध जाता है -- इस विषमता का क्या कारण है ?' -- ऐसी आशङ्का होने पर भगवान् कहते हैं :--
[युक्त = निष्काम कर्मयोगी कर्मफल को त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त करता है, किन्तु अयुक्त पुरुष सकामभाव से प्रवृत्त होने के कारण फल में आसक्त होकर कर्मों में अत्यन्त बंध जाता है ॥ 12 ॥]

30 युक्त ईश्वरायैवैतानि कर्माणि न मम फलायेत्येवमभिप्रायवान्कर्मफलं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वञ्शान्तिं मोक्षाख्यामाप्नोति नैष्ठिकीं सत्त्वशुद्धिनित्यानित्यवस्तुविवेकसंन्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेण जातामिति यावत् । यस्तु पुनरयुक्त ईश्वरायैवैतानि कर्माणि न मम फलायेत्यभिप्रायशून्यः स कामकारेण कामतः प्रवृत्त्या मम फलायैवेदं कर्म करोमीति फले सक्तो निबध्यते कर्मभिर्नितरां संसारबन्धं प्राप्नोति । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि युक्तः सन्कर्माणि कुर्विति वाक्यशेषः ॥ 12 ॥

31 अशुद्धचित्तस्य केवलात्संन्यासात्कर्मयोगः श्रेयानिति पूर्वोक्तं प्रपञ्च्याधुना शुद्धचित्तस्य सर्वकर्मसंन्यास एव श्रेयानित्याह–

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ 13 ॥

32 नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रतिषिद्धं चेति सर्वाणि कर्माणि मनसा कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यत्रोक्तेनाकर्त्रात्मस्वरूपसम्यग्दर्शनेन संन्यस्य परित्यज्य प्रारब्धकर्मवशादास्ते तिष्ठत्येव । किं दुःखेन नेत्याह–सुखमनायासेन, आयासहेतुकायवाङ्मनोव्यापारशून्यत्वात् । कायवाङ्मनांसि स्वच्छन्दानि कुतो न व्याप्रियन्ते तत्राऽऽह-वशी स्ववशीकृतकार्यकरणसंघातः । क्वाऽऽस्ते नवद्वारे पुरे द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके वागेकेति शिरसि सप्त द्वे पायूपस्थाख्ये अध इति नवद्वारविशिष्टे देहे । –

---

30 युक्त = 'ये कर्म ईश्वर के लिए ही हैं, मेरे फल के लिए नहीं है' -- ऐसे अभिप्रायवाला पुरुष कर्मफल को त्यागकर कर्म करता हुआ नैष्ठिकी अर्थात् सत्त्वशुद्धि-चित्तशुद्धि, नित्यानित्यवस्तुविवेक, संन्यास और ज्ञाननिष्ठा के क्रम से उत्पन्न हुई मोक्षसंज्ञक शान्ति प्राप्त करता है । किन्तु जो अयुक्त है = 'ये कर्म ईश्वर के लिए ही हैं, मेरे फल के लिए नहीं हैं' -- ऐसे अभिप्राय से शून्य है वह कामकार अर्थात् सकामभाव से प्रवृत्त होने के कारण 'अपने फल के लिए यह कर्म कर रहा हूँ' -- ऐसे विचार से फल में आसक्त होकर निबद्ध हो जाता है अर्थात् कर्मों से सर्वथा संसार के बन्धन को प्राप्त होता है । क्योंकि ऐसा है, इसलिए तुम भी युक्त होकर कर्म करो -- यह वाक्य का शेष अंश है ।। 12 ।।

31 अशुद्धचित्त पुरुष के लिए केवल संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है --इस पूर्वकथन का विस्तार से निरूपण कर अब भगवान् यह कहते हैं कि शुद्धचित्त पुरुष के लिए तो सर्वकर्मसंन्यास ही अति श्रेष्ठ है --

[वशी = कार्यकरणसंघात को वश में करलेनेवाला देही मन से समस्त कर्मों का संन्यास = त्याग कर नौ द्वारोंवाले पुर = देह - शरीर में कुछ भी न करता हुआ और कुछ भी न करवाता हुआ सुख से रहता है ।। 13 ।।]

32 नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध -- इन समस्त कर्मों का 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (गीता, 4.18) -- इस श्लोक में कहे हुए अकर्त्ता आत्मा के स्वरूप का सम्यक् दर्शन करने के द्वारा मन से संन्यास = परित्याग करके प्रारब्धकर्मवश केवल स्थित रहता है । क्या दुःख से रहता है ? कहते हैं -- नहीं, सुख से अर्थात् अनायास से रहता है, क्योंकि आयास = श्रम के हेतु शरीर, वाणी और मन के व्यापार से शून्य होता है । उसके शरीर, वाणी और मन स्वच्छन्द होकर व्यापार क्यों नहीं करते हैं ? इस पर कहते हैं -- वशी = उसने कार्य-करण = शरीर-इन्द्रियादि के संघात को अपने वश में कर लिया है । फिर वह सुख से कहाँ रहता है ? नव द्वारवाले = दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो नथुने (नासिकाद्वार), एक वाक्-द्वार (मुख) -- ये सात शिर अर्थात् शरीर के ऊपरी भाग के द्वार और

देही देहभिन्नात्मदर्शी प्रवासीव परगेहे तत्पूजापरिभवादिभिरप्रहृष्यन्नविषीदन्नहंकारममकारशून्यस्तिष्ठति। अज्ञो हि देहतादात्म्याभिमानाद्देह एव न तु देही। स च देहाधिकरणमेवाऽऽत्मनोऽधिकरणं मन्यमानो गृहे भूमावासने वाऽहमास इत्यभिमन्यते न तु देहेऽहमास इति भेददर्शनाभावात्। संघातव्यतिरिक्तात्मदर्शी तु सर्वकर्मसंन्यासी भेददर्शनाद्देहेऽहमास इति प्रतिपद्यते। अत एव देहादिव्यापाराणामविद्ययाऽऽत्मन्यक्रिये समारोपितानां विद्यया बाध एव सर्वकर्मसंन्यास इत्युच्यते। एतस्मादेवाज्ञवैलक्षण्याद्युक्तं विशेषणं नवद्वारे पुर आस्त इति।

33 **ननु देहादिव्यापाराणामात्मन्यारोपितानां नौव्यापाराणां तीरस्थवृक्ष इव विद्यया बाधेऽपि स्वव्यापारेणाऽऽत्मनः कर्तृत्वं देहादिव्यापारेषु कारयितृत्वं च स्यादिति नेत्याह—नैव कुर्वन्न कारयन्, आस्त इति संबन्धः ॥ 13 ॥**

पायु तथा उपस्थ -- ये दो शरीर के नीचे के भाग के द्वार – इसप्रकार नौ द्वारवाले देह में रहता है। देही = देह से भिन्न आत्मा को देखनेवाला पुरुष दूसरे के घर में रहनेवाले प्रवासी के समान उस देहरूप घर के पूजा, परिभव आदि से हर्ष या विषाद न करता हुआ अहंकार – ममकार से रहित होकर केवल स्थित रहता है। अज्ञानी तो देह में तादात्म्य का अभिमान रखने के कारण देह ही है, देही नहीं। वह देह के अधिकरण को ही अपना अधिकरण मानता हुआ 'मैं घर, भूमि अथवा आसन पर बैठा हूँ' -- ऐसा मानता है, यह नहीं कहता कि 'मैं देह में स्थित हूँ' – क्योंकि उसकी देह और देही = आत्मा में भेददृष्टि नहीं है। देहादिरूप संघात से अतिरिक्त = भिन्न आत्मा को देखनेवाला सर्वकर्मसंन्यासी तो भेद-दृष्टि के कारण 'मैं देह में स्थित हूँ' -- ऐसा समझता है। अतएव अविद्या के कारण अक्रिय -- क्रियाशून्य आत्मा में समारोपित देहादि के व्यापारों का विद्या = ज्ञान से बाध हो जाना ही 'सर्वकर्मसंन्यास' कहा जाता है। अज्ञानी की इसी विलक्षणता के कारण 'नौ द्वारवाले शरीर में रहता है' -- यह विशेषण ठीक है।

33 यदि कहें कि जैसे तीरस्थ वृक्षों में नौकास्थित चलनादि व्यापारों को आरोपित किया जाता है वैसे ही आत्मा में आरोपित देहादि के व्यापारों का विद्या-ज्ञान से बाध हो जाने पर भी अपने व्यापार से आत्मा में कर्तृत्व और देहादि के व्यापारों में उसका कारयितृत्व हो सकता है, तो कहते हैं – नहीं[9], 'नैव कुर्वन्न कारयन्, आस्ते' = 'वह कुछ भी न करता हुआ और कुछ भी न कराता हुआ, रहता है' -- इसप्रकार इस वाक्य का सम्बन्ध लगाना चाहिए ॥ 13 ॥

---

9. अभिप्राय यह है कि नैयायिक इच्छा-ज्ञानादि को आत्मा का धर्म मानते हैं। उनके मत में आत्मसमवेत – इच्छा-ज्ञानादिरूप जो क्रियाएँ हैं उनको आत्मा स्वयं सम्पन्न करता है, अतः आत्मा अपने व्यापार से कर्ता है। और उन इच्छा-ज्ञानादि के अनुसार देहादि की गमनादि क्रियाओं को देहादि के द्वारा सम्पादित कराता है, इसलिए आत्मा कारयिता भी है -- इसप्रकार आत्मा कर्ता और कारयिता है। इस न्याय-मत के खण्डन के अभिप्राय से ही प्रकृत में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि – नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि देही = आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व या कारयितृत्व नहीं है। गीता में यह पहले ही कहा गया है – 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गीता, 2.25) = 'यह आत्मा अविकारी है'। श्रुति भी कहती है – 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० उ०, 4.3.7) = 'आत्मा मानो ध्यान कर रहा है, मानो क्रिया कर रहा है'। यदि कहें कि 'एष एव साधु कर्म कारयति' = 'यही आत्मा साधु कर्म कराता है' –इत्यादि श्रुतिवाक्य तो आत्मा के कर्तृत्व और कारयितृत्व का प्रतिपादन करता है, तो क्या यह श्रुतिवाक्य अप्रमाणित है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है – नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं हैं, क्योंकि आत्मा की सन्निधि-मात्र से देहेन्द्रियादि की क्रियाएँ होती हैं, न कि आत्मा स्वयं कुछ करता, कराता है। जैसे सूर्य की सन्निधि में अन्धकार के दूर हो जाने पर यह माना जाता है कि सूर्य ने अन्धकार को दूर कर दिया है; जैसे चुम्बक की सन्निधि में लोहा चालित होता है और चुम्बक लोहा को चालित करता है – ऐसा माना जाता है; उसीप्रकार आत्मा की सन्निधिमात्र से प्रकृति अर्थात् बुद्धि आदि कार्य में प्रवृत्त होते हैं और वे कार्य अविक्रिय आत्मा में आरोपित होने के कारण आत्मा करता है, कराता है – ऐसा कहा जाता है। इसप्रकार आत्मा में कर्तृत्व या कारयितृत्व आरोपित है, स्वाभाविक नहीं। वस्तुतः वह कुछ भी न करता हुआ और कुछ भी न कराता हुआ, रहता है।

34 देवदत्तस्य स्वगतैव गतिर्यथा स्थितौ सत्यां न भवति एवमात्मनोऽपि कर्तृत्वं कारयितृत्वं च स्वगतमेव सत्संन्यासे सति न भवति अथवा नभसि तलमलिनतादिवद्वस्तुवृत्त्या तत्र नास्त्येवेति सन्देहापोहायाऽऽह--

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ 14 ॥

35 लोकस्य देहादेः कर्तृत्वं प्रभुरात्मा स्वामी न सृजति त्वं कुर्विति नियोगेन तस्य कारयिता न भवतीत्यर्थः । नापि लोकस्य कर्माणीप्सिततमानि घटादीनि स्वयं सृजति कर्ताऽपि न भवतीत्यर्थः । नापि लोकस्य कर्म कृतवतस्तत्फलसंबन्धं सृजति भोजयिताऽपि भोक्ताऽपि न भवतीत्यर्थः । 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव सुधीः' इत्यादि श्रुतेः । अत्रापि 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इत्युक्तेः ।

36 यदि किंचिदपि स्वतो न कारयति न करोति चाऽऽत्मा कस्तर्हि कारयन्कुर्वंश्च प्रवर्तत इति तत्राऽऽह--स्वभावस्तु, अज्ञानात्मिका दैवी माया प्रकृतिः प्रवर्तते ॥ 14 ॥

34 जिसप्रकार देवदत्त की स्वगता = उसमें रहनेवाली गति उसके ठहर जाने पर नहीं रहती है उसी प्रकार आत्मा के कर्तृत्व और कारयितृत्व उसमें रहने पर भी संन्यास लेने पर नहीं रहते हैं अथवा आकाश के तल, मलिनता आदि के समान उसमें वास्तविक दृष्टि से नहीं रहते हैं ? --.इस सन्देह के निराकरण के लिए भगवान् कहते हैं :--

[प्रभु = आत्मा लोक = देहादि के कर्तृत्व या कर्मों की रचना नहीं करता है और न कर्मफल के सम्बन्ध की ही रचना करता है । स्वभाव = प्रकृति ही इसप्रकार प्रवृत्त होती रहती है ।। 14 ।।]

35 प्रभु[10] = देहादि का स्वामी आत्मा लोक[11] = देहादि के कर्तृत्व की रचना नहीं करता है अर्थात् 'तू कर' -- इसप्रकार आज्ञा देकर उसका कारयिता नहीं होता है, और न लोक के कर्म[12] = ईप्सिततम घटादि की स्वयं रचना करता है अर्थात् कर्ता भी नहीं होता है । तथा कर्म करनेवाले लोक = देहादि का उसके फल के साथ सम्बन्ध की भी रचना नहीं करता है अर्थात् भोजयिता = भोग करानेवाला या भोक्ता = भोग करनेवाला भी नहीं होता है; जैसा कि श्रुति भी कहती है -- 'वह आत्मा बुद्धिवृत्ति के अनुरूप होकर दोनों लोकों में उसका अनुसरण करता है और ध्यान करता हुआ-सा तथा क्रिया करता हुआ-सा जान पड़ता है' (बृ० उ०, 4.3.7) इत्यादि । यहाँ भी 'हे कौन्तेय ! शरीर में स्थित रहने पर भी यह आत्मा न तो कर्म करता है, और न उससे लिप्त ही होता है' -- इस वाक्य से यही कहा गया है ।

36 यदि आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं कराता है और कुछ भी नहीं करता है, तो फिर कौन कराता हुआ

10. 'प्रकर्षेण स्वयमेव सर्वत्र भाति सर्वं भासयतीति वा सर्वात्मना स्वयमेव भातीति वा प्रभुः' अर्थात् जो प्रकृष्टरूप से सर्वत्र स्वयं प्रकाशित रहता है अथवा सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है अथवा सभी के आत्मस्वरूप से स्वयं ही प्रकाशित रहता है उसको 'प्रभु = आत्मा' कहा जाता है ।

11. 'लोक्यते प्रकाश्यत इति लोकः = जडवर्गः' अर्थात् जो प्रकाशित किया जाता है उसको 'लोक अर्थात् जडवर्ग' कहा जाता है ।

12. 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पाणिनि सूत्र, 1.4.49) -- इस सूत्र के अनुसार क्रिया के द्वारा प्राप्त करने के लिए जो ईप्सिततम = इष्टतम हो उसको 'कर्म' कहा जाता है ।

37 **नन्वीश्वरः कारयिता जीवः कर्ता, तथा च श्रुतिः--'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इत्यादिः । स्मृतिश्च--**

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥' इति ।

तथाच जीवेश्वरयोः कर्तृत्वकारयितृत्वाभ्यां भोक्तृत्वभोजयितृत्वाभ्यां च पापपुण्यलेपसंभवात्कथमुक्तं स्वभावस्तु प्रवर्तत इति तत्राऽऽह--

नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ 15 ॥

38 **परमार्थतः विभुः परमेश्वरः कस्यचिज्जीवस्य पापं सुकृतं च नैवाऽऽदत्ते परमार्थतो जीवस्य कर्तृत्वाभावात्परमेश्वरस्य च कारयितृत्वाभावात् । कथं तर्हि श्रुतिः स्मृतिर्लोकव्यवहारश्च तत्राऽऽह-- अज्ञानेनाऽऽवरणविक्षेपशक्तिमता मायाख्येनानृतेन तमसाऽऽवृतमाच्छादितं ज्ञानं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमाधिष्ठानभूतं नित्यं स्वप्रकाशं सच्चिदानन्दरूपमद्वितीयं परमार्थसत्यं, तेन स्वरू-**

और करता हुआ प्रवृत्त होता है ? इसपर कहते हैं -- 'स्वाभावस्तु प्रवर्तते' । स्वभाव[13] अर्थात् अज्ञानात्मिका दैवी माया प्रकृति ही प्रवृत्त होती है ।। 14 ।।

37 'ईश्वर कारयिता है और जीव कर्ता है' --ऐसा श्रुति कहती है, -- 'यह परमेश्वर जिसको इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है उससे साधु कर्म कराता है और जिसको इन लोकों से अधोलोक में ले जाना चाहता है उससे असाधु कर्म कराता है' (कौषीतकि ब्राह्मण); यही स्मृति भी कहती है-- 'अपने सुख-दु:ख के भोग में अनीश यह अज्ञ जीव ईश्वर से प्रेरित ही स्वर्ग में या श्वभ्र = नरक में जाता है' । इसप्रकार जीव और ईश्वर के कर्तृत्व और कारयितृत्व से तथा भोक्तृत्व और भोजयितृत्व से उनके लिए पुण्य और पाप के लेप की संभावना हो सकती है, तो फिर यह कैसे कहा है कि स्वभाव = प्रकृति ही प्रवृत्त होती है ? -- ऐसा प्रश्न होने पर भगवान् कहते हैं :--

[विभु = परमेश्वर न तो किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञान से ज्ञान आवृत है, इससे सभी जीव मोह में पड़ जाते हैं ।। 15 ।।]

38 परमार्थत: = वस्तुत: यह है कि विभु = परमेश्वर किसी भी जीव के पाप और पुण्य को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि परमार्थत: जीव का कर्तृत्व नहीं है और परमेश्वर का कारयितृत्व नहीं है । अब प्रश्न है कि श्रुति, स्मृति और लोकव्यवहार -- ये सब कैसे होते हैं ? तो इसके उत्तर में कहते हैं -- अज्ञान से = आवरण और विक्षेप शक्तिवाले मायासंज्ञक अनृत= मिथ्या अन्धकार से ज्ञान अर्थात् जीव, ईश्वर और जगत्रूप भेदभ्रम का अधिष्ठानभूत नित्य स्वप्रकाश सच्चिदानन्दरूप अद्वितीय परमार्थ सत्य आवृत = आच्छादित = ढका हुआ है । उस स्वरूप के आवरण से ही जन्तु = जननशील संसारी पुरुष, जो वस्तु के स्वरूप को नहीं देखते हैं, मोह में पड़ जाते हैं अर्थात् प्रमाता,

---

13. 'स्वो भाव:. स्वभाव: = स्वयमेव सर्वं भावयतीति वा स्वभाव:' अर्थात् जो स्वयं सभी प्राणियों की भावना करता है अथवा स्वयं भावना कराता है उसको ही 'स्वभाव = प्रकृति' कहा जाता है । कोई 'स्वस्मिन् भावस्यापि आरोपिता सत्ताऽस्येति स्वभावोऽन्त:करणम्' – इस व्युत्पत्ति से स्वभाव का अर्थ अन्त:करण करते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंक अन्त:करण भी प्रकृति के अधीन रहकर ही प्रवृत्तिक होता है । अत: स्वभाव का अर्थ प्रकृति ही है (द्रष्टव्य भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

पावरणेन मुह्यन्ति प्रमातृप्रमेयप्रमाणकर्तृकर्मकरणभोक्तृभोग्यभोगाख्यनवविधसंसाररूपं मोहमतस्मिंस्तदवभासरूपं विक्षेपं गच्छन्ति जन्तवो जननशीलाः संसारिणो वस्तुस्वरूपादर्शिनः । अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयात्मस्वरूपादर्शननिबन्धनोऽयं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमः प्रतीयमानो वर्तते मूढानाम् । तस्यां चावस्थायां मूढप्रत्ययानुवादिन्यावेते श्रुतिस्मृती वास्तवाद्वैतबोधिवाक्यशेषभूते इति न दोषः ॥ 15 ॥

39 **तर्हि सर्वेषामनाद्यज्ञानावृतत्वात्कथं संसारनिवृत्तिः स्यादत आह–**

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ 16 ॥

40 **तदावरणविक्षेपशक्तिमदनाद्यनिर्वाच्यमनृतमनर्थव्रातमूलमज्ञानमात्माश्रयविषयं म विद्यामायादिशब्दवाच्यमात्मनो ज्ञानेन गुरूपदिष्टवेदान्तमहावाक्यजन्येन श्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकनिर्मलान्तःकरणवृत्तिरूपेण निर्विकल्पकसाक्षात्कारेण शोधिततत्त्वंपदार्थाभेदरूपशुद्धसच्चिदानन्दाखण्डैकरसवस्तुमात्रविषयेण नाशितं बाधितं कालत्रयेऽप्यसदेवासत्तया ज्ञातमधिष्ठानचैतन्यमात्रतां प्रापितं शुक्ताविव रजतं शुक्तिज्ञानेन येषां श्रवणमननादिसाधनसंपन्नानां भगवदनुगृहीतानां मुमुक्षूणां तेषां तज्ज्ञानं कर्तृ आदित्यवत्, यथाऽऽदित्यः स्वोदयमात्रेणैव तमो**

प्रमेय, प्रमाण; कर्ता, कर्म, करण; भोक्ता, भोग्य और भोग नामक नौ प्रकार के संसाररूप मोह को = अवस्तु में वस्तुत्वप्रतीतिरूप विक्षेप को प्राप्त हो जाते हैं । अकर्ता, अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय आत्मस्वरूप को न देखने के कारण ही मूढ़ पुरुषों को जीव, ईश्वर और जगत् का प्रतीयमान भेदभ्रम होता है । उस अवस्था में मूढ़ पुरुषों की प्रतीति का अनुवाद करनेवाली ये श्रुति और स्मृति वस्तुतः अद्वैत तत्त्व का बोध करानेवाले वाक्यों की शेषभूत हैं, अतः ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है ।। 15 ।।

39 यदि सभी का ज्ञान ही अनादि अज्ञान से आवृत है तो फिर संसार की निवृत्ति कैसे होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं --
[जिनके उस अज्ञान का आत्मा के ज्ञान से नाश हो गया है, उनको वह ज्ञान सूर्य के समान उस परमात्मतत्त्व को प्रकाशित कर देता है ।। 16 ।।]

40 जिनके अर्थात् श्रवण, मनन आदि साधनों से सम्पन्न और भगवान् से अनुगृहीत मुमुक्षुओं के उस आवरण और विक्षेप शक्तियों से युक्त, अनादि, अनिर्वाच्य, अनृत, अनर्थसमूह के मूल, आत्मा को आश्रय कर आत्मा को ही अपना विषय बनानेवाले, अविद्या--माया आदि शब्दों के वाच्य अज्ञान का आत्मा के ज्ञान से = गुरूपदिष्ट वेदान्त के महावाक्यों से जन्य श्रवण-मनन-निदिध्यासन के परिपाक से निर्मल हुई अन्तःकरणवृत्तिरूप निर्विकल्पक साक्षात्कार से शोधित हुए 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों के अभेदरूप शुद्ध सच्चिदानन्द अखण्डैकरस वस्तुमात्रविषयक ज्ञान से नाश = बाध हो गया है अर्थात् जिसप्रकार शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होने से शुक्ति का ज्ञान होने पर रजत के मिथ्यात्व का निश्चय होता है और रजत उसके अधिष्ठानभूत शुक्ति के स्वरूप में ही पर्यवसित होता है, उसीप्रकार भूत, भविष्यत् और वर्तमान -- तीनों कालों में भी असत् यह अज्ञान भी आत्मज्ञान से असत् के रूप से जान लिए जाने पर = इसके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर अपने अधिष्ठानभूत चैतन्य को ही प्राप्त हो गया है; उनका वह 'प्रकाशयति' क्रिया का कर्तारूप ज्ञान सूर्य के समान = जैसे सूर्य अपने उदयमात्र से ही निःशेष अन्धकार को दूर कर देता है और किसी भी सहायक

निरवशेषं निवर्तयति न तु कंचित्सहायमपेक्षते तथा ब्रह्मज्ञानमपि शुद्धसत्त्वपरिणामत्वाद्व्यापक-प्रकाशरूपं स्वोत्पत्तिमात्रेणैव सहकार्यन्तरनिरपेक्षतया सकार्यमज्ञानं निवर्तयत्परं सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपमेकमेवाद्वितीयं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति प्रतिच्छायाग्रहणमात्रेणैव कर्मतामन्तरेणाभिव्यनक्ति ।

41 **अत्राज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानेन नाशितमित्यज्ञानस्याऽऽवरणत्वज्ञाननाश्यत्वाभ्यां ज्ञानाभावरूपत्वं व्यावर्तितम् । नह्यभावः किंचिदावृणोति न वा ज्ञानाभावो ज्ञानेन नाश्यते स्वभावतो नाशरूपत्वात्तस्य । तस्मादहमज्ञो मामन्यं च न जानामीत्यादिसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धं भावरूपमेवाज्ञानमिति भगवतो मतम् । विस्तरस्त्वद्वैतसिद्धौ द्रष्टव्यः ।**

42 **येषामिति बहुवचनेनानियमो दर्शितः । तथाच श्रुतिः—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' इत्यादिर्यद्विषयं यदाश्रयमज्ञानं तद्विषयतदाश्रयप्रमाणज्ञानात्तन्निवृत्तिरिति न्यायप्राप्तनियमं दर्शयति । तत्राज्ञानगतमावरणं द्विविधम्—एकं सतोऽप्यसत्त्वापादकमन्यत्तु भातोऽप्यभानापादकम् । तत्राऽऽद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रान्निवर्तते । अनुमितेऽपि वह्न्यादौ पर्वते वह्निर्नास्ती-**

अपेक्षा न करके ही सभी रूप को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही शुद्ध सत्त्व का परिणाम होने के कारण व्यापक प्रकाशरूप ब्रह्मज्ञान भी अपनी उत्पत्तिमात्र से ही, किसी दूसरे सहकारी की अपेक्षा न करते हुए कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति करके पर = सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्दरूप एक अद्वितीय परमात्मतत्त्व को प्रकाशित कर देता है = बिना किसी क्रिया के केवल उसके प्रतिबिम्ब के ग्रहणमात्र से अभिव्यक्त कर देता है ।

41 यहाँ 'अज्ञानेनाऽवृतम्' = 'अज्ञान से ज्ञान आवृत होता है' और 'ज्ञानेन नाशितम्' = 'ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है' -- इस कथन से अज्ञान में आवरणत्व और ज्ञाननाश्यत्व कहकर अज्ञान के ज्ञानाभावरूपत्व[14] की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि अभाव किसी को आवृत नहीं कर सकता है और न ज्ञानाभाव का ज्ञान से नाश ही हो सकता है, कारण कि अभाव स्वभाव से ही नाशरूप होता है । अत: 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अपने को और अन्य को नहीं जानता हूँ' -- इत्यादि साक्षी के प्रत्यक्ष से सिद्ध अज्ञान भावरूप ही है -- ऐसा भगवान् का मत है । इसका विस्तार अद्वैतसिद्धि में द्रष्टव्य है ।

42 'येषाम्' इस वहुवचन से ज्ञान में जाति, काल आदि का अनियम दिखाया है । इसीप्रकार 'देवताओं में से जिस -जिसने उस परमात्मतत्त्व को जाना वही तद्रूप हो गया, ऐसा ही ऋषियों और मनुष्यों में भी हुआ, आज भी जो इसको इसप्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वही यह सब हो जाता है' (बृ० उ०, 1.4.10) इत्यादि श्रुति भी, जिसको विषय और जिसको आश्रय करनेवाला जो अज्ञान होता है उसकी उसी को विषय और उसी को आश्रय करनेवाले प्रमाणजनित ज्ञान से निवृत्ति होती है -- यह न्यायप्राप्त नियम दिखलाती है । उसमें अज्ञानगत आवरण दो प्रकार का होता है -- एक तो सत् में भी असत्त्व का आपादक है और दूसरा प्रतीति में भी अभान = अप्रतीति का आपादक है ।

---

14. नैयायिकों के अनुसार अज्ञान ज्ञान के अभाव को कहते हैं, अत: प्रकृत में नैयायिकाभिमत अज्ञान के ज्ञानाभावरूपत्व की व्यावृत्ति की गई है ।

त्यादिभ्रमादर्शनात् । तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्ति' इति वाक्यात्परोक्षनिश्चयेऽपि ब्रह्म नास्तीति भ्रमो निवर्तत एव । अस्त्येव ब्रह्म किं तु मम न भातीत्येकं भ्रमजनकं द्वितीयमभानावरणं साक्षात्कारादेव निवर्तते । स च साक्षात्कारो वेदान्तवाक्येनैव जन्यते निर्विकल्पक इत्याद्यद्वैतसिद्धावनुसंधेयम् ॥ 16 ॥

43 **ज्ञानेन परमात्मतत्त्वप्रकाशे सति –**

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ 17 ॥

44 **तस्मिञ्ज्ञानप्रकाशिते परमात्मतत्त्वे सच्चिदानन्दघन एव बाह्यसर्वविषयपरित्यागेन साधनपरिपाकात्पर्यवसिता बुद्धिरन्तःकरणवृत्तिः साक्षात्कारलक्षणा येषां ते तद्बुद्धयः सर्वदा निर्बीजसमाधिभाज इत्यर्थः । तत्किं बोद्धारो जीवा बोद्धव्यं ब्रह्मतत्त्वमिति बोद्धृबोद्धव्यलक्षणभेदोऽस्ति नेत्याह–तदात्मानः, तदेव परं ब्रह्माऽऽत्मा येषां ते तथा । बोद्धृबोद्धव्यभावो हि मायाविजृम्भितो न वास्तवाभेदविरोधीति भावः ।**

45 **ननु तदात्मान इति विशेषणं व्यर्थम् । अविद्वद्व्यावर्तकं हि विद्वद्विशेषणम् । अज्ञा अपि हि वस्तुगत्या तदात्मान इति कथं तद्व्यावृत्तिरिति चेत्, न, इतरात्मत्वव्यावृत्तौ तात्पर्यात् । अज्ञा**

उसमें प्रथम तो परोक्ष और अपरोक्ष -- दोनों प्रकार की वस्तुओं को विषय करनेवाले साधारण प्रमाण ज्ञान से ही निवृत्त हो जाता है, जैसे कि पर्वतादि पर धूमादि लिङ्ग से अग्नि आदि का अनुमान ज्ञान होने पर भी 'पर्वत पर अग्नि नहीं है' -- यह भ्रम होता नहीं देखा जाता है । इसीप्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्ति' -- इस वाक्य से ब्रह्म का परोक्षरूप से निश्चय होने पर भी 'ब्रह्म नहीं है' -- यह भ्रम निवृत्त हो ही जाता है । 'ब्रह्म है ही, किन्तु मुझे प्रतीत नहीं होता' -- इसप्रकार का एक भ्रमजनक दूसरा अभानावरण साक्षात्कार से ही निवृत्त होता है और वह निर्विकल्पक साक्षात्कार वेदान्तवाक्य से ही उत्पन्न होता है । इसका विस्तार 'अद्वैतसिद्धि' में देखना चाहिए ॥ 16 ॥

43 ज्ञान से परमात्मतत्त्व के प्रकाशित होने पर --

[जिनकी बुद्धि = अन्तःकरणवृत्ति परमात्मा में ही रहती है, जो परमात्मा को ही अपनी आत्मा समझते हैं, परमात्मा में ही जिनकी निष्ठा = स्थिति रहती है और परमात्मा ही जिनका परम प्राप्तव्य अयन = स्थान है वे ज्ञान से सर्वथा निष्कल्मष हुए यतिजन पुनः देहसम्बन्ध की अभावरूपा मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥ 17 ॥]

44 ज्ञान से प्रकाशित उस सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व में ही बाह्य सभी विषयों के परित्याग से साधनपरिपाक होता है, उससे पर्यवसित -- परिनिष्पन्न--स्थित हो गई है बुद्धि = साक्षात्काररूपा अन्तःकरण की वृत्ति जिनकी वे तद्बुद्धि अर्थात् सर्वदा निर्बीजसमाधि का अनुभव करनेवाले हैं । तो क्या उस समय 'जीव बोद्धा है और ब्रह्म बोद्धव्य है' -- ऐसा बोद्ध -- बोद्धव्यरूप भेद रहता है ? इसपर कहते हैं -- नहीं, वे तदात्मा हैं = तद् -- वह -- परब्रह्म ही है आत्मा जिनका वे तदात्मा हैं । भाव यह है कि माया से विजृम्भित = प्रतीत होनेवाला यह बोद्ध--बोद्धव्यभाव वास्तव में अभेद का विरोधी नहीं है ।

45 यदि कोई कहे कि 'तदात्मनः' -- यह विशेषण तो व्यर्थ है । विद्वान् का विशेषण तो अविद्वान् की व्यावृत्ति करनेवाला होता है । वास्तव में, अज्ञानी भी तदात्मा ही है, अतः 'तदात्मनः' विशेषण से अविद्वान् की व्यावृत्ति कैसी होगी ? तो कहते हैं, नहीं, इस विशेषण का तात्पर्य तो इतरात्मत्व =

हि अनात्मभूते देहादावात्माभिमानिन इति न तदात्मान इति व्यपदिश्यन्ते । विज्ञास्तु निवृत्तदेहाद्यभिमाना इति विरोधिनिवृत्त्या तदात्मान इति व्यपदिश्यन्त इति युक्तं विशेषणम् ।

46 **ननु कर्मानुष्ठानविक्षेपे सति कथं देहाद्यभिमाननिवृत्तिरिति तत्राऽऽह--तन्निष्ठाः, तस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वकर्मानुष्ठानविक्षेपनिवृत्त्या निष्ठा स्थितिर्येषां ते तन्निष्ठाः, सर्वकर्मसंन्यासेन तदेकविचारपरा इत्यर्थः । फलरागे सति कथं तत्साधनभूतकर्मत्याग इति तत्राऽऽह--तत्परायणाः, तदेव परमयनं प्राप्तव्यं येषां ते तत्परायणाः, सर्वतो विरक्ता इत्यर्थः ।**

47 **अत्र तद्बुद्धय इत्यनेन साक्षात्कार उक्तः । तदात्मान इत्यनात्माभिमानरूपविपरीतभावनानिवृत्तिफलको निदिध्यासनपरिपाकः, तन्निष्ठा इत्यनेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकः प्रमाणप्रमेयगतासंभावनानिवृत्तिफलको वेदान्तविचारः श्रवणमननपरिपाकरूपः, तत्परायणा इत्यनेन वैराग्यप्रकर्ष इत्युत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वहेतुत्वं द्रष्टव्यम् । उक्तविशेषणा यतयो गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं पुनर्देहसंबन्धाभावरूपां मुक्तिं प्राप्नुवन्ति । सकृन्मुक्तानामपि पुनर्देहसंबन्धः कुतो न स्यादिति**

भिन्नात्मत्व की व्यावृत्ति में है । अज्ञानी जन तो अनात्मभूत देहादि में आत्मा का अभिमान करते हैं, इस कारण उनको 'तदात्मा' नहीं कहा जाता है । ज्ञानीजन तो देहादि में अभिमान नहीं करते हैं, अत: विरोध न रहने के कारण उनको 'तदात्मा' कहा जाता है; इसलिए 'तदात्मन:' -- यह विशेषण उचित ही है ।

46 'कर्मानुष्ठान की अवस्था में विक्षेप रहने पर उन तदात्माओं के देहादि में अभिमान की निवृत्ति कैसे हो सकती है' ? इसपर कहते हैं -- 'तन्निष्ठा:' = वे तन्निष्ठ हैं = सम्पूर्ण कर्मानुष्ठानरूप विक्षेप की निवृत्ति से उस ब्रह्म में ही निष्ठा = स्थिति है जिनकी वे तन्निष्ठ हैं अर्थात् वे समस्त कर्मों के संन्यासपूर्वक एकमात्र ब्रह्मविचार में ही लगे रहने वाले हैं । 'कर्मफल के प्रति राग रहने पर उसके साधनभूत कर्म का त्याग ही कैसे होगा ' ? तो कहते हैं -- 'तत्परायणा:' = वे तत्परायण हैं = तद् -- वह -- ब्रह्म ही परम अयन = प्राप्तव्य है जिनका वे तत्परायण हैं अर्थात् वे सर्वत: विरक्त हैं ।

47 यहाँ 'तद्बुद्धय:' -- इस विशेषण से यतिजन का ब्रह्म -- साक्षात्कार कहा गया है । 'तदात्मन:' से अनात्मा = देहादि में आत्मा का अभिमानरूप विपरीत भावना का निवृत्तिफलक निदिध्यासन का परिपाक कहा गया है । 'तन्निष्ठा:' -- इससे सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक प्रमाण--प्रमेयगत असंभावना का निवृत्तिफलक श्रवण--मनन का परिपाकरूप वेदान्तविचार कहा गया है । 'तत्परायणा:' इस पद से वैराग्य का प्रकर्ष कहा है -- इसप्रकार इनमें से उत्तरोत्तर विशेषण को पूर्व-पूर्व विशेषण का हेतु समझना चाहिए । उक्त विशेषणों से युक्त यतिजन[15] अपुनरावृत्ति = पुन: देहसम्बन्ध की अभावरूपा मुक्ति को प्राप्त होते हैं । 'मुक्तों का एक बार भी पुन: देहसम्बन्ध क्यों नहीं होता है' ? इसपर कहते हैं -- 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषा:' = 'वे ज्ञान से सर्वथा निष्कल्मष हो जाते हैं' = ज्ञान से निर्धूत

15. इस श्लोक में मुक्त पुरुष के 'तद्बुद्धि' आदि जो चार विशेषण कहे गये हैं वे यतिजनों के लिए ही सम्भव हैं, क्योंकि यतिजन अपनी ज्ञाननिष्ठा से समस्त पाप-पुण्यरूप कर्मों का क्षय कर देते हैं । ये लक्षण ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि आश्रमों में स्थित जनों के लिए प्राय: असम्भव ही हैं, इसलिए ही भाष्य में 'यतय:' शब्द का प्रयोग किया गया है । सर्वकर्मत्यागी ज्ञाननिष्ठ यतिजन जब तक प्रारब्धवश देह धारण करते हैं तब तक ब्रह्मस्वरूप में ही अवस्थान कर जीवन्मुक्तावस्था का आनन्द भोग करते हैं और देहपात के बाद परब्रह्म में ही लीन होकर विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं । श्रुति में भी कहा गया है -- 'ब्रह्म सत् ब्रह्माप्येति' ।

तत्राऽऽह--ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः, ज्ञानेन निर्धूतं समूलमुन्मूलितं पुनर्देहसंबन्धकारणं कल्मषं पुण्यपापात्मकं कर्म येषां ते तथा। ज्ञानेनानाद्यज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यकर्मक्षये तन्मूलकं पुनर्देहग्रहणं कथं भवेदिति भावः ॥ 17 ॥

48 **देहपातादूर्ध्वं विदेहकैवल्यरूपं ज्ञानफलमुक्त्वा प्रारब्धकर्मवशात्सत्यपि देहे जीवन्मुक्तिरूपं तत्फलमाह--**

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥18 ॥

49 **विद्या वेदार्थपरिज्ञानं ब्रह्मविद्या वा। विनयो निरहंकारत्वमनौद्धत्यमिति यावत्। ताभ्यां संपन्ने ब्रह्मविदि विनीते च ब्राह्मणे सात्त्विके सर्वोत्तमे, तथा गवि संस्कारहीनायां राजस्यां मध्यमायां, तथा हस्तिनि शुनि श्वपाके चात्यन्ततामसे सर्वाधमेऽपि, सत्त्वादिगुणैस्तज्जैश्च संस्कारैरस्पृष्टमेव समं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः, पण्डिता ज्ञानिनः, यथा गङ्गातोये तडागे सुरायां मूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्याऽऽदित्यस्य न तद्गुणदोषसंबन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वारा प्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुणदोषसंबन्ध इति प्रतिसंदधानाः सर्वत्र समदृष्ट्यैव रागद्वेषराहित्येन परमानन्दस्फूर्त्या जीवन्मुक्तिमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ 18 ॥**

50 **ननु सात्त्विकराजसतामसेषु स्वभावविषमेषु प्राणिषु समत्वदर्शनं धर्मशास्त्रनिषिद्धम्। तथाच तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रम्य गौतमः स्मरति -- 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' इति।**

-- समूल उन्मूलित हो गया है कल्मष -- पुनः देहसंबन्ध का कारणभूत पुण्य-पापरूप कर्म जिनका वे ज्ञाननिर्धूतकल्मष होते हैं। इसप्रकार ज्ञान से अनादि अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से उसके कार्यभूत कर्मों का क्षय हो जाने पर उनके कारण होनेवाला पुनः देहग्रहण कैसे हो सकता है ? यह तात्पर्य है ॥ 17 ॥

48 देहपात के पश्चात् ज्ञान का विदेहकैवल्यरूप फल कहकर प्रारब्धकर्मवश देह के रहने पर भी उसका जीवन्मुक्तिरूप फल कहते हैं :--

[पण्डितजन विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में भी समभाव से देखनेवाले ही होते हैं ॥ 18 ॥]

49 विद्या = वेदार्थज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या और विनय = निरहंकारता अर्थात् अनौद्धत्य = अनुद्दण्डता -- इन दोनों से सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता और विनीत ब्राह्मण में, जो सात्त्विक और सर्वोत्तम है; तथा गौ में, जो संस्कारहीन रजोगुणी अतएव मध्यमा है; तथा हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी, जो अत्यन्त तमोगुणी अतएव सबसे अधम हैं; सत्त्वादिगुण और उनसे होनेवाले संस्कारों से सर्वथा अस्पृष्ट -- असंयुक्त सम अर्थात् ब्रह्म को देखने का स्वभाव है जिनका वे समदर्शी पण्डित अर्थात् ज्ञानीजन, 'जैसे गंगाजल में, तालाब के जल में, सुरा-मदिरा में अथवा मूत्र में प्रतिबिम्बित सूर्य में प्रतिबिम्बाधार वस्तुगत गुण या दोषों का सम्बन्ध नहीं होता है वैसे ही चिदाभास द्वारा प्रतिबिम्बित ब्रह्म में भी उपाधिगत गुण या दोषों का सम्बन्ध नहीं है' -- ऐसा अनुसन्धान करते हुए सर्वत्र समदृष्टि होने से ही राग-द्वेष से रहित रहने के कारण परमानन्द की स्फूर्ति से जीवन्मुक्ति का अनुभव करते हैं -- यह अर्थ है ॥ 8 ॥

50 'जो सात्त्विक, राजस और तामस -- इसप्रकार स्वभाव से ही विषम प्राणी हैं, उनमें समदृष्टि करना तो धर्मशास्त्र से निषिद्ध है। ऐसा ही 'तस्यान्नमभोज्यम्' = 'उसका अन्न अभोज्य होता है' -- इसप्रकार उपक्रम करके गौतम अपनी स्मृति में कहते हैं' -- 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' इति' अर्थात् 'जो

समासमाभ्यामिति चतुर्थीद्विवचनम् । विषमसम इति द्वंद्वैकवद्भावेन सप्तम्येकवचनम् । चतुर्वेदपारगाणामत्यन्तसदाचाराणां यादृशो वस्त्रालंकारान्नादिदानपुर:सरः पूजाविशेषः क्रियते तत्समायैवान्यस्मै चतुर्वेदपारगाय सदाचाराय विषमे तदपेक्षया न्यूने पूजाप्रकारे कृते, तथाऽल्प-वेदानां हीनाचाराणां यादृशो हीनसाधनः पूजाप्रकारः क्रियते तादृशायैवासमाय पूर्वोक्तवेद-पारगसदाचारब्राह्मणापेक्षया हीनाय तादृश --हीनपूजाधिके मुख्यपूजासमे पूजाप्रकारे कृते, उत्तमस्य हीनतया हीनस्योत्तमतया पूजातो हेतोस्तस्य पूजयितुरन्नमभोज्यं भवतीत्यर्थः । पूजयिता प्रतिपत्ति-विशेषमकुर्वन्धनाद्धर्माच्च हीयत इति च दोषान्तरम् । यद्यपि यतीनां निष्परिग्रहाणां पाकाभावाद्ध-नाभावाच्चाभोज्यान्नत्वं धनहीनत्वं च स्वत एव विद्यते तथाऽपि धर्महानिर्दोषो भवत्येव । अभोज्यान्नत्वं चाशुचित्वेन पापोत्पत्त्युपलक्षणम् । तपोधनानां च तप एव धनमिति तद्धानिरपि दूषणं भवत्येवेति कथं समदर्शिनः पण्डिता जीवन्मुक्ता इति प्राप्ते परिहरति --

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ 19 ॥

51 **तैः समदर्शिभिः पण्डितैरिहैव जीवनदशायामेव जितोऽतिक्रान्तः सर्गः सृज्यत इति व्युत्पत्त्या द्वैतप्रपञ्चः । देहपातादूर्ध्वमतिक्रमितव्य इति किमु वक्तव्यम् । कैः, येषां साम्ये सर्वभूतेषु**

सम और असम व्यक्तियों को पूजा, दान आदि कर सम को विषम और असम को सम करता है उस पूजयिता का अन्न अभोज्य होता है' (गौतम-स्मृति, 17.20) । 'समासमाभ्याम्' -- यह चतुर्थी विभक्ति का द्विवचन है । 'विषमसमे' -- यह द्वन्द्व समास में एकवद्भाव करने से सप्तमी का एकवचन है । इसका तात्पर्य यह है कि चारों वेदों के पारङ्गत, अत्यन्त सदाचारी विद्वानों की जैसी वस्त्राभूषणों के दानपूर्वक विशेष पूजा की जाती है उनके समान ही किसी दूसरे चारों वेदों के पारङ्गत सदाचारी विद्वान् की विषम अर्थात् उसकी अपेक्षा न्यून पूजा करने पर; तथा अल्पवेदाभिज्ञ = थोड़े वेदों को जाननेवालों और हीनाचार = हीन आचारवालों की जैसे हीन साधनों से पूजा की जाती है, तादृश ही, अतएव असम अर्थात् पूर्वोक्त वेदपारङ्गत सदाचारी ब्राह्मण की अपेक्षा हीन पुरुष की उसके अनुरूप हीन पूजा से अधिक मुख्य पूजा के समान पूजा करने पर; अर्थात् उत्तम की हीन प्रकार से और हीन की उत्तमप्रकार से पूजा करने के कारण उस पूजयिता का अन्न अभोज्य हो जाता है । इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि पूजयिता पात्र के अनुरूप पूजा, दानादि करने के विषय में विशेष ध्यान न देने के कारण धन और धर्म से भी च्युत हो जाता है । यद्यपि यतिजन निष्परिग्रह होते हैं अर्थात् सञ्चयशील नहीं होते हैं, अत: उनमें परिग्रहपाकाभाव और धनाभाव होने के कारण अभोज्यान्नत्व और धनहीनत्व तो स्वत: ही सिद्ध है; तथापि धर्महानिरूप दोष तो उनको भी होता ही है । अभोज्यान्नत्व भी अपवित्रता के कारण होने से पाप की उत्पत्ति का ही सूचक है। तपोधनपतियों का तो तप ही धन होता है, अत: उनको भी तपरूप धन की हानि का दोष तो होता ही है । इसप्रकार समदर्शी पण्डितजन जीवन्मुक्त कैसे हो सकते हैं ?' -- ऐसी शंका प्राप्त होने पर भगवान् उसका परिहार करते हैं --

[जिनका मन साम्य में स्थित है उनके द्वारा इस जीवनदशा में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अत: वे ब्रह्म में ही स्थित हैं ॥ 19 ॥]

51 उन समदर्शी पण्डितों के द्वारा इहैव = यहीं = जीवनदशा में ही सर्ग = 'सृज्यत इति' = 'जो रचा जाय' -- इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्वैतप्रपञ्च जीत लिया गया है = पार कर लिया गया है; अत:

विषमेष्वपि वर्तमानस्य ब्रह्मण: समभावे स्थितं निश्चलं मन: । हि यस्मान्निर्दोषं समं सर्वविकारशून्यं कूटस्थनित्यमेकं च ब्रह्म तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिता: ।

52 **अयं भाव:--दुष्टत्वं हि द्वेधा भवति अदुष्टस्यापि दुष्टसंबन्धात्स्वतोदुष्टत्वाद्वा । यथा गङ्गोदकस्य मूत्रगर्तपातात्, स्वत एव वा यथा मूत्रादे: । तत्र दोषवत्सु श्वपाकादिषु स्थितं तद्दोषैर्दुष्यति ब्रह्मेति मूढैर्विभाव्यमानमपि सर्वदोषासंसृष्टमेव ब्रह्म व्योमवदसङ्गत्वात् 'असङ्गो ह्ययं पुरुष:',**

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषै: ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु:खेन बाह्य: ॥' इति श्रुते: ।

नापि कामादिधर्मवत्तया स्वत एव कलुषितं कामादेरन्त:करणधर्मत्वस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात् । तस्मान्निर्दोषब्रह्मरूपा यतयो जीवन्मुक्ताअभोज्यान्नादिदोषदुष्टाश्चेति व्याहतम् । स्मृतिस्त्वविद्व -द्गृहस्थविषयैव, तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रमात्, पूजात इति मध्ये निर्देशात्, धनाद्धर्माच्च हीयत इत्युपसंहाराच्चेति द्रष्टव्यम् ॥ 19 ॥

'देहपात के पश्चात् वे द्वैतप्रपञ्च को पार कर लेंगे' -- इसमें तो कहना ही क्या है ? किनके द्वारा पार कर लिया गया है ? जिनका साम्य में = समस्त विषम भूतों में भी विद्यमान ब्रह्म के समभाव में मन स्थित अर्थात् निश्चल है । क्योंकि ब्रह्म निर्दोष सम[16] अर्थात् समस्त विकारों से शून्य, कूटस्थ, नित्य और एक है; इसलिए वे समदर्शी ब्रह्म में ही स्थित हैं ।

52 भाव यह है -- वस्तु की दुष्टता दो प्रकार की होती है :-- प्रथम, -- स्वयं दूषित न होने पर भी दूषित वस्तु के सम्बन्ध से दूषित होना, जैसे -- गंगाजल स्वयं दूषित नहीं होता है, किन्तु मूत्र के गड्ढे में गिरने से तत्सम्बन्ध से दूषित हो जाता है । द्वितीय -- स्वत: दूषित होना, जैसे स्वत: दूषित मूत्रादि प्रसिद्ध ही हैं । यद्यपि मूढ़ पुरुष ऐसी कल्पना करते हैं कि स्वत: दुष्ट चाण्डालादि में स्थित ब्रह्म उनके दोषों से दूषित हो जाता है तथापि आकाश के समान असङ्ग होने के कारण ब्रह्म तो समस्त दोषों से अस्पृष्ट ही रहता है, जैसा कि 'यह पुरुष असङ्ग ही है', (बृ० उ० 4.3.15) तथा ' जिसप्रकार समस्त लोकों का चक्षुरूप सूर्य चक्षु:स्थित बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है उसीप्रकार समस्त भूतों का एक ही अन्तरात्मा लोकों के दु:ख से लिप्त नहीं होता है' (क० उ०, 2.5.11) -- इन श्रुतियों से भी सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त वह ब्रह्म कामादि धर्मों वाला होने पर भी स्वयं दूषित नहीं होता है, क्योंकि कामादि अन्त:करण के धर्म हैं -- यह श्रुति और स्मृतियों से सिद्ध ही है । अत: 'निर्दोषब्रह्मरूप यतिजन जीवन्मुक्त होते हैं और अभोज्यान्नत्व आदि दोषों से दूषित भी होते हैं' -- यह कथन तो परस्पर विरुद्ध है । 'समासमाभ्याम्' -- इत्यादि स्मृति तो अविद्वान् गृहस्थ विषयक ही है, क्योंकि इसका 'तस्यान्नमभोज्यम्' -- इसप्रकार उपक्रम हुआ है, 'पूजात:' -- ऐसा मध्य में निर्देश किया है और 'धनाद्धर्माच्च हीयते' -- इसप्रकार उपसंहार किया है -- ऐसा शास्त्र का तात्पर्य निर्णय समदर्शी के लिए संभव नहीं है, -- यह समझना चाहिए ।। 19 ।।

---

16. ब्रह्म सभी प्रकार के दोषों से रहित है क्योंकि चिद्स्वरूप ब्रह्म निर्गुण है और इस कारण ब्रह्म गुणों के भेद से भिन्न नहीं हो सकता है अर्थात् शुद्ध ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह सकता है, क्योंकि भेद या द्वैतमात्र गुणों का कार्य है । जब जहाँ भेद ही नहीं रहेगा तो कौन किसको दूषित करेगा ? वैशेषिकों के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में 'नित्य अन्त्य विशेष' को स्वीकार किया जाता है और वे कहते हैं कि 'विशेष' के द्वारा ही आत्मा का नानात्वरूप सिद्ध हो सकता है, किन्तु वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिशरीर के भेद से आत्मगत तादृश 'अन्त्य विशेष' वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है । अत: इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म सम है, सभी वस्तुओं में समानरूप से अखण्ड चैतन्यरूप से स्थित है और एक ही है । इस कारण ब्रह्म निर्दोष है (द्रष्टव्य–शाङ्करभाष्य) ।

53 **यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्म तस्मात्तद्रूपमात्मानं साक्षात्कुर्वन् –**

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ 20 ॥

54 **'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' इत्यत्र व्याख्यातं पूर्वार्धम् । जीवन्मुक्तानां स्वाभाविकं चरितमेव मुमुक्षुभिः प्रयत्नपूर्वकमनुष्ठेयमिति वदितुं लिङ्प्रत्ययौ । अद्वितीयात्मदर्शनशीलस्य व्यतिरिक्तप्रियाप्रियप्राप्त्ययोगान्न तन्निमित्तौ हर्षविषादावित्यर्थः ।**

55 **अद्वितीयात्मदर्शनमेव विवृणोति–स्थिरबुद्धिः स्थिरा निश्चला संन्यासपूर्वक-वेदान्तवाक्यविचारपरिपाकेण सर्वसंशयशून्यत्वेन निर्विचिकित्सा निश्चिता ब्रह्मणि बुद्धिर्यस्य स तथा, लब्धश्रवणमननफल इति यावत् । एतादृशस्य सर्वासंभावनाशून्यत्वेऽपि विपरीतभावनाप्रतिबन्धात्साक्षात्कारो नोदेतीति निदिध्यासनमाह–असंमूढः, निदिध्यासनस्य विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहस्य परिपाकेण विपरीतभावनाख्यसंमोहरहितः । ततः सर्वप्रतिबन्धापगमाद्ब्रह्मविद्ब्रह्मसाक्षात्कारवान् । ततश्च समाधिपरिपाकेण निर्दोषे समे ब्रह्मण्येव स्थितो नान्यत्रेति ब्रह्मणि स्थितो जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । एतादृशस्य द्वैतदर्शनाभावात्प्रहर्षोद्वेगौ न भवत इत्युचितमेव । साधकेन तु द्वैतदर्शने विद्यमानेऽपि विषयदोषदर्शनादिना प्रहर्षविषादौ त्याज्यावित्यभिप्रायः ॥ 20 ॥**

---

53 क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिए आत्मा का उस रूप से साक्षात्कार करनेवाला -- [स्थिरबुद्धि, असंमूढ = संमोहरहित, और ब्रह्म में स्थित हुआ ब्रह्मविद् प्रिय के प्राप्त होने पर हर्षित न हो और अप्रिय के प्राप्त होने पर उद्विग्न न हो ॥ 20 ॥]

54 इस श्लोक के पूर्वार्ध की व्याख्या 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' (गीता, 2.56) इत्यादि स्थल पर की जा चुकी है। मुमुक्षुओं को जीवन्मुक्तों के स्वाभाविक चरित = आचरण का ही प्रयत्नपूर्वक आचरण करना चाहिए -- यह बताने के लिए 'प्रहृष्येत्' और 'उद्विजेत्' – इनमें लिङ् प्रत्यय दिये हैं। जिसका स्वभाव अद्वितीय आत्मा का ही दर्शन करना ही है उसके लिए ब्रह्म के अतिरिक्त प्रियाप्रिय की प्राप्ति का अयोग होने से तन्निमित्तक हर्ष और विषाद नहीं होते हैं -- यह तात्पर्य है।

55 अद्वितीयात्मदर्शन का विवरण करते हैं -- स्थिरबुद्धि = स्थिर -- निश्चल अर्थात् संन्यासपूर्वक वेदान्तवाक्यों के विचार के परिपाक से सब प्रकार के संशयों का अभाव हो जाने के कारण निर्विचिकित्स -- असंदिग्ध अर्थात् निश्चित बुद्धि है ब्रह्म में जिसकी वह पुरुष, जिसको श्रवण और मनन का फल प्राप्त हो गया है । ऐसे पुरुष को सब प्रकार की असंभावनाओं का अभाव हो जाने पर भी विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धक के कारण साक्षात्कार नहीं होता है, अतः 'असंमूढ' विशेषण से निदिध्यासन कहते हैं । असंमूढ अर्थात् जो विजातीय प्रत्यय के व्यवधान से शून्य सजातीय प्रत्यय के प्रवाहरूप निदिध्यासन के परिपाक से विपरीत भावनारूप संमोह से रहित होता है । उससे समस्त प्रतिबन्धों की निवृत्ति हो जाने से जो ब्रह्मविद् अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला हो गया है तथा उस साक्षात्कार से समाधि के परिपक्व हो जाने पर, अन्यत्र नहीं, निर्दोष और सम ब्रह्म में ही जो स्थित है वह जीवन्मुक्त अर्थात् स्थितप्रज्ञ है । ऐसे पुरुष को द्वैतदृष्टि का अभाव हो जाने के कारण हर्ष और उद्वेग नहीं होते हैं -- यह उचित ही है । किन्तु साधक को द्वैतदृष्टि के विद्यमान रहते हुए भी विषयदोषदर्शन आदि से प्रहर्ष और विषाद का त्याग करना ही चाहिए -- यह अभिप्राय है ॥ 20 ॥

56 ननु बाह्यविषयप्रीतेरनेकजन्मानुभूतत्वेनातिप्रबलत्वात्तदासक्तचित्तस्य कथमलौकिके ब्रह्मणि दृष्टसर्वसुखरहिते स्थितिः स्यात्, परमानन्दरूपत्वादिति चेत्, न, तदानन्दस्याननुभूतचरत्वेन चित्तस्थितिहेतुत्वाभावात् । तदुक्तं वार्तिके–

**'अप्यानन्दः श्रुतः साक्षान्मानेनाविषयीकृतः ।
दृष्टानन्दाभिलाषं स न मन्दीकर्तुमप्यलम् ॥' इति ।**

तत्राऽऽह –

**बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ 21 ॥**

57 इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयः । ते च बाह्या अनात्मधर्मत्वात् । तेष्वसक्तात्माऽनासक्तचित्तस्तृष्णाशून्यतया विरक्तः सन्नात्मनि अन्तःकरण एव बाह्यविषयनिरपेक्षं यदुपशमात्मकं सुखं तद्विन्दति लभते निर्मलसत्त्ववृत्त्या । तदुक्तं भारते–

**'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' इति ।**

58 अथवा प्रत्यगात्मनि त्वंपदार्थे यत्सुखं स्वरूपभूतं सुषुप्तावनुभूयमानं बाह्यविषयासक्तिप्रतिबन्धादलभ्यमानं तदेव तदभावाल्लभते ।

56 'बाह्य विषयों के प्रति समुत्पन्न प्रीति अनेक जन्मों में अनुभूत होने से अति प्रबल होती है, अतः उसमें आसक्तचित्त पुरुष की अलौकिक और दृष्ट सब प्रकार के सुखों से रहित ब्रह्म में कैसे स्थिति हो सकती है ? यदि कहें कि परमानन्दरूप होने के कारण उस ब्रह्म में स्थिति होगी, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उस ब्रह्म का आनन्द अनुभूति का विषय न होने से चित्त की स्थिति का कारण नहीं हो सकता है । ऐसा ही वार्तिक में कहा है -- 'शास्त्रों में आनन्द भले ही सुना गया हो, किन्तु यदि उसका प्रमाणद्वारा साक्षात् अनुभव न किया जाय, तो वह दृष्ट = लौकिक आनन्द की अभिलाषा को मन्द करने में समर्थ नहीं हो सकता' । इस पर कहते हैं :--

[बाह्य स्पर्शों = विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष, आत्मा = अन्तःकरण में जो स्वरूपभूत सुख है, उसको प्राप्त करता है । वह ब्रह्म में समाधियुक्त अन्तःकरणवाला पुरुष अक्षय = अनन्त सुख में व्याप्त हो जाता है ।। 21 ।।]

57 'इन्द्रियैः स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः शब्दादय विषयाः' अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जिनका स्पर्श ग्रहण किया जाता है उन शब्दादि विषयों को 'स्पर्श' कहा जाता है । वे स्पर्श = शब्दादि विषय बाह्य है, क्योंकि वे अनात्म धर्म हैं । उनमें असक्तात्मा = अनासक्तचित्त पुरुष तृष्णाशून्य होने के कारण विरक्त होकर आत्मा में = अन्तःकरण[17] में ही बाह्य विषयों से निरपेक्ष जो उपशमात्मक सुख है उसको निर्मल सत्त्ववृत्ति से प्राप्त करता है । यही महाभारत में कहा है -- 'लोक में जो कामसुख है और देवलोक में जो दिव्य स्वर्गादि सुख हैं -- ये तृष्णाक्षयजन्य सुख के सोलहवें अंश की भी बराबरी नहीं कर सकते ।'

58 अथवा, आत्मा = प्रत्यगात्मा = 'त्वं' पद के अर्थ जीव में जो स्वरूपभूत सुख है जिसका कि सुषप्ति में अनुभव होता है और विषयासक्तिरूप प्रतिबन्ध के कारण जो प्रतीत नहीं होता है, उसी को विषयासक्तिरूप प्रतिबन्ध का अभाव होने से प्राप्त करता है ।

17. यहाँ 'आत्मा शब्द रजोगुण और तमोगुण से शून्य सात्त्विक चित्तवृत्ति से 'अन्तःकरण' के अर्थ में प्रयुक्त है ।

59 **न केवलं त्वंपदार्थसुखमेव लभते किं तु तत्पदार्थैक्यानुभवेन पूर्णसुखमपीत्याह—स तृष्णाशून्यो ब्रह्मणि परमात्मनि योगः समाधिस्तेन युक्तस्तस्मिन्व्यापृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा। अथवा ब्रह्मणि तत्पदार्थे योगेन वाक्यार्थानुभवरूपेण समाधिना युक्त ऐक्यं प्राप्त आत्मा त्वंपदार्थस्वरूपं यस्य स तथा, सुखमक्षयमनन्तं स्वस्वरूपभूतमश्नुते व्याप्नोति सुखानुभवरूप एव सर्वदा भवतीत्यर्थः। नित्येऽपि वस्तुन्यविद्यानिवृत्त्यभिप्रायेण धात्वर्थयोग औपचारिकः। तस्मादात्मन्यक्षयसुखानुभवार्थी सन्बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकाया महानरकानुबन्धिन्याः सकाशादिन्द्रियाणि निवर्तयेत्तावतैव च ब्रह्मणि स्थितिर्भवतीत्यभिप्रायः॥ 21॥**

60 **ननु बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तावात्मन्यक्षयसुखानुभवस्तस्मिंश्च सति तत्प्रसादादेव बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तिरितीतरेतराश्रयवशान्नैकमपि सिध्येदित्याशङ्क्य विषयदोषदर्शनाभ्यासेनैव तत्प्रीतिनिवृत्तिर्भवतीति परिहारमाह—**

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ 22॥

61 **हि यस्माद्ये संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसंबन्धजा भोगाः क्षुद्रसुखलवानुभवा इह वा परत्र वा रागद्वेषादिव्याप्तत्वेन दुःखयोनय एव ते, ते सर्वेऽपि ब्रह्मलोकपर्यन्तं दुःखहेतव एव। तदुक्तं विष्णुपुराणे—**

---

59 वह अनासक्तचित्त पुरुष केवल 'त्वं' पदार्थ के सुख को ही प्राप्त नहीं करता है, अपितु 'तत्' पदार्थ के साथ ऐक्य का अनुभव होने से पूर्ण सुख भी प्राप्त करता है -- ऐसा 'स' इत्यादि से कहते हैं। स = वह तृष्णाशून्य पुरुष ब्रह्म = परमात्मा में जो योग = समाधि है उससे युक्त होकर अर्थात् उस ब्रह्मयोग में व्यापृत = लीन है आत्मा = अन्तःकरण जिसका ऐसा 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' होकर अथवा, ब्रह्म = 'तत्' पदार्थ में योग से = वाक्यार्थ के अनुभवरूप समाधि से युक्त = ऐक्य को प्राप्त है आत्मा = 'त्वं' पदार्थ का स्वरूप जिसका ऐसा होकर वह अक्षय = अनन्तस्वस्वरूपभूत सुख को प्राप्त करता है अर्थात् उसमें व्याप्त हो जाता है। अर्थ यह है कि वह सर्वदा सुखानुभवरूप ही हो जाता है। यद्यपि स्वस्वरूपभूत सुख नित्य है, तथापि अविद्या की निवृत्ति के अभिप्राय से उसमें उपचार से 'व्याप्त हो जाना' रूप धातु के अर्थ का योग किया है। अतः अभिप्राय यह है कि आत्मा में अक्षय सुख का अनुभव करने का इच्छुक होकर बाह्यविषयक क्षणिक प्रीति जो महानरकनिदान है उससे इन्द्रियों को निवृत्त करे, इतने ही से ब्रह्म में स्थिति हो जाती है॥ 21॥

60 'बाह्य विषयों के प्रति समुत्पन्न प्रीति के निवृत्त होने पर तो आत्मा में अक्षय सुख का अनुभव होता है और आत्मसुख का अनुभव होने पर आत्मसुखानुभव के प्रसाद से ही बाह्य विषयों के प्रति प्रीति की निवृत्ति होती है -- इसप्रकार एक दूसरे के आश्रित होने के कारण तो इनमें से एक भी सिद्ध नहीं हो सकता है' -- ऐसी आशंका करके उसका इसप्रकार परिहार करते हैं कि विषयों में दोषदर्शन का अभ्यास करने से ही विषयों के प्रति प्रीति की निवृत्ति हो जाती है :--
[हे कौन्तेय ! इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से जो भोग प्राप्त होते हैं वे दुःख के ही कारण हैं तथा आदि और अन्तवाले हैं। बुद्धिमान् -- विवेकी पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता है॥ 22॥]

61 हि = यस्मात् = क्योंकि जो संस्पर्शज = विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न भोग = क्षुद्रसुखलेश के अनुभव इस लोक में या परलोक में हैं वे राग-द्वेष से व्याप्त होने के कारण दुःखयोनि = दुःख के मूल ही हैं अर्थात् वे सब ब्रह्मलोकपर्यन्त सब दुःखों के हेतु ही हैं। विष्णुपुराण में भी ऐसा कहा है --

'यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥' इति ।

एतादृशा अपि न स्थिराः किं तु आद्यन्तवन्तः, आदिर्विषयेन्द्रियसंयोगोऽन्तश्च तद्वियोग एवं तौ विद्येते येषां ते पूर्वापरयोरसत्त्वान्मध्ये स्वप्नवदाविर्भूताःक्षणिका मिथ्याभूताः । तदुक्तं गौडपादाचार्यैः-- 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' इति ।

62 **यस्मादेवं तस्मात्तेषु बुधो विवेकी न रमते प्रतिकूलवेदनीयत्वान्न प्रीतिमनुभवति । तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना -- 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पा० द० 2.15) इति । सर्वमपि विषयसुखं दृष्टमानुश्रविकं च दुःखमेव प्रतिकूलवेदनीयत्वात्, विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिस्वरूपस्य न त्वविवेकिनः । अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानत्यल्पदुःखलेशेनाप्युद्विजते यथोर्णातन्तुरतिसुकुमारोऽप्यक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नेतरेष्वङ्गेषु तद्वद्विवेकिन एव मधुविषसंपृक्तान्नभोजनवत्सर्वमपि भोगसाधनं कालत्रयेऽपि क्लेशानुविद्धत्वाद्दुःखं न मूढस्य बहु -**

'प्राणी जितने प्रिय पदार्थों के साथ मन का सम्बन्ध करता है, उतने ही शोक के काँटे अपने हृदय में गाड़ता है' ।

ऐसे होकर भी ये स्थिर नहीं हैं, किन्तु आदि और अन्तवाले हैं । आदि = विषय और इन्द्रियों का संयोग तथा अन्त = उनका वियोग -- इसप्रकार ये दोनों विद्यमान हैं जिनमें वे पूर्व में और उत्तर में असद्रूप होने के कारण मध्य में भी स्वप्न के समान प्रतीत होनेवाले, क्षणिक और मिथ्या ही हैं । ऐसा ही गौडपादाचार्य ने कहा है -- ' जो आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी वैसा नहीं है' ।

62 क्योंकि ऐसा है, इसलिए बुध = विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता है अर्थात् प्रतिकूल वेदनीय होने के कारण उनमें प्रीति का अनुभव नहीं करता है । भगवान् पतञ्जलि ने भी ऐसा ही कहा है -- 'परिमाणतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 2.15) अर्थात् परिणाम -- दुःख[18], ताप-दुःख[19] और संस्कारदुःख[20] तथा गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख[21] के कारण विवेकी पुरुष के लिए सब अर्थात् सुख भी दुःखरूप ही है' । दृष्ट = ऐहिक और आनुश्रविक = वैदिक-प्रमाणसिद्ध स्वर्गादि = अदृष्ट -- सभी विषयसुख प्रतिकूल वेदनीय होने के कारण दुःख ही हैं ।

18. परिणाम-दुखः -- विषय-सुख के भोग से इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होती हैं, अपितु राग-क्लेश उत्पन्न होता है । जैसे-जैसे भोग का अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे तृष्णा बलवती होती जाती है । विषयों के भोग से इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, अन्त में इन्द्रियों में विषय-भोग की शक्ति ही नहीं रहती है और तृष्णा सताती रहती है । यह सुख परिणाम में दुःख ही है । यही परिणाम-दुःख है ।

19. ताप-दुःख -- विषय-सुख की प्राप्ति में और उसके साधन में राग-क्लेश उत्पन्न होता है और उनमें जो विघ्न होता है, उससे द्वेष-क्लेश उत्पन्न होता है । यह सुख के नाश होने का दुःख सुख के भोग-काल में भी सताता रहता है । इसी कारण यह सुख परिणाम में ताप-दुःख है ।

20. संस्कार-दुःख -- सुख के भोग के जो संस्कार चित्त में रहते हैं उनसे राग उत्पन्न होता है, मनुष्य उसको प्राप्त करने के लिए यत्न करता है । उसमें विघ्न होता है तो उससे द्वेष उत्पन्न होता है । इसप्रकार राग-द्वेष के भी संस्कार चित्त में एकत्रित होते रहते हैं और उनके वशीभूत होकर जो शुभाशुभ कर्म करता है, उनके भी संस्कार चित्त में एकत्रित होते रहते हैं । ये संस्कार जात्यादि के कारण होते हैं, इसलिए यह सुख परिणाम में संस्कार-दुःख है ।

21. गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख -- सत्त्व, रजस् और तमस् -- ये तीनों गुण क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति स्वभाववाले हैं । इनकी क्रमशः सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्तियाँ हैं । ये तीनों गुण परिणामी हैं । कभी एक गुण दूसरे गुण का अभिभव करके प्रधान हो जाता है, कभी दूसरा उसको । जब सत्त्व रजस् और तमस् का अभिभव करता है, तब सुख-वृत्ति का उदय होता है । जब रजस् सत्त्व और तमस् का अभिभव करता है, तब दुःख-वृत्ति का उदय होता है । जब तमस् सत्त्व और रजस् का अभिभव करता है, तब मोह-वृत्ति उत्पन्न होती है । इन तीनों गुणों में परिणाम रहता है । इस कारण इनकी वृत्तियों में भी परिणाम का होना आवश्यक है और सुख के पश्चात् दुःख और मोह का होना स्वाभाविक है । यह गुण-वृत्तियों के विरोध से सुख में दुःख की प्रतीति है ।

विधदु:खसहिष्णोरित्यर्थ: । तत्र परिणामतापसंस्कारदु:खैरिति भूतवर्तमानभविष्यत्कालेऽपि दु:खानुविद्धत्वादौपाधिकं दु:खत्वं विषयसुखस्योक्तं, गुणवृत्तिविरोधाच्चेत्यनेन स्वरूपतोऽपि दु:खत्वम् । तत्र परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च त एव दु:खानि तैरित्यर्थ: । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । तथाहि--रागानुविद्ध एव सर्वोऽपि सुखानुभव: । न हि तत्र न रज्यति तेन सुखी चेति संभवति । राग एव च पूर्वमुद्भूत: सन्विषयप्राप्त्या सुखरूपेण परिणमते । तस्य च प्रतिक्षणं वर्धमानत्वेन स्वविषयाप्राप्तिनिबन्धनदु:खस्यापरिहार्यत्वाद्दु:खरूपतैव । या हि भोगेष्विन्द्रियाणामुपशान्ति: परितृप्तत्वात्तत्सुखम् । या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दु:खम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागा: कौशलानि चेन्द्रियाणाम् । स्मृतिश्च -- 'न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥' इति । तस्माद्दु:-खात्मकरागपरिणामत्वाद्विषयसुखमपि दु:खमेव कार्यकारणयोरभेदादिति परिणामदु:खत्वम् ।

किसके लिए हैं ? विवेकी पुरुष के लिए हैं । क्यों ? क्योंकि विवेकी पुरुष क्लेशादि के स्वरूप को जानता है । अविवेकी तो विषय के यथार्थस्वरूप को नहीं जानता है, इसलिए वह उनमें रमण करता है । विद्वान् नेत्रगोलक के समान है, वह अत्यन्त अल्प दु:खलेश से भी उद्विग्न हो जाता है । जैसे मकड़ी का जाला अतिसूक्ष्म अतिकोमल होने पर भी नेत्रगोलक में पड़ने पर अपने स्पर्श से ही दु:ख देता है, किन्तु दूसरे अङ्गों में लगने से भी दु:ख नहीं देता है; वैसे ही सभी भोगसाधन विद्वान् के लिए ही मधु और विष से संमिश्रित अन्न के भोजन के समान तीनों कालों में क्लेशयुक्त होने के कारण दु:खरूप ही हैं, किन्तु अनेक प्रकार के दु:खों को सहन करनेवाले मूढ़ पुरुष के लिए वे भोगसाधन दु:खरूप नहीं है -- यह अर्थ है । यहाँ 'परिणामतापसंस्कारदु:खै:' -- इस पद से भूत, वर्तमान और भविष्य काल में भी दु:ख से युक्त होने के कारण विषयसुख का औपाधिक दु:खरूपत्व कहा है । 'गुणवृत्तिविरोधाच्च' -- इस पद से विषयसुख को स्वरूपत: भी दु:खरूप कहा है । 'परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च त एव दु:खानि तै:' अर्थात् परिणाम, ताप और संस्कार -- ये जो दु:ख हैं इनके कारण, -- विषयसुख भी दु:खरूप हैं । यहाँ इत्थंभूतलक्षण[22] में तृतीया विभक्ति है । जैसे सभी सुखानुभव रागानुविद्ध ही हैं । यह नहीं हो सकता कि 'उसमें राग नहीं है और उससे सुखी है' । राग ही पूर्व में उद्‌भूत होकर पुन: विषयप्राप्ति से सुखरूप में परिणत होता है । वह राग प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, अत: उस अवस्था में विषय प्राप्ति न होने से होनेवाला दु:ख अपरिहार्य होने के कारण वह राग दु:खरूप ही है । भोगों में परितृप्त होने से जो इन्द्रियों की उपशान्ति होती है वही सुख है । भोगों में लोलुपता होने से जो इन्द्रियों की अनुपशान्ति = अशान्ति होती है वही दु:ख है । भोगों के अभ्यास से भोगो में इन्द्रियों की तृष्णा का अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि भोगों के अभ्यास से तो राग और इन्द्रियों का कौशल-नैपुण्य अर्थात् चमत्कार बढ़ता ही है । मनुस्मृति भी कहती है -- 'विषय-कामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती, किन्तु हवि: = हवन-सामग्री के डालने से अग्नि के सदृश और अधिक बढती है' (मनुस्मृति, 2.94) । अत: दु:खरूप राग का परिणाम होने के कारण विषयसुख भी दु:ख ही है क्योंकि कार्य और कारण में अभेद होता है -- यह 'परिणामदु:खत्व' है ।

22. 'इत्थंभूतलक्षणे' (पाणिनिसूत्र, 2.3.21) = इत्थंभूत शब्द का अर्थ है -- इस प्रकार हुआ, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ । किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिहन में तृतीया विभक्ति होती है ।

63 तथा सुखानुभवकाले तत्प्रतिकूलानि दुःखसाधनानि द्वेष्टि । नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति भूतानि च हिनस्ति । द्वेषश्च सर्वाणि दुःखसाधनानि मे मा भूवन्निति संकल्पविशेषः । न च तानि सर्वाणि कश्चिदपि परिहर्तुं शक्नोति । अतः सुखानुभवकालेऽपि तत्परिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात्तापदुःखं दुष्परिहरमेव । तापो हि द्वेषः । एवं दुःखसाधनानि न परिहर्तुमशक्तो मुह्यति चेति मोहदुःखताऽपि व्याख्येया । तथाचोक्तं योगभाष्यकारैः – सर्वस्य द्वेषानुविद्धचेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति । तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते । ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति । स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते । तथा च वर्तमानः सुखानुभवः स्वविनाशकाले संस्कारमाधत्ते । स च सुखस्मरणं, तच्च रागं, स च मनःकायवचनचेष्टां, सा च पुण्यापुण्यकर्माशयौ, तौ च जन्मादीति संस्कारदुःखता । एवं तापमोहयोरपि संस्कारौ व्याख्येयौ ।

64 एवं कालत्रयेऽपि दुःखानुवेधाद्विषयसुखं दुःखमेवेत्युक्त्वा स्वरूपतोऽपि दुःखतामाह -- गुणवृत्तिविरोधाच्च, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि सुखदुःखमोहात्मकाः परस्परविरुद्धस्वभावा अपि तैलवर्त्यग्नय इव दीपं पुरुषभोगोपयुक्तत्वेन त्र्यात्मकमेकं कार्यमारभन्ते तत्रैकस्य प्राधान्ये द्वयोर्गुणभावात्प्र-

---

63 इसीप्रकार सुख का अनुभव करते समय सुखविरोधी दु:ख के साधनों से सुखार्थी द्वेष करता है । 'प्राणियों को पीड़ा पहुँचाए बिना विषयोपभोग सम्भव नहीं है' -- ऐसा सोचकर वह जीवों की हिंसा करता है । 'दु:ख के सम्पूर्ण साधन मुझको प्राप्त न हों' -- इसप्रकार का संकल्पविशेष ही 'द्वेष' है, किन्तु उन सभी दु:ख के साधनों का परिहार कोई भी संसारी जीव नहीं कर सकता है । अत: सुख का अनुभव करते समय भी सुखविरोधी के प्रति सर्वदा द्वेष रहने के कारण तापदु:ख दुष्परिहार ही है । ताप भी द्वेष ही है । इसप्रकार दु:ख के साधनों का परिहार करने में अशक्त -- असमर्थ होकर मोह भी करता ही है -- इसप्रकार मोहदु:खता को भी समझना चाहिए । ऐसा ही योगभाष्यकार ने भी कहा है -- 'सब को द्वेष से अनुविद्ध चेतन और अचेन रूप साधनों के अधीन तापदु:ख का अनुभव होता है । उसमें द्वेष से उत्पन्न हुए कर्माशय ही कारण हैं । सुख--साधनों का प्रार्थी शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टा करता है । उससे वह दूसरों पर अनुग्रह -- निग्रह करता है -- इसप्रकार वह दूसरों पर अनुग्रह और पीड़ा द्वारा धर्म और अधर्म का संचय करता है । वह कर्माशय लोभ और मोह से होता है -- यही 'तापदु:खता' कही जाती है' (योगभाष्य, 2.15) । इसीप्रकार जब वर्तमान सुखानुभव अपने विनाश को प्राप्त होता है, तो वह उस समय अपने संस्कार का आधान करता है । और वह संस्कार सुख का स्मरण कराता है, स्मरण से राग उत्पन्न होता है, राग से मानसिक, शारीरिक और वाचिक चेष्टा होती है, वह चेष्टा पुण्य-पापरूप कर्माशय को उत्पन्न करती है और वे पुण्य-पापरूप कर्माशय जन्मादि करते हैं -- इसप्रकार यह 'संस्कारदु:खता' कही जाती है । इसीप्रकार ताप और मोह के संस्कारों की भी व्याख्या कर लेनी चाहिए ।

64 इसप्रकार तीनों कालों में भी दु:ख से अनुविद्ध -- व्याप्त रहने के कारण विषयसुख दु:ख ही है -- यह कहकर उसकी स्वरूपत: भी दु:खता को कहते हैं -- 'गुणवृत्तिविरोधाच्च' । सत्त्व, रज और तम -- ये गुण क्रमश: सुख, दु:ख और मोहरूप हैं तथा परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले होने पर भी; तैल, बत्ती और अग्नि मिथोविरुद्धस्वभाव होने पर भी जिसप्रकार दीपकरूप एक कार्य को आरम्भ करते हैं वैसे ही; पुरुष के भोग में उपयुक्त होकर त्रिगुणमय एक ही कार्य आरम्भ करते हैं । उस

धानमात्रव्यपदेशेन सात्त्विकं राजसं तामसमिति त्रिगुणमपि कार्यमेकेन गुणेन व्यपदिश्यते । तत्र सुखोपभोगरूपोऽपि प्रत्यय उद्भूतसत्त्वकार्यत्वेऽप्यनुद्भू- तरजस्तमःकार्यत्वात्त्रिगुणात्मक एव । तथा च सुखात्मकत्ववद्दुःखात्मकत्वं विषादात्मकत्वं च तस्य ध्रुवमिति दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । न चैतादृशोऽपि प्रत्ययः स्थिरः । यस्माच्चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । नन्वेकः प्रत्ययः कथं परस्परविरुद्धसुखदुःखमोहत्वान्येकदा प्रतिपद्यत इति चेत्, न, उद्भूतानुद्भूतयोर्विरोधाभावात् । समवृत्तिकानामेव हि गुणानां युगपद्विरोधो न विषमवृत्तिकानाम् । यथा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि लब्धवृत्तिकानि लब्धवृत्तिकैरेवाधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यैः सह विरुध्यन्ते न तु स्वरूपसद्भिः । प्रधानस्य प्रधानेन सह विरोधो न तु दुर्बलेनेति हि न्यायः । एवं सत्त्वरजस्तमांस्यपि परस्परं प्राधान्यमात्रं युगपन्न सहन्ते न तु सद्भावमपि ।

65 **एतेन परिणामतापसंस्कारदुःखेष्वपि राद्वेषमोहानां युगपत्सद्भावो व्याख्यातः प्रसुप्ततनुविच्छि-न्नोदाररूपेण क्लेशानां चतुरवस्थत्वात् । तथा हि -- 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ।' 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।' 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।' ' दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।' 'सुखानुशयी रागः ।' 'दुःखानुशयी द्वेषः ।' 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः । 'ते प्रतिप्रसवहेयाः**

कार्य में एक की प्रधानता और दो की गौणता रहने से वह कार्य त्रिगुणमय होने पर भी प्रधान गुण के नामानुसार एक गुण से ही सात्त्विक, राजस अथवा तामस कहा जाता है । उनमें सुखोपभोगरूप भी प्रत्यय -- अनुभव उद्भूत सत्त्वगुण का कार्य होने पर भी अनुद्भूत रजोगुण और तमोगुण का भी कार्य होने से त्रिगुणमय ही है । इसप्रकार सुखरूपता के समान उसकी दुःखरूपता और विषादरूपता भी निश्चित ही है -- अतः विवेकी पुरुष के लिए सब दुःखरूप ही है । इसप्रकार प्रत्यय भी स्थिर नहीं है, क्योंकि गुणों की वृत्ति चञ्चल है, इसलिए चित्त भी क्षिप्रपरिणामी कहा गया है । यदि प्रश्न करें कि 'एक ही प्रत्यय एक समय में परस्पर विरुद्ध सुख, दुःख और मोहरूप कैसे हो सकता है', तो यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि उद्भूत और अनुद्भूत गुणों में विरोध नहीं होता है । समान वृत्तिवाले गुणों के ही एक साथ रहने में विरोध होता है, विषमवृत्तिवाले गुणों के एक साथ रहने में विरोध नहीं होता । जैसे वृत्तियुक्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का ही वृत्तियुक्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य के साथ विरोध होता है, जिनकी स्वरूपतः सत्ता है उनके साथ नहीं । प्रधान का प्रधान के साथ ही विरोध होता है, दुर्बल के साथ नहीं -- यही न्याय है । इसीप्रकार सत्त्व, रज और तम भी एक साथ एक-दूसरे की प्रधानता को ही सहन नहीं करते हैं, सत्ता को भी सहन नहीं करते हों -- ऐसा नहीं है ।

65 इससे परिणाम, ताप और संस्कार दुःखों में भी राग, द्वेष और मोह की समकालीन सत्ता की व्याख्या हो जाती है, क्योंकि प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूप से क्लेश चार अवस्थाओंवाले हैं, जैसा कि पातञ्जल-योग सूत्र में कहा गया है :-- 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' (योगसूत्र, 2.3) = 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश -- ये पाँच क्लेश हैं' । 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (योग सूत्र, 2.4) = 'अविद्या प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं वाले उत्तर = अस्मितादि क्लेशों की क्षेत्र अर्थात् उत्पत्ति की भूमि है' । 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (योगसूत्र, 2.5) = 'अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान 'अविद्या' है' । 'दृग्दर्शन शक्त्यो-

सूक्ष्माः ।' 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।' 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।' 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (पा० द० 2.3.13) इति पातञ्जलानि सूत्राणि । तत्रातस्मिंस्तद्-बुद्धिर्विपर्ययो मिथ्याज्ञानमविद्येति पर्यायाः । तस्या विशेषः संसारनिदानम् । तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा—ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौरमृता दिवौकस इति । अशुचौ परमबीभत्से काये शुचिबुद्धिर्यथा—नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयतीवेति कस्य केन संबन्धः ।

'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥'

इति च वैयासिकः श्लोकः । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययोऽनर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः । दुःखे सुखख्यातिरुदाहृता परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।

रेकात्मतेवास्मिता' (योगसूत्र 2.6) = 'दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति का एक स्वरूप जैसा भान होना 'अस्मिता' है' । 'सुखानुशयी रागः' (योगसूत्र, 2.7) = सुख-भोग के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है, वह 'राग' है' । 'दुःखानुशयी द्वेषः' (योगसूत्र, 2.8) = 'दुःख के अनुभव के पीछे जो चित्त में घृणा की वासना रहती है, उसको 'द्वेष' कहते हैं' । 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा-रूढोऽभिनिवेशः' (योगसूत्र, 2.9) = 'जिस मरणभय में स्वभाव से ही विद्वान् भी उसी प्रकार आरूढ़ होता है जैसे मूर्ख वह 'अभिनिवेश' है' । 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः' (योगसूत्र, 2.10) = 'वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रिया-योग से सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीजरूप हो गये हैं, असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा चित्त के अपने कारण में लीन होने से निवृत्त करने योग्य हैं' । 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः' (योगसूत्र, 2.11) = 'क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ, जो क्रियायोग से तनु कर दी गई हैं, प्रसंख्यान-संज्ञक ध्यान से त्यागने योग्य हैं' । 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः' (योगसूत्र, 2.12) = 'क्लेश जिसका मूल है ऐसा कर्माशय दृष्ट = वर्तमान और अदृष्ट = भावी जन्मों में भोगने के योग्य होता है' । 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (योगसूत्र,2.13) = 'अविद्यादि क्लेशरूप मूल के विद्यमान रहने पर उस कर्माशय का फल जाति, आयु और भोग होता है' । ये 'अविद्यास्मिता...' से लेकर 'भोगाः' पर्यन्त योगसूत्र हैं । उनमें यथाक्रम प्रथम निर्दिष्ट अविद्या का लक्षण कहते हैं -- जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसी मानना 'विपर्यय' है; विपर्यय, मिथ्याज्ञान और अविद्या -- ये पर्यायवाची शब्द हैं । अविद्या का विशेष धर्म 'संसार का कारण होना' है । अनित्य में नित्यबुद्धि इसप्रकार होती है जैसे -- पृथ्वी नित्य है, चन्द्रमा और तारों के सहित आकाश नित्य है, देवता अमर हैं -- इत्यादि । अपवित्र = परम बीभत्स -- अतिघृणित शरीर में पवित्रबुद्धि इसप्रकार होती है जैसे -- 'नवीन शशिकला के समान सुन्दरी यह कन्या मानो मधु और अमृत के अवयवों से निर्मित है, ऐसी जान पड़ती है मानो चन्द्रमा का भेदन करके निकली हो, इसके नेत्र नीलकमल के दल के समान विशाल हैं -- उन हावगर्भित नेत्रों से मानो यह जीवलोक को आश्वासन दे रही है' -- इसप्रकार की उक्ति में सोचिए किसका किससे सम्बन्ध है ? व्यासभाष्य में श्लोक है -- तदनुसार, -- 'उत्पत्तिस्थान, बीज, उपष्टम्भ = अस्थिमांसादि आश्रय, निष्यन्द और निधन आदि के कारण शौचदृष्टि से शरीर का विचार करके पण्डितजन इस शरीर को अपवित्र ही समझते हैं' । इससे अपुण्य में पुण्यबुद्धि और अनर्थ में अर्थबुद्धि की भी व्याख्या हो जाती है । दुःखबुद्धि में सुखबुद्धि का उदाहरण

अनात्मन्यात्मख्यातिर्यथा—शरीरे मनुष्योऽहमित्यादिः । इयं चाविद्या सर्वक्लेशमूलभूता तम इत्युच्यते । बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानोऽस्मिता मोहः । साधनरहितस्यापि सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति विपर्ययविशेषो रागः। स एव महामोहः । दुःखसाधने विद्यमानेऽपि किमपि दुःखं मे मा भूदिति विपर्ययविशेषो द्वेषः । स तामिस्रः । आयुरभावेऽप्येतैः शरीरेन्द्रियादिभिरनित्यैरपि वियोगो मे मा भूदित्यविद्वदङ्गनाबालं स्वाभाविकः सर्वप्राणिसाधारणो मरणत्रासरूपो विपर्ययविशेषोऽभिनिवेशः । सोऽन्धतामिस्रः । तदुक्तं पुराणे—

'तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥' इति ।

66 **एते च क्लेशाश्चतुरवस्था भवन्ति । तत्रासतोऽनुत्पत्तेरनभिव्यक्तरूपेणावस्थानं सुप्तावस्था । अभिव्यक्तस्यापि सहकार्यलाभात्कार्याजनकत्वं तन्ववस्था । अभिव्यक्तस्य जनितकार्यस्यापि केनचिद्बलवताऽभिभवो विच्छेदावस्था । अभिव्यक्तस्य प्राप्तसहकारिसंपत्तेरप्रतिबन्धेन स्वकार्य-**

तो 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' -- इस सूत्र की व्याख्या में दे ही चुके हैं । अनात्मा में आत्मबुद्धि इसप्रकार होती है जैसे -- शरीर में 'मैं मनुष्य हूँ' -- ऐसी बुद्धि होती है । यह समस्त क्लेशों की मूलभूता अविद्या 'तम' कही जाती है । बुद्धि और पुरुष के अभेद से जो अभिमान होता है वह अस्मिता 'मोह' है । साधनरहित पुरुष भी चाहता है कि 'मुझको सब प्रकार के सुख प्राप्त हों ' -- यह विपर्ययविशेष 'राग' है । यही 'महामोह' है । दुःख के साधन विद्यमान रहते हुए भी 'मुझको कोई भी दुःख न हो' -- यह विपर्ययविशेष 'द्वेष' है । यह 'तामिस्र' है । आयु न रहने पर भी 'इन अनित्य शरीर, इन्द्रिय आदि से भी मेरा वियोग न हो' -- ऐसा विद्वान्, स्त्री और बालकपर्यन्त स्वाभाविक, सभी प्राणियों में साधारण मरणत्रास -- मरणभयरूप विपर्ययविशेष 'अभिनिवेश' है । यह 'अन्धतामिस्र' है । पुराण में कहा भी है -- 'तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र -- यह पञ्चपर्वा अविद्या परमात्मा से प्रकट हुई है' ।

66 ये क्लेश चार अवस्थाओं वाले होते हैं । उनमें, असत् की उत्पत्ति[23] न होने से अनभिव्यक्तरूप से क्लेशावस्थान 'सुप्तावस्था[24]' है । अभिव्यक्त होने पर भी सहकारी कारण का लाभ न होने से कार्याजनकत्व अवस्था 'तन्ववस्था -- तनु अवस्था[25]' है । अभिव्यक्त आरब्ध कार्य का भी किसी बलवान् कारण से अभिभव होना 'विच्छेदावस्था[26]' है । अभिव्यक्त क्लेश का सहकारी संपत्ति --

---

23. यहाँ 'उत्पत्ति' शब्द अभिव्यक्तिपरक है । कारण से कार्य की उत्पत्ति = अभिव्यक्ति होती है । यह अभिव्यक्ति सत् की ही होती है, असत् की नहीं । गीता में कहा ही है – 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता, 2,16) । प्रकृत में गीता -- सम्मत अर्थ ही किया गया है ।

24. जो क्लेश चित्तभूमि में अवस्थित रहते हैं, उद्बुद्ध नहीं होते हैं, क्योंकि अपने विषय आदि के अभाव-काल में अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकते हैं वे 'प्रसुप्त' कहलाते हैं । जैसे बाल्यावस्था में विषयभोग की वासनाएँ बीजरूप से अवस्थित रहती हैं, युवावस्था में जाग्रत् होकर अपना फल प्रकट करती हैं ।

25. जो क्लेश प्रतिपक्षभावना द्वारा अथवा क्रियायोग आदि से तनु = शिथिल कर दिए जाते हैं वे 'तनु' कहलाते हैं । तनु = शिथिल किये जाने के कारण ये विषय के होते हुए भी अपने कार्य को आरम्भ करने में समर्थ नहीं होते है, शान्त रहते है; किन्तु इनकी वासनाएँ सूक्ष्मरूप से चित्त में बनी रहती हैं ।

26. जिसमें क्लेश किसी दूसरे बलवान् क्लेश से अभिभूत होकर शक्तिरूप से रहते हैं और उसके अभाव में प्रकट हो जाते हैं वह क्लेशों की 'विच्छिन्नावस्था' है । जैसे द्वेषावस्था में राग अभिभूत रहता है और रागावस्था में द्वेष ।

करत्वमुदारावस्था । एतादृगवस्थाचतुष्टयविशिष्टानामस्मितादीनां चतुर्णां विपर्ययरूपाणां क्लेशानामविद्यैव सामान्यरूपा क्षेत्रं प्रसवभूमिः, सर्वेषामपि विपर्ययरूपत्वस्य दर्शितत्वात् । तेनाविद्यानिवृत्त्यैव क्लेशानां निवृत्तिरित्यर्थः । ते च क्लेशाः प्रसुप्ता यथा प्रकृतिलीनानां, तनवः प्रतिपक्षभावनया तनूकृता यथा योगिनाम् । त उभयेऽपि सूक्ष्माः प्रतिप्रसवेन मनोनिरोधेनैव निर्बीजसमाधिना हेयाः । ये तु सूक्ष्मवृत्तयस्तत्कार्यभूताः स्थूला विच्छिन्ना उदाराश्च । विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः प्रादुर्भवन्तीति विच्छिन्नाः, यथा रागकाले क्रोधो विद्यमानोऽपि न प्रादुर्भूत इति विच्छिन्न उच्यते, एवमेकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति नान्यासु विरक्तः किं त्वेकस्यां रागो लब्धवृत्तिरन्यासु च भविष्यद्वृत्तिरिति स तदा विच्छिन्न उच्यते, ये यदा विषयेषु लब्धवृत्तयस्ते तदा सर्वात्मना प्रादुर्भूता उदारा उच्यन्ते, त उभयेऽप्यतिस्थूलत्वाच्छुद्धसत्त्वभवेन भगवद्ध्यानेन हेया न मनोनिरोधमपेक्षन्ते । निरोधहेयास्तु सूक्ष्मा एव । तथा च परिणामतापसंस्कारदुःखेषु प्रसुप्ततनुविच्छिन्नरूपेण सर्वे क्लेशाः सर्वदा सन्ति । उदारता तु कदाचित्कस्यचिदिति विशेषः । एते च बाधनालक्षणं दुःखमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति । यतः कर्माशयो धर्माधर्माख्यः क्लेशमूलक एव । सति च मूलभूते क्लेशे तस्य कर्माशयस्य विपाकः फलं जन्माऽऽयुर्भोगश्चेति । स

साधनों को पाकर बिना किसी प्रतिबन्ध के अपना कार्य करना 'उदारावस्था[27]' है । इसप्रकार की चारों अवस्थाओं से विशिष्ट अस्मिता आदि चार विपर्ययरूप क्लेशों की सामान्यरूपा अविद्या ही क्षेत्र = प्रसवभूमि -- उत्पत्तिभूमि है । इन सभी क्लेशों की विपर्ययरूपता तो दिखला ही चुके हैं । अत: तात्पर्य यह है कि अविद्या की निवृत्ति से ही क्लेशों की भी निवृत्ति हो सकती है । वे क्लेश प्रसुप्त, जैसे कि प्रकृतिलीनों के होते हैं और तनु, जैसे कि प्रतिपक्षभावना से तनु किये हुए योगियों के क्लेश होते हैं । ये दोनों प्रकार के क्लेश सूक्ष्म हैं, प्रतिप्रसव = मनोनिरोध अर्थात् निर्बीज समाधि से ही हेय -- निवर्त्तनीय हैं । जो सूक्ष्मवृत्ति क्लेश हैं उनके कार्यभूत विच्छिन्न और उदार -- स्थूलवृत्ति क्लेश होते हैं । जो बीच-बीच में विच्छिन्न हो-होकर उस-उस स्वरूप से पुन: प्रकट होते हैं वे 'विच्छिन्न' क्लेश होते हैं । जैसे राग काल में क्रोध के विद्यमान रहने पर भी वह प्रकट नहीं होता है, इसलिए वह 'विच्छिन्न' कहा जाता है । इसी प्रकार एक स्त्री में चैत्र नामक व्यक्ति अनुरक्त है, दूसरी स्त्रियों में विरक्त नहीं है; किन्तु एक में तो उसके राग की वृत्ति उद्बुद्ध है और दूसरी स्त्रियों में भविष्य में उद्बुद्ध हो सकती है, उस समय वह राग विच्छिन्न कहा जाता है । जो क्लेश जिस समय विषयों में वृत्तियुक्त होते हैं, उस समय वे सर्वात्मना प्रवृत्त होते हैं -- प्रादुर्भूत होते हैं, इसलिए 'उदार' कहे जाते हैं । ये दोनों प्रकार के क्लेश अतिस्थूल हैं, अत: शुद्ध सत्त्वमय -- शुद्ध सात्त्विक भगवद्ध्यान से हेय हैं, इनकी हानि के लिए मनोनिरोध की अपेक्षा नहीं है । मनोनिरोध से तो सूक्ष्म क्लेश ही हेय हैं । इसप्रकार परिणाम, ताप और संस्कार दु:खों में प्रसुप्त, तनु और विच्छिन्न रूप से सब क्लेश सर्वदा रहते हैं । उदारता तो कदाचित् किसी की होती है -- यही उससे इनका भेद है । ये क्लेश बाधना-पीड़ारूप दु:ख को उत्पन्न करते हैं, अत: 'क्लेश' शब्द से वाच्य हैं । क्योंकि धर्माधर्मरूप कर्माशय क्लेशमूलक ही है, इसलिए मूलभूत क्लेश के रहने पर उस कर्माशय का विपाक = फल जन्म, आयु और भोग होते हैं । वह कर्माशय इस लोक और परलोक में अपने विपाक -- फल जात्यादि का आरम्भक होने से दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में वेदनीय होता है । इसप्रकार

---

27. जो अपने सहायक विषयों को पाकर अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं वे 'उदार' कहलाते हैं । जैसे व्युत्थान अवस्था में क्लेश साधारण मनुष्यों में रहते हैं ।

च कर्माशय इह परत्र च स्वविपाकारम्भकत्वेन दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । एवं क्लेशसंततिर्घटीयन्त्रवदनिशमावर्तते । अतः समीचीनमुक्तं ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्त इति । दुःखयोनित्वं परिणामादिभिर्गुणवृत्तिविरोधाच्च आद्यन्तवत्त्वं गुणवृत्तस्य जलत्वादिति योगमते व्याख्या ।

67 **औपनिषदानां तु अनादि भावरूपमज्ञानमविद्या । अहंकारधर्म्यध्यासोऽस्मिता । रागद्वेषाभिनिवेशास्तद्वृत्तिविशेषा इत्यविद्यामूलत्वात्सर्वेऽप्यविद्यात्मकत्वेन मिथ्याभूता रज्जुभुजंगाध्यासवन्मिथ्यात्वेऽपि दुःखयोनयः स्वप्नादिवद्दृष्टिसृष्टिमात्रत्वेनाऽऽद्यन्तवन्तश्चेति बुधोऽधिष्ठानसाक्षात्कारेण निवृत्तभ्रमस्तेषु न रमते, मृगतृष्णिकास्वरूपज्ञानवानिव तत्रोदकार्थी न प्रवर्तते । न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्तीति बुद्ध्वा ततः सर्वाणीन्द्रियाणि निवर्तयेदित्यर्थः ॥ 22 ॥**

68 **सर्वानर्थप्राप्तिहेतुर्दुर्निवारोऽयं श्रेयोमार्गप्रतिपक्षः कष्टतमो दोषो महता यत्नेन मुमुक्षुणा निवारणीय इति यत्नाधिक्यविधानाय पुनराह—**

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ 23 ॥

क्लेश की संतति -- परम्परा घटीयन्त्र के समान निरन्तर चलती रहती है । अत: यह समीचीन ही कहा है कि 'जो इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से होनेवाले भोग हैं वे दु:ख के कारण और आदि-अन्तवाले हैं' । उन संस्पर्शज भोगों की दु:खकारणता परिणामादि दु:खों से है और गुणवृत्तिविरोध से उनकी आद्यन्तवत्ता है, क्योंकि गुणवृत्ति चञ्चल होती है -- यह व्याख्या योगमतानुसार है ।

67 औपनिषदों = वेदान्तियों के मत में तो अनादि, भावरूप अज्ञान ही 'अविद्या' है । अहंकार और धर्मी = आत्मा का अध्यास 'अस्मिता' है । राग, द्वेष और अभिनिवेश उस अहंकार की वृत्तिविशेष हैं । इसप्रकार ये सभी अविद्यामूलक हैं, अत: अविद्यारूप होने से मिथ्याभूत ही हैं । रज्जु में सर्प के अध्यास के समान मिथ्याभूत होने पर भी दु:ख के कारण हैं, स्वप्नादि के समान दृष्टिसृष्टि[28]मात्र होने से आदि-अन्तवान् हैं । इसलिए बुध = विवेकी पुरुष अधिष्ठान का साक्षात्कार कर लेने के कारण भ्रम दूर हो जाने से उन विषयों में उसीप्रकार नहीं रमता है जिसप्रकार मृगतृष्णा के स्वरूप को जाननेवाला उदकार्थी पुरुष मृगतृष्णा में प्रवृत्त नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि 'संसार में सुख का गन्धमात्र भी नहीं है' -- ऐसा जानकर सांसारिक सब विषयों से समस्त इन्द्रियों की निवृत्ति करे ॥ 22 ॥

68 समस्त अनर्थों की प्राप्ति का हेतु, श्रेयोमार्ग -- मोक्षमार्ग का प्रतिपक्ष -- प्रबल शत्रु यह अत्यन्त कष्टमय दोष कठिनता से दूर होनेवाला है, अत: मुमुक्षु को अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक इसका निवारण करना चाहिए -- इसप्रकार दोषनिवारणार्थ विशेष यत्न का विधान करने के लिए भगवान् पुन: कहते हैं --

[जो पुरुष शरीर-त्याग से पूर्व ही यहीं काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सह सकता है वह योगी है, वही सुखी है और वही नर = पुरुष है ॥ 23 ॥]

---

28. अद्वैत वेदान्त में दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त की दो प्रकार से व्याख्या की गई है । कुछ विद्वानों के अनुसार जाग्रत्कालिक घटादि के ज्ञानों की गति भी स्वप्नकालीन पदार्थों की गति के समान ही है, क्योंकि अर्थ-सृष्टि के पूर्व अर्थों में इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं रहता है । जगत् कल्पित है, समस्त प्रपञ्चरूप जगत् की सृष्टि दृष्टिसमकालीन ही है, इसलिए इस सिद्धान्त को दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं । प्रकृत में 'दृष्टिसृष्टि' से इसी सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है । प्रकाशानन्द के अनुसार--दृष्टि की विश्वसृष्टि है । स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपञ्च की सृष्टि है । अत: दृष्टि-समकालिक अन्य प्रपञ्च भी सृष्टि नहीं है । इस दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के अनुसार सकल जगत् की सत्ता आत्मा में ही है ('आत्मन्येव जगत् सर्वम्'--वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली,23) । यह सिद्धान्त प्रकृत कथन से पृथक् है ।

69 आत्मनोऽनुकूलेषु सुखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा तद्गुणानुसंधानाभ्यासेन यो रत्यात्मको गर्धोऽभिलाषस्तृष्णा लोभः स कामः । स्त्रीपुंसयोः परस्परव्यतिकराभिलाषे त्वत्यन्तनिरूढः कामशब्दः । एतदभिप्रायेण कामः क्रोधस्तथा लोभ इत्यत्र धनतृष्णा लोभः स्त्रीव्यतिकरतृष्णा काम इति कामलोभौ पृथगुक्तौ । इह तु तृष्णासामान्याभिप्रायेण कामशब्दः प्रयुक्त इति लोभः पृथङ्नोक्तः । एवमात्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु-श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा तद्दोषानुसंधानाभ्यासेन यः प्रज्वलनात्मको द्वेषो मन्युः स क्रोधः । तयोरुत्कटावस्था लोकवेदविरोधप्रतिसंधानप्रतिबन्धकतया लोकवेदविरुद्धप्रवृत्त्युन्मुखत्वरूपा नदीवेगसाम्येन वेग इत्युच्यते । यथा हि नद्या वेगो वर्षास्वतिप्रबलतया लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि गर्ते पातयित्वा मज्जयति चाधो नयति च, तथा कामक्रोधयोरपि वेगो विषयाभिध्यानाभ्यासेन वर्षाकालस्थानीयेनातिप्रबलो लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि विषयगर्ते पातयित्वा संसारसमुद्रे मज्जयति चाधो महानरकान्नयति चेति वेगपदप्रयोगेण सूचितम् । एतच्चाथ केन प्रयुक्तोऽयमित्यत्र विवृतम् ।

70 तमेतादृशं कामक्रोधोद्भवं वेगमन्तःकरणप्रक्षोभरूपं स्तम्भस्वेदाद्यनेकबाह्यविकारलिङ्गमाशरीरविमोक्षणाच्छरीरविमोक्षणपर्यन्तमनेकनिमित्तवशात्सर्वदा संभाव्यमानत्वेनाविस्रम्भणीयमन्त-

---

69 दृश्यमान, श्रूयमाण अथवा स्मर्यमाण अपने अनुकूल और सुख के हेतुभूत विषयों में जो दृश्यमानादि विषयों के गुणों के अनुसन्धान के अभ्यास से रत्यात्मक -- रागात्मक गर्ध = अभिलाषा -- तृष्णा अर्थात् लोभ होता है, उसको 'काम' कहते हैं। 'काम' शब्द स्त्री-पुरुष के परस्परसंपर्काभिलाष में तो अत्यन्त निरूढ-रूढ है । इसी अभिप्राय से 'कामः क्रोधस्तथा लोभः' (गीता, 16.21) -- इस श्लोक में धन की तृष्णा को 'लोभ' और स्त्री--पुरुष के संसर्ग की तृष्णा को 'काम' -- इसप्रकार काम और लोभ को पृथक्-पृथक् कहा है । प्रकृत में तो तृष्णा -- सामान्य के अभिप्राय से 'काम' शब्द का प्रयोग हुआ है, इसीलिए 'लोभ' को पृथक् से नहीं कहा है । इसीप्रकार, दृश्यमान, श्रूयमाण अथवा स्मर्यमाण अपने प्रतिकूल और दुःख के हेतुभूत विषयों में जो दृश्यमानादि विषयों के दोषों के अनुसन्धान के अभ्यास से प्रज्वलनात्मक द्वेष अर्थात् मन्यु-रोष होता है, उसको 'क्रोध' कहते हैं । काम और क्रोध -- इन दोनों की जो उत्कट अवस्था है वह लोक और वेद के विरोधानुसन्धान में प्रतिबन्धक होने के कारण लोक और वेद से विरुद्ध प्रवृत्ति की उन्मुखतारूप है, अतः नदी के वेग के समान होने से वह 'वेग' कही जाती है । जैसे नदी का वेग वर्षाकाल में अत्यन्त प्रबल होने के कारण लोक और वेद के विरोध का अनुसंधान होने से जिस पुरुष की इच्छा नहीं है कि 'मैं नदी-प्रवाह में डूब जाऊँ, गिर जाऊँ' फिर भी उस पुरुष को गर्त = गड्ढे में गिराकर डुबो देता है और नीचे की ओर ले जाता है; वैसे ही काम और क्रोध का वेग भी वर्षाकालस्थानीय विषयचिन्तन के अभ्यास से अत्यन्त प्रबल होकर लोक और वेद के विरोध का प्रतिसंधान -- अनुसंधान होने से जिस पुरुष की इच्छा नहीं है कि 'मैं विषयगर्त में गिरूँ, संसारसमुद्र में डूबूँ' फिर भी उस पुरुष को विषयों के गड्ढे में गिराकर संसार-समुद्र में डुबो देता है और अधोलोक--महान् नरकों में ले जाता है -- यह 'वेग' पद के प्रयोग से सूचित किया है । इसका विवरण 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' (गीता, 3.36) इस श्लोक में दिया गया है ।

70 उस इसप्रकार के काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को; जो अन्तःकरण का प्रक्षोभरूप है और स्तम्भ -- स्वेदादि अनेक बाह्य विकारों का ज्ञापक है, शरीरत्यागपर्यन्त अनेक कारणों से सदा संभाव्यमान होने से अविश्वसनीय है और अन्तः -- उत्पन्नमात्र है; इहैव = यहाँ ही -- यहीं अर्थात् बाह्य इन्द्रियों

रुत्पन्नमात्रमिहैव बहिरिन्द्रियव्यापाररूपाद्गर्तपतनात्प्रागेव यो यतिर्धीरस्तिमिंगिल इव नदीवेगं विषयदोषदर्शनाभ्यासजेन वशीकारसंज्ञकवैराग्येण सोढुं तदनुरूपकार्यासंपादनेनानर्थकं कर्तुं शक्नोति समर्थो भवति, स एव युक्तो योगी, स एव सुखी, स एव नरः पुमान्पुरुषार्थसंपादनात्, तदितरस्त्वाहारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्ररतत्वेन मनुष्याकारः पशुरेवेति भावः ।

71 **प्राक्शरीरविमोक्षणादित्यत्रान्यद्व्याख्यानम्--यथा मरणादूर्ध्वं विलपन्तीभिर्युवतीभिरालिङ्ग्यमानोऽपि पुत्रादिभिर्दह्यमानोऽपि प्राणशून्यत्वात्कामक्रोधवेगं सहते, तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव यः सहते स युक्त इत्यादि । अत्र यदि मरणवज्जीवनेऽपि कामक्रोधानुत्पत्तिमात्रं ब्रूयात्तदैतद्युज्येत । यथोक्तं वसिष्ठेन--**

'प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥' इति ।

इह तूत्पन्नयोः कामक्रोधयोर्वेगसहने प्रस्तुते तयोरनुत्पत्तिमात्रं न दृष्टान्त इति किमतिनिर्बन्धेन ॥ 23 ॥

72 **कामक्रोधवेगसहनमात्रेणैव मुच्यत इति न, किं तु--**

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ 24 ॥

के व्यापाररूप गर्त -- गड्ढे में गिरने से पूर्व ही जो यति -- धीर जिसप्रकार तिमिंगल = महामत्स्य नदीवेग को सहन करने में समर्थ होता है उसीप्रकार विषयों के दोषदर्शन के अभ्यास से उत्पन्न वशीकारसंज्ञक वैराग्य से सहन करने में अर्थात् तदनुकूल कार्य न कर उसको निरर्थक करने में समर्थ होता है वही युक्त = योगी है, वही सुखी है, वही नर = पुरुषार्थ करने के कारण पुरुष है । उससे भिन्न व्यक्ति तो आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि पशुधर्मों में ही रत होने के कारण मनुष्य के आकार में पशु ही है -- यह भाव है ।

71 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्' -- इसका दूसरा व्याख्यान भी है -- जैसे मनुष्य मरण के पश्चात् विलाप करती हुई युवतियों से आलिङ्ग्यमान और पुत्रादि से दह्यमान होने पर भी प्राणशून्य होने के कारण काम और क्रोध के वेग को सह लेता है, वैसे ही जो मरण से पूर्व भी = जीवित रहते हुए भी काम और क्रोध के वेग को सह लेता है वह युक्त = योगी इत्यादि है । यहाँ यदि मरणावस्था के समान जीवनावस्था में भी काम और क्रोध की अनुत्पत्तिमात्र कही जाती है तो यह व्याख्या ठीक हो सकती थी । जैसा कि वशिष्ठ ने कहा है -- 'प्राण चले जाने पर जिसप्रकार देह सुख और दुःख का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार यदि प्राणों के रहते हुए भी उनका अनुभव न करे तो उसको कैवल्यपद प्राप्त होता है' । किन्तु यहाँ तो उत्पन्न हुए काम और क्रोध के वेग को सहने का प्रसङ्ग है, काम और क्रोध की अनुत्पत्तिमात्र का कथन दृष्टान्त में नहीं हो सकता है; अतः इसप्रकार की व्याख्या में विशेष आग्रह रखने का क्या प्रयोजन है ॥ 23॥

72 'काम और क्रोध के वेग को सहन करने मात्र से ही मुक्त होता है' -- यह नहीं है, किन्तु --
[जो आत्मा में ही सुख भोगता है, आत्मा में ही रमण करता है और आत्मा में ही ज्ञानवाला है वह ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मनिर्वाण = ब्रह्मरूप शान्ति को प्राप्त होता है ॥ 24 ॥]

73 अन्तर्बाह्यविषयनिरपेक्षमेव स्वरूपभूतं सुखं यस्य सोऽन्तःसुखो बाह्यविषयजनितसुखशून्य इत्यर्थः । कुतो बाह्यसुखाभावस्तत्राऽऽह--अन्तरात्मन्येव न तु स्त्र्यादिविषये बाह्यसुखसाधन आराम आरमणं क्रीडा यस्य सोऽन्तरारामस्त्यक्तसर्वपरिग्रहत्वेन बाह्यसुखसाधनशून्य इत्यर्थः । ननु त्यक्तसर्वपरिग्रहस्यापि यतेर्यदृच्छोपनतैः कोकिलादिमधुरशब्दश्रवणमन्दपवनस्पर्शनचन्द्रोदयमयूरनृत्यादिदर्शनातिमधुरशीतलगङ्गोदकपानकेतकीकुसुमसौरभाद्यवघ्राणादिभिर्ग्राम्यैः सुखोत्पत्तिसंभवात्कथं बाह्यसुखतत्साधनशून्यत्वमिति तत्राऽऽह-- तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः । यथाऽन्तरेव सुखं न बाह्यैर्विषयैस्तथाऽन्तरेवाऽऽत्मनि ज्योतिर्विज्ञानं न बाह्यैरिन्द्रियैर्यस्य सोऽन्तर्ज्योतिः श्रोत्रादिजन्यशब्दादिविषयविज्ञानरहितः । एवकारो विशेषणत्रयेऽपि संबध्यते । समाधिकाले शब्दादिप्रतिभासाभावाद्व्युत्थानकाले तत्प्रतिभासेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयान्न बाह्यविषयैस्तस्य सुखोत्पत्तिसंभव इत्यर्थः ।

74 य एवं यथोक्तविशेषणसंपन्नः स योगी समाहितो ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म परमानन्दरूपं कल्पितद्वैतोपशमरूपत्वेन निर्वाणं तदेव, कल्पिताभावस्याधिष्ठानात्मकत्वात्, अविद्यावरणनिवृत्त्याऽधिगच्छति नित्यप्राप्तमेव प्राप्नोति । यतः सर्वदैव ब्रह्मभूतो नान्यः, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति श्रुतेः, 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' इति न्यायाच्च ॥ 24 ॥

73 जिसको अन्तः = बाह्य विषयों से निरपेक्ष स्वरूपभूत ही सुख है ऐसा जो अन्तःसुख है अर्थात् बाह्यविषयजनित सुख से शून्य है । उसको बाह्य सुख का अभाव क्यों है ? इस पर कहते हैं -- 'अन्तरारामः' = जिसका अन्तः -- आत्मा में ही, स्त्री आदि बाह्य सुख के साधनों में नहीं, आराम -- आरमण अर्थात् क्रीडा है ऐसा जो अन्तराराम है अर्थात् समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग करनेवाला होने से बाह्य सुख के साधनों से शून्य है । प्रश्न है -- 'त्यक्त सर्वपरिग्रह यति -- संन्यासी को भी यदृच्छा से प्राप्त कोकिल आदि के मधुर शब्दों के श्रवण से, मन्द पवन के स्पर्श से, चन्द्रोदय और मयूरनृत्यादि के दर्शन से, अत्यन्त मधुर-शीतल गङ्गाजल के पान से और केतकी पुष्प के सुगन्धादि के सूंघने से अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण -- इन पाचों इन्द्रियों के साथ अनायास प्राप्त उक्त पाँच प्रकार के विषयों का सम्बन्ध होने से विषयसुख की उत्पत्ति होनी संम्भव ही है, तो उसको बाह्य सुख और उसके साधनों से शून्य कैसे कहा जा सकता है ?' उत्तर कहते हैं -- 'तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः' = 'तथा जो अन्तर्ज्योति ही है' = जिसप्रकार उसको अन्तःसुख ही है, बाह्य विषयों से सुख नहीं है, उसीप्रकार ही उसको अन्तः अर्थात् आत्मा में ही ज्योति -- विज्ञान है, बाह्य इन्द्रियों से नहीं है -- ऐसा जो अन्तर्ज्योति अर्थात् श्रोत्रादि से जन्य शब्दादि विषयों के विज्ञान से रहित है । यहाँ एवकार का सम्बन्ध तीनों विशेषणों से है । तात्पर्य यह है कि समाधिकाल में शब्दादि के प्रतिभास का अभाव रहने से और व्युत्थानकाल में शब्दादि का प्रतिभास रहने पर भी उनके मिथ्यात्व का निश्चय रहने से उस यति को बाह्य विषयों से सुख की उत्पत्ति होनी सम्भव नहीं है ।

74 जो इसप्रकार पूर्वोक्त विशेषणों से सम्पन्न है वह योगी समाहित -- समाधिस्थ होकर ब्रह्मनिर्वाण = कल्पित द्वैत की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म अर्थात् परमानन्दरूप जो निर्वाण है उस नित्यप्राप्त को ही, कल्पित द्वैत के अभाव का अधिष्ठानरूप होने से, अविद्यारूप आवरण की निवृत्ति से अधिगत -- प्राप्त करता है; क्योंकि वह सर्वदा ब्रह्मभूत ही है, कोई अन्य नहीं है । जैसा कि श्रुति कहती है -- 'ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है' (बृ० उ०, 4.4.6) । इसी प्रकार वेदान्तसूत्र में भी कहा है -- 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' (ब्रह्मसूत्र, 1.4.22) = 'काशकृत्स्न कहते हैं कि परमात्मा ही जीव-रूप से अवस्थित है' ॥ 24 ॥

75 मुक्तिहेतोर्ज्ञानस्य साधनान्तराणि विवृण्वन्नाह—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ 25 ॥

76 प्रथमं यज्ञादिभिः क्षीणकल्मषाः, ततोऽन्तःकरणशुद्ध्या—ऋषयः सूक्ष्मवस्तुविवेचनसमर्थाः संन्यासिनः, ततः श्रवणादिपरिपाकेण छिन्नद्वैधा निवृत्तसर्वसंशयाः, ततो निदिध्यासनपरिपाकेण संयतात्मानः परमात्मन्येवैकाग्रचित्ताः । एतादृशाश्च द्वैतादर्शित्वेन सर्वभूतहिते रता हिंसाशून्या ब्रह्मविदो ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते,

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥' इति श्रुतेः ।

बहुवचनं, 'तद्यो यो देवानाम्' इत्यादिश्रुत्युक्तनियमप्रदर्शनार्थम् ॥ 25 ॥

77 पूर्वं कामक्रोधयोरुत्पन्नयोरपि वेगः सोढव्य इत्युक्तमधुना तु तयोरुत्पत्तिप्रतिबन्ध एव कर्तव्य इत्याह--

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ 26 ॥

---

75 मुक्ति के हेतुभूत ज्ञान के अन्य साधनों का विवरण करते हुए कहते हैं --
[जिनके समस्त कल्मष = पाप क्षीण हो गये हैं ऐसे सूक्ष्मवस्तुविवेचन में समर्थ, संशयशून्य, संयतात्मा = एकाग्रचित्त और समस्त प्राणियों के हित में रत ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरूप निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥ 25 ॥]

76 सर्वप्रथम जो यज्ञदानादि द्वारा पापरहित हो गये हैं, तदनन्तर अन्त:करण की शुद्धि होने से ऋषि = सूक्ष्म वस्तु का विवेचन करने में समर्थ संन्यासी हैं, तदनन्तर श्रवण-मननादि के परिपाक से छिन्नद्वैध हैं अर्थात् निवृत्तसर्वसंशय हैं, तदनन्तर निदिध्यासन के परिपाक से संयतात्मा हैं अर्थात् परमात्मा में ही एकाग्रचित्त हैं -- ऐसे पुरुष द्वैतदर्शी न होने से समस्त प्राणियों के हित में रत अर्थात् हिंसाशून्य रहते हैं, अत: वे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं । जैसा कि श्रुति कहती है -- 'जिस अवस्था में ब्रह्मवेत्ता समस्त प्राणियों को आत्मा ही जानते हैं उसमें उस एकत्व देखनेवाले को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है' (ई० उ०, 7) । यहाँ जो बहुवचन का प्रयोग है वह 'तद्यो यो देवानाम्'[29] (बृ० उ०, 1.4.10) इत्यादि श्रुति में उक्त नियम को प्रदर्शित करने के लिए हैं ॥ 25 ॥

77 पूर्व में तो यह कहा था कि 'उत्पन्न हुए भी काम और क्रोध के वेग को सहना चाहिए', किन्तु अब यह कहते हैं कि काम और क्रोध की उत्पत्ति पर ही प्रतिबन्ध = रोक करना चाहिए :--
[काम और क्रोध से वियुक्त, संयतचित्त, और विदितात्मा = परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए यतिजनों को अभित: = उभयत: अर्थात् जीवित और मरण -- इन दोनों दशाओं में ब्रह्मनिर्वाण = मोक्ष प्राप्त है ॥ 26 ॥]

---

29. इस श्रुति का अर्थ इसी अध्याय के सोलहवें श्लोक की टीका में द्रष्टव्य है ।

78 कामक्रोधयोर्वियोगस्तदनुत्पत्तिरेव तद्युक्तानां कामक्रोधवियुक्तानाम् । अत एव यतचेतसां संयतचित्तानां यतीनां यत्नशीलानां संन्यासिनां विदितात्मनां साक्षात्कृतपरमात्मनामभित उभयतो जीवतां मृतानां च तेषां ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षो वर्तते नित्यत्वात्, न तु भविष्यति साध्यत्वाभावात् ॥ 26 ॥

79 पूर्वमीश्वरार्पितसर्वभावस्य कर्मयोगेनान्तःकरणशुद्धिस्ततः सर्वकर्मसंन्यासस्ततः श्रवणादिपरस्य-तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनमुदेतीत्युक्तम् । अधुना स योगी ब्रह्मनिर्वाणमित्यत्र सूचितं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गसाधनं विस्तरेण वक्तुं सूत्रस्थानीयांस्त्रीञ्श्लोकानाह भगवान् । एतेषामेव वृत्तिस्थानीयः कृत्स्नः षष्ठोऽध्यायो भविष्यति । तत्रापि द्वाभ्यां संक्षेपेण योग उच्यते । तृतीयेन तु तत्फलं परमात्मज्ञानमिति विवेकः —

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ 27 ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ 28 ॥

80 स्पर्शाञ्शब्दादीन्बाह्यान्बहिर्भवानपि श्रोत्रादिद्वारा तत्तदाकारान्तःकरणवृत्तिभिरन्तःप्रविष्टान्पुन-र्बहिरेव कृत्वा परवैराग्यवशेन तत्तदाकारां वृत्तिमनुत्पाद्येत्यर्थः । यद्येत आन्तरा भवेयुस्तदोपाय-

78 काम और क्रोध का वियोग उन काम और क्रोध की उत्पत्ति न होना ही है उससे युक्त अर्थात् काम और क्रोध से वियुक्त -- रहित, अतएव यतचित्त = संयतचित्त और विदितात्मा = परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए यतिजनों = यत्नशील संन्यासियों को अभितः = उभयतः अर्थात् जीवित और मरण -- दोनों अवस्थाओं में ब्रह्मनिर्वाण = मोक्ष वर्तते = वर्तमान है -- विद्यमान है -- प्राप्त है, क्योंकि मोक्ष नित्य ही है, वह साध्य नहीं है, इसीलिए 'भविष्यति' = 'होगा' न कहकर 'वर्तते' 'प्राप्त है' कहा है ॥ 26 ॥

79 पहले, ईश्वर में समर्पित सर्वभाव के योग कर्मयोग से अन्तःकरणशुद्धि, तदनन्तर सर्वकर्मसंन्यास, तदनन्तर श्रवणादि में तत्पर होने पर मोक्ष का साधनभूत तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है -- यह कहा; अब, 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्' (गीता, 5.24) इत्यादि में सूचित सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग साधन ध्यानयोग को विस्तार से कहने के लिए भगवान् पहले यहाँ उसके सूत्रस्थानीय तीन श्लोकों को कहते हैं । तदनन्तर सम्पूर्ण षष्ठ अध्याय इन्हीं सूत्ररूप तीनों श्लोकों का वृत्तिरूप होगा अर्थात् भगवान् षष्ठ अध्याय में उक्त सूत्रों की वृत्ति = व्याख्या स्वयं कहेंगे । इन तीन श्लोकों में भी प्रथम दो श्लोकों से संक्षेप में 'योग' कहते हैं और तृतीय से योगफल 'परमात्मा का ज्ञान' कहते हैं -- यह अन्तर समझना चाहिए :--

[जो मुनि शब्दादि बाह्य विषयों को बाहर कर; नेत्रों को भ्रुकुटि के बीच में स्थिर करके; प्राण और अपान को सम करके नासिका के भीतर ही गतिशील कर; इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयत कर; तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो मोक्ष में तत्पर रहता है वह सदा मुक्त ही है ॥ 27--28॥]

80 शब्दादि बाह्य स्पर्शों = विषयों को, जो बाहर होने पर भी श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा तद्-तद् आकारवाली अन्तःकरणवृत्ति से अन्तःप्रविष्ट हैं उनको, पुनः बाहर कर अर्थात् परवैराग्य से तद्-तद् आकारवाली वृत्ति को उत्पन्न न करके । यदि ये विषय आन्तर होते तो सहस्रों उपायों से भी बाहर नहीं हो सकते थे, क्योंकि ऐसा होने से इनके स्वभाव के भङ्ग का प्रसङ्ग हो जाता; बाह्य होकर भी रागवश अन्तःप्रविष्ट होने पर तो वैराग्य से इनका बाहर निकलना संभव हो सकता है -- यह बताने के

सहस्रेणापि बहिर्न स्युः स्वभावभङ्गप्रसङ्गात् । बाह्यानां तु रागवशादन्तःप्रविष्टानां वैराग्येण बहिर्गमनं संभवतीति वदितुं बाह्यानिति विशेषणम् । तदनेन वैराग्यमुक्त्वाऽभ्यासमाह-- चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः, कृत्वेत्यनुषज्यते । अत्यन्तनिमीलने हि निद्राख्या लयात्मिका वृत्तिरेका भवेत् । प्रसारणे तु प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतयश्चतस्रो विक्षेपात्मिका वृत्तयो भवेयुः । पञ्चापि तु वृत्तयो निरोद्धव्या इति अर्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये चक्षुषो निधानम् । तथा प्राणापानौ समौ तुल्यावूर्ध्वाधोगतिविच्छेदेन नासाभ्यन्तरचारिणौ कुम्भकेन कृत्वा, अनेनोपायेन यताः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य स तथा । मोक्षपरायणः सर्वविषयविरक्तो मुनिर्मननशीलो भवेत् । विगतेच्छाभयक्रोध इति वीतरागभयक्रोध इत्यत्र व्याख्यातम् । एतादृशो यः संन्यासी सदा भवति मुक्त एव सः । न तु तस्य मोक्षः कर्तव्योऽस्ति । अथवा य एतादृशः स सदा जीवन्नपि मुक्त एव ॥ 27-28 ॥

लिए 'बाह्य' -- यह विशेषण दिया है । इसप्रकार इससे 'वैराग्य' कहकर अब 'अभ्यास' को कहते हैं -- 'चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः' ='नेत्रों को भ्रुकुटियों के बीच में स्थिर करके'; 'कृत्वा' -- इस पद का सम्बन्ध यहाँ भी लगाना चाहिए । यदि नेत्रों को अत्यन्त बन्द कर लिया जायेगा तो 'निद्रा' नाम की लयात्मिका = लयरूपा एक वृत्ति होगी और यदि नेत्र खुले रहेंगे तो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति -- ये चार विक्षेपात्मिका = विक्षेपरूपा वृत्तियाँ होंगी । इन पाँचों वृत्तियों का निरोध करना है, इसलिए अर्धनिमीलन से -- अधखुले रूप से नेत्रों को भ्रुकुटियों के बीच में स्थिर करने का विधान है । तथा प्राण और अपान को सम करके अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के द्वारा प्राण और अपान वायु की ऊर्ध्वगति और अधोगति का विच्छेद करके = निरोध के द्वारा समभाव करके अर्थात् केवल नासिका के भीतर ही संचारित करके । इस उपाय से यत = संयत है इन्द्रिय, मन और बुद्धि जिसकी वह तथा यतेन्द्रियमनोबुद्धि मोक्षपरायण = समस्त विषयों से विरक्त मुनि = मननशील हो और विगतेच्छाभयक्रोध हो । 'विगतेच्छाभयक्रोध' -- इसकी व्याख्या 'वीतरागभयक्रोधः'

30. प्रकृत दोनों श्लोकों में सम्यग्दर्शन = ज्ञानयोग के अन्तरङ्ग साधन ध्यानयोग का वर्णन करने के उद्देश्य से ध्यानयोग की सिद्धि के लिए जो अष्टाङ्ग योग आवश्यक है उसका सूत्ररूप से उल्लेख किया गया है । (i) 'विगतेच्छाभयक्रोध' पद से समाधि के साधनभूत यम, नियम और चित्तप्रसादन सूचित हैं । जो इच्छावान् होता है वह इष्टसिद्धि के लिए हिंसा, असत्य, स्तेय, स्त्री और परिग्रह की इच्छा करता है, अतः उसके विपरीत 'विगतेच्छ' पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन यमों का पालन करता है । भय स्वोच्छेद की शङ्का को कहते हैं उससे उद्विग्न पुरुष शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान – इन नियमों का पालन नहीं करता है, अतः 'विगतभय' पुरुष ही शौचादि नियमों का पालन करता है । क्रोध से आक्रान्त पुरुष मैत्री आदि की भावना करने में अशक्त होने से चित्तप्रसादन नहीं कर सकता है और इस चित्तप्रसादन केबिना चित्त निर्मल नहीं होता है, इसलिए 'विगतक्रोध' पुरुष ही शान्तप्रकृति होने से 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' करता है । इसप्रकार योग की साधनावस्था में यम, नियम और चित्तप्रसादन की सिद्धि के लिए 'विगतेच्छाभयक्रोधत्व' ईप्सित है । इसीप्रकार योग की फलावस्था में भी यम, नियम और चित्तप्रसादन ईप्सित हैं । जैसे – संप्रज्ञात समाधि की फलभूता मधुमती योगभूमि में स्थित योगी के प्रति दिव्य काम उपस्थित होते हैं, उसमें भी विगतेच्छत्व इष्ट होता है । इसीप्रकार भय भी योगान्तरायज और वितर्कज रूप से दो प्रकार होता है, योगान्तरायज भय का निवारण ईश्वरप्रणिधान से होता है और वितर्कज भय का निवारण प्रतिपक्षभावना से होता है, अतः यहाँ भी विगतभयत्व ही ईप्सित है । (ii) इसप्रकार यम, नियम, चित्तप्रसादन, और प्रतिपक्षभावना से मृदुकृतचित्त योगी विविक्त देश में 'आसीनः सम्भवात्' -- इस न्याय से स्थिर सुखकर आसन बैठता है, अतः यहाँ 'आसन' की अनिवार्यता भी सूचित है । (iii) 'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ' – इससे 'प्राणायाम' सूचित है । (iv) 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' – इससे 'प्रत्याहार' सूचित है । (v) 'भ्रुवोरन्तरे चक्षुः कृत्वा' – इससे 'धारणा' सूचित है । (vi) 'मुनि' शब्द से ध्यान सूचित होता है । (vii) 'यतेन्द्रिय' पद से वितर्काख्य सम्प्रज्ञात समाधि की ओर संकेत है; 'यतमना' से विचाराख्य सम्प्रज्ञात समाधि की ओर संकेत है; 'यतबुद्धि' पद से आनन्दाख्य और अस्मिताख्य सम्प्रज्ञात समाधि की ओर संकेत है; 'मोक्षपरायण' पद से असम्प्रज्ञात समाधि सूचित होती है और 'मुक्त एव' से योग का चरम फल सूचित होता है (द्रष्टव्य – नीलकण्ठी टीका) ।

81 एवं योगयुक्तः किं ज्ञात्वा मुच्यत इति तदाह –

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ 29 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ 5 ॥

82 सर्वेषां यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च भोक्तारं भोगकर्तारं पालकमिति वा । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति धातुः । सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं हिरण्यगर्भादीनामपि नियन्तारं, सर्वेषां प्राणिनां सुहृदं प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणं सर्वान्तर्यामिणं सर्वभासकं परिपूर्णसच्चिदानन्दैकरसं परमार्थसत्यं सर्वात्मानं नारायणं मां ज्ञात्वाऽऽत्मत्वेन साक्षात्कृत्य शान्तिं सर्वसंसारोपरतिं मुक्तिमृच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । त्वां पश्यन्नपि कथं नाहं मुक्त इत्याशङ्कानिराकरणाय विशेषणानि । उक्तरूपेणैव मम ज्ञानं मुक्तिकारणमिति भावः ॥ 29 ॥

83 अनेकसाधनाभ्यासनिष्पन्नं हरिणेरितम् ।
स्वस्वरूपपरिज्ञानं सर्वेषां मुक्तिसाधनम् ॥ 1 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां स्वस्वरूपपरिज्ञानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ 5 ॥

(गीता, 2.56) इत्यादि में की गई है । ऐसा जो संन्यासी है वह सदा मुक्त ही है, उसके लिए मोक्ष कर्त्तव्य नहीं है । अथवा, ऐसा जो पुरुष है वह जीवित रहते हुए भी सदा मुक्त ही है[30] ॥ 27--28॥

81 इसप्रकार योगयुक्त पुरुष क्या जानकर मुक्त होता है ? -- इसपर कहते हैं :--
[यज्ञ और तपों के भोक्ता, समस्त लोकों के महेश्वर और समस्त प्राणियों के सुहृद् मुझको जानकर वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥ 29 ॥]

82 समस्त यज्ञों और तपों के कर्तृरूप से और देवतारूप से भोक्ता = भोगों के कर्ता अथवा भोगों के पालक, क्योंकि 'भुज्' धातु पालन और अभ्यवहार = भोजन करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है । समस्त लोकों के महेश्वर = महान् ईश्वर अर्थात् हिरण्यगभादि के भी नियन्ता; और समस्त प्राणियों के सुहृद् = प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके उपकार करनेवाले सर्वान्तर्यामी, सर्वभासक, परिपूर्ण, सच्चिदानन्द, एकरस, परमार्थसत्य, सर्वात्मा, नारायण मुझको जानकर = आत्मभाव से साक्षात्कार कर शान्ति अर्थात् सर्वसंसारनिवृत्तिरूप मुक्ति को ऋच्छति = प्राप्नोति अर्थात् प्राप्त होता है । 'आपको देखते हुए भी मैं मुक्त क्यों नहीं हुआ' ? -- इस आशङ्का के निराकरण के लिए उक्त विशेषण हैं । भाव यह है कि उक्त रूप से ही मेरा ज्ञान मुक्ति का कारण है ॥ 29 ॥

83 भगवान् ने सब की मुक्ति का साधन और अनेक साधनों के अभ्यास से निष्पन्न अपने स्वरूप का ज्ञान कहा है ॥ 1 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंस -- परिव्राजकाचार्य -- विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपाद शिष्य श्री मधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का संन्यासयोग नामक पञ्चम अध्याय समाप्त होता है ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

1 **योगसूत्रं त्रिभिः श्लोकैः पञ्चमान्ते यदीरितम् ।**
षष्ठस्त्वारभ्यतेऽध्यायस्तद्व्याख्यानाय विस्तरात् ॥ 1 ॥

2 **तत्र सर्वकर्मत्यागेन योगं विधास्यंस्त्याज्यत्वेन हीनत्वमाशङ्क्य कर्मयोगंस्तौति द्वाभ्याम् —**

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ 1 ॥

3 **कर्मणां फलमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः फलाभिसंधिरहितः सन्कार्यं कर्तव्यतया शास्त्रेण विहितं नित्यमग्निहोत्रादि कर्म करोति यः स कर्म्यपि सन्संन्यासी च योगी चेति स्तूयते ।**

4 **संन्यासो हि त्यागः । चित्तगतविक्षेपाभावश्च योगः । तौ चास्य विद्येते फलत्यागात् फलतृष्णारूपचित्तविक्षेपाभावाच्च । कर्मफलतृष्णात्याग एवात्र गौण्या वृत्त्या संन्यास-योगशब्दाभ्यामभिधीयते सकामानपेक्ष्य प्राशस्त्यकथनाय । अवश्यंभाविनौ हि निष्कामकर्मा-नुष्ठातुर्मुख्यौ संन्यासयोगौ । तस्मादयं यद्यपि न निरग्निरग्निसाध्यश्रौतकर्मत्यागी न भवति, न चाक्रियोऽग्निनिरपेक्षस्मार्तक्रियात्यागी च न भवति, तथाऽपि संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः ।**

---

1 पञ्चम अध्याय के अन्त में तीन श्लोकों से भगवान् ने जो सूत्ररूप से योग = ध्यानयोग का उल्लेख किया है उसकी विस्तार से व्याख्या करने के लिए षष्ठ अध्याय प्रारम्भ किया जाता है ॥ 1 ॥

2 उसमें समस्त कर्मों के त्याग द्वारा योग का विधान करने के इच्छुक भगवान् 'त्याज्य होने के कारण कर्मयोग हीनकोटि का है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके दो श्लोकों से कर्मयोग की स्तुति -- प्रशंसा करते हैं --

[श्रीभगवान् ने कहा -- जो पुरुष कर्मों के फल की अपेक्षा न करता हुआ अपने कार्य-कर्तव्य = करने योग्य कर्म को करता है, वह संन्यासी है और योगी भी है; यद्यपि निरग्नि = अग्निसाध्यश्रौतकर्मत्यागी नहीं है और अक्रिय = अग्निनिरपेक्षस्मार्तकर्मत्यागी नहीं है ॥ 1 ॥]

3 जो पुरुष कर्मों के फल के आश्रित न होकर = कर्मफल की अपेक्षा न कर अर्थात् फलाभिसन्धि-फल की कामना से रहित होकर कार्य = शास्त्र द्वारा कर्तव्यरूप से विहित अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों को करता है वह कर्मी भी संन्यासी है और योगी है -- इस प्रकार उसकी स्तुति -- प्रशंसा की जाती है ।

4 'संन्यास' त्याग को कहते हैं और चित्तगत विक्षेप का अभाव 'योग' कहा जाता है । फल का त्याग करने के कारण और फल के प्रति तृष्णारूप चित्त के विक्षेप का अभाव रहने के कारण निष्काम-कर्मयोगी में संन्यास और योग -- ये दोनों विद्यमान रहते हैं । सकाम कर्मियों की अपेक्षा निष्काम-कर्मयोगी की प्रशस्तता -- उत्कृष्टता कहने के लिए यहाँ कर्मफल की तृष्णा के त्याग को ही गौणी वृत्ति से 'संन्यास' और 'योग' शब्दों से कहा गया है, क्योंकि निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले पुरुष को मुख्य संन्यास और योग का होना अवश्यंभावी है । इसलिए यद्यपि यह निरग्नि अर्थात् अग्निसाध्य श्रौत कर्मों का त्यागी नहीं होता है और अक्रिय अर्थात् अग्निनिरपेक्ष स्मार्त कर्मों का त्यागी नहीं होता है, तथापि यह संन्यासी है और योगी भी है -- ऐसा मानना चाहिए ।

5 अथवा न निरग्निर्न चाक्रियः संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः । किंतु साग्निः सक्रियश्च निष्कामकर्मानुष्ठायी संन्यासी योगी चेति मन्तव्य इति स्तूयते । 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः' इत्यत्रेव प्रशंसालक्षणया नञन्वयोपपत्तिः । अत्र चाक्रिय इत्यनेनैव सर्वकर्मसंन्यासिनि लब्धे निरग्निरिति व्यर्थं स्यादित्यग्निशब्देन सर्वाणि कर्माण्युपलक्ष्य निरग्निरिति संन्यासी क्रियाशब्देन चित्तवृत्तीरुपलक्ष्याक्रिय इति निरुद्धचित्तवृत्तिर्योगी च कथ्यते । तेन न निरग्निः संन्यासी मन्तव्यो न चाक्रियो योगी मन्तव्य इति यथासंख्यमुभयव्यतिरेको दर्शनीयः । एवं सति नञ्द्वयमप्युपपन्नमिति द्रष्टव्यम् ॥ 1 ॥

6 असंन्यासेऽपि संन्यासशब्दप्रयोगे निमित्तभूतं गुणयोगं दर्शयितुमाह–

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगीं भवति कश्चन ॥ 2 ॥

5 अथवा, 'केवल निरग्नि और अक्रिय पुरुष ही संन्यासी और योगी होता है -- ऐसा नहीं मानना चाहिए, किन्तु साग्नि और सक्रिय भी निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला ही संन्यासी और योगी है --ऐसा मानना चाहिए' -- इस प्रकार निष्काम-कर्मयोगी की स्तुति की जाती है । 'गौ और अश्व से भिन्न अपशु हैं अर्थात् पशु नहीं है, पशु तो गौ और अश्व ही हैं' -- इस उक्ति में जिस प्रकार प्रशंसा के अर्थ में 'नञ्' का अन्वय है उसी प्रकार यहाँ भी 'नञ्' का अन्वय उपपन्न है ।[1] यहाँ 'अक्रिय' -- इस पद से ही सर्वकर्मसंन्यास = अग्निसाध्यश्रौतकर्म और अग्निनिरपेक्षस्मार्तकर्म के त्याग का लाभ हो सकता है, तो फिर अग्निसाध्यश्रौतकर्मत्याग के बोधन के लिए पृथक् से 'निरग्नि' पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता है, वह तो व्यर्थ ही होगा' -- इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहा गया है कि 'अग्नि' शब्द से समस्त कर्मों को उपलक्ष्य कर 'निरग्नि' शब्द से 'संन्यासी' और 'क्रिया' शब्द से चित्तवृत्तियों को उपलक्ष्य कर 'अक्रिय' शब्द से निरुद्धचित्तवृत्ति 'योगी' कहा जाता है । अतः 'निरग्नि' मात्र को संन्यासी नहीं मानना चाहिए और 'अक्रिय' मात्र को योगी नहीं मानना चाहिए, अपितु यथासंख्य दोनों का व्यतिरेक ही दर्शनीय है -- ऐसा होने पर दोनों नकार उपपन्न = सार्थक होते हैं -- यह समझना चाहिए ॥ 1 ॥

6 असंन्यास में भी 'संन्यास' शब्द का प्रयोग होने में निमित्तभूत = हेतुभूत गुणयोग दिखाने के लिए भगवान् कहते हैं --

[हे पाण्डव = हे अर्जुन ! जिसको श्रुतियाँ 'संन्यास' कहतीं हैं उसको ही तुम 'योग' जानो, क्योंकि जो कर्मफल के संकल्प का संन्यास = त्याग नहीं करता है ऐसा कोई भी पुरुष योगी नहीं होता है ॥ 2 ॥]

1. 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः' = 'गौ और अश्व से भिन्न अपशु हैं अर्थात् पशु नहीं हैं, पशु तो गौ और अश्व ही हैं' -- इस उक्ति में 'पशु' पद में 'नञ्' का प्रयोग अर्थात् 'अपशु' पद का प्रयोग पशुभेद कहने के लिए हुआ है, प्रशस्त पशु से भिन्नता कहने के लिए हुआ है । गौ और अश्व पशु = प्रशस्त पशु हैं, उनसे भिन्न महिषादि अपशु है, क्योंकि वे प्रशस्त नहीं हैं, पशु तो हैं । प्रशस्त पशु तो गौ और अश्व ही हैं । इसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में नकार से यह कहा गया है कि निरग्नि संन्यासी और अक्रिय योगी है, फिर भी वह प्रशस्त नहीं है, प्रशस्त संन्यासी और योगी तो निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला कर्मी गृहस्थ ही है । इस प्रकार निष्काम-कर्मयोगी की स्तुति की जाती है ।

7 **यं सर्वकर्मतत्फलपरित्यागं संन्यासमिति प्राहुः श्रुतयः 'न्यास एवात्यरेचयत्' 'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्याद्याः, योगं फलतृष्णाकर्तृत्वाभिमानयोः परित्यागेन विहितकर्मानुष्ठानं तं संन्यासं विद्धि हे पाण्डव। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्तमित्याह तं वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तसदृशोऽयमिति न्यायात्परशब्दः परत्र प्रयुज्यमानः सादृश्यं बोधयति गौण्या वृत्त्या तद्भावारोपेण वा । प्रकृते तु किं सादृश्यमिति तदाह—नहीति । हि यस्मादसंन्यस्तसंकल्पोऽत्यक्तफलसंकल्पः कश्चन कश्चिदपि योगी न भवति। अपि तु सर्वो योगी त्यक्तफलसंकल्प एव भवतीति फलत्यागसाम्यात्तृष्णारूपचित्तवृत्तिनिरोधसाम्याच्च गौण्या वृत्त्या कर्म्येव संन्यासी च योगी च भवतीत्यर्थः । तथा हि-योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः प्रमाण-विपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति वृत्तयः पञ्चविधाः । तत्र प्रत्यक्षानुमानशास्त्रोपमानार्था-पत्त्यभावाख्यानि प्रमाणानि षडिति वैदिकाः। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि त्रीणीति योगाः। अन्तर्भावबहिर्भावाभ्यां संकोचविकासौ द्रष्टव्यौ। अत एव तार्किकादीनां मतभेदाः । विपर्ययो मिथ्याज्ञानं तस्य पञ्च भेदा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । त एव च क्लेशाः । शब्दज्ञा-नानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः प्रमाभ्रमविलक्षणोऽसदर्थव्यवहारः शशविषाणमसत्पुरुषस्य चैत-न्यमित्यादिः। अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा, चतसृणां वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः कारणं तमो-गुणस्तदालम्बना वृत्तिरेव निद्रा न तु ज्ञानाद्यभावमात्रमित्यर्थः। अनुभूतविषयासंप्रमोषः प्रत्ययः**

7 हे पाण्डव = हे अर्जुन ! 'संन्यास ही उत्कृष्ट है'; 'ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से निवृत्त होकर भिक्षाचर्या करते हैं' -- इत्यादि श्रुतियाँ जिस सम्पूर्ण कर्म और उनके फल के परित्याग को 'संन्यास' कहती हैं उस संन्यास को ही तुम फल की तृष्णा और कर्तृत्वाभिमान के परित्यागपूर्वक विहित कर्मों का अनुष्ठानरूप 'योग' समझो। 'यदि अब्रह्मदत्त को = जिसका नाम ब्रह्मदत्त नहीं है उसको ब्रह्मदत्त कहते हैं तो हम उसको 'यह ब्रह्मदत्त के सदृश -- समान है' --ऐसा मानते हैं[2] -- इस न्याय से जब कोई अन्य शब्द परत्र-अन्यत्र = शक्यार्थातिरिक्त लक्ष्य में प्रयुक्त किया जाता है तो वह गौणी वृत्ति से अथवा तद्भावारोप से तत्सादृश्य का बोधक होता है। प्रकृत में क्या सादृश्य है ? यह 'न हि' इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं -- क्योंकि असंन्यस्तसंकल्प = अत्यक्तफलसंकल्प अर्थात् कर्मफल के संकल्प का संन्यास = त्याग नहीं करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता है, अपितु सभी योगी त्यक्तफलसंकल्प = फल के संकल्प का त्याग करनेवाले ही होते हैं; अतः फलत्यागरूप सादृश्य के कारण और चित्तवृत्तिनिरोधरूप सादृश्य के कारण गौणीवृत्ति से कर्मी ही संन्यासी और योगी होता है -- यह तात्पर्य है। जैसे कि -- 'चित्त की वृत्तियों के निरोध को 'योग' कहते हैं' (योगसूत्र, 1.2); वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं -- 'प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (योगसूत्र, 1.6)। उनमें वैदिकमतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव नाम के छः 'प्रमाण' हैं[3]; योगमतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम -- ये तीन 'प्रमाण' हैं।[4] इन प्रमाणों के परस्पर अन्तर्भाव और बहिर्भाव से ही उनकी संख्या में संकोच =

2. द्रष्टव्य -- महाभाष्य ।
3. 'तानि च प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात्' -- वेदान्तपरिभाषा ।
4. 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' -- योगसूत्र, 1.7 ।

स्मृतिः, पूर्वानुभवसंस्कारजं ज्ञानमित्यर्थः । सर्ववृत्तिजन्यत्वादन्ते कथनम् । लज्जादिवृत्तीनामपि पञ्चस्वेवान्तर्भावो द्रष्टव्यः । एतादृशां सर्वासां चित्तवृत्तीनां निरोधो योग इति च समाधिरिति न कथ्यते । फलसंकल्पस्तु रागाख्यस्तृतीयो विपर्ययभेदस्तन्निरोधमात्रमपि गौण्या वृत्त्या योग इति संन्यास इति चोच्यत इति न विरोधः ॥ 2 ॥

8 **तत्किं प्रशस्तत्वात्कर्मयोग एव यावज्जीवमनुष्ठेय इति नेत्याह--**

न्यूनता और विकास = अधिकता समझनी चाहिए ।[5] इसी से तार्किक आदि[6] में मदभेद है । 'विपर्यय' मिथ्याज्ञान को कहते हैं, उसके पाँच भेद है -- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । ये ही 'क्लेश' कहलाते हैं । जो शब्दज्ञान के अनन्तर होता है, किन्तु वस्तुशून्य होता है 'विकल्प' कहलाता है (योगसूत्र, 1.9) । यह प्रमा और भ्रम से विलक्षण[7] तथा असत् पदार्थों का व्यवहार है, जैसे कहा जाता है -- 'खरगोश के सींग असत् हैं', 'पुरुष का चैतन्यरूप है' इत्यादि । अभाव के प्रत्यय का आलम्बन करनेवाली वृत्ति 'निद्रा' है (योगसूत्र, 1.10), अर्थात् चारों वृत्तियों के अभाव का प्रत्यय = कारण तमोगुण है उसका आलम्बन करनेवाली वृत्ति ही 'निद्रा' है, ज्ञानादि का अभावमात्र नहीं । अनभूत विषय का असम्प्रमोष प्रत्यय = ज्ञान 'स्मृति' है (योगसूत्र, 1.11), अर्थात् पूर्व अनुभव के संस्कार से जन्य ज्ञान 'स्मृति' है । यह पूर्वोक्त सब वृत्तियों से जन्य होती है, अत: इसको अन्त में कहा गया है । लज्जादि वृत्तियों का भी इन पाँचों वृत्तियों में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए । ऐसी सभी चित्त की वृत्तियों के निरोध को 'योग' और 'समाधि' कहा जाता है । फल का संकल्प 'राग' संज्ञक तृतीय विपर्ययभेद है, उसका निरोधमात्र भी गौणी वृत्ति से 'योग' और 'संन्यास' कहा जाता है, अत: इसमें कोई विरोध नहीं है[8] ॥ 2 ॥

8 'तो क्या प्रशस्त होने के कारण कर्मयोग का ही यावज्जीवन अनुष्ठान करना चाहिए' ? -- इस पर कहते हैं, नहीं, --

5. प्रमाणों की संख्या के विषय में अनेक प्रकार के मंत दार्शनिकों में पाये जाते हैं । विभिन्न मतों में एक से लेकर आठ तक प्रमाण माने गए हैं । इन प्रमाणों की संख्या में न्यूनता और अधिकता का कारण उनका परस्पर अन्तर्भाव और बहिर्भाव ही है । जैसे -- वैदिकवेदान्तमत में छ: प्रमाण माने गये हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । सांख्य और योग में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम – ये तीन प्रमाण माने गये हैं । सांख्य और योग में उपमान को पृथक् प्रमाण न मानकर उसका भिन्न-भिन्न लक्षणों के अनुसार क्रमश: प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम में अन्तर्भाव किया गया है । उन्होंने अनुपलब्धि – अभाव का प्रत्यक्ष में तथा अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया है । इसप्रकार सांख्य-योग में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम -- ये तीन ही प्रमाण स्वीकृत हैं । इसी प्रकार पौराणिक सम्प्रदाय में वेदान्त के षट् प्रमाणों के अतिरिक्त सम्भव और ऐतिह्य – दो प्रमाणों को पृथक् रूप से स्वीकार किया गया है, अत: पौराणिक सम्प्रदाय में बहिर्भाव से आठ प्रमाण स्वीकार किए गए हैं । सांख्य-योग ने सम्भव का अनुमान में और ऐतिह्य का आगम-शब्द में अन्तर्भाव किया है ।

6. तार्किक – नैयायिक सांख्य-योग के तीन प्रमाणों से बहि: 'उपमान' को पृथक् प्रमाण मानते हैं । वे अर्थापत्ति का 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान में और अभाव का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव दिखाते हैं । वैशेषिक और बौद्ध केवल दो प्रमाण स्वीकार करते हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान । वैशेषिक उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, सम्भव, और अभाव -- इन प्रमाणों का साक्षात् या परम्परया अनुमान में अन्तर्भाव दिखाते हैं । इसप्रकार प्रमाणों के अन्तर्भाव और बहिर्भाव से ही उनकी संख्या में न्यूनता और अधिकता है ।

7. विकल्प वस्तुशून्य अर्थात् निर्विषयक होने से प्रमा नहीं है और भ्रम भी नहीं है, क्योंकि बोध होने पर भी इसका व्यवहार होता रहता है, अत: विकल्प प्रमा और भ्रम से विलक्षण है ।

8. तात्पर्य यह है कि यदि कोई यह कहे कि 'राग' संज्ञक वृत्ति पृथक् स्वीकार करने पर तो 'पाँच ही चित्तवृत्तियाँ हैं' -- इस कथन से विरोध होगा, तो इसका उत्तर है कि 'राग' नामक वृत्ति का 'विपर्यय' में अन्तर्भाव हो जाता है, अत: प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति– ये पाँच ही चित्तवृत्तियाँ हैं । फलत: ऐसा स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है कि 'राग' मात्र का निरोधमात्र भी गौणीवृत्ति से 'योग' और 'संन्यास' कहा जाता है ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ 3 ॥

9 **योगमन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्यमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोर्न त्वारूढस्य मुनेर्भविष्यतः कर्मफल-तृष्णात्यागिनः कर्म शास्त्रविहितमग्निहोत्रादि नित्यं भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कारणं योगारोहणे साधनमनुष्ठेयमुच्यते वेदमुखेन मया । योगारूढस्य योगमन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्यं प्राप्तवतस्तु तस्यैव पूर्वं कर्मिणोऽपि सतः शमः सर्वकर्मसंन्यास एव कारणमनुष्ठेयतया ज्ञानपरिपाकसाधनमुच्यते ॥ 3 ॥**

10 **कदा योगारूढो भवतीत्युच्यते--**

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ 4 ॥

11 **यदा यस्मिंश्चित्तसमाधानकाल इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु च नित्यनैमित्तिककाम्यलौकि-कप्रतिषिद्धेषु नानुषज्जते तेषां मिथ्यात्वदर्शनेनाऽऽत्मनोऽकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वयस्वरूपदर्शनेन च प्रयोजनाभावबुद्ध्याऽहमेतेषां कर्ता ममैते भोग्या इत्यभिनिवेशरूपमनुषङ्गं न करोति हि यस्मात्तस्मात्सर्वसंकल्पसंन्यासी सर्वेषां संकल्पानामिदं मया कर्तव्यमेतत्फलं भोक्तव्यमित्येवंरूपाणां**

[योग = अन्तःकरणशुद्धिरूप योग में आरुरुक्षु = आरूढ़ होने की इच्छावाले मुनि = मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्कामभाव से कर्म करना ही कारण -- साधन कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष के लिए शम = सर्वकर्मसंन्यास ही ज्ञाननिष्ठा के परिपाक का कारण -- साधन कहा जाता है ॥ 3 ॥]

9 योग = अन्तःकरणशुद्धिरूप वैराग्य में आरुरुक्षु = आरूढ़ होने की इच्छावाले, आरूढ़ नहीं, मुनि = भविष्य में कर्मफल की तृष्णा का त्याग करनेवाले मननशील पुरुष के लिए कर्म = भगवदर्पणबुद्धि से किया हुआ शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि नित्यकर्म कारण = योगारोहण में साधन -- अनुष्ठेय कहा जाता है -- ऐसा मैंने वेदमुख से कहा है । और जो योगारूढ़ है = जो योग -- अन्तःकरणशुद्धिरूप वैराग्य को प्राप्त कर चुका है उसी के लिए -- उस योगारूढ़ पुरुष के लिए ही, भले ही वह पूर्व में कर्मी = कर्म का अनुष्ठाता भी रहा हो, शम = सर्वकर्मसंन्यास ही कारण = अनुष्ठेयरूप से ज्ञाननिष्ठा के परिपाक का साधन कहा जाता है ॥ 3 ॥

10 कब योगारूढ़ होता है, -- यह कहते हैं --

[जब मुनि इन्द्रियों के विषयों में और कर्मों में आसक्त नहीं होता है, तब वह समस्त संकल्पों का त्याग करनेवाला 'योगारूढ़' कहा जाता है ॥ 4 ॥]

11 जब = चित्त को समाहित करने के समय मुनि शब्दादि इन्द्रियों के विषयों में और नित्य, नैमित्तिक, काम्य, लौकिक तथा प्रतिषिद्ध कर्मों में आसक्त नहीं होता है अर्थात् उनका मिथ्यात्व तथा अपना अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व एवं परमानन्दाद्वयस्वरूपत्व देखने के कारण प्रयोजनाभावबुद्धि से 'मैं इनका कर्ता हूँ, ये मेरे भोग्य हैं'-- ऐसा अभिनिवेशरूप अनुषङ्ग नहीं करता है; क्योंकि वह ऐसा हो जाता है, इसलिए वह जब सर्वसंकल्पसंन्यासी हो जाता है अर्थात् समस्त संकल्पों को ='यह मेरा कर्तव्य

मनोवृत्तिविशेषाणां तद्विषयाणां च कामानां तत्साधनानां च कर्मणां त्यागशील:, तदा शब्दादिषु कर्मसु चानुषङ्गस्य तद्धेतोश्च संकल्पस्य योगारोहणप्रतिबन्धकस्याभावाद्योगं समाधिमारूढो योगारूढ इत्युच्यते ॥ 4 ॥

12 **यो यदैवं योगारूढो भवति तदा तेनाऽऽत्मनैवाऽऽत्मोद्धृतो भवति संसारानर्थव्रातादत: –**

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन: ॥ 5 ॥

13 **आत्मना विवेकयुक्तेन मनसाऽऽत्मानं स्वं जीवं संसारसमुद्रे निमग्नं तत उद्धरेत् – उत्, ऊर्ध्वं हरेत्, विषयासङ्गपरित्यागेन योगारूढतामापादयेदित्यर्थ: । न तु विषयासङ्गेनाऽऽत्मानमवसादये-**

है, यह फल मेरा भोक्तव्य है' -- ऐसी मनोवृत्तिविशेष, उसके विषयभूत काम और उन कामों के साधनभूत कर्मों को त्यागने के स्वभाववाला हो जाता है; तब वह शब्दादि विषयों में और कर्मों में अनुषङ्ग = आसक्ति तथा उसका कारण संकल्प[9] -- वस्तुत: ये ही दोनों योगारोहण के प्रतिबन्धक हैं, इनका अभाव हो जाने के कारण योग = समाधि में आरूढ़ अर्थात् 'योगारूढ़' कहा जाता है ॥ 4 ॥

12 जो जब इस प्रकार योगारूढ़ होता है, तब वह अपना इस संसाररूप अनर्थसमूह से अपने से ही -- स्वयं ही उद्धार कर लेता है; इसलिए --

[अपने से ही अर्थात् विवेकयुक्त मन से संसारसमुद्र में निमग्न अपने आत्मा का उद्धार करे, उसमें अपने आत्मा को डुबाये नहीं, क्योंकि यह जीवात्मा आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है ॥ 5 ॥]

13 आत्मना = अपने से अर्थात् विवेकयुक्त मन से आत्मानम् = अपने आत्मा का अर्थात् संसारसमुद्र में निमग्न स्वस्वरूप जीव का उस संसारसमुद्र से उद्धार करे अर्थात् उसको उससे ऊपर की ओर ले जाय अर्थात् विषयासक्ति का परित्याग कर उसके लिए योगारूढ़ता का सम्पादन करे । विषयासक्ति से अपने आत्मा को संसारसमुद्र में डुबाये नहीं, क्योंकि आत्मा = विवेकयुक्त मन ही आत्मा = जीवात्मा का बन्धु = हितकारी अर्थात् संसारबन्धन से मुक्त कराने का हेतु है, कोई दूसरा नहीं, कारण कि लौकिक बन्धु भी स्नेहानुबन्धन के कारण बन्धन के ही हेतु होते हैं ।[10] तथा आत्मा ही, कोई दूसरा नहीं, कोश-

9. स्मृति में कहा है -- 'संकल्पमूला: कामा: वै यज्ञा: संकल्पसम्भवा:' = 'कामों का मूल – कारण संकल्प है, इसलिए यज्ञ निश्चय ही संकल्प से उत्पन्न होते हैं'; 'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् त्वं हि जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि' = 'हे काम ! मैं तुम्हारे मूल – कारण को जानता हूँ, तुम संकल्प से उत्पन्न होते हो । अत: मैं संकल्प नहीं करूँगा, क्योंकि संकल्प न करने से तुम मेरे हृदय में उत्पन्न नहीं हो सकोगे' । श्रुति में भी कहा है – 'स यथाकामो भवति, तत् क्रतुर्भवति, यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते' (बृह० उ०, 4.4.5) = 'संकल्प से काम उत्पन्न होता है, काम उत्पन्न होने पर काम पूर्ण करने की अनुकूल निश्चय करनेवाली बुद्धि = क्रतु होती है, निश्चयात्मिका बुद्धि होने पर कर्म प्रारम्भ होता है तथा जैसा कर्म होता है वैसा ही फलभोग होता है' ।

10. जैसे कोई रोगग्रस्त व्यक्ति स्वयं ही पथ्य या औषधि ग्रहण करने से रोगमुक्त होता है, किसी दूसरे को पथ्य या औषधि ग्रहण कराकर रोगमुक्त नहीं हो सकता है; वैसे ही आत्मा-जीवात्मा आत्मा -- विवेकयुक्त मन से ही श्रवण-मनन-निदिध्यासनपूर्वक समाधिनिष्ठा के द्वारा संसारबन्धन से मुक्त होता है, पुत्र-कलत्रादि बाह्य बन्धुओं के द्वारा किये गये साधनों से मुक्त नहीं हो सकता है, अपितु लौकिक बन्धुओं के स्नेहानुबन्धन के कारण बन्धन में ही पड़ता है । अत: आत्मा ही आत्मा का बन्धु है ।

त्संसारसमुद्रे मज्जयेत् । हि यस्मादात्मैवाऽऽत्मनो बन्धुर्हितकारी संसारबन्धनान्मोचनहेतुर्नान्यः कश्चिल्लौकिकस्य बन्धोरपि स्नेहानुबन्धेन बन्धहेतुत्वात् । आत्मैव नान्यः कश्चित्, रिपुः शत्रुरहितकारिविषयबन्धनागारप्रवेशात्कोशकार इवाऽऽत्मनः स्वस्य । बाह्यस्यापि रिपोरात्मप्रयुक्तत्वाद्युक्तमवधारणमात्मैव रिपुरात्मन इति ॥ 5 ॥

14 इदानीं किंलक्षण आत्माऽऽत्मनो बन्धुः किंलक्षणो वाऽऽत्मनो रिपुरित्युच्यते--

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत् ॥ 6 ॥

15 आत्मा कार्यकरणसंघातो येन जितः स्ववशीकृत आत्मनैव विवेकयुक्तेन मनसैव न तु शस्त्रादिना, तस्याऽऽत्मा स्वरूपमात्मनो बन्धुरुच्छृङ्खलस्वप्रवृत्त्यभावेन स्वहितकरणात् । अनात्मनस्तु अजितात्मन इत्येतत् । शत्रुत्वे शत्रुभावे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्, बाह्यशत्रुरिवोच्छृङ्खलप्रवृत्त्या स्वस्य स्वेनानिष्टाचरणात् ॥ 6 ॥

16 जितात्मनः स्वबन्धुत्वं विवृणोति--

कार -- कीटविशेष[11] के समान विषयरूप बन्धनागार में प्रवेश करने के कारण अपने आत्मा-जीवात्मा का शत्रु = अहितकारी है । बाह्य शत्रु भी अपने से ही अर्थात् मन से ही बनते हैं, अत: यह अवधारणा उचित ही है कि 'आत्मा -- मन ही आत्मा-जीवात्मा का शत्रु है' ॥ 5 ॥

14 अब, किंलक्षण-किंस्वरूप-कीदृश आत्मा-मन आत्मा का बन्धु है और कीदृश आत्मा-मन आत्मा का शत्रु है, -- यह कहते हैं --

[जिसने आत्मा -- विवेकयुक्त मन से आत्मा -- कार्य-कारणसंघात को जीत लिया है उसका आत्मा आत्मा का बन्धु है और जो अनात्मा -- अजितात्मा है उसकी शत्रुता में आत्मा ही शत्रु के समान वर्तता है ॥ 6 ॥]

15 जिसने आत्मा = कार्य-कारण के संघात को आत्मा = विवेकयुक्त मन से ही जीत लिया है -- अपने वश में कर लिया है, किसी शस्त्रादि से नहीं, उसका आत्मा अर्थात् स्वरूप अपनी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति के अभाव से अपना हित करने के कारण आत्मा-जीवात्मा का बन्धु है । किन्तु जो अनात्मा अर्थात् अजितात्मा है उसके शत्रुत्व -- शत्रुभाव में आत्मा-मन ही बाह्य शत्रु के समान उच्छृङ्खल प्रवृत्ति से स्वयं ही अपना अनिष्ट करने के कारण शत्रु के समान वर्तता है[12] ॥ 6 ॥

16 जितात्मा स्वबन्धु है -- इसका स्पष्टीकरण करते हैं --

---

11. जैसे कोशकार--कीटविशेष अर्थात् रेशम का कीड़ा अपने जाल में आप ही फँसकर अपनी मृत्यु का कारण बन जाता है और इसलिए वह स्वयं ही अपना शत्रु होता है; वैसे ही आत्मा-जीवात्मा आत्मा-मन से ही विषयरूप बन्धनागार में प्रवेश करने के कारण आप ही अपना शत्रु बनता है, कोई दूसरा बाह्य शत्रु नहीं होता, क्योंकि वह भी अपना ही बनाया हुआ होता है ।

12. प्रकृत में जीवात्मा की तीन अवस्थाओं की ओर संकेत किया गया है -- (क) प्रत्यगात्मा -- जो सर्वोपाधिशून्य यथार्थ आत्मा अर्थात् केवल शुद्धचैतन्यस्वरूप निर्गुण आत्मा है, (ख) जितात्मा -- जो आत्मा देहेन्द्रिय तथा मन के साथ संयुक्त रहकर भी सम्पूर्ण कार्य-कारणसंघात को वश में करके समाधि-योग के द्वारा निज स्वरूप में स्थित रहता है उसको जीवन्मुक्त आत्मा भी कहा जाता है, (ग) अनात्मा -- जो आत्मा अज्ञान तथा मोह से अभिभूत होकर मन, इन्द्रिय तथा शरीर में आत्मबुद्धि करता है, इसीलिए मन तथा इन्द्रियों की प्रवृत्तियों के द्वारा चालित होकर उच्छृङ्खल रूप से कार्य करता है । इसी से जितात्मा अपना बन्धु है और अनात्मा अपना शत्रु है । प्रत्यगात्मा निर्विकार है -- न बन्धु है, न शत्रु है । यह प्रत्यगात्मा ज्ञानस्वरूप है ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ 7 ॥

17 **शीतोष्णसुखदुःखेषु चित्तविक्षेपकरेषु सत्स्वपि तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोश्चित्तविक्षेपहेत्वोः सतोरपि तेषु समत्वेनेति वा । जितात्मनः प्रागुक्तस्य जितेन्द्रियस्य प्रशान्तस्य सर्वत्र समबुद्ध्या रागद्वेषशून्यस्य परमात्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वभाव आत्मा समाहितः समाधिविषयो योगारूढो भवति । परमिति वा छेदः । जितात्मनः प्रशान्तस्यैव परं केवलमात्मा समाहितो भवति नान्यस्य । तस्माज्जितात्मा प्रशान्तश्च भवेदित्यर्थः ॥ 7 ॥**

18 **किं च –**

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ 8 ॥

19 **ज्ञानं शास्त्रोक्तानां पदार्थानामौपदेशिकं ज्ञानं विज्ञानं तदप्रामाण्यशङ्कानिराकरणफलेन विचारेण तथैव तेषां स्वानुभवेनापरोक्षीकरणं ताभ्यां तृप्तः संजातालंप्रत्यय आत्मा चित्तं यस्य स तथा । कूटस्थो विषयसंनिधावपि विकारशून्यः । अत एव विजितानि रागद्वेषपूर्वकाद्विषयग्रहणाद्व्यावर्तितानीन्द्रियाणि येन सः । अत एव हेयोपादेयबुद्धिशून्यत्वेन समानि मृत्पिण्डपाषाणकाञ्चनानि यस्य सः । योगी परमहंसपरिव्राजकः परवैराग्ययुक्तो योगारूढ इत्युच्यते ॥ 8 ॥**

[शीत, उष्ण, सुख और दु:ख में तथा मान और अपमान में जितात्मा और प्रशान्त रहनेवाले आत्मा का ही परमात्मा समाधि का विषय होता है ॥ 7 ॥]

17 चित्त में विक्षेप करनेवाले शीत, उष्ण, सुख और दु:खों के रहते हुए भी तथा चित्त के विक्षेप के हेतुभूत मान = पूजा और अपमान = परिभव -- तिस्कार के रहने पर भी उनमें समत्व = समभाव रखने के कारण जो जितात्मा = पूर्वोक्त जितेन्द्रिय और प्रशान्त = सर्वत्र समबुद्धि रखने के कारण राग-द्वेष से शून्य है उसको परमात्मा = स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप आत्मा समाहित = समाधि का विषय अर्थात् योगारूढ़ होता है । अथवा, 'परम्' इस पद को विच्छेद करके समझना चाहिए । तब अर्थ होगा -- जितात्मा और प्रशान्त पुरुष को ही 'परम्' = केवल आत्मा समाहित होता है, अन्य को नहीं । अत: तात्पर्य यह है कि जितात्मा और प्रशान्त होना चाहिए ॥ 7 ॥

18 इसके अतिरिक्त, --

[जिसका आत्मा = चित्त ज्ञान और विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ और विजितेन्द्रिय है, जिसके लिए लोष्ठ = ढेला, पत्थर और स्वर्ण समान हैं वह योगी 'युक्त' कहा जाता है ॥ 8 ॥]

19 ज्ञान = शास्त्रोक्त पदार्थों का औपदेशिक -- उपदेशजनित ज्ञान और विज्ञान = उपदिष्ट ज्ञान के अप्रामाण्य की शंका के निराकरणरूप फलवाले विचार से अपने अनुभव के द्वारा उन पदार्थों का उसी प्रकार -- जैसा सुना है वैसे ही साक्षात्कार करना -- उपदेश-परोक्षज्ञान और प्रत्यक्ष-अपरोक्षज्ञान -- इन दोनों ज्ञान-विज्ञानों से जिसका आत्मा = चित्त तृप्त है अर्थात् जिसकी उनमें अलंप्रत्यय = पूर्णज्ञान-पूर्णबुद्धि संजात = उत्पन्न हो गई है तथा जो कूटस्थ = शब्दादि विषयों की सन्निधि में भी विकारशून्य है, अतएव जिसने अपनी इन्द्रियों को विजित = रागद्वेषपूर्वक विषयग्रहण से निवृत्त कर लिया है, अतएव

20 **सुहृन्मित्रादिषु समबुद्धिस्तु सर्वयोगिश्रेष्ठ इत्याह –**

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ 9 ॥

21 **सुहृत्प्रत्युपकारमनपेक्ष्य पूर्वस्नेहं संबन्धं च विनैवोपकर्ता । मित्रं स्नेहेनोपकारकः । अरिः स्वकृतापकारमनपेक्ष्य स्वभावक्रौर्येणापकर्ता । उदासीनो विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः । मध्यस्थो विवदमानयोरुभयोरपि हितैषी । द्वेष्यः स्वकृतापकारमपेक्ष्यापकर्ता । बन्धुः संबन्धेनोपकर्ता । एतेषु साधुषु शास्त्रविहितकारिषु पापेषु शास्त्रप्रतिषिद्धकारिष्वपि । चकारादन्येषु च सर्वेषु समबुद्धिः कः कीदृक्कर्मेत्यव्यापृतबुद्धिः सर्वत्र रागद्वेषशून्यो विशिष्यते सर्वत उत्कृष्टो भवति । विमुच्यत इति वा पाठः ॥ 9 ॥**

22 **एवं योगारूढस्य लक्षणं फलं चोक्त्वा तस्य साङ्गं योगं विधत्ते योगीत्यादिभिः स योगी परमो मत इत्यन्तैस्त्रयोविंशत्या श्लोकैः । तत्रैवमुत्तमफलप्राप्तये –**

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ 10 ॥

हेयोपादेयबुद्धि से शून्य-रहित होने के कारण जिसके लिए मृत्पिण्ड = मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण समान हैं वह योगी = परमहंस परिव्राजक परवैराग्ययुक्त अर्थात् योगारूढ़ कहा जाता है ॥ 8 ॥

20 सुहृद्, मित्रादि में समबुद्धि = समान बुद्धि रखनेवाला तो सभी योगियों में श्रेष्ठ है -- यह कहते हैं, -- [सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु, और पापियों में समान बुद्धि रखनेवाला योगी तो विशिष्ट है ॥ 9 ॥]

21 सुहृद् = प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए पूर्वस्नेह और सम्बन्ध के बिना ही उपकार करनेवाला; मित्र = स्नेहवश उपकार करनेवाला; अरि = अपने प्रति किये हुए अपकार की अपेक्षा न कर स्वाभाविक क्रूरता से अपकार करनेवाला; उदासीन = परस्पर विवाद करनेवाले दोनों ही की उपेक्षा करनेवाला; मध्यस्थ = परस्पर विवाद करनेवाले दोनों ही का हितैषी; द्वेष्य = अपने प्रति किये हुए अपकार के कारण अपकार करनेवाला; बन्धु = सम्बन्धवश उपकार करनेवाला -- इनमें तथा शास्त्रविहित कर्म करनेवाले साधुओं में और शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म करनेवाले पापियों में एवं चकार से अन्य सब में भी जो समबुद्धि है अर्थात् 'कौन कैसा कर्म करता है' -- 'कौन क्या करता है' -- इस प्रकार जिसकी बुद्धि का व्यापार नहीं है, इस प्रकार जो सर्वत्र -- सबमें राग-द्वेषशून्य है वह विशेष है अर्थात् सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । अथवा 'विशिष्यते' के सथान पर 'विमुच्यते' पाठ भी हो सकता है ॥ 9 ॥

22 इस प्रकार योगारूढ़ का लक्षण और उसको प्राप्त होनेवाला फल कहकर अब 'योगी' इत्यादि से लेकर 'स योगी परमो मतः' यहाँ तक के तेईस श्लोकों से उसके लिए अङ्गों सहित योग का विधान करते हैं । उनमें ही उत्तम फल की प्राप्ति के लिए,
[योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ आशा और परिग्रह के परित्यागपूर्वक अपने चित्त और देह को संयत करके सतत -- निरन्तर अपने अन्तःकरण को समाधि में लगावे ॥ 10 ॥]

23 **योगी योगारूढ आत्मानं चित्तं सततं निरन्तरं युञ्जीत क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमिपरित्यागेनैकाग्र-निरोधभूमिभ्यां समाहितं कुर्यात् । रहसि गिरिगुहादौ योगप्रतिबन्धकदुर्जनादिवर्जिते देशे स्थित एकाकी त्यक्तसर्वगृहपरिजनः संन्यासी, चित्तमन्तःकरणमात्मा देहश्च संयतौ योगप्रतिबन्धकव्यापारशून्यौ यस्य स यतचित्तात्मा । यतो निराशीर्वैराग्यदार्ढ्येन विगततृष्णः । अत एव चापरिग्रहः शास्त्राभ्यनुज्ञातेनापि योगप्रतिबन्धकेन परिग्रहेण शून्य ॥ 10 ॥**

24 **तत्राऽऽसननियमं दर्शयन्नाह द्वाभ्याम् –**

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ 11 ॥

25 **शुचौ स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धे जनसमुदायरहिते निर्भये गङ्गातटगुहादौ देशे समे स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरं निश्चलं नात्युच्छ्रितं नात्युच्चं नाप्यतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं मृदुवस्त्रम्, अजिनं मृदु व्याघ्रादिचर्म ते कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिंस्तत्, आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं, कुशमयवृष्युपरि मृदुचर्म तदुपरि मृदुवस्त्ररूपमित्यर्थः । तथा चाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः -- 'स्थिरसुखमासनम्' इति । आत्मन इति परासनव्यावृत्त्यर्थं तस्यापि परेच्छानियमाभावेन योगविक्षेपकरत्वात् ॥ 11 ॥**

---

23 योगी = योगारूढ रहसि = एकान्त में अर्थात् योग के प्रतिबन्धक दुर्जनादि से शून्य गिरि-कन्दरा आदि एकान्त स्थान में स्थित हुआ एकाकी = गृह-परिजन आदि सबका त्याग कर संन्यासी होकर ही, चित्त = अन्तःकरण और आत्मा = देह -- ये दोनों संयत = योग के प्रतिबन्धक व्यापारों से शून्य हो गये हैं जिसके ऐसा वह यतचित्तात्मा होकर; क्योंकि निराशी परवैराग्य की दृढ़ता से विगततृष्ण होता है अतएव अपरिग्रह = परिग्रहहीन अर्थात् शास्त्रसम्मत भी योग के प्रतिबन्धक परिग्रह से शून्य -- रहित होता है -- इस प्रकार आशा और परिग्रह से रहित हो सतत = निरन्तर अपने आत्मा = चित को योग में लगावे अर्थात् क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों से चित्त को हटाकर एकाग्र और निरोध भूमियों से उसको समाहित करे -- समाधि में लगावे ॥ 10 ॥

24 अब आसन का नियम दिखलाने के लिए दो श्लोकों से कहते है --
[शुचि-पवित्र देश-स्थान में जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो -- ऐसा कुशा के ऊपर मृगचर्म और वस्त्रयुक्त अपना स्थिर आसन स्थापित करके ॥ 11 ॥]

25 शुचि= स्वभावतः अथवा संस्कार द्वारा-परिमार्जनादि के द्वारा शुद्ध किये हुए, जनसमूह से रहित, निर्भय गंगातट-- गिरिगुहादि देश में समान स्थान-भूमि पर स्थिर= निश्चल आसन स्थापित करके, जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो तथा जो चैलाजिनकुशोत्तर हो = चैल अर्थात् कोमलवस्त्र और अजिन अर्थात् कोमल व्याघ्रादि की चर्म-ये कुशाओं के उत्तर=ऊपर हों जिसमें वह हो । 'आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनम्' = 'जिस पर बैठा जाता है उसको 'आसन' कहते हैं । तात्पर्य यह है कि पहले कुशासन, उसके ऊपर कोमल चर्मासन और उसके ऊपर कोमल वस्त्रासन होना चाहिए । इसीप्रकार भगवान् पतञ्जलि ने कहा है --'स्थिरसुखमासनम्' (योगसूत्र, 2.46)= 'जो स्थिर और सुखदायी हो वह 'आसन' है । 'आत्मनः' = 'अपना ' -- यह विशेषण दूसरे

26 एवमासनं प्रतिष्ठाप्य किं कुर्यादिति तत्राऽऽह--

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ 12 ॥

27 तत्र तस्मिन्नासन उपविश्यैव न तु शयानस्तिष्ठन्वा । 'आसीनः संभवात्' इति न्यायात् । यताः संयता उपरताश्चित्तस्येन्द्रियाणां च क्रिया वृत्तयो येन स यतचित्तेन्द्रियक्रियः सन्योगं समाधिं युञ्जीताभ्यसेत् । किमर्थम्, आत्मविशुद्धय आत्मनोऽन्तःकरणस्य सर्वविक्षेपशून्यत्वेनातिसूक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै । 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० 1.3.12) इति श्रुतेः ।

28 किं कृत्वा योगमभ्यसेदिति तत्राऽऽह-- एकाग्रं राजसतामसव्युत्थानाख्यप्रागुक्तभूमित्रय-परित्यागेनैकविषयकधारावाहिकानेकवृत्तियुक्तमुद्रिक्तसत्त्वं मनः कृत्वा दृढभूमिकेन प्रयत्नेन संपा-

के आसन की व्यावृत्ति के लिए है, क्योंकि दूसरे का आसन भी दूसरे की इच्छा का कोई निश्चित नियम न होने के कारण योग में विक्षेप करने वाला होता है[13] ॥ 11 ॥

26 इस प्रकार आसन स्थापित करके क्या करना चाहिए ? -- इस पर कहते हैं --
[उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके तथा चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को संयत कर आत्मविशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे ॥ 12 ॥]

27 उस आसन पर बैठकर ही, सोकर अथवा खड़े होकर नहीं, क्योंकि यह न्याय है-- 'आसीनः सम्भवात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.7) = 'उपासना बैठकर ही करनी चाहिए, कारण कि इस प्रकार ही उसका होना सम्भव है', जिसने चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं अर्थात् वृत्तियों को यत = संयत अर्थात् उपरत कर लिया है ऐसा वह यतचित्तेन्द्रियक्रिय = चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं के संयमवाला होकर योग = समाधि का युञ्जान = अभ्यास करे । ऐसा किसलिए करे ? आत्मविशुद्धि के लिए करे अर्थात् आत्मा = अन्तःकरण को सम्पूर्ण विक्षेपों से रहित हो जाने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने से ब्रह्मसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त कराने के लिए करे, क्योंकि श्रुति भी कहती है -- 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० उप० 1.3.12)= 'सूक्ष्मदर्शी योगी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही आत्मा का दर्शन करते हैं' ।

28 क्या करके योग का अभ्यास करे ? -- इस पर कहते हैं, -- एकाग्र अर्थात् राजस, तामस और व्युत्थान नामक पूर्वोक्त भूमित्रय के परित्याग से एकविषयक धारावाहिक अनेक वृत्तियुक्त अतएव

13. प्रकृत श्लोक में 'आत्मनः' -- यह विशेषण दूसरे के आसन की व्यावृत्ति करने के लिए है, क्योंकि दूसरे का आसन भी योग में विक्षेप करनेवाला होता है, कारण कि दूसरे के आसन का उपयोग करने से दूसरे की इच्छाओं पर निर्भर रहना पड़ता है और दूसरे की इच्छा नियत नहीं हो सकती, न जाने वह कब कहे कि मेरा आसन दे दो-- इसप्रकार का यह सन्देह योग में विक्षेप ही करता है, इसीलिए दूसरे के आसन के उपयोग से अपने नियम की रक्षा करना कठिन होता है । अतः अपना ही आसन उपयुक्त होता है, दूसरे का नहीं । धर्मशास्त्र में भी अपना-अपना आसन पृथक् रखने के लिए उपदेश दिया गया है --

'आत्मशय्यासनं वस्त्रं जायापत्यं कमण्डलुः ।
शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु ॥' (बोधायन धर्मसूत्र, 1.5.67)

'अपनी शय्या, आसन, वस्त्र, स्त्री, सन्तान, कमण्डलु अपने ही हों तो पवित्र होते हैं, ये दूसरे के हों तो अपवित्र ही कहे जाते है' ।

धैकाग्रताविवृद्ध्यर्थं योगं संप्रज्ञातसमाधिमभ्यसेत् । स च ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाह एव निदिध्यासनाख्यः । तदुक्तम् –

'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥'इति ।

एतदेवाभिप्रेत्य ध्यानाभ्यासप्रकर्षं विदधे भगवान्–योगी युञ्जीत सततं, युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये, युक्त आसीत मत्पर इत्यादि बहुकृत्वः ॥ 12 ॥

29 **तदर्थं बाह्यमासनमुक्त्वाऽधुना तत्र कथं शरीरधारणमित्युच्यते –**

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ 13 ॥

30 **कायः शरीरमध्यं स च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं मूलाधारादारभ्य मूर्धान्तपर्यन्तं सममवक्रमचलमकम्पं धारयन्नेकतत्त्वाभ्यासेन विक्षेपसहभाव्यङ्गमेजयत्त्वाभावं संपादयन्स्थिरो दृढप्रयत्नो भूत्वा । किं च स्वं स्वीयं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्यैव लयविक्षेपराहित्याय विषयप्रवृत्तिरहितो-**

उद्रिक्त -- उपचित सत्त्व मन करके= दृढ़भूमिक प्रयत्न से तथाभूत मन का सम्पादन करके एकाग्रता की वृद्धि के लिए योग = संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करे । वह ब्रह्माकार मनोवृत्ति का प्रवाह ही 'निदिध्यासन' कहलाता है । कहा भी है -- 'अहंकृति = अहंकार के बिना जो ब्रह्माकार मनोवृत्ति का प्रवाह है वही ध्यान के अभ्यास के प्रकर्ष से 'संप्रज्ञात समाधि' हो जाता है' । इसी अभिप्राय से भगवान् ने 'योगी युञ्जीत सततं', 'युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये', 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादि वाक्यों से अनेक बार ध्यानाभ्यास के प्रकर्ष का विधान किया है ॥ 12 ॥

29 उस योग के लिए बाह्य आसन कहकर अब आसन पर कैसे शरीर धारण करे ? -- यह कहते हैं -- [शरीर के मध्यभाग को, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुए स्थिर होकर, अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर और बीच-बीच में दिशाओं को न देखते हुए आसन पर बैठे ॥ 13 ॥

30 काय = शरीर के मध्यभाग, शिर और ग्रीवा को = इस कायशिरोग्रीव को अर्थात् मूलाधार से लेकर मूर्धान्तपर्यन्त-- मस्तकपर्यन्त भाग को सम=समान-सीधा कर, टेढ़ा न कर, अचल= कम्परहित धारण करते हुए अर्थात् एक तत्त्व के ही अभ्यास से विक्षेप के साथ होने वाले अङ्गमेजयत्व = शरीर के कम्पनादि के अभाव का सम्पादन करते हुए स्थिर होकर= दृढ़ प्रयत्न होकर; इसके अतिरिक्त अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर ही अर्थात् लय और विक्षेप की निवृत्ति के लिए विषयों में प्रवृत्ति से रहित अनिमीलित = अर्द्धनिमीलित नेत्र[14] रखकर ही; तथा दिशाओं को न देखते हुए = बीच-बीच में दिशाओं का अवलोकन न करते हुए, क्योंकि दिग्दर्शन[15] भी योग का

---

14. यहाँ 'अनिमीलित नेत्र' का तात्पर्य 'अर्धनिमिलित नेत्र' ही है । यदि साधक के नेत्र निमीलित रहेंगे तो निद्रा की सम्भावना रहेगी, वह निद्रा यदि स्वप्नात्मक होगी तो चित्त में विक्षेप होगा, यदि सुषुप्त्यात्मक होगी तो चित्त का प्राण में लय हो जायेगा । इसीप्रकार यदि साधक के नेत्र अनिमीलित अर्थात् खुले रहेंगे तो रूपग्रहण करने से चित्त में विक्षेप उत्पन्न होने की सम्भावना रहेगी । अतः लय और विक्षेप की निवृत्ति के लिए, जो ये दोनों योग के विरोधी हैं, योगी के निदिध्यासनार्थ प्रकृत में 'अर्धनिमीलित नेत्र' ही विशेषरूप से अनुकूल हैं ।

15. दिग्दर्शन योग का प्रतिबन्धक है, क्योंकि साधक के नेत्र इधर-उधर दिशाओं में स्थित वस्तुओं का दर्शन करेंगे, ऐसा होने से 'विक्षेप' उत्पन्न होने की पूर्णतः सम्भावना रहेगी, अतः प्रकृत में 'दिशश्चानवलोकयन्' का विधान

ऽनिमीलितनेत्र इत्यर्थः । दिशश्चानवलोकयन्, अन्तराऽन्तरा दिशां चावलोकनमकुर्वन्योगप्रतिबन्धकत्वात्तस्य । एवंभूतः सन्नासीतेत्युत्तरेण संबन्धः ॥ 13 ॥

31 **किं च –**

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ 14 ॥

32 **निदाननिवृत्तिरूपेण प्रकर्षेण शान्तो रागादिदोषरहित आत्माऽन्तःकरणं यस्य स प्रशान्तात्मा शास्त्रीयनिश्चयदार्ढ्याद्विगता भीः सर्वकर्मपरित्यागेन युक्तत्वायुक्तत्वशङ्का यस्य स विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रूषाभिक्षाभोजनादौ स्थितः सन्, मनः संयम्य विषयाकारवृत्तिशून्यं कृत्वा, मयि परमेश्वरे प्रत्यक्चिति सगुणे निर्गुणे वा चित्तं यस्य स मच्चित्तो मद्विषयकधारावाहिकचित्तवृत्तिमान् । पुत्रादौ प्रिये चिन्तनीये सति कथमेवं स्यादत आह--मत्परः, अहमेव परमानन्दरूपत्वात्परः पुरुषार्थः प्रियो यस्य स तथा । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' इति श्रुतेः । एवं विषयाकारसर्ववृत्तिनिरोधेन भगवदेकाकारचित्तवृत्तिर्युक्तः संप्रज्ञातसमाधिमानासीतोपविशेद्यथाशक्ति, न तु स्वेच्छया व्युत्तिष्ठेदित्यर्थः ।**

प्रतिबन्धक है, अतः ऐसा होकर आसन पर बैठे । यहाँ उत्तरश्लोकस्थ 'आसीत' = 'बैठे' -- क्रिया के साथ सम्बन्ध है ॥ 13 ॥

31 तथा--

[प्रशान्तचित्त, विगतभी= निर्भय, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित होकर; मन को संयत करके; मेरे में ही चित्त को लगाकर और मेरे परायण हुआ योगयुक्त होकर आसन पर बैठे ॥ 14 ॥]

32 निदान-कारणनिवृत्तिरूप प्रकर्ष से शान्त अर्थात् रागादि दोष से रहित है आत्मा=अन्तःकरण जिसका ऐसा प्रशान्तात्मा, एवं शास्त्रीय निश्चय की दृढ़ता से विगत--निवृत्त है भी -भय अर्थात् सर्वकर्मसंन्यास से योग होगा कि नहीं-- ऐसी शङ्का जिसकी ऐसा विगतभी, तथा ब्रह्मचारी के व्रत में अर्थात् ब्रह्मचर्य, गुरुशुश्रूषा, भिक्षान्न-भोजन आदि के पालन में स्थित होकर; मन को संयत करके अर्थात् विषयाकार वृत्ति से शून्य करके; मुझ प्रत्यक्चेतन सगुण अथवा निर्गुण परमेश्वर में है चित्त जिसका ऐसा मच्चित अर्थात् मद्विषयक-- मेरे प्रति धारावाहिक चित्तवृत्तिमान् होकर; प्रिय पुत्रादि चिन्तनीय के रहने पर परमेश्वर में ही धारावाहिक चित्तवृत्ति कैसे हो सकती है ? अतः कहते हैं -- 'मत्परः' = मैं ही हूँ परमानन्दस्वरूप होने से परम पुरुषार्थ अर्थात् प्रिय जिसका ऐसा मत्पर होकर, जैसा कि श्रुति भी कहती है-- 'वह यह आत्मा पुत्र से प्रिय है, वित्त से प्रिय है, अन्य सबसे प्रिय है, यह जो आत्मा है अत्यन्त अन्तरतर है' । इस प्रकार विषयाकार समस्त वृत्तियों के निरोध द्वारा एकमात्र भगवदाकार चित्तवृत्ति से युक्त= सम्प्रज्ञात समाधिमान् होकर यथाशक्ति आसन पर बैठा रहे, स्वेच्छा से उत्थान न करे, यह अर्थ है ।

किया है । यहाँ 'च' शब्द से अपने शरीर के नासिका के अग्रभाग के अतिरिक्त दूसरे अंगों के प्रति भी दृष्टिपात करना निषिद्ध हुआ है, क्योंकि वह भी योग के लिए विघ्नकर हो सकता है । अतः योगी समाधि-अभ्यास के समय ध्येय वस्तु के अतिरिक्त बाहर अथवा अपने शरीर के अन्य किसी अंग के प्रति दृष्टिपात न करे--यह अभिप्राय है ।

33 भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियमेव परत्वेनाऽऽराध्यत्वेन गृह्णाति किं तर्हि राजानं वा देवं वा। अयं तु मच्चित्तो मत्परश्च सर्वाराध्यत्वेन मामेव मन्यत इति भाष्यकृतां व्याख्या।

34 व्याख्यातृत्वेऽपि मे नात्र भाष्यकारेण तुल्यता
गुञ्जायाः किं नु हेम्नैकतुलारोहेऽपि तुल्यता ॥ 14 ॥

35 एवं संप्रज्ञातसमाधिनाऽऽसीनस्य किं स्यादित्युच्यते –

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ 15 ॥

36 एवं रहोवस्थानादिपूर्वोक्तनियमेनाऽऽत्मानं मनो युञ्जन्नभ्यासवैराग्याभ्यां समाहितं कुर्वन्योगी सदा योगाभ्यासपरोऽभ्यासातिशयेन नियतं निरुद्धं मानसं मनो येन नियता निरुद्धा मानसा मनोवृत्तिरूपा विकारा येनेति वा नियतमानसः सन्, शान्तिं सर्ववृत्त्युपरतिरूपां प्रशान्तवाहितां निर्वाणपरमां तत्त्वसाक्षात्कारोत्पत्तिद्वारेण सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपमुक्तिपर्यवसायिनीं मत्संस्थां मत्स्वरूपपरमानन्दरूपां निष्ठामधिगच्छति, न तु सांसारिकाण्यैश्वर्याणि अनात्मविषयसमाधि-फलान्यधिगच्छति, तेषामपवर्गोपयोगिसमाध्युपसर्गत्वात्।

---

33 'कोई रागी पुरुष स्त्रीचित्त हो सकता है, किन्तु वह स्त्री को ही परम पुरुषार्थ अथवा परम उपास्य के रूप में ग्रहण नहीं करता है, तो इस प्रकार किसको ग्रहण करता है ? हो सकता है कि वह राजा अथवा देवता को स्त्री की अपेक्षा 'पर' मानता हो। किन्तु यह योगी मच्चित होकर मत्पर ही होता है अर्थात् मुझको ही सर्वाराध्य मानता है' -- यह भाष्यकार की व्याख्या है।

34 मैं गीता का व्याख्याता तो हूँ, किन्तु इस विषय में भाष्यकार से मेरी तुल्यता-समता नहीं हो सकती। क्या एक तराजू में चढ़े हुए स्वर्ण के साथ गुञ्जा की तुल्यता-समता हो सकती है ? ॥ 14 ॥

35 इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि से युक्त होकर बैठे हुए योगी को क्या फल प्राप्त होता है ? -- यह कहते हैं:--

[इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ नियत मनवाला योगी मेरे स्वरूप में स्थित तथा अविद्या की निवृत्ति में पर्यवसित होनेवाली शान्ति को प्राप्त होता है ॥ 15 ॥

36 इस प्रकार एकान्त-स्थान में बैठने आदि पूर्वोक्त नियमों के अनुसार मन को आत्मा में नियुक्त करता हुआ अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से समाहित करता हुआ योगी सदा-सर्वदा योगाभ्यास में तत्पर रहने से = योगाभ्यासातिशय से अपने मानस = मन को नियत-निरुद्ध कर लिया है जिसने, अथवा, अपने मानस= मनोवृत्तिरूप विकारों[16] को नियत-निरुद्ध कर लिया है जिसने ऐसा नियतमानस होकर शान्ति अर्थात् समस्त वृत्तियों की उपरतिरूप प्रशान्तवाहिता को प्राप्त करता है, जो निर्वाणपरमा = तत्त्वसाक्षात्कार की उत्पत्ति के द्वारा कार्यसहित अविद्या की निवृत्तिरूप मुक्ति में पर्यवसित होनेवाली है और मत्संस्था =मत्स्वरूप परमानन्दरूप निष्ठा है। वह योगी अनात्मविषयक समाधि के फलस्वरूप सांसारिक ऐश्वर्यों को प्राप्त नहीं करता है, क्योंकि वे अपवर्ग-मोक्ष में उपयोगी समाधि के उपसर्ग-प्रतिबन्धक हैं।

---

16. 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' (अमरकोश, 1.4.31) – इस कोश के अनुसार मानस और मन– ये दोनों पर्यायवाची हैं, अतः दोनों में से किसी भी शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, तथापि गीता में प्रायः लाघवदृष्टि से 'मन' का ही प्रयोग देखा जाता है, यहाँ लाघवन्याय की उपेक्षा कर 'मानस' शब्द का प्रयोग किया

37 तथा च तत्तत्समाधिफलान्युक्त्वाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः--'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (पा० द० 3.37) इति । 'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' (पा० द० 3.51) इति च । स्थानिनो देवाः । तथा चोद्दालको देवैरामन्त्रितोऽपि तत्र सङ्गमादरं स्मयं गर्वं चाकृत्वा देवानवज्ञाय पुनरनिष्टप्रसङ्गनिवारणाय निर्विकल्पकमेव समाधिमकरोदिति वसिष्ठेनोपाख्यायते ।

38 मुमुक्षुभिर्हेयश्च समाधिः सूत्रितः पतञ्जलिना -- 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः ।' (पा० द० 1.17) सम्यक्संशयविपर्ययानध्यवसायरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण विशेषरूपेण ज्ञायते

37 इसीप्रकार तद्-तद् समाधि के फल बतलाकर भगवान् पतञ्जलि ने कहा है-- 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: (योगसूत्र, 3.37), = व्युत्थानकाल में प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता[17]-- ये छ: जो सिद्धियाँ हैं वे समाधि में उपसर्ग-प्रतिबन्धक-विघ्न हैं' तथा 'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' (योगसूत्र, 3.51) = 'योगी को जब स्थानी देवता आमन्त्रित करें[18] तब उसको उनमें आसक्ति और गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर उसके अनिष्ट का प्रसङ्ग हो सकता है'। स्थानी देवता होते हैं। वसिष्ठ ने ऐसा ही एक उपाख्यान कहा है -- उद्दालक ने देवताओं के आमन्त्रित करने पर भी पुन: अनिष्ट-प्राप्ति के प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिए उसमें संग= आदर और स्मय= गर्व न करके देवताओं की अवज्ञा करते हुए निर्विकल्पक समाधि ही की थी।

38 पतञ्जलि ने मुमुक्षुओं के लिए हेय समाधि को इसप्रकार सूत्रबद्ध किया है -- 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञात:, (योगसूत्र 1.17)= 'वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता[19] की अनुगति रहने पर 'सम्प्रज्ञात' समाधि होती है।' जिसके द्वारा भाव्य-ध्येय वस्तु का स्वरूप अच्छी

है। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार यहाँ 'मानस' शब्द का प्रयोग 'मनसि भवा मानसा विकारा:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'विकार' अर्थ में विवक्षित हो सकता है। किन्तु प्रकृत में 'मानस' शब्द की उक्त व्युत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं है, 'मन एव मानसम्' -- यह व्युत्पत्ति ही सार्थक है, क्योंकि विषयाकार वृत्तियों का निरोध ही मन का नियन्त्रण है, वही 'नियत' कहने से गतार्थ होता है। मधुसूदन सरस्वती को भी प्रथमत: मानस का मन अर्थ ही अभीष्ट है, इसीलिए उन्होंने द्वितीय अर्थ के प्रयोग में अनास्थासूचक 'वा' शब्द का प्रयोग किया है। अतएव भाष्यकार आदि ने भी मानस का अर्थ मन ही किया है।

17. मन में सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत और अनागत वस्तुओं को जानने की योग्यता 'प्रातिभ' सिद्धि है। श्रोत्रेन्द्रिय की दिव्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता 'श्रावण' है। त्वगिन्द्रिय की दिव्यस्पर्श जानने की योग्यता 'वेदना' है। नेत्रेन्द्रिय की दिव्यरूप देखने की योग्यता 'आदर्श' है। रसनेन्द्रिय की दिव्यरस जानने की योग्यता 'आस्वाद' है। घ्राणेन्द्रिय की दिव्यगन्ध सूँघने की योग्यता 'वार्ता' है।

18. योगी चार प्रकार के होते हैं -- प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय। इन योगियों में से जो दूसरे प्रकार का मधुभूमिक नामक योगी है, उसी को स्वर्गस्थानी इन्द्रादि देवता पास में आकर स्वर्गीय विमान तथा अप्सरादि के द्वारा प्रलोभन देते हुए आमन्त्रित करते हैं, अन्य तीन को नहीं। उसका कारण यह है कि -- जो प्रथमकल्पिक योगी है उसको तो इन्द्रादि-कृत प्रार्थना की शंका ही नहीं है, क्योंकि वह योगाभ्यास में प्रवृत्तमात्र होता है। तृतीय प्रकार का प्रज्ञाज्योति नामक योगी देवताओं के प्रलोभन में आ ही नहीं सकता है, क्योंकि उसको भूतेन्द्रियविजयी होने से अणिमादि ऐश्वर्य स्वत: ही प्राप्त होते हैं। चतुर्थ प्रकार का अतिक्रान्तभावनीय नामक योगी भी प्रलोभन में नहीं आ सकता है, क्योंकि परवैराग्य-सम्पन्न होने से उसको स्वर्गीय भोग की स्पृहा ही नहीं होती है। अत: परिशेषात् ऋतम्भरप्रज्ञ मधुभूमिक नामक योगी ही प्रलोभन का विषय होता है, उसी को स्थानी देवता आमन्त्रित करते हैं।

19. पाँचों स्थूलभूत-विषयक तथा स्थूल इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य-भावना का नाम 'वितर्कानुगत' संप्रज्ञात है। पाँचों सूक्ष्मभूत- विषयक तथा सूक्ष्म इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य-भावना 'विचारानुगत' है। तन्मात्राओं तथा इन्द्रियों के कारण सत्त्व-प्रधान अहंकार-विषयक केवल ग्रहण-भावना 'आनन्दानुगत' है। अस्मिता अर्थात् चेतन से प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व बीजरूप अहंकारसहित-विषयक ग्रहीतृ-भावना का नाम 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञात है।

भाव्यस्य रूपं येन स संप्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः । भावना हि भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम् । भाव्यं च त्रिविधं ग्राह्यग्रहणग्रहीतृभेदात् । ग्राह्यमपि द्विविधं स्थूल-सूक्ष्मभेदात् । तदुक्तं 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः ।' (पा० द० 1.41) क्षीणा राजसतामसवृत्तयो यस्य तस्य चित्तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्वात्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थता तत्रैवैकाग्रता, तदञ्जनता तन्मयता न्यग्भूते चित्ते भाव्यमानस्यैवोत्कर्ष इति यावत् । तथाविधा समापत्तिस्तद्रूपः परिणामो भवति । यथाऽभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणे-स्तत्तदुपाश्रयवशात्तत्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तत्तद्रूपापत्तिः समापत्तिः समाधिरिति च पर्यायः । यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्वित्युक्तं तथाऽपि भूमिकाक्रमवशाद्-ग्राह्यग्रहणग्रहीतृष्विति बोद्धव्यम् । यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिर्भवति ततो ग्रहणनिष्ठस्ततो ग्रहीतृनिष्ठ इति ग्रहीत्रादिक्रमोऽप्यग्रे व्याख्यास्यते ।

39 **तत्र यदा स्थूलं महाभूतेन्द्रियात्मकषोडशविकाररूपं विषयमादाय पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः । अस्मिन्नेवाऽऽलम्बने पूर्वापरानुसंधानशब्दार्थोल्लेख-**

प्रकार अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित प्रकर्ष से -- विशेषरूप से -यथार्थरूप से जाना जाता है उस भावना-विशेष को 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं । विषयान्तर= अन्य विषयों का परिहार-परित्याग कर एकमात्र ध्येय-भाव्य वस्तु को ही पुन: पुन: चित्त में स्थापित करना 'भावना' है । इस भावना का विषयभूत जो भाव्य है वह ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता[20] के भेद से तीन प्रकार का होता है । इन तीनों में ग्राह्य भी स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का है । यह योगसूत्र में कहा है -- 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः' (योगसूत्र, 1.41) = 'जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं ऐसे स्वच्छ चित्त की उत्तमजातीय अतिनिर्मल स्फटिक मणि के समान ग्रहीता = अस्मिता, ग्रहण= इन्द्रिय और ग्राह्य = स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों में स्थित होकर तदञ्जनता-तन्मयता 'समापत्ति' है' । क्षीण हो गई हैं राजस-तामस वृत्तियाँ जिसकी उस चित्त की ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य= आत्मा-अस्मिता, इन्द्रिय और विषयों में तत्स्थता = उन्हीं में एकाग्रता, तदञ्जनता = तन्मयता अर्थात् न्यग्भूत = क्षीणभूत चित्त में भाव्यमान वस्तु का ही जो उत्कर्ष होता है तथाविध समापत्ति = तद्रूप परिणाम होता है । जैसे अभिजात= निर्मल स्फटिक मणि में तद्-तद् उपाश्रय= समीपस्थित वस्तुओं के कारण तद्-तद् रूप की आपत्ति = प्राप्ति होती है, वैसे ही निर्मल चित्त में तद्-तद् भावनीय = ध्येय वस्तु के सम्बन्ध से तद्-तद् रूप की आपत्ति = प्राप्ति होती है । समापत्ति और समाधि -- ये पर्यायवाची हैं । यद्यपि योगसूत्र में 'ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु' ऐसा कहा है, तथापि भूमिकाक्रम से 'ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु' -- ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि पहले ग्राह्यनिष्ठ ही समाधि होती है, तदनन्तर ग्रहणनिष्ठ होती है, तत्पश्चात् ग्रहीतृनिष्ठ होती है । ग्रहीता आदि के क्रम की भी आगे व्याख्या की जायेगी ।

39 उनमें, जिस समय पाँच महाभूत और एकादश इन्द्रिय-- इन सोलह विकाररूप स्थूल विषयों को ग्रहण कर पूर्वापर के अनुसन्धान के साथ और शब्द-अर्थ के उल्लेख के साथ = 'इसका वाचक यह शब्द है, इस शब्द का यह अर्थ है' -- इसप्रकार शब्द और अर्थ के उल्लेख के साथ उनकी

---

20. यद्यपि योगसूत्र में ध्येय की और समाधि की उत्कृष्टता-अपकृष्टता बतलाने के अभिप्राय से ग्रहीता, ग्रहण, और ग्राह्य-- यह क्रम दिया है, तथापि भूमिकाक्रम से ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता-- समापत्ति कही गई है, क्योंकि स्थूलालम्बनपूर्वक सूक्ष्मालम्बन चित्तसमापत्ति होती है, इसीलिए यहाँ तदनुसार कहा है ।

शून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः । एतावुभावप्यत्र वितर्कशब्देनोक्तौ । तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः । अस्मिन्नेवाऽऽलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्विचारः । एतावुभावप्यत्र विचारशब्देनोक्तौ । तथा च भाष्यं वितर्कश्चित्तस्य स्थूल आलम्बन आभोगः सूक्ष्मे विचार इति । इयं ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते । यदा रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चिच्छक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात्सानन्दः समाधिर्भवति । अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहंकारत्वाद्विदेहशब्देनोच्यन्ते । इयं ग्रहणसमापत्तिः । ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या भावना प्रवर्तते तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकात्सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते । न चाहंकारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः । यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान्वेदयते सोऽहं-

---

भावना की जाती है उस समय 'सवितर्क' समाधि होती है । इसी पूर्वगृहीत आलम्बन में जब पूर्वापर के अनुसन्धान और शब्दार्थ के उल्लेख से शून्य-रहित भावना की जाती है तब 'निर्वितर्क' समाधि होती है । ये दोनों ही उक्त सूत्र (योगसूत्र, 1.17) में 'वितर्क' शब्द से कही गई हैं । तन्मात्रा और अन्तःकरणरूप सूक्ष्म विषय का आलम्बन कर उसमें देश, काल और धर्म के अवच्छेद के साथ जब भावना की जाती है तब 'सविचार' समाधि कहलाती है । इसी आलम्बन में देश, काल और धर्म के अवच्छेद के बिना धर्मीमात्र की अवभासिका-प्रकाशिकारूप से जब भावना की जाती है तब 'निर्विचार' समाधि कही जाती है । ये दोनों हीं सूत्र में 'विचार' शब्द से कही गई हैं । इसीप्रकार योगभाष्य है-- 'वितर्कश्चित्तस्य स्थूल आलम्बन आभोगः सूक्ष्मे विचारः' = 'चित्त की स्थूल आलम्बन में भावना 'वितर्क' समाधि है और सूक्ष्म आलम्बन में भावना 'विचार' समाधि है ।' यही 'ग्राह्यसमापत्ति' शब्द से व्यवहृत होती है । जब रजोगुण और तमोगुण के लेश से अनुविद्ध=सम्बद्ध अन्तःकरणगत सत्त्वगुण की भावना की जाती है तब चिच्छक्ति का गुणभाव हो जाने से भाव्यमान सुखप्रकाशमय सत्त्व का उद्रेक होने से 'सानन्द' समाधि होती है । इसी समाधि में जो बद्धधैर्य-- बद्धादर होकर प्रधानपुरुषरूप तत्त्वान्तर=अन्य तत्त्वों को नहीं देखते हैं वे देहाहङ्काररहित होने से 'विदेह' शब्द से कहे जाते हैं । यह 'ग्रहणसमापत्ति' है । इसके बाद रजोगुण और तमोगुण के लेश से अनभिभूत-अतिरोहित शुद्ध सत्त्व का आलम्बन कर जो भावना की जाती है उसमें ग्राह्य सत्त्व का न्यग्भाव हो जाने के कारण चितिशक्ति का उद्रेक होने से सत्तामात्र शेष रह जाने के कारण 'सास्मित' समाधि कही जाती है । यहाँ अहंकार और अस्मिता के अभेद की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जहाँ अन्तःकरण 'अहम्' --ऐसे उल्लेखपूर्वक विषयों को जानता है वह 'अहंकार' है, जैसे-- 'अहं घटं जानामि' = 'मैं घट को जानता हूँ' । किन्तु जहाँ अन्तमुखरूप से प्रतिलोम परिणाम के द्वारा प्रकृतिलीन चित्त में सत्तामात्र का भान होता है वह 'अस्मिता' है [21]।

21. भाव यह है कि अन्तःकरण का अन्तर्मुख और बहिर्मुख भेद से दो प्रकार का परिणाम होता है । जैसे- घट और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण इन्द्रिय के द्वारा घट से सम्बद्ध होकर घटाकार में परिणत होता है, उस घटाकारवृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से घट का प्रकाश होता है, इसी कारण अहमर्थ का उल्लेख होता है, और जब अन्तर्मुख अतएव अन्तःकरण का प्रतिलोम परिणाम होता है तब वह चित्त-प्रकृति में लीन होने से अहमर्थ का उल्लेख न होकर केवल पदार्थसत्तामात्र का भान होता है वह अस्मिता है ।

कारः । यत्र त्वन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषास्ते परं पुरुषमपश्यन्तश्चेतसः प्रकृतौ लीनत्वात्प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते। सेयं ग्रहीतृसमापत्तिरस्मितामात्ररूपग्रहीतृनिष्ठत्वात्। ये तु परं पुरुषं विविच्य भावनायां प्रवर्तन्ते, तेषामपि केवलपुरुषविषया विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरपि न सास्मितः समाधिर्विवेकेनास्मितायास्त्यागात्।

40 **तत्र ग्रहीतृभानपूर्वकमेव ग्रहणभानं तत्पूर्वकं च सूक्ष्मग्राह्यभानं तत्पूर्वकं च स्थूलग्राह्यभानमिति स्थूलविषयो द्विविधोऽपि वितर्कश्चतुष्टयानुगतः। द्वितीयो वितर्कविकलस्त्रितयानुगतः। तृतीयो वितर्कविचाराभ्यां विकलो द्वितयानुगतः। चतुर्थो वितर्कविचारानन्दैर्विकलोऽस्मितामात्र इति चतुरवस्थोऽयं संप्रज्ञात इति। एवं सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च समाधिरन्तर्धानादिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतुसमाधिविरोधित्वाद्धेय एव मुमुक्षुभिः। ग्रहीतृग्रहणयोरपि चित्तवृत्तिविषयतादशायां ग्राह्यकोटौ निक्षेपाद्धेयोपादेयविभागकथनाय ग्राह्यसमापत्तिरेव विवृता सूत्रकारेण। चतुर्विधा हि ग्राह्यसमापत्तिः स्थूलग्राह्यगोचरा द्विविधा सवितर्का निर्वितर्का च। सूक्ष्मग्राह्यगोचराऽपि द्विविधा सविचारा निर्विचारा च। 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का' (पा० द० 1.42) शब्दार्थज्ञानविकल्पसंभिन्ना स्थूलार्थावभासरूपा सवितर्का समापत्तिः स्थूलगोचरा सविकल्पकवृत्तिरित्यर्थः। 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का' (पा० द० 1.43) तस्मिन्नेव स्थूल आलम्बने शब्दार्थस्मृतिप्रविलये प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकार-प्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः स्थूलगोचरा**

इसी समाधि में जो परितोष-- सन्तोष कर लेते हैं वे परम पुरुष को न देखकर चित्त के प्रकृति में लीन होने से 'प्रकृतिलय' कहे जाते हैं। यही 'ग्रहीतृसमापत्ति' है, क्योंकि अस्मितामात्ररूप ग्रहीतृनिष्ठ=ग्रहीता में ही रहनेवाला है। जो परम पुरुष का विवेक कर भावना करते हैं, उनकी केवल पुरुषविषया विवेकख्याति ग्रहीतृसमापत्ति होने पर भी सास्मित समाधि नहीं है, क्योंकि वे विवेक से अस्मिता का त्याग कर चुके होते हैं।

40 इनमें, ग्रहीतृभानपूर्वक ही ग्रहण का भान होता है, ग्रहणभानपूर्वक सूक्ष्मग्राह्य का भान होता है, और सूक्ष्मग्राह्यभानपूर्वक स्थूलग्राह्य का भान होता है -- इस प्रकार स्थूलविषयक दोनों प्रकार की 'वितर्क' समाधि चतुष्टयानुगत अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता-- इन चारों समाधियों से अनुगत है। द्वितीय 'विचार' समाधि सूक्ष्मविषयक अतएव वितर्क-समाधि से रहित होने से त्रितयानुगत अर्थात् विचार, आनन्द और अस्मिता-- इन तीनों समाधियों से अनुगत है। तृतीय 'आनन्द' समाधि 'वितर्क' और 'विचार' समाधियों से रहित होने से द्वितयानुगत अर्थात् आनन्द और अस्मिता-- इन दो समाधियों से अनुगत है। चतुर्थ 'अस्मिता' समाधि वितर्क, विचार और आनन्द -- इन तीनों समाधियों से रहित होने से एकानुगत अर्थात् अस्मितामात्र है -- इस प्रकार यह चार अवस्थाओं वाली 'संप्रज्ञात' समाधि है। ऐसी सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित-- चतुर्विध समाधि अन्तर्धानादि सिद्धियों की हेतु होने से मुक्ति की हेतुभूता समाधि की विरोधिनी होने के कारण मुमुक्षुओं के लिए हेय-त्याज्य ही है। ग्रहीतृनिष्ठ और ग्रहणनिष्ठ समाधियों का भी चित्तवृत्ति की विषयता दशा में ग्राह्यकोटि के अन्तर्गत निक्षेप = प्रक्षेप होने से सूत्रकार ने हेय = त्याज्य और

निर्विकल्पकवृत्तिरित्यर्थः । 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' (पा० द० 1.44) सूक्ष्मस्तन्मात्रादिर्विषयो यस्याः सा सूक्ष्मविषया समापत्तिर्द्विविधा सविचारा निर्विचारा च । सविकल्पनिर्विकल्पकभेदेन एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च स्थूलविषयया समापत्त्या व्याख्याता । शब्दार्थज्ञानविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा । शब्दार्थज्ञानविकल्परहित्वेन देशकालधर्माद्यनवच्छिन्नत्वेन च धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा । सविचारनिर्विचारयोः सूक्ष्मविषयत्वविशेषणात्सवितर्कनिर्वितर्कयोः स्थूलविषयत्वमर्थव्याख्यातम् । 'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्' (पा० द० 1.45) सविचाराया निर्विचारायाश्च समापत्तेर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्यन्तं द्रष्टव्यम् । तेन सानन्दसास्मितयोर्ग्रही-

उपादेय =ग्राह्य के विभाग को कहने के लिए ग्राह्यसमापत्ति का ही विशेष विवरण किया है । ग्राह्यसमापत्ति चार प्रकार की है:-- स्थूलग्राह्यगोचर दो प्रकार की है -- सवितर्क और निर्वितर्क; सूक्ष्मग्राह्यगोचर भी दो प्रकार की है -- सविचार और निर्विचार । 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का (योगसूत्र, 1.42) = 'उन समापत्तियों में से जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों = भेदों से संकीर्ण-संमिलित-- मिश्रित है अर्थात् जिसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप भिन्न-भिन्न पदार्थों का अभेदरूप से भान होता है वह 'सवितर्का' समापत्ति है' । अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से संभिन्न = मिली हुई स्थूल पदार्थों की अवभासरूप=भानस्वरूप 'सवितर्का' समापत्ति है, वह स्थूलविषयक सविकल्पकवृत्ति है । 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का' (योगसूत्र, 1.43) = 'स्मृति की परिशुद्धि = निवृत्ति होने पर अर्थात् आगम, अनुमान ज्ञान के कारण शब्दसंकेतस्मरण के निवृत्त होने पर जो अर्थमात्र-सी भासने वाली=केवल ग्राह्यरूप अर्थमात्र को ही प्रकाश करनेवाली अतएव स्वरूप से शून्य जैसी=अपने ग्रहणाकार ज्ञानात्मकरूप से रहित चित्तवृत्ति है वह 'निर्वितका' समापत्ति है' । उसी स्थूल आलम्बन में शब्द और अर्थ की स्मृति का विलय-लय हो जाने पर जो प्रत्युदित-उदित हुए स्पष्ट ग्राह्याकार का प्रतिभास-भान होने के कारण ज्ञानांश का भी तिरोधान होने से स्वरूप से शून्य जैसी होती है वह 'निर्वितर्का' समापत्ति है अर्थात् स्थूलविषयक निर्विकल्पक वृत्ति है । 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' (योगसूत्र, 1.44) = 'इस सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति के व्याख्यान से ही सूक्ष्मभूत-- पञ्चतन्मात्रविषयक सविचारा और निर्विचारा समापत्ति भी व्याख्यात है' । सूक्ष्म अर्थात् शब्दादि तन्मात्रादि विषय हैं जिसके वह सूक्ष्मविषया समापत्ति दो प्रकार की है -- सविचारा और निर्विचारा । सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से इस स्थूलविषयक सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति से ही सविचारा और निर्विचारा समापत्ति भी व्याख्यात है । जिसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पों सहित देश, काल और धर्मादि से अवच्छिन्न सूक्ष्म अर्थ का भान होता है वह 'सविचारा' समापत्ति है । जिसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पों से रहित तथा देश, काल और धर्मादि से अनवच्छिन्न मात्र धर्मीरूप से सूक्ष्म अर्थ का भान होता है वह 'निर्विचारा' समापत्ति है । सविचारा और निर्विचारा-- इन दोनों समापत्तियों में 'सूक्ष्मविषयत्व' विशेषण दिया गया है, अतः सवितर्का और निर्वितर्का-- इन दोनों समापत्तियों में 'स्थूल विषयत्व' अर्थतः व्याख्यात-- प्राप्त है । 'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्' (योगसूत्र, 1.45)= 'और सूक्ष्मविषयत्व अलिङ्गपर्यन्त है अर्थात् अलिङ्ग= किसी में लीन न होने वाली अर्थात् लिङ्गरहित मूलप्रकृति -पर्यन्त है' । सविचारा और निर्विचारा -- इन दोनों समापत्तियों में जो सूक्ष्म-

तृग्रहणसमापत्त्योरपि ग्राह्यसमापत्तावेवान्तर्भाव इत्यर्थः। तथा हि -- पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्यापि रसतन्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रं, नभसः शब्दतन्मात्रं, तेषामहंकारस्तस्य लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्याप्यलिङ्गं प्रधानं सूक्ष्मो विषयः। सप्तानामपि प्रकृतीनां प्रधान एव सूक्ष्मताविश्रान्तेस्तत्पर्यन्तमेव सूक्ष्मविषयत्वमुक्तम्। यद्यपि प्रधानादपि पुरुषः सूक्ष्मोऽस्ति तथाऽप्यन्वयिकारणत्वाभावात्तस्य सर्वान्वयिकारणे प्रधान एव निरतिशयं सौक्ष्म्यं व्याख्यातं, पुरुषस्तु निमित्तकारणं सदपि नानन्वयिकारणत्वेन सूक्ष्मतामर्हति। अन्वयिकारणत्वाविवक्षायां तु पुरुषोऽपि सूक्ष्मो भवत्येवेति द्रष्टव्यम्। 'ता एव सबीजः समाधिः' (पा० द० 1.46) ताश्चतस्रः समापत्तयो ग्राह्येण बीजेन सह वर्तन्त इति सबीजः समाधिर्वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञात इति प्रागुक्तः। स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः। सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति।

41 **तत्रान्तिमस्य फलमुच्यते--'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' (पा० द० 1.47) स्थूलविषयत्वे तुल्येऽपि सवितर्कं शब्दार्थज्ञानविकल्पसंकीर्णमपेक्ष्य तद्रहितस्य निर्विकल्पकरूपस्य निर्वितर्कस्य**

विषयत्व कहा गया है वह अलिङ्गपर्यन्त समझना चाहिए। अतः तात्पर्य यह है कि ग्रहीतृनिष्ठ सास्मित और ग्रहणनिष्ठ सानन्द समापत्तियों का भी ग्राह्यसमापत्ति में ही अन्तर्भाव है। पार्थिव परमाणु तथा कारणभूत गन्ध तन्मात्रा समापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं। जल-परमाणु तथा उसका कारणभूत रस तन्मात्रा, तेज-अग्नि-परमाणु तथा उसका कारणभूत रूप तन्मात्रा, वायु-परमाणु तथा उसका कारणभूत स्पर्श तन्मात्रा, आकाशपरमाणु तथा उसका कारणभूत शब्द तंन्मात्रा एवं पञ्चतन्मात्राओं का कारणभूत अहंकार, अहंकार का कारणभूत लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्त्व और लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्त्व का भी कारण अलिङ्गसंज्ञक प्रधान -- प्रकृति -- ये सब समापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं। पञ्चतन्मात्रा, अहंकार और महत्तत्त्व-- इन सात प्रकृतियों की सूक्ष्मता की विश्रान्ति प्रधान में ही है, अतएव प्रधान-प्रकृतिपर्यन्त ही सूक्ष्मविषयता कही गई है। यद्यपि प्रधान की अपेक्षा पुरुष अतिसूक्ष्म है, तथापि वह पुरुष उसका अन्वयि-कारण = उपादानकारण नहीं है, अतः सभी के अन्वयिकारण= उपादानकारण प्रधान में ही निरतिशय सूक्ष्मता कही गई है। पुरुष तो निमित्तकारण होने पर भी उपादानकारण नहीं है, इसलिए वह सूक्ष्मता के योग्य नहीं है। यदि अन्वयिकारणत्व= उपादानकारणता की विवक्षा न करे, तो पुरुष भी सूक्ष्म ही है -- ऐसा समझना चाहिए। 'ता एव सबीजः समाधिः' (योगसूत्र, 1.46) = 'ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही 'सबीज' समाधि कहलाती हैं'। ये चारों समापत्तियाँ ग्राह्यरूप बीज से युक्त हैं, इसलिए 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः'-- इस सूत्र से पहले कही हुई चतुर्विध संप्रज्ञात समाधि 'सबीज' समाधि है। स्थूल आलम्बनविषयक सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति है। सूक्ष्म-आलम्बन-विषयक सविचारा और निर्विचारा समापत्ति है।

41 इनमें से अन्तिम जो निर्विचारा समापत्ति है उसका फल कहते हैं -- 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' (योगसूत्र, 1.47) = 'निर्विचारा समाधि की वैशारद्य[22] = प्रवीणता= निर्मलता होने पर अध्यात्म[23]

---

22. वैशारद्य = अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् (योगभाष्य, 1.47) = जब रजोगुण तथा तमोगुण की अधिकता होती है, तब चित्तगत सत्त्वगुण तिरस्कृत हो जाता है, यही चित्त में अशुद्धि- आवरणरूप मल है। योगी के अभ्यासवश सत्त्वगुण के प्रबल होने से जब यह अशुद्धि--आवरण--मल दूर हो जाता है, तब राजस-तामसरहित शुद्ध सात्त्विक प्रकाशरूप अतिस्वच्छ चित्त का स्थिर प्रवाह प्रारम्भ होता है, यही समाधि की विशारदता= प्रवीणता=निर्मलता कही जाती है।

23. 'आत्मनि बुद्धौ वर्तत इत्यध्यात्मम्' = जो आत्मा अर्थात् बुद्धि में स्थित रहता है वह 'अध्यात्म' है।

प्राधान्यं, ततः सूक्ष्मविषयस्य सविकल्पकप्रतिभासरूपस्य सविचारस्य, ततोऽपि सूक्ष्मविषयस्य निर्विकल्पकप्रतिभासरूपस्य निर्विचारस्य प्राधान्यम् । तत्र पूर्वेषां त्रयाणां निर्विचारार्थत्वान्निर्विचारफलेनैव फलवत्त्वं, निर्विचारस्य तु प्रकृष्टाभ्यासबलाद्वैशारद्ये रजस्तमोनभिभूतसत्त्वोद्रेके सत्यध्यात्मप्रसादः क्लेशवासनारहितस्य चित्तस्य भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः प्रादुर्भवति । तथा च भाष्यम्--

'प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥' इति ।

'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (पा० द० 1.48) तत्र तस्मिन्प्रज्ञाप्रसादे सति समाहितचित्तस्य योगिनो या प्रज्ञा जायते सर्तंभरा । ऋतं सत्यमेव बिभर्ति न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति यौगिक्येवेयं समाख्या । सा चोत्तमो योगः । तथा च भाष्यम् --

= प्रज्ञा की प्रसाद[24] = निर्मलता होती है' । स्थूलविषयता में समानता होने पर भी शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्प से संकीर्ण= मिश्रित= युक्त सवितर्का समापत्ति की अपेक्षा इनसे रहित निर्विकल्पकरूप निर्वितर्का समापत्ति की प्रधानता है । उसकी अपेक्षा सूक्ष्मविषयिणी सविकल्पक प्रतिभासरूपा सविचारा समापत्ति की प्रधानता है । उसकी भी अपेक्षा सूक्ष्मविषयिणी निर्विकल्पक प्रतिभासरूपा निर्विचारा समापत्ति की प्रधानता है । इन चारों समापत्तियों में पहली तीन समापत्तियाँ निर्विचारार्थ ही हैं अर्थात् निर्विचारा समापत्ति की अङ्ग हैं, इसलिए निर्विचारा समापत्ति के फल से ही वे तीनों फलवान् हैं, उक्त तीनों का पृथक् फल नहीं है[25] । प्रकृष्ट अभ्यास के बल से निर्विचारा समापत्ति की विशारदता=प्रवीणता=निर्मलता होने पर -- रजोगुण--तमोगुण से अनभिभूत = अतिरस्कृत सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर 'अध्यात्म-प्रसाद' होता है अर्थात् क्लेश और वासनाओं से रहित चित्त का भूतार्थविषयक= परमाणुरूप भूतसूक्ष्म से आरम्भ कर प्रकृतिपर्यन्त सर्व सूक्ष्म पदार्थविषयक क्रम के अनुरोध के बिना ही एक ही काल में स्फुट=साक्षात्काररूप ' प्रज्ञालोक' प्रकट होता है । इसी प्रकार भोगभाष्य भी कहता है--

"शैलशिखरारूढ़ पुरुष भूमिस्थित पुरुषों को जैसे अल्प देखता है, वैसे ही प्राज्ञ=उक्त साक्षात्कारयुक्त योगी प्रज्ञाप्रसादरूप शैलशिखर पर आरूढ़ होकर स्वयं शोकरहित होता हुआ अपने से अन्य सब अज्ञानी पुरुषों को शोकयुक्त देखता है । "

'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (योगसूत्र, 1.48) = 'निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्यकाल में जो प्रज्ञा= अध्यात्मप्रसादरूप बुद्धि योगी को प्राप्त होती है वह 'ऋतंभरा' कही जाती है ।' तत्र = तस्मिन्= निर्विचारा समापत्ति की विशारदता से जन्य प्रज्ञाप्रसाद= अध्यात्मप्रसाद के होने पर जो समाहित-चित्त योगी की प्रज्ञा उत्पन्न होती है वह 'ऋतंभरा' होती है । जो ऋत= सत्य को ही धारण करती है, जिसमें विपर्यास ज्ञान = मिथ्याज्ञान का गन्ध= लेश भी नहीं होता, वह 'ऋतंभरा' है । यह 'ऋतंभरा' यौगिकी समाख्या= संज्ञा है । यह उत्तम योग है । ऐसा ही भाष्य भी कहता है :--

24. अध्यात्म-प्रसाद = 'यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः (योगभाष्य, 1.47) = जब निर्विचार समाधि का यह वैशारद्य लब्ध हो जाता है तब योगी को परमाणुरूप भूतसूक्ष्म से आरम्भ कर प्रकृतिपर्यन्त सर्व सूक्ष्म पदार्थों का क्रम के अनुरोध के बिना ही एक ही काल में साक्षात्काररूप प्रज्ञालोक प्राप्त हो जाता है । वही प्रज्ञालोक 'अध्यात्मप्रसाद' कहा जाता है । बुद्धि में जो प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता रहती है, वह 'अध्यात्म-प्रसाद' है ।

25. 'फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गम्' – 'फलवान् की सन्निधि में अफल भी फलवान् का अङ्ग हो जाता है' – यह न्याय प्रसिद्ध है ।

'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥' इति ।

सा तु 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' (पा० द० 1.49) श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयमेव । न हि विशेषेण सह कस्यचिच्छब्दस्य संगतिर्ग्रहीतुं शक्यते । तथाऽनुमानं समान्यविषयमेव । न हि विशेषण सह कस्यचिव्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्यते । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति । न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति

"आगम नाम श्रवण का, अनुमान नाम मनन का, और ध्यानाभ्यासरस नाम निदिध्यासन का है । इन तीनों साधनों से तीन प्रकार की प्रज्ञा का सम्पादन करता हुआ योगी उत्तम योग को प्राप्त करता है ।"

वह ऋतंभरा प्रज्ञा 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' (योगसूत्र, 1.49)= भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेषरूप अर्थविषयक होने से श्रुत=वेद-शास्त्रजन्य प्रज्ञा तथा अनुमानजन्य प्रज्ञा से भिन्न विषयक है । श्रुतरूप जो आगम-प्रमाणजन्य विज्ञान है वह सामान्यविषयक ही होता है, विशेषविषयक नहीं, क्योंकि आगमरूप प्रमाण से प्रकृति, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुष-गत अपरोक्षरूप विशेष अर्थ का कथन करना शक्य नहीं है । आगम प्रमाण से उक्त प्रकृत्यादिगत विशेष अर्थ का ज्ञान क्यों शक्य नहीं है ? इस कारण से शक्य नहीं है कि किसी भी शब्द की संगति का ग्रहण विशेष के साथ नहीं हो सकता । शास्त्र जिस वस्तु के साथ शब्द का संकेत करता है, उस वस्तु को वह शब्द सामान्यरूप से ही बोधन करता है, न कि विशेषरूप से । जैसे-- गो, वृक्षादि शब्दों के श्रवण से गो, वृक्षादि का सामान्य ज्ञान होता है, व्यक्तिविशेष गो, वृक्षादि का विशेष ज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार अनुमान प्रमाण भी सामान्यविषयक ही होता है, विशेषविषयक नहीं; क्योंकि किसी भी लिङ्ग की व्याति का ग्रहण विशेष के साथ नहीं हो सकता । अत: श्रुत=आगम और अनुमान का विषय विशेष कुछ नहीं है किन्तु इन दोनों का विषय सामान्य ही है ।

यदि कहें कि आगम तथा अनुमान उक्त सम्बन्धग्रह सापेक्ष होने से सामान्यविषयक भले हों, किन्तु इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष तो विशेषविषयक है । तो इसका उत्तर यह है कि इस सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु का इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष से ग्रहण=ज्ञान नहीं होता है । अर्थात् जैसे निर्विचारा-समापत्तिजन्य ऋतंभरा प्रज्ञा प्रकृतिगत, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेषरूप अर्थ का साक्षात्कार करती है, वैसे इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष प्रज्ञा उक्त प्रकृत्यादिगत विशेषरूप अर्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकती है । अतएव यह ऋतंभरा प्रज्ञा श्रुत, अनुमान और इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष से अन्य और उत्कृष्ट है ।

यदि कहें कि उक्त प्रकृतिगत, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेष उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय न होने से पदार्थ ही नहीं हैं, तो इसका उत्तर है कि उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविषय होने पर भी उक्त प्रकृत्यादिगत विशेष का अभाव नहीं है, किन्तु वह विशेष-- चाहे परमाणु आदि भूतसूक्ष्मगत हो अथवा पुरुषगत हो-- समाधिजन्य ऋतंभरा प्रज्ञा से ग्राह्य ही होता है । अत: निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्य से समुत्पन्न, श्रुत और अनुमान से विलक्षण; सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट सभी विशेषों को विषय करने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा के लिए ही योगी को महान् प्रयत्न करना चाहिए-- यह निष्कर्ष है[26] ।

26. भाव यह है कि पदार्थ के दो रूप होते हैं – सामान्य और विशेष । 'सामान्य' वह है जो उस प्रकार के सभी पदार्थों में पाया जाता है, और 'विशेष' वह है जो प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना रूप है जिससे एक ही प्रकार के पदार्थों में भी एकदूसरे से भेद हो सकता है । श्रुत = आगम-शास्त्रजन्य ज्ञान वस्तु के सामान्यरूप को

किं तु समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा । तस्मान्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवायां श्रुतानुमानविलक्षणायां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टसर्वविशेषविषयायामृतंभरायामेव प्रज्ञायां योगिना महान्प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः ।

42 **ननु क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यव्युत्थानसंस्काराणामेकाग्रतायामपि सवितर्कनिर्वितर्कसविचारजानां संस्काराणां सद्भावात्तैश्चाल्यमानस्य चित्तस्य कथं निर्विचारवैशारद्यपूर्वकाध्यात्मप्रसादलभ्यर्तंभरा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्यादत आह -- 'तज्ज: संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' (पा० द० 1.50) तयर्तम्भरया प्रज्ञया जनितो य: संस्कार: स तत्त्वविषयया प्रज्ञया जनितत्वेन बलवत्त्वादन्यान्व्यु-**

42 यदि शङ्का करें कि 'क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त संज्ञक व्युत्थान के संस्कारों की एकाग्रता होने पर भी सवितर्क, निर्वितर्क और सविचार समाधिजनित संस्कारों के रहने से उनसे चंचल हुए चित्त में निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्य से होने वाले अध्यात्मप्रसाद से प्राप्त होनेवाली ऋतंभरा प्रज्ञा किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकती है ?' -- तो कहते हैं -- 'तज्ज: संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' (योगसूत्र, 1.50)= 'ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सभी व्युत्थान के संस्कारों का प्रतिबन्धक[27] = बाधक (रोकने वाला) होता है ।' उस ऋतंभरा प्रज्ञा से जनित जो संस्कार होता है वह तत्त्वविषयिणी प्रज्ञा से जनित होने के कारण अधिक बलवान् होने से अन्य व्युत्थानजनित और समाधिजनित संस्कारों को, जो तत्त्वविषयिणी प्रज्ञा से जनित न होने के कारण दुर्बल होते हैं, प्रतिबद्ध अर्थात् अपना कार्य करने में असमर्थ कर देता है या नष्ट कर देता है[28] । उन व्युत्थान संस्कारों के अभिभव=तिरस्कृत होने से उनसे उत्पन्न होने वाली जो प्रमाण, विपर्यय आदि चित्तवृत्तियाँ (प्रत्यय) थीं वे उत्पन्न नहीं होने पाती हैं, किन्तु निरुद्ध हो जाती हैं । चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर निर्विचार-समाधि उपस्थित हो जाती है । समाधि प्राप्त होने के पश्चात् निर्विचार--समाधि से जन्य ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होती है । ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होने के पश्चात् ऋतंभरा प्रज्ञा से जन्य संस्कार प्राप्त होते हैं । इस प्रकार नवीन-नवीन संस्काररूप

ही विषय करता है, विशेष को नहीं, क्योंकि विशेष के साथ शब्द का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नहीं होता है । शास्त्र ने जिस वस्तु के साथ शब्द का संकेत किया है, उस वस्तु को वह शब्द सामान्यरूप से ही बोधन करता है, न कि विशेषरूप से । जैसे-- गो, अश्व आदि शब्दों के श्रवण से गो, अश्व आदि का सामान्य ज्ञान होता है, व्यक्तिविशेष गो, अश्व आदि का विशेष ज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार अनुमान-प्रमाण भी सामान्यरूप से वस्तु का ज्ञान उत्पन्न कराता है, विशेषरूप से नहीं, क्योंकि अनुमान में लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान होता है, जहाँ लिङ्ग की प्राप्ति नहीं होगी वहाँ अनुमान नहीं हो सकता, जैसे-- 'जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है, जहाँ प्राप्ति है वहाँ गति है; जहाँ गति का अभाव है वहाँ प्राप्ति का अभाव है' । मात्र प्रत्यक्षप्रमाण ही वस्तु के विशेषरूप को दिखलाने में समर्थ होता है; किन्तु इन्द्रिय-जन्य लोक-प्रत्यक्ष-ज्ञान भी स्थूल वस्तुओं के प्रत्यक्षरूप को दिखला सकता है, न कि सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों को । पञ्च तन्मात्राएँ, अहंकार, महतत्त्व, प्रकृति, पुरुष आदि सूक्ष्म पदार्थों में प्रत्यक्ष की भी पहुँच नहीं है । निर्विचारा समापत्ति की विशारदता = प्रवीणता = निर्मलता में समुत्पन्न ऋतंभरा प्रज्ञा से ही इन सूक्ष्म पदार्थों के विशेषरूप का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं । अतएव यह ऋतंभरा प्रज्ञा विशेषविषयक होने से श्रुत- अनुमान प्रज्ञा से अन्य है । यह उत्तम योग है । यही परम प्रत्यक्ष है । यह श्रुत और अनुमान की बीज है । इस ऋतंभरा प्रज्ञा के लिए ही योगी को महान् यत्न करना चाहिए ।

27. प्रतिबन्ध= सम्पूर्ण कार्य-सामग्री रहने पर जिसके कारण से कार्य नहीं होता वह 'प्रतिबन्ध' कहा जाता है ।
28. प्रकृत में 'प्रतिबन्ध' के सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के अभिप्राय से दो अर्थ प्रस्तुत किये गये हैं – प्रतिबध्नाति= स्वकार्याक्षमान्करोति नाशयतीति वा । प्रथम अर्थ सत्कार्यवाद के अभिप्राय से कहा गया है, क्योंकि सत्कार्यवाद में वस्तु का अत्यन्त नाश नहीं होता किन्तु स्वकारण में लीन होने से 'स्वकार्याक्षम' होता है । द्वितीय अर्थ असत्कार्यवाद के अभिप्राय से कहा है, क्योंकि असत्कार्यवाद में नवीन वस्तु उत्पन्न होती है तो पूर्व का सर्वथा विनाश हो जाता है ।

त्थानजान्समाधिजांश्च संस्कारानतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितत्वेन दुर्बलान्प्रतिबध्नाति स्वकार्याक्षमान्करोति नाशयतीति वा । तेषां संस्काराणामभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । ततः समाधिरुपतिष्ठते । ततः समाधिजा प्रज्ञा । ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो वर्धते । ततश्च प्रज्ञा । ततश्च संस्कारा इति ।

43 ननु भवतु व्युत्थानसंस्काराणामतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितानां तत्त्वमात्रविषयसंप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञाप्रभवैः संस्कारैः प्रतिबन्धस्तेषां तु संस्काराणां प्रतिबन्धकाभावादेकाग्रभूमावेव सबीजः समाधिः स्यान्न तु निर्बीजो निरोधभूमाविति तत्राऽऽह -- 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (पा० द० 1.51) तस्य संप्रज्ञातस्य समाधेरेकाग्रभूमिजस्य, अपिशब्दात्क्षिप्तमूढविक्षिप्तानामपि निरोधे योगिप्रयत्नविशेषेण विलये सति सर्वनिरोधात्समाधेः समाधिजस्य संस्कारस्यापि निरोधान्निर्बीजो निरालम्बनोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्भवति । स च सोपायः प्राक्सूत्रितः 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पा० द० 1.18) इति । विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कविचारानन्दास्मितादिरूपचिन्तात्यागः । तस्य प्रत्ययः कारणं परं वैराग्यमिति यावत् । विरामश्चासौ प्रत्ययश्चित्तवृत्तिविशेष इति वा । तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनं, तदेव पूर्वं कारणं यस्य स तथा संस्कारमात्रशेषः सर्वथा निर्वृत्तिकोऽन्यः पूर्वोक्तात्सबीजाद्विलक्षणो निर्बीजोऽसंप्रज्ञातसमाधिरित्यर्थः । संप्रज्ञातस्य हि समाधेर्द्वावुपायावुक्तावभ्यासो वैराग्यं च । तत्र

वासना की वृद्धि होती रहती है । और उस समाधिसंस्कार से ऋतंभरा प्रज्ञा तथा ऋतंभरा प्रज्ञा से समाधि-संस्कार-- इस प्रकार संस्कार और प्रज्ञा का चक्र चलता रहता है अर्थात् प्रतिदिन प्रज्ञा से संस्कार तथा संस्कार से प्रज्ञा का उदय होता रहता है ।

43 यदि कोई कहे कि 'तत्त्व को विषय न करने वाली प्रज्ञा से जनित व्युत्थान संस्कारों का तत्त्वमात्र को विषय करनेवाली संप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों से प्रतिबन्ध भले ही हो जाय, किन्तु उन सम्प्रज्ञातसमाधिप्रज्ञाजनित संस्कारों का कोई प्रतिबन्धक न होने से एकाग्रभूमि में ही सबीज समाधि होगी, निरुद्धभूमि में निर्बीज समाधि नहीं होगी', तो सूत्रकार कहते हैं -- 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (योगसूत्र, 1.51) = 'परवैराग्य के अभ्यास से प्रज्ञा तथा प्रज्ञाजन्य संस्कार -- इन दोनों का निरोध होने पर नूतन तथा पुरातन सब संस्कारों का निरोध होने से जो समाधि प्राप्त होती है वह निर्बीज समाधि कही जाती है' । अर्थात् एकाग्रभूमिजन्य सम्प्रज्ञात समाधि का और 'अपि' शब्द से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों का भी निरोध होने पर = योगी के प्रयत्नविशेष से एकाग्रभूमिजन्य सम्प्रज्ञात समाधि का तथा 'अपि' शब्द से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों का भी विलय होने पर सबका निरोध होने से = समाधि और समाधिजन्य संस्कार का भी निरोध होने से जो समाधि प्राप्त होती है वह निर्बीज = निरालम्बन असम्प्रज्ञात समाधि होती है । वह उसके उपाय सहित पहले ही सूत्रकार के द्वारा सूचित की गई है -- 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः[29]' (योगसूत्र, 1.18) = 'सर्ववृत्तियों के निरोध-विराम का प्रत्ययकारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः पुनः अनुष्ठानरूप अभ्यास से जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह अन्य =असम्प्रज्ञात समाधि है' । 'विरम्यतेऽनेनेति विरामः' = जिसके द्वारा विरत हुआ जाता है वह विराम अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितादिरूप चिन्ता का त्याग है, उसका जो प्रत्यय=

---

29. प्रस्तुत सूत्र में 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः', 'संस्कारशेषः' और 'अन्यः' – ये तीन पद हैं, इनमें से पहले विशेषण 'विरामप्रत्ययः' से असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय, दूसरे विशेषण 'संस्कारशेषः' से उसका लक्षण और तीसरे 'अन्यः' से लक्ष्य -- असम्प्रज्ञातसमाधि का निर्देश किया है ।

सालम्बनत्वादभ्यासस्य न निरालम्बनसमाधिहेतुत्वं घटत इति निरालम्बनं परं वैराग्यमेव हेतुत्वेनोच्यते। अभ्यासस्तु संप्रज्ञातसमाधिद्वारा प्रणाड्योपयुज्यते। तदुक्तं 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (पा० द० 3.7) धारणाध्यानसमाधिरूपं साधनत्रयं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाररूप-साधनपञ्चकापेक्षया सबीजस्य समाधेरन्तरङ्गं साधनम्। साधनकोटौ च समाधिशब्देनाभ्यास एवोच्यते। मुख्यस्य समाधेः साध्यत्वात्। 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (पा० द० 3.8) निर्बीजस्य तु समाधेस्तदपि त्रयं बहिरङ्गं परम्परयोपकारि तस्य तु परं वैराग्यमेवान्तरङ्गमित्यर्थः।

44 **अयमपि द्विविधो भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्च। 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' (पा० द० 1.19) विदेहानां सानन्दानां प्रकृतिलयानां च सास्मितानां देवानां प्राग्व्याख्यातानां जन्मविशेषादोषधि-विशेषान्मन्त्रविशेषात्तपोविशेषाद्वा यः समाधिः स भवप्रत्ययः। भवः संसार आत्मानात्म-**

कारण अर्थात् परवैराग्य है। अथवा, 'विरमश्चासौ प्रत्ययश्चित्तवृत्तिविशेष इति' = विरामरूप जो प्रत्यय = चित्तवृत्तिविशेष है -- यह अर्थ भी है। उसका अभ्यास = पुनः-पुनः चित्त में निवेशन-सन्निवेश ही है पूर्व अर्थात् कारण जिसका वह इसप्रकार संस्कारमात्रशेष सर्वथा निर्वृत्तिक-वृत्तिशून्य अन्य अर्थात् पूर्वोक्त सबीज समाधि से विलक्षण निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि के दो उपाय कहे गये हैं -- अभ्यास और वैराग्य। इनमें अभ्यास आलम्बनसहित होता है, इसलिए यह आलम्बनशून्य निर्बीज समाधि का कारण नहीं हो सकता, अतः इसके कारणरूप से आलम्बनशून्य परवैराग्य ही कहा जाता है। अभ्यास तो सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा परम्परा से इसमें उपयोगी है। कहा भी है -- 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (योगसूत्र, 3.7) = धारणा, ध्यान और समाधिरूप ये तीन साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहाररूप पाँच साधनों की अपेक्षा सबीज समाधि के अन्तरङ्ग साधन हैं। यहाँ साधनकोटि में 'समाधि' शब्द से 'अभ्यास' ही कहा जाता है, क्योंकि मुख्य समाधि तो साध्य ही है। किन्तु 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (योगसूत्र, 3.8) = 'ये धारणा, ध्यान और समाधिरूप तीनों साधन सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन होने पर भी निर्बीज समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं'। अर्थात् जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार परम्परा से उपकारक होते हुए भी समान विषय न होने से सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं, उसीप्रकार धारणा, ध्यान और समाधि परम्परा से उपकारक होते हुए भी समान विषय न होने से असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं। उसका तो अन्तरङ्ग साधन[30] पर-वैराग्य ही है।

44 यह निर्बीज समाधि भी दो प्रकार की है -- भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। इनमें 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् (योगसूत्र, 1.19) = विदेह = सानन्दसमाधिनिष्ठ और प्रकृतिलय = सास्मितसमाधि-निष्ठ देवताओं को, जिनकी पहले व्याख्या की जा चुकी है, जन्मविशेष, औषधिविशेष, मन्त्रविशेष अथवा तपविशेष से जो समाधि प्राप्त होती है वह 'भवप्रत्यय' है। भव अर्थात् आत्मा-अनात्मा के विवेक का अभावरूप संसार है प्रत्यय = कारण जिसका वह, अथवा, जो पक्षियों के आकाशगमन

30. जो साधन साध्य के समान विषयवाला होता है अथवा जिस साधन के दृढ़ होने के पश्चात् साध्य की सिद्धि अवश्य ही हो, वह अन्तरङ्ग साधन कहलाता है। धारणा, ध्यान और समाधि – ये तीनों साधन सालम्बन ध्येयरूप समान विषयवाले होते हैं और उनके दृढ़ होने पर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, इसलिए वे सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन है। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन निर्विषय होती है और धारणादि संयम के दृढ़ होने पर असम्प्रज्ञात योग अवश्य ही सिद्ध हो जाय, ऐसा भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इसलिए धारणादि निर्बीज समाधि के प्रति बहिरङ्ग साधन है। इसका अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य ही है जो निर्बीज समाधि के समान निरालम्ब और निर्विषय है और जिसके दृढ़ होने पर असम्प्रज्ञात समाधि अवश्य ही सिद्ध होती है।

विवेकाभावरूपः प्रत्ययः कारणं यस्य स तथा । जन्ममात्रहेतुको वा पक्षिणामाकाशगमनवत्, पुनः संसारहेतुत्वान्मुमुक्षुभिर्हेय इत्यर्थः । 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' (पा० द० 1.20) जन्मौषधिमन्त्रतपःसिद्धव्यतिरिक्तानामात्मानात्मविवेकदर्शिनां तु यः समाधिः स श्रद्धादिपूर्वकः । श्रद्धादयः पूर्व उपाया यस्य स तथा, उपायप्रत्यय इत्यर्थः । तेषु श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः । सा हि जननीव योगिनं पाति । ततः श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुत्साह उपजायते । समुपजातवीर्यस्य पाश्चात्त्यासु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते । तत्स्मरणाच्च चित्तमनाकुलं सत्समाधीयते । समाधिरत्रैकाग्रता । समाहितचित्तस्य प्रज्ञा भाव्यगोचरा विवेकेन जायते । तदभ्यासात्पराच्च वैराग्याद्भवत्यसंप्रज्ञातः समाधिर्मुमुक्षूणामित्यर्थः । 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इति न्यायेन तस्यामपि सर्ववृत्तिनिरोधावस्थायां चित्तपरिणामप्रवाहस्तज्जन्यसंस्कारप्रवाहश्च भवत्येवेत्यभिप्रेत्य संस्कारशेष इत्युक्तम् । तस्य च संस्कारस्य प्रयोजनमुक्तम्-- 'ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (पा० द० 3.10) इति । प्रशान्त-

के समान केवल जन्मरूप हेतु से ही सिद्ध हो जाती है वह 'भवप्रत्यय' समाधि कही जाती है । अर्थ यह है कि यह समाधि पुन: संसारप्राप्ति की हेतु होने के कारण मुमुक्षुओं के लिए हेय है । तथा 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' (योगसूत्र, 1.20) = जन्म, औषधि, मन्त्र और तप से सिद्ध योगियों के अतिरिक्त अन्य आत्मा-अनात्मा का विवेकदर्शन करनेवाले योगियों को जो समाधि प्राप्त होती है वह श्रद्धादिपूर्वक अर्थात् श्रद्धा आदि पूर्व उपाय हैं जिसके वह होती है अर्थात् वह 'उपायप्रत्यय' होती है । उनमें 'श्रद्धा'[31] योगविषय में चित्त के प्रसाद को कहते हैं । वह जननी-माता के समान योगी की रक्षा करती है । उससे श्रद्दधान = श्रद्धालु विवेकार्थी को वीर्य अर्थात् उत्साह उत्पन्न होता है । जिसमें उत्साह उत्पन्न हो गया है उस योगी को पिछली भूमिकाओं की स्मृति होती है । उन भूमिकाओं का स्मरण होने से चित्त व्याकुलता छोड़कर समाहित हो जाता है । यहाँ 'समाधि' एकाग्रता को कहा है । समाहितचित्त की प्रज्ञा विवेक के द्वारा भाव्यगोचरा हो जाती है । उसके अभ्यास और परवैराग्य के द्वारा मुमुक्षुओं को असम्प्रज्ञात समाधि होती है -- यह तात्पर्य है । 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' = 'चितिशक्ति के अतिरिक्त अन्य सब भाव = पदार्थ प्रतिक्षण परिणामी होते हैं' -- इस न्याय से उस सर्ववृत्तिनिरोधावस्था में भी चित के परिणाम का प्रवाह और तज्जन्य संस्कारों का प्रवाह चलता रहता ही है -- इस अभिप्राय से असम्प्रज्ञात समाधि को सूत्र में 'संस्कारशेषः' कहा है । उस संस्कार का प्रयोजन सूत्रकार ने कहा है -- 'ततः[32] प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (योगसूत्र, 3.10) = 'निरोधसंस्कार के अभ्यास से उस निरोध अवस्थाक चित्त की व्युत्थानसंस्काररूप मल से रहित निरोधसंस्कारपरम्परामात्रवहनशील स्थिति

31. 'श्रद्धा' योगविषयक चित्त की प्रसन्नता है, जो आगम, अनुमान तथा आचार्य-उपदेश से ज्ञात यथार्थ वस्तुविषयक इच्छाविशेष है, जिसको अभिरुचि, रति तथा उत्कटेच्छा कहते हैं । वह योगियों को ही सम्भव होती है, इन्द्रियादि अनात्म-पदार्थ में आत्माभिमानियों को सम्भव नहीं होती, क्योंकि उनकी अभिरुचि व्यामोह मूलक होने से असंप्रसादरूप होती है, सप्रंसादरूप नहीं । यदि कहें कि योगियों की अभिरुचि ही श्रद्धा क्यों कही जाती है ? तो इसका उत्तर है कि वह श्रद्धा कल्याण करने में समर्थ माता के समान योगिजन की जन्मादि अनर्थ से रक्षा करती है, अत: मोक्षहेतुक होने से योगियों की अभिरुचि ही श्रद्धा है, न कि विदेह प्रकृतिलयों की, क्योंकि अधिकार-समाप्ति के पश्चात् पुनरावृत्ति होने से उनकी श्रद्धा कल्याण का हेतु नहीं होती ।

32. यहाँ 'ततः' के स्थान पर 'तस्य' पाठ है ।

वाहिता नामावृत्तिकस्य चित्तस्य निरिन्धनाग्निवत्प्रतिलोमपरिणामेनोपशमः । यथा समिदाज्याद्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्वलति । समिदादिक्षये तु प्रथमक्षणे किंचिच्छाम्यति । उत्तरोत्तरक्षणेषु त्वधिकमधिकं शाम्यतीति क्रमेण शान्तिर्वर्धते । तथा निरुद्धचित्तस्योत्तरोत्तराधिकः प्रशमः प्रवहति । तत्र पूर्वप्रशमजनितः संस्कार एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणम् । तदा च निरिन्धनाग्निवच्चित्तं क्रमेणोपशाम्यद्व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्कारैः सह स्वस्यां प्रकृतौ लीयते । तदा च समाधिपरिपाकप्रभवेन वेदान्तवाक्यजेन सम्यग्दर्शनेनाविद्यायां निवृत्तायां तद्धेतुकदृग्दृश्यसंयोगाभावाद्वृत्तौ पञ्चविधायामपि निवृत्तायां स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुषः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते । तदुक्तं 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (पा० द० 1.3) इति । तदा सर्ववृत्तिनिरोधे । वृत्तिदशायां तु नित्यापरिणामिचैतन्यरूपत्वेन तस्य सर्वदा शुद्धत्वेऽप्यनादिना दृश्यसंयोगेनाऽऽविद्यकेनान्तःकरणतादात्म्याध्यासादन्तःकरणवृत्तिसारूप्यं प्राप्नुवन्नभोक्ताऽपि

होती है' । 'प्रशान्तवाहिता' का अर्थ है-- अवृत्तिक= वृत्तिशून्य चित्त का निरिन्धन = ईधनशून्य अग्नि के समान प्रतिलोम परिणाम से उपशम = शान्त हो जाना । जैसे – काष्ठ, घृत आदि की आहुति डालने से अग्नि उत्तरोत्तर वृद्धि से प्रज्वलित होती है और काष्ठादि का क्षय होने पर कुछ तो प्रथम क्षण में शान्त होती है तथा उत्तरोत्तर क्षणों में अधिक-अधिक शान्त होती है -- इस प्रकार अग्नि की शान्ति क्रमश: बढ़ती जाती है; इसीप्रकार निरुद्धचित्त का भी उपशम उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है । इसमें पूर्व -- प्रथम उपशम से जनित संस्कार ही उत्तरोत्तर उपशम का कारण होता है । फिर चित्त ईंधनशून्य अग्नि के समान क्रम से शान्त होता हुआ व्युत्थान समाधि और निरोधसंस्कारों के साथ अपने कारण में लीन हो जाता है । तब समाधि के परिपाक से उत्पन्न वेदान्तवाक्यजनित सम्यग्ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर तद्धेतुक = उससे होनेवाले द्रष्टा और दृश्य के संयोग के अभाव द्वारा प्रमाणादि पाँच प्रकार की वृत्तियों के भी निवृत्त हो जाने पर स्वरूप में प्रतिष्ठित-स्थित हुआ पुरुष शुद्ध, केवल और मुक्त कहा जाता है । सूत्रकार ने कहा भी है -- 'तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगसूत्र, 1.3) = 'तब = सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधिकाल में द्रष्टा = चितिशक्तिरूप पुरुष की आरोपित शान्त, घोर और मूढ़ रहित निर्विषय चैतन्यमात्र प्रकाश स्वरूप में अवस्थिति होती है' । तदा = सर्ववृत्तिनिरोधे अर्थात् समस्त वृत्तियों का निरोध होने पर । वृत्तिदशा में यद्यपि नित्य, अपरिणामी, चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा-सर्वदा शुद्ध ही रहता है तथापि अविद्याजनित अनादि दृग्-दृश्यसंयोग से अन्त:करण में तदात्माध्यासवश अन्त:करणवृत्तिसारूप्य का अनुभव करता हुआ अर्थात् अन्त:करण के धर्म को वस्तुत: आत्मधर्म मानता हुआ स्वरूप से दु:खों का अभोक्ता होने पर भी वह अध्यासरूप से दु:खों का भोक्ता हो जाता है । यह सूत्रकार ने कहा है -- 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (योगसूत्र, 1.4) = 'निरोध से भिन्न व्युत्थान काल में बुद्धि द्वारा समर्पित विषय होने से वृत्ति के स्वरूप के समान स्वरूपवाला होकर चितिशक्तिरूप पुरुष भासता है' । इतरत्र = वृत्तिप्रादुर्भावे अर्थात् वृत्तियों के उत्पन्न होने पर । इसी का विवरण सूत्रकार ने किया है -- 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' (योगसूत्र, 4.23) = 'द्रष्टा और दृश्य से उपरक्त चित्त सर्वार्थ = सारे अर्थोंवाला -- आकारवाला होता है' । द्रष्टा और दृश्य से उपरक्त चित ही विषयी और विषयरूप से भासित होनेवाला, चेतन और अचेतन स्वरूप को प्राप्त हुआ, विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक-सा और अचेतन होने-पर भी चेतन-सा -- इस प्रकार स्फटिकमणि के समान सर्वार्थ = सब अर्थोंवाला --आकारवाला कहा जाता है[33] । इस वृत्तिसारूप्य-- चित्तसारूप्य

भोक्तेव दु:खानां भवति । तदुक्तं 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (पा० द० 1.4) इतरत्र वृत्तिप्रादुर्भावे । एतदेव विवृतं 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' (पा० द० 4.23) चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयिविषयनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनमपि चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते । तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । 'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्' (पा० द० 4.24) यस्य भोगापवर्गार्थं

के कारण भ्रान्त कोई तार्किकादि उसी को = चित्त को 'चेतन' कहते हैं[34] । 'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्' (योगसूत्र, 4.24) = 'वह चित्त असंख्य वासनाओं के द्वारा चित्रित है तो भी संहत्य = विषय तथा इन्द्रियादि के साथ मिलकर कार्य करनेवाला होने से परार्थ अर्थात् अपने से अन्य जो पुरुष है उसके लिए भोग तथा मोक्ष का सम्पादन करनेवाला है । अत: जिसके भोग तथा मोक्ष का सम्पादक चित्त है वह चित्त से अतिरिक्त आत्मा अवश्य स्वीकार करने योग्य है ।' तात्पर्य यह है कि जिसके भोग और अपवर्ग के लिए चित्त है वही पर अर्थात् पुरुष असंहत -- असमुदायात्मक और चेतन है, घटादिवत् संहत्यकारि चित्त चेतन नहीं है । इसप्रकार अनेक युक्तियों से कैवल्य का मूल कारण चित्त से अतिरिक्त आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करके सम्प्रति सूत्रकार उस आत्मा के उपदेश द्वारा साक्षात्कार करने की योग्यतावाला जो अधिकारी है उसका अनधिकारी की अपेक्षा विशेषरूप से प्रतिपादन करते हैं -- 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः' (योगसूत्र, 4.25) = 'विशेषदर्शी उपदेश के अधिकारी पुरुष की अर्थात् चित्त से अतिरिक्त आत्मा के साक्षात्कार करनेवाले योगी पुरुष की जो आत्मभाव-भावना है वह निवृत्त हो जाती है । अर्थात् पूर्वजन्म में 'मैं कौन था, कहाँ था, किस प्रकार से स्थित था, तथा वर्तमान में मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है और यह जो मेरा शरीर है वह भूतों का कार्य है अथवा भूतों का समूह है या भूतों से भिन्न है, एवं भविष्य में मैं क्या होऊँगा, कौन होऊँगा और किस प्रकार होऊँगा' -- इसप्रकार का जो विचार है वह 'आत्मभावभावना' कहा जाता है और यह भावना जीवात्मा में अनादि काल से होती चली आती है, परन्तु जब यह आत्मा विशेषदर्शी हो जाती है तब निवृत्त हो जाती है' । इसप्रकार जो अन्त:करण और पुरुष का विशेषदर्शी = विशेष-भेद देखनेवाला है उसकी पहले अविवेक के कारण

33. जिस प्रकार एक स्फटिक-मणि के समीप एक नीला पुष्प और एक लाल पुष्प रख दें तो वह एक स्फटिक-मणि ही नीले पुष्प और लाल पुष्प के प्रतिबिम्ब से और तीसरे निज रूप से तीन रूपवाला प्रतीत होता है, इसीप्रकार एक ही चित्त विषय और पुरुष के प्रतिबिम्ब से और तीसरे अपने रूप से ग्राह्य, गृहीता और ग्रहणस्वरूप होकर तीन रूपवाला हो जाता है अर्थात् अपने रूप से ग्रहणाकार, विषय के प्रतिबिम्ब से ग्राह्याकार और पुरुष के प्रतिबिम्ब से ग्राहकाकार होने से चित्त ' सर्वार्थ' है ।

34. चित्त की सर्वार्थता के ही कारण किन्हीं-किन्हीं अभ्यासियों को चित्त को पुरुष के प्रतिबिम्ब से भासते हुए उसके गृहीत्राकार स्वरूप को देखकर यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि चित्त के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष = आत्मा नहीं है तथा उसके दृश्य के प्रतिबिम्ब से भासते हुए ग्राह्याकार स्वरूप को देखकर किसी-किसी को यह भ्रम होता है कि चित्त से भिन्न कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है । जैसा कि 'विज्ञानवाद' के अनुसार कहा गया है – 'चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है । चित्त के अतिरिक्त अन्य वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका विनाश होता है । चित्त ही एकमात्र तत्त्व है । बाह्य दृश्य जगत् कदापि विद्यमान नहीं है । चित्त एकाकार है, किन्तु वही इस जगत् में विचित्र रूप से दिखाई देता है । कभी वह देह के रूप में और कभी भोग – वस्तुओं के उपभोग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, अत: चित्त ही वास्तव में सत्ता है । जगत् उसी का परिणाम है । चित्त ही द्विविध रूप से प्रतीयमान होता है -- ग्राह्य-विषय और ग्राहक-विषयी । भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति ही अभिन्न बुद्धि -- चित्त में ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहण – इस त्रिपुटी की कल्पना कर उसको भेदवान् बनाता है (लंकावतार सूत्र, 3.63-65 + अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।। ') ।

तत्स एव परश्चेतनोऽसंहतः पुरुषो न तु घटादिवत्संहत्यकारि चित्तं चेतनमित्यर्थः । एवं च 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः' (पा० सू० 4.25) एवं योऽन्तःकरणपुरुषयोर्विशेषदर्शी तस्य याऽन्तःकरणे प्रागविवेकवशादात्मभावभावनाऽऽसीत्सा निवर्तते, भेददर्शने सत्यभेदभ्रमानुपपत्तेः ।

45 सत्त्वपुरुषयोर्विशेषदर्शनं च भगवदर्पितनिष्कामकर्मसाध्यं,तल्लिङ्गं च योगभाष्ये दर्शितम् -- यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन सिद्धान्तरुचिवशाद्यस्य लोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गमार्गीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते । यस्य तु तादृशं कर्मबीजं नास्ति तस्य मोक्षमार्गश्रवणे पूर्वपक्षयुक्तिषु रुचिर्भवत्यरुचिश्च सिद्धान्तयुक्तिषु । तस्य कोऽहमासं कथमहमासमित्यादिरात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते । सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तत इति। एवं सति किं स्यादिति तदाह -- 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' (पा० द० 4.26) निम्नं जलप्रवहणयोग्यो नीचदेशः । प्राग्भारस्तदयोग्य उच्चप्रदेशः । चित्तं च सर्वदा प्रवर्तमानवृत्तिप्रवाहेण प्रवहज्जलतुल्यं, तत्प्रागात्मानात्माविवेकरूपविमार्गवाहिविषयभोगपर्यन्तमस्याऽऽसीत् । अधुना त्वात्मानात्मविवेकमार्गवाहिकैवल्यपर्यन्तं संपद्यत इति । अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायास्ते सहेतुका निवर्तनीया इत्याह सूत्राभ्यां

जो अन्तःकरण में आत्मभावभावना थी वह निवृत्त हो जाती है, क्योंकि भेद का ज्ञान होने से अभेद का भ्रम नहीं होता है ।

45 यह सत्त्व और पुरुष का जो विशेषदर्शन-भेददर्शन-भेदज्ञान है वह भगवच्चरणारविन्द में समर्पित निष्काम कर्म से सिद्ध होता है । इसका लिङ्ग योगभाष्य में इस प्रकार दिखाया गया है -- जैसे वर्षा ऋतु में तृण-घास के अङ्कुर फूट आने से उसके बीज की सत्ता का अनुमान होता है; वैसे ही मोक्ष के मार्ग का श्रवण करने से सिद्धान्त में रुचि होने के कारण जिसके शरीर तथा नेत्र में रोमहर्ष तथा अश्रुपात देखे जाते हैं, उस पुरुष में भी सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विशेषदर्शन-भेदज्ञान-तत्त्वज्ञान का कारण, अपवर्गमार्गीय-अपवर्गभागीय-मोक्ष का भागी, कर्म से अभिनिर्वर्तित-सम्पादित है -- इस प्रकार का अनुमान होता है । जिसमें ऐसा कर्मबीज = कर्मरूप बीज-कारण नहीं होता है उसकी मोक्ष के मार्ग का श्रवण करने पर पूर्वपक्ष की युक्तियों में रुचि होती है और सिद्धान्तपक्ष की युक्तियों में अरुचि होती है । उस विशेषदर्शी में 'मैं कौन था ? किस प्रकार था ?' -- इत्यादि स्वाभाविकी आत्मभाव-भावना प्रवृत्त होती है । किन्तु विशेषदर्शी की ऐसी भावना निवृत्त हो जाती है । ऐसा होने पर क्या होता है -- यह सूत्रकार कहते हैं -- 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' = 'तदा = विशेषदर्शन अवस्था में अर्थात् विवेकख्याति के उदयकाल में विवेकज्ञाननिष्ठ योगी का चित्त विवेकमार्ग में सञ्चार करनेवाला तथा कैवल्य के अभिमुख हो जाता है अर्थात् विवेकरूप मार्ग की ओर प्रवाहित होता हुआ कैवल्यपर्यन्त विश्रान्तिवाला हो जाता है ।' जल के प्रवाह के योग्य नीचे देश को 'निम्न' कहते हैं । जल के प्रवाह के अयोग्य ऊँचे देश को 'प्राग्भार' कहते हैं । 'चित्त' सदा-सर्वदा प्रवर्तमान वृत्तिप्रवाह के कारण बहते हुए जल के समान है । यह पहले विषयों के भोगपर्यन्त आत्मा-अनात्मा के अविवेकरूप विमार्ग -- विपरीत मार्ग की ओर बहनेवाला था । अब यह कैवल्यपर्यन्त आत्मा-अनात्मा के विवेकरूप मार्ग में बहनेवाला हो जाता है । इस विवेकवाही चित्त में जो अन्तराय-विघ्न हैं वे सहेतुक निवर्तनीय हैं-- यह दो सूत्रों

'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्य', 'हानमेषां क्लेशवदुक्तं' (पा० द० 4.27-28) तस्मिन्विवेकवाहिनि चित्ते छिद्रेष्वन्तरालेषु प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाण्यहं ममेत्येवंरूपाणि व्युत्थानानुभवजेभ्य: संस्कारेभ्य: क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रादुर्भवन्ति। एषां च संस्काराणां क्लेशानामिव हानमुक्तं, यथा क्लेशा अविद्यादयो ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं प्राप्नुवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावा: संस्कारा: प्रत्ययान्तराणि न प्ररोढुमर्हन्ति । ज्ञानाग्निसंस्कारास्तु यावच्चित्तमनुशेरत इति । एवं च प्रत्ययान्तरानुदयेन विवेकवाहिनि चित्ते स्थिरीभूते सति 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ: समाधि:' (पा० द० 4.29) प्रसंख्यानं सत्त्वपुरुषान्यताख्याति: शुद्धात्मज्ञानमिति यावत् । तत्र बुद्धे: सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य सर्वेषां गुणपरिणामानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वाधिष्ठातृत्वं तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वं च विशोका नाम सिद्धि: फलं तद्वैराग्याच्च कैवल्यमुक्तं 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' (पा० द० 3.49) 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (पा० द० 3.50) इति सूत्राभ्यां, तदेतदुच्यते तस्मिन्प्रसंख्याने सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सो: प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारैर्विवेकख्याते: परिपोषाद्धर्ममेघ: समाधिर्भवति।

से सूत्रकार कहते हैं -- 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्य:' (योगसूत्र, 4.27) तथा 'हानमेषां क्लेशवदुक्तम्' (योगसूत्र, 4.28) = 'उस विवेकवाही चित्त में छिद्रेषु = अन्तरालेषु अर्थात् अन्तरालों में -- बीच-बीच में क्षीण होते हुए भी व्युत्थानानुभवजनित संस्कारों से 'अहम्-मम' -- इस प्रकार के व्युत्थानरूप अन्यान्य प्रत्यय होते रहते हैं । इन संस्कारों का हान-नाश अविद्यादि क्लेशों के हान-नाश के समान कहा है । जैसे अविद्यादि क्लेश ज्ञानाग्नि से दग्धबीजभाव होने पर चित्तरूप भूमि में पुन: अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं, वैसे ही ज्ञानाग्नि से दग्धबीजभाव को प्राप्त हुए जो पूर्व के व्युत्थानसंस्कार होते हैं वे संस्कार अन्य प्रत्ययों को उत्पन्न करनेवाले नहीं होते हैं । ज्ञानाग्नि के संस्कार तो चित्त की स्थितिपर्यन्त उसमें रहते ही हैं । इस प्रकार अन्य प्रत्ययों का उदय नहीं होने से विवेकवाही चित्त के स्थिर होने पर -- 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ: समाधि:' (योगसूत्र, 4.29) = 'विवेकज्ञानाभ्यासरूप प्रसंख्यान में भी सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि सिद्धिरूप फल की इच्छा के अभाववाले योगी को सर्वथा -- निरन्तर विवेकख्याति- विवेकज्ञान की प्राप्ति होने से धर्ममेघ समाधि का लाभ होता है ।' सत्त्व-चित्त और पुरुष के पार्थक्यज्ञान अर्थात् शुद्ध आत्म-ज्ञान को 'प्रसंख्यान' कहते हैं । इसमें बुद्धि के सात्त्विक परिणाम में संयम करने वाले योगी को स्वामी के समान समस्त गुणपरिणामों का पराभव और सर्वाधिष्ठातृत्व[35] प्राप्त होता है तथा शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मीरूप से स्थित उन गुणपरिणामों का यथावत् विवेकज्ञान और सर्वज्ञातृत्व [36] प्राप्त होता है । यह सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्वरूप फल विशोका नामक सिद्धि कहा जाता है । तथा च विवेकख्याति की निष्ठा से विवेकख्याति तथा तज्जन्य सिद्धि-विषयक परवैराग्य प्राप्त होने से परवैराग्य-जन्य असम्प्रज्ञात-

35. सर्वाधिष्ठातृत्व- सर्वभावाधिष्ठातृत्व = गुणों का कर्तृत्व-अभिमान शिथिल होने पर उनके सब परिणामों और भावों को पुरुष के प्रति स्वामी के समान वर्तना है ।

36. सर्वज्ञातृत्व = वे गुण जो अतीत, अनागत और वर्तमान काल में धर्मीभाव से अवस्थित रहते हैं, उनका यथार्थ विवेकपूर्ण ज्ञान 'सर्वज्ञातृत्व' कहलाता है ।

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ॥' इति स्मृतेः ।

धर्मं प्रत्यग्ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघस्तत्त्वसाक्षात्कारहेतुरित्यर्थः । 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' ततो धर्ममेघात्समाधेर्धर्माद्वा क्लेशानां पञ्चविधानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां कर्मणां च कृष्णशुक्लकृष्णशुक्लभेदेन त्रिविधानामविद्यामूलानामविद्याक्षये बीजक्षयादात्यन्तिकी निवृत्तिः कैवल्यं भवति । कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्तेरात्यन्तिक्या उचितत्वादित्यर्थः ।

46 **एवं स्थिते 'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानम्' इत्यनेन संप्रज्ञातः समाधिरेकाग्रभूमावुक्तः । नियतमानस इत्यनेन तत्फलभूतोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्निरोधभूमावुक्तः । शान्तिमिति निरोधसमाधिजसंस्कारफलभूता प्रशान्तवाहिता । निर्वाणपरमामिति धर्ममेघस्य समाधेस्तत्त्वज्ञानद्वारा कैवल्यहेतुत्वं, मत्संस्थामित्यनेनौपनिषदाभिमतं कैवल्यं दर्शितम् । यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्मात्तं महता प्रयत्नेन संपादयेदित्यभिप्रायः ॥ 15 ॥**

समाधि द्वारा रागादि दोषों का बीज जो अविद्या है उसका क्षय होने पर पुरुष-आत्मा को केवल उक्त सिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु आत्यन्तिक दु:खनिवृत्तिरूप तथा स्वरूपप्रतिष्ठारूप एतदुभयात्मक कैवल्य प्राप्त होता है -- यह दो सूत्रों से कहा है -- 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' (योगसूत्र, 3.49)तथा 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (योगसूत्र, 3.50) = 'सत्त्व-प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञाननिष्ठ चित्तवाले योगी को सर्व पदार्थों के अधिष्ठातृत्व का और सर्व पदार्थों के यथार्थ ज्ञातृत्व का लाभ होता है' तथा 'उस विवेकख्याति के वैराग्य से भी दोषों के बीज का क्षय होने पर कैवल्य होता है' । इसी से यह कहा गया है -- उस प्रसंख्यान के होने पर भी जो अकुसीद = उसके फल की इच्छावाला नहीं है उसको अन्य प्रत्ययों का उदय न होने पर सब प्रकार से विवेकख्याति की पुष्टि हो जाने से धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है । 'यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय और कर्म -- इस सबकी अपेक्षा योग के द्वारा आत्मदर्शन = आत्मसाक्षात्कार करना ही परम -- श्रेष्ठ धर्म है' -- इस स्मृति के अनुसार जो प्रत्यगात्मा और ब्रह्म के ऐक्य -- एकतारूप साक्षात्कार = धर्म का मेहन- सिंचन करता है वह 'धर्ममेघ' है । वह 'धर्ममेघ' तत्त्वसाक्षात्कार का कारण है । एतदुभयात्मक 'धर्ममेघसमाधि' है -- यह अर्थ है । धर्ममेघ समाधि का फल कहते हैं -- 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' (योगसूत्र, 4.30) = 'उस धर्ममेघ समाधि के लाभ से अविद्यादि क्लेश तथा शुक्लादि कर्म की निवृत्ति होती है ।' उस धर्ममेघ समाधि से या धर्म से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच क्लेशों की तथा कृष्ण, शुक्ल और कृष्णशुल्क भेद से तीन प्रकार के अविद्यामूलक कर्मों की -- अविद्या के क्षय से उनके बीज का क्षय हो जाने के कारण -- आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् कैवल्य-मुक्ति हो जाती है, क्योंकि कारण की निवृत्ति से कार्य की आत्यन्तिकी निवृत्ति होना उचित ही है -- यह तात्पर्य है ।

46 ऐसा स्थित -- निश्चित होने पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृत श्लोक के 'युञ्जनेवं सदाऽऽत्मानम्' = 'इस प्रकार आत्मा को सदा-निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ', -- इस वाक्य से एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञात समाधि कही गई है । 'नियतमानसः' = 'संयत मनवाला योगी ' -- इस शब्द से निरोधभूमि में सम्प्रज्ञात समाधि की फलभूता असम्प्रज्ञात समाधि कही गई है । 'शान्तिम्' -- इस विशेषण से निरोधसमाधिजनित संस्कारों की फलभूता प्रशान्तवाहिता स्थिति कही गयी है ।

47 **एवं योगाभ्यासनिष्ठस्याऽऽहारादिनियममाह द्वाभ्याम् --**

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ 16 ॥

48 **यद्भुक्तं सज्जीर्यति शरीरस्य च कार्यक्षमतां संपादयति तदात्मसंमितमन्नं तदतिक्रम्य लोभेनाधिकमश्नतो न योगोऽस्ति अजीर्णदोषेण व्याधिपीडितत्वात् । न चैकान्तमनश्नतो योगोऽस्ति अनाहारादत्यल्पाहाराद्वा रसपोषणाभावेन शरीरस्य कार्याक्षमत्वात् 'यदु ह वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति' इति शतपथश्रुतेः । तस्माद्योगी नाऽऽत्मसंमितादन्नादधिकं न्यूनं वाऽश्नीयादित्यर्थः ।**

49 **अथवा --**

'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु ।
वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

इत्यादियोगशास्त्रोक्तपरिमाणादधिकं न्यूनं वाऽश्नतो योगो न संपद्यत इत्यर्थः । तथाऽतिनिद्राशीलस्यातिजाग्रतश्च योगो नैवास्ति हेऽर्जुन सावधानो भवेत्यभिप्रायः । एकश्चकार उक्ताहारातिक्रमसमुच्चयार्थः । अपरोऽत्रानुक्तदोषसमुच्चयार्थः । यथा मार्कण्डेयपुराणे--

---

'निर्वाणपरमाम्' = 'अविद्या की निवृत्ति में पर्यवसित होने वाली' इस शब्द से धर्ममेघ समाधि की तत्त्वज्ञान द्वारा कैवल्य-मोक्ष में हेतुता स्पष्ट की गई है । 'मत्संस्थाम्' = 'मेरे स्वरूप में स्थित' -- इस शब्द से औपनिषदाभिमत कैवल्य प्रदर्शित किया है । क्योंकि इसप्रकार योग का महाफल है इसलिए महान् प्रयत्न से उस योग का सम्पादन करना चाहिए -- यह भगवान् का अभिप्राय है ॥ 15 ॥

47 अब दो श्लोकों से इसीप्रकार योगाभ्यासपरायण पुरुष के लिए आहारादि का नियम कहते हैं :-- [हे अर्जुन ! यह योग न तो अधिक भोजन करनेवाले से सिद्ध होता है और न बिलकुल न खानेवाले से सिद्ध होता है । इसीप्रकार यह योग न तो अधिक सोनेवाले से सिद्ध होता है और न अधिक जागनेवाले से ही सिद्ध होता है ॥ 16 ॥]

48 जो भुक्त -- खाया हुआ अन्न अच्छी तरह पच जाता है और शरीर को स्वकार्य करने में समर्थ करता है वह अन्न 'आत्मसम्मित' होता है । उसका उल्लंघन करके लोभ से -- तृष्णा से अधिक भोजन करनेवाले को योग सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि वह तो अजीर्णरूप दोष के कारण व्याधियों से पीड़ित रहता है । न सर्वथा न खानेवाले को ही योग सिद्ध होता है, क्योंकि अनाहार -- न खाने अथवा अत्यल्पाहार -- बहुत कम खाने से रसपोषण न होने के कारण शरीर स्वकार्य करने में समर्थ नहीं होता है । जैसा कि शतपथश्रुति कहती है -- 'जो अन्न आत्मसम्मित होता है वही रक्षा करता है, वह मारता नहीं है, जो अधिक होता है वह मारता है और जो कम होता है वह रक्षा नहीं करता है' । इसलिए योगी को आत्मसम्मित = अपनी आवश्यकता पूर्ति करनेवाले अन्न से अधिक अथवा न्यून अन्न नहीं खाना चाहिए -- यह तात्पर्य है ।

49 अथवा, 'उदर के आधे भाग को अन्न से पूर्ण करे, तीसरे चौथाई को जल से भरे और चौथे भाग को वायु के संचार के लिए खाली रखे' -- इत्यादि योगशास्त्रोक्त परिमाण से अधिक अथवा न्यून भोजन करनेवाले से योग सम्पन्न नहीं होता है -- यह तात्पर्य है । इसीप्रकार अधिक सोनेवाले और अधिक जागनेवाले से योग सम्पन्न नहीं होता है । हे अर्जुन ! सावधान हो जाओ -- यह अभिप्राय

नाऽऽध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः ।
युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥
नातिशीते न चैवोष्णे न द्वंद्वे नानिलान्विते ।
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ॥' इत्यादि ॥ 16 ॥

50 **एवमाहारादिनियमविरहिणो योगव्यतिरेकमुक्त्वा तन्नियमवतो योगान्वयमाह --**

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ 17 ॥

51 **आह्रियत इत्याहारोऽन्नं विहरणं विहारः पादक्रमः, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य, तथाऽन्येष्वपि प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिषु कर्मसु युक्ता नियतकाला चेष्टा यस्य, तथा स्वप्नो निद्रा, अवबोधो जागरणं तौ युक्तौ नियतकालौ यस्य तस्य योगो भवतिं साधनपाटवात्समाधिः सिध्यति नान्यस्य । एवं प्रयत्नविशेषेण संपादितो योगः किंफल इति तत्राऽऽह--दुःखहेति । सर्वसंसारदुःखकारणाविद्योन्मूलनहेतुब्रह्मविद्योत्पादकत्वात्समूलसर्वदुःखनिवृत्तिहेतुरित्यर्थः । अत्राऽऽहारस्य नियतत्वम् --**

'अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु ।
वायोः संचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

है । श्लोक के उत्तरार्ध में एक चकार पूर्वोक्त आहार के अतिक्रम से समुच्चय करने के लिए है तथा दूसरा चकार यहाँ न कहे गए दोषों के समुच्चय के लिए है । जैसा कि मार्कण्डेय पुराण में कहा है -- 'हे राजेन्द्र ! योगी को आत्मा की सिद्धि के लिए अधिक भोजन करके, क्षुधित अवस्था में, श्रान्त -- थके होने पर तथा व्याकुलचित्त होने पर योग नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार ध्याननिष्ठ योगी को अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण, शीतोष्ण अर्थात् द्वन्द्व अथवा अत्यन्त वायु चलने के समय भी योग का अभ्यास नहीं करना चाहिए' इत्यादि ॥ 16 ॥

50 इसप्रकार आहारादि के नियमों से रहित योगी को योगाभाव कहकर अब उक्त नियमशील = उन नियमों वाले योगी को योग होता है, यह कहते हैं :--

[यह दु:खहा = दु:खों का नाश करनेवाला योग तो युक्त-नियमित-यथायोग आहार और विहार करनेवाले, कर्मों में यथायोग चेष्टा करनेवाले, तथा यथायोग्य सोने और जागनेवाले पुरुष से ही सिद्ध होता है ॥ 17 ॥

51 'आह्रियत इत्याहारोऽन्नम्' = जिसका आहरण-ग्रहण किया जाय वह 'आहार'[37] अर्थात् अन्न है और विहरण अर्थात् पादक्रम-पादविक्षेप 'विहार' है । आहार और विहार -- ये दोनों युक्त -- नियत परिमाण हैं जिसके उससे; तथा प्रणवजप और उपनिषत्पाठ आदि अन्य कर्मों में भी युक्त अर्थात् नियतसमय पर होती है चेष्टा जिसकी उससे; इसी प्रकार स्वप्न-निद्रा और अवबोध-जागरण -- ये दोनों युक्त -- नियतसमय से होते हैं जिसके उससे- उस पुरुष से ही योग सिद्ध होता है अर्थात्

---

37. 'आहार' शब्द का अर्थ केवल अन्न आदि का आहार-भोजन नहीं है, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वक् -- इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से जिस प्रकार रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श का आहरण -- ग्रहण किया जाता है वह भी आहार शब्द के अन्तर्गत ही है ।

इत्यादि प्रागुक्तम् । विहारस्य नियतत्वं योजनान्न परं गच्छेदित्यादि । कर्मसु चेष्टाया नियतत्वं वागादिचापलपरित्यागः । रात्रेर्विभागत्रयं कृत्वा प्रथमान्त्ययोर्जागरणं मध्ये स्वपनमिति स्वप्नावबोधयोर्नियतकालत्वम् । एवमन्येऽपि योगशास्त्रोक्ता नियमा द्रष्टव्याः ॥ 17 ॥

52 **एवमेकाग्रभूमौ संप्रज्ञातं समाधिमभिधाय निरोधभूमावसंप्रज्ञातं समाधिं वक्तुमुपक्रमते–**

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ 18 ॥

53 **यदा यस्मिन्काले परवैराग्यवशाद्विनियतं विशेषेण नियतं सर्ववृत्तिशून्यतामापादितं चित्तं विगतरजस्तमस्कमन्तःकरणसत्त्वं स्वच्छत्वात्सर्वविषयाकारग्रहणसमर्थमपि सर्वतोनिरुद्धवृत्तिकत्वादात्मन्येव प्रत्यक्चिति अनात्मानुपरक्ते वृत्तिराहित्येऽपि स्वतःसिद्धस्याऽऽत्माकारस्य वारयितुमशक्यत्वाच्चितेरेव प्राधान्याद्व्यग्भूतं सदवतिष्ठते निश्चलं भवति, तदा तस्मिन्सर्ववृत्तिनिरोधकाले**

साधन की कुशलता के कारण समाधि सिद्ध होती है, किसी अन्य से नहीं । इसप्रकार प्रयत्नविशेष से संपादित योग का क्या फल है ? इस पर कहते हैं -- 'दुःखहा' अर्थात् सम्पूर्ण संसारदुःख की कारणभूता अविद्या की निवृत्ति की हेतुभूता जो ब्रह्मविद्या है उसका उत्पादक होने से वह योग मूलसहित सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति का कारण है । यहाँ आहार की नियतता तो 'उदर का आधा भाग सव्यञ्जन अन्न से पूर्ण करे और तीसरा भाग जल से भरे तथा चौथा भाग वायु के संचार के लिए रिक्त रखे' इत्यादि वाक्यों से पूर्व में ही कही जा चुकी है; विहार की नियतता 'योजनान्न परं गच्छेत्' = 'एक योजन से अधिक न चले' इत्यादि से समझनी चाहिए । कर्मों में चेष्टा की नियतता 'वाणी आदि की चपलता का त्याग' आदि से समझी जाती है ।[38] निद्रा और जागरण की नियतकालता यह है कि रात्रि के तीन भाग करके प्रथम और अन्तिम में जागे तथा मध्य भाग में शयन करे[39] । इसीप्रकार योगशास्त्रोक्त अन्य नियमों को भी समझना चाहिए ।। 17 ।।

52 इसप्रकार एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञात समाधि को कहकर अब निरोधभूमि में असम्प्रज्ञात समाधि को कहना आरम्भ करते हैं :--

[जिस समय विनियत = विशेषरूप से नियत-संयत चित्त आत्मा में ही स्थित हो जाता है उस समय समस्त विषयों की कामनाओं से निःस्पृह -- स्पृहारहित पुरुष युक्त -- समाहित योगयुक्त कहा जाता है ।। 18 ।।]

53 यदा = यस्मिन् काले = जिस समय परवैराग्य के द्वारा विनियत = विशेषरूप से नियत संयत = समस्त वृत्तियों की शून्यता को प्राप्त चित्त अर्थात् रजोगुण-तमोगुण से रहित अन्तःकरण का सत्त्वगुण स्वच्छ होने के कारण समस्त विषयों का आकार ग्रहण करने में समर्थ होने पर भी सर्वतः निरुद्धवृत्तिक हो जाने के कारण आत्मा अर्थात् प्रत्यक् चेतन में ही, अनात्मानुपरक्त = अनात्मा में अनुपरक्त वृत्तियों का अभाव होने पर भी उनका स्वतःसिद्ध आत्माकार होना रोका न जाने से तथा चिति-चेतन

38. चेष्टा के सम्बन्ध में नियम इस प्रकार है -- वाक्यों की चपलता आदि वृथा परिश्रम का त्याग कर जो चेष्टाएँ योग के लिए अनुकूल होती है, जैसे -- जप, पूजा, शास्त्रों का पाठ आदि, वे ही नियमपूर्वक योगी को करनी चाहिए ।

39. जागृयाद् दशनाड्यस्तु निद्रा तु दशनाडिकाः ।
पश्चाज्जागरणं तद्वद् दशनाड्यस्तु योगिनः ।।

युक्तः समाहित इत्युच्यते। कः, यः सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः, निर्गता दोषदर्शनेन सर्वेभ्यो दृष्टादृष्ट-विषयेभ्यः कामेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्येति परं वैराग्यमसंप्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गं साधनमुक्तम्। तथा च व्याख्यातं प्राक्॥ 18॥

54 **समाधौ निर्वृत्तिकस्य चित्तस्योपमानमाह—**

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ 19॥

55 **दीपचलनहेतुना वातेन रहिते देशे स्थितो दीपो यथा चलनहेत्वभावान्नेङ्गते न चलति सोपमा स्मृता स दृष्टान्तश्चिन्तितो योगज्ञैः। कस्य, योगिन एकाग्रभूमौ संप्रज्ञातसमाधिमतो-ऽभ्यासपाटवाद्यतचित्तस्य निरुद्धसर्वचित्तवृत्तेरसंप्रज्ञातसमाधिरूपं योगं निरोधभूमौ युञ्जतोऽनुतिष्ठतो य आत्माऽन्तःकरणं तस्य निश्चलतया सत्त्वोद्रेकेण प्रकाशकतया च निश्चलो दीपो दृष्टान्त इत्यर्थः।**

56 **आत्मनो योगं युञ्जत इति व्याख्याने दार्ष्टान्तिकालाभः सर्वावस्थस्यापि चित्तस्य सर्वदाऽऽत्माकारतयाऽऽत्मपदवैयर्थ्यं च। न हि योगेनाऽऽत्माकारता चित्तस्य संपाद्यते, किं तु**

की ही प्रधानता होने से न्यग्भूत होकर अर्थात् अभाव को प्राप्त हुआ चित्त जब स्थित अर्थात् निश्चल हो जाता है तो उस समय समस्त वृत्तियों के निरोधकाल में यह युक्त = समाहित कहा जाता है। कौन कहा जाता है ? जो समस्त विषयों की कामनाओं से निःस्पृह है अर्थात् जिसकी दोषदर्शन के कारण दृष्ट और अदृष्ट -- सभी विषयों की कामनाओं से स्पृहा-तृष्णा निकल गई है वह पुरुष युक्त-समाहित कहा जाता है -- इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधनरूप परवैराग्य कहा गया है। ऐसी ही पहले व्याख्या की गई है॥ 18॥

54 समाधि में निर्वृत्तिक चित्त की उपमा कहते हैं :--
[जिस प्रकार निवात -- वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता है, वैसे ही उपमा आत्मा-परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के यत-संयत जीते चित्त की कही गई है॥ 19॥]

55 दीपक के चलन-प्रकंपन के हेतुभूत वायु से रहित देश में स्थित दीपक जैसे चलन -- प्रकंपन के हेतु-कारण का अभाव होने से नहीं चलता, वही उपमा-दृष्टान्त योगवेत्ताओं ने कहा है। किसका ? योगी का -- एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञात-समाधिवाले का, जिसने अभ्यास के पाटव-कौशल से चित्त को संयत कर लिया है = सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का निरोध कर लिया है तथा जो निरोधभूमि में असम्प्रज्ञात समाधिरूप योग का अनुष्ठान-अभ्यास कर रहा है उस योगी का जो आत्मा-अन्तःकरण है उसका निश्चलता और सत्त्वोद्रेक के कारण प्रकाशकता होने से यह निश्चल दीपक दृष्टान्त है -- यह अर्थ है।

56 यदि 'आत्मनो योगं युञ्जत इति' = 'आत्मा का योग करने वाले' -- ऐसी इसकी व्याख्या करें तो कोई दार्ष्टान्तिक नहीं मिलता है और सभी अवस्थाओंवाले चित्त की सर्वदा आत्माकारता ही रहने से 'आत्मा' पद व्यर्थ हो जाता है। कारण कि चित्त की आत्माकारता योग से सम्पादित नहीं होती, किन्तु स्वतः आत्माकार रहते हुए ही उसकी अनात्माकारता निवृत होती है। अतः दार्ष्टान्तिक का प्रतिपादन करने के लिए ही 'आत्मनः' पद का प्रयोग है[40]। 'यतचित्तस्य'-- यह भावपरक निर्देश

स्वत एवाऽऽत्माकारस्य सतोऽनात्माकारता निवर्त्यत इति । तस्माद्दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमेवाऽऽत्मपदम् । यतचित्तस्येति भावपरो निर्देशः कर्मधारयो वा यतस्य चित्तस्येत्यर्थः ॥ 19 ॥

57 **एवं सामान्येन समाधिमुक्त्वा निरोधसमाधिं विस्तरेण विवरीतुमारभते--**

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ 20 ॥

58 **यत्र यस्मिन्परिणामविशेषे योगसेवया योगाभ्यासपाटवेन जाते सति चित्तं निरुद्धमेकविषयकवृत्तिप्रवाहरूपामेकाग्रतां त्यक्त्वा निरिन्धनाग्निवदुपशाम्यन्निर्वृत्तिकतया सर्ववृत्ति-**

है अथवा, 'यतस्य चित्तस्य' -- इस प्रकार कर्मधारय समास है -- यह अर्थ है ॥ 19 ॥

57 इस प्रकार सामान्यरूप से समाधि कहकर निरोधसमाधि का विस्तार से विवरण करना आरम्भ करते हैं -- [योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जहाँ उपरत हो जाता है[41] और जहाँ रजोगुण-तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सत्त्वमात्र अन्तःकरण से आत्मा को आत्मा--परमात्मा से अभिन्न देखकर योगी आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥ 20 ॥]

58 जहाँ अर्थात् जिस चित्तपरिणामविशेष के होने पर योग की सेवा से अर्थात् योगाभ्यास के पाटवकौशल से चित्त निरुद्ध होकर एकविषयक वृत्तिप्रवाहरूप एकाग्रता को त्यागकर ईधनशून्य अग्नि के समान

40. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने 'आत्मनो योगं युञ्जत इति' – ऐसी व्याख्या करने पर दो आपत्तियाँ कही हैं – श्लोक में कोई दार्ष्टान्तिक नहीं रहेगा और श्लोकस्थ 'आत्मा' शब्द व्यर्थ हो जायेगा । ये दोनों आपत्तियाँ युक्तियुक्त नहीं है । (1) श्लोक में 'यतचित्त' और 'आत्मा' दो शब्द हैं । 'चित्त' शब्द अन्तःकरणवाची है – यह प्रसिद्ध है और 'आत्मा' शब्द गौणीवृत्ति से चित्त का वाचक है । यदि मधुसूदन सरस्वती दार्ष्टान्तिक-लाभ के लिए प्रसिद्ध 'चित्त' शब्द को छोड़कर 'आत्मा' शब्द का 'अन्तःकरण' अर्थ करके 'आत्मनो योगं युञ्जत इति' -- इस व्याख्यान में दार्ष्टन्तिकालाभ और 'आत्मा' शब्द का वैयर्थ्य सिद्ध करते हैं तो युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मुख्यार्थ का त्याग कर गौणार्थ ग्रहण करना उचित नहीं है । (2) 'यतचित्त' बहुव्रीहि समास से 'योगी' का विशेषण नहीं है, जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने अर्थ किया है, क्योंकि 'यतचित्तस्य योगिनः' -- यहाँ सामानाधिकरण्य में षष्ठी नहीं हैं जिससे 'यतचित्तयोगी' का बोध हो, किन्तु व्यधिकरण में षष्ठी है, अतः 'योगी का यतचित्त ' – यह अर्थ होगा, फलतः दार्ष्टान्तिकलाभ भी होगा । अथवा, 'यतचित्त' विशेषण न कहकर भाववाचक भी कहा जा सकता है, तब 'योगी की यतचित्तता' -- यह अर्थ होगा और दर्ष्टान्तिकलाभ होगा । किन्तु 'यतचित्त' को भाववाचक स्वीकार करने में समासतद्धितरूपवृत्तिद्वयकल्पनागौरव है । 'यतचित्त' शब्द से 'तस्य भावस्त्वतलौ' (पाणिनिसूत्र, 5.1.119) सूत्र से भाव अर्थ में 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय है । प्रकृत्यर्थ में विशेषणभूत -- प्रकारीभूत धर्म 'भाव' कहा जाता है । अतः 'यतचित्तता' का अर्थ 'यतचित्त' होगा । बहुव्रीहि समास करने पर 'चित्त' प्रकृत्यर्थ में 'प्रकार' है, फलतः वही 'त्व' प्रत्ययार्थ है । इसमें समासतद्धितरूपवृत्तिद्वयकल्पनागौरव है । इसलिए 'यतचित्त' में 'यतं च तत् चित्तं च' -- इस प्रकार कर्मधारय समास स्वीकार करना उपयुक्त है, इससे 'यतचित्त' = 'संयतचित्त' का लाभ होता है जो दार्ष्टान्तिक भी है । (3) जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि श्लोकस्थ 'आत्मा' शब्द व्यर्थ होगा, यह कहना भी असङ्गत है, विवेकादियुक्त मन से अविद्यानिवृत्ति होने पर आत्मा स्वयं ही प्रकाशित होता है -- इस अर्थ में 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' के समान योग से आत्मा में अनात्माकारता कि निवृत्ति कर स्वतःसिद्धात्माकारता का जो स्फुरणरूप है उसके अनुष्ठायी योगी का चित्त निर्वातदीप के समान निश्चल है – इस अर्थ में 'आत्मनो योगं युञ्जत इति' -- इस वाक्य के प्रयोग में 'आत्मा' 'शब्द सार्थक है । अन्यथा 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' -- इस वाक्य में 'आत्मा' शब्द व्यर्थ हो जायेगा (भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

41. यहाँ योग का स्वरूपलक्षण कहा गया है, क्योंकि पातञ्जल योगसूत्र में कहा गया है -- 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र, 1.2) = चित्तवृत्ति के निरोध को ही 'योग' कहते हैं ' ।

निरोधरूपेण परिणतं भवति । यत्र च यस्मिंश्च परिणामे सति आत्मना रजस्तमोनभिभूतशुद्ध-सत्त्वमात्रेणान्तःकरणेनाऽऽत्मानं प्रत्यक्चैतन्यं परमात्माभिन्नं सच्चिदानन्दघनमनन्तमद्वितीयं पश्यन्वेदान्तप्रमाणजया वृत्त्या साक्षात्कुर्वन्नात्मन्येव परमानन्दघने तुष्यति, न देहेन्द्रियसंघाते न वा तद्भोग्येऽन्यत्र । परमात्मदर्शने सत्यतुष्टिहेत्वभावात्तुष्यत्येवेति वा । तमन्तःकरणपरिणामं सर्वचित्तवृत्तिनिरोधरूपं योगं विद्यादिति परेणान्वयः । यत्र काल इति तु व्याख्यानमसाधु तच्छब्दानन्वयात् ॥ 20 ॥

59 **आत्मन्येव तोषे हेतुमाह--**

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ 21 ॥

शान्त होता हुआ निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य होकर समस्तवृत्तियों के निरोधरूप में परिणत हो जाता है; तथा जहाँ अर्थात् जिस परिणाम के होने पर आत्मा से अर्थात् रजोगुण-तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सत्त्वमात्र = अन्तःकरण से आत्मा को = प्रत्यक् चैतन्य को परमात्मा से अभिन्न, सच्चिदानन्दघन, अनन्त, और अद्वितीयरूप से देखते हुए अर्थात् वेदान्तप्रमाणजन्य वृत्ति से साक्षात्कार करते हुए परमानन्दघनस्वरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है = देहेन्द्रियसंघात में नहीं, अथवा, तद्भोग्य अन्य शब्द-स्पर्शादि विषयों में नहीं; अथवा परमात्मा का दर्शन होने पर अतुष्टि के कारणाभाव से सन्तुष्ट हो ही जाता है । उस अन्तःकरण के परिणाम = सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों के निरोधरूप योग[42] को जाने -- इस प्रकार इसका अगले तेईसवें श्लोक के साथ अन्वय है । यहाँ 'यत्र' का अर्थ 'यस्मिन काले' = 'जिस समय' करना ठीक नहीं है, क्योंकि इसका तेइसवें श्लोक के 'तं योगं विद्यात्' घटक 'तत्' शब्द से अन्यव नहीं हो सकता है, क्योंकि काल योग नहीं है -- यह स्पष्ट है[43] ॥ 20 ॥

59 आत्मा में ही सन्तोष का कारण कहते हैं :--

42. 'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव' (गीता, 6.2) = 'हे पाण्डव ! जिसको संन्यास कहते हैं, उसको ही तुम योग जानो' – इत्यादि श्लोक में 'योग' शब्द का अर्थ 'कर्मयोग' माना गया है, फिर 'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति' (गीता, 6.16) = 'हे अर्जुन ! अधिक भोजन करनेवाले से योग सिद्ध नहीं हो सकता' – इत्यादि श्लोकों में 'योग' शब्द से 'समाधि' को कहा गया है, तो शंका होती है कि मुख्य योग कौन-सा है ? इसका उत्तर है कि 'समाधि' ही स्वरूपतः और फलतः मुख्य योग है तथा उस 'समाधि' को ही लक्ष्य करके यहाँ 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है । उस निरोधसमाधिरूप 'योग' को ही भगवान् 20वें श्लोक से लेकर 23वें श्लोक के पूर्वार्ध तक अर्थात् साढ़े तीन श्लोकों में स्पष्ट कर रहे हैं ।

43. प्रकृत श्लोक के 'यत्र' शब्द का अर्थ शंकराचार्य ने अपने भाष्य में 'यस्मिन् काले' = 'जिस समय' किया है, किन्तु मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि 'यत्र' शब्द का 'जिस समय' अर्थ करना असंगत है, क्योंकि बाद में 'तत्र' या 'तदा' -- ऐसे शब्द का कोई प्रयोग नहीं है और इसका तेइसवें श्लोक के 'तं योगं विद्यात्' घटक 'तत्' शब्द से अन्वय नहीं हो सकता है । अतः मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार 'यत्र' शब्द का अर्थ है – 'यस्मिन् परिणामविशेषे जाते सति', 'यस्मिन् परिणामे सति' = 'जिस चित्तपरिणामविशेष के होने पर', 'जिस परिणाम के होने पर' । श्रीधर स्वामी ने भी ऐसी ही व्याख्या की है । किन्तु विचार करने पर देखा जाय तो भाष्य में 'यत्र' शब्द का जो अर्थ दिया गया है और मधुसूदन सरस्वती ने जो अर्थ कहा है – उनमें केवल भाषा का ही अन्तर है । दोनों का तात्पर्य एक ही है । भाष्यकार के मत में 'यत्र' शब्द का अभिप्राय यह है -- 'जिस समय अर्थात् जिस समय योगसेवा के द्वारा चित्त का विशेष परिणाम = निरोध परिणाम होता है उस समय' ।

60 **यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेष आत्यन्तिकमनन्तं निरतिशयं ब्रह्मस्वरूपमतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसंप्रयोगानभिव्यङ्ग्यं बुद्धिग्राह्यं बुद्ध्यैव रजस्तमोमलरहितया सत्त्वमात्रवाहिन्या ग्राह्यं सुखं योगी वेत्ति अनुभवति। यत्र च स्थितोऽयं विद्वांस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति। तं योगसंज्ञितं विद्यादिति परेणान्वयः समानः।**

61 **अत्राऽऽत्यन्तिकमिति ब्रह्मसुखस्वरूपकथनम्। अतीन्द्रियमिति विषयसुखव्यावृत्तिः, तस्य विषयेन्द्रियसंयोगसापेक्षत्वात्। बुद्धिग्राह्यमिति सौषुप्तसुखव्यावृत्तिः सुषुप्तौ बुद्धेर्लीनत्वात्, समाधौ निर्वृत्तिकायास्तस्याः सत्त्वात्। तदुक्तं गौडपादैः-- 'लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते' इति। तथा च श्रूयते –**

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यदेतदन्तःकरणेन गृह्यते॥' इति।

अन्तःकरणेन निरुद्धसर्ववृत्तिकेनेत्यर्थः। वृत्त्या तु सुखास्वादनं गौडाचार्यैस्तत्र प्रतिषिद्धम्-- 'नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति। महदिदं समाधौ सुखमनुभवामीति

[जो सुख आत्यन्तिक = अनन्त -- निरतिशय, सात्त्विकी बुद्धि से ग्राह्य और अतीन्द्रिय = इन्द्रियों से अतीत है उसको जिस अवस्था में योगी जानता है = अनुभव करता है तथा जिस अवस्था में स्थित यह योगी तत्त्व से = आत्मास्वरूप से = भगवद्स्वरूप से चलायमान नहीं होता है ॥ 21 ॥]

60 यत्र = यस्मिन् अवस्थाविशेषे = जहाँ अर्थात् जिस अवस्थाविशेष में आत्यन्तिक = अनन्त -- निरतिशय -- ब्रह्मस्वरूप, अतीन्द्रिय = विषय और इन्द्रियों के संप्रयोग-संयोग से अनभिव्यङ्ग्य = अभिव्यक्त न होनेवाला, और बुद्धिग्राह्य = रजोगुण-तमोगुणरूप मल से रहित सत्त्वमात्रवाहिनी बुद्धि से ग्राह्य सुख को योगी जानता है -- अनुभव करता है। तथा जहाँ पर स्थित होकर यह विद्वान् -- तत्त्वज्ञानी तत्त्व से = आत्मस्वरूप से वस्तुतः विचलित नहीं होता है, 'उसको योगसंज्ञक समझे' -- इत्यादि आगे के तेईसवें श्लोक के साथ इसका भी पूर्ववत् अन्वय है।

61 यहाँ 'आत्यन्तिक' -- इस विशेषण से ब्रह्मसुखस्वरूप का कथन है, वही सर्वथा दुःखासंभिन्न है, स्वर्गादिसुख तो अन्ततः क्षयित्वादिजन्य परिताप से युक्त ही है। 'अतीन्द्रिय' -- इस विशेषण से विषयसुख की व्यवृत्ति की गई है, क्योंकि वैषयिकसुख विषय और इन्द्रियों के संयोग की अपेक्षावाला होता है। तथा 'बुद्धिग्राह्य' -- इस विशेषण से सुषुप्ति के सुख की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि सुषुप्ति में बुद्धि लीन हो जाती है और समाधि में वह निर्वृत्तिक = वृत्तिशून्य होकर रहती है। गौडपादाचार्य ने भी कहा है -- 'सुषुप्तिकाल में तद्बुद्धिरूप अन्तःकरण लीन हो जाता है। समाधि में योग से निगृहीत चित्त लीन नहीं होता किन्तु निर्वृत्तिक होकर रहता है' (गौडपादकारिका, 3.35)। इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- "समाधि के द्वारा जिसके मल का मार्जन हो गया है उस चित्त के आत्मा में सन्निवेशित होने पर जो सुख होता है उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता, उस समय उसका ग्रहण स्वयं अन्तःकरण से ही किया जाता है" ॥

यहाँ 'अन्तःकरणेन' = 'अन्तःकरण से' -- इसका अर्थ है -- 'जिसकी समस्त वृत्तियों का निरोध कर लिया गया है उस अन्तःकरण से' उक्त सुख का ग्रहण किया जाता है। तत्र = उस अवस्था में वृत्ति के द्वारा सुख का आस्वादन करने का तो गौडपादाचार्य ने भी निषेध किया है -- 'उस स्थिति में सुख का आस्वादन न करे, प्रत्युत उससे बुद्धिपूर्वक निःसङ्ग रहे' (गौडपादकारिका, 3.45)। 'मैं समाधि में

सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वादः । तं व्युत्थानरूपत्वेन समाधिविरोधित्वाद्योगी न कुर्यात् । अत एवैतादृश्या प्रज्ञया सह सङ्गं परित्यजेत्तां निरुन्ध्यादित्यर्थः । निर्वृत्तिकेन तु चित्तेन स्वरूपसुखानुभवस्तैः प्रतिपादितः – 'स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्' इति स्पष्टं चैतदुपरिष्टात्करिष्यते ॥ 21 ॥

62 यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत-इत्युक्तमुपपादयति–

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ 22 ॥

63 यं च निरतिशयात्मकसुखव्यञ्जकं निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषं लब्ध्वा संतताभ्यासपरिपाकेन संपाद्यापरं लाभं ततोऽधिकं न मन्यते । 'कृतं कृत्यं प्राप्तं प्रापणीयमित्यात्मलाभान्न परं विद्यते' इति स्मृतेः । एवं विषयभोगवासनया समाधेर्विचलनं नास्तीत्युक्त्वा शीतवातमशकाद्युपद्रव-निवारणार्थमपि तन्नास्तीत्याह--यस्मिन्परमात्मसुखमये निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषे स्थितो योगी गुरुणा महता शस्त्रनिपातादिनिमित्तेन महताऽपि दुःखेन न विचाल्यते किमुत क्षुद्रेणेत्यर्थः ॥ 22 ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ 23 ॥

इस महान् सुख का अनुभव करता हूँ' -- ऐसी सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वाद है । इसमें योगी सङ्ग न रक्खे, क्योंकि यह व्युत्थानरूप होने से समाधि की विरोधी है । अतएव ऐसी प्रज्ञा के साथ सङ्ग का परित्याग करे अर्थात् उसका भी निरोध करे । उन्हीं गौडपादाचार्य ने निर्वृत्तिक चित्त से स्वरूपसुख के अनुभव का प्रतिपादन किया है -- 'वह निर्वृत्तिक चित्त से होनेवाला सुख स्वस्थ = आत्मस्थ -- आत्मनिष्ठ, शान्त, सनिर्वाण, अकथ्य और उत्तम होता है' (गौडपादकारिका, 3.47), -- इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ॥ 21 ॥

62 'जहाँ पर स्थित होकर यह विद्वान् -- योगी तत्त्व से -- आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होता है' -- इस पूर्वोक्तार्थ का उपपादान करते हैं --
[जिस अवस्था को पाकर योगी उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं मानता है और जिसमें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दु:ख से भी विचलित नहीं होता है ॥ 22 ॥]

63 जिस निरतिशयात्मक सुख को अभिव्यक्त करनेवाली निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य चित्त की अवस्थाविशेष को पाकर = निरन्तर अभ्यास के परिपाक से प्राप्त कर योगी उससे अधिक किसी दूसरे लाभ को नहीं मानता है; जैसा कि स्मृति कहती है -- 'जो करना था वह कर लिया और जो पाना था वह पा लिया -- इसप्रकार आत्मलाभ से उत्कृष्ट लाभ दूसरा नहीं है ।' इसप्रकार विषयभोग की वासना से समाधि से विचलित नहीं होता -- यह कहकर अब शीतवायु और मच्छर आदि के उपद्रव के निवारणार्थ -- वारणार्थ भी समाधि से विचलित नहीं होता -- यह कहते हैं -- जिस परमात्मसुखमयी निर्वृत्तिक चित्त की अवस्थाविशेष में स्थित हुआ योगी गुरु -- महान् अर्थात् शस्त्रपातादि के कारण होने वाले महान् दु:ख से भी विचलित नहीं होता, फिर क्षुद्र अतिस्वल्प मशकाद्युपद्रव से विचलित नहीं होता -- इसमें तो कहना ही क्या है -- यह तात्पर्य है ॥ 22 ॥

64 यत्रोपरमत इत्यारभ्य बहुभिर्विशेषणैर्यो निर्वृत्तिकः परमानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तावस्थाविशेष उक्तस्तं चित्तवृत्तिनिरोधं चित्तवृत्तिमयसर्वदुःखविरोधित्वेन दुःखवियोगमेव सन्तं योगसंज्ञितं वियोगशब्दार्हमपि विरोधिलक्षणया योगशब्दवाच्यं वियाज्ञानीयात्र तु योगशब्दानुरोधा-त्कंचित्संबन्धं प्रतिपद्येतेत्यर्थः । तथा च भगवान्पतञ्जलिरसूत्रयत् 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति । 'योगो भवति दुःखहा' इति यत्प्रागुक्तं तदेतदुपसंहृतम् ।

65 एवंभूते योगे निश्चयानिर्वेदयोः साधनत्वविधानायाऽऽह--स निश्चयेन इति । स यथोक्तफलो योगो निश्चयेन शास्त्राचार्यवचनतात्पर्यविषयोऽर्थः सत्य एवेत्यध्यवसायेन योक्तव्योऽभ्यसनीयः । अनिर्विण्णचेतसा, एतावताऽपि कालेन योगो न सिद्धः किमतः परं कष्टमित्यनुतापो निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा, इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यति किं त्वरयेत्येवं धैर्ययुक्तेन मनसेत्यर्थः । तदेतद्गौडपादा उदाजहुः--

'उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥' इति ।

[दुःखसंयोग की वियोगरूपा उस अवस्था को 'योग' नाम से जानना चाहिए । उस योग का निश्चयपूर्वक अनिर्विण्ण -- अव्यग्र चित्त से अभ्यास करना चाहिए ॥ 23 ॥]

64 'यत्रोपरमते' इत्यादि से आरम्भ करके अनेक विशेषणों से जो परमानन्द को अभिव्यक्त करनेवाली चित्त की निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य अवस्थाविशेष कही है, चित्तवृत्तिमय सम्पूर्ण दुःखों के विरोधीरूप से दुःखवियोग के समान होनेवाले उस चित्तवृत्तिनिरोध को योगसंज्ञित अर्थात् 'वियोग' शब्द से कहने के योग्य होने पर भी विरोधी लक्षणा से 'योग' शब्दवाच्य जानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि 'योग' शब्द के अनुरोध से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं समझना चाहिए । इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी सूत्रद्वारा कहा है -- 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र, 1.2) = 'चित्तवृत्ति के निरोध को 'योग' कहते हैं' । 'योगो भवति दुःखहा' = 'योग दुःखों का नाश करनेवाला होता है' -- यह जो पूर्व के सत्रहवें श्लोक में कहा है उसका यह उपसंहार हुआ है ।

65 इसप्रकार के योग में निश्चय और अनिर्वेद -- इन दोनों की साधनता का विधान करने के लिए कहते हैं -- 'स निश्चयेन' इत्यादि । उस यथोक्तफल योग का निश्चयपूर्वक = शास्त्र और आचार्य के वचन के तात्पर्य का विषयरूप अर्थ अर्थात् योग सत्य ही है -- ऐसे अध्यवसायपूर्वक -- निश्चयपूर्वक युञ्जन अर्थात् अभ्यास करना चाहिए । तथा अनिर्विण्ण चित्त से = 'इतना समय होने पर भी योग सिद्ध नहीं हुआ, इससे अधिक कष्ट और क्या होगा ?' -- इसप्रकार का अनुताप निर्वेद है उससे रहित चित्त से अर्थात् 'इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में योग सिद्ध हो ही जायेगा, जल्दी करने से क्या लाभ है' ? -- ऐसे धैर्ययुक्त मन से अभ्यास करना चाहिए । यही गौडपादाचार्य ने भी कहा है --

"जिसप्रकार कुशाग्र की एक-एक बूँद से समुद्र का उत्सेक हो जाता है वैसे ही किसी प्रकार का खेद न मानने से मन का निग्रह भी हो ही जाता है" (गौडपादकारिका, 3.41) । उत्सेक = उत्सेचन अथवा जल बाहर करना = जल को सुखाने का निश्चय करके जल निकालना -- यह फलितार्थ है । इस विषय में सम्प्रदायवेत्ता पूर्वाचार्य किसी पक्षी की आख्यायिका को कहते हैं -- 'एक बार समुद्र ने अपनी तरङ्गों के वेग से अपने तीरवर्ती किसी पक्षी के अण्डे चुरा लिए । उस पक्षी ने यह निश्चय करके कि 'मैं समुद्र को सुखा ही डालूँगा' अपनी चोंच से उसके जल की एक-एक

उत्सेक उत्सेचनं शोषणाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत् । अत्र संप्रदायविद आख्यायिकामाचक्षते--कस्यचित्किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थानि तरङ्गवेगेन समुद्रोऽपजहार । स च समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रवृत्तः स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुमुपरि प्रचिक्षेप । तदा च बहुभिः पक्षिभिर्बन्धुवर्गैर्वार्यमाणोऽपि नैवोपरराम । यदृच्छया च तत्राऽऽगतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा येन केनाप्युपायेन समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रतिजज्ञे । ततश्च दैवानुकूल्यात्कृपालुर्नारदो गरुडं तत्साहाय्याय प्रेषयामास समुद्रस्त्वज्ज्ञातिद्रोहेण त्वामवमन्यत इति वचनेन । ततो गरुडपक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतस्तान्यण्डानि तस्मै पक्षिणे प्रददाविति एवमखेदेन मनोनिरोधे परमधर्मे प्रवर्तमानं योगिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति । ततश्च पक्षिण इव तस्याभिमतं सिध्यतीति भावः ॥ 23 ॥

66 **किं च कृत्वा योगोऽभ्यसनीयः--**

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ 24 ॥

67 **संकल्पो दुष्टेष्वपि विषयेष्वशोभनत्वादर्शनेन शोभनाध्यासः । तस्माच्च संकल्पादिदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवंरूपाः कामाः प्रभवन्ति । ताञ्शोभनाध्यासप्रभवान्विषयाभिलाषान्विचारजन्याशोभनत्वनिश्चयेन शोभनाध्यासबाधाद्दृष्टेषु स्रक्चन्दनवनितादिष्वदृष्टेषु चेन्द्रलोकपारिजाताप्सरः--**

बूँद ऊपर फेंकना प्रारम्भ कर दिया । उस समय वह पक्षी अपने बहुत-से भाई-बन्धु पक्षियों के रोकने पर भी नहीं रुका । यदृच्छा से वहाँ आये हुए नारद के द्वारा रोकने पर भी उस पक्षी ने यह प्रतिज्ञा की कि 'इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में जिस किसी उपाय से मैं समुद्र को सुखा ही डालूँगा' । तदनन्तर दैवानुकूलता = प्रारब्धानुकूलता से नारद ने उसकी सहायता के लिए गरुड को यह कहकर भेजा कि 'समुद्र तुम्हारी जाति से द्रोह करके तुम्हारा ही अपमान कर रहा है' । तब गरुड के पंखों की हवा से सूखते हुए समुद्र ने डरकर उस पक्षी को वे अण्डे सौंप दिए ।' इसीप्रकार अखेद से अर्थात् खेदहीन होकर मनोनिरोधरूप परमधर्म में प्रवर्त्तमान योगी पर ईश्वर अनुग्रह करता है । उससे पक्षी के समान उस योगी का अभिमत-मनोरथ भी सिद्ध होता है -- यह भाव है ॥ 23 ॥

66 क्या करके योग का अभ्यास करना चाहिए ?--

[संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को अशेषतः -- निःशेषतः अर्थात् वासना और आसक्ति सहित त्यागकर तथा मन से ही इन्द्रियों के समुदाय को समन्ततः अर्थात् सब ओर से ही अच्छी प्रकार वश में करके ॥ 24 ॥

67 दुष्ट विषयों में भी अशोभनत्व न देखने के कारण शोभनता का अध्यास होना 'संकल्प' है । उस संकल्प से 'यह मुझको हो, यह मुझको हो' -- एवंरूप कामनाएँ होती हैं । माला, चन्दन, वनिता आदि दृष्ट विषयों में तथा इन्द्रलोक, पारिजात, अप्सरा आदि अदृष्ट विषयों में शोभनता के अध्यास से होनेवाली उन विषयाभिलाषाओं को विचारजन्य अशोभनत्वनिश्चय से शोभनाध्यास का बाध होने पर कुत्ते की वमन की हुई खीर के समान स्वतः ही ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी विषयों को अशेषतः - निःशेषतः अर्थात् वासनाओं सहित त्यागकर और इसी से, क्योंकि इन्द्रियों की प्रवृत्ति कामनापूर्वक

प्रभृतिषु श्ववान्तपायसवत्त्वत एव सर्वान्ब्रह्मलोकपर्यन्तानशेषतो निरवशेषान्सवासनांस्त्यक्त्वा, अत एव कामपूर्वकत्वादिन्द्रियप्रवृत्तेस्तदपाये सति विवेकयुक्तेन मनसैवेन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकरण-समूहं विनियम्य समन्ततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य शनैः शनैरुपरमेदित्यन्वयः ॥ 24॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ 25 ॥

68 **भूमिकाजयक्रमेण शनैः शनैरुपरमेत्, धृतिर्धैर्यमखिन्नता तया गृहीता या बुद्धिरवश्यकर्तव्यतानि-श्चयरूपा तया यदा कदाचिदवश्यं भविष्यत्येव योगः किं त्वरयेत्येवंरूपया शनैः शनैर्गुरूपदिष्टमार्गेण मनो निरुन्ध्यात् । एतेनानिर्वेदनिश्चयौ प्रागुक्तौ दर्शितौ । तथा च श्रुतिः--**
'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥' (कठ० 1.3.13) इति ।
वागिति वाचं लौकिकीं वैदिकीं च मनसि व्यापारवति नियच्छेत्, 'नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० उ० 4.4.21) इति श्रुतेः । वाग्वृत्तिनिरोधेन मनोवृत्तिमात्रशेषो

ही होती है अतः उसकी निवृत्ति होने पर विवेकयुक्त मन ही से इन्द्रियग्राम = चक्षु आदि करणसमूह को समन्ततः = सब ओर से विनियत कर -- सम्पूर्ण विषयों से खींचकर शनैः शनैः = धीरे धीरे उपरत करे अर्थात् संसार से उपरक्त हो -- यह अन्वय है ॥ 24 ॥
[धीरे-धीरे धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा विषयों से चित्त-मन को उपरत करे और मन को आत्मा में स्थित करके अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे ॥ 25 ॥]

68 भूमिकाजय[44] के क्रम से शनैः शनै[45] = धीरे-धीरे उपरत करे । 'धृति' का अर्थ है -- धैर्य या अखिन्नता । उससे गृहीत -- वश में की हुई जो अवश्यकर्त्तव्यता की निश्चयरूपा बुद्धि है उससे -- 'यदा कदाचित् = कभी-न-कभी या किसी समय योग अवश्य सिद्ध होगा, जल्दी करने से क्या लाभ है ?' -- इसप्रकार की बुद्धि से धीरे-धीरे गुरु के उपदेश किये हुए मार्ग से मन का निरोध करे । इससे पहले कहे हुए अनिर्वेद और निश्चय दिखाये गए हैं । ऐसा ही श्रुति कहती है --
"वाणी के द्वारा उपलक्षित समस्त इन्द्रियों तथा विषयों का मन में लय करे । सर्वप्रपंच का कारण जो मन है उसका ज्ञानात्मा में अर्थात् 'मैं-मैं' रूप जो बुद्धि अर्थात् अहंकार है उसमें लय करे । फिर अहंकार का महत्तत्व में लय करे । महत्तत्व का अव्याकृत -- अव्यक्त में लय करे और अव्याकृत-अव्यक्त का आत्मा में अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा में लय करे" (कठोपनिषद्, 1.3.13) ।

44. निरोध का क्रम है – (1) विषयों में दोषदर्शन के द्वारा विषयवासनाओं को क्षीण करना, (2) विवेकयुक्त मन के द्वारा जागतिक वस्तुओं के मिथ्यात्व का निश्चय कर इन्द्रियसमूह को विषयों से उपरत करना, (3) धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा समाधि का अभ्यास कर मन को संकल्प से उपरत करना, तथा (4) अन्त में शान्त आत्मा में स्थितिलाभ कर अहंकार और बुद्धि को सर्वप्रवृत्तियों से उपरत करना । इसी को शास्त्रोक्त चार प्रकार की भूमि का जय कहा गया है, जैसे – (1) वाक्-भूमि की जय, (2) इन्द्रिय-भूमि की जय, (3) मनः-भूमि की जय, तथा (4) अहंकार तथा महत्तत्व भूमि की जय । श्रुति में भी इसी प्रकार कहा गया है –
"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥" (कठोपनिषद्, 1.3.13)

45. 'शनैः शनैः' पद का तात्पर्य है -- शास्त्र तथा गुरु के द्वारा उपदिष्ट साधनमार्ग से भूमिका को क्रमशः जय करना, क्योंकि अनादि संस्कारसम्पन्न मन का सहसा निरोध करना असम्भव है ।

भवेदित्यर्थः । चक्षुरादिनिरोधोऽप्येतस्यां भूमौ द्रष्टव्यः । मनसीति च्छान्दसं दैर्घ्यम् । तन्मनः कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियसहकारि नानाविधविकल्पसाधनं करणं ज्ञाने जानातीति ज्ञानमिति व्युत्पत्त्या ज्ञातर्यात्मनि ज्ञातृत्वोपाधावहंकारे नियच्छेत्, मनोव्यापारान्परित्यज्याहंकारमात्रं परिशेषयेत् । तच्च ज्ञानं ज्ञातृत्वोपाधिमहंकारमात्मनि महति महत्तत्त्वे सर्वव्यापके नियच्छेत् । द्विविधो ह्यहंकारो विशेषरूपः सामान्यरूपश्चेति । अयमहमेतस्य पुत्र इत्येवं व्यक्तमभिमन्यमानो विशेषरूपो व्यष्ट्यहंकारः । अस्मीत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानः सामान्यरूपः समष्ट्यहंकारः । स च हिरण्यगर्भो महानात्मेति च सर्वानुस्यूतत्वादुच्यते । ताभ्यामहंकाराभ्यां विविक्तो निरुपाधिकः शान्तात्मा सर्वान्तरश्चिदेकरसस्तस्मिन्महान्तमात्मानं समष्टिबुद्धिं नियच्छेत् । एवं तत्कारणमव्यक्तमपि नियच्छेत् । ततो निरुपाधिकस्त्वंपदलक्ष्यः शुद्ध आत्मा साक्षात्कृतो भवति ।

69 **शुद्धे हि चिदेकरसे प्रत्यगात्मनि जडशक्तिरूपमनिर्वाच्यमव्यक्तं प्रकृतिरुपाधिः । सा च प्रथमं सामान्याहंकाररूपं महत्तत्त्वं नाम धृत्वा व्यक्तीभवति । ततो बहिर्विशेषाहंकाररूपेण । ततो बहिर्मनोरूपेण । ततो बहिर्वागादीन्द्रियरूपेण । तदेतच्छ्रुत्याऽभिहितम्–**

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'

(कठ० 1.3.10,11) इति ।

वाक् अर्थात् लौकिकी और वैदिकी वाणी का व्यापारविशिष्ट मन में निरोध करे । 'बहुत से शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणी का विग्लापन -- क्षयमात्र ही है' -- इस श्रुति के अनुसार वाग्वृत्ति के निरोध से मनोवृत्तिमात्रशेष योगी हो अर्थात् न बोलकर केवल विषयविषयक मनोवृत्तिमात्रवान् हो -- यह अर्थ है । इसी भूमि में चक्षु आदि इन्द्रियों का निरोध भी समझना चाहिए । 'मनसी' इसमें ईकार की दीर्घता छान्दस-वैदिकी है । कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के सहकारी तथा अनेक प्रकार के विकल्पों के साधनभूत उस मनरूप करण का ज्ञान में -- 'जानातीति ज्ञानम्'-- इस व्युत्पत्ति से ज्ञाता आत्मा में अर्थात् 'ज्ञातृत्व' उपाधिवाले अहंकार में निरोध करे अर्थात् मन के व्यापारों का भी परित्याग कर अहंकारमात्र को शेष रखे। तथा उस ज्ञान का अर्थात् 'ज्ञातृत्व' उपाधिवाले अहंकार का महत्-आत्मा में = सर्वव्यापक महत्तत्व में निरोध करे । अहंकार दो प्रकार का है -- विशेषरूप और सामान्यरूप । 'यह मैं इसका पुत्र हूँ' -- इस प्रकार व्यक्त-स्पष्ट अभिमान करनेवाला व्यष्टि अहंकार 'विशेषरूप' है तथा 'अस्मि' = 'मैं हूँ' -- एतावन्मात्र अभिमान करने वाला समष्टि अहंकार 'सामान्यरूप' है । वही हिरण्यगर्भ और सबमें अनुस्यूत होने के कारण महानात्मा कहा जाता है । उन दोनों प्रकार के अहंकारों से विविक्त-विवेचित या पृथक् जो निरुपाधिक अतएव शान्त, सर्वान्तर और चिदेकरस आत्मा है उसमें महान् आत्मारूप समष्टिबुद्धि का निरोध करे । इसीप्रकार तत्कारण अव्यक्त का भी निरोध करे । तब निरुपाधिक, 'त्वम्' पद के लक्ष्य शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होता है ।

69 शुद्ध चिदेकरस प्रत्यगात्मा में जडशक्तिरूप अनिर्वाच्य अव्यक्त या प्रकृति उपाधि है । वह प्रकृति सर्वप्रथम सामान्य-अहंकाररूप 'महत्तत्व' नाम धारण करके व्यक्त होती है । उससे बाहर विशेष अहंकाररूप से, उससे बाहर मनोरूप से, और उससे बाहर वागादि इन्द्रियरूप से व्यक्त होती है । यही श्रुति में कहा गया है --

तत्र गवादिष्विव वाङ्निरोधः प्रथमा भूमिः । बालमुग्धादिष्विव निर्मनस्त्वं द्वितीया । तन्द्र्यामिवाहंकारराहित्यं तृतीया । सुषुप्ताविव महत्तत्त्वराहित्यं चतुर्थी । तदेतद्भूमिचतुष्टयमपेक्ष्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम् । यद्यपि महत्तत्त्वशान्तात्मनोर्मध्ये महत्तत्त्वोपादानमव्याकृताख्यं तत्त्वं । श्रुत्योदाहारि, तथाऽपि तत्र महत्तत्त्वस्य नियमनं नाभ्यधायि । सुषुप्ताविव स्वरूपलयप्रसङ्गात् । तस्य च कर्मक्षये सति पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव सिद्धत्वात्तत्त्वदर्शनानुपयोगित्वाच्च । 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति पूर्वमभिधाय सूक्ष्मत्वसिद्धये निरोधसमाधेरभिधानात् । स च तत्त्वदिदृक्षोर्दर्शनसाधनत्वेन दृष्टतत्त्वस्य च जीवन्मुक्तिरूपक्लेशक्षयायापेक्षितः ।

70 ननु शान्तात्मन्यवरुद्धस्य चित्तस्य वृत्तिरहितत्वेन सुषुप्तिवन्न दर्शनहेतुत्वमिति चेत्, न, स्वतःसिद्धस्य दर्शनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तम् –

"इन्द्रियाँ पर कही जाती हैं, इन्द्रियों से पर मन है, मन से पर बुद्धि है, बुद्धि से पर महान् आत्मा -- महदात्मा है, महदात्मा से पर अव्यक्त है, और अव्यक्त से पर पुरुष है । पुरुष से पर कुछ भी नहीं है । वही काष्ठा अर्थात् अन्तिम सीमा है और वही परम गति है" (कठोपनिषद्, 1.3.10,11) ।

उसमें गौ आदि के समान वाङ्निरोध प्रथमा भूमि है । बालक, मुग्ध आदि के समान निर्मनः अर्थात् मनोवृत्ति निरोध द्वितीय भूमि है । तन्द्रा आदि के समान अहंकारराहित्य अर्थात् अहंकारवृत्तिविरह तृतीय भूमि है । सुषुप्ति के समान महत्तत्वराहित्य अर्थात् महत्तत्वशून्यता चतुर्थ भूमि है । इन चार भूमिकाओं की अपेक्षा से ही 'शनैः शनैरुपरमेत्' = 'धीरे-धीरे उपरत करे' -- यह कहा है । यद्यपि महत्तत्व और शान्तात्मा के बीच में श्रुति ने महत्तत्व के उपादानकारण अव्याकृत-अव्यक्त नामक तत्त्व का उल्लेख किया है, तथापि उसमें महत्तत्व के नियमन-निरोध को नहीं कहा है; क्योंकि ऐसा होने पर सुषुप्ति के समान 'जीवस्वरूपस्य सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' = 'हे सोम्य ! उस समय यह जीव सबसे अभिन्न हो जाता है' -- इस श्रुति के अनुसार जीव के स्वरूप का लय होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा; और वह तो कर्मों का क्षय होने पर पुरुष के प्रयत्न के बिना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है तथा तत्त्वदर्शन -- तत्त्वसाक्षात्कार में उपयोगी भी नहीं है, कारण कि 'वह आत्मतत्त्व सूक्ष्मदर्शी पुरुषों को स्वतःसिद्ध सूक्ष्मबुद्धि से दिखाई देता है' -- इसप्रकार पहले कहकर बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए श्रुति ने निरोधसमाधि का विधान किया है । वह निरोधसमाधि तत्त्वदिदृक्षु के लिए दर्शन के साधनरूप से और तत्त्वदर्शन किए हुए पुरुष के लिए जीवन्मुक्तिरूप क्लेशक्षय के लिए अपेक्षित है ।

70 यदि यह कहें कि 'शान्तात्मा में अवरुद्ध चित्त वृत्तिरहित होने के कारण सुषुप्ति के समान दर्शन का हेतु नहीं होगा', -- तो ठीक नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में स्वतःसिद्ध आत्मदर्शन का निवारण अशक्य होता है[46] ।' कहा भी है --

"चित्त सदा-सर्वदा स्वभाव से ही आत्माकार या अनात्माकार रहता है, अतः अनात्मदृष्टि के तिरस्कारपूर्वक उसको एकमात्र आत्माकार ही रखना चाहिए[47] ।"

---

46. अभिप्राय यह है कि विषय जड होता है अतएव तद्विषयक मनोवृत्ति के द्वारा उसका प्रकाश होता है, किन्तु आत्मा उससे विपरीत स्वयंप्रकाश है, इस कारण उसको प्रकाशित करने के लिए मनोवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती । इसीलिए स्वतःसिद्ध आत्मदर्शन का निवारण अशक्य होता है ।

47. अर्थ यह है कि चित्त स्वाभाविक आत्मानात्माकार सदा रहता है, इसमें आत्माकारत्व सदा प्राप्त होने से विधेय नहीं है, किन्तु उसकी सदा अभिव्यक्ति के लिए तद्विरोधी अनात्माकारवृत्ति निरसनीय है ।

'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम् ।
आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत ॥'

71 **यथा घट उत्पद्यमानः स्वतो वियत्पूर्ण एवोत्पद्यते । जलतण्डुलादिपूरणं तूत्पन्ने घटे पश्चात्पुरुषप्रयत्नेन भवति । तत्र जलादौ निःसारितेऽपि वियन्निःसारयितुं न शक्यते । मुखपिधानेऽप्यन्तर्वियदवतिष्ठत एव, तथा चित्तमुत्पद्यमानं चैतन्यपूर्णमेवोत्पद्यते । उत्पन्ने तु तस्मिन्मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवद्घटदुःखादिरूपत्वं भोगहेतुधर्माधर्मसहकृतसामग्रीवशाद्भवति । तत्र घटदुःखाद्यनात्माकारे विरामप्रत्ययाभ्यासेन निवारितेऽपि निर्निमित्तश्चिदाकारो वारयितुं न शक्यते । ततो निरोधसमाधिना निर्वृत्तिकेन चित्तेन संस्कारमात्रशेषतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन निरुपाधिकचिदात्ममात्राभिमुखत्वाद्वृत्तिं विनैव निर्विघ्नमात्माऽनुभूयते । तदेतदाह—आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेदिति । आत्मनि निरुपाधिके प्रतीचि संस्था समाप्तिर्यस्य तदात्मसंस्थं सर्वप्रकारवृत्तिशून्यं स्वभावसिद्धात्माकारमात्रविशिष्टं मनः कृत्वा धृतिगृहीतया विवेकबुद्ध्या संपाद्यासंप्रज्ञातसमाधिस्थः सन्किंचिदपि अनात्मानमात्मानं वा न चिन्तयेत्, न वृत्त्या विषयीकुर्यात् । अनात्माकारवृत्तौ हि व्युत्थानमेव स्यात् । आत्माकारवृत्तौ च संप्रज्ञातः समाधिरित्यसंप्रज्ञातसमाधिस्थैर्याय कामपि चित्तवृत्तिं नोत्पादयेदित्यर्थः ॥ 25 ॥**

---

71 जिस प्रकार उत्पद्यमान -- उत्पन्न होनेवाला घट स्वतः -- स्वभावतः आकाश से पूर्ण उत्पन्न होता है; जल, तण्डुल आदि की पूर्ति तो उत्पन्न घट में पीछे पुरुष के प्रयत्न से होती है । उसमें से जलादि के निकालने पर भी आकाश को नहीं निकाला जा सकता । उसका मुँह बन्द करने पर भी आकाश तो उसके अन्दर ही रहता है । इसीप्रकार उत्पद्यमान-उत्पन्न होनेवाला चित्त चैतन्य से पूर्ण ही उत्पन्न होता है । बाद में मूषानिषिक्त -- साँचे में ढाले हुए द्रुत -- द्रवीभूत ताम्र-ताँबे के समान अर्थात् एक विशेष आकारविशिष्ट किसी पात्र में -- साँचे में गले हुए ताँबे को डालने से जिस प्रकार ताँबा उसी आकार का हो जाता है वैसे ही चित्त में भोग की हेतुभूत धर्म तथा अधर्म की सहकारी घट, दुःखादि सामग्री रहने पर चित्त घट, दुःखादि का रूप -- आकार ग्रहण करता है । चित्त की यह घट, दुःखादिरूप अनात्मकारता विराम प्रत्यय के अभ्यास से निवारित -- निवृत्त होने पर भी चित्त की निर्निमित्त = स्वाभाविक जो चिदाकारता = आत्माकारता है उसका वारण-निवारण नहीं कर सकते हैं । निरोधसमाधि के द्वारा चित्त के निर्वृत्तिक -- वृत्तिहीन होने से वह चित्त केवल संस्कारमात्र होकर अत्यन्त सूक्ष्मरूप से अवस्थान करता है तथा केवल निरुपाधिक चिदात्मा के ही अभिमुख रहता है अर्थात् निरुद्ध चित्त की स्वभावसिद्ध जो आत्माकारता है उसी में वह सम्यक् प्रकार से स्थित रहता है । इसी कारण से केवलमात्र वृत्तिशून्य चित्त के द्वारा ही निर्बाधरूप से आत्मा का अनुभव होता है । इसी से ऐसा कहते हैं -- 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' = आत्मा -- निरुपाधिक प्रत्यगात्मा में ही है संस्था-समाप्ति जिसकी ऐसा आत्मसंस्थ अर्थात् धृति-धैर्य से गृहीत -- वश में की हुई विवेक-बुद्धि के द्वारा मन को सब प्रकार की वृत्तियों से शून्य, स्वभावसिद्ध आत्माकारमात्र से युक्त करके अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित होकर आत्मा या अनात्मा किसी का भी चिन्तन न करें -- किसी को भी वृत्ति से विषय न करे, क्योंकि अनात्माकारवृत्ति होने पर तो व्युत्थान ही होगा और आत्माकारवृत्ति होने पर सम्प्रज्ञात समाधि होगी । इसलिए असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिरता के लिए चित्त की किसी भी वृत्ति को उत्पन्न न करे -- यह अर्थ है ॥ 25 ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ 26 ॥

72 **एवं निरोधसमाधिं कुर्वन्योगी शब्दादीनां चित्तविक्षेपहेतूनां मध्ये यतो यतो यस्माद्यस्मान्निमित्ता-च्छब्दादेर्विषयाद्रागद्वेषादेश्च चञ्चलं विक्षेपाभिमुखं सन्मनो निश्चरति विक्षिप्तं सद्विषयाभिमुखीं प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनामन्यतमामपि समाधिविरोधिनीं वृत्तिमुत्पादयति, तथा लयहेतूनां निद्राशेषबह्वशनश्रमादीनां मध्ये यतो यतो निमित्तादस्थिरं लयाभिमुखं सन्मनो निश्चरति लीनं सत्समाधिविरोधिनीं निद्राख्यां वृत्तिमुत्पादयति, ततस्ततो विक्षेपनिमित्ताल्लयनिमित्ताच्च नियम्यैतन्मनो निर्वृत्तिकं कृत्वाऽऽत्मन्येव स्वप्रकाशपरमानन्दघने वशं नयेन्निरुन्ध्यात्, यथा न विक्षिप्येत न वा लीयेतेति । एवकारोऽनात्मगोचरत्वं समाधेर्वारयति । एतच्च विवृतं गौडाचार्यपादैः--**

'उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ 1 ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ 2 ॥
लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥ 3 ॥

[जिस-जिस कारण से चञ्चल-विक्षेप या अस्थिर --लय के अभिमुख हुआ मन-चित्त समाधि की विरोधी वृत्ति को उत्पन्न करता है उस-उस कारण से इसको रोककर आत्मा में ही इसका निरोध करे ॥ 26 ॥]

72 इस प्रकार निरोधसमाधि करता हुआ योगी चित्तविक्षेप के हेतुभूत शब्दादि में से जिस-जिस निमित्त से -- शब्दादि विषय से अथवा रागद्वेषादि से चञ्चल = विक्षेप के अभिमुख हुआ मन निश्चरति -- निकलता है अर्थात् विक्षिप्त होकर विषयाभिमुखी प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति -- इनमें से एक भी समाधि की विरोधी वृत्ति को उत्पन्न करता है तथा लय के हेतुभूत निद्राशेष -- निद्रावृत्ति का शेष रह जाना, अधिक भोजन और अधिक श्रम करना आदि में से जिस-जिस निमित्त से अस्थिर = लय के अभिमुख हुआ मन निकलता है अर्थात् लीन होता हुआ समाधि की विरोधी निद्राख्य वृत्ति को उत्पन्न करता है, उस-उस विक्षेप के निमित्त और लय के निमित्त से इस मन को रोककर = निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य कर स्वप्रकाश, परमानन्दघन आत्मा में ही वशीभूत -- निरुद्ध करे, जिससे कि वह विक्षिप्त या लीन न हो। 'आत्मन्येव' इस पद में 'एवकार' समाधि की अनात्मगोचरता का वारण-निषेध करता है। यह गौडपादाचार्य ने निम्न पाँच श्लोकों से विवृत-स्पष्ट किया है --

''काम और भोग से विक्षिप्त हुए मन-चित्त का उपायपूर्वक निग्रह करे तथा लयावस्था में सुप्रसन्न हुए चित्त का भी संयम करे, क्योंकि जैसा काम है वैसा ही लय भी है ॥ 1 ॥

सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च दुःखरूप है -- ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए चित्त को कामजनित भोगों से रोके। इसप्रकार निरन्तर सब वस्तुओं को अज-ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर कोई जात पदार्थ नहीं देखता है ॥ 2 ॥

नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ 4 ॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥' 5 ॥

इति पञ्चभिः श्लोकैः ।

73 उपायेन वक्ष्यमाणेन वैराग्याभ्यासेन कामभोगयोर्विक्षिप्तं प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनामन्यतमयाऽपि वृत्त्या परिणतं मनो निगृह्णीयान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः । कामभोगयोरिति चिन्त्यमानावस्थाभुज्यमानावस्थाभेदेन द्विवचनम् । तथा लीयतेऽस्मिन्निति लयः सुषुप्तं तस्मिन्सुप्रसन्नमायासवर्जितमपि मनो निगृह्णीयादेव । सुप्रसन्नं चेत्कुतो निगृह्यते तत्राऽऽह--यथा कामो विषयगोचरप्रमाणादिवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी तथा लयोऽपि निद्राख्यवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी । सर्ववृत्तिनिरोधो हि समाधिः । अतः कामादिकृतविक्षेपादिव श्रमादिकृतलयादपि मनो निरोद्धव्यमित्यर्थः ॥ 1 ॥

74 उपायेन निगृह्णीयात्केनेत्युच्यते--सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितमल्पं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य 'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति अथ यदल्पं तन्मर्त्यं तद्दुःखम्' इतिश्रुत्यर्थं गुरूपदेशादनु पश्चात्पर्यालोच्य कामांश्चिन्त्यमानावस्थान्विषयान्भोगान्भुज्यमानावस्थांश्च विषयान्निवर्तयेत्, मनसः

यदि चित्त लय-सुषुप्ति में लीन होने लगे तो उसको सम्यक् प्रकार से जाग्रत् करे । यदि विक्षिप्त होने लगे तो उसको पुनः शान्त करे । और यदि इन दोनों के बीच की अवस्था में स्थित हो तो उसको सकषाय समझे । तथा साम्यावस्था को प्राप्त हुए चित्त को चलायमान न करे ॥ 3 ॥ उस साम्यावस्था में प्राप्त होनेवाले सुख का आस्वादन न करे, अपितु विवेकबुद्धि के द्वारा उससे निःसङ्ग रहे । फिर यदि चित्त बाहर निकलने लगे तो उसको प्रयत्नपूर्वक निश्चल और एकाग्र करे ॥ 4 ॥ जिस समय चित्त सुषुप्ति में लीन नहीं होता है और विक्षिप्त भी नहीं होता है तथा निश्चल और विषयभास से रहित हो जाता है उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है ॥ 5 ॥ (गौदपादकारिका, 3.42-46) ।''

73 उपाय से अर्थात् वक्ष्यमाण वैराग्य के अभ्यास से काम और भोग में विक्षिप्त = प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति -- इनमें से किसी एक भी वृत्ति से परिणत हुए मन-चित्त का निग्रह करे अर्थात् आत्मा में ही निरोध करे । 'कामभोगयो:' इसमें चिन्त्यमान और भुज्यमान अवस्था के भेद से द्विवचन दिया गया है । इसीप्रकार 'लीयतेऽस्मिन्निति लय:' = जिसमें लीन होता है उसको लय अर्थात् सुषुप्त अवस्था कहते हैं । उसमें सुप्रसन्न अतएव आयास -- परिश्रम से रहित हुए मन-चित्त का भी निग्रह ही करे । यदि मन लय में सुप्रसन्न है तो उसका निग्रह क्यों किया जाय ? इस पर कहते हैं --जिस प्रकार काम विषयगोचर प्रमाणादि वृत्तियों को उत्पन्न करने के कारण समाधि का विरोधी है उसी प्रकार लय भी निद्रासंज्ञक वृत्ति को उत्पन्न करने के कारण समाधि का विरोधी है । अत: लय में सुप्रसन्न मन का भी निग्रह -- निरोध युक्त ही है क्योंकि समस्त वृत्तियों का निरोध ही 'समाधि' है । इसकारण कामादिकृत विक्षेप के समान श्रमादिकृत लय से भी मन का निरोध करना चाहिए-- यह अर्थ है ॥ 1 ॥

74 पूर्व श्लोक में कहा कि 'उपायेन निगृह्णीयात्' = 'उपाय से निग्रह करे', तो प्रश्न है -- किस उपाय से निग्रह करे ? -- इसके उत्तर में कहते हैं -- 'सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च अविद्या से विजृम्भित -- कल्पित

सकाशादिति शेषः। कामश्च भोगश्च कामभोगं तस्मान्मनो निवर्तयेदिति वा। एवं द्वैतस्मरणकाले वैराग्यभावनोपाय इत्यर्थः। द्वैतविस्मरणं तु परमोपाय इत्याह—अजं ब्रह्म सर्वं न ततोऽतिरिक्तं किंचिदस्तीति शास्त्राचार्योपदेशादनन्तरमनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं न पश्यत्येव। अधिष्ठाने ज्ञाते कल्पितस्याभावात्। पूर्वोपायापेक्षया वैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः ॥ 2 ॥

75 एवं वैराग्यभावनातत्त्वदर्शनाभ्यां विषयेभ्यो निवर्त्यमानं चित्तं यदि दैनंदिनलयाभ्यासवशाल्लयाभिमुखं भवेत्तदा निद्राशेषाजीर्णबह्वशनश्रमाणां लयकारणानां निरोधेन चित्तं सम्यक्प्रबोधयेदुत्थानप्रयत्नेन। यदि पुनरेवं प्रबोध्यमानं दैनंदिनप्रबोधाभ्यासवशात्कामभोगयोर्विक्षिप्तं स्यात्तदा वैराग्यभावनया तत्त्वसाक्षात्कारेण च पुनः शमयेत्। एवं पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं, नापि समप्राप्तमन्तरालावस्थं चित्तं स्तब्धीभूतं, सकषायं रागद्वेषादिप्रबलवासनावशेन स्तब्धीभावाख्येन कषायेण दोषेण युक्तं विजानीयात्समाहिताच्चित्ताद्विवेकेन जानीयात्। ततश्च नेदं समाहितमित्यवगम्य लयविक्षेपाभ्यामिव कषायादपि चित्तं निरुन्ध्यात्। ततश्च लयविक्षेपकषायेषु परिहृतेषु परिशेषाच्चित्तेन समं ब्रह्म प्राप्यते। तच्च समप्राप्तं चित्तं कषायलयभ्रान्त्या न चालयेत्, विषयाभिमुखं न कुर्यात्। किं तु धृतिगृहीतया बुद्ध्या लयकषायप्राप्तेर्विविच्य तस्यामेव समप्राप्तावतियत्नेन स्थापयेत् ॥ 3 ॥

है, अल्प-तुच्छ है अतएव दु:खरूप ही है' -- ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए -- 'जो भूमा है वही सुख है, अल्प-तुच्छ में सुख नहीं है, और अल्प है वह मर्त्य है -- दु:खरूप है' -- इस श्रुति के अर्थ का गुरु के उपदेश के अनु -- पश्चात् स्वयं पर्यालोचन करके -- विचार करके काम अर्थात् चिन्त्यमान अवस्थावाले विषयों को तथा भोग अर्थात् भुज्यमान अवस्थावाले विषयों को मन से निवृत्त करे -- दूर करे। यहाँ 'मनस: सकाशात्' -- इतना अध्याहार करना चाहिए। अथवा, 'कामश्च भोगश्च अनयो: समाहार: -- कामभोगम्' अर्थात् काम और भोग ही कामभोग है उससे मन को निवृत्त करे। इस प्रकार द्वैत का स्मरण होते समय वैराग्यभावना मन की निवृत्ति का उपाय है -- यह तात्पर्य है। द्वैत का विस्मरण तो परम उपाय है -- यही कहते हैं -- सब अज-ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त-भिन्न कुछ भी नहीं है -- ऐसा शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनन्तर स्मरण करके तद्विपरीत द्वैतजात को कोई नहीं देखता है, क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर कल्पित द्वैत का अभाव हो जाता है। पहले उपाय की अपेक्षा इस उपाय में विलक्षणता सूचित करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है ॥ 2 ॥

75 इस प्रकार वैराग्यभावना और तत्त्वदर्शन के द्वारा विषयों से निवर्त्यमान -- निवृत्त किया जाता हुआ चित्त यदि दैनंदिन -- प्रतिदिन लयाभ्यास के कारण लय को अभिमुख हो तो निद्राशेष, अजीर्ण, बहुभोजन और अतिश्रमरूप लय के कारणों के निरोध से चित्त को उत्थान के प्रयत्नद्वारा सम्यक् प्रकार से जाग्रत् करे। फिर भी वह यदि इस प्रकार जगाये जाने पर -- समझाये जाने पर दैनंदिन -- प्रतिदिन के प्रबोध-जगाने के अभ्यासवश काम और भोग से विक्षिप्त होने लगे तो वैराग्यभावना और तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा उसको पुन: शान्त करे। इस प्रकार पुन:-पुन: अभ्यास करनेवाले पुरुष के लय से जगाये जाते हुए, विषयों से हटाये जाते हुए और सम-अवस्था को भी प्राप्त न हुए बीच की अवस्था में स्थित स्तब्धीभूत-- सकषाय अर्थात् रागद्वेषादि प्रबल वासनाओं के कारण

76 तत्र समाधौ परमसुखव्यञ्जकेऽपि सुखं नाऽऽस्वादयेत् । एतावन्तं कालमहं सुखीति सुखास्वादरूपां वृत्तिं न कुर्यात्समाधिभङ्गप्रसङ्गादिति प्रागेव कृतव्याख्यानम् । प्रज्ञया यदुपलभ्यते सुखं तदप्यविद्यापरिकल्पितं मृषैवेत्येवंभावनया निःसङ्गो निस्पृहः सर्वसुखेषु भवेत् । अथवा प्रज्ञया सविकल्पसुखाकारवृत्तिरूपया सह सङ्गं परित्यजेत् । न तु स्वरूपसुखमपि निर्वृत्तिकेन चित्तेन नानुभवेत्स्वभावप्राप्तस्य तस्य वारयितुमशक्यत्वात् । एवं सर्वतो निवर्त्य निश्चलं प्रयत्नवशेन कृतं चित्तं स्वभावचाञ्चल्याद्विषयाभिमुखतया निश्चरद्बहिर्निर्गच्छदेकीकुर्यात्प्रयत्नतः, निरोधप्रयत्नेन समे ब्रह्मण्येकतां नयेत् ॥ 4 ॥

77 समप्राप्तं चित्तं कीदृशमित्युच्यते--यदा न लीयते नापि स्तब्धीभवति तामसत्वसाम्येन लयशब्देनैव स्तब्धीभावस्योपलक्षणात् । न च विक्षिप्यते पुनः, न शब्दाद्याकारवृत्तिमनुभवति । नापि सुखमास्वादयति, राजसत्वसाम्येन सुखास्वादस्यापि विक्षेपशब्देनोपलक्षणात् । पूर्वं भेदनिर्देशस्तु

स्तब्धीभाव नामक कषाय दोष से युक्त चित्त को जाने अर्थात् समाहित चित्त से विवेक करके जाने-पहचाने । तब 'यह चित्त समाहित नहीं है' -- यह समझकर लय और विक्षेप के समान कषाय से भी चित्त का निरोध करे । इसके बाद तो लय, विक्षेप और कषाय -- इन तीनों का परिहार हो जाने पर परिशेषत: चित्त द्वारा सम ब्रह्म ही की प्राप्ति हो जाती है । उस सम-अवस्था को प्राप्त हुए चित्त को कषाय या लय की भ्रान्ति से चलायमान अर्थात् विषयाभिमुख न करे, किन्तु धृतिगृहीतबुद्धि के द्वारा लय और कषाय की प्राप्ति से उसका विवेक कर उस समप्राप्ति में ही अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक स्थापित करे ।। 3 ।।

76 वहाँ-समाधि में, उसके परम सुख की अभिव्यक्ति करनेवाली होने पर भी, सुख का आस्वादन न करे । 'इतने समय मैं सुखी रहा' -- इसप्रकार की सुखस्वादरूपा वृत्ति न करे, क्योंकि इससे समाधिभङ्ग का प्रसङ्ग हो सकता है -- इसप्रकार पूर्व में ही व्याख्या की जा चुकी है ! 'प्रज्ञा-बुद्धि से जो सुख उपलब्ध होता है वह भी अविद्या से परिकल्पित है अतएव मिथ्या ही है' -- ऐसी भावना से सब प्रकार के सुखों में नि:सङ्ग-निस्पृह रहे । अथवा, सविकल्पक सुखाकारवृत्तिरूपा प्रज्ञा से सङ्ग का परित्याग करे । ऐसा नहीं कि निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य चित्त से स्वरूपसुख का भी अनुभव न करे, क्योंकि स्वभाव से ही प्राप्त वह सुख वारण करने में अशक्य है । इसप्रकार सब ओर से निवृत्त कर प्रयत्नपूर्वक निश्चल किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलता के कारण विषयाभिमुख होकर यदि बाहर निकले तो उसको प्रयत्नत: -- निरोध के प्रयत्न द्वारा एकरूप करे अर्थात् समब्रह्म में एकता को प्राप्त करावे ।। 4 ।।

77 समप्राप्त चित्त कैसा होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं -- जिस समय वह न तो लीन होता है अर्थात् न तो स्तब्धीभाव को प्राप्त होता है, क्योंकि तामसत्व में साम्य होने के कारण यहाँ 'लय' शब्द से ही स्तब्धीभाव उपलक्षित है; और न विक्षिप्त ही होता है अर्थात् न तो शब्दादि के आकारवाली वृत्ति का अनुभव करता है और न सुख का ही आस्वादन करता है, क्योंकि राजसत्व में साम्य होने के कारण यहाँ 'विक्षेप' शब्द से ही सुखास्वाद भी उपलक्षित है । पहले जो इन दोनों का भेद दिखाया गया है वह तो अलग-अलग इनके निरोध का प्रयत्न करने के लिए है । इसप्रकार लय और कषाय तथा विक्षेप और सुखास्वाद से रहित अनिङ्गन = इङ्गन-सवात -- वायुयुक्त दीपक के समान लयाभिमुखरूप चलन, उससे रहित निवात-वायुहीन दीपक के समान और अनाभास

पृथक्प्रयत्नकरणाय । एवं लयकषायाभ्यां विक्षेपसुखास्वादाभ्यां च रहितमनिङ्गनमिङ्गनं चलनं सवातप्रदीपवल्लयाभिमुख्यरूपं तद्रहितं निवातप्रदीपकल्पम् । अनाभासं न केचिद्विषयाकारेणाऽऽभासत इत्येतत् । कषायसुखास्वादयोरुभयान्तर्भाव उक्त एव । यदैवं दोषचतुष्टयरहितं चित्तं भवति तदा तच्चित्तं ब्रह्म निष्पन्नं समं ब्रह्म प्राप्तं भवतीत्यर्थः ॥ 5 ॥

78 **एतादृशश्च योगः श्रुत्या प्रतिपादितः--**

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥'
(कठ० 2.3.11,12) इति ।

एतन्मूलकमेव च 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति सूत्रम् । तस्माद्युक्तं ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेदिति ॥ 26 ॥

79 **एवं योगाभ्यासबलादात्मन्येव योगिनः प्रशाम्यति मनः । ततश्च--**

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ 27 ॥

80 **प्रकर्षेण शान्तं निर्वृत्तिकतया निरुद्धं संस्कारमात्रशेषं मनो यस्य तं प्रशान्तमनसं वृत्तिशून्यतया निर्मनस्कम् । निर्मनस्कत्वे हेतुगर्भं विशेषणद्वयं शान्तरजसमकल्मषमिति । शान्तं विक्षेपकं रजो**

= जो किसी भी विषयाकार से भासित नहीं होता ऐसा, -- हो जाता है । कषाय और सुखास्वाद -- इन दोनों का इन दोनों में अन्तर्भाव कहा जा चुका है । जिस समय चित्त इसप्रकार इन चारों दोषों से रहित हो जाता है उस समय वह चित्त ब्रह्मनिष्पन्न अर्थात् सम ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ 5 ॥

78 इसप्रकार का योग श्रुति से भी प्रतिपादित है --
'जिस समय मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अवस्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है उसको परमा गति कहते हैं, उस स्थिर इन्द्रियधारणा को 'योग' मानते हैं । उस समय उत्पत्ति और नाश में योगी अप्रमत्त होता है, क्योंकि योग ही उत्पत्ति और प्रलय है' (कठोपनिषद्, 2.3. 11-12) । और इसी मूल के आधार पर 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र, 1.2) = 'चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है' -- यह सूत्र है । अतः 'ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्' -- 'उस-उस कारण से चित्त को रोककर आत्मा में ही इसका निरोध करे' -- यह बहुत ठीक ही कहा है ॥ 26 ॥

79 इसप्रकार योगाभ्यास के बल से योगी का मन आत्मा में ही शान्त हो जाता है । और उससे -- [अत्यन्त शान्तचित्त, शान्तरजोगुण, तमोगुण से रहित और ब्रह्मभूत इस योगी को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है ॥ 27 ॥]

80 प्रशान्त = प्रकर्ष से शान्त अर्थात् निर्वृत्तिकता से निरुद्ध संस्कारमात्रावशिष्ट है मन जिसका उस प्रशान्तमन अर्थात् वृत्तिशून्यता से 'निर्मनस्क' । 'शान्तरजसम्' और 'अकल्मषम्' -- ये दो विशेषण निर्मनस्कता में ही हेतुयुक्त हैं । शान्तरजसम् = शान्तरजोगुण अर्थात् शान्त हो गया है विक्षेपक रजोगुण जिसका उस 'विक्षेपशून्य' । तथा 'अकल्मषम्' = तमोगुण से रहित अर्थात् नहीं है कल्मष

यस्य तं विक्षेपशून्यम् । तथा न विद्यते कल्मषं लयहेतुस्तमो यस्य तमकल्मषं लयशून्यम् । शान्तरजसमित्यनेनैव तमोगुणोपलक्षणेऽकल्मषं संसारहेतुधर्माधर्मादिवर्जितमिति वा । ब्रह्मभूतं ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चयेन समं ब्रह्म प्राप्तं जीवन्मुक्तमेनं योगिनम् । एवमुक्तेन प्रकारेणेति श्रीधरः । उत्तमं निरतिशयं सुखमुपैत्युपगच्छति । मनस्तद्वृत्त्योरभावे सुषुप्तौ स्वरूपसुखाविर्भावप्रसिद्धिं द्योतयति हिशब्दः । तथा च प्राग्व्याख्यातं सुखमात्यन्तिकं यत्तदित्यत्र ॥ 27 ॥

81 उक्तं सुखं योगिनः स्फुटीकरोति --

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ 28 ॥

82 एवं मनसैवेन्द्रियग्राममित्याद्युक्तक्रमेणाऽऽत्मानं मनः सदा युञ्जन्समादधद्योगी योगेन नित्यसंबन्धी विगतकल्मषो विगतमलः संसारहेतुधर्माधर्मरहितः सुखेनानायासेनेश्वरप्रणिधाना-त्सर्वान्तरायनिवृत्त्या ब्रह्मसंस्पर्शं सम्यक्त्वेन विषयास्पर्शेन सह ब्रह्मणः स्पर्शस्तादात्म्यं यस्मिंस्त-

---

-- लय का हेतुभूत तमोगुण जिसमें उस अकल्मष -- 'लयशून्य' । अथवा, 'शान्तरजसम्' -- इतने से ही तमोगुण का भी उपलक्षण हो जाने के कारण 'अकल्मषम्' अर्थात् संसार के हेतुभूत धर्म, अधर्म आदि से रहित । तथा 'ब्रह्मभूत' = 'सब ब्रह्म ही है' -- इस निश्चय से सम ब्रह्म को प्राप्त -- 'जीवन्मुक्त' -- इस योगी को । यहाँ श्लोकस्थ 'एनम्' के स्थान पर 'एवम्' -- पाठ मानकर श्रीधर स्वामी 'एवं = उक्तेन प्रकारेण' अर्थात् 'उक्त प्रकार से' -- ऐसी व्याख्या करते हैं । उत्तम = निरतिशय सुख उपलब्ध -- प्राप्त होता है । यहाँ 'हि' शब्द मन और उसकी वृत्तियों का अभाव होने पर भी सुषुप्ति में स्वरूपसुख के आविर्भाव की प्रसिद्धि को द्योतित करता है । इसीप्रकार 'सुखमात्यन्तिकं यत्तत्' (गीता, 6.21) -- इस स्थान पर पहले व्याख्या की जा चुकी है ॥ 27 ॥

81 योगी के उक्त सुख को स्पष्ट करते हैं :--

[इसप्रकार आत्मा-मन को सदा-निरन्तर समाधि में नियुक्त करनेवाला योगी संसार के हेतुभूत धर्म और अधर्म से रहित होकर सुखपूर्वक-अनायास ही ब्रह्म से संस्पर्श-तादात्म्य रखनेवाले अत्यन्त-निरतिशय सुख को प्राप्त करता है ॥ 28 ॥]

82 इस प्रकार 'मनसैवेन्द्रियग्रामम्' (गीता, 6.24) इत्यादि श्लोक में उक्त क्रम से आत्मा अर्थात् मन को सदा-निरन्तर युञ्जन् = योगयुक्त अर्थात् समाहित करनेवाला योगी = योग से नित्यसम्बन्धी[48] -- नित्य सम्बन्ध रखनेवाला विगतकल्मष = विगतमल अर्थात् संसार के हेतुभूत धर्म और अधर्म से रहित होकर सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही ईश्वरप्रणिधान के द्वारा सम्पूर्ण अन्तरायों -- विघ्नों की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्मसंस्पर्श = सम्यक् होने के कारण विषय के अस्पर्श के साथ ब्रह्म का स्पर्श-तादात्म्य है जिसमें उस विषयासंस्पर्शी-- विषय को स्पर्श न करनेवाले अर्थात् ब्रह्मस्वरूप अत्यन्त

---

48. यहाँ 'योगी' शब्द नित्ययोगसम्बन्धीपरक है । 'योग' शब्द से 'नित्य सम्बन्ध' अर्थ में मतुबर्थीय 'इनि' प्रत्यय होकर 'योगी' शब्द निष्पन्न हुआ है (योग + इनि = योगी) । वार्तिक है –

'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ।।' (वार्तिक 3183)

जिसके अनुसार 'किसी वस्तु का बहुत्व (भूम), निन्दा, प्रशंसा, नित्यसम्बन्ध, अतिशय, अथवा सम्बन्ध का बोध कराने के लिए मतुप् तथा मतुप् अर्थ वाले जैसे – इनि प्रत्यय होते हैं ।'

द्विषयासंस्पर्शि ब्रह्मस्वरूपमित्येतत् । अत्यन्तं सर्वानन्तान्परिच्छेदानतिक्रान्तं निरतिशयं सुखमानन्दमश्नुते व्याप्नोति, सर्वतोनिर्वृत्तिकेन चित्तेन लयविक्षेपविलक्षणमनुभवति, विक्षेपे वृत्तिसत्त्वात्, लये च मनसोऽपि स्वरूपेणासत्त्वात् । सर्ववृत्तिशून्येन सूक्ष्मेण मनसा सुखानुभवः समाधावेवेत्यर्थः ।

83 **अत्र चानायासेनेत्यन्तरायनिवृत्तिरुक्ता । ते चान्तराया दर्शिता योगसूत्रेण-- 'व्याधिस्त्यानसंशय-प्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः' (पा० द० 1.30) चित्तं विक्षिपन्ति योगादपनयन्तीति चित्तविक्षेपा योगप्रतिपक्षाः । संशयभ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तिरूपतया वृत्तिनिरोधस्य साक्षात्प्रतिपक्षौ । व्याध्यादयस्तु सप्त वृत्तिसहचरिततया तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः । व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो विकारो ज्वरादिः । स्त्यानमकर्मण्यता गुरुणा शिक्ष्यमाणस्याप्यासनादिकर्मानर्हतेति यावत् । योगः साधनीयो न वेत्युभयकोटिस्पृग्विज्ञानं संशयः । [स च] अतद्रूपप्रतिष्ठत्वेन विपर्ययान्तर्गतोऽपि सन्नुभयकोटिस्पर्शित्वैककोटि-स्पर्शित्वरूपावान्तरविशेषविवक्षयाऽत्र विपर्ययाद्भेदेनोक्तः । प्रमादः समाधिसाधनानाम-नुष्ठानसामर्थ्येऽप्यननुष्ठानशीलता विषयान्तरव्यापृततया योगसाधनेष्वौदासीन्यमिति यावत्**

= सब अन्त अर्थात् परिच्छेदों से अतिक्रान्त -- निरतिशय सुख = आनन्द को प्राप्त करता है अर्थात् उसमें व्याप्त हो जाता है अर्थात् सब ओर से निर्वृत्तिक चित्तद्वारा लय और विक्षेप से विलक्षण सुख का अनुभव करता है, क्योंकि विक्षेप में मानस वृत्ति रहती है और लय में मन स्वरूप से भी नहीं रहता है । समाधि में ही समस्त वृत्तियों से शून्य सूक्ष्म मन से सुख का अनुभव होता है -- यह अर्थ है ।

83 यहाँ 'अनायासेन' = 'अनायास ही' -- ऐसा कहकर अन्तरायों -- विघ्नों की निवृत्ति कही गई है । वे अन्तराय योगसूत्र से इस प्रकार कहे गए हैं -- 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तवेक्षेपास्तेऽन्तरायाः' (योगसूत्र, 1.30) = 'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, तथा अनवस्थितत्व -- ये नौ चित्त के विक्षेपक अर्थात् चित्त को चञ्चल करनेवाले हैं, अतः वे अन्तराय अर्थात् योग के विरोधी होने से विघ्नरूप हैं' । जो चित्त को विक्षिप्त करते हैं -- योग से दूर ले जाते हैं वे 'चित्तविक्षेप' कहलाते हैं, ये योग के प्रतिपक्षी -- विरोधी हैं । इनमें संशय और भ्रान्तिदर्शन तो वृत्तिरूप होने के कारण वृत्तिनिरोध के साक्षात् प्रतिपक्षी -- विरोधी हैं तथा शेष व्याधि आदि सात अन्तराय वृत्तियों के साथ रहने के कारण उसके परम्परया विरोधी हैं -- ऐसा इनका अर्थ हैं । धातुवैषम्य के कारण होनेवाला ज्वरादि विकार 'व्याधि'[49] है । 'स्त्यान' अकर्मण्यता को कहते हैं अर्थात् गुरु के द्वारा सिखाये जाने पर भी आसनादि कर्मों में अयोग्यता से 'सब करें या नहीं' -- यह 'स्त्यान'[50] है । 'योग साधना चाहिए या नहीं' -- इसप्रकार दोनों

49. 'व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्' (योगभाष्य, 1.30) = धातु की विषमता, रस की विषमता और करण की विषमता को 'व्याधि' कहते हैं । वात, पित्त और कफ -- इन तीनों का नाम दोष है । रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र -- ये सात धातु हैं । इनकी इयत्ता को त्यागकर न्यूनाधिक हो जाना 'धातु की विषमता' या 'दोष-प्रकोप' कहा जाता है । भुक्त-पीत अन्न-जल के परिपाक को प्राप्त हुए सार का नाम 'रस' है । भुक्त-पीत अन्न-जल का परिपाक न होना अर्थात् सम्यक्-रूप से न पचना 'रस की विषमता' है । करण नेत्रादि इन्द्रियों का नाम है । ज्ञान के करण नेत्रादि इन्द्रियों की शक्ति मन्द होना 'करण की विषमता' है ।

50. 'स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य' (योगभाष्य, 1.30) = चित्त की अकर्मण्यता = कार्य करने में असमर्थता 'स्त्यान' है । अर्थात् इच्छा होने पर भी कोई कार्य करने की क्षमता न रहना 'स्त्यान' कहा जाता है ।

आलस्यं सत्यामप्यौदासीन्यप्रच्युतौ कफादिना तमसा च कायचित्तयोर्गुरुत्वम् । [तच्च] व्याधित्वेनाप्रसिद्धमपि योगविषये प्रवृत्तिविरोधि । अविरतिश्चित्तस्य विषयविशेष ऐकान्तिकोऽभिलाषः । भ्रान्तिदर्शनं योगासाधनेऽपि तत्साधनत्वबुद्धिस्तथा तत्साधनेऽप्यसाधनत्वबुद्धिः । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरेकाग्रताया अलाभः क्षिप्तमूढविक्षिप्तरूपत्वमिति यावत् । अनवस्थितत्वं लब्धायामपि समाधिभूमौ प्रयत्नशैथिल्याच्चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठितत्वम् । त एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इति चाभिधीयन्ते ।

84 **'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः' (पा० द० 1.31) दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनालक्षणः । तच्चाऽऽध्यात्मिकं शारीरं मानसं च व्याधिवशात्कामादिवशाच्च भवति । आधिभौतिकं व्याघ्रादिजनितम् । आधिदैविकं ग्रहपीडादिजनितं द्वेषाख्यविपर्ययहेतुत्वात्समाधिविरोधि । दौर्मनस्यमिच्छाविघातादिबलवद्दुःखानुभवजनितश्चित्तस्य तामसः परिणामविशेषः क्षोभापरपर्यायः स्तब्धीभावः । स तु कषायत्वाल्लयवत्समाधिविरोधी । अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पनमास-**

कोटियों को स्पर्श करनेवाला विज्ञान 'संशय' है । यदि शंका करें कि अतद्रूपप्रतिष्ठित होने के कारण अर्थात् तद्रूपवस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित न होने के कारण संशय का यद्यपि विपर्यय में अन्तर्भाव हो जाता है, पुनः संशय का पृथक् निर्देश क्यों किया है ? तो इस शंका की निवृत्ति करने के लिए उत्तर है कि संशय और विपर्यय -- दोनों में अवान्तर विशेषधर्म दिखलाने के लिए विपर्यय से भिन्न संशय का पृथक् निर्देश किया है । संशय उभयकोटिविषयक होता है और विपर्यय एककोटिविषयक होता है -- इसप्रकार उभयकोटिकत्व और एककोटित्व -- भेद की विवक्षा से विपर्यय से भिन्न संशय को कहा है । 'प्रमाद' समाधि के साधनों को करने का सामर्थ्य होने पर भी उनको न करने का स्वभाव अर्थात् विषयान्तर में लगे रहने के कारण योगसाधनों में उदासीनता होना है । 'आलस्य' उदासीनताबुद्धि के न रहने पर भी कफादि अथवा तमोगुण के कारण शरीर और चित्त का भारी रहना है । व्याधिरूप से प्रसिद्ध न होने पर भी यह योगविषय में प्रवृत्ति होने का विरोधी है । 'अविरति' किसी विषयविशेष में चित्त की ऐकान्तिकी अभिलाषा है । जो योग का साधन नहीं है फिर भी उसमें योगसाधनताबुद्धि होना, और जो योग का साधन है फिर भी उसमें असाधनताबुद्धि होना 'भ्रान्तिदर्शन' है । 'अलब्धभूमिकत्व' समाधिभूमि और एकाग्रता का लाभ न होना अर्थात् चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्तरूपता रहना है । समाधिभूमि के प्राप्त हो जाने पर भी प्रयत्न की शिथिलता से चित्त का उसमें स्थित न होना 'अनवस्थितत्व' है । ये नौ चित्तविक्षेप योग के मल = योग के प्रतिपक्षी-विरोधी अर्थात् योग के अन्तराय कहे जाते हैं ।

84 'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः' (योगसूत्र, 1.31) = 'दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास -- ये पाँच पूर्वोक्त व्याधि आदि नौ प्रकार के विक्षेपों के साथी हैं अर्थात् व्याधि आदि विक्षेपों के होने पर ये दुःख आदि अन्य पाँच भी प्रतिबन्धक-विघ्नरूप से उपस्थित हो जाते हैं ।' चित्त के बाधनालक्षण राजस परिणाम को 'दुःख[51] कहते हैं । वह तीन प्रकार का होता है -- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । इनमें व्याधिवश और कामादिवश होने से क्रमशः शरीर और मन से सम्बन्ध रखनेवाला 'आध्यात्मिक' होता है अर्थात् 'आध्यात्मिक' दुःख शारीर -- शारीरिक और मानस-मानसिक रूप से दो प्रकार का होता है । व्याधि से उत्पन्न दुःख

---

51. 'येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्' (योगभाष्य, 1.31) = जिससे अभिहत-पीडित हुए प्राणी उस प्रतिकूल वेदनीय हेय दुःख की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करते है वह 'दुःख' कहा जाता है ।

नस्थैर्यविरोधि । प्राणेन बाह्यस्य वायोरन्तःप्रवेशनं श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी । प्राणेन कोष्ठ्यस्य वायोर्बहिर्निःसरणं प्रश्वासः समाध्यङ्गपूरकविरोधी । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति विक्षिप्तचित्तस्यैव भवन्तीति विक्षेपसहभुवोऽन्तराया एव । एतेऽभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । ईश्वरप्रणिधानेन वा । तीव्रसंवेगानामासन्ने समाधिलाभे प्रस्तुत ईश्वरप्रणिधानाद्वेति पक्षान्तरमुक्त्वा प्रणिधेयमीश्वरं 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजं' 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (पा० द० 1.24-26) इति त्रिभिः सूत्रैः

को 'शारीरिक' और कामादि से उत्पन्न दु:ख को 'मानसिक' कहते हैं । ये सभी दु:ख आन्तरिक उपायों से साध्य या निवर्तनीय होने के कारण 'आध्यात्मिक' कहलाते हैं (आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्, तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसं च) । व्याघ्रादि से उत्पन्न होनेवाला दु:ख 'आधिभौतिक' है । ग्रहपीडा आदि से होनेवाला दु:ख 'आधिदैविक' कहलाता है । द्वेष नामक विपर्यय का हेतु होने के कारण यह समाधि का विरोधी है । ये तीनों दु:ख विक्षेप द्वारा समाधि के प्रतिपक्षी-विरोधी होने से विक्षेप के साथी और परम्परा से समाधि में अन्तरायरूप कहे जाते हैं । इच्छाविघात -- जो चाहे सो न हो आदि बलवान् दु:खानुभव से उत्पन्न होनेवाला चित्त का तामस परिणामविशेष, जिसका दूसरा नाम क्षोभ है वह स्तब्धीभाव 'दौर्मनस्य कहलाता है । यह भी कषाय होने के कारण लय के समान समाधि का विरोधी है । 'अङ्गमेजयत्व' अङ्गकम्पन है । यह आसन की स्थिरता का विरोधी है । प्राण से बाह्य वायु को भीतर ले जाना 'श्वास' है, यह समाधि के अङ्ग रेचक का विरोधी है । प्राण से कोष्ठ्य -- कुक्षिस्थ -- उदरस्थ वायु को बाहर निकालना 'प्रश्वास' है, यह समाधि के अङ्ग पूरक का विरोधी है । ये सब समाहित चित्त को नहीं होते हैं, विक्षिप्त चित्त को ही होते है, अत: विक्षेप के साथ होनेवाले अन्तराय ही हैं । इनका अभ्यास और वैराग्य से निरोध करना चाहिए, अथवा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा निरोध करना चाहिए । सूत्रकार पतञ्जलि ने 'तीव्रसंवेग[52]' वाले योगियों को शीघ्र समाधि लाभ होता है[53]' -- ऐसा प्रस्तुत करने पर 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा[54]' (योगसूत्र, 1.23) = 'अथवा, ईश्वरप्रणिधान से भी अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ होता है' -- इस पक्षान्तर को कहकर प्रणिधेय ईश्वर का 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर:' (योगसूत्र, 1.24) = 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-- ये पाँच क्लेश है' । राग-द्वेषादि से उत्पन्न शुभाशुभ -- कर्मजन्य होने से पुण्य-पाप 'कर्म'कहलाते हैं । पुण्य-पाप के फल

52. वाचस्पति मिश्र ने 'संवेग' शब्द का अर्थ 'वैराग्य' किया है । विज्ञानभिक्षु 'संवेग: उपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्' = 'संवेग' उपाय के अनुष्ठान में शीघ्रता को कहते हैं । भोज के अनुसार 'संवेग: क्रियाहेतुर्दृढतर: संस्कार:' = क्रिया के करने में जो कारणरूप दृढ़तर संस्कार होता है वह 'संवेग' कहलाता है । वस्तुत: 'संवेग' शब्द वैराग्य की सांकेतिक संज्ञा है, जैसे अधिमात्र आदि शब्द योगशास्त्र की सांकेतिक संज्ञा हैं । 'संवेग' वैराग्य में तीव्रता का द्योतक है ।

53. 'तीव्रसंवेगानामासन्न:' (योगसूत्र, 1.21) = तीव्रसंवेगवाले योगियों को शीघ्र समाधिलाभ और समाधिफल प्राप्त होते हैं । योगशास्त्र के अनुसार नौ प्रकार के योगी होते हैं – मृदूपाय -- मृदुसंवेग, मृदूपाय – मध्यसंवेग, मृदूपाय -- तीव्रसंवेग, मध्योपाय-मृदुसंवेग, मध्योपाय -- मध्यसंवेग, मध्योपाय – तीव्रसंवेग, अधिमात्रोपाय – मृदुसंवेग, अधिमात्रोपाय -- मध्यसंवेग, और अधिमात्रोपाय -- तीव्रसंवेग । इन नौ योगियों में जो अधिमात्रोपाय – तीव्रसंवेग वाले होते हैं उनको आठ योगियों की अपेक्षा शीघ्र समाधिलाभ और समाधिफल प्राप्त होते हैं ।

54. क्या अधिमात्रोपाय-तीव्रसंवेग से ही अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ होता है ? अथवा, इस समाधिलाभ में दूसरा भी कोई सुलभ उपाय है ? -- इस आशंका के निवारणार्थ ही सूत्रकार ने प्रकृत सूत्र में अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ के लिए पक्षान्तर -- उपयान्तर कहा है ।

प्रतिपाद्य तत्प्रणिधानं द्वाभ्यामसूत्रयत्– 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (पा० द० 1.27-28) इति । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (पा० द० 1.29) ततः प्रणवजपरूपात्तदर्थध्यानरूपाच्चेश्वरप्रणिधानात्प्रत्यक्चेतनस्य पुरुषस्य प्रकृतिविवेकेनाधिगमः साक्षात्कारो भवति । उक्तानामन्तरायाणामभावोऽपि भवतीत्यर्थः ।

८5 अभ्यासवैराग्याभ्यामन्तरायनिवृत्तौ - कर्तव्यायामभ्यासदार्ढ्यार्थमाह– 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (पा० द० 1.32) तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन्कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यम् । तथा 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (पा० द० 1.33) मैत्री सौहार्द, करुणा कृपा;

जाति, आयु और भोगरूप सुख-दुःख 'विपाक' कहे जाते हैं । सुख-दुःखात्मक भोग से जन्य नाना प्रकार की वासनाएँ 'आशय' कही जाती हैं । उक्त क्लेश, कर्म, विपाक और आशय – इन चारों पदार्थों से असम्बद्ध जो पुरुषविशेष है वह 'ईश्वर' है ।'; 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (योगसूत्र, 1.25) = 'तत्र = ईश्वर और उसकी ज्ञानक्रियाशक्ति के उत्कर्ष में सर्वज्ञत्व के कारण ज्ञान निरतिशय रहता है अर्थात् अन्तिम उन्नति के रूप में विद्यमान रहता है ।' तथा 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योगसूत्र, 1.26) = 'वह ईश्वर पूर्व -- सृष्टि के आदिकाल में उत्पन्न ब्रह्मा आदि देवों का और अङ्गिरादि ऋषियों का भी गुरु -- पूज्य और उपदेष्टा गुरु है, क्योंकि वह काल से अवच्छिन्न -- परिच्छिन्न नहीं है' -- इन तीन सूत्रों से प्रतिपादन कर 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगसूत्र, 1.27) = 'उस ईश्वर का वाचक -- अभिधायक-बोधक शब्द प्रणव[55] -- ओम् है अर्थात् ईश्वर का नाम 'ओम्' है' । तथा 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगसूत्र, 1.28) = 'उस प्रणव = ओम् का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का ध्यान करना -- पुनः पुनः चिन्तन करना 'ईश्वरप्रणिधान[56]' है', – इन दो सूत्रों से ईश्वरप्रणिधान को कहा है । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योगसूत्र, 1.29) = 'उस ईश्वरप्रणिधान से प्रत्यक्-चेतना का अधिगम -- ज्ञान -- साक्षात्कार भी होता है और अन्तरायों -- व्याधि-स्त्यान आदि विघ्नों का अभाव होता है ।' उस प्रणवजपरूप और तदर्थध्यानरूप ईश्वरप्रणिधान से प्रकृति के विवेक द्वारा प्रत्यक्-चेतन अर्थात् पुरुष का अधिगम = साक्षात्कार होता है और उक्त व्याधि आदि अन्तरायों का भी अभाव होता है -- यह तात्पर्य है ।

८5 अभ्यास और वैराग्य से अन्तरायों-विघ्नों की निवृत्ति करनी चाहिए– ऐसा निश्चित करने पर अभ्यास और वैराग्य में से अभ्यास अर्थात् ईश्वरप्रणिधानरूप अभ्यास की दृढ़ता के लिए कहते हैं-- 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (योगसूत्र, 1.32)= 'उन पूर्वोक्त विक्षेपों तथा उपविक्षेपों को दूर करने

55. प्रणव -- प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः' (भोजवृत्ति, 1.27) = परम नम्रता से स्तुति की जाय जिसके द्वारा, अथवा भक्त जिसकी उत्तमता से स्तुति करता है वह 'प्रणव' कहलाता है । वह 'ओम्' ही है । 'अवति इति ओम्' -- जो रक्षा करता है वह 'ओम्' है । ईश्वर ही प्राणिमात्र की रक्षा करता है, अतः ईश्वर का नाम 'ओम्' है । इस 'ओम्' और ईश्वर का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है अर्थात् निरतिशय ज्ञान-क्रिया-शक्तिरूप ऐश्वर्यवाला व्यापक ईश्वर वाच्य है, बोध्य है, और अभिधेय है तथा 'ओम्' वाचक, बोधक और अभिधायक है ।

56. ईश्वरप्रणिधान का सामान्य अर्थ ईश्वर की भक्तिविशेष तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब करणों, उनसे होनेवाले सब कर्मों और उनके फलों अर्थात् सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर को समर्पण कर देना है, किन्तु विशेषरूप से 'ओम्' का मानसिक जप करना और उसके अर्थभूत ईश्वर के गुणों की भावना अर्थात् पुनः-पुनः ध्यान करना 'ईश्वरप्रणिधान' है । चित्त को सब ओर से निवृत्त करके केवल ईश्वर में ही स्थिर करना 'भावना' है ।

मुदिता हर्षः, उपेक्षौदासीन्यं, सुखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपाद्यन्ते । सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु साध्वेतन्मम मित्राणां सुखित्वमिति मैत्रीं भावयेत्, न त्वीर्ष्याम् । दुःखितेषु कथंनु नामैषा दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव भावयेत्, नोपेक्षां न वा हर्षम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षं कुर्यान्न तु विद्वेषं न चोपेक्षाम् । अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च विगतरागद्वेषादिमलं चित्तं प्रसन्नं सदेकाग्रतायोग्यं भवति । मैत्र्यादिचतुष्टयं चोपलक्षणमभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादीनाम-मानित्वमदम्भित्वमित्यादीनां च धर्माणां, सर्वेषामेतेषां शुभवासनारूपत्वेन मलिनवासनानिवर्तकत्वात् । रागद्वेषौ महाशत्रू सर्वपुरुषार्थप्रतिबन्धकौ महता प्रयत्नेन परिहर्तव्यावित्येतत्सूत्रार्थः । एवमन्येऽपि प्राणायामादय उपायाश्चित्तप्रसादनाय दर्शिताः । तदेतच्चित्तप्रसादनं भगवदनुग्रहेण यस्य जातं तं प्रत्येवैतद्वचनं--सुखेनेति । अन्यथा मनःप्रशमानुपपत्ते ॥ 28 ॥

के लिए ईश्वररूप एक-तत्त्व[57] का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्वद्वारा चित्त की स्थिति के लिए यत्न करना चाहिए'। उन अन्तरायों-विघ्नों के प्रतिषेध के लिए किसी एक अभिमत तत्त्व में अभ्यास -- चित्त को पुनः-पुनः स्थित करना चाहिए । तथा 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (योगसूत्र, 1.33) = 'सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम मित्रता, दया, मुदिता -- हर्ष, और उपेक्षा-उदासीनता की भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न -- निर्मल होता है', अतः इनके द्वारा योगी अपने चित्त को प्रसन्न करके ईश्वरप्रणिधान में स्थिति-पद को प्राप्त होता है । मैत्री सौहार्द है, करुणा कृपा को कहते हैं, मुदिता का अर्थ हर्ष है तथा उपेक्षा उदासीनता है । 'सुखादि' शब्दों से सुखादिमानों अर्थात् सुखवाले-सुखी आदि का प्रतिपादन किया गया है । सुखसंभोग से सम्पन्न सभी प्राणियों में 'मेरे मित्रों का इसप्रकार सुखी होना अत्यन्त हर्ष की बात है' -- इसप्रकार मैत्री की भावना करे, ईर्ष्या न करे । दुःखी प्राणियों में 'इनके दुःख की निवृत्ति कैसे हो' -- इसप्रकार कृपा की ही भावना करे, उपेक्षा न करे अथवा हर्ष न करे । पुण्यवान् प्राणियों में पुण्य का अनुमोदन करते हुए हर्ष करे, द्वेष न करे अथवा उपेक्षा न करे । तथा अपुण्यवान् प्राणियों में उदासीनता की ही भावना करे, उनका अनुमोदन न करे अथवा उनसे द्वेष न करे । इसप्रकार भावनाशील पुरुष का शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है । उससे उसका रागद्वेषादि मल से रहित हुआ चित्त प्रसन्न होकर एकाग्रता के योग्य हो जाता है । ये मैत्री आदि चार धर्म अभय -- सत्त्वसंशुद्धि आदि तथा अमानित्व -- अदम्भित्व आदि धर्मों के उपलक्षणमात्र है, क्योंकि शुभवासनारूप होने के कारण ये सभी मलिन वासनाओं की निवृत्ति करनेवाले हैं । इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि सब पुरुषार्थों के प्रतिबन्धक -- विरोधी राग-द्वेषरूप महान् शत्रुओं का अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक परिहार-परित्याग करना चाहिए । इसी प्रकार चित्त के प्रसादन के लिए प्राणायाम आदि अन्य उपाय भी दिखाये गये हैं । भगवान् के अनुग्रह से जिसको यह चित्तप्रसाद प्राप्त हुआ है उसी के लिए -- 'सुखेन०' -- यह वचन कहा गया है, अन्यथा मन का शान्त होना सम्भव नहीं है ॥ 28 ॥

57. 'एके मुख्यान्यकेवला' (अमरकोष, 3.3.16) तथा 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च०' -- इत्यादि कोष के अनुसार प्रकृत सूत्र में 'एक' शब्द मुख्य -- प्रधान वाचक है । अतः 'एकतत्त्व' शब्द का अर्थ प्रधान तत्त्व हुआ और वह प्रधानतत्त्व प्रकृत प्रसङ्ग में ईश्वर ही है, अन्य स्थूल आदि पदार्थ नहीं । अतः इस ईश्वररूप एकतत्त्वावलम्बन में पुनः पुनः चित्त को लगाना ही 'एकतत्त्वाभ्यास' कहा जाता है । इसी को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं ।

86 तदेवं निरोधसमाधिंना त्वंपदलक्ष्ये तत्पदलक्ष्ये च शुद्धे साक्षात्कृते तदैक्यगोचरा तत्त्वमसीतिवेदान्तवाक्यजन्या निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपा वृत्तिर्ब्रह्मविद्याभिधाना जायते। ततश्च कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मसुखमत्यन्तमश्नुत इत्युपपादयति त्रिभिः श्लोकैः। तत्र प्रथमं त्वंपदलक्ष्योपस्थितिमाह--

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥ 29 ॥

87 सर्वेषु भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु शरीरेषु भोक्तृतया स्थितमेकमेव नित्यं विभुमात्मानं प्रत्यक्चेतनं साक्षिणं परमार्थसत्यमानन्दघनं साक्ष्येभ्योऽनृतजडपरिच्छिन्नदुःखरूपेभ्यो विवेकेनेक्षते साक्षात्करोति । तस्मिंश्चाऽऽत्मनि साक्षिणि सर्वाणि भूतानि साक्ष्याण्याध्यासिकेन संबन्धेन भोग्यतया कल्पितानि साक्षिसाक्ष्ययोः संबन्धान्तरानुपपत्तेर्मिथ्याभूतानि परिच्छिन्नानि जडानि दुःखात्मकानि साक्षिणो विवेकेनेक्षते । कः, योगयुक्तात्मा योगेन निर्विचारवैशारद्यरूपेण युक्तः प्रसादं प्राप्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य स तथा । तथाच प्रागेवोक्तं -- 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' ' श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' इति । तथा च शब्दानुमानागोचरयथार्थविशेषवस्तुगोचरयोगजप्रत्यक्षेण ऋतंभरसंज्ञेन युगपत्सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं च सर्वं तुल्यमेव पश्यतीति सर्वत्र समं दर्शनं यस्येति सर्वत्रसमदर्शनः सन्नात्मानमनात्मानं च योगयुक्तात्मा यथावस्थितमीक्षत इति युक्तम् ।

---

86 तब इसप्रकार निरोधसमाधि से 'त्वम्' पद के लक्ष्य और 'तत्' पद के लक्ष्य शुद्ध चेतनब्रह्म का साक्षात्कार करने पर तदैक्यगोचरा -- तदभेदविषयिणी अर्थात् 'त्वम्' और 'तत्' के ऐक्य -- अभेद को विषय करनेवाली तथा 'तत्त्वमसि' -- इस वेदान्तवाक्य से जन्य-उत्पन्न होनेवाली ब्रह्मविद्याभिधाना निर्विकल्पक साक्षात्काररूप वृत्ति उत्पन्न होती है। उससे सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्यों की निवृत्ति हो जाने से योगी अत्यन्त ब्रह्मसुख प्राप्त करता है -- यह तीन श्लोकों से कहते हैं। इसमें पहले 'त्वम्' पद के लक्ष्य आत्मा की उपस्थिति कहते हैं --

[योग से युक्त-प्रसन्न-निर्मल हुए आत्मा -- चित्तवाला तथा सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला योगी आत्मा को समस्त भूतों में स्थित और समस्त भूतों को आत्मा में स्थित देखता है ॥ 29 ॥]

87 समस्त भूतों में अर्थात् स्थावर -- जंगम शरीरों में भोक्तारूप से स्थित एक ही नित्य, विभु आत्मा को = साक्षी, परमार्थसत्य, आनन्दघन प्रत्यक्-चेतन को अनृत -- मिथ्या, जड़, परिच्छिन्न, दुःखरूप साक्ष्यों से विवेकपूर्वक देखता है -- साक्षात्कार करता है। उस साक्षी आत्मा में आध्यासिक सम्बन्धद्वारा भोग्यरूप से कल्पित समस्त साक्ष्य भूतों को, साक्षी और साक्ष्य का कल्पित सम्बन्ध से अतिरिक्त कोई दूसरा सम्बन्ध न हो सकने के कारण वे साक्षी मिथ्याभूत, परिच्छिन्न, जड दुःखात्मक हैं अतएव तद्विपरीत साक्षी से भिन्न हैं -- इस विवेक से देखता है । कौन देखता है ? योगयुक्तात्मा = निर्विचारवैशारद्यरूप योग से युक्त-प्रसाद को प्राप्त है आत्मा -- अन्तःकरण जिसका वह -- इसप्रकार का योगी देखता है । यह 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' (योगसूत्र, 1.47) = 'निर्विचार समाधि का वैशारद्य होने पर योगी को अध्यात्मप्रसाद होता है', 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (योगसूत्र, 1.48) 'निर्विचार योग के वैशारद्य काल में जो अध्यात्मप्रसादरूप प्रज्ञा-बुद्धि योगी को प्राप्त होती है वह

88 अथवा यो योगयुक्तात्मा यो वा सर्वत्रसमदर्शनः स आत्मानमीक्षत इति योगिसमदर्शिनावात्मेक्षणाधिकारिणावुक्तौ । यथा हि चित्तवृत्तिनिरोधः साक्षिसाक्षात्कारहेतुस्तथा जडविवेकेन सर्वानुस्यूतचैतन्यपृथक्करणमपि । नावश्यं योग एवापेक्षितः । अत एवाऽऽह वसिष्ठः--

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥' इति ।

89 चित्तनाशस्य साक्षिणः सकाशात्तदुपाधिभूतचित्तस्य पृथक्करणात्तददर्शनस्य । तस्योपायद्वयम् -- एकोऽसंप्रज्ञातसमाधिः । संप्रज्ञातसमाधौ हि आत्मैकाकारवृत्तिप्रवाहयुक्तमन्तःकरणसत्त्वं साक्षिणाऽनुभूयते निरुद्धसर्ववृत्तिकं तूपशान्तत्वान्नानुभूयत इति विशेषः । द्वितीयस्तु साक्षिणि कल्पितं साक्ष्यमनृतत्वान्नास्त्येव साक्ष्येव तु परमार्थसत्यः केवलो विद्यत इति विचारः । तत्र प्रथममुपायं प्रपञ्चपरमार्थतावादिनो हैरण्यगर्भादयः प्रपेदिरे, तेषां परमार्थस्य चित्तस्यादर्शनेन साक्षिदर्शने निरोधातिरिक्तोपायासंभवात् । श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादमतोपजीविनस्त्वौपनिषदाः

ऋतंभरा कही जाती है', तथा 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' (योगसूत्र, 1.49) = 'वह ऋतंभरा प्रज्ञा भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेषरूप अर्थविषयक होने से शास्त्रजन्य प्रज्ञा और अनुमानजन्य प्रज्ञा से भिन्नविषयक है' -- इन सूत्रों से पूर्व में =पन्द्रहवें श्लोक की टीका में ही कहा जा चुका है । इसप्रकार शब्द और अनुमान के अगोचर -- अविषयक यथार्थ विशेष वस्तु के गोचर-विषयक ऋतंभरा नामक योगज प्रत्यक्ष से वह योगी एकसाथ अर्थात् एक ही समय में सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थ समस्त विषयों को समान रूप से देखता है । सर्वत्र समान है दर्शन जिसका ऐसा सर्वत्रसमदर्शन होकर वह योगयुक्तात्मा आत्मा और अनात्मा को यथावस्थित अर्थात् जो जैसा है उसको वैसा देखता है -- यह ठीक ही है .

88. अथवा, जो योगयुक्तात्मा है या जो सर्वत्रसमदर्शन है वह आत्मा को देखता है -- इसप्रकार योगी और समदर्शी - ये दोनों आत्मसाक्षात्कार के अधिकारी कहे गये है । जिस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध साक्षी के साक्षात्कार का हेतु है, उसी प्रकार जड़ के विवेक द्वारा सब में अनुस्यूत चैतन्य को पृथक् करना भी उसका हेतु है । उसके लिए योग ही अवश्य अपेक्षित नहीं है । अतएव वसिष्ठ ने कहा है --
"हे राघव ! चित्तनाश के दो मार्ग हैं -- योग और ज्ञान । 'योग' चित्त की वृत्तियों का निरोध है और 'ज्ञान' सम्यग्दर्शन है । किसी के लिए योग असाध्य होता है और किसी के लिए तत्त्व का निश्चय होना । इसी से देवाधिदेव परम शिव ने दो प्रकार कहे हैं ।"

89 चित्तनाश अर्थात् साक्षी के उपाधिभूत चित्त को साक्षी से पृथक् करके उसकी अप्रतीति करने के दो उपाय हैं -- एक असंप्रज्ञात-समाधि है, क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि में साक्षिद्वारा आत्मैकाकार-वृत्तिप्रवाह से युक्त अन्त:करण-सत्त्व का अनुभव किया जाता है, किन्तु निरुद्धसर्ववृत्तिक चित्त शान्त-लीन हो जाने के कारण साक्षिद्वारा अनुभूत नहीं होता -- यही विशेष-भेद है । दूसरा, साक्षी में कल्पित साक्ष्य अनृत-मिथ्या होने के कारण है ही नहीं, केवल परमार्थसत्य साक्षी ही विद्यमान है-- यह विचार

प्रपञ्चानृतत्ववादिनो द्वितीयमेवोपायमुपेयुः। तेषां ह्यधिष्ठानज्ञानदार्ढ्ये सति तत्र कल्पितस्य बाधितस्य चित्तस्य तद्दृश्यस्य चादर्शनमनायासेनैवोपपद्यते। अत एव भगवत्पूज्यपादाः कुत्रापि ब्रह्मविदां योगापेक्षां न व्युत्पादयांबभूवुः। अत एव चौपनिषदाः परमहंसाः श्रौते वेदान्तवाक्यविचार एव गुरुमुपसृत्य प्रवर्तन्ते ब्रह्मसाक्षात्काराय न तु योगे। विचारेणैव चित्तदोषनिराकरणेन तस्यान्यथासिद्धत्वादिति कृतमधिकेन ॥ 29 ॥

90 **एवं शुद्धं त्वंपदार्थं निरूप्य शुद्धं तत्पदार्थं निरूपयति--**

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ 30 ॥

91 **यो योगी मामीश्वरं तत्पदार्थमशेषप्रपञ्चकारणमायोपाधिकमुपाधिविवेकेन सर्वत्र प्रपञ्चे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं परमार्थसत्यमानन्दघनमनन्तं पश्यति योगजेन प्रत्यक्षेणापरोक्षीकरोति। तथा सर्वं च प्रपञ्चजातं मायया, मय्यारोपितं मद्भिन्नतया मृषात्वेनैव पश्यति, तस्यैवंविवेकदर्शिनोऽहं तत्पदार्थो भगवान्न प्रणश्यामि, ईश्वरः कश्चिन्मद्भिन्नोऽस्तीति**

है। इनमें प्रथम उपाय तो प्रपञ्च की परमार्थता का प्रतिपादन करनेवाले हिरण्यगर्भोपासक आदि मानते हैं, क्योंकि उनके विचार से परमार्थ चित्त के अदर्शनद्वारा साक्षी के दर्शन में निरोध से अतिरिक्त अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं है। किन्तु भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य के मत का आश्रय लेनेवाले प्रपञ्चमिथ्यात्ववादी वेदान्ती द्वितीय उपाय का ही अनुसरण करते हैं। उनके मत में अधिष्ठान के ज्ञान की दृढ़ता होने पर उसमें कल्पित अतएव बाधित चित्त तथा उसके दृश्य का अदर्शन अनायास ही उपपन्न हो जाता है। अतएव भगवत्पूज्यपाद ने कहीं भी ब्रह्मवेत्ताओं के लिए योग की अपेक्षा का उपपादन नहीं किया है। इसीलिए अद्वैत वेदान्ती परमहंस गुरु के समीप जाकर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए श्रौत वेदान्तवाक्यों के विचार में ही प्रवृत्त होते हैं, योग में नहीं, क्योंकि विचार के द्वारा ही चित्त के दोषों का निराकरण होने पर वह तो स्वयं ही सिद्ध हो जाता है, अतः चित्तदोषनाश अन्यथासिद्ध है[58] -- इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है ॥ 29 ॥

90 इस प्रकार शुद्ध 'त्वम्' पदार्थ का निरूपण कर अब शुद्ध 'तत्' पदार्थ का निरूपण करते हैं -- [जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिए मैं परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता और मेरे लिए वह परोक्ष-ज्ञान का विषय नही होता ॥ 30 ॥]

91 जो योगी मुझको= 'तत्' पदार्थ सम्पूर्ण प्रपञ्च के कारण मायारूप उपाधिवाले मुझ ईश्वर को उपाधि के विवेक द्वारा सद्-रूप से और स्फुरण-चिद्रूप से प्रपञ्च में सर्वत्र अनुस्यूत, सम्पूर्ण उपाधियों से

58. जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि अद्वैत वेदान्ती परमहंस गुरु के समीप जाकर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए श्रौत वेदान्तमहावाक्य के विचार में ही प्रवृत्त होता है, योग में नहीं – यह उपेक्षणीय है, क्योंकि शंकराचार्य ने स्वयं अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.1)- इस सूत्र के 'अथ' शब्द की व्याख्या में सूचित किया है कि ब्रह्मजिज्ञासा नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमादिषट्क सम्पत्ति अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान – समाधि तथा मुमुक्षुत्व – इस साधन चतुष्टय के पश्चात् होनी चाहिए। यहाँ उन्होंनें शमादिषट्क सम्पत्ति से योग-साधन को भी 'ब्रह्मजिज्ञासा' के लिए आवश्यक कहा है। यदि कहीं श्रवणादि के बिना तत्त्वसाक्षात्कार की प्राप्ति देखी भी जाती है, तो वहाँ यह कल्पना की जाती है कि उस तत्त्वदर्शी ने पूर्वजन्म में श्रवणादि का अभ्यास किया है। इस प्रसंग में मधुसूदन सरस्वती ने जो वसिष्ठ के वचनों को उद्धृत किया है वे वचन प्रकृत प्रसङ्ग में असंगत ही हैं, क्योंकि वसिष्ठ ने जो योग और ज्ञान साधन कहे हैं, वे चित्तनाश के साधन कहे हैं, न कि साक्षी के साक्षात्कार में साधन कहे हैं (द्रष्टव्य – भाष्योत्कर्षदीपिका)।

परोक्षज्ञानविषयो न भवामि, किं तु योगजापरोक्षज्ञानविषयो भवामि । यद्यपि वाक्यजापरोक्षज्ञानविषयत्वं त्वंपदार्थाभेदेनैव तथाऽपि केवलस्यापि तत्पदार्थस्य योगजापरोक्षज्ञानविषयत्वमुपपद्यत एव । एवं योगजेन प्रत्यक्षेण मामपरोक्षीकुर्वन्स च मे न प्रणश्यति परोक्षो न भवति । स्वात्मा हि मम स विद्वानतिप्रियत्वात्सर्वदा मदपरोक्षज्ञानगोचरो भवति 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्युक्तेः । तथैव शरशय्यास्थभीष्मध्यानस्य युधिष्ठिरं प्रति भगवतोक्तेः । अविद्वांस्तु स्वात्मानमपि सन्तं भगवन्तं न पश्यति । अतो भगवान्पश्यन्नपि तं न पश्यति 'एनमविदितो न भुनक्ति' इति श्रुतेः । विद्वांस्तु सदैव संनिहितो भगवतोऽनुग्रहभाजनमित्यर्थः ॥ 30 ॥

92 **एवं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च शुद्धं निरूप्य तत्त्वमसीतिवाक्यार्थं निरूपयति –**

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ 31 ॥

93 **सर्वेषु भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितं सर्वानुस्यूतसन्मात्रं मामीश्वरं तत्पदलक्ष्यं स्वेन त्वंपदलक्ष्येण सहै-**

विनिर्मुक्त-शून्य, परमार्थसत्य, आनन्दघन, और अनन्त देखता है अर्थात् योगज प्रत्यक्ष से उसका साक्षात्कार करता है तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चजात को मायाद्वारा मेरे में अरोपित अतएव मुझसे भिन्न होने के कारण मिथ्यारूप से ही देखता है, उस इसप्रकार के विवेकदर्शी को तत्पदार्थ 'अहम्' = 'मैं' भगवान् प्रनष्ट नहीं होता हूँ अर्थात् 'ईश्वर मुझसे कोई भिन्न है' -- इस परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता हूँ, किन्तु योगज अपरोक्षज्ञान का विषय होता हूँ । यद्यपि वेदान्तवाक्यजन्य अपरोक्षज्ञान की विषयता 'त्वम्' पदार्थ के अभेदरूप से ही होती है, तथापि केवल 'तत्' पदार्थ का भी योगज अपरोक्षज्ञान का विषय होना उपपन्न ही है । इसप्रकार योगज प्रत्यक्ष से मुझको अपरोक्ष -- प्रत्यक्ष करता हुआ वह योगी मेरे लिए प्रनष्ट नहीं होता अर्थात् परोक्ष नहीं होता -- मेरे परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता, क्योंकि वह विद्वान् मेरा अपना आत्मा ही है, अत: अत्यन्त प्रिय होने के कारण सर्वदा मेरे अपरोक्षज्ञान का विषय होता है, जैसा कि भगवान् ने कहा है -- 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता, 4.11) = 'जो मुझको जिस प्रकार भजते हैं उन पर मैं उसी प्रकार कृपा करता हूँ' । शरशय्या पर स्थित भीष्मपितामह के ध्यान के विषय में भी भगवान् ने युधिष्ठिर से ऐसा ही कहा है । अविद्वान् आत्मस्वरूप होते हुए भी भगवान् को नहीं देखता है, अत: भगवान् उसको देखते हुए भी नहीं देखता, क्योंकि 'स एनमविदितो न भुनक्ति' = 'वह ज्ञान न होने पर इसका पालन नहीं करता है'-- यह श्रुति कहती है । विद्वान् तो सदैव सन्निहित होने से भगवान् के अनुग्रह का पात्र होता है -- यह तात्पर्य है ॥ 30 ॥

92 इस प्रकार शुद्ध 'त्वम्' पदार्थ और 'तत्' पदार्थ का निरूपण कर 'तत्त्वमसि' -- इस महावाक्य के अर्थ का निरूपण करते हैं --

[जो एकत्व-एकीभाव में स्थित हुआ समस्त भूतों में स्थित मुझको भजता है वह योगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ में ही वर्तता है ॥ 31 ॥]

93 सर्वभूतस्थित = समस्त भूतों में अधिष्ठानरूप से स्थित, सब में अनुस्यूत 'सत्' मात्र, 'तत्' पद के लक्ष्य मुझको = मुझ ईश्वर को जो 'त्वम्' पद के लक्ष्य स्व के साथ अर्थात् अपने स्वरूप के

कत्वमत्यन्ताभेदमास्थितो घटाकाशो महाकाश इत्यत्रेवोपाधिभेदनिराकरणेन निश्चिन्वन्यो भजति अहं ब्रह्मास्मीतिवेदान्तवाक्यजेन साक्षात्कारेणापरोक्षीकरोति सोऽविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या जीवन्मुक्तः कृतकृत्य एव भवति । यावत्तु तस्य बाधितानुवृत्त्या शरीरादिदर्शनमनुवर्तते तावत्प्रारब्धकर्म-प्राबल्यात्सर्वकर्मत्यागेन वा याज्ञवल्क्यादिवत्, विहितेन कर्मणा वा जनकादिवत्, प्रतिषिद्धेन कर्मणा वा दत्तात्रेयादिवत्, सर्वथा येन केनापि रूपेण वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि स योगी ब्रह्माहमस्मीति विद्वान्मयि परमात्मन्येवाभेदेन वर्तते । सर्वथा तस्य मोक्षं प्रति नास्ति प्रतिबन्धशङ्का 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' इति श्रुतेः । देवा महाप्रभावा अपि तस्य मोक्षाभवनाय नेशते किमुतान्ये क्षुद्रा इत्यर्थः । ब्रह्मविदो निषिद्धकर्मणि प्रवर्तकयो रागद्वेषयोरसंभवेन निषिद्धकर्मासंभवेऽपि तदङ्गीकृत्य ज्ञानस्तुत्यर्थमिदमुक्तं सर्वथा वर्तमानोऽपीति हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यत इतिवत् ॥ 31 ॥

94 एवमुत्पन्नेऽपि तत्वबोधे कश्चिन्मनोनाशवासनाक्षययोरभावाज्जीवन्मुक्तिसुखं नानुभवति चित्तविक्षेपेण च दृष्टदुःखमनुभवति सोऽपरमो योगी देहपाते कैवल्यभागित्वात्, देहसद्भावपर्यन्तं

साथ, घटाकाश घटरूप उपाधिरहित होकर जिस प्रकार महाकाश ही हो जाता है उसी प्रकार जीव और ईश्वर के उपाधिगत भेद के निराकरणद्वारा एकत्व-अत्यन्त अभेद में स्थित होकर = एकत्व-अभेद का निश्चय कर भजता है अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस वेदान्तवाक्य से जन्य साक्षात्कार-तत्त्वसाक्षात्कार से अपरोक्ष -- प्रत्यक्ष करता है, वह अविद्या और उसके कार्य की निवृत्तिद्वारा जीवन्मुक्त अतएव कृतकृत्य ही हो जाता है । विशेष यह है कि जब तक बाधितानुवृत्ति से उसके शरीरादिदर्शन-ज्ञान की अनुवृत्ति होती है तब तक प्रारब्धकर्म की प्रबलता से याज्ञवल्क्यादि के समान समस्त कर्मों के परित्यागपूर्वक, अथवा जनकादि के समान विहित कर्म करते हुए, अथवा दत्तात्रेयादि के समान प्रतिषिद्ध-निषिद्ध कर्मों का आचरण करते हुए सर्वथा -- जिस किसी भी रूप में वर्तता हुआ -- व्यवहार करता हुआ भी वह योगी = 'मैं ब्रह्म हूँ' – यह जानता हुआ विद्वान् मुझ परमात्मा में ही अभेद भाव से रहता है । किसी भी प्रकार उसके मोक्ष में प्रतिबन्ध होने की शंका नहीं है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'देवतालोग भी उसका पराभव करने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा हो जाता है (छान्दोग्य-उपनिषद्, 1.4.10) । तात्पर्य यह है कि देवतालोग अत्यन्त प्रभावशाली होने पर भी उसका मोक्ष न होने देने में समर्थ नहीं होते, अन्य क्षुद्र जीवों की तो बात ही क्या है ? ब्रह्मवेत्ता में निषिद्ध कर्मों के प्रवर्त्तक राग और द्वेष की सम्भावना न होने के कारण उससे निषिद्ध कर्म होना सम्भव न होने पर भी उनको अङ्गीकार करके ज्ञान की स्तुति के लिए 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते' (गीता, 18.17) = 'वह इन समस्त प्राणियों को मारकर भी न मारता है और न कर्मबन्धन से बँधता ही है' -- इस वचन के समान 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' = 'वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी' -- ऐसा कहा है ॥ 31 ॥

94 इस प्रकार तत्त्वबोध -- तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी कोई योगी मनोनाश और वासनाक्षय न होने के कारण जीवन्मुक्तिसुख का अनुभव नहीं करता, चित्तविक्षेप के कारण वह दृष्टदुःख का अनुभव करता है, वह अपरम योगी होता है, क्योंकि वह देहपात होने पर कैवल्य-मोक्ष का भागी होता है तथा देह की स्थितिपर्यन्त दृष्ट दुःख का अनुभव करता है । किन्तु तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय -- इन तीनों का एक साथ अभ्यास करने से दृष्टदुःख की निवृत्तिपूर्वक जीवन्मुक्तिसुख का अनुभव करते हुए प्रारब्धकर्मवश समाधि से व्युत्थान होने के समय --

च दृष्टदुःखानुभवात्, तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणां तु युगपदभ्यासाद् दृष्टदुःखनिवृत्तिपूर्वकं जीवन्मुक्तिसुखमनुभवन्प्रारब्धकर्मवशात्समाधेर्व्युत्थानकाले –

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ 32 ॥

95 **आत्मैवौपम्यमुपमा तेनाऽऽत्मदृष्टान्तेन सर्वत्र प्राणिजाते सुखं वा यदि वा दुःखं समं तुल्यं यः पश्यति स्वस्यानिष्टं यथा न संपादयति एवं परस्याप्यनिष्टं यो न संपादयति प्रद्वेषशून्यत्वात् । एवं स्वस्येष्टं यथा संपादयति तथा परस्यापीष्टं यः संपादयति रागशून्यत्वात्, स निर्वासनतयोपशान्तमना योगी ब्रह्मवित्परमः श्रेष्ठो मतः पूर्वस्मात्, हेऽर्जुन । अतस्तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणामक्रममभ्यासाय महान्प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः ।**

96 **तत्रेदं सर्वं द्वैतजातमद्वितीये चिदानन्दात्मनि मायया कल्पितत्वान्मृषैवाऽऽत्मैवैकः परमार्थसत्यः सच्चिदानन्दाद्वयोऽहमस्मीति ज्ञानं तत्त्वज्ञानं प्रदीपज्वालासंतानवद्वृत्तिसंतानरूपेण परिणममानमन्तःकरणद्रव्यं मननात्मकत्वान्मन इत्युच्यते । तस्य नाशो नाम वृत्तिरूपपरिणामं परित्यज्य सर्ववृत्तिविरोधिना निरोधाकारेण परिणामः । पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारविशेषो वासना पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात् । तस्याः**

[हे अर्जुन ! जो योगी आत्मदृष्टान्त से -- अपनी सादृश्यता से सभी प्राणियों के सुख या दुःख को समानरूप से देखता है वह परम योगी माना गया है ।। 32 ।।]

95 हे अर्जुन ! आत्मा ही है औपम्य-उपमा-दृष्टान्त जिसका उससे अर्थात् आत्मदृष्टान्त से जो सर्वत्र = समस्त प्राणियों में उत्पन्न सुख को अथवा दुःख को यदि सम-तुल्य देखतां है, अर्थात् जिस प्रकार अपना अनिष्ट अपने से नहीं करता उसीप्रकार द्वेषशून्य होने के कारण जो दूसरों का भी अनिष्ट नहीं करता तथा जिस प्रकार अपना इष्ट करता है उसी प्रकार रागशून्य होने के कारण दूसरों का भी इष्ट करता है तो वह वासनाशून्य होने के कारण प्रशान्तमना ब्रह्मज्ञ योगी पूर्वोक्त योगी की अपेक्षा परम अर्थात् श्रेष्ठ माना गया है । अतः तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय -- इन तीनों का अक्रम अर्थात् एक साथ अभ्यास करने के लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए -- यह अर्थ है ।

96 इनमें 'यह सब द्वैतप्रपञ्च अद्वितीय, चिदानन्दस्वरूप आत्मा में माया से कल्पित होने के कारण मिथ्या ही है, आत्मा ही एक, परमार्थसत्य है और वह सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय आत्मा मैं हूँ' -- यही ज्ञान 'तत्त्वज्ञान' है । दीपक की ज्योति के संतान -- प्रवाह के समान वृत्तियों के प्रवाहरूप से परिणाम को प्राप्त होते रहनेवाला अन्तःकरणरूप द्रव्य मननात्मक होने से 'मन' कहा जाता है । वृत्तिरूप परिणाम का परित्याग कर समस्त वृत्तियों के विरोधी निरोधाकार से परिणत होना- उस मन का नाश= 'मनोनाश' है । पूर्वापर के परामर्श-विचार के बिना सहसा उत्पद्यमान क्रोधादिवृत्तिविशेष का कारण जो चित्तगत संस्कारविशेष है वह चित्त में पूर्वाभ्यास से वास्यमान होने के कारण -- बसा होने के कारण 'वासना' है । विवेक से जन्य चित्तशान्ति की वासना के दृढ़ होने पर बाह्य निमित्त के रहने पर भी क्रोधादि का उत्पन्न न होना -- उस वासना का क्षय = 'वासनाक्षय' है । उसमें, तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्याभूत जगत् में नरशृंगादि के समान बुद्धिवृत्ति का उदय न होने से तथा आत्मदर्शन हो जाने से उसके लिए पुनः वृत्ति का कोई उपयोग न रहने के कारण ईधन-शून्य अग्नि के समान मन का नाश हो जाता है । मन

क्षयो नाम विवेकजन्यायां चित्तप्रशमवासनायां दृढायां सत्यपि बाह्ये निमित्ते क्रोधाद्यनुत्पत्तिः । तत्र तत्त्वज्ञाने सति मिथ्याभूते जगति नरविषाणादाविव धीवृत्त्यनुदयादात्मनश्च दृष्टत्वेन पुनर्वृत्त्यनुपयोगान्निरिन्धनाग्निवन्मनो नश्यति । नष्टे च मनसि संस्कारोद्बोधकस्य बाह्यस्य निमित्तस्याप्रतीतौ वासना क्षीयते । क्षीणायां वासनायां हेत्वभावेन क्रोधादिवृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति । नष्टे च मनसि शमदमादिसंपत्त्या तत्त्वज्ञानमुदेति । एवमुत्पन्ने तत्त्वज्ञाने रागद्वेषादिरूपा वासना क्षीयते । क्षीणायां च वासनायां प्रतिबन्धाभावात्तत्त्वज्ञानोदय इति परस्परकारणत्वं दर्शनीयम् ।

97 **अत एव भगवान्वसिष्ठ आह–**

> **'तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।**
> **मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि ॥**
> **तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।**
> **भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रय ॥' इति ।**

पौरुषो यत्नः केनाप्युपायेनावश्यं संपादयिष्यामीत्येवंविधोत्साहरूपो निर्बन्धः । विवेको नाम विविच्य निश्चयः । तत्त्वज्ञानस्य श्रवणादिकं साधनं, मनोनाशस्य योगः, वासनाक्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति । एतादृशविवेकयुक्तेन पौरुषेण प्रयत्नेन भोगेच्छायाः स्वल्पाया अपि हविषा कृष्णवर्त्मेवेति न्यायेन वासनावृद्धिहेतुत्वाद् दूरत इत्युक्तम् ।

98 **द्विविधो हि विद्याधिकारी कृतोपास्तिरकृतोपास्तिश्च । तत्र य उपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तामुपास्तिं**

का नाश होने पर संस्कारों के उद्बोधक किसी बाह्य निमित्त की प्रतीति न होने से वासना का क्षय हो जाता है । वासना का क्षय होने पर कारण का अभाव हो जाने से क्रोधादि वृत्तियों का उदय न होने के कारण मन का नाश हो जाता है । मन का नाश होने पर शम-दमादि षट्सम्पत्ति के प्रभाव से तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है । इस प्रकार तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर रागद्वेषादिरूप वासना क्षीण हो जाती है । तथा वासना के क्षीण होने पर प्रतिबन्ध का अभाव हो जाने से तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है -- इस प्रकार इनकी परस्पर कारणता समझनी चाहिए ।

97 अतएव भगवान् वसिष्ठ ने कहा हैं --

"तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय -- ये परस्पर कारणता को प्राप्त होकर दुःसाध्य -- कष्टसाध्यरूप से स्थित हैं । अतः राघव ! विवेकयुक्त पौरुष प्रयत्न के द्वारा भोग की इच्छा को दूर से ही त्याग कर इन तीनों का आश्रय लो ।"

'किसी भी उपाय से मैं इसको अवश्य करूँगा' -- इसप्रकार का उत्साहरूप निर्बन्ध = आग्रह 'पौरुषप्रयत्न' कहलाता है । विवेचन करके अर्थात् पृथक्-पृथक् करके निश्चय करना 'विवेक' है । आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में श्रवणादि तत्त्वज्ञान के साधन हैं, योग -- अष्टाङ्ग योग मनोनाश का साधन है, और प्रतिकूल - विपरीत वासनाओं को उत्पन्न करना वासनाक्षय का साधन है । 'हविषा कृष्णवर्त्मेव' = 'हवि डालने से जैसे अग्नि बढ़ जाती है' -- इस न्याय से वासना वृद्धि का हेतु होती है, अतः इसप्रकार के विवेकयुक्त पौरुष प्रयत्न से थोड़ी-सी भी भोग की इच्छा दूर से ही त्याज्य है -- यह कहा है ।

98 विद्या-ज्ञान के अधिकारी दो प्रकार के होते हैं -- कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति । इनमें जो उपास्य के साक्षात्कारपर्यन्त उपास्ति -- उपासना करके तत्त्वज्ञान के लिए प्रवृत्त होता है वह 'कृतोपास्ति' है, उसके वासनाक्षय और मनोनाश दृढ़ हो जाने के कारण उसको ज्ञान से ऊपर जीवन्मुक्ति स्वतः

कृत्वा तत्त्वज्ञानाय प्रवृत्तस्तस्य वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वं जीवन्मुक्तिः स्वत एव सिध्यति । इदानींतनस्तु प्रायेणाकृतोपास्तिरेव मुमुक्षुरौत्सुक्यमात्रात्सहसा विद्यायां प्रवर्तते । योगं विना चिज्जडविवेकमात्रेणैव च मनोनाशवासनाक्षयौ तात्कालिकौ संपाद्य शमदमादिसंपत्त्या श्रवणमननिदिध्यासनानि संपादयति । तैश्च दृढाभ्यस्तैः सर्वबन्धविच्छेदि तत्त्वज्ञानमुदेति । अविद्याग्रन्थिरब्रह्मत्वं हृदयग्रन्थिः संशयाः कर्माण्यसर्वकामत्वं मृत्युः पुनर्जन्म चेत्यनेकविधो बन्धो ज्ञानान्निवर्तते । तथा च श्रूयते – 'यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।'

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥'

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्', 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह', 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।'

'यस्तु विज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥'

ही सिद्ध हो जाती है । आजकल के प्रायः अकृतोपास्ति ही मुमुक्षु हैं जो उपासना न कर उत्सुकतामात्र से सहसा ज्ञान में प्रवृत्त हो जाते हैं । वे योग के बिना जड़ और चेतन के विवेकमात्र से ही तात्कालिक मनोनाश और वासनाक्षय का सम्पादन कर शम-दमादि षट्सम्पत्तिपूर्वक श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करते हैं । दृढ़ अभ्यस्त उन श्रवणादि साधनों से समस्त बन्धनों का छेदन करनेवाला तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है । अविद्याग्रन्थि, अब्रह्मत्व, हृदयग्रन्थि, संशय, कर्म, सर्वकामत्व, मृत्यु और पुनर्जन्म -- ये अनेक प्रकार के बन्धन ज्ञान -- तत्त्वज्ञान से निवृत्त होते हैं । ऐसा ही श्रुति भी कहती है --

'हे सोम्य ! जो हृदयाकाश में निहित आत्मतत्त्व को जानता है वह इस लोक में अविद्याग्रन्थि को काट देता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है' । 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है' ।

'पर तथा अवर अर्थात् कारण-हिरण्यगर्भ तथा कार्य के अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर जीव की हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं ।'

'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है'; 'जो हृदयगुहा में निहित परम व्योम-आकाश स्वरूप उस ब्रह्म को जानता है'; 'वह समस्त कामनाओं को एक साथ प्राप्त कर लेता है'; 'जीव केवल उसको -- आत्मा को ही जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है अर्थात् मृत्यु को पार कर जाता है ।'

'जो पुरुष विज्ञानवान् -- तत्त्वज्ञानी होता है, जिसका मन अमनीभाव -- अमनस्क होता है तथा जो सदा शुचि अर्थात् भेददृष्टिविहीन होता है वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से फिर जन्म नहीं होता है' । तथा,

'जो ऐसा जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सब हो जाता है' । -- इस प्रकार असर्वत्व की निवृत्ति ही तत्त्वज्ञान का फल कहना चाहिए । ऐसी यह विदेहमुक्ति देह के रहने पर भी ज्ञानोत्पत्ति के साथ होनेवाली समझनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्म में अविद्या से अध्यारोपित इन बन्धनों की अविद्या का नाश होने से निवृत्ति हो जाने पर फिर उत्पत्ति होना संभव नहीं है । अतः शिथिलता का कोई

'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' इत्यसर्वत्वनिवृत्तिफलमुदाहार्यम् । सेयं विदेहमुक्तिः सत्यपि देहे ज्ञानोत्पत्तिसमकालीना ज्ञेया । ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपितानामेतेषां बन्धानामविद्यानाशे सति निवृत्तौ पुनरुत्पत्त्यसंभवात् । अतः शैथिल्यहेत्वभावात्तत्त्वज्ञानं तस्यानुवर्तते । मनोनाशवासनाक्षयौ तु दृढाभ्यासाभावाद्भोगप्रदेन प्रारब्धेन कर्मणा बाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशप्रदीपवत्सहसा निवर्तेते । अत इदानींतनस्य तत्त्वज्ञानिनः प्राक्सिद्धे तत्त्वज्ञाने न प्रयत्नापेक्षा । किं तु मनोनाशवासनाक्षयौ प्रयत्नसाध्याविति । तत्र मनोनाशोऽसंप्रज्ञातसमाधिनिरूपणेन निरूपितः प्राक् । वासनाक्षयस्त्विदानीं निरूप्यते ।

99 तत्र वासनास्वरूपं वसिष्ठ आह—

**'दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥'**

अत्र च स्वस्वदेशाचारकुलधर्मस्वभावभेदतद्गतापशब्दसुशब्दादिषु प्राणिनामभिनिवेशः सामान्येनोदाहरणम् । सा च वासना द्विविधा मलिना शुद्धा च । शुद्धा दैवी संपत्, शास्त्रसंस्कारप्राबल्यात्तत्त्वज्ञानसाधनत्वेनैकरूपैव । मलिना तु त्रिविधा लोकवासना शास्त्रवासना देहवासना चेति । सर्वे जना यथा न निन्दन्ति तथैवाऽऽचरिष्यामीत्यशक्यार्थाभिनिवेशो लोकवासना । तस्याश्च को लोकमाराधयितुं समर्थ इति न्यायेन संपादयितुमशक्यत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वाच्च मलिनत्वम् । शास्त्रवासना तु त्रिविधा पाठव्यसनं बहुशास्त्रव्यसनमनुष्ठानव्यसनं चेति क्रमेण भरद्वाजस्य दुर्वाससो निदाघस्य च प्रसिद्धा । मलिनत्वं चास्याः क्लेशावहत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वाद्दर्पहेतुत्वाज्जन्महेतुत्वाच्च । देहवासनाऽपि त्रिविधा आत्मत्वभ्रान्तिर्गुणाधानभ्रान्तिर्दोषापनयनभ्रान्तिश्चेति । तत्राऽऽत्मत्वभ्रान्तिर्विरोचनादिषु प्रसिद्धा

कारण न होने से उसको तत्त्वज्ञान की उत्तरोत्तर अनुवृत्ति रहती है, किन्तु दृढ़ अभ्यास न होने के कारण भोगप्रद प्रारब्ध कर्म से बाध्यमान होकर सवात -- वायुयुक्त स्थान पर स्थित दीपक के समान मनोनाश और वासनाक्षय सहसा निवृत्त हो जाते हैं । अतः आजकल के तत्त्वज्ञानियों को पूर्वसिद्ध तत्त्वज्ञान में प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, किन्तु मनोनाश और वासनाक्षय में ही विशेष प्रयत्न की अपेक्षा है उसके लिए पूर्ण श्रम करना चाहिए । इनमें मनोनाश का निरूपण तो असम्प्रज्ञात समाधि के निरूपण द्वारा पहले ही कर चुके हैं । अव वासनाक्षय का निरूपण करते हैं ।

99 वासना का स्वरूप वसिष्ठ ने इस प्रकार कहा है --

'दृढ़भावनावश अर्थात् पूर्वसंचित संस्कारवश पूर्वापर का विचार छोड़कर जो पदार्थ का ग्रहण करना है वह 'वासना' कही जाती है ।'

इसमें अपने-अपने देश के आचार, कुलधर्म और स्वभावभेद तथा उनमें रहनेवाले अपशब्द और सुशब्द आदि में जो प्राणियों का अभिनिवेश -- आग्रह है वह सामान्यतया वासना का उदाहरण है [59] । वह वासना दो प्रकार की है -- शुद्धा और मलिना । 'शुद्धा' वासना दैवी सम्पद् है, शास्त्रसंस्कार की प्रबलता के कारण तत्त्वज्ञान की साधन होने से वह एकरूप ही है अर्थात् एक

59. अर्थ यह है कि दृढ़ पूर्वाभ्यास से गुण-दोष के विचार के बिना आचार, धर्म आदि का जिस देश में प्रचार होता है उस देश के मनुष्यों में उन आचार, धर्म आदि में प्रवृत्ति साग्रह होती है, ये ही वासना चिह्न हैं ।

सार्वलौकिकी । गुणाधानं द्विविधं लौकिकं शास्त्रीयं च । समीचीनशब्दादिविषयसंपादनं लौकिकं, गङ्गास्नानशालग्रामतीर्थादिसंपादनं शास्त्रीयम् । दोषापनयनमपि द्विविधं लौकिकं शास्त्रीयं च । चिकित्सकोक्तैरोषधैर्व्याध्याद्यपनयनं लौकिकं, वैदिकस्नानाचमनादिभिरशौचाद्यपनयनं वैदिकम् । एतस्याश्च सर्वप्रकाराया मलिनत्वमप्रामाणिकत्वादशक्यत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वात्पुनर्जन्महेतुत्वाच्च शास्त्रे प्रसिद्धम् । तदेतल्लोकशास्त्रदेहवासनात्रयमविवेकिनामुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि विविदिषोर्वेदनोत्पत्तिविरोधित्वाद्विदुषो ज्ञाननिष्ठाविरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम् ।

100 तदेवं बाह्यविषयवासना त्रिविधा निरूपिता । आभ्यन्तरवासना तु कामक्रोधदम्भदर्पाद्यासुरसंपद्रूपा सर्वानर्थमूलं मानसी वासनेत्युच्यते । तदेवं बाह्याभ्यन्तरवासनाचतुष्टयस्य शुद्धवासनया क्षयः संपादनीयः । तदुक्तं वसिष्ठेन–

'मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः ।
मैत्र्यादिवासना राम गृहाणामलवासनाः ॥' इति ।

प्रकार की ही है । मलिन वासना तो तीन प्रकार की है -- लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना । 'सब लोग मेरी जैसे निन्दा न करें वैसा ही आचरण करूँगा' -- ऐसे अशक्य अर्थ – विषय के लिए अभिनिवेश -- आग्रह होना 'लोकवासना' है । 'लोक को प्रसन्न रखने में कौन समर्थ है' इस न्याय से उस लोकवासना को पूरा करना संभव न होने से तथा पुरुषार्थ में उसके उपयोगी न होने से उसकी मलिनता कही गई है । शास्त्रवासना तीन प्रकार ही है -- पाठ-व्यसन, बहुशास्त्रव्यसन और अनुष्ठानव्यसन । ये तीनों व्यसन क्रम से भरद्वाज, दुर्वासा और निदाघ के प्रसिद्ध हैं । क्लेशावह -- क्लेशकर, पुरुषार्थ में अनुपयोगी, दर्प की हेतु और जन्म की हेतु होने से इसकी मलिनता मानी गई है । देहवासना भी तीन प्रकार की है -- आत्मत्वभ्रान्ति, गुणाधानभ्रान्ति और दोषापनयनभ्रान्ति । इनमें 'आत्मत्वभ्रान्ति' 'अहं गौरः' -- इत्यादि से सर्वलोकप्रसिद्ध है, शास्त्रोपाख्यान से विरोचनादि में भी प्रसिद्ध ही है । गुणाधान दो प्रकार का है -- लौकिक और शास्त्रीय । समीचीन शब्दादि विषयों का सम्पादन करना 'लौकिक' गुणाधान है तथा गङ्गास्नान, शालग्रामपूजा, तीर्थसेवन आदि का सम्पादन करना 'शास्त्रीय' गुणाधान है । दोषापनयन भी दो प्रकार का है -- लौकिक और शास्त्रीय । चिकित्सक की बताई हुई ओषधियों से व्याधि आदि को दूर करना 'लौकिक' दोषापनयन है तथा वैदिक स्नान, आचमन आदि से अशौचादि को दूर करना 'वैदिक' दोषापनयन है । अप्रमाणिक, अशक्य, पुरुषार्थ में अनुपयोगी और पुनर्जन्म की हेतु होने से इस सभी प्रकार की वासना की मलिनता शास्त्र में प्रसिद्ध है । ये लोक, शास्त्र और देह -- तीनों प्रकार की वासनाएँ अविवेकियों को उपादेयरूप से भासने पर भी विविदिषु -- जिज्ञासु के लिए वेदनोत्पत्ति -- ज्ञानोत्पत्ति की विरोधी और विद्वान् -- ज्ञानी के लिए ज्ञाननिष्ठा की विरोधी होने से विवेकियों के लिए तो त्याज्य ही हैं ।

100 इसप्रकार यह तीन प्रकार की बाह्य विषयवासना का निरूपण हुआ । काम, क्रोध, दम्भ, दर्प आदि आसुरसम्पद्रूपा, सब अनर्थों की मूल जो आभ्यन्तर-वासना है वह 'मानसी' वासना कही जाती है । इसप्रकार बाह्य और आभ्यन्तर के भेदोपभेद से चार प्रकार की वासनाओं का शुद्धवासना से क्षय करना चाहिए । यह वसिष्ठ ने भी कहा है --

'हे राम ! तुम पहले मानसी वासनाओं और विषयवासनाओं को त्यागकर मैत्रीवासना आदि अमल-शुद्ध वासनाओं को ग्रहण करो ।'

तत्र विषयवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोकशास्त्रदेहवासना विवक्षिताः । मानसवासनाशब्देन कामक्रोधदम्भदर्पाद्यासुरसंपद्विवक्षिता । यद्वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयाः । तेषां भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषयवासना । काम्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो मानसवासना । अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तानां चतसृणामनयोरेवान्तर्भावः, बाह्याभ्यन्तरव्यतिरेकेण वासनान्तरासंभवात् । तासां वासनानां परित्यागो नाम तद्विरुद्धमैत्र्यादिवासनोत्पादनम् । ताश्च मैत्र्यादिवासना भगवता पतञ्जलिना सूत्रिताः प्राक्संक्षेपेण व्याख्याता अपि पुनर्व्याख्यायन्ते ।

101 **चित्तं हि रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषीक्रियते । तत्र 'सुखानुशयी रागः' मोहादनुभूयमानं सुखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेषो राजसः सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति । तच्च दृष्टादृष्टसामग्र्यभावात्संपादयितुमशक्यम् । अतः स रागश्चित्तं कलुषीकरोति । यदा तु सुखिषु प्राणिष्वयं मैत्रीं भावयेत्सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति तदा तत्सुखं स्वकीयमेव संपन्नमिति भावयतस्तत्र रागो निवर्तते । यथा स्वस्य राज्यनिवृत्तावपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयं राज्यं तद्वत् । निवृत्ते च रागे वर्षाव्यपाये जलमिव चित्तं प्रसीदति । तथा 'दुःखानुशयी द्वेषः' दुःखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेषस्तमोनुगतरजःपरिणाम ईदृशं सर्वं दुःखं सर्वदा मे मा भूदिति । तच्च शत्रुव्याघ्रादिषु सत्सु न निवारयितुं शक्यम् । न च सर्वे ते दुःखहेतवो हन्तुं शक्यन्ते । अतः**

यहाँ विषय वासना' शब्द से पूर्वोक्त लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना -- ये तीनों वासनाएँ विवक्षित हैं । 'मानसी वासना' शब्द से काम, क्रोध, दम्भ, दर्प आदि आसुरसम्पद् विवक्षित है । अथवा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- ये जो पाँच विषय हैं उनकी भुज्यमानत्वदशा से जन्य जो संस्कार होता है वह 'विषयवासना' है । काम्यमानत्वदशा से जन्य संस्कार 'मानसवासना' है । इस पक्ष में पूर्वोक्त चारों वासनाओं का इन दोनों वासनाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि बाह्य और आभ्यन्तर वासनाओं से अतिरिक्त अन्य वासनाओं का होना संभव नहीं है । उन बाह्य और आभ्यन्तर वासनाओं का परित्याग उनके विरुद्ध मैत्री आदि वासनाओं को उत्पन्न करना ही है । उन मैत्री आदि वासनाओं को भगवान् पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में सूत्रित किया है, जिनकी पहले संक्षेप में व्याख्या की जा चुकी है, फिर भी यहाँ उनकी पुनः व्याख्या की जाती है ।

101 चित्त राग-द्वेष और पुण्य-पाप से मलिन होता है । इनमें 'सुखानुशयी रागः' (योगसूत्र, 2.7) = 'सुखभोग के अनन्तर अन्तःकरण में रहनेवाला अभिलाष-विशेष 'राग' कहा जाता है ।' मोह-अज्ञान से अनुभूयमान सुख में जो कोई ऐसी राजसी बुद्धिवृत्ति -- चित्तवृत्तिविशेष होती है कि 'मुझको सब प्रकार का सुख प्राप्त हो' वह 'राग' है । दृष्ट और अदृष्ट सुख की सामग्री का अभाव होने से उसका सम्पादन करना अशक्य है, अतः वह राग चित्त को कलुषित -- मलिन कर देता है । जब यह योगी सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करता है कि 'ये सब सुखी प्राणी मेरे हैं', तब 'उनका वह सुख अपना ही है' -- इसप्रकार की भावना करते हुए उसका सुख में राग नहीं रहता है । जैसे राजा अपना राज्य निवृत्त होने पर = अपने पुत्र को देने पर, अथवा चला जाने पर राज्यत्याग के दुःख का अनुभव नहीं करता, अपितु पुत्रादि का राज्य अपना ही राज्य है -- ऐसा अनुभव करता है तो उस राजा का राज्य में राग नहीं रहता है; वैसे ही यहाँ समझना चाहिए । राग के निवृत्त होने पर वर्षा के बीत जाने पर जैसे जल साफ होने लगता है वैसे ही चित्त भी प्रसन्न होने लगता है । इसीप्रकार 'दुःखानुशयी द्वेषः' (योगसूत्र, 2.8) = 'दुःखभोग के अनन्तर

स द्वेषः सदा हृदयं दहति । यदा तु स्वस्येव परेषां सर्वेषामपि दुःखं मा भूदिति करुणां दुःखिषु भावयेत्तदा वैर्यादिद्वेषनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति । तथा च स्मर्यते –

'प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥' इति ।

एतदेवेहाप्युक्तम् – आत्मौपम्येन सर्वत्रेत्यादि । तथा प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति पापं त्वनुतिष्ठन्ति । तदाहुः –

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥' इति ।

ते च पुण्यपापे अक्रियमाणक्रियमाणे पश्चात्तापं जनयतः । स च श्रुत्याऽनूदितः– 'किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति । यद्यसौ पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयेत्तदा तद्वासनावान्स्वयमेवाप्रमत्तोऽशुक्लकृष्णे पुण्ये प्रवर्तते । तदुक्तं 'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' अयोगिनां त्रिविधं शुक्लं शुभं कृष्णमशुभं शुक्लकृष्णं शुभाशुभमिति । तथा पापपुरुषेषूपेक्षां भावयन्स्वयमपि तद्वासनावान्पापान्निवर्तते । ततश्च पुण्याकरणपापकरणनिमित्त-

अन्तःकरण में रहनेवाला क्रोध 'द्वेष' कहा जाता है ।' दुःख-भोग के पश्चात् होनेवाली जो तमोनुगत रजोगुण की परिणामरूपा कोई ऐसी चित्तवृत्तिविशेष है कि 'मुझको सर्वदा सब दुःख न हों' वह 'द्वेष' है । शत्रु, व्याघ्रादि के रहने पर इसका निवारण इच्छामात्र से नहीं किया जा सकता है और न दुःख के सब कारणों को नष्ट किया जा सकता है । अतः वह द्वेष सदा हृदय को जलाता रहता है । जब योगी अपने समान दुःखी प्राणियों में भी करुणा -दया की भावना करता है कि 'दूसरे सभी प्राणियों को दुःख न हो', तब वैरी आदि के प्रति द्वेष के निवृत्त हो जाने से चित्त प्रसन्न हो जाता है । ऐसा ही स्मृति भी कहती है -- "जैसे अपने को प्राण अभीष्ट हैं वैसे ही वे प्राण दूसरे प्राणियों को भी अभीष्ट होते हैं । अतः साधु-पुरुष अपने ही समान सभी प्राणियों पर दया करते हैं ।" प्रकृत श्लोक में भी 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' इत्यादि से यही कहा गया है । तथा प्राणी स्वभाव से ही पुण्य का अनुष्ठान नहीं करते हैं, पाप का ही अनुष्ठान करते हैं; जैसा कि कहा है --
"मानव-मनुष्य पुण्य का फल तो चाहते हैं, किन्तु पुण्य करना नहीं चाहते तथा पाप का फल नहीं चाहते हैं, अपितु प्रयत्नपूर्वक पाप ही करते रहते हैं ।"
वे पुण्य न किये जाने पर तथा पाप किये जाने पर पश्चात्ताप उत्पन्न करते हैं । इसका श्रुति ने भी अनुवाद किया है -- 'मैंने साधु-पुण्य कर्म क्यों नहीं किया ? मैंने पाप कर्म क्यों किया ?' इत्यादि । यदि यह योगी पुण्यवान् पुरुषों में मुदिता की भावना करता है, तो वह उनकी वासना से युक्त होकर स्वयं भी सावधान होकर अशुक्लकृष्ण पुण्य में प्रवृत्त होता है । कहा भी है --'योगी का कर्म अशुक्लकृष्ण होता है तथा दूसरों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं ।' अयोगियों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं -- शुक्ल = शुभ, कृष्ण = अशुभ, और शुक्लकृष्ण = शुभाशुभ । इसी प्रकार योगी पापी पुरुषों में उपेक्षा की भावना करता हुआ स्वयं भी उपेक्षावासना से युक्त होकर पाप से दूर रहता है । तब पुण्य का अकारण और पाप का कारण -- ये दोनों पश्तात्ताप के हेतु हैं इनके न होने से चित्त प्रसन्न हो जाता है । इसप्रकार सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करनेवाले का केवल राग ही निवृत्त नहीं होता, किन्तु असूया, ईर्ष्या आदि भी निवृत्त हो जाते हैं । दूसरे के गुणों में दोष खोजना 'असूया' है । दूसरे के गुणों को सह न सकना 'ईर्ष्या' है । जब मैत्री के

स्य पश्चात्तापस्याभावे चित्तं प्रसीदति । एवं सुखिषु मैत्रीं भावयतो न केवलं रागो निवर्तते किं त्वसूयेर्ष्यादयोऽपि निवर्तन्ते । परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया । परगुणानामसहनमीर्ष्या । यदा मैत्रीवशात्परसुखं स्वीयमेव संपन्नं तदा परगुणेषु कथमसूयादिकं संभवेत् । तथा दुःखिषु करुणां भावयतः शत्रुवधादिकरो द्वेषो यदा निवर्तते तदा दुःखित्वप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तदर्पोऽपि निवर्तते । एवं दोषान्तरनिवृत्तिरप्यूहनीया वासिष्ठरामायणादिषु ।

102 **तदेवं तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षयश्चेति त्रयमभ्यसनीयम् । तत्र केनापि द्वारेण पुनः पुनस्तत्त्वानुस्मरणं तत्त्वज्ञानाभ्यासः । तदुक्तम्–**

'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् ॥' इति ।

दृश्यावभासविरोधियोगाभ्यासो मनोनिरोधाभ्यासः । तदुक्तम्–

'अत्यन्ताभावसंपत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः ॥' इति ।

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वधीरभावसंपत्तिः । स्वरूपेणाप्यप्रतीतिरत्यन्ताभावसंपत्तिस्तदर्थम् । युक्त्या योगेन ।

कारण दूसरे का सुख अपना ही हो जाता है तब दूसरे के गुणों में असूया आदि कैसे संभव हो सकते हैं ? तथा दु:खी प्राणियों में करुणा-दया की भावना करनेवाले का जब शत्रुवधादि करनेवाला द्वेष निवृत्त हो जाता है तब दु:खित्वप्रतियोगिक = दु:खित्व के विरोधी अपने सुखित्व-सुखीपन से प्रयुक्त -- होनेवाला दर्प भी निवृत्त हो जाता है[60] । इसी प्रकार योगवासिष्ठ, रामायण आदि ग्रन्थों में दूसरे दोषों की निवृत्ति की भी ऊहा कर लेनी चाहिए ।

102 इसप्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय -- इन तीनों का अभ्यास करना चाहिए । इनमें, किसी भी द्वार-प्रकार से पुन: पुन: तत्त्व का स्मरण करते रहना तत्त्वज्ञान का अभ्यास है । जैसा कि योगवासिष्ठ में कहा है --

"उस ब्रह्म का चिन्तन करना, ब्रह्म का कथन करना, परस्पर उस ब्रह्मरूप विषय को समझना और समझाना अर्थात् उसी के विषय में प्रश्नोत्तर करना, तथा एतदेकपरत्व अर्थात् एकमात्र ब्रह्मपरायणता -- इसी के ज्ञानीजन ब्रह्माभ्यास या तत्त्वाभ्यास कहते हैं । सृष्टि के आदि में ही दृश्य पदार्थ उत्पन्न नहीं हुए और वे सदा विद्यमान भी नहीं रहते -- यह जगत् है तथा इसका ज्ञाता मैं हूँ -- इस प्रकार की भावना भी सत्य नहीं है अर्थात् यह दृश्य जगत् कभी है ही नहीं -- इसको विद्वानों ने परम बोधाभ्यास -- ज्ञानाभ्यास कहा है ।"

दृश्य की प्रतीति का विरोधी योग का अभ्यास मनोनिरोध-मनोनाश का अभ्यास है । जैसा कि कहा है--

---

60. भाव यह है कि दु:खित्व और सुखित्व सापेक्ष हैं, एक की सत्ता के बिना दूसरा नहीं रह सकता है । जब दु:खी प्राणियों में करुणादि की भावना से दु:खनिमित्त द्वेषादि की निवृत्ति होती है, तब दु:खित्व की निवृत्ति द्वारा सुखित्व की भी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि जो किसी को दु:खी नही देखता वह 'यह सुखी है' – यह कैसे देखेगा ? सुखित्व के न रहने से उससे प्रयुक्त 'मैं सुखी हूँ' – ऐसे दर्प की भी निवृत्ति हो जाती है ।

'दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ॥'

इति रागद्वेषादिक्षीणतारूपवासनाक्षयाभ्यास उक्तः । तस्मादुपपन्नमेतत्तत्त्वज्ञानाभ्यासेन मनोनाशाभ्यासेन वासनाक्षयाभ्यासेन च रागद्वेषशून्यतया यः स्वपरसुखदुःखादिषु समदृष्टिः स परमो योगी मतो यस्तु विषमदृष्टिः स तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति ॥ 32 ॥

103 उक्तमर्थमाक्षिपन्–

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ 33 ॥

104 योऽयं सर्वत्रसमदृष्टिलक्षणः परमो योगः साम्येन समत्वेन चित्तगतानां रागद्वेषादीनां विषमदृष्टिहेतूनां निराकरणेन त्वया सर्वज्ञेनेश्वरेणोक्तः, हे मधुसूदन सर्ववैदिकसंप्रदायप्रवर्तक, एतस्य त्वदुक्तस्य सर्वमनोवृत्तिनिरोधलक्षणस्य योगस्य स्थितिं विद्यमानतां स्थिरां दीर्घकालानुवर्तिनीं न पश्यामि न संभावयामि अहमस्मद्विधोऽन्यो वा योगाभ्यासनिपुणः । कस्मान्न संभावयसि तत्राऽऽह -- चञ्चलत्वात्, मनस इति शेषः ॥ 33 ॥

"ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुओं में मिथ्यात्वबुद्धि होना 'अभावसम्पत्ति' है और उनकी स्वरूप से अप्रतीति 'अत्यन्ताभावसम्पत्ति' है । उनके लिए जो लोग युक्ति-योग और शास्त्रों से यत्न करते हैं वे ही इसमें अभ्यासी माने गये हैं ।"

ज्ञाता और ज्ञेय के विषय में मिथ्यात्वबुद्धि होना 'अभावसम्पत्ति' है तथा उनकी स्वरूप से अप्रतीति 'अत्यन्ताभावसम्पत्ति' है । एतदर्थ युक्ति से अर्थात् योग से और शास्त्रों से जो लोग यत्न करते हैं वे ही अभ्यासी होते हैं ।

"दृश्य पदार्थ रहना असम्भव है -- इसप्रकार जानकर रागद्वेषादि के तानव = क्षीण हो जाने पर जो घनोदित रति अर्थात् घनीभूत प्रेम अर्थात् अविच्छिन्नरूप से ब्रह्मतत्त्व में आसक्ति प्रकट होती है वह 'ब्रह्माभ्यास' कहा जाता है ।"

इसप्रकार राग-द्वेषादि की क्षीणतारूप वासनाक्षय का अभ्यास कहा गया है । अतः यह कहना उचित ही है कि तत्त्वज्ञान के अभ्यास से, मनोनाश के अभ्यास से और वासनाक्षय के अभ्यास से राग-द्वेषशून्य होने के कारण जो अपने और दूसरे के सुख, दुःख आदि में समदृष्टि रखता है वह परम-योगी माना जाता है और जो विषमदृष्टि रखता है अर्थात् पर सुख-दुःख को पर का ही सुख-दुःख मानता है अपना नहीं वह तत्त्वज्ञानवान् होने पर भी अपरम-योगी है ॥ 32 ॥

103 उक्त अर्थ में शंका करते हुए अर्जुन बोले --
[अर्जुन ने कहा -- हे मधुसूदन ! आपने समता के द्वारा जो सर्वत्र समदृष्टिरूप योग कहा है, मन की चञ्चलता के कारण मैं इसकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ ॥ 33 ॥]

104 आप = सर्वज्ञ ईश्वर ने साम्य से = समता के द्वारा अर्थात् चित्तगत विषमदृष्टि के हेतुभूत रागद्वेषादि के निराकरणद्वारा जो यह सर्वत्र समदृष्टिरूप परम योग कहा है, हे मधुसूदन[61] = समस्त वैदिक सम्प्रदायों के प्रवर्तक ! आपके कहे हुए समस्त मनोवृत्तियों के निरोधरूप इस योग की मैं स्थिर = दीर्घकाल तक रहनेवाली स्थिति = विद्यमानता नहीं देखता अर्थात् मैं अथवा मेरा -- जैसा कोई

105 सर्वलोकप्रसिद्धत्वेन तदेव चञ्चलत्वमुपपादयति –

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ 34 ॥

106 चञ्चलमत्यर्थं चलं सदा चलनस्वभावं मनः, हि प्रसिद्धमेवैतत् । भक्तानां पापादिदोषान्सर्वथा निवारयितुमशक्यानपि कृषति निवारयति तेषामेव सर्वथा प्राप्तुमशक्यानपि पुरुषार्थानाकर्षति प्रापयतीति वा कृष्णः । तेन रूपेण संबोधयन्दुर्निवारमपि चित्तचाञ्चल्यं निवार्य दुष्प्रापमपि समाधिसुखं त्वमेव प्रापयितुं शक्नोषीति सूचयति । न केवलमत्यर्थं चञ्चलं किं तु प्रमाथि, शरीरमिन्द्रियाणि च प्रमथितुं क्षोभयितुं शीलं यस्य तत्, क्षोभकतया शरीरेन्द्रियसंघातस्य विवशताहेतुरित्यर्थः । कि च बलवत्, अभिप्रेताद्विषयात्केनाप्युपायेन निवारयितुमशक्यम् । किं च दृढं विषयवासनासहस्रानुस्यूततया भेत्तुमशक्यम्, तन्तुनागवदच्छेद्यमिति भाष्ये । तन्तुनागो नागपाशः । 'तान्तनी'ति गुर्जरादौ प्रसिद्धो महाहृदनिवासी जन्तुविशेषो वा । तस्यातिदृढतया बलवतो बलवत्तया प्रमाथिनः प्रमाथितयाऽतिचञ्चलस्य महामत्तवनगजस्येव मनसो निग्रहं निरोधं

दूसरा योगाभ्यासनिपुण उसकी सम्भावना नहीं करता । तुम क्यों नहीं सम्भावना करते हो ? इस पर अर्जुन कहते हैं -- 'मन की चञ्चलता के कारण' । यहाँ 'मनसः' -- इस पद का अध्याहार करना चाहिए ॥ 33 ।

105 सर्वलोकप्रसिद्ध होने से उसी मनोगत चञ्चलता का उपपादन करते हैं --
[हे कृष्ण ! मन बड़ा चञ्चल है, यह शरीर और इन्द्रियों का प्रमथन करनेवाला है, यह बलवान् और दृढ़ है । उसका निग्रह मैं वायु को रोकने के समान अति दुष्कर मानता हूँ ॥ 34 ॥]

106 मन चञ्चल = अत्यन्त चल अर्थात् सदा चलनस्वभाववाला है, हि = यह प्रसिद्ध ही है । यहाँ 'हि' शब्द प्रसिद्धि का द्योतक है । कृष्ण[62] = जो भक्तों के सर्वथा निवारण के अयोग्य भी पापादि दोषों का कर्षण = निवारण करते हैं तथा उन्हीं भक्तों के सर्वथा प्राप्त होने में भी अशक्य पुरुषार्थों का आकर्षण करते हैं अर्थात् उनको प्राप्त कराते हैं वह 'कृष्ण' हैं । इसप्रकार सम्बोधन करके अर्जुन सूचित करते हैं कि आप ही दुर्निवार होने पर भी चित्त की चञ्चलता को दूर करके दुष्प्राप्य समाधिसुख को भी प्राप्त करा सकते हैं । यह मन केवल अत्यन्त चञ्चल ही नहीं है, किन्तु प्रमाथि है अर्थात् शरीर और इन्द्रियों को प्रमथित -- क्षुभित करने का स्वभाव है जिसका ऐसा है । तात्पर्य यह है कि क्षोभक होने से यह मन शरीर और इन्द्रियसंघात की विवशता का हेतु है । इसके अतिरिक्त यह मन बलवान् है अर्थात् अभिमत विषय से किसी भी उपाय द्वारा निवारण करने में अशक्य है । और फिर यह मन दृढ़ है अर्थात् सहस्रों विषयवासनाओं में अनुस्यूत होने के कारण भेदन करने में अशक्य है । भाष्य में कहा है -- तन्तुनाग के समान यह मन अच्छेद्य है । तन्तुनाग का अर्थ नागपाश है, अथवा, गुजरात आदि देशों में प्रसिद्ध गम्भीर ताल में रहनेवाला 'तान्तनी'

61. मधुसूदन = मधु दैत्य के विनाशक ! मेरे अन्तःकरण के तमोगुण-रजोगुणरूप मधुदैत्य का हनन कर एकमात्र सर्वशक्तिमान् आप ही इसको चंचलतारहित करने में समर्थ हो, मेरी अपनी शक्ति से यह सम्भव नहीं है – इसी भाव को अर्जुन मधुसूदन 'सम्बोधन' करके सूचित करते हैं ।

62. कृष्ण = 'कृष् विलेखने' अर्थात् 'कृष्' धातु का अर्थ है विलेखन – निवारण या कर्षण = आकर्षण करना । भक्तों के पापादि दोषों को निवृत्त करते हैं, रोकते हैं, दूर करते हैं या मिटाते है; इसीलिए भगवान् का नाम 'कृष्ण' है ।

निर्वृत्तिकतयाऽवस्थानं सुदुष्करं सर्वथा कर्तुमशक्यमहं मन्ये, वायोरिव । यथाऽऽकाशे दोधूयमानस्य वायोर्निश्चलत्वं संपाद्य निरोधनमशक्यं तद्वदित्यर्थः ।

107 अयं भावः--जातेऽपि तत्त्वज्ञाने प्रारब्धकर्मभोगाय जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखरागद्वेषादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशहेतुत्वाद्बाधितानुवृत्त्याऽपि बन्धो भवति । चित्तवृत्तिनिरोधरूपेण तु योगेन तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिरित्युच्यते । यस्याः संपादनेन स योगी परमो मत इत्युक्तम् । तत्रेदमुच्यते--बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते किं वा चित्तात्, नाऽऽद्यस्तत्त्वज्ञानेनैव साक्षिणो बन्धस्य निवारितत्वात् । न द्वितीयः स्वभावविपर्ययायोगात्, विरोधिसद्भावाच्च । न हि जलादार्द्रत्वमग्नेर्वोष्णत्वं निवारयितुं शक्यते 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इतिन्यायेन प्रतिक्षणपरिणामस्वभावत्वाच्चित्तस्य प्रारब्धभोगेन च कर्मणा कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनाशने प्रवृत्तस्य तत्त्वज्ञानस्यापि प्रतिबन्धं कृत्वा स्वफलदानाय देहेन्द्रियादिकमवस्थापितम् । न च कर्मणा स्वफलसुखदुःखादिभोगश्चित्तवृत्तिभिर्विना संपादयितुं शक्यते । तस्माद्यद्यपि स्वाभाविकानामपि

नाम का एक जीवविशेष है । मन अति दृढ़ होने के कारण बलवान्, बलवान् होने के कारण प्रमाथि और प्रमाथि होने के कारण अत्यन्त चञ्चल है, अतः वन में रहने वाले महामदोन्मत्तगजराज के समान मन का निग्रह -- निरोध अर्थात् निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्यरूप से स्थिर करना मैं दुष्कर अर्थात् करने में सर्वथा अशक्य मानता हूँ । वायु के समान अर्थात् जिस प्रकार आकाश में बहते हुए वायु को निश्चल कर उसको रोकना असम्भव है वैसे ही मैं मन को रोकना भी असम्भव मानता हूँ -- यह अर्थ है ।

107 भाव यह है कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिए जब तक पुरुष जीता है तब तक उसको कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख, राग, द्वेषादिरूप चित्त का धर्म क्लेश का हेतु होने से, बाधितानुवृत्ति से भी बन्धनरूप ही है । चित्त की वृत्तियों के निरोधरूप योग से उस बन्धन का निवारण 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है । जिसके सम्पादन से 'स योगी परमो मतः' = 'वह परम योगी कहा जाता है' -- यह कह चुके हैं । उसमें यह कहते हैं -- बन्धन क्या साक्षी से दूर किया जाता है या चित्त से ? इनमें पहला पक्ष तो युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही साक्षी के बन्धन की निवृत्ति होती है । दूसरा पक्ष संगत नहीं है, क्योंकि स्वभाव से विपर्यय -- विपरीत होना सम्भव नहीं है और विरोधी की भी सत्ता रहती ही है[63] । जल की आर्द्रता अथवा अग्नि की उष्णता की निवृत्ति नहीं की जा सकती । 'चितिशक्ति के अतिरिक्त सब भाव-पदार्थ प्रतिक्षण परिणामशील -- परिवर्त्तनशील होते हैं' -- इस न्याय से चित्त प्रतिक्षण परिणामस्वभाववाला है । इसलिए चित्त के परिणामित्व का निरोध कर उसको स्थिर करना असम्भव है । इसके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्य के विनाश के लिए प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रारब्धभोग कर्म तत्त्वज्ञान की भी प्रतिबन्धकता कर-- तत्त्वज्ञान की भी स्थिति को बाधा प्रदान कर अपना फल देने के लिए देह, इन्द्रिय आदि को नियुक्त करता है । और कर्म चित्तवृत्तियों के बिना अपने फल सुख-दुःखादि भोग

63. भाव यह है कि चञ्चलता चित्त का स्वभाव है, अतः उसकी सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती, फलतः उससे बन्धननिवृत्ति भी नहीं हो सकती, वस्तुतः स्वभाव से विपरीत होना सम्भव नहीं है । इसके अतिरिक्त जब तक पुरुष जीता है तब तक प्रारब्ध कर्म भी शेष रहता ही है, वह भी चित्त की निर्वृत्तिक अवस्था का विरोधी ही है, क्योंकि उसके भोग के लिए भी व्युत्थानरूप चित्त की वृत्तियुक्त अवस्था ही अपेक्षित है, अतः चित्त से बन्धननिवृत्ति सम्भव नहीं है ।

चित्तपरिणामानां कथंचिद्योगेनाभिभवः शक्येत कर्तुं तथाऽपि तत्त्वज्ञानादिव योगादपि प्रारब्धफलस्य कर्मणः प्राबल्यादवश्यंभाविनि चित्तस्य चाञ्चल्ये योगेन तन्निवारणमशक्यमहं स्वबोधादेव मन्ये । तस्मादनुपपन्नमेतदात्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शी परमो योगी मत इत्यर्जुनस्याऽऽक्षेपः ॥ 34 ॥

108 तमिममाक्षेपं परिहरन्—

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ 35 ॥

109 सम्यग्विदितं ते चित्तचेष्टितं मनो निग्रहीतुं शक्ष्यसीति संतोषेण संबोधयति हे महाबाहो महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्येति निरतिशयमुत्कर्षं सूचयति । प्रारब्धकर्मप्राबल्या-दसंयतात्मना दुर्निग्रहं दुःखेनापि निग्रहीतुमशक्यम् । प्रमाथि बलवद्दृढमिति विशेषणत्रयं पिण्डीकृत्यैतदुक्तम् । चलं स्वभावचञ्चलं मन इत्यसंशयं नास्त्येव संशयोऽत्र सत्यमेवैतद्ब्रवीषीत्यर्थः । एवं सत्यपि संयतात्मना समाधिमात्रोपायेन योगिनाऽभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते निगृह्यते सर्ववृत्तिशून्यं क्रियते तन्मन इत्यर्थः । अनिग्रहीतुरसंयतात्मनः सकाशात्संय-

---

को पूरा नहीं कर सकता । अर्थात् प्रारब्ध कर्म के लिए सुख-दु:खादि भोग अवश्य ही रहेगा । उसके लिए चित्तवृत्ति भी रहेगी और चित्तवृत्ति रहने से राग-द्वेषादि क्लेशरूप बन्धन भी रहेगा । ऐसी अवस्था में जीवन्मुक्ति कैसे सम्भव होगी ? अत: यद्यपि चित्त के स्वाभाविक परिणामों को कथंचित् -- किसी प्रकार योग के द्वारा अभिभूत किया जा सकता है, तथापि जिस प्रारब्ध कर्म का फलभोग प्रारम्भ हो गया है वह कर्म जैसे तत्त्वज्ञान से प्रबल है वैसे ही योग से भी प्रबल है । अत: प्रारब्धफलक कर्म की प्रबलता के कारण अवश्यंभावी चित्त की चञ्चलता होने पर उसका योग से निवारण करना अशक्य है -- ऐसा मैं अपने बोधानुसार ही मानता हूँ । अत: यह सर्वथा अनुपपन्न है कि 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शी परमो योगी मत:' = 'आत्मदृष्टान्त से सर्वत्र समदर्शी परम योगी माना जाता है'-- यह अर्जुन का आक्षेप है ।। 34 ।।

108 इस आक्षेप का परिहार करते हुए भगवान् बोले --

[श्रीभगवान् बोले -- हे महाबाहो ! नि:सन्देह मन चञ्चल और कठिनता से वश में होनेवाला है, किन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से यह वश में हो सकता है ।। 35 ।।]

109 मैं तुम्हारे चित्त की चेष्टा-स्थिति-विषय को अच्छी प्रकार जान गया हूँ, तुम मन का निग्रह करने में समर्थ होओगे -- इस संतोष से भगवान् सम्बोधन करते हैं -- 'हे महाबाहो !' = 'महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्य स तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो !' अर्थात् महान् = साक्षात् महादेव के साथ भी युद्ध करनेवाली हैं बाहू जिसकी वह महाबाहु[64], उसको सम्बोधन करने पर हे महाबाहो ! -- इस प्रकार सम्बोधन से भगवान् अर्जुन के निरतिशय उत्कर्ष को सूचित करते हैं । प्रारब्धकर्म की प्रबलता से असंयतात्मा -- अनियन्त्रितात्मा अर्थात् अजितेन्द्रिय पुरुष के लिए दुर्निग्रह है -- दु:ख से भी निग्रह करना अशक्य है । 'प्रमाथि बलवद्दृढमिति' = प्रमाथि, बलवान् और दृढ़ -- इन तीनों विशेषणों को एककर 'दुर्निग्रह' -- यह कहा है अर्थात् 'दुर्निग्रह' में उक्त तीनों

तात्मनो निग्रहीतुर्विशेषद्योतनाय तुशब्दः। मनोनिग्रहेऽभ्यासवैराग्ययोः समुच्चयबोधनाय चशब्दः। हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रस्त्वमवश्यं मया सुखी कर्तव्य इति स्नेहसंबन्धसूचनेनाऽऽश्वासयति। अत्र प्रथमार्धेन चित्तस्य हठनिग्रहो न संभवतीति द्वितीयार्धेन तु क्रमनिग्रहः संभवतीत्युक्तम्।

110 द्विविधो हि मनसो निग्रहः--हठेन क्रमेण च। तत्र चक्षुःश्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि कर्मेन्द्रियाणि च तद्गोलकमात्रोपरोधेन हठान्निगृह्यन्ते। तद्दृष्टान्तेन मनोऽपि हठेन निग्रहीष्यामीति मूढस्य भ्रान्तिर्भवति। न च तथा निग्रहीतुं शक्यते तद्गोलकस्य हृदयकमलस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्। अत एव च क्रमनिग्रह एव युक्तस्तदेतद्भगवान्वसिष्ठ आह --

'उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्॥
अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च॥

विशेषण अन्तर्भूत हो जाते हैं। चल अर्थात् स्वभाव से चञ्चल है मन -- यह असंशय है = इसमें संशय ही नहीं है, अर्थात् तुम यह सत्य ही कहते हो। ऐसा होने पर भी संयतात्मा -- जितेन्द्रिय अर्थात् समाधिमात्रउपाय योगी के द्वारा अभ्यास और वैराग्य से यह मन गृहीत -- निगृहीत अर्थात् सर्ववृत्तिशून्य किया जाता है। अनिग्रहीता अंसयतात्मा पुरुष से निग्रहीता संयतात्मा पुरुष की विशेषता दिखाने के लिए श्लोक में 'तु' शब्द का प्रयोग है। मन के निग्रह में अभ्यास और वैराग्य -- इन दोनों का समुच्चय सूचित करने के लिए 'च' शब्द है। 'हे कौन्तेय[65] !' इस सम्बोधन से 'तुम पितृभगिनी पुत्र = मेरी बूआ के पुत्र हो, अतः मुझे तुमको अवश्य सुखी करना चाहिए' -- इसप्रकार स्नेह-सम्बन्ध की सूचना देकर भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हैं। यहाँ प्रथम श्लोकार्ध से यह अभिव्यक्त किया है कि चित्त का हठपूर्वक निग्रह नहीं हो सकता तथा द्वितीय श्लोकार्ध से यह कहा है कि चित्त का क्रमपूर्वक निग्रह हो सकता है।

110 मन का निग्रह दो प्रकार से होता है -- हठ से और क्रम से। इसमें जैसे चक्षु, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकमात्र अर्थात् अपने-अपने अभिव्यञ्जक स्थान का उपरोध -- निरोध करने से हठपूर्वक वश में हो जाती हैं, उन्हीं के दृष्टान्त से 'मैं मन को भी हठपूर्वक वश में कर लूँगा' -- ऐसी मूढ़ पुरुष को भ्रान्ति होती है। किन्तु इसप्रकार मन का निग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि मन के गोलक हृदयकमल का निरोध करना अशक्य है। अतएव मन का क्रमपूर्वक निग्रह ही उचित है। यही भगवान् वसिष्ठ ने कहा है --

---

64. महाभारत के वनपर्व में कथानक है कि महर्षि वेदव्यास के परामर्श से अर्जुन ने महादेव से पाशुपतास्त्र पाने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर कठोर तपस्या की थी। उनकी कठोर तपस्या को सुराङ्गनाएँ भी भंग न कर सकीं। अन्त में अर्जुन ने किरातवेशधारी महादेव से बाहुयुद्ध करके उनको अपने बाहुबल और साहस से प्रसन्न किया तथा उनसे पाशुपत नामक दिव्यास्त्र प्राप्त किया था।

65. हे कौन्तेय = हे कुन्तीपुत्र ! -- इस सम्बोधन से भगवान् अर्जुन को स्मरण करा रहे हैं कि दुर्वासा मुनि अत्यन्त वैराग्यशील और क्रोधी थे। उनको कोई वशीभूत नहीं कर सका। अत्यन्त प्रबल राजा भी उनको कभी अपने महल में रखकर सेवा नहीं कर सके, किन्तु तुम्हारी माता कुन्ती ने निष्कपट सेवा से ऐसे क्रोधी दुर्वासा मुनि को भी अपने घर में रखकर प्रसन्न किया था। तुम उसी कुन्ती के पुत्र हो। अतः तुम अपनी माता के समान दृढ़ प्रयत्न से मेरे बताये हुए उपाय के द्वारा दुर्निग्रह भी मन को अवश्य ही वश में कर सकोगे।

वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः' इति ॥

111 क्रमनिग्रहे चाध्यात्मविद्याधिगम एक उपायः । सा हि दृश्यस्य मिथ्यात्वं दृग्वस्तुनश्च परमार्थसत्यपरमानन्दस्वप्रकाशत्वं बोधयति । तथा च सत्येतन्मनः स्वगोचरेषु दृश्येषु मिथ्यात्वेन प्रयोजनाभावं प्रयोजनवति च परमार्थसत्यपरमानन्दरूपे दृग्वस्तुनि स्वप्रकाशत्वेन स्वागोचरत्वं बुद्ध्वा निरिन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्यग्बुध्यते यो वा विस्मरति तयोः साधुसंगम एवोपायः । साधवो हि पुनः पुनर्बोधयन्ति स्मारयन्ति च । यस्तु विद्यामदादिदुर्वासनया पीड्यमानो न साधूननुवर्तितुमुत्सहते तस्य पूर्वोक्तविवेकेन वासनापरित्याग एवोपायः । यस्तु वासनानामतिप्राबल्यात्तास्त्यक्तुं न शक्नोति तस्य प्राणस्पन्दनिरोध एव उपायः । प्राणस्पन्दवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वात्तयोर्निरोधे चित्तशान्तिरुपपद्यते । तदेतदाह स एव--

'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥
असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥

''चित्तज्ञ पुरुष भी अनिन्दित -- अदूषित अर्थात् उत्तम युक्ति के बिना बार-बार बैठ-बैठकर ही मन को उसी प्रकार नहीं जीत सकता है, जैसे अङ्कुश के बिना मत्त और दुष्ट हाथी को वश में नहीं किया जा सकता है । अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधु पुरुषों का समागम, वासनाओं का परित्याग और प्राणस्पन्द का निरोध -- ये ही चित्त को जीतने में प्रबल युक्तियाँ है । इन युक्तियों के रहते हुए भी जो पुरुष हठ से चित्त को नियन्त्रित करते हैं वे मानो दीपक को छोड़कर कज्जल से अन्धकार को नष्ट करना चाहते हैं ।''

111 क्रमपूर्वक निग्रह में 'अध्यात्मविद्याधिगम' = अध्यात्मविद्या की प्राप्ति एक उपाय है अर्थात् प्रधान उपाय है, यह विद्या दृश्य के मिथ्यात्व और दृग्वस्तु के परमार्थसत्यत्व, परमानन्दत्व, और स्वप्रकाशत्व का ज्ञान कराती है । ऐसा होने पर यह मन अपने विषयभूत दृश्यों में उनका मिथ्यात्व होने के कारण प्रयोजन का अभाव और प्रयोजनवान् परमार्थसत्य परमानन्दरूप दृग्वस्तु में स्वप्रकाश होने के कारण अपनी अविषयता जानकर ईधनशून्य अग्नि के समान स्वयं ही शान्त हो जाता है । जो सम्बोधित भी तत्त्व को अच्छी प्रकार नहीं समझता अथवा भूल जाता है -- उन दोनों के लिए 'साधुसमागम' ही उपाय है, क्योंकि साधु पुरुष बार-बार उसको समझाते हैं और उसका स्मरण कराते हैं । किन्तु जो पुरुष विद्यामद-ज्ञानाभिमान आदि दुर्वासनाओं से पीडित रहने के कारण साधु पुरुषों की अनुवृत्ति करने का उत्साह नहीं करता उसके लिए पूर्वोक्त विवेक से 'वासनापरित्याग' ही उपाय है । और जो पुरुष वासनाओं के अतिप्रबल होने के कारण उनको त्याग नहीं सकता उसके लिए 'प्राणस्पन्दनिरोध' ही उपाय है । प्राणस्पन्द और वासना -- ये दोनों चित्त के प्रेरक है,

वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥
यदा न भाव्यते किंचिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमात्मपदप्रदा ॥' इति ।

112 अत्र द्वावेवोपायौ पर्यवसितौ प्राणस्पन्दनिरोधार्थमभ्यासः, वासनापरित्यागार्थं च वैराग्यमिति । साधुसङ्गमाध्यात्मविद्याधिगमौ त्वभ्यासवैराग्योपपादकतयाऽन्यथासिद्धौ तयोरेवान्तर्भवतः अत एव भगवताऽभ्यासेन वैराग्येण चेति द्वयमेवोक्तम् । अत एव भगवान्पतञ्जलिरसूत्रयत् -- 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोध:' इति । तासां प्रागुक्तानां प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिरूपेण पञ्चविधानामनन्तानामासुरत्वेन क्लिष्टानां देवत्वेना- क्लिष्टानामपि वृत्तीनां सर्वासामपि निरोधो निरिन्धनाग्निवदुपशमाख्य: परिणामोऽभ्यासेन वैराग्येण च समुच्चितेन भवति । तदुक्तं योगभाष्ये -- चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च । तत्र या कैवल्यप्राग्भारा विवेकनिम्ना सा कल्याणवहा । या त्वविवेकनिम्ना संसारप्राग्भारा सा पापवहा । तत्र वैराग्येण

अत: उन दोनों का निरोध होने पर चित्त की शान्ति सम्भव होती है । वसिष्ठ ही ने इस विषय में यह कहा है --

''चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज है -- प्राणस्पन्द और वासना । उन दोनों में से एक के क्षीण होने पर तत्काल दोनों ही नष्ट हो जाते हैं । प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, गुरु की दी हुई युक्ति से तथा आसन और अशन -- भोजन के संयम से 'प्राणस्पन्द' का निरोध होता है । असंग व्यवहार, भवभावना के परित्याग और शरीर का नाश देखने के स्वभाव से वासना की प्रवृत्ति नहीं होती । वासना के सम्यक्परित्याग से और प्राणस्पन्द के निरोध से चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है, अत: इनमें से जिसको करना चाहो उसको करो । हे राघव ! मन में वस्तु की वस्तुरूप से और रसरूप से जो भावना करता है इसी को मैं चित्त का स्वरूप समझता हूँ । जब चित्त में हेय और उपादेय-किसी भी वस्तु की भावना -- चिन्ता नहीं रहती है अर्थात् चित्त जब सर्वचिन्ता से रहित होकर स्थित हो जाता है तब चित्त -- चित्तवृत्ति का उदय नहीं होता है । इसप्रकार जब मन निरन्तर वासनारहित हो जाता है अर्थात् मनन नहीं करता है तब परमात्मपद को देनेवाली अमनस्ता = अचित्तता का उदय होता है अर्थात् तब निर्विकल्पक मन में परमात्मा का प्रकाश होता है ।''

112 यहाँ दो ही उपाय वस्तुत: सिद्ध हुए हैं -- प्राणस्पन्दनिरोध के लिए अभ्यास और वासनापरित्याग के लिए वैराग्य । साधुसङ्गम और अध्यात्मविद्या की प्राप्ति तो अभ्यास और वैराग्य के ही उपपादक साधक होने से अन्यथासिद्ध हैं अर्थात् स्वत: प्राप्त हैं तथा अभ्यास और वैराग्य में ही उनका अन्तर्भाव है । इसी से भगवान् ने 'अभ्यासेन वैराग्येण च' = 'अभ्यास से और वैराग्य से' इसप्रकार दो ही उपाय कहे हैं । अतएव भगवान् पतञ्जलि ने भी सूत्र द्वारा कहा है -- 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:' (योगसूत्र, 1.12) = 'तत्त्वज्ञान के लिए योगाभ्यास और विषयविषयक वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है' । उन प्रागुक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिरूप से

विषयस्रोतः खिलीक्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन च कल्याणस्रोत उद्घाट्यते, इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति । प्राग्भारनिम्नपदे 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' इत्यत्र व्याख्यायते । यथा तीव्रवेगोपेतं नदीप्रवाहं सेतुबन्धनेन निवार्य कुल्याप्रणयनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक्प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते तथा वैराग्येण चित्तनद्या विषयप्रवाहं निवार्य समाध्यभ्यासेन प्रशान्तवाहिता संपाद्यत इति द्वारभेदात्समुच्चय एव, एकद्वारत्वे हि व्रीहियववद्विकल्पः स्यादिति ।

113 **मन्त्रजपदेवताध्यानादीनां क्रियारूपाणामावृत्तिलक्षणोऽभ्यासः संभवति । सर्वव्यापारोपरमस्य तु समाधेः को नामाभ्यास इति शङ्कां निवारयितुमभ्यासं सूत्रयति स्म 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' इति । तत्र स्वरूपावस्थिते द्रष्टरि शुद्धे चिदात्मनि चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहितारूपा निश्चल-**

पाँच प्रकार की तथा आसुरभाव से अनन्त क्लिष्ट और दैवभाव से अनन्त अक्लिष्ट वृत्तियों में से सभी का निरोध = ईधनशून्य अग्नि के समान उपशमसंज्ञक परिणाम अभ्यास और वैराग्य -- इनके समुच्चय से होता है । यही योगभाष्य में कहा है -- 'चित्त नाम की नदी भीतर तथा बाहर -- दोनों ओर बहनेवाली है । आत्मकल्याण के लिए वह भीतर बहती है और जन्म-मरण आदि दु:ख के लिए बाहर विषयों की ओर भी बहती है । इनमें जो चित्तनदी कैवल्याभिमुख होकर विवेकविषयरूप निम्न मार्ग की ओर ढ़लती हुई मोक्षपर्यन्त बहा करती है वह कल्याण की हेतु होने से 'कल्याणवहा' कही जाती है तथा जो संसाराभिमुख होकर अविवेकविषयरूप निम्न मार्ग की ओर ढ़लती हुई भोगपर्यन्त बहा करती है वह दु:खजनक होने के कारण 'पापवहा' कही जाती है । इनमें से जो 'पापवहा' है उसके विषय की ओर जानेवाले प्रवाह को वैराग्य द्वारा खिल-स्वल्प कर दिया जाता है अर्थात् रोक दिया जाता है तथा सत्त्वपुरुषान्यता-ख्यातिरूप विवेकज्ञान के अभ्यास के द्वारा कल्याण की ओर जानेवाले स्रोत-प्रवाह को खोल दिया जाता है । इसप्रकार उक्त अभ्यास और वैराग्य -- उन दोनों के अधीन चित्तवृत्ति का निरोध है' । उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'प्राग्भार' और 'निम्न' -- इन पदों की 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' (योगसूत्र, 4.26) = 'विवेकख्याति के उदयकाल में विवेकज्ञाननिष्ठ योगी का चित्त विवेकमार्ग में सञ्चार करनेवाला तथा कैवल्य के अभिमुख हो जाता है' -- इस सूत्र में व्याख्या की गई है । जिस प्रकार तीव्र वेगवाली नदी के प्रवाह को सेतुबन्ध द्वारा रोककर उसमें से नहरं निकालकर खेतों की ओर जानेवाला दूसरा तिरछा प्रवाह उत्पन्न किया जाता है, वैसे ही वैराग्य द्वारा चित्तरूप नदी के विषयप्रवाह को रोककर समाधि के अभ्यास से उसकी प्रशान्तवाहिता सम्पन्न कर दी जाती है । इस प्रकार द्वारभेद से वैराग्य और अभ्यास का समुच्चय ही है अर्थात् वैराग्य से चित्तनदी के विषयप्रवाह का निवारण और अभ्यास से प्रशान्तवाहिता होगी । यदि एक ही द्वार होता तो व्रीहि और यव के समान उसका विकल्प होता[66] ।

113 'मन्त्र, जप, देवता का ध्यान आदि क्रियारूप साधनों का तो पुन: पुन: आवृत्तिरूप अभ्यास सम्भव है, किन्तु सम्पूर्ण व्यापारों की निवृत्तिरूप समाधि का क्या अभ्यास हो सकता है ? अर्थात् समाधि में किसकी पुन: पुन: आवृत्ति होगी, क्योंकि क्रिया ही साक्षात् साध्य है, अन्य नहीं । निरोध क्रिया का अभावरूप है, अतः कृतिसाध्य नहीं है ?' -- इस शंका का निवारण करने के लिए पतञ्जलि

66. जैसे -- 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्यजेत' – इन वाक्यों में व्रीहि और यव – दोनों का यागसाधक होने से विधान है । पुरोडाश दोनों का द्वार है । उक्त साधनता में पुरोडाशस्वरूपद्वारा एक **होने** से व्रीहि और यव का विकल्प है अर्थात् एक-एक से ही याग किया जाता है, दोनों से नहीं । इसी प्रकार यदि प्रकृत में भी द्वार एक होता तो अभ्यास और वैराग्य का विकल्प होता, समुच्चय नहीं, किन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है, अत: अभ्यास और वैराग्य में द्वारभेद से समुच्चय ही है ।

तास्थितिस्तदर्थं यत्नो मानस उत्साहः स्वभावचाञ्चल्याद्बहिष्प्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोत्स्यामीत्येवंविधः । स आवर्त्यमानोऽभ्यास उच्यते । 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' अनिर्वेदेन दीर्घकालासेवितो विच्छेदाभावेन निरन्तरासेवितः सत्कारेण श्रद्धातिशयेन चाऽऽसेवितः । सोऽभ्यासो दृढभूमिर्विषयसुखवासनया चालयितुमशक्यो भवति । अदीर्घकालत्वे दीर्घकालत्वेऽपि विच्छिद्य विच्छिद्य सेवने श्रद्धातिशयाभावे च लयविक्षेपकषायसुखास्वादानामपरिहारे व्युत्थानसंस्कारप्राबल्याददृढभूमिरभ्यासः फलाय न स्यादिति त्रयमुपात्तम् ।

114 वैराग्यं तु द्विविधमपरं परं च । यतमानसंज्ञाव्यतिरेकसंज्ञैकेन्द्रिसंज्ञावशीकारसंज्ञाभेदैरपरं चतुर्धा । तत्र पूर्वभूमिजयेनोत्तरभूमिसंपादनविवक्षया चतुर्थमेवासूत्रयत्— 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति । स्त्रियोऽन्नं पानमैश्वर्यमित्यादयो दृष्टा विषयाः । स्वर्गो विदेहता प्रकृतिलय इत्यादयो वैदिकत्वेनाऽऽनुश्रविका विषयास्तेषूभयविधेष्वपि सत्यामेव तृष्णायां विवेकतारतम्येन यतमानादित्रयं भवति । अत्र जगति किं सारं किमसारमिति गुरुशास्त्राभ्यां ज्ञास्यामीत्युद्योगो यतमानम् । स्वचित्ते पूर्वविद्यमानदोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानविवेकेनैते पक्का एतेऽवशिष्टा इति चिकित्सकवद्विवेचनं व्यतिरेकः । दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन

ने अभ्यास का लक्षण इस प्रकार सूत्रद्वारा किया है -- 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (योगसूत्र, 1.13) = 'चित्तवृत्ति के निरोध में चित्त की स्थिरता के निमित्त जो यत्न अर्थात् मानसिक उत्साहपूर्वक यमादि योगाङ्गों का अनुष्ठान है वह 'अभ्यास' कहा जाता है ।' तत्र = वहाँ अर्थात् स्वरूपावस्थित शुद्ध चिदात्मा द्रष्टा में अवृत्तिक = वृत्तिशून्य चित्त की जो प्रशान्तवाहिता निश्चलता -- स्थिति है उसके लिए यत्न अर्थात् स्वाभाविक चञ्चलता के कारण बाहर की ओर आने के स्वभाववाले इस चित्त का सर्वथा निरोध करूँगा -- ऐसा जो मन का उत्साह है वह पुनः पुनः किये जाने पर 'अभ्यास' कहा जाता है । 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः' (योगसूत्र, 1.14) = 'वह अभ्यास दीर्घकाल तक अन्तरायरहित -- सतत तप, ब्रह्मचर्य, प्रणव आदि भगवान्नाम के जपरूपविद्या तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक अनुष्ठित हुआ दृढ़ अवस्थावाला होता है' । अनिर्वेदपूर्वक दीर्घकाल तक सेवन किये जाने पर, बिना विच्छेद के निरन्तर सेवित होने पर तथा सत्कार अर्थात् श्रद्धातिशय से सेवन करने पर वह अभ्यास दृढ़भूमि अर्थात् विषयसुख की वासना से चलाने के अयोग्य हो जाता है । दीर्घकाल तक सेवन न करने पर, दीर्घकाल होने पर भी रुक-रुक कर सेवन करने पर तथा श्रद्धातिशय न होने पर लय, विक्षेप, कषाय और सुखास्वाद -- इनका परिहार न होने के कारण व्युत्थानसंस्कारों की प्रबलता से अदृढ़भूमि अभ्यास फल के लिए नहीं होगा, इसलिए दीर्घकाल, नैरन्तर्य और सत्कार - इन तीनों विशेषणों को ही ग्रहण किया गया है ।

114 वैराग्य दो प्रकार का है -- अपर और पर । यतमान संज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा भेद से 'अपर' वैराग्य चार प्रकार का है । इनमें पूर्वभूमि के जयपूर्वक उत्तरभूमि के सम्पादन की विवक्षा से चतुर्थ 'वशीकारसंज्ञा' वैराग्य का ही सूत्र द्वारा कथन किया है --'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (योगसूत्र, 1.15) = 'दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जिसकी तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य 'वशीकार' नामवाला अर्थात् अपरवैराग्य' है । स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय हैं । स्वर्ग, विदेहता, प्रकृतिलय इत्यादि वैदिक होने से आनुश्रविक विषय हैं । इन दोनों ही प्रकार के विषयों में तृष्णा रहने पर विवेक के तारतम्य से यतमान आदि तीन प्रकार के वैराग्य होते

बहिरिन्द्रियप्रवृत्तिमजनयन्त्या अपि तृष्णाया औत्सुक्यमात्रेण मनस्यवस्थानमेकेन्द्रियम् । मनस्यपि तृष्णाशून्यत्वेन सर्वथा वैतृष्ण्यं तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारसंज्ञा वैराग्यं संप्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गं साधनमसंप्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम् । तस्य त्वन्तरङ्गसाधनं परमेवं वैराग्यम् । तच्चासूत्रयत् – 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति । संप्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधानाद्विविक्तस्य पुरुषस्य ख्यातिः साक्षात्कार उत्पद्यते । ततश्चाशेषगुणत्रयव्यवहारेषु वैतृष्ण्यं यद्भवति तत्परं श्रेष्ठं फलभूतं वैराग्यम् । तत्परिपाकनिमित्ताच्च चित्तोमशमपरिपाकादविलम्बेन कैवल्यमिति ॥ 35 ॥

115 यत्तु त्वमवोचः प्रारब्धभोगेन कर्मणा तत्त्वज्ञानादपि प्रबलेन स्वफलदानाय मनसो वृत्तिषूत्पाद्यमानासु कथं तासां निरोधः कर्तुं शक्य इति तत्रोच्यते–

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ 36 ॥

116 उत्पन्नेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारे वेदान्तव्याख्यानादिव्यासङ्गादालस्यादिदोषाद्वाऽभ्यासवैराग्याभ्यां न संयतो निरुद्ध आत्माऽन्तःकरणं येन तेनासंयतात्मना तत्त्वसाक्षात्कारवताऽपि योगो मनोवृत्ति-

---

हैं । 'इस जगत् में क्या सार है, क्या असार है' -- यह मैं गुरु और शास्त्रों के द्वारा जानूँगा -- इसप्रकार का उद्योग 'यतमान' वैराग्य है । अपने चित्त में पहले जो दोष विद्यमान थे उनमें से विवेक का अभ्यास करने से इतने तो पक गए हैं और इतने शेष हैं -- इसप्रकार चिकित्सक के समान पक्व और अपक्व -- दोनों का विवेचन करना 'व्यतिरेक' वैराग्य है । दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की प्रवृत्ति की दु:खात्मता के ज्ञान से बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति न होने पर भी औसुक्यमात्र से मन में उनकी तृष्णा रहना 'एकेन्द्रिय' वैराग्य है । मन के भी तृष्णाशून्य होने पर सर्वथा वैतृष्ण्य हो जाना अर्थात् ज्ञान की प्रसादरूपा जो तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्ति है वह 'वशीकार' संज्ञा वैराग्य है । यह सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन है और असम्प्रज्ञात समाधि का बहिरङ्ग साधन है । उसका अन्तरङ्ग साधन तो पर वैराग्य है । उसका लक्षण इसप्रकार सूत्र द्वारा कहा है -- 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' (योगसूत्र, 1.16) = 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति द्वारा गुणों से तृष्णारहित हो जाना 'पर-वैराग्य' है ।' संप्रज्ञातसमाधि की कुशलता से त्रिगुणात्मक प्रधान से विविक्त पुरुष की ख्याति -- साक्षात् अनुभूति होती है । उससे गुणत्रय के समस्त व्यवहारों में जो वैतृष्ण्य होता है वही पर = श्रेष्ठ अर्थात् फलभूत वैराग्य है । उसके परिपाकरूप निमित्त से चित्त की शान्ति का परिपाक होने पर अविलम्ब = अतिशीघ्र ही कैवल्य प्राप्त हो जाता है ॥ 35 ॥

115 तुमने जो कहा कि 'तत्त्वज्ञान से भी प्रबल प्रारब्धभोग कर्म से अपना फल देने के लिए मन में वृत्तियाँ जो उत्पन्न होती हैं उनका निरोध कैसे किया जा सकता है' ? इसका उत्तर देते हैं -- [असंयतात्मा अर्थात् जिसने अपने चित्त को संयत-- नियन्त्रित नहीं किया है उसके द्वारा योग दुष्प्राप्य है'-- ऐसा जो तुमने कहा उसमें मेरी भी सम्मति है, किन्तु जो वश्यात्मा है अर्थात् जिसने अपने चित्त को वश में कर लिया है उसके यत्न करने पर उपायद्वारा योग की प्राप्ति हो सकती है ॥ 36 ॥]

116 'तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर भी वेदान्त के व्याख्यान आदि के व्यसन से अथवा आलस्यादि दोष से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा जिसने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को संयत-निरुद्ध नहीं किया है उस

निरोधो दुष्प्रापो दुःखेनापि प्राप्तुं न शक्यते प्रारब्धकर्मकृताच्चित्तचाञ्चल्यादिति चेत्त्वं वदसि तत्र मे मतिर्मम संमतिस्तत्तथैवेत्यर्थः । केन तर्हि प्राप्यते, उच्यते -- वश्यात्मना तु वैराग्यपरिपाकेनवासनाक्षये सति वश्यः स्वाधीनो विषयपारतन्त्र्यशून्य आत्माऽन्तःकरणं यस्य तेन । तुशब्दोऽसंयतात्मनो वैलक्षण्यद्योतनार्थोऽवधारणार्थो वा । एतादृशेनापि यतता यतमानेन वैराग्येण विषयस्रोतःखिलीकरणेऽप्यात्मस्रोतउद्घाटनार्थमभ्यासं प्रागुक्तं कुर्वता योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः शक्योऽवाप्तुं चित्तचाञ्चल्यनिमित्तानि प्रारब्धकर्माण्यप्यभिभूय प्राप्तुं शक्यः ।

117 **कथमतिबलवतामारब्धभोगानां कर्मणामभिभवः, उच्यते-- उपायत उपायात् । उपायः पुरुषकारस्तस्य लौकिकस्य वैदिकस्य वा प्रारब्धकर्मापेक्षया प्राबल्यात् । अन्यथा लौकिकानां कृष्यादिप्रयत्नस्य वैदिकानां ज्योतिष्टोमादिप्रयत्नस्य च वैयर्थ्यापत्तेः । सर्वत्र प्रारब्धकर्मसदसत्त्वविकल्पग्रासात्प्रारब्धकर्मसत्त्वे तत एव फलप्राप्तेः किं पौरुषेण प्रयत्नेन, तदसत्त्वे तु सर्वथा फलासंभवात्किं तेनेति । अथ कर्मणः स्वयमदृष्टरूपस्य दृष्टसाधनसंपत्तिव्यतिरेकेण फलजननासमर्थत्वादपेक्षितः कृष्यादौ पुरुषप्रयत्न इति चेत् । योगाभ्यासेऽपि समं समाधानं तत्साध्याया जीवन्मुक्तेरपि सुखातिशयरूपत्वेन प्रारब्धकर्मफलान्तर्भावात् । अथवा यथा प्रारब्धफलं कर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलमिति कल्प्यते दृष्टत्वात्, यथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु शास्त्रीयस्य प्रयत्नस्य सर्वत्र ततः प्राबल्यदर्शनात् । तथा चाऽऽह भगवान्वसिष्ठः--**

असंयतात्मा के द्वारा, तत्त्वसाक्षात्कारवान् होने पर भी, योग = मनोवृत्तिनिरोध दुष्प्राप्य है अर्थात् प्रारब्धकर्मकृत चित्त की चञ्चलता के कारण दुःख से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है'--ऐसा जो तुम कहते हो उसमें मेरी मति है अर्थात् इस विषय में मेरी सम्मति ऐसी ही है । तो फिर किसके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ? इस पर कहते हैं-- 'वश्यात्मना' = 'वश्यात्मा के द्वारा' । वैराग्य के परिपाक से वासनाओं का क्षय हो जाने पर वश्य = स्वाधीन अर्थात् विषय की परतन्त्रता से शून्य है आत्मा = अन्तःकरण जिसका उसके द्वारा । यहाँ 'तु' शब्द असंयतात्मा की अपेक्षा संयतात्मा में विलक्षणता दिखाने के लिए अथवा निश्चय करने के लिए है । ऐसे पुरुष के द्वारा भी उसके यत्नशील होने पर अर्थात् 'यतमान' वैराग्य से विषयस्रोत को बन्द कर देने पर भी पूर्वोक्त आत्मस्रोत को खोलने का अभ्यास करनेवाला होने पर योग अर्थात् सर्वचित्तवृत्तिनिरोध प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् चित्त की चञ्चलता के निमित्त प्रारब्धकर्मों को अभिभूत कर प्राप्त किया जा सकता है ।

117 प्रश्न है कि अत्यन्त बलवान् प्रारब्धभोग कर्मों का अभिभव -- पराभव कैसे किया जा सकता है ? तो कहते हैं -- 'उपायतः' = 'उपाय के द्वारा' । उपाय का अर्थ है पुरुषकार, अतः पुरुषकार के द्वारा प्रारब्धभोग कर्मों का अभिभव किया जा सकता है, क्योंकि वह लौकिक या वैदिक पुरुषकार प्रारब्धकर्मों की अपेक्षा प्रबल है, अन्यथा लौकिक पुरुषों के कृषि आदि के लिए प्रयत्न की और वैदिकों के ज्योतिष्टोमादि प्रयत्न की व्यर्थता सिद्ध होगी । प्रारब्धकर्म सर्वत्र सत् = होने और असत् = न होने -- रूप विकल्प से ग्रस्त हैं, अतः प्रारब्ध कर्म के होने पर तो उसी से फल की प्राप्ति हो सकती है, फिर पुरुषप्रयत्न की क्या आवश्यकता है ? और प्रारब्ध कर्म के न होने पर सर्वथा फलभोग हो ही नहीं सकता, तब भी पुरुषप्रयत्न से क्या होगा ? यदि यह कहा जाय कि कर्म स्वयं अदृष्टस्वरूप है, अतः दृष्टसाधनसम्पत्ति के बिना फल उत्पन्न करने में असमर्थ होने के कारण उसको कृषि आदि के लिए पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा है ही, तो कहेंगे कि योगाभ्यास के विषय में

'सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥
उत्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्' ॥

उच्छास्त्रं शास्त्रप्रतिषिद्धमनर्थाय नरकाय । शास्त्रितं शास्त्रविहितमन्तःकरणशुद्धिद्वारा परमार्थाय चतुर्ष्वर्थेषु परमाय मोक्षाय ।

'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेव योजनीया शुभे पथि ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय ।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥
द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् ।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन' ॥

वासना शुभेति शेषः ।

'संदिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
शुभायां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन ॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्त्वं निर्णीतं तावदाचर ॥

भी यह समाधान ऐसा ही है, क्योंकि योगाभ्यास से साध्य 'जीवन्मुक्ति' भी सुखातिशयरूप होने के कारण प्रारब्धकर्म-फल के ही अन्तर्गत है । अथवा, जैसे यह कल्पना की जाती है कि प्रारब्धकर्म-फल तत्त्वज्ञान से प्रबल है, क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है; उसी प्रकार उस प्रारब्धकर्म से भी योगाभ्यास प्रबल है, क्योंकि शास्त्रीय प्रयत्न की सर्वत्र प्रारब्ध की अपेक्षा प्रबलता देखी गई है -- यह कहा जा सकता है । ऐसा ही भगवान् वसिष्ठ ने कहा भी है --

'हे रघुनन्दन ! इस संसार में सभी के द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त पुरुषकार से सदा-सर्वदा सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है । पुरुषकार दो प्रकार का है -- उच्छास्त्र = शास्त्रविरुद्ध और शास्त्रित = शास्त्रविहित । इनमें उच्छास्त्र अनर्थ के लिए है और शास्त्रित परमार्थ के लिए है ।''

'उच्छास्त्र' का अर्थ है -- 'शास्त्रप्रतिषिद्ध' -- जो अनर्थरूप नरक के लिए है । 'शास्त्रित' अर्थात् 'शास्त्रविहित' अन्तःकरणशुद्धि द्वारा परमार्थ के लिए है अर्थात् चारों अर्थों = पुरुषार्थों में परम = श्रेष्ठ मोक्ष के लिए है ।

''शुभ और अशुभ -- दोनों मार्गों से बहती हुई वासनारूपी नदी को पुरुषप्रयत्न = पुरुषकार के द्वारा शुभ मार्ग की ओर प्रवाहित करना चाहिए । हे बलवानों में श्रेष्ठ ! अशुभों में लगे हुए अपने मन को पुरुषार्थ -- पुरुषकार के द्वारा शुभों में ही बलपूर्वक लगा दो । हे अरिमर्दन । जब अभ्यासवश तुम्हारी शुभ-वासना का आनायास ही उदय होने लगे, तब तुम अपने अभ्यास की सफलता समझो ।''

यहाँ 'वासना' शब्द के साथ 'शुभ' शब्द का अध्याहार करना चाहिए ।

ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना' इति ॥

118 तस्मात्साक्षिगतस्य संसारस्याविवेकनिबन्धनस्य विवेकसाक्षात्कारादपनयेऽपि प्रारब्धकर्मपर्यवस्थापितस्य चित्तस्य स्वाभाविकीनामपि वृत्तीनां योगाभ्यासप्रयत्नेनापनये सति जीवन्मुक्तः परमो योगी । चित्तवृत्तिनिरोधाभावे तु तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति सिद्धम् । अवशिष्टं जीवन्मुक्तिविवेके सविस्तरमनुसंधेयम् ॥ 36 ॥

119 एवं प्राक्तनेन ग्रन्थेनोत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽनुत्पन्नजीवन्मुक्तिपरमो योगी मतः । उत्पन्नतत्त्वज्ञान उत्पन्नजीवन्मुक्तिस्तु परमो योगी मत इत्युक्तम् । तयोरुभयोरपि ज्ञानादज्ञाननाशेऽपि यावत्प्रारब्धभोगं कर्म देहेन्द्रियसङ्घातावस्थानात्प्रारब्धभोगकर्मापाये च वर्तमानदेहेन्द्रियसङ्घातापायात्पुनरुत्पादकाभावाद्विदेहकैवल्यं प्रति काऽपि नास्त्याशङ्का । यस्तु प्राकृतकर्मभिर्लब्धविविदिषापर्यन्तचित्तशुद्धिः कृतकार्यत्वात्सर्वाणि कर्माणि परित्यज्य प्राप्तपरमहंसपरिव्राजकभावः परमहंसपरिव्राजकमात्मसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तं परप्रबोधनदक्षं गुरुमुपसृत्य ततो वेदान्तमहावाक्योपदेशं प्राप्य तत्रासंभावनाविपरीतभावनाख्यप्रतिबन्धनिरासायाथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्याद्यनावृत्तिःशब्दादित्यन्तया चतुर्लक्षणमीमांसया श्रवणमनननिदिध्यासनानि

जहाँ शुभ और अशुभ वासनाओं के विषय में सन्देह हो वहाँ शुभ को ही स्वीकार करो; क्योंकि हे तात ! शुभ वासना की वृद्धि होने में कोई दोष नहीं है । जब तक तुम्हारा मन अविवेकी है और तुमको उस परमार्थ पद का ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक तुम गुरु और शास्त्र प्रमाणों से निर्णय किये हुए व्यवहार का ही आचरण करो । उसके पश्चात् जब कषायों का पाक = चित्तगत मलिनता की शुद्धि और परमार्थ वस्तु का ज्ञान हो जाय, तब अवश्य ही शुभ वासनाओं के समूह को भी तुम निरोध समाधि के अभ्यास से त्याग दो ।"

118 अत: अविवेक के कारण साक्षी में प्रतीत होनेवाले संसार की विवेकजन्य साक्षात्कार से निवृत्ति हो जाने पर भी प्रारब्धकर्म द्वारा प्रस्थापित हुए चित्त की स्वाभाविक वृत्तियों का योगाभ्यासरूप प्रयत्न से निरोध हो जाने पर ही जीवन्मुक्त परम योगी होता है तथा चित्तवृत्तियों का निरोध न होने पर तो तत्त्वज्ञानवान् भी अपरम योगी ही होता है -- यह सिद्ध हुआ । शेष विषय का 'जीवन्मुक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक अनुसन्धान किया जा सकता है ॥ 36 ॥

119 इसप्रकार पूर्वग्रन्थ से यह कहा गया है कि जिसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न -- प्राप्त हो गया है, किन्तु जीवन्मुक्ति उत्पन्न -- प्राप्त नहीं हुई है वह 'अपरम योगी' है और जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर जीवन्मुक्ति भी प्राप्त हो गई है वह 'परम योगी' है । तत्त्वज्ञान से उन दोनों का ही अज्ञाननाश हो जाने पर भी जबतक प्रारब्धभोग-कर्म रहते हैं तब तक देह और इन्द्रियों का संघात विद्यमान रहने से और जब प्रारब्धभोग-कर्म समाप्त हो जाते हैं तब वर्तमान देह और इन्द्रियों का संघात भी समाप्त हो जाने से पुन: उनका कोई उत्पादक न होने से उन दोनों का विदेहकैवल्य होने में कोई शङ्का नहीं है । किन्तु जो पुरुष प्राक्-कृत शुभ कर्मों से विविदिषा -- जिज्ञासापर्यन्त चित्तशुद्धि को प्राप्त कर चुका है और वह कृतकार्य होने से सब कर्मों का परित्याग कर, परमहंस परिव्राजक भाव को प्राप्त हो, आत्मसाक्षात्कार द्वारा जीवन्मुक्त और परप्रबोधनदक्ष -- दूसरों को उपदेश करने में कुशल परमहंस परिव्राजक गुरु के समीप जाकर, उनसे वेदान्त के महावाक्यों का उपदेश प्राप्त कर, उनमें

गुरुप्रसादात्कर्तुमारभते स श्रद्दधानोऽपि सन्नायुषोऽल्पत्वेनाल्पप्रयत्नत्वादलब्धज्ञानपरिपाकः श्रवणमनननिदिध्यासनेषु क्रियमाणेष्वेव मध्ये व्यापद्यते। स ज्ञानपरिपाकशून्यत्वेनानष्टाज्ञानो न मुच्यते, नाप्युपासनासहितकर्मफलं देवलोकमनुभवत्यर्चिरादिमार्गेण, नापि केवलकर्मफलं पितृलोकमनुभवति धूमादिमार्गेण, कर्मणामुपासनानां च त्यक्तत्वात्। अत्र एतादृशो योगभ्रष्टः कीटादिभावेन कष्टां गतिमियादज्ञत्वे सति देवयानपितृयानमार्गासंबन्धित्वाद्वर्णाश्रमाचारभ्रष्टवदथवा कष्टां गतिं नेयात्, शास्त्रनिन्दितकर्मशून्यत्वाद्वामदेववदिति-संशयपर्याकुलमनाः--

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ 37॥

120 **यतिर्यत्नशीलः अल्पार्थे नञ्, अलवणा यवागूरित्यादिवत्, अयतिरल्पयत्नः, श्रद्धया गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासबुद्धिरूपयोपेतो युक्तः। श्रद्धा च स्वसहचरितानां शमादीनामुपलक्षणं 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति' इति श्रुतेः। तेन नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रभोगविरागः शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धादिसंपन्मुमुक्षुता चेतिसाधन-**

असम्भावना और विपरीतभावनारूप प्रतिबन्धों की निवृत्ति के लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.1) -- इस सूत्र से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.4.22) इस सूत्रपर्यन्त चतुर्लक्षणी= समन्वय, अविरोध, साधन और फल -- इन चार लक्षणों से विशिष्ट चतुरध्यायी उत्तरमीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्र के द्वारा गुरुकृपा से श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना आरम्भ करता है, तथा श्रद्धालु होने पर भी आयु की अल्पता अथवा अपने प्रयत्न की शिथिलता के कारण ज्ञान का परिपाक हुए बिना ही श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करते हुए बीच में ही मर जाता है, तो वह ज्ञान के परिपाक से शून्य होने के कारण अज्ञान नष्ट न होने से मुक्त नहीं होता है, न अर्चिरादि मार्ग से उपासनासहित कर्म के फल देवलोक का अनुभव करता है, और न धूमादि मार्ग से केवल कर्म के फल पितृलोक का अनुभव करता है, क्योंकि वह कर्म और उपासना का त्याग कर चुका है; अतः ऐसा योगभ्रष्ट पुरुष अज्ञ होने पर भी देवयान और पितृयान मार्गों से असम्बद्ध होने के कारण वर्णाश्रम -- धर्मों में भ्रष्ट हुए पुरुष के समान कीटादि भाव को प्राप्त होकर कष्टपूर्ण गति को प्राप्त होता है, अथवा, शास्त्रनिन्दित कर्मों से शून्य होने के कारण वामदेव के समान कष्टपूर्ण गति को प्राप्त नहीं होता है -- इस प्रकार संशय से व्याकुलमन अर्जुन बोले --

[अर्जुन ने कहा -- हे कृष्ण !अल्पप्रयत्नशील, श्रद्धायुक्त तथा योग = तत्त्वसाक्षात्कार से जिसका मन विचलित हो गया है वह पुरुष योग की संसिद्धि = सम्यक् सिद्धिरूप ज्ञान को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ 37 ॥]

120 अयति = अ + यति = 'यति' का अर्थ है 'यत्नशील'; 'अल्पार्थे नञ्' = अल्पार्थ में 'नञ्' समास होकर 'न्' का लोप हो जाता है, अतः 'अ + यति = अयति' रूप होता है, और 'अलवणा यवागूः' = 'अल्पलवणा यवागू' के समान 'अयति' का अर्थ होता है 'अल्पयत्नशील'। अयति -- अल्पयत्नशील तथा श्रद्धोपेत -- गुरु और वेदान्तवाक्यों में विश्वासबुद्धिरूप श्रद्धा से युक्त। श्रद्धा

चतुष्टयसंपन्नो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यश्रवणादि कुर्वन्नपि परमायुषोऽल्पत्वेन मरणकाले चेन्द्रियाणां व्याकुलत्वेन साधनानुष्ठानासंभवायोगाच्चलितमानसो योगाच्छ्रवणादिपरिपाकलब्धजन्मनस्तत्त्वसाक्षात्काराच्चलितं तत्फलमप्राप्तं मानसं यस्य स योगानिष्पत्त्यैवाप्राप्य योगसंसिद्धिं तत्त्वज्ञानविमित्तामज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिमपुनरावृत्तिसहितामप्राप्यातत्त्वज्ञ एव मृतः सन्कां गतिं हे कृष्ण गच्छति सुगतिं दुर्गतिं वा, कर्मणां परित्यागाज्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेः शास्त्रोक्तमोक्षसाधनानुष्ठा यित्वाच्छास्त्रगर्हितकर्मशून्यत्वाच्च ॥ 37 ॥

121 एतदेव संशयबीजं विवृणोति –

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ 38 ॥

122 कच्चिदिति साभिलाषप्रश्ने । हे महाबाहो महान्तः सर्वेषां भक्तानां सर्वोपद्रवनिवारणसमर्थाः

अपने सहचरित शमादि की उपलक्षण है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और श्रद्धा से युक्त होकर अपने अन्त:करण में आत्मा का साक्षात्कार करे' । अत: नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रभोगविराग; शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता -- इस साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर, गुरु के समीप जाकर, वेदान्त के वाक्यों का श्रवण – मनन और निदिध्यासन करते हुए भी आयु की अल्पता अथवा मरणकाल में इन्द्रियों की व्याकुलता के कारण साधनों का अनुष्ठान संभव न होने से जो योग से चलितमना हो गया है = योग अर्थात् श्रवणादि के परिपाक से उत्पन्न होनेवाले तत्त्वसाक्षात्कार से जिसका मन चलित अर्थात् उसके फल को प्राप्त किये बिना रह गया है वह योग की निष्पत्ति न होने के कारण ही योगसंसिद्धि को = तत्त्वज्ञान के निमित्त अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति को अपुनरावृत्तिसहित न पाकर अतत्त्वज्ञ ही मर जाने पर हे कृष्ण ! सुगति या दुर्गति -- किस प्रकार [67] की गति[68] को प्राप्त होता है ? क्योंकि वह कर्मों का तो परित्याग कर चुका है, उसको ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, और वह शास्त्रोक्त मोक्ष के साधनों का अनुष्ठाता है तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्मों से शून्य है ॥ 37 ॥

121 इसी संशय के बीज का विवरण -- स्पष्टीकरण करते हैं -

[हे महाबाहो ! ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में विमूढ़ -- अत्यन्त मूढ़ और देवयान--पितृयान मार्गों के हेतुभूत उपासना और कर्म में भी अप्रतिष्ठित -- इसप्रकार ज्ञान और कर्म -- दोनों ही से भ्रष्ट हुआ वह पुरुष क्या वायु से छिन्न-भिन्न बादल की भाँति नष्ट हो जाता है ? ॥ 38 ॥]

122 'कच्चित्' यह अव्यय अभिलाषासहित प्रश्न का सूचक है । हे महाबाहो = महान् अर्थात् सभी भक्तों के सम्पूर्ण उपद्रवों का निवारण करने में समर्थ हैं अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष –

---

67. यहाँ 'किम्' शब्द अविज्ञात पदार्थ के ज्ञान के लिए है । जो ज्ञात नहीं है, उसको जानने के लिए प्रयुक्त हुआ है, आक्षेपादि के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

68. 'गम्यते इति गति:' = 'जो कुछ प्राप्त होता है, वही गति है । श्रुति में मृत्यु के पश्चात् पाँच प्रकार की गति कही गई है -- (1) जो लोग इष्ट-पूर्तादि शास्त्रविहित पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, उनकी पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक में 'गति' होती है । (2) जो सदा पापकर्मों में लिप्त रहते हैं, वे अत्यन्त निम्न 'गति' को प्राप्त होते हैं अर्थात् शूकर, सर्प, मच्छर आदि के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं । (3) जो पापकर्म और पुण्यकर्म -- दोनों का अनुष्ठान करते हैं, वे मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी भू-लोक में 'गति' होती है । (4) जो भक्त

पुरुषार्थचतुष्टयदानसमर्था वा चत्वारो बाहवो यस्येति प्रश्ननिमित्तक्रोधाभावस्तदुत्तरदानसहिष्णुत्वं च सूचितम् । ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ज्ञाने विमूढो विचित्तः, अनुत्पन्नब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार इति यावत् । अप्रतिष्ठो देवयानपितृयानमार्गगमनहेतुभ्यामुपासनाकर्मभ्यां प्रतिष्ठाभ्यां साधनाभ्यां रहितः सोपासनानां सर्वेषां कर्मणां परित्यागात् । एतादृश उभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाज्ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव वायुना छिन्नं विशकलितं पूर्वस्मान्मेघाद्भ्रष्टमुत्तरं मेघमप्राप्तमभ्रं यथा वृष्ट्ययोग्यं सदन्तराल एव नश्यति तथा योगभ्रष्टोऽपि पूर्वस्मात्कर्ममार्गाद्विच्छिन्न उत्तरं च ज्ञानमार्गमप्राप्तोऽन्तराल एव नश्यति कर्मफलं ज्ञानफलं च लब्धुमयोग्यो न किमिति प्रश्नार्थः । एतेन ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृतः । एतस्मिन्हि पक्षे ज्ञानफलालाभेऽपि कर्मफलालाभसंभवेनोभयविभ्रष्टत्वासंभवात् । न च तस्य कर्मसंभवेऽपि फलकामनात्यागात्तत्फलभ्रंशवचनमवकल्पत इति वाच्यं निष्कामानामपि कर्मणां फलसद्भावस्याऽऽपस्तम्बवचनाद्युदाहरणेन

पुरुषार्थचतुष्टय को प्रदान करने में समर्थ हैं चार बाहु[69] जिनकी वह महाबाहु हैं । इस प्रकार, प्रश्न पूछने पर क्रोधाभाव और प्रश्न का उत्तर देने में सहिष्णुता -- ये भगवान् के गुण सूचित किये हैं । ब्रह्म के मार्ग अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग ज्ञान में विमूढ़ = विचित्त -- विक्षिप्त अर्थात् जिसको ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार नहीं हुआ है । अप्रतिष्ठ = देवयान-पितृयान मार्ग में जाने के हेतुभूत उपासना और कर्मरूप प्रतिष्ठा -- साधनों से रहित, क्योंकि उपासना-सहित समस्त कर्मों का वह परित्याग कर चुका है । इसप्रकार उभयविभ्रष्ट अर्थात् कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग से विभ्रष्ट-भ्रष्ट हुआ पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति -- जैसे वायु से छिन्न -- टुकड़े-टुकड़े किया हुआ बादल पूर्वमेघ से भ्रष्ट -- पृथक् होकर और उत्तरमेघ को न प्राप्त कर वर्षा करने के योग्य न होकर बीच में ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही योगभ्रष्ट पुरुष भी पहले कर्ममार्ग से विच्छिन्न होकर और आगे के ज्ञानमार्ग तक न पहुँच कर बीच में ही क्या नष्ट नहीं हो जाता है = कर्म और ज्ञान -- दोनों ही के फलभोग को प्राप्त करने के अयोग्य क्या नहीं हो जाता है ? -- यह प्रश्न का अर्थ है । इससे ज्ञान-कर्म-समुच्चय का निराकरण किया है, क्योंकि इस पक्ष में ज्ञान का फल प्राप्त न होने पर भी कर्म का फल प्राप्त न होने की सम्भावना होने पर उभयभ्रष्टता सम्भव नहीं है । यह भी नहीं कहना चाहिए कि उसके द्वारा कर्म करने की सम्भावना होने पर भी उनके फल की कामना के परित्याग से उसका कर्मफल से भ्रष्ट होना कहा जा सकता है, क्योंकि आपस्तम्ब के वचन आदि उदाहरणों से निष्काम कर्मों के फलों का होना भी अनेक प्रकार से कहा गया है । अतः यह प्रश्न समस्त कर्मों का त्याग करनेवाले के विषय में ही है, क्योंकि उसी के विषय में अनर्थप्राप्ति की शङ्का संभव है ।। 38 ।।

लोग सगुण ब्रह्म में रत रहते हैं और मृत्यु के समय भगवान् का ही स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करते हैं, वे देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में 'गति' प्राप्त करते हैं । तथा (5) जिनका तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय हुआ है तथा जिनको निरवच्छिन्नरूप से आत्मस्थिति प्राप्त हुई है -- वे मृत्यु के साथ ही ब्रह्म में लीन होकर जन्म-मृत्यु के प्रवाह से मुक्त हो जाते हैं । उक्त पाँच प्रकार की गतियों में योगभ्रष्ट योगी की प्रथम गति नहीं हो सकती है, क्योंकि वह शास्त्रविहित पुण्य कर्मों का त्याग कर चुकता है । द्वितीय गति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह किसी पापकर्म का अनुष्ठान भी नहीं करता है । तृतीय गति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि समस्त कर्मों के परित्याग के कारण पाप और पुण्य -- दोनों प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करना उसके द्वारा सम्भव नहीं है । चतुर्थ और पञ्चम गतियाँ भी सम्भव नहीं हैं, क्योंकि चित्त की चञ्चलता के कारण उसको योगसंसिद्धि प्राप्त हुई नहीं है । अतः उसको 'किस प्रकार की गति प्राप्त होती है' ?, यह जानने के लिए इच्छुक होकर अर्जुन ने प्रश्न किया है ।

69. भगवान् की शंख, चक्र, गदा और पद्म से शोभित चार बाहुएँ हैं ।

बहुशः प्रतिपादितत्वात् । तस्मात्सर्वकर्मत्यागिनं प्रत्येवायं प्रश्नः, अनर्थप्राप्तिशङ्कायास्तत्रैव संभवात् ॥ 38 ॥

123 यथोपदर्शितसंशयापाकरणाय भगवन्तमन्तर्यामिणमर्थयते पार्थः--

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ 39 ॥

124 एतदेवं पूर्वोपदर्शितं मे मम संशयं हे कृष्ण च्छेत्तुमपनेतुमर्हस्यशेषतः संशयमूलाधर्माद्युच्छेदेन । मदन्यः कश्चिदृषिर्वा देवो वा त्वदीयमिमं संशयमुच्छेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह--त्वदन्यः, त्वत्परमेश्वरात्सर्वज्ञाच्छास्त्रकृतः परमगुरोः कारुणिकादन्योऽनीश्वरत्वेनासर्वज्ञः कश्चिदृषिर्वा देवो वाऽस्य योगभ्रष्टपरलोकगतिविषयस्य संशयस्य च्छेत्ता सम्यगुत्तरदानेन नाशयिता हि यस्मान्नोपपद्यते न संभवति तस्मात्त्वमेव प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य परमगुरुः संशयमेतं मम च्छेत्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ 39 ॥

125 एवमर्जुनस्य योगिनं प्रति नाशाशङ्कां परिहरन्नुत्तरम्--

---

123 यथोपदर्शित संशय के निराकरण के लिए पार्थ -- अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् से प्रार्थना करते हैं -- [हे कृष्ण ! मेरे इस संशय का अशेषतः = सम्पूर्णता से छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके अतिरिक्त अन्य कोई इस संशय का छेत्ता = छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है ।। 39]

124 हे कृष्ण ! मेरे 'एतत्'[70] = इस पूर्वोपदर्शित संशय का अशेषतः = संशय के मूल अधर्मादि के उच्छेदपूर्वक छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं । 'मेरे अतिरिक्त अन्य कोई ऋषि या देवता तुम्हारे इस संशय को दूर कर देगा' -- ऐसी भगवान् की ओर से आशङ्का करके अर्जुन कहते हैं-- हि[71]-- यस्मात् = क्योंकि आपके अतिरिक्त अन्य कोई = आप परमेश्वर के-सर्वज्ञ शास्त्रकृत् परमगुरु करुणामय के अतिरिक्त अन्य कोई अनीश्वर होने के कारण असर्वज्ञ ऋषि या देवता इस योगभ्रष्ट के परलोकगति विषयक संशय का छेदन करनेवाला = इसका सम्यक् उत्तर देकर इसका नाशयिता = नाश करनेवाला संभव नहीं है, अतः सबके परमगुरु प्रत्यक्षदर्शी आप ही मेरे इस संशय का छेदन करने में समर्थ हैं -- यह अर्थ है ।। 39 ।।

125 इसप्रकार अर्जुन की योगी के प्रति नाश की आशङ्का का परिहार करते हुए भगवान् उत्तर देते हैं -- [श्रीभगवान् ने कहा -- हे पार्थ ! उस पुरुष का विनाश न तो इस लोक में हो सकता है और न परलोक में ही हो सकता है, क्योंकि हे तात ! कल्याणकृत =.शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है ।। 40 ।।]

---

70. प्रकृत श्लोक में 'संशय' शब्द पुल्लिङ्ग है, अतः यहाँ 'एतत्' शब्द का 'एवम्' अर्थ में प्रयोग हुआ है । श्रीधर स्वामी के अनुसार 'एतत्' शब्द का 'एनम्' अर्थ में प्रयोग किया गया है । शंकरानन्द ने 'एतत्' पाठ ग्रहण न कर 'एतम्' शब्द का ग्रहण किया है ।

71. भगवान् सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ हैं, अतः भगवान् का सर्वसंशयछेतृत्व सर्वशास्त्रों में ही प्रसिद्ध है, यह प्रकाशित करने के लिए यहाँ 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ 40 ॥

126 उभयविभ्रष्टो योगी नश्यतीति कोऽर्थः । किमिह लोके शिष्टगर्हणीयो भवति, वेदविहितकर्मत्यागात्, यथा कश्चिदुच्छृङ्खलः, किं वा परत्र निकृष्टां गतिं प्राप्नोति । यथोक्तं श्रुत्या 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन ते कीटाः पतङ्गा यदि दन्दशूकम्' इति । तथा चोक्तं मनुना – 'वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः' इत्यादि । तदुभमपि नेत्याह – हे पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य यथाशास्त्रं कृतसर्वकर्मसंन्यासस्य सर्वतो विरक्तस्य गुरुमुपसृत्य वेदान्तश्रवणादि कुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टस्य विद्यते ।

127 उभयत्रापि तस्य विनाशो नास्तीत्यत्र हेतुमाह हि यस्मात्कल्याणकृच्छास्त्रविहितकारी कश्चिदपि दुर्गतिमिहाकीर्तिं परत्र च कीटादिरूपतां न गच्छति । अयं तु सर्वोत्कृष्ट एव सन्दुर्गतिं न गच्छतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तत उच्यते । स्वार्थिकेऽणि तत एव तातो राक्षसवायसादिवत् । पितैव च पुत्ररूपेण भवतीति पुत्रस्थानीयस्य शिष्यस्य तातेति संबोधनं कृपातिशयसूचनार्थम् । यदुक्तं योगभ्रष्टः कष्टां गतिं गच्छति अज्ञत्वे सति देवयानपितृयान-

---

126 'उभयविभ्रष्ट योगी नष्ट हो जाता है' -- इसका क्या अर्थ है ? क्या वह किसी उच्छृङ्खल पुरुष के समान वेदविहित कर्मों का त्याग करने से इस लोक में शिष्टजनों द्वारा निन्दनीय हो जाता है, अथवा परलोक में निकृष्ट-गति = अधोगति को प्राप्त होता है ? जैसा कि श्रुति ने कहा है -- 'वे देवयान और पितृयान -- इन दोनों मार्गों में से किसी भी मार्ग से नहीं जाते, वे कीट, पतङ्ग या दन्दशूक आदि हो जाते हैं' । इसीप्रकार मनु ने भी कहा है -- 'अपने धर्म से च्युत हुआ विप्र वमन किये अन्न को खानेवाला और उल्कामुख = जिनके मुख से अग्नि निकलती है -- ऐसा प्रेत होता है' इत्यादि । इस पर भगवान् कहते हैं कि योगभ्रष्ट के विषय में उक्त दोनों ही बातें सम्भव नहीं हैं -- हे पार्थ ! उसका = जिसने शास्त्रानुसार समस्त कर्मों का संन्यास-त्याग किया है, जो सब ओर से विरक्त है, और जो गुरु के समीप जाकर वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता हुआ बीच में ही मर जाता है उस योगभ्रष्ट पुरुष का न तो इस लोक में विनाश होता है और न परलोक में ही होता है ।

127 उस योगभ्रष्ट का इहलोक और परलोक -- दोनों लोकों में भी विनाश नहीं होता है, -- इसमें भगवान् हेतु कहते हैं -- हि-यस्मात् = क्योंकि कल्याणकृत = शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गति को अर्थात् इस लोक में अकीर्ति-अपकीर्ति और परलोक में कीटादिरूपता को प्राप्त नहीं होता है । यह तो सर्वोत्कृष्ट ही होता हुआ दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है -- इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा इसका अभिप्राय है । 'तनोति आत्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तत उच्युते' = 'जो अपने आत्मा को ही पुत्ररूप से तनता = विस्तृत करता है वह पिता 'तत' कहा जाता है । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पाणिनिसूत्र, 5.4.38) = 'प्रज्ञा आदि शब्दों से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है' -- इस सूत्र के अनुसार 'तत एव तातः' = अर्थात् 'तत' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय (तत + अण्) होने पर 'राक्षसवायस' आदि शब्दों के समान 'तत' शब्द ही 'तात' हो जाता है । पिता ही पुत्ररूप से होता है, अतः पुत्रस्थानीय शिष्य का 'तात'-- यह सम्बोधन कृपा की अतिशयता सूचित करने के लिए है । तुमने यह जो कहा कि 'अज्ञ होने पर भी देवयान या पितृयान-- किसी

मार्गान्यतरासंबन्धित्वात्स्वधर्मभ्रष्टवदिति, तदयुक्तम्, एतस्य देवयानमार्गासंबन्धित्वेन हेतोरसिद्धत्वात् । पञ्चाग्निविद्यायां य इत्थं विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्तीत्यविशेषेण पञ्चाग्निविदामिवातत्क्रतूनां श्रद्धासत्यवतां मुमुक्षूणामपि देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तिकथनात् । श्रवणादिपरायणस्य च योगभ्रष्टस्य श्रद्धान्वितो भूत्वेत्यनेन श्रद्धायाः प्राप्तत्वात्, शान्तो दान्त इत्यनेन चानृतभाषणरूपवाग्व्यापारनिरोधरूपस्य सत्यस्य लब्धत्वात् । बहिरिन्द्रियाणामुच्छृङ्खलव्यापारनिरोधो हि दमः । योगशास्त्रे चाहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा इति योगाङ्गत्वेनोक्तत्वात् । यदि तु सत्यशब्देन ब्रह्मैवोच्यते तदाऽपि न क्षतिः, वेदान्तश्रवणादेरपि सत्यब्रह्मचिन्तनरूपत्वात् । अतत्क्रतुत्वेऽपि च पञ्चाग्निविदामिव ब्रह्मलोकप्राप्तिसंभवात् । तथाच स्मृति : 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्' इति । तथा प्रात्यहिकवेदान्तवाक्यविचारस्यापि कृच्छ्राशीतिफलतुल्यफलत्वं स्मर्यते । एवं च संन्यासश्रद्धासत्यब्रह्मविचाराणामन्यतमस्यापि ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वात्समुदितानां तेषां तत्साधनत्वं किं चित्रम् । अत एव सर्वसुकृतरूपत्वं योगिचरितस्य तैत्तिरीया आमनन्ति 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' इत्यादिना । स्मर्यते च –

> **'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनि-**
> **र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः ॥**
> **संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ**
> **यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्' इति ॥ 40 ॥**

भी मार्ग से सम्बद्ध न होने के कारण स्वधर्म से भ्रष्ट हुए पुरुष के समान योगभ्रष्ट पुरुष भी कष्टमयी गति को प्राप्त करता है', वह ठीक नहीं है,क्योंकि इसका हेतु 'देवयानमार्ग से सम्बन्ध न होना' असिद्ध[72] है, अर्थात् कोई कारण नहीं कि वह योगभ्रष्ट देवयानमार्ग से सम्बद्ध न हो । कारण कि छान्दोग्योपनिषद् में उक्त पञ्चाग्निविद्या में 'य इत्थं विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' (छान्दोग्योपनिषद्, 5.9.1) = 'जो वन में रहकर श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं वे अर्चिरादि मार्ग को ही प्राप्त होते हैं' -- इस प्रकार के अविशेष से पञ्चाग्निविद्वानों के समान अतत्क्रतु = पञ्चाग्निवित् न होकर भी अथवा अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते हुए भी श्रद्धापूर्वक सत्यस्वरूप ब्रह्म का चिन्तन करनेवाले मुमुक्षुओं को भी देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गई है । श्रवणादिपरायण योगभ्रष्ट में 'श्रद्धान्वितो भूत्वा' = 'श्रद्धायुक्त होकर' --इस श्रुति- वाक्य से श्रद्धा तो सिद्ध होती ही है और 'शान्तो दान्तः' = 'शान्त और दान्त' --- इससे अनृतभाषणरूप वाग्व्यापार का निरोधरूप सत्य भी प्राप्त होता है । बाह्य इन्द्रियों के उच्छृङ्खल व्यापार का निरोध ही 'दम' है । योगशास्त्र में 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (योगसूत्र, 1.30) = 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-- ये 'यम' हैं -- इस सूत्र से सत्य को योगाङ्गरूप कहा है । यदि 'सत्य'

72. 'योगभ्रष्ट कष्ट गति को प्राप्त होता है, क्योंकि वह अज्ञ होने से देवयान या पितृयान – किसी भी मार्ग से सम्बद्ध नहीं होता है, जैसे – स्वधर्मभ्रष्ट पुरुष' – इस वाक्य में 'स्वरूपासिद्ध- हेत्वाभास' है । जो हेतु आश्रय = पक्ष में न पाया जाय उसको 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं ('यस्य हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' -- तर्कभाषा) । उक्त वाक्य में प्रयुक्त हेतु -- 'देवयानमार्ग से सम्बद्ध न होना' अपने आश्रय = पक्ष 'योगभ्रष्ट' में नहीं पाया जाता है, क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है कि योगभ्रष्ट देवयानमार्ग से सम्बद्ध नहीं होता है अर्थात् सम्बद्ध होता है ।

128 तदेवं योगभ्रष्टस्य शुभकृत्त्वेन लोकद्वयेऽपि नाशाभावे किं भवतीत्युच्यते –

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ 41 ॥

129 योगमार्गप्रवृत्तः सर्वकर्मसंन्यासी वेदान्तश्रवणादि कुर्वन्नन्तराले म्रियमाणः कश्चित्पूर्वोपचितभोगवासनाप्रादुर्भावाद्विषयेभ्यः स्पृहयति । कश्चित्तु वैराग्यभावनादार्ढ्यान्न स्पृहयति । तयोः प्रथमः प्राप्य पुण्यकृतामश्वमेधयाजिनां लोकानर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकान् । एकस्मिन्नपि भोगभूमिभेदापेक्षया बहुवचनम् । तत्र चोषित्वा वासमनुभूय शाश्वतीर्ब्रह्मपरिमाणेनाक्षयाः समाः संवत्सरान्, तदन्ते शुचीनां शुद्धानां श्रीमतां विभूतिमतां महाराजचक्रवर्तिनां गेहे कुले भोगवासनाशेषसद्भावादजातशत्रुजनकादिवद्योगभ्रष्टोऽभिजायते । भोगवासनाप्राबल्याद्ब्रह्मलोकान्ते सर्वकर्मसंन्यासायोग्यो महाराजो भवतीत्यर्थः ॥ 41 ॥

शब्द से ब्रह्म ही कहा जाता हैं तो भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि वेदान्तश्रवणादि भी सत्यब्रह्म का ही चिन्तनरूप है । अत: पञ्चाग्निविद्यारूप यज्ञ से रहित होने पर भी पञ्चाग्निविद्वानों के समान योगभ्रष्ट को भी ब्रह्मलोक की प्राप्ति सम्भव ही है । इसीप्रकार स्मृति भी कहती है -- 'संन्यासाद् ब्रह्मण: स्थानम्' = 'संन्यास-त्याग से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है' । स्मृति यह भी कहती है कि 'नित्य वेदान्त वाक्यों के विचार का फल अस्सी कृच्छ्रचान्द्रायणव्रतों के फल के समान है' । इस प्रकार संन्यास, श्रद्धा, सत्य और ब्रह्मविचार -- इनमें से एक-एक में -- प्रत्येक में ब्रह्मलोकप्राप्ति का साधनत्व है, तो उनके समुदाय में ब्रह्मलोकप्राप्ति के साधनत्व का क्या आश्चर्य है ? इसी से तैत्तिरीय शाखाध्यायी 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' -- इत्यादि वाक्य से योगी के चरित की सर्वसुकृतरूपता कहते हैं । स्मृति भी कहती है --

"जिसका मन एक क्षण के लिए भी ब्रह्मविचारण में स्थिरता को प्राप्त हो गया है उसने सभी तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, समस्त पृथ्वी का दान कर दिया, सहस्रों यज्ञों का अनुष्ठान कर लिया, सभी देवताओं की पूजा कर ली, संसार से अपने पितरों का उद्धार कर दिया और तीनों लोकों में वह सबका पूज्य हो गया' ॥ 40 ॥

128 इसप्रकार यदि योगभ्रष्ट का शुभकृत् -- शुभकर्मकारी होने से इहलोक और परलोक -- दोनों लोकों में भी विनाश नहीं होता है, तो क्या होता है ? इस पर भगवान् कहते हैं --

[यह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्य करनेवालों के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत वर्षों तक रहकर पवित्र और श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है ॥ 41 ॥]

129 योगमार्ग में प्रवृत्त समस्त कर्मों का संन्यास-त्याग करनेवाला पुरुष वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता हुआ बीच में ही मर जाता है तो कोई पूर्वसंचित भोगवासनाओं के प्रादुर्भाव से विषयों की इच्छा करता है और कोई वैराग्यभावना के दृढ़ होने से विषयों की स्पृहा नहीं करता है । उन दोनों में से प्रथम तो अर्चिरादि मार्ग से पुण्यकृत अर्थात् अश्वमेघ यज्ञ करनेवालों के लोकों -- ब्रह्मलोकों को प्राप्त होकर; ब्रह्मलोक एक होने पर भी भोगभूमि के भेद की अपेक्षा से 'ब्रह्मलोकान्' -- ऐसा बहुवचन दिया है । वहाँ शाश्वती = ब्रह्मा के परिमाण से अक्षय समा: = वर्षों तक बसकर अर्थात् निवास का अनुभव कर, उसके पश्चात् भोगवासना शेष रहने के कारण शुचि -- शुद्ध और श्रीमान् -- विभूतिमान् अर्थात् चक्रवती महाराजाओं के घर अर्थात् कुल में अजातशत्रु, जनक आदि

130 द्वितीयं प्रति पक्षान्तरमाह–

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। 42 ।।

131 श्रद्धावैराग्यादिकल्याणगुणाधिक्ये तु भोगवासनाविरहात्पुण्यकृतां लोकानप्राप्यैव योगिनामेव दरिद्राणां ब्राह्मणानां न तु श्रीमतां राज्ञां कुले भवति धीमतां ब्रह्मविद्यावताम् । एतेन योगिनामिति न कर्मिग्रहणम् । यच्छुचीनां श्रीमतां राज्ञां गृहे योगभ्रष्टजन्म तदपि दुर्लभमनेकसुकृतसाध्यत्वान्मोक्षपर्यवसायित्वाच्च । यत्तु शुचीनां दरिद्राणां ब्राह्मणानां ब्रह्मविद्यावतां कुले जन्म, एतद्धि प्रसिद्धं शुकादिवत्, दुर्लभतरं दुर्लभादपि दुर्लभं लोके यदीदृशं सर्वप्रमादकारणशून्यं जन्मेति द्वितीयः स्तूयते भोगवासनाशून्यत्वेन सर्वकर्मसंन्यासार्हत्वात् ।। 42 ।।

132 एतादृशजन्मद्वयस्य दुर्लभत्वं कस्मात् । यस्मात् –

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। 43 ।।

के समान योगभ्रष्ट जन्म लेता है अर्थात् भोगवासना की प्रबलता के कारण ब्रह्मलोक का भोग समाप्त होने पर सर्वकर्मसंन्यास में अयोग्य महाराज होता है ।। 41 ।।

130 द्वितीय के लिए पक्षान्तर कहते हैं --
[अथवा[73], वह योगभ्रष्ट बुद्धिमान्-ज्ञानवान्-ब्रह्मविद्यासम्पन्न योगियों के कुल में ही जन्म लेता है । लोक में ऐसा जो जन्म होता है वह अत्यन्त दुर्लभ ही है ।। 42 ।।]

131 श्रद्धा-वैराग्यादि कल्याण-गुणों की अधिकता होने पर तो भोगवासनाओं से रहित होने के कारण वह योगभ्रष्ट पुण्यात्माओं के लोकों में न जाकर ही धीमान् -- ब्रह्मविद्यावान् योगियों के ही = दरिद्र ब्राह्मणों के कुल में जन्म लेता है, श्रीमान् -- लक्ष्मीसम्पन्न राजाओं के कुल में नहीं । इससे 'योगिनाम्' -- इस पद से कर्मियों का ग्रहण नहीं होता है । पवित्र, श्रीमान् -- लक्ष्मीसम्पन्न राजाओं के घर में जो योगभ्रष्ट का जन्म होता है वह भी दुर्लभ है, क्योंकि वह अनेक प्रकार के शुभ कर्मों से साध्य-प्राप्त होता है और मोक्ष में परिणत होता है; किन्तु पवित्र, दरिद्र ब्रह्मविद्यावान् -- ब्रह्मविद्यासम्पन्न ब्राह्मणों के कुल में जो योगभ्रष्ट का जन्म होता है वह तो शुकादि के जन्म के समान प्रसिद्ध(हि)[74] है । लोक में सब प्रकार के प्रमाद के कारणों से रहित जो ऐसा जन्म है वह तो दुर्लभतर = दुर्लभ से भी दुर्लभ है -- इसप्रकार द्वितीय की स्तुति की जाती है, क्योंकि भोगवासनाओं से शून्य होने के कारण वह सर्वकर्मसंन्यास के योग्य होता है ।। 42 ।।

132 ऐसे दोनों ही प्रकार के जन्मों की दुर्लभता क्यों है ? क्योंकि --

---

73. यहाँ 'अथवा' शब्द का यह अर्थ भी किया जा सकता है । अथ + वा = अथवा । 'अथ' शब्द का अर्थ अनन्तर और 'वा' शब्द अवधारणार्थ -- निश्चयार्थ है, अतः 'अथवा' शब्द का अर्थ है – देहपात के अनन्तर ही = मृत्यु के पश्चात् ही ।

74. 'हि' शब्द लोकप्रसिद्धि को सूचित कर रहा है । शुकदेव आदि का भी व्यास आदि ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के घर में जन्म हुआ था, यह शास्त्र में प्रसिद्ध ही है; अतः 'योगभ्रष्ट ब्रह्मविद्यासम्पन्न योगियों के जन्म लेता है' -- इस विषय में शंका का कोई कारण नहीं है, यही सूचित करने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

133 तत्र द्विप्रकारेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकं सर्वकर्मसंन्यासगुरूपसदनश्रवणमनन-निदिध्यासनानां मध्ये यावत्पर्यन्तमनुष्ठितं तावत्पर्यन्तमेव तं ब्रह्मात्मैक्यविषयया बुद्ध्या संयोगं तत्साधनकलापमिति यावत् । लभते प्राप्नोति । न केवलं लभत एव किं तु ततस्तल्लाभानन्तरं भूयोऽधिकं लब्धाया भूमेरग्रिमां भूमिं संपादयितुं संसिद्धौ संसिद्धिर्मोक्षस्तन्निमित्तं यतते च प्रयत्नं करोति च । यावन्मोक्षं भूमिकाः संपादयतीत्यर्थः । हे कुरुनन्दन तवापि शुचीनां श्रीमतां कुले योगभ्रष्टजन्म जातमिति पूर्ववासनावशादनायासेनैव ज्ञानलाभो भविष्यतीति सूचयितुं महाप्रभावस्य कुरोः कीर्तनम् ।

[वहाँ = इन दोनों जन्मों में हे कुरुनन्दन ! वह योगभ्रष्ट पौर्वदेहिक -- पूर्वजन्मोपार्जित बुद्धि के संयोग को अर्थात् समत्वबुद्धियोग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और उसके प्रभाव से वह आगे की भूमि का सम्पादन करने के लिए तथा मोक्षप्राप्ति के लिए पुन: प्रयत्न करता है ।। 43 ।।

133 तत्र[75] = वहाँ = इन दोनों ही प्रकार के जन्मों में 'पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकम्' = पूर्वदेह में उत्पन्न-पौर्वदेहिक अर्थात् पूर्व जन्म के देह में उत्पन्न सर्वकर्मसंन्यास, गुरूपसदन, तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन -- इनमें से जिनका जहाँ तक आचरण किया होता है वहाँ तक ही योगभ्रष्ट ब्रह्मात्मैक्यविषया बुद्धि से उस संयोग को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उस साधनकलाप को प्राप्त हो जाता है । केवल उसको प्राप्त ही नहीं होता है, किन्तु ततः[76] = उससे अर्थात् उसकी प्राप्ति के अनन्तर वह भूयः = अधिक अर्थात् प्राप्त हुई भूमि से आगे की भूमि का सम्पादन करने के लिए और (च)[77] संसिद्धि अर्थात् मोक्ष के लिए

75. मधुसूदन सरस्वती, श्रीधर स्वामी और नीलकंठ ने 'तत्र' शब्द का 'द्विप्रकारेऽपि जन्मनि' = 41 और 42 श्लोकों में उक्त'दोनों ही प्रकार के जन्मों में' – ऐसा अर्थ किया है । शंकराचार्य, आनन्दगिरि और शंकरानन्द ने मात्र 42 श्लोक में उक्त 'दुर्लभतर जो जन्म ब्रह्मविद्योगी के कुल में होता है उसको ही 'तत्र' शब्द के अर्थ के रूप में ग्रहण किया है । कारण कि जिस योगी को पूर्वजन्म में पूर्णरूप से विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ था, किन्तु आयु की अल्पता के कारण तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हो सका, वह मृत्यु के पश्चात् ही योगी के कुल में जन्मग्रहण कर अनायास ही पौर्वदेहिक आत्मैक्यविषया बुद्धि के संयोग को प्राप्त होता हैं । और जिस योगी की पूर्ण वैराग्य के अभाव के कारण विषयों के प्रति आसक्ति थी उसका दीर्घकाल तक स्वर्ग में सुखभोग करने के पश्चात् पवित्र श्रीमान् के कुल में जन्म होता है । अत: उसके पूर्वजन्म तथा वर्तमान जन्म के बीच में दीर्घकाल का व्यवधान रहने के कारण पौर्वदेहिक आत्मविषयक साधन संस्कार को प्राप्त करने में विलम्ब होता है, क्योंकि आत्मैक्यविषयबुद्धि तथा स्मृति विषयवासनारूप मलिनता के दूर होने पर ही जाग्रत् हो सकती है । अत: उस योगी को पौर्वदेहिक बुद्धि का संयोग कब प्राप्त होगा अथवा उसी जन्म में प्राप्त होगा या नहीं, यह अनिश्चित है । इसलिए इस प्रकार का योगभ्रष्ट वर्तमान श्लोक का विषय नहीं हैं -- यही शंकराचार्य आदि का मत हैं ।

76. मधुसूदन सरस्वती के अनुसार 'ततः' अर्थात् 'पूर्वजन्मोपार्जित आत्मैक्यविषया बुद्धि से संयोग प्राप्त करने के अनन्तर' वह योगभ्रष्ट प्राप्त हुई भूमि से आगे की भूमि का सम्पादन करने के लिए और मोक्ष के लिए अधिक प्रयत्न करता है । शंकराचार्य ने अर्थ किया है – 'ततः = पूर्वकृतसंस्कारात् अर्थात् पूर्वकृत संस्कार से' अधिक प्रयत्न करता है । अन्य टीकाकारों ने 'ततः' = जन्मलाभानन्तरम् अर्थात् जन्मलाभ करने के बाद' अधिक प्रयत्न करता है -- ऐसा अर्थ किया है । शंकरानन्द के मतानुसार 'ततः = पित्रादेः ज्ञानयोगलब्ध्यनन्तरम् अर्थात् पिता, गुरु आदि से ज्ञानयोग प्राप्त करने के बाद' अधिक यत्न करता है । यदि देखा जाय तो इन सब टीकाकारों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि पूर्व संस्कार से ही तदनुकूल कुल में जन्मग्रहण होता है और पिता, गुरु आदि के आदेशों के बिना सुप्त संस्कार का जाग्रत् होना कठिन है । अत: समन्वयार्थ 'ततः' शब्द का ऐसा अर्थ होता है -- 'पूर्वजन्मोपार्जित संस्कार के प्रभाव से अनुकूल योगियों के कुल में जन्मग्रहण कर पिता, गुरु आदि के ज्ञानयोग के सम्बन्ध में उपदेश प्राप्त करने के बाद' वह योगभ्रष्ट अधिक प्रयत्न करता है ।

77. 'च' शब्द से भगवान् यही सूचित कर रहे हैं कि वह योगभ्रष्ट पूर्वजन्म में जिस साधनभूमिका में आरूढ हुआ था उससे प्रारम्भ करके जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो जाय तब तक उत्तरोत्तर भूमिकाओं का अधिक प्रयत्न के साथ सम्पादन करता है ।

134 अयमर्थो भगवद्वसिष्ठवचने व्यक्तः । यथा श्रीरामः--

'एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत ।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्गतिः ॥'

पूर्वं हि सप्त भूमयो व्याख्याताः । तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वकादिहामुत्रार्थभोग-वैराग्याच्छमदमश्रद्धातितिक्षासर्वकर्मसंन्यासादिपुरःसरा मुमुक्षा शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिका, साधनचतुष्टयसंपदिति यावत् । ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारणात्मिका द्वितीया भूमिका, श्रवणमननसंपदिति यावत् । ततः श्रवणमननपरिनिष्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य निर्विचिकित्सतारूपा तनुमानसा नाम तृतीया भूमिका, निदिध्यासनसंपदिति यावत् । चतुर्थी भूमिका तु तत्त्वसाक्षात्कार एव । पञ्चमषष्ठसप्तमभूमयस्तु जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदा इति तृतीये प्राग्व्याख्यातम् । तत्र चतुर्थी भूमिं प्राप्यस्य मृतस्य जीवन्मुक्त्यभावेऽपि विदेहकैवल्यं प्रति नास्त्येव संशयः । तदुत्तरभूमित्रयं

प्रत्यन करता है । तात्पर्य यह है कि वह जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता तब तक भूमिकाओं का सम्पादन करता है । हे कुरुनन्दन ! 'तुम्हारा भी पवित्र और श्रीमान् कुल में योगभ्रष्टजन्म हुआ है, अतः पूर्ववासना के कारण तुमको भी अनायास ही ज्ञानलाभ होगा' - यह सूचित करने के लिए 'हे कुरुनन्दन' -- इस सम्बोधन से महाप्रभावशाली कुरु का उल्लेख किया है ।

134 यह अर्थ भगवान् वसिष्ठ के वचन में भी व्यक्त हुआ है । जैसे श्रीराम पूछते हैं --

"भगवन् ! प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय भूमिका पर आरूढ़ होकर मरे हुए पुरुष की कैसी गति होती है ?"

इससे पूर्व सात भूमिकाओं की व्याख्या की गई है । उनमें नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक ऐहिक और आमुष्मिक विषयभोगों से वैराग्य तथा शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा और सर्वकर्मसंन्यासादिपूर्वक होनेवाली जो मुमुक्षा = मोक्ष में इच्छा है वह 'शुभेच्छा' नाम की प्रथम भूमिका है । यह साधनचतुष्टयरूपा सम्पत्ति है । इसके पश्चात् गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों की 'विचारणा' रूप द्वितीय भूमिका है । इसको श्रवणमननरूपा सम्पत्ति कह सकते हैं । इसके बाद श्रवण और मनन से परिनिष्पन्न तत्त्वज्ञान की निर्विचिकित्सतारूपा = निःसन्दिग्धतारूप 'तनुमानसा' नाम की तृतीय भूमिका है । यह निदिध्यासनरूपा सम्पत्ति है । चतुर्थ भूमिका तो तत्त्वसाक्षात्कार ही है । पञ्चम, षष्ठ और सप्तम भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति के अवान्तर भेद ही हैं -- इसकी पहले तृतीय अध्याय में व्याख्या की जा चुकी है[78] । इनमें चतुर्थ भूमिका को प्राप्त होकर मरे हुए पुरुष के जीवन्मुक्ति का अभाव रहने पर भी विदेहकैवल्य के प्रति संशय नहीं है । इससे आगे की तीन भूमिकाओं को प्राप्त हुआ पुरुष तो जीवित रहते हुए भी मुक्त ही है, शरीरपातानन्तर मुक्ति के विषय में तो कहना ही क्या है ? अतः इन चार भूमिकाओं में मोक्ष की शंका नहीं है । किन्तु साधनभूत तीन भूमिकाओं में कर्म का त्याग हो जाने से और ज्ञान की प्राप्ति न होने से मोक्ष की शंका हो सकती है, अतः प्रथम, द्वितीय और तृतीय-- इन्ही तीन भूमिकाओं के विषय में श्रीराम ने प्रश्न किया है ।

---

78. मोक्ष की सात भूमिकाएँ प्रसिद्ध हैं -- शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावा और तुरीया । उक्त भूमिकाओं के सम्बन्ध में संक्षेप में कहा गया है --

"चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा ।
जीवनमुक्तेरवस्थास्तु परा तिस्रः प्रकीर्तिताः ॥"

अर्थात् उक्त सात भूमिकाओं में चतुर्थ भूमिका ज्ञान की अवस्था है, उसकी पूर्ववर्ती तीन अवस्थाएँ उसी की साधनस्वरूप हैं और उसकी परवर्ती तीन भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति की अवस्थाएँ कही जाती हैं ।

प्राप्तस्तु जीवन्नपि मुक्तः किमु विदेह इति नास्त्येव भूमिकाचतुष्टये शङ्का । साधनभूतभूमिकात्रये तु कर्मत्यागाज्ज्ञानालाभाच्च भवति शङ्केति तत्रैव प्रश्नः ।

135 श्रीवसिष्ठः--

'योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगक्षयात्परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥' इति ।

136 अत्र प्रागुपचितभोगवासनाप्राबल्यादल्पकालाभ्यस्तवैराग्यवासनादौर्बल्येन प्राणोत्क्रान्तिसमये प्रादुर्भूतभोगस्पृहः सर्वकर्मसंन्यासी यः स एवोक्तः । यस्तु वैराग्यवासनाप्राबल्यात्प्रकृष्ट-पुण्यप्रकटितपरमेश्वरप्रसादवशेन प्राणोत्क्रान्तिसमयेऽनुद्भूतभोगस्पृहः संन्यासी भोगव्यवधानं विनैव ब्राह्मणानामेव ब्रह्मविदां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नस्तस्य प्राक्तनसंस्काराभिव्यक्तेरनायासेनैव संभवान्नास्ति पूर्वस्यैव मोक्षं प्रत्याशङ्केति स वसिष्ठेन नोक्तो भगवता तु परमकारुणिकेनाथवेति पक्षान्तरं कृत्वोक्त एव । स्पष्टमन्यत् ॥ 43 ॥

---

135 श्रीराम के प्रश्न के उत्तर में श्रीवसिष्ठ ने कहा है --

"जिस देहधारी का प्राण योगभूमिकाओं के प्राप्त होने पर छूटता है, भूमिका के अंशों के अनुसार उसके पूर्वकृत पाप क्षीण हो जाते है । इसके पश्चात् वह सुर-देवताओं के विमानों पर, लोकपालों के पुरों में और सुमेरु के उपवनों की कुञ्जों में देवाङ्गनाओं के साथ रमण करता है । तदनन्तर भोगों का क्षय होने से पूर्वकृत सुकृत और दुष्कृतों के क्षीण होने पर वे योगीजन पृथिवी पर पवित्र, श्रीमान् और गुणवान् सत्पुरुषों से गुप्त -- सुरक्षित घरों में जन्मग्रहण करते हैं तथा योग की वासना से युक्त होने के कारण वहाँ जन्मग्रहण कर योग का ही सेवन करते हैं । तब वे विद्वान् पूर्वभावना से अभ्यास किये हुए योगभूमिकाक्रम का अनुभव करके आगे के भूमिकाक्रम पर उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं ।"

136 यहाँ पूर्वोपचित भोगवासना की प्रबलता से अल्प समय तक अभ्यास की हुई वैराग्यवासना की दुर्बलता के कारण प्राणोत्क्रान्ति -- प्राणत्याग के समय जिसकी भोगवासना प्रादुर्भूत हो गई है ऐसा जो सर्वकर्मसंन्यासी = समस्त कर्मों का संन्यास-त्याग करनेवाला है वही कहा गया है । किन्तु वैराग्यवासना की प्रबलता के कारण प्रकृष्ट-उत्कृष्ट पुण्य से प्रकटित ईश्वरप्रसादवश -- भगवत्कृपावश जिसकी प्राणत्याग के समय भोगस्पृहा -- भोगवासना उद्भूत -- प्रकट नहीं हुई है वह संन्यासी तो

137 ननु यो ब्रह्मविदां ब्राह्मणानां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नस्तस्य मध्ये विषयभोग-व्यवधानाभावादव्यवहितप्राग्भवीयसंस्कारोद्बोधात्पुनरपि सर्वकर्मसंन्यासपूर्वको ज्ञानसाधनलाभो भवतु नाम । यस्तु श्रीमतां महाराजचक्रवर्तिनां कुले बहुविधविषयभोगव्यवधानेनोत्पन्नस्तस्य विषयभोगवासनाप्राबल्यात्प्रमादकारणसंभवाच्च कथमतिव्यवहितज्ञानसंस्कारोद्बोधः क्षत्रियत्वेन सर्वकर्मसंन्यासानर्हस्य कथं वा ज्ञानसाधनलाभ इति । तत्रोच्यते --

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ 44 ॥

138 अतिचिरव्यवहितजन्मोपचितेनापि तेनैव पूर्वाभ्यासेन प्रागर्जितज्ञानसंस्कारेणावशोऽपि मोक्षसाधनायाप्रयतमानोऽपि ह्रियते स्ववशी क्रियते, अकस्मादेव भोगवासनाभ्यो व्युत्थाप्य मोक्षसाधनोन्मुखः क्रियते, ज्ञानवासनाया एवाल्पकालाभ्यस्ताया अपि वस्तुविषयत्वेनावस्तु-विषयाभ्यो भोगवासनाभ्यः प्राबल्यात् । पश्य यथा त्वमेव युद्धे प्रवृत्तो ज्ञानायाप्रयतमानोऽपि पूर्वसंस्कारप्राबल्यादकस्मादेव रणभूमौ ज्ञानोन्मुखोऽभूरिति । अत एव प्रागुक्तं नेहाभिक्रमनाशोऽस्तीति । अनेकजन्मसहस्रव्यवहितोऽपि ज्ञानसंस्कारः स्वकार्यं करोत्येव सर्वविरोध्युपमर्देनेत्यभिप्रायः ।

भोगों के व्यवधान के बिना ही प्रमाद के समस्त कारणों से शून्य ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के ही कुल में उत्पन्न होता है । उसके पूर्वसंस्कारों की अभिव्यक्ति अनायास ही हो सकती है, इसलिए पूर्वोक्त संन्यासी के समान उसका मोक्ष होने में शंका नहीं है । इसको वसिष्ठ ने नहीं कहा है । परम कारुणिक भगवान् ने तो 'अथवा' -- इसप्रकार पक्षान्तर करके उसको कहा ही है । शेष सब स्पष्ट है ॥ 43 ॥

137 'जो प्रमाद के समस्त कारणों से शून्य ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न हुआ है उसको तो बीच में विषयभोगरूप व्यवधान न रहने के कारण अव्यवहित पूर्वजन्म के संस्कारों के बोध से पुनः भी समस्त कर्मों के संन्यासपूर्वक ज्ञान के साधनों का लाभ हो, किन्तु जो श्रीमान् = महालक्ष्मीसम्पन्न चक्रवर्ती महाराजाओं के कुल में अनेक प्रकार के विषयभोगरूप व्यवधान से युक्त होकर उत्पन्न हुआ है उसको विषयभोग की वासनाओं की प्रबलता के कारण और प्रमाद के कारणों की सम्भावना होने से अत्यन्त व्यवहित ज्ञान के संस्कारों का बोध कैसे होता है ? क्षत्रिय होने से सर्वकर्मसंन्यास के योग्य न होने के कारण ज्ञान के साधनों का लाभ कैसे होता है ?' -- ऐसी यदि आशङ्का हो तो उस पर यह कहा जाता है --

[वह योगभ्रष्ट पुरुष उस पूर्वजन्म के अभ्यास से ही अवश-विवश होकर योग की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समत्वबुद्धिरूप योग का जिज्ञासु होने पर भी शब्दब्रह्म -- कर्मप्रतिपादक वेद का अतिक्रमण कर जाता है ॥ 44 ॥]

138 अतिदीर्घकाल तक व्यवहित जन्म में सञ्चित उसी पूर्वाभ्यास से अर्थात् पूर्वोपार्जित ज्ञान के संस्कार से अवश होकर भी अर्थात् मोक्षसाधन के लिए प्रयत्न न करने पर भी अपहृत किया जाता है -- अपने अधीन कर लिया जाता है अर्थात् अकस्मात् ही भोगवासनाओं से पराङ्मुख--विमुख कर मोक्षसाधनों की ओर उन्मुख कर दिया जाता है, क्योंकि थोड़े समय तक अभ्यास की हुई होने पर भी यथार्थवस्तुविषयक होने से ज्ञानवासना अवस्तुविषयक भोगवासनाओं से प्रबल होती है । देखो, जैसे तुम ही युद्ध में प्रवृत्त होकर ज्ञान के लिए प्रयत्न न करते हुए भी पूर्वसंस्कारों की प्रबलता से

139 सर्वकर्मसंन्यासाभावेऽपि हि क्षत्रियस्य ज्ञानाधिकारः स्थित एव। यथा पाटच्चरेण बहूनां रक्षिणां मध्ये विद्यमानमपि अश्वादिद्रव्यं स्वयमनिच्छदपि तान्सर्वानभिभूय स्वसामर्थ्यविशेषादेवापह्रियते । पश्चात्तु कदाऽपहृतमिति विमर्शो भवति । एवं बहूनां ज्ञानप्रतिबन्धकानां मध्ये विद्यमानोऽपि योगभ्रष्टः स्वयमनिच्छन्नपि ज्ञानसंस्कारेण बलवता स्वसामर्थ्यविशेषादेव सर्वान्प्रतिबन्धकानभिभूयाऽऽत्मवशी क्रियत इति ह्रञः प्रयोगेण सूचितम् । अत एव संस्कारप्राबल्याज्जिज्ञासुर्ज्ञातुमिच्छुरपि योगस्य मोक्षसाधनज्ञानस्य विषयं ब्रह्म, प्रथमभूमिकायां स्थितः संन्यासीति यावत् । सोऽपि तस्यामेव भूमिकायां मृतोऽन्तराले बहून्विषयान्भुक्त्वा महाराजचक्रवर्तिनां कुले समुत्पन्नोऽपि योगभ्रष्टः प्रागुपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्यात्तस्मिञ्जन्मनि शब्दब्रह्म वेदं कर्मप्रतिपादकमतिवर्ततेऽतिक्रम्य तिष्ठति कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भवतीत्यर्थः । एतेनापि ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृत इति द्रष्टव्यं, समुच्चये हि ज्ञानिनोऽपि कर्मकाण्डातिक्रमाभावात् ॥ 44 ॥

140 यदा चैवं प्रथमभूमिकायां मृतोऽपि अनेकभोगवासनाव्यवहितमपि विविधप्रमादकारणवति महाराजकुलेऽपि जन्म लब्ध्वाऽपि योगभ्रष्टः पूर्वोपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्येन कर्माधिकारमतिक्रम्य ज्ञानाधिकारी भवति तदा किमु वक्तव्यं द्वितीयायां तृतीयायां वा भूमिकायां मृतो विषयभोगान्ते

अकस्मात् ही रणभूमि में ज्ञानोन्मुख हुए हो । अतएव पूर्व में कहा है -- 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' (गीता, 2.40) = 'इस कर्मयोग में अभिक्रम का नाश नहीं है' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अनेक सहस्र जन्मों से व्यवहित भी ज्ञानसंस्कार समस्त विरोधियों का उपमर्दन -- पराभव कर अपना कार्य करता ही है ।

139 सर्वकर्मसंन्यास के अभाव में भी क्षत्रिय का ज्ञान में अधिकार तो निश्चित ही है । जैसे बहुत रक्षकों के मध्य में विद्यमान -- स्थित भी अश्व आदि द्रव्य स्वयं इच्छा न करते हुए भी चोर या डाकू के द्वारा अपने सामर्थ्यविशेष से ही उन सब रक्षकों को अभिभूत कर या चकमा देकर चुरा लिया जाता है, बाद में ऐसा विचार आता है कि 'कब चुरा लिया गया'; वैसे ही ज्ञान के अनेक प्रतिबन्धकों के मध्य में स्थित भी योगभ्रष्ट स्वयं की इच्छा न होने पर भी ज्ञान के बलवान् संस्कारों द्वारा अपने सामर्थ्यविशेष से ही समस्त प्रतिबन्धकों का पराभव कर अपने वश में कर लिया जाता है -- यह 'हृ' धातु के प्रयोग से सूचित किया गया है । इसी से ज्ञान के संस्कारों की प्रबलता के कारण जिज्ञासु भी अर्थात् योग = मोक्षसाधनज्ञान के विषय ब्रह्म को जानने का इच्छुक भी अर्थात् जो प्रथम भूमिका में स्थित संन्यासी ही है वह भी उसी भूमिका में मरकर बीच में बहुत विषयों को भोगकर तथा चक्रवर्ती महाराजाओं के कुल में उत्पन्न होकर भी वह योगभ्रष्ट पूर्वसञ्चित ज्ञान के संस्कारों की प्रबलता से उस जन्म में शब्दब्रह्म = कर्मप्रतिपादक वेद का अतिवर्तन = अतिक्रमण करके स्थित होता है अर्थात् कर्माधिकार का अतिक्रमण करके ज्ञान का अधिकारी हो जाता है । इससे ज्ञानकर्मसमुच्चय का निराकरण भी किया गया है, क्योंकि यदि ज्ञान और कर्म का समुच्चय होता तो ज्ञानी के लिए भी कर्मकाण्ड का अतिक्रमण करना सम्भव नहीं था -- यह द्रष्टव्य है ॥ 44 ॥

140 जब इसप्रकार प्रथम भूमिका में मृत, अनेक भोगवासनाओं से व्यवहित भी, विविध प्रमाद के कारणों से युक्त महाराजाओं के कुल में भी जन्म पाकर भी योगभ्रष्ट पुरुष पूर्वोपार्जित ज्ञान के संस्कारों

लब्धमहाराजकुलजन्मा यदि वा भोगमकृत्वैव लब्धब्रह्मविद्ब्राह्मणकुलजन्मा योगभ्रष्टः कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भूत्वा तत्साधनानि संपाद्य तत्फललाभेन संसारबन्धनान्मुच्यत इति । तदेतदाह –

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ 45 ॥

141 प्रयत्नात्पूर्वकृतादप्यधिकमधिकं यतमानः प्रयत्नातिरेकं कुर्वन्योगी पूर्वोपचितसंस्कारवांस्तेनैव योगप्रयत्नपुण्येन संशुद्धकिल्बिषो धौतज्ञानप्रतिबन्धकपापमलः । अत एव संस्कारोपचयात्पुण्योपचयाच्चानेकैर्जन्मभिः संसिद्धः संस्कारातिरेकेण पुण्यातिरेकेण च प्राप्तचरमजन्मा ततः साधनपरिपाकाद्याति परां प्रकृष्टां गतिं मुक्तिम् । नास्त्येवात्र कश्चित्संशय इत्यर्थः ॥ 45 ॥

142 इदानीं योगी स्तूयतेऽर्जुनं प्रति श्रद्धातिशयोत्पादनपूर्वकं योगं विधातुम् –

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ 46 ॥

की प्रबलता से कर्माधिकार का अतिक्रमण करके ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब द्वितीय या तृतीय भूमिका में मृत, विषयभोग के अन्त में महाराजाओं के कुल में जन्म प्राप्त करनेवाला अथवा विषयभोग के बिना ही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के कुल में जन्म प्राप्त करनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष कर्माधिकार के अतिक्रमणपूर्वक ज्ञान का अधिकारी होकर उसके साधनों का सम्पादन कर उसके फल की प्राप्ति द्वारा संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है -- इसमें कहना ही क्या है ? यही कहते हैं --

[पूर्वकृत यत्न से भी अधिक-अधिक यत्न करनेवाला योगी तो पापरूप मल के धुल जाने पर अनेक जन्मों के संस्कार और पुण्यों से चरम जन्म की प्राप्ति होने पर साधनों का परिपाक होने से परम गति को प्राप्त होता है ॥ 45 ॥]

141 प्रयत्न से अर्थात् पूर्वकृत यत्न से भी अधिक-अधिक यतमान -- यत्न करनेवाला -- अतिशय प्रयत्न करनेवाला पूर्वोपार्जित संस्कारोंवाला योगी तो[79] योगप्रयत्नरूप पुण्य से संशुद्धकिल्बिष = ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूप मल के धुल जाने पर अतएव ज्ञान-संस्काराधिक्य से तथा पुण्याधिक्य से अनेक[80] जन्मों में संसिद्ध = संस्कारातिरेक और पुण्यातिरेक से प्राप्त चरम जन्मवाला होकर तत्पश्चात् ज्ञान के साधनों का परिपाक होने से परा -- प्रकृष्ट गति[81] अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है -- यह तात्पर्य है ॥ 45 ॥

142 अब अतिश्रद्धा उत्पन्न करते हुए योग का विधान करने के लिए अर्जुन के प्रति योगी की स्तुति करते हैं --

---

79. कालान्तर में मोक्षफल प्राप्त करनेवाले अल्प प्रयत्नशील योगी से यतमान योगी की विलक्षणता स्पष्ट करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

80. अनेक अर्थात् एक से अधिक । कपिञ्जल-अधिकरण के न्यायानुसार बहुवचन का पर्यवसान तीन संख्या में होता है, अत: 'अनेक' शब्द का अर्थ है -- एक, दो, अथवा तीन ।

81. 'परा-गति' शब्द का अर्थ है – स्वरूपभूत मोक्षरूप परमावस्था अर्थात् निर्विशेष नित्यशुद्धबुद्धमुक्ताखण्डाद्वय परमानन्द ब्रह्मस्वरूप आत्मा में अचल स्थिति । जब तक प्रारब्धवश देह जीवित रहता है तब तक ब्रह्मविद् योगी उसी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर जीवन्मुक्ति का आनन्द-भोग करता है और मृत्यु के पश्चात् विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है -- यही 'परागति' का तात्पर्य है ।

143 तपस्विभ्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादितपः परायणेभ्योऽपि अधिक उत्कृष्टो योगी तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं मनोनाशवासनाक्षयकारी ।

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥ इति श्रुतेः ।

अत एव कर्मिभ्यो दक्षिणासहितज्योतिष्टोमादिकर्मानुष्ठायिभ्यश्चाधिको योगी, कर्मिणां तपस्विनां चाज्ञत्वेन मोक्षानर्हत्वात् ।

144 ज्ञानिभ्योऽपि परोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि अपरोक्षज्ञानवानधिको मतो योगी । एवमपरोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि मनोनाशवासनाक्षयाभावादजीवन्मुक्तेभ्यो मनोनाशवासनाक्षयवत्त्वेन जीवन्मुक्तो योग्यधिको मतो मम संमतः । यस्मादेवं तस्मादधिकाधिकप्रयत्नबलात्त्वं योगभ्रष्ट इदानीं तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयैर्युगपत्संपादितैर्योगी जीवन्मुक्तो यः स योगी परमो मत इति प्रागुक्तः स तादृशो भव साधनपरिपाकात्, हेऽर्जुनेति शुद्धेति संबोधनार्थः ॥ 46 ॥

[हे अर्जुन ! योगी तपस्वियों से अधिक -- श्रेष्ठ है और ज्ञानियों से भी अधिक -- विशेष माना गया है तथा सकाम कर्म करनेवाले कर्मियों से भी योगी अधिक -- श्रेष्ठ है, इसलिए तुम योगी हो जाओ ॥ 46 ॥]

143 योगी अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् मनोनाश और वासनाक्षय करनेवाला पुरुष तपस्वियों से अर्थात् कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तपों में लगे हुए पुरुषों से अधिक = उत्कृष्ट है[82] । जैसा कि श्रुति भी कहती है --

"विद्या-ज्ञान के बल से ब्रह्मविद् सम्यग्दर्शी योगी उस पद पर आरूढ़ होते हैं जहाँ समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं । वहाँ न तो दक्षिणगण = धूममार्गी -- कर्मकाण्डी जा सकते है और न अविद्वान् तपस्वी जा सकते हैं ।"

अतएव दक्षिणासहित ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले कर्मियों से योगी अधिक -- श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्मी और तपस्वी -- ये दोनों अज्ञ = अविद्वान् होने से मोक्ष के योग्य नहीं होते हैं ।

144 ज्ञानियों अर्थात् परोक्षज्ञानवान् ज्ञानियों से अपरोक्षज्ञानवान् योगी अधिक - विशेष माना गया है । इसी प्रकार मनोनाश और वासनाक्षय के अभाव के कारण अपरोक्षज्ञानवान् अजीवन्मुक्तों से मनोनाश और वासनाक्षयवान् होने के कारण जीवन्मुक्त योगी अधिक-- विशेष माना गया है--ऐसी मेरी सम्मति

---

82. स्मृति कहती है –

'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥' (महाभारत)

अर्थात् मन और इन्द्रियों को एकाग्र कर परमात्मा में निमग्न करना 'परम तपस्या' है, वह सब धर्मों से श्रेष्ठ है, उसको परम धर्म कहा जाता है ।' इसलिए ब्रह्मविद् सम्यग्दर्शी योगी साधारण तपस्वियों से श्रेष्ठ कहा गया है । किञ्च, कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूप तपस्या का फल विशेष-विशेष पाप का नाश होता है (तपसा कल्मषं हन्ति), किन्तु निर्विकल्प समाधि के द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान सर्वपापनाशक होता है । आत्मज्ञान होने से भविष्य में और पाप का होना सम्भव नहीं होता है, परन्तु तपस्या के द्वारा अतीत और वर्तमान पापों का नाश किया जा सकता है, भविष्य के पापों को रोका नहीं जा सकता है । तपस्या पुण्यों का सञ्चय कर भविष्य-जन्मों में कर्मफलभोग का हेतु होती है, किन्तु आत्मज्ञान पाप तथा पुण्यरूप सभी कर्मबीजों को नष्टकर जन्म-मृत्युरूप चक्र से मुक्त करता है । इन सब कारणों से भी सम्यग्ज्ञानी योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है ।

145 इदानीं सर्वयोगिश्रेष्ठं योगिनं वदन्नध्यायमुपसंहरति –

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ 47 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीता-सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवाद आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ 6 ॥

146 योगिनां वसुरुद्रादित्यादिक्षुद्रदेवताभक्तानां सर्वेषामपि मध्ये मयि भगवति वासुदेवे पुण्यपरिपाकविशेषाद्गतेन प्रीतिवशान्निविष्टेन मद्गतेनान्तरात्मनाऽन्तःकरणेन प्राग्भवीयसंस्कार-पाटवात्साधुसङ्गाच्च मद्भजन एव श्रद्धावानतिशयेन श्रद्दधानः सन्भजते सेवते सततं चिन्तयति यो मां नारायणमीश्वरेश्वरं सगुणं निर्गुणं वा मनुष्योऽयमीश्वरान्तरसाधारणोऽयमित्यादिभ्रमं हित्वा स एव मद्भक्तो योगी युक्ततमः सर्वेभ्यः समाहितचित्तेभ्यो युक्तेभ्यः श्रेष्ठो मे मम परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य मतो निश्चितः । समानेऽपि योगाभ्यासक्लेशे समानेऽपि भजनायासे मद्भक्तिशून्येभ्यो मद्भक्तस्यैव श्रेष्ठत्वात्त्वं मद्भक्तः परमो युक्ततमोऽनायासेन भवितुं शक्ष्यसीति भावः ।

147 तदनेनाध्यायेन कर्मयोगस्य बुद्धिशुद्धिहेतोर्मर्यादां दर्शयता ततश्च कृतसर्वकर्मसंन्यासस्य साङ्गं योगं विवृण्वता मनोनिग्रहोपायं चाऽऽक्षेपनिरासपूर्वकमुपदिशता योगभ्रष्टस्य पुरुषार्थशून्यताशङ्कां

है । क्योंकि ऐसा है, इसलिए योगभ्रष्ट तुम अधिकाधिक प्रयत्न के बल से अब साधनों के परिपाक द्वारा ऐसे बनो जैसे तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का एक-साथ सम्पादन करने से जीवन्मुक्त योगी होता है, वही परम योगी माना गया है -- यह पूर्व में कहा है । 'हे अर्जुन' -- इस संबोधन का अर्थ है -- हे शुद्ध ! ॥ 46 ॥

145 अब समस्त योगियों में श्रेष्ठ योगी को कहते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं --
[समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मेरे में लगे हुए अन्तरात्मा -- अन्तःकरण-चित्त से मुझको निरन्तर भजता है वह युक्ततम है -- ऐसा मेरा मत है ॥ 47 ॥]

146 योगियों में अर्थात् वसु, रुद्र, आदित्य आदि क्षुद्र देवताओं के सब भक्तों में जो मद्गत = विशेष पुण्यपरिपाक से मुझ भगवान् वासुदेव में गत -- लगे हुए अर्थात् प्रीतिवश मुझमें गत -- निविष्ट -- जुडे हुए अन्तरात्मा = अन्तःकरण के द्वारा पूर्वजन्म के संस्कारों की कुशलता और साधुसमागम के कारण मेरे भजन में ही श्रद्धावान् होकर अर्थात् अत्यन्त श्रद्धायुक्त होकर 'यह मनुष्य है, ईश्वर से भिन्न साधारण जीव है' -- इत्यादि भ्रम को त्याग कर मुझ सगुण या निर्गुण नारायण का ही भजन-सेवन अर्थात् निरन्तर चिन्तन करता है, वह मेरा भक्त योगी ही युक्ततम अर्थात् समस्त समाहितचित्त योगयुक्त पुरुषों में श्रेष्ठ है -- ऐसा मुझ सर्वज्ञ परमेश्वर का मत अर्थात् निश्चय है । योगाभ्यास का क्लेश समान होने पर भी, भजन का आयास-श्रम समान होने पर भी मेरी भक्ति से शून्य पुरुषों में मेरा भक्त ही श्रेष्ठ है, इसलिए मेरे परम भक्त तुम अनायास ही युक्ततम हो सकते हो -- यह भाव है ।

147 इसप्रकार इस अध्याय से बुद्धि की शुद्धि के हेतुभूत कर्मयोग की मर्यादा दिखाते हुए, तत्पश्चात् जिसने सर्वकर्मसंन्यास = सर्वकर्मत्याग किया है उसके लिए साङ्ग योग का विवरण करते हुए तथा

च शिथिलयता कर्मकाण्डं त्वंपदार्थनिरूपणं च समापितम् । अतः परं श्रद्धावान्भजते यो मामिति सूचितं भक्तियोगं भजनीयं च भगवन्तं वासुदेवं तत्पदार्थं निरूपयितुमग्रिममध्यायषट्कमारभ्यत इति शिवम् ॥ 47 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामध्यात्मयोगो नाम षष्ठोऽध्याय ॥ 6 ॥

शंकासमाधानपूर्वक मनोनिग्रह के उपाय का उपदेश करते हुए और योगभ्रष्ट की पुरुषार्थशून्यतासम्बन्धी शङ्का को शिथिल करते हुए भगवान् ने कर्मकाण्ड और 'त्वम्' पदार्थ के निरूपण को समाप्त किया है । इससे आगे 'श्रद्धावान् भजते यो माम्' -- इस वाक्य से सूचित भक्तियोग और भजनीय भगवान् वासुदेव 'तत्' पदार्थ का निरूपण करने के लिए आगे के छः अध्यायों का आरम्भ किया जाता है । इति शिवम् ॥ 47 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का आत्मसंयमयोग नामक षष्ठ अध्याय समाप्त होता है ।